सरस्वतीकण्ठाभरणम्

डा० कामेश्वरनाथ मिश्र

चौखम्भा ओरियन्टालिया
वाराणसी (भारत)

चौखम्भा-प्राच्यविद्या-ग्रन्थमाला संख्या ४

भोजदेवकृतम्

सरस्वतीकण्ठाभरणम्

(काव्यशास्त्रम्)

रत्नेश्वरमिश्रकृतया 'रत्नदर्पण'व्याख्यया संवलितम्

द्वितीयपरिच्छेदान्तं प्रथमभागात्मकम्

भूमिकाहिन्दीभाषानुवाद-'स्वरूपानन्दभाष्य'-

परिशिष्टादिसहितम्

व्याख्याकारः

डॉ० कामेश्वरनाथ मिश्र

एम० ए०, पीएच्० डी०, साहित्याचार्य

प्राध्यापक, संस्कृतविभाग, काशीविद्यापीठ, वाराणसी

चौखम्भा ओरियन्टालिया

पो० आ० चौखम्भा, पो० बाक्स नं० ३२

वाराणसी (भारत)

चौखम्भा-प्राच्यविद्या-ग्रन्थमाला
संख्या ४

भोजदेवकृतम्

सरस्वतीकण्ठाभरणम्

(काव्यशास्त्रम्)

रत्नेश्वरमिश्रकृतया 'रत्नदर्पण'व्याख्यया संवलितम्

द्वितीयपरिच्छेदान्तं प्रथमभागात्मकम्

भूमिकाहिन्दीभाषानुवाद-'स्वरूपानन्दभाष्य'-

परिशिष्टादिसहितम्

व्याख्याकारः

डॉ० कामेश्वरनाथ मिश्र

एम० ए०, पीएच्० डी०, साहित्याचार्य

प्राध्यापक, संस्कृतविभाग, काशीविद्यापीठ, वाराणसी

चौखम्भा ओरियन्टालिया

पो० आ० चौखम्भा, पो० बाक्स नं० ३२

वाराणसी (भारत)

प्रकाशक—

चौखम्भा ओरियन्टालिया

प्राच्यविद्या एवं दुर्लभ ग्रन्थों के प्रकाशक एवं विक्रेता

पो० आ० चौखम्भा, पो० बा० नं० ३२

गोकुल भवन के० ३७/१०९, गोपाल मन्दिर लेन

वाराणसी-२२१००१ (भारत)

टेलीफोन : ६३०२२ टेलीग्राम : गोकुलोत्सव

© चौखम्भा ओरियन्टालिया

प्रथम संस्करण १९७६

मूल्य रु० ३५-००

मुद्रक—विद्याविलास प्रेस, गोपाल मन्दिर लेन, वाराणसी

CHAUKHAMBHA PRACHYAVIDYA GRANTHAMALA
NO. 4

SARASWATĪKANTHĀBHARAṆAM

A WORK ON RHETORICS

By

MAHĀRĀJĀDHIRĀJA BHOJA

WITH

Ratneshwara's 'Ratnadarpaṇam' Sanskrit Commentary

&

Hindi Introduction, Translation, 'Swarūpānanda Bhāṣya'
Commentary and Appendices

By

Dr. KAMESHWARNATH MISHRA
M. A., Ph. D., Sahityacharya
Deptt. of Sanskrit, Kashi Vidyapith, Varanasi

Part I (Chapters I & II)

CHAUKHAMBHA ORIENTALIA
P. O. Chaukhambha, Post Box No. 32
VARANASI (INDIA)

Publishers :

CHAUKHAMBHA ORIENTALIA

A House of Oriental and Antiquarian Books

P. O. Chaukhambha, Post Box No. 32

Gokul Bhawan K. 37/109, Gopal Mandir Lane

VARANASI–221001 (India)

Telephone : 63022 Telegram : Gokulotsav

© *Chaukhambha Orientalia*

First Edition 1976

Price Rs. 35–00

Also Can be had of :—

CHAUKHAMBHA VISVABHARATI

Chowk (Opposite Chitra Cinema)

VARANASI

Phone : 65444

उत्तराम्नाय-बदरिकाश्रमस्थ-ज्योतिष्पीठाधीश्वर-जगद्गुरुशङ्कराचार्य
अनन्तश्रीविभूषित स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती महाराज
के चरणकमलों में समर्पित

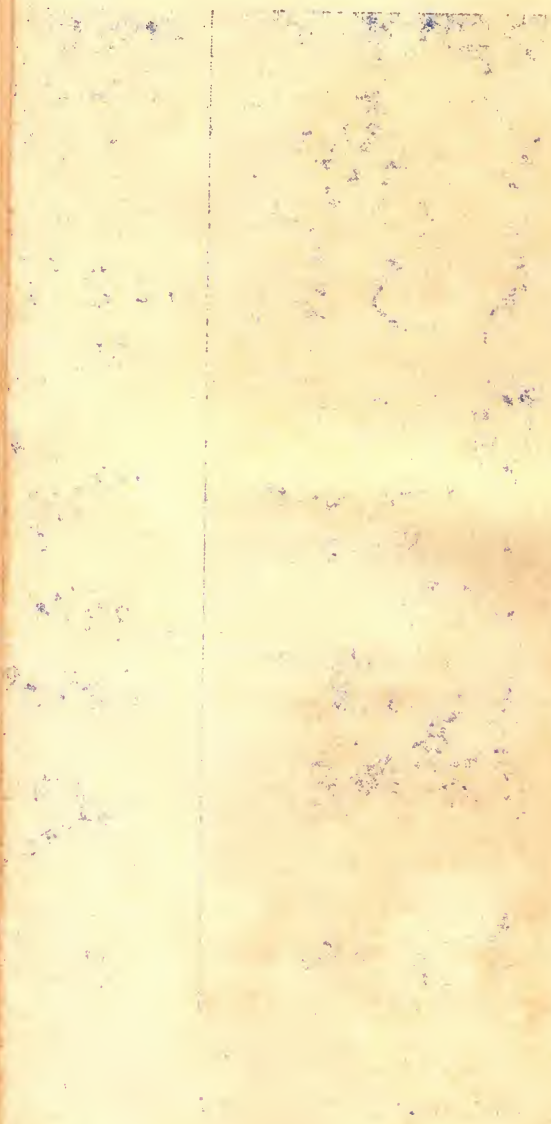

निवेदन

भोजदेव का व्यक्तित्व चामत्कारिक था। ऐसे ही महापुरुषों में सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र पद अन्वर्थ है। उनकी जीवनी विभिन्न दन्तकथाओं का रूप ले चुकी है। उन्होंने एक ओर समराङ्गणसूत्रधार बन 'रणरङ्गमल्लता' प्राप्त की, तो दूसरी ओर अन्तःपुर के विविध विलासों और चतुःषष्टिकलाओं में 'नागर-सर्वस्वता' भी। कौटलीय अर्थशास्त्र और वात्स्यायन के कामशास्त्र के साथ अग्निपुराण-सदृश ग्रन्थों का स्पष्ट प्रभाव उनके जीवन तथा ग्रन्थों पर पड़ा। शासनतन्त्र की विविध व्यस्तताओं तथा प्रजाधर्म की सुरक्षाओं के साथ स्वयं 'राजमार्तण्ड', 'सरस्वतीकण्ठाभरण' और 'शृङ्गारप्रकाश' बने। उन्होंने अन्तर्मुखी हो विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदाय के ग्रन्थों का उद्धार किया और उत्तुङ्गशिव नामक गुरु से सिद्धान्तशैवदर्शन की साधना की दीक्षा ली। उनके अनेक ग्रन्थों में इस दर्शन का साक्षात् प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। अन्यत्र अवसर मिलने पर इस विषय में कुछ कहा जा सकेगा, यहाँ नहीं।

अलङ्कारशास्त्र के क्षेत्र में भी उनकी सूक्ष्म दृष्टि का परिचय मिलता है। भामह, दण्डी, अग्निपुराण, वामन, रुद्रट आदि से लक्षण अथवा उदाहरण जो कुछ भी सङ्गत लगा, भोज ने निःसंकोच ले लिया, किन्तु पूर्ण विचार करके ही किसी भी क्षेत्र में उसे सन्निविष्ट किया, यही कारण है कि किसी अन्य अलङ्कार, गुण या दोष के अन्य-प्रदत्त लक्षणों या उदाहरणों को अपने ग्रन्थ में उन्होंने किसी अन्य क्षेत्र का भी निरूपित किया है। अप्रयुक्त-प्रयुक्तता का जो उदाहरण उन्होंने दिया है, उसका प्रयोग इतना विरल रहा कि कोशों में भी ढूढने पर शब्द न मिला, ग्राम्या का उदाहरण ऐसे प्राकृत शब्दों में दिया कि नागर विद्वानों को अर्थ करना कठिन हो गया और गाथा की संस्कृत-छाया आज तक न दी जा सकी। गुणग्राही

राजा ने देश-देश के कोने-कोने से, व्यक्ति-व्यक्ति से संग्राह्य विषय का सञ्चय किया। 'दोषगुण' की उद्भावना उनकी अपनी है, इसी प्रकार शृङ्गार के एकमात्र रसत्व की भी। उभयालङ्कार का विवेचन संभवतः भारतीय अलङ्कारशास्त्र में इतना और कहीं नहीं हुआ। चित्रालङ्कार का वर्गीकरण तथा निरूपण भी अनुपम रहा। वह प्राचीन भारतीय परम्पराओं के पालक, संरक्षक एवं उन्नायक थे। उनकी इस असामान्य प्रतिभा का आकलन न कर पाने के कारण आधुनिक समीक्षक उनके विषय में कपोल कल्पनायें करते रहे।

भोजदेव का 'सरस्वतीकण्ठाभरण' अलङ्कार-शास्त्र का एक ग्रन्थ है। इसके पाँच परिच्छेदों में विवेच्य विषय प्रस्तुत है। भारतीय विद्याओं के अद्भुत पण्डित डा० वी० राघवन् ने 'शृङ्गारप्रकाश' पर लिखते समय अंग्रेजी में उन पर पर्याप्त कह दिया है। भोज की अलङ्कारशास्त्रीय मान्यताओं का तुलनात्मक अध्ययन वहाँ विद्यमान है।

यहाँ भूमिका में भोज के व्यक्तित्व, कृतित्व आदि तथा चित्रालङ्कार के विषय में अपेक्षित निरूपण किया गया है। 'सरस्वतीकण्ठाभरण' के अनुवाद तथा व्याख्या के माध्यम से सामान्य संस्कृत के ज्ञाताओं तथा हिन्दी के जिज्ञासुओं की विनम्र सेवा का सङ्कल्प पूर्ण हो रहा है। कारिकाओं पर वृत्तियाँ लिख कर भोज ने ग्रन्थ को सरल तथा सुबोध बनाने का प्रयास किया था, तथापि आज भोजकालीन साहित्यिक एवं सांस्कृतिक परिवेश न होने के कारण तत्कालीन प्रयोगों को समझ पाना भी कठिन हो रहा है। आधुनिक हिन्दी में नये उपमान ढूँढने की प्रक्रिया बहुत आगे बढ़ चुकी है, संस्कृत में उसकी आवश्यकता प्रतीत हो रही है। स्थान-स्थान पर गुत्थियों को सुलझाने का प्रयास किया गया है, विशेषतः 'चित्र' प्रकरण में जहाँ 'उद्धार-श्लोक' भी अतिदुर्बोध हैं। स्पष्टता के लिए यथा-सम्भव रेखाचित्र दिये गये हैं। ग्रन्थ पर हिन्दी में लिखने का यह प्रथम प्रयास है, अतः यथामति उद्योग करने पर भी अज्ञान अथवा प्रमाद से त्रुटियाँ सम्भव हैं। विद्वज्जन गुणों का ही ग्रहण कर कृपया सन्तुष्ट हों। 'सरस्वतीकण्ठाभरण' दिया महादानी एवं उदार सहृदय भोज ने, मिश्ररत्नेश्वर ने दिया 'रत्नदर्पण', रसज्ञ अवलोकन से 'स्वरूपानन्द' प्राप्त करें कामेश्वर से और तृप्त हों।

ग्रन्थ के दुर्बोध स्थलों को समझने में काशीपीठाधीश्वर अनन्तश्रीविभूषित स्वामी महेश्वरानन्द सरस्वती महाराज—अब ब्रह्मलीन—से अनुपद सहायता मिली थी। उस पुण्यात्मा का मैं हृदय से आभार स्वीकार करता हूँ। ग्रन्थ को वर्तमान रूप में प्रकाशित करने के लिये 'चौखम्भा ओरियन्टालिया' के स्वत्वाधिकारी गुप्तबन्धुओं को भी धन्यवाद देता हूँ। विश्वास है मेरे इस विनम्र प्रयास से आलङ्कारिक प्रसन्न होंगे।

फाल्गुनी
१५ मार्च '७६ ई०

व्याख्याकार

विषय-सूची

१. भूमिका—पृ० १ से ३५ तक।

भोज, व्यक्तित्व तथा कृतित्व १, भोज का अन्य नाम १, भोज के विरुद १, वंश तथा परिवार ३, समय ४, भोज का धर्म आदि ५, साम्राज्य ८, ग्रन्थ ८, ग्रन्थकर्तृत्व १०, सरस्वतीकण्ठाभरण तथा टीकाकार १७।

चित्र-अलङ्कार १९, अर्थ १९, चित्रालङ्कार के आधार २२, चित्र की शब्दालङ्कारता २३, चित्रालङ्कार के भेद २४, भोजकृत 'चित्र' का वर्गीकरण २६, वर्णचित्र २६, स्थानचित्र २७, स्वरचित्र २८, आकारचित्र २९, गतिचित्र ३०, बन्धचित्र ३१, चित्रालङ्कार में कुछ अनवधेयतायें ३१, चित्रकाव्य की हेयता तथा समन्वय ३२।

२. प्रथमपरिच्छेद—गुणदोषविवेचन पृ० १ से २०१ तक।

वाग्देवतावन्दना १, काव्यलक्षण ३, काव्यदोष ९, पददोषपरिगणन ९–१० असाधुत्वदोष १०, अप्रयुक्त ११, कष्ट १३, अनर्थक १४, अन्यार्थ १५, अपुष्टार्थ १७, असमर्थ १८, अप्रतीत १९, क्लिष्ट २०, गूढार्थ २१, नेयार्थ २२, संदिग्धत्व २३, विरुद्ध २४, अप्रयोजक २६, देश्य २७, ग्राम्यत्व तथा उसके भेद २८, पददोषों का रेखाचित्र ३४।

वाक्यदोष—पृ० ३५, शब्दहीनत्व ३६, क्रमभ्रष्ट ३७, विसन्धि ३८, पुनरुक्तिमत् ४०, व्याकीर्णत्व ४१, संकीर्णता ४२, अपदत्व ४३, वाक्यगर्भित, भिन्नलिङ्ग-वचनोपमा ४५, न्यूनोपम ४७, अधिकोपम ४८, छन्दोभङ्गता ४८, भग्नयति ४९, अशरीरत्व ५१, अरीतिमत् तथा उसके भेदोपभेद ५१, अरीतिमत् का रेखाचित्र ६१।

वाक्यार्थदोष—६१, परिगणन तथा अपार्थ ६२, व्यर्थत्व ६३, एकार्थता ६५, ससंशय ६६, अपक्रम ६७, खिन्नत्व ६७, अतिमात्रता ६८, परुषत्व तथा विरसत्व ६९, हीनोपम ७०, अधिकोपम ७१, असदृशोपम ७१, अप्रसिद्धोपम ७२, निरलङ्कार ७३, अश्लीलत्व ७४, विरोध और भेद ७५, विरोध दोष का रेखाचित्र ८१।

गुण और भेद तथा श्लेषगुण—८२, प्रसाद ८६, समता ८७, माधुर्य ८८, सुकुमारता ९०, अर्थव्यक्ति ९०, कान्ति ९१, औदार्य ९२, उदात्तता ९३, ओज ९४, और्जित्य ९५, प्रेय ९६, सुशब्दता ९७, समाधि ९९, सौक्ष्म्य १००, गाम्भीर्य १०१, विस्तर १०३, संक्षेप १०४, संमितत्व १०४, भाविक १०५, गति १०६ रीति १०७, उक्ति १०८, प्रौढि १०९ ।

अर्थगुण—१११, अर्थश्लेष १११, अर्थप्रसाद ११२, समत्व ११३, माधुर्य ११४, सौकुमार्य ११५, अर्थव्यक्ति ११६, कान्ति ११६, उदारता ११७, उदात्तता ११८, ओज ११९, और्जित्य ११९, प्रेयस् १२०, सुशब्दता १२१, समाधि १२२, सौक्ष्म्य १२२, गाम्भीर्य १२३, विस्तर १२४, संक्षेप १२५, संमितत्व १२६, भाविकत्व १२७, गति १२८, रीति १२८, उक्ति १२९, प्रौढि १३० ।

वैशेषिक अथवा पददोषगुण—१३१, असाधुगुणत्व १३१, अप्रयुक्तत्व-दोषगुण १३३, कष्टत्व० १३४, अनर्थक० १३५, अन्यार्थ० १३६, अपुष्टार्थ० १३७, असमर्थ० १३८, अप्रतीत० १३९, क्लिष्टत्व १३९, गूढार्थत्व १४१, सन्दिग्धत्व० १४२, विरुद्धत्व० १४३, अप्रयोजकत्व० १४४, देश्य० १४५, ग्राम्यदोष-गुण तथा भेद १४६, दोषगुणत्व का प्रतिपादन १५३ ।

वाक्यदोषगुण—१५५, शब्दहीनत्व० १५५, क्रमभ्रष्ट १५६, विसन्धि १५७, पुनरुक्त० १५९, व्याकीर्णत्व १६०, संकीर्णत्व० १६१, अपदत्व १६२, गर्भितत्व १६६, भिन्नलिङ्ग-वचनोपमत्व १६७, हीनोपमत्व १७१, अधिकोपम १७२, छन्दोभङ्ग १७२, भग्नयति १७४, अशरीरत्व १७५, शैथिल्य १७९, विषम १७७, कठोरता १७७, प्रसादहीनत्व १७८, नेयार्थत्व १७८, ग्राम्य १७९, असमासत्व १८०, अनिर्ब्यूढत्व १८०, अलङ्कारहीनत्व १८१ ।

वाक्यार्थदोषगुण—अपार्थ० १८२, अप्रयोजनत्व तथा व्यर्थत्व १८३, एकार्थ १८५, सन्दिग्ध १८६, अपक्रम १८६, खिन्नत्व १८७, अतिमात्रत्व १८८, परुषत्व १९०, विरसत्व १९१, हीनोपमत्व १९२, अधिकौपम्य १९२, असदृशो-पमत्व १९३, अप्रसिद्धोपमत्व १९३, निरलङ्कारत्व १९४, अश्लीलत्व १९५, विरुद्धत्व १९५, अलङ्कारगुण आदि की अपेक्षा तथा प्रथम परिच्छेद का उपसंहार २०० ।

३. द्वितीय परिच्छेद—शब्दालङ्कारनिरूपण २०२ ।

अलङ्कारों के तीन भेद २०२, शब्दालङ्कार और उसके २४ भेद २०३, जाति तथा उसके भेद २०४, षोढा जाति २०७, शुद्धा २०८, साधारणी २११, मिश्रा २१३, संकीर्णा २१४, अनन्यगामिनी २१५, अपभ्रष्टा २१६, गति

अलङ्कार २१६, गतिभेद २१८, पद्यभेद २१९, गद्यभेद २२०, रीतिअलङ्कार २२८, छः भेद २२९, वैदर्भी २३१, पाञ्चाली २३२, गौडीया २३२, आवन्तिका २३३, लाटीया और मागधी २३३, सबके उदाहरण २३४–३७, वृत्तिअलङ्कार २३७, लक्षण तथा भेद २३८, कैशिकी २३९, आरभटी २४०, भारती २४०, सात्वती, मध्यकैशिकी, मध्यमारभटी २४१, छाया-अलङ्कार तथा भेद २४२, लोकोक्तिछाया २४३, छेकोक्ति, अर्भकोक्ति २४४, उन्मत्तोक्ति, पोटोक्ति, मत्तोक्ति २४५, मुद्रालङ्कार तथा भेद २४६, पदमुद्रा २४६, वाक्यमुद्रा २४७, विभक्ति-मुद्रा २४८, वचनमुद्रा, समुच्चयमुद्रा २५०, संवृतिमुद्रा २५१, उक्तिअलङ्कार २५१, उक्ति के भेद २५२–२५५, युक्ति-अलङ्कार तथा भेद २५५–२६२, भणिति अलङ्कार २६३–२६७, गुम्फना अलङ्कार तथा भेद २६८–२७२, घटनालङ्कार २७२–२८०, पठिति अलङ्कार तथा भेद २८१–२८६, प्रकारान्तर से पठिति-भेद २८७–२९१, यमक अलङ्कार तथा भेद २९१–३०७, अस्थान-यमक तथा भेदोपभेद ३०८–३२१, पादयमक ३२१–३२४, समुद्ग का सभेद उदाहरण ३२४, महायमक ३२६, श्लेषालङ्कार तथा भेद ३२९–३४०, अनुप्रास तथा भेद ३४०–३५१, वृत्यनुप्रास तथा भेद ३५१–३५६, अन्य प्रकार के वृत्ति के भेद ३५६–३६२, वर्णानुप्रास ३६३–३७२, पदानुप्रास तथा भेद ३७३–३८०, नामद्विरुक्ति ३८०–३८७, लाटानुप्रास ३८८–३९८।

चित्र अलङ्कार तथा भेद—३९९, वर्णचित्र और भेद ४००–४०३, स्थानचित्र तथा भेद ४०४–४०७, स्वरचित्र और भेद ४०८–४११, आकारचित्र तथा भेद ४११–४२१, गतिचित्र तथा भेद ४२२–४२८, बन्धचित्र तथा भेद ४२८–४३६, गोमूत्रिका तथा भेद ४३७–४४८ तथा आगे, 'चित्र' की दुष्करता ४५६, अन्य अलङ्कारभेद ४५८, वाकोवाक्य तथा भेद ४६१, प्रहेलिका तथा भेद ४६८, गूढ तथा भेद ४७१, प्रश्नोत्तर तथा भेद ४७४, अध्येय तथा भेद ४७७, श्रव्य तथा भेद ४८०, प्रेक्ष्य तथा भेद ४८४, अभिनीति तथा भेद ४८७, द्वितीय परिच्छेद का अन्त ४९१।

४. परिशिष्ट—

१—कारिकारम्भ सूची ४९३।

२—श्लोकसूची ४९९।

३—शब्दालङ्कार का रेखाचित्र ५०९।

भूमिका

भोज—व्यक्तित्व तथा कृतित्व—

भोज अद्भुत व्यक्तित्व के राजर्षि थे। भारतीय इतिहास में ऐसे शासक बहुत कम हैं जिनसे भोज की तुलना की जा सके। डा० द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल के शब्दों में "महाराज भोजदेव की जीवनगाथा भारतीय इतिहास में इने गिने राजर्षियों की गाथा में एक है। प्राप्त एवं अर्धप्राप्त भारतीय ऐतिहासिक सामग्री में राजर्षि 'प्रियदर्शि' अशोक, महाप्रतापी महाराज विक्रमादित्य के बाद भारतीय जनसमाज में अतिप्रसिद्ध राजा भोज ही हुआ हैं। महाराज विक्रमादित्य का यदि न्याय प्रसिद्ध है तो महाराजा अशोक का धर्म प्रचार और महाराज भोजदेव की साहित्यिक गरिमा।··· इस प्रकार भारतीय संस्कृति के व्यापक विजृम्भण में भोजदेव सांस्कृतिक विकास की पराकाष्ठा के प्रतीक हैं। उनके राज्य काल में संस्कृत-साहित्य के चरमोत्कर्ष से इस तथ्य की पुष्टि होती है"।[1] यह उक्ति काफी अंशों में सत्य हैं।

भोज का अन्य नाम—

राजा भोज का दूसरा नाक 'त्रिभुवन नारायण' भी मिलता है। इसी नाम का एक और पर्याय 'त्रिलोकनारायण' भी इन्हीं के लिये प्रयुक्त हैं।[2] इन पर्यायवाचक संज्ञा शब्दों का प्रयोग छन्द की सङ्गति के लिये हुआ होगा। प्रतीत ऐसा होता है कि यह नाम कविकल्पित ही है, वास्तविक नहीं, क्योंकि नाम होने पर भोज के भी शिलालेखों अथवा ग्रन्थों में इसे उल्लिखित होना चाहिये, किन्तु वहाँ कहीं भी भोज के अतिरिक्त दूसरा नाम नही मिलता। दूसरी बात यह है कि 'गणरत्न-महोदधि' के अतिरिक्त अन्यत्र किसी कवि या लेखक ने अपनी रचना में इस नाम का प्रयोग नहीं किया है, वर्तमान काल तक प्राप्त ऐतिहासिक सामग्रियों से यही पुष्ट होता हैं। तीसरी बात यह है कि उक्त ग्रन्थ में भी जिस रूप में 'त्रिभुवन नारायण' अथवा 'त्रिलोक नारायण' शब्द है[3] वहाँ उसका अर्थ 'तीन लोकों का स्वामी' ही अधिक युक्त लगता है, न कि एक व्यक्ति विशेष। चौथी बात यह हैं कि जिस श्लोक में उक्त शब्द का प्रयोग है उसी क्रम में थोड़ा आगे 'भोज'[4] शब्द स्वतः प्रयुक्त होता है और एक-दो स्थानों के अलावा उस ग्रन्थ में भी इसका प्रयोग नहीं हैं। इससे निष्कर्ष यही निकलता है कि चर्चित राजर्षि का वास्तविक अभिधान 'भोज' ही था।

भोज के विरुद—

भोज ने उज्जयिनी से हटाकर अपनी राजधानी धारा नगरी को बनाया था, अतः उनको 'धारेश्वर' कहा जाता है, इसी प्रकार 'मालव' देश के शासक होने से वह 'मालवाधिपति' आदि भी कहे गये हैं। इनके वि० सं० १०७६ तथा वि० सं० १०७८ के प्राप्त दोनों शिलालेखों के प्रारम्भ

१. भारतीयवास्तुशास्त्र-वास्तुविद्या एवं पुरनिवेश, लखनऊ, १९५५ ई०, पृ० १
२. विश्वेश्वरनाथ रेउः राजा भोज, हिन्दुस्तानी एकेडमी, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद, १९३२ ई० पृ० ८२ फु. नो.
३. प्राणायनि प्राणसमस्त्रिलोक्यास्त्रिलोकनारायणभूमिपालः। गणरत्नमहोदधि ॥ ३।५ ॥
४. औदुम्बरायण्ययमेति भोजः॥ वही ३।८ ॥

में इनके नाम के पूर्व 'परमभट्टारक-महाराजाधिराज-परमेश्वर-देव'-उपाधियाँ उल्लिखित हैं जिनका प्रयोग इनके पिता सिन्धुराज तथा पितामह सीयकदेव के भी साथ होता था। वस्तुतः यह विरुद इनको कुल-परम्परा से प्राप्त था। सामान्यतः भी प्रकर्षसूचक ये पद किसी भी राजा के साथ प्रयुक्त हो सकते हैं।

'आजड' नाम के 'सरस्वतीकण्ठाभरण' काव्यशास्त्रग्रन्थ के टीकाकार के अनुसार भोज के चौरासी विरुद थे जिनके नाम से ही उन्होंने पृथक्-पृथक् ग्रन्थों की रचना की थी।[1] उदाहरणार्थ शृङ्गारप्रकाश, राजमृगाङ्क, सरस्वतीकण्ठाभरण, युक्तिकल्पतरु आदि उनके विभिन्न विरुद ही थे जिन पर उनके ग्रन्थों का नामकरण हुआ। यह बात सम्पूर्णांश में युक्त नहीं प्रतीत होती क्योंकि 'चम्पूरामायण' 'नाममालिका' 'शब्दानुशासन' 'शिवतत्त्वरत्नकलिका' सदृश ग्रन्थों के नाम इनके विरुद नहीं हो सकते, तथापि स्वल्पांश में उक्त कथन चरितार्थ अवश्य होता है। वह पूर्णतः निराधार भी नहीं है क्योंकि 'समराङ्गणसूत्रधार' भोज का विरुद भी है और उनके वास्तुविद्या आदि से सम्बद्ध एक ग्रन्थ का नाम भी। पातञ्जलयोग सूत्र पर अपनी 'राजमार्तण्डवृत्ति' के प्रारम्भिक श्लोकों में उन्होंने अपने को 'रणरङ्गमल्ल'[2] कहा है जो 'समराङ्गणसूत्रधार' का पर्याय हो सकता है। नामों का पर्याय संस्कृत-भाषा के ग्रन्थों में कम नहीं प्रयुक्त हुआ है।

'रामायणचम्पू' अथवा 'चम्पूरामायण' के भोजरचित प्रत्येक काण्ड के अन्त में पुष्पिका में इनको 'विदर्भराज'[3] भी कहा गया है, किन्तु ऐतिहासिक तथ्यों के अभाव में यह कथन चिन्त्य है। संभव है किसी समय यह स्थिति रही भी हो जिसके प्रमाण अन्यत्र नहीं मिलते। इनका नाम वस्तुतः भोज ही था। 'महाराज', 'परमेश्वर', 'देव' आदि की भाँति सम्मानार्थ इनके नाम के आगे 'राज' या 'देव' शब्द भी प्रयुक्त हुये हैं जैसे 'भोजराज', 'भोजदेव' आदि। विद्याधर ने अपने अलङ्कारग्रन्थ 'एकावली' में इनको मात्र 'राजा' कहकर उद्धृत किया है।[4] इसकी पुष्टि प्रो० डे ने अन्य प्रमाणों से भी की है।[5]

---

१. इह हि शिष्टशिरोमणि-निखिलनिरवद्यनिर्माणापूर्वप्रजापति-प्रचण्डभुजदण्डपराक्रमार्जित-**चतुरशीतिविरुद**-प्रकाशित-स्वकृतग्रन्थसमाजः श्रीभोजराजः शास्त्रारम्भे" डा० राघवन् के Bhoja's Śṛṅgāra Prakāśa पृ० ८ से उद्धृत।

२. तस्य श्रीरणरङ्गमल्लनृपतेर्वाचो जयन्त्युज्ज्वलाः॥ राजमार्तण्डवृत्ति, प्रारम्भिक श्लोक संख्या ॥५॥ 'राजमृगाङ्ककरण' में भी—"व्युत्पत्तिसारमिह राजमृगाङ्कसंज्ञमेतद् व्यधाच्च करणं रणरङ्गमल्लः":—'राजा भोजः' पृ० २३९

३. इति श्री विदर्भराजविरचिते चम्पूरामायणे (सुन्दरकाण्डः) समाप्तः। आदि

४. स्वरचित्रं तु बन्धशैथिल्यकारितया दोष एवेति नालङ्कारतया स्वीकृतम्। **यदाह राजा** "उरुगुं घुगुरुं०" आदि, : Bombay Sanskrit Series No. 63, Bombay, 1903, page 192.

५. Our Bhoja is frequently cited in later Alaṃkāra literature as Bhojarāja, and sometimes simply as RĀJAN which designation like that of MUNI applied to Bharata seems to mark him out parexcellence in this literature." Sanskṛit Poetics P. 135, Calcutta, 1960.

भोज का वंश तथा परिवार—

भोज 'परमार' वंश के थे।[1] परमारों की उत्पत्ति अग्नि से हुई थी जो 'अर्बुदाचल' पर्वत पर वसिष्ठ के अग्निकुण्ड में स्थापित थी। इस वंश के अग्नि से उद्भव का संक्षिप्त ऐतिह्य भोज ने अपने 'सरस्वतीकण्ठाभरण'[2] नामक अलङ्कारग्रन्थ में 'नायकगुण' के प्रसङ्ग में दिया है—

वासिष्ठैः सुकृतोद्भवोऽध्वरशतैरस्त्याग्निकुण्डोद्भवो
भूपालः 'परमार' इत्यधिपतिः सप्ताब्धिकाञ्चेर्भुवः।
अद्याप्यद्भुतहर्षगद्गदगिरो गायन्ति यस्योद्भटं
विश्वामित्रजयोर्जितस्य भुजयोर्विस्फूर्जितं गुर्जराः॥[3]

इनके पिता का नाम सिन्धुल अथवा सिन्धुराज, पितामह का सीयकदेव तथा चाचा का वाक्पतिराज अथवा 'मुञ्ज' था। सीयकदेव के उत्तराधिकारी मुञ्ज ही थे जिनके बाद सिन्धुराज राज्यासीन हुये और उनके बाद भोज। इस शासन परम्परा का ज्ञान भोज के सम्वत् १०७६ तथा १०७८ के अभिलेखों के प्रारम्भिक अंशों से भी होता है।[4] भोज की माता का नाम सावित्री तथा पुत्र का जयसिंह था। ऐसा कहा जाता है कि इनकी स्त्री का नाम लीलावती तथा कन्या का भानुमती था।[5]

भोजदेव अनेक विद्याओं—काव्यशास्त्र, दर्शनशास्त्र, वास्तुशास्त्र, युद्धकौशल, ज्योतिष, आयुर्वेद आदि में परमनिष्णात, समराङ्गणसूत्रधार, चतुष्षष्टिकलापारदृश्वा, कुशलप्रशासक, कवि, दानवीर, विद्वानों तथा कवियों के आश्रयदाता थे जिनके लिये 'प्रत्यक्षरं लक्षं (लक्ष्यं वा) ददौ' सदृश शब्दों का प्रयोग कर बल्लालसेन कृतकृत्य हुये। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' की 'गिरिराजीय' टीका में काट्यवेम ने भोज को भरत जैसा नाट्याचार्य कहा है, 'अभिनवराघाभ्युदय' के रचयिता अभिरामकामाक्षी ने इनकी प्रशंसा की है। चिदम्बर कवि ने इनको अपने 'पञ्चकल्याणचम्पू' में 'भोजराजो, भूयानुदारकविताररसवासभूमिः' कहा है। 'कन्दर्पचूडामणि' के रचयिता राजा वीरभद्रने अपनी तुलना भोज से की है—

भोज इवायं निरतो नानाविद्यानिबन्धनिर्माणे।
समयोच्छिन्नप्राये सोद्योगः कामशास्त्रेऽपि॥

'सङ्गीतरत्नाकर' के रचयिता 'शार्ङ्गदेव ने इनका स्मरण 'भोजभूवल्लभ' के रूप में किया है। पार्श्वदेव ने 'सङ्गीतसमयसार' में—

'शास्त्रं भोजमतङ्गकश्यपमुखाः व्यातेनिरे ते पुरा'

कह कर इनको सङ्गीताचार्य माना है। 'भेषजकल्पसारसंग्रह' में 'बाहटे चरके भोजे वृहद्भोजे च हारिते' उल्लेख होने से इनकी आयुर्वेदविशारदता सिद्ध होती है। वेङ्कटकृष्ण ने 'नटेश-

---

१. परमार नाम के लिये द्रष्टव्य—पद्मगुप्तपरिमल-रचित 'नवसाहसाङ्कचरितम्'॥ ११।४९-७४॥
२. सरस्वतीकण्ठाभरणम्—पञ्चमपरिच्छेदः
३. 'भोज' नाम के ऊहापोह के लिये द्रष्टव्य—'तत्त्वप्रकाशः' भूमिका पृ० ३५-३७ सम्पादक—डा० कामेश्वरनाथ मिश्र, चौखम्भा ओरियण्टालिया, वाराणसी, १९७६ ई०।
४. परमभट्टारक-महाराजाधिराज-परमेश्वर-श्रीसीयकदेव...श्री वाक्पतिराजदेव...श्री सिन्धुराजदेव...श्री भोजदेवः कुशली० आदि, दोनों अभिलेख।
५. पातञ्जलयोगसूत्रम्-भोजकृत-राजमार्तण्डवृत्तिसमेतम्, भारतीयविद्याप्रकाशन, वाराणसी १९६३ ई०, भूमिका पृ० २६, तथा 'सनत्सुजातीय' ग्रन्थ का परिशिष्ट पृ० ६७०

विजय' काव्य में अपने आश्रयदाता नरेश को "बोधे कलानां नवभोजराजः" कहा है।[1] इन उक्तियों से भोज के सर्वाङ्गीण प्रकर्ष का ज्ञान होता है।

समय—भोज ऐतिहासिक महापुरुष थे। उनके तथा उनके विषय में अन्यों के प्राप्त अभिलेखों, ग्रन्थों, तथा विवरणों से प्राप्त सामग्री के आधार पर इनका समय निश्चित है और उसमें विशेष विवाद नहीं है। यह अवश्य है कि उनकी आविर्भाव तथा तिरोधान की निश्चित तिथियाँ कहीं लिखी हुई नहीं मिलतीं, अतः उनके विषय में कुछ पौर्वापर्य संभावित है। अनेक अन्तः तथा बहिः साक्ष्यों के आधार पर इनका समय बहुत आगे-पीछे नहीं खिसक पाता है। आज तक भोज के अनेक दानपत्र उपलब्ध हो चुके हैं, जिनमें एक १०७६ तथा दूसरा १०७८ विक्रमसम्वत् का है। कल्हण की राजतरङ्गिणी[2] तथा मम्मट के 'काव्यप्रकाश'[3] में भोज का नाम मिलता है तथा इनके गुणों की प्रशस्ति है। वाजसनेयी संहिता के टीकाकार उव्वट, तिलकमञ्जरी के कर्त्ता धनपाल तथा 'दशरूपक' आदि के रचयिता धनिक आदि भोज के प्रायः समकालीन ही थे।[4] नागौर से एक शिलालेख प्राप्त हुआ है, उसका समय वि० सं० ११६१ है, उसमें इनके पूर्व पुरुषों से लेकर इन तक का उल्लेख है।[5] 'उदयपुर-प्रशस्ति' में भोज की प्रशंसा है।[6] इन ऐतिहासिक तथ्यों से इनका समय निश्चित करने में सहायता मिलती है।

चालुक्यराज जयसिंह तृतीय से १०११-१०२९ ई० के मध्य इनकी लड़ाई हुई थी। उसके उत्तराधिकारी सोमेश्वर (१०४२-१०६६ ई०) से भी इनका युद्ध हुआ था।[7] प्रो० एस० के० डे का मत इनके समय के विषय में अधिक पुष्ट प्रतीत होता है, जिसमें उन्होंने इनको १०१०-१०५५ ई० के मध्य का कहा है।[8] डा० राघवन् भोज का राज्याभिषेक का समय लगभग १०१० ई० तथा मृत्यु का १०६२ ई० के बाद मानते हैं।[9]

---

१. इन उद्धरणों के लिए द्रष्टव्य, रेउः राजा भोज, पृ० २९९-३१२.

२. राजतरङ्गिणी ७।२५९॥

३. भोजनृपतेस्तत्स्यागलीलायितम्॥ काव्यप्रकाश उल्लास

४. सरस्वतीकण्ठाभरणम्-भूमिका पृ० ३ (निर्णयसागरप्रेस)

५. एपिग्रैफिका इण्डिका, भाग २, (पृ० १८३-१८५)

६. साधितं विहितं दत्तं ज्ञातं तद् यन्न केनचित्।
किमन्यत्कविराजस्य श्रीभोजस्य प्रशस्यते॥

७. विक्रमाङ्कदेवचरितम्॥ १८।९६॥

८. All this, however, will justify us in fixing Bhoja's date with great probability between 1010 and 1055 A. D. i. e. roughly covering a part of the first and whole of the second quarter of the 11th century and he may have lived into the third quarter of the same century. The exact dates of his succession and death are unknown, but it seems that he died after a long illness, in the midst of wars with Bhima, King of Gujarāta & with Kalcuri Karṇa, King of Tripuri." Sanskṛt Poetics, page 136.

९. Bhoja might have assumed reigns of Governmemt about 1010 A. D. or somewhat later...He died sometime after 1062 A. D. Śṛṅgāra Prakāśa. page 5, footnote No 1.

इस प्रकार इतिहासचर्चित व्यक्तित्व होने के कारण भोज के समय के विषय में बहुत टटोलना नहीं पड़ता, तथापि विशिष्टप्रमाण न मिलने के कारण उनके जन्म, राज्यारोहण, मरण आदि की निश्चित तिथियाँ नहीं दी जा सकतीं। आशा है उत्खनन, नव सन्दर्भप्रकाशन आदि से कुछ विशिष्ट सामग्री उपलब्ध होने से भविष्य में अज्ञातपक्ष प्रकाशित हो सकेगें।

भोज का धर्म, धार्मिक कृत्य तथा दीक्षागुरु

यह राजा शैवमतानुयायी था। उदयपुरप्रशस्ति में इनको 'भर्गभक्त'—शिवभक्त-कहा गया है।[1] गणरत्नमहोदधि' नामक ग्रन्थ में भोज के सिप्रा नदी के तट पर स्थित ऋष्याश्रम में जाने का उल्लेख है जहाँ पहुँचने पर उसके स्वागत में ऋषि के मुख से कहलाया गया है कि यद्यपि इनके पूर्वज भी शिवभक्त थे तथापि शिव का साक्षात्कार तो भोज को ही हुआ था।

दृष्टोद्रुलोमेषु मयोद्रुलोमे श्रीवैरिसिंहादिषु रुद्रभक्तिः।
अपार्थिवा सा त्वयि पार्थिवीयां नौत्स्यौदपान्योऽपि न वर्णयन्ति ॥ १ ॥
कस्तारुणस्तालुनवाष्कयौ वा सौवष्कथिर्वा हृदये करोति।
विलासिनोर्वीपतिना कलौ यद् व्यलोकि लोकेऽत्र मृगाङ्कमौलिः ॥[2]

स्वयं भोज के ही १०७६ तथा १०७८ वि० सं० के दोनों दानपत्रों का पूर्वार्ध समान पदावली में निबद्ध है जिसमें भगवान् शिव को प्रणाम तथा उनसे रक्षा कामना के पश्चात् पूर्ववर्ती राजाओं का विरुद के साथ स्मरण और शिवपूजा के अनन्तर दान देने का उल्लेख है। इतना ही नहीं वहाँ तो संसार की असारता तक का भी भोज को प्रत्यक्ष हो चुका था, इस तथ्य का उद्घाटन हुआ हैं। दानपत्रों का समान शब्दावली का प्रमुख अंश इस प्रकार है—

ॐ जयति व्योमकेशोऽसौ यः सर्गाय विभर्ति ताम्।
ऐन्दवीं शिरसा लेखां जगद्बीजाङ्कुराकृतिम् ॥ १ ॥
तन्वन्तु वः स्मरारातेः कल्याणमनिशं जटाः।
कल्पान्तसमयोद्दामतडिद्वलयपिङ्गलाः ॥ २ ॥

.....परमभट्टारक-महाराजाधिराज-परमेश्वर-श्रीसीयकदेवपादानुध्यातपरमभट्टारक-महाराजाधिराज-परमेश्वर-श्रीवाक्पतिराजदेव-पादानुध्यात-परमभट्टारक-महाराजाधिराज-परमेश्वर-श्रीसिन्धुराजदेव-पादानुध्यात-परमभट्टारक - महाराजाधिराज - परमेश्वर-श्रीभोजदेवः कुशली।...स्नात्वा चराचरगुरुं भगवन्तं भवानीपतिं समभ्यर्च्य, संसारस्यासारतां दृष्ट्वा वाताभ्रविभ्रममिदं वसुधाधिपत्यमापातमात्रमधुरो विषयोपभोगः। प्राणास्तृणाग्रजलबिन्दुसमा नराणां, धर्मः सखा परमहो परलोकयाने। भ्रमत्संसार-चक्राग्रधाराधारामिमां श्रियम्। प्राप्य येन ददुस्तेषां पश्चात्तापः परं फलम्। इति जगतो विनश्वरं स्वरूपमाकलय्य...,,[3]

ये शब्द स्वयं भोजदेव के हैं, अतः उनके शैव होने में कोई सन्देह नहीं रह जाता।

इतना ही नहीं भोज के अधिकांश ग्रन्थों का मङ्गलाचरण शिवपरक है। पातञ्जलयोगसूत्र की राजमार्तण्डवृत्ति के प्रत्येक पाद के प्रारम्भ में शिव का स्मरण है। 'सरस्वतीकण्ठाभरणम्'—

---

१. तत्रादित्यप्रतापे गतवति सदनं स्वर्गिणां भर्गभक्ते। एपिग्रैफिका इण्डिका, भाग १ पृ० २३६
२. गणरत्नमहोदधि, तद्धितगणाध्याय, ४ पृ० १६३.
३. विश्वेश्वरनाथ रेउः राजाभोज, हिन्दुस्तानी एकेडमी, उ० प्र० इलाहाबाद, १९३२ ई., परिशिष्ट २-३ से उद्धृत।

अलङ्कारग्रन्थ—के आदि में यदि सरस्वती का स्मरण है तो अन्त में शिव का भी है। 'शृङ्गार-प्रकाश' का आदि श्लोक अर्धनारीश्वर से सम्बद्ध है।[1] भोज के बहुसंख्यक ग्रन्थों में कुछ ही ऐसे हैं जिनमें मङ्गलाचरण में शिव के अतिरिक्त किसी अन्य देवता का वर्णन है।[2] इन अन्तः तथा बहिः साक्ष्यों के अतिरिक्त भोज का शैव होना इससे भी सिद्ध होता है कि उन्होंने शैवदर्शन पर भी ग्रन्थ लिखा है।

भोज शैवदर्शन के जिस सम्प्रदाय के अनुयायी थे वह 'सिद्धान्त-शैवदर्शन' के नाम से विख्यात है। यह दर्शन द्वैतवादी है। इनके दीक्षागुरु का नाम उत्तुङ्गशिव था, जो प्राचीन लाट देश की कल्याणनगरी के निवासी थे। उत्तुङ्गशिव के 'पद्धति' नामक ग्रन्थ का उल्लेख मिलता है।

'परं तु श्रीमदघोरशिवाचार्यकृतपद्धत्याम् उत्सवविधौ गोत्रविधिनिर्णयपटले—

ततोऽभूल्लाट उत्तुङ्गशिवो विन्ध्ये व्रतीश्वरः।
कल्याणनगरीवासी गुरुः पद्धतिकृत् सुधीः॥
सर्वविद्याधिपो यस्य कनीयानार्यदेशजः।
सर्वागमार्थनिर्णेतुः श्रीभोजनृपतेर्गुरुः॥[3]

'सिद्धान्त-शैवदर्शन' पर अपने पाण्डित्य का निरूपण यह स्वयं अपने ग्रन्थ 'तत्त्वप्रकाश' की ७५-७६ वीं कारिका में करते हैं[4] और उन पर श्रीकुमार की व्याख्या की पंक्तियों से तथ्य का अनुमोदन भी होता है।[5]

महाराज भोज ने धारा में सरस्वतीकण्ठाभरण पाठशाला का निर्माण कराया था, जहां सरस्वती की प्रतिमा स्थापित की थी। अपने देश से बाहर भी अनेक राज्यों में उन्होंने वापी-तडाग आदि के साथ शिवमन्दिरों का निर्माण कराया था। उदयपुरप्रशस्ति में उनके केदार, रामेश्वर, सोमनाथ, सुन्दरवन (सुण्डीर), कालानल (महाकाल) आदि स्थलों पर मन्दिर निर्माण कराने का उल्लेख है।[6] कल्हण ने राजतरङ्गिणी में कपटेश्वर में कुण्डनिर्माण का विशद वर्णन किया है।

मालवाधिपतिर्भोजः प्रहितैः स्वर्णसंचयैः।
अकारयद्येन कुण्डयोजनं कपटेश्वरे॥

---

१. अच्छिन्नमेखलमलब्धदृढोपगूढमप्राप्तचुम्बनमवीक्षितवक्त्रकांति ।
कान्ताविमिश्रवपुषः कृतविप्रलम्भसंभोगसख्यमिव पातु वपुः पुरारेः॥ शृ० प्र० ॥ १।१ ॥

२. विश्वेश्वरनाथ रेउः राजा भोजः ग्रन्थ से सम्बद्ध अध्याय द्रष्टव्य है।

३. डा० के० सी० पाण्डेयः भास्करी भाग ३ पृ० २२६ से उद्धृत।

४. तत्त्वानामपि तत्त्वं येनाखिलमेव लीलया कथितम्।
श्रीभोजदेवनृपतिर्व्यदधत्तत्त्वप्रकाशं सः ॥ ७५ ॥
यस्याखिलं करतलामलकक्रमेण देवस्य विस्फुरति चेतसि तत्त्वजातम्॥
श्रीभोजदेवनृपतिः स शिवागमार्थं तत्त्वप्रकाशमसमानमिदं व्यधत्त॥ ७६ ॥

५. नमस्तस्मै भगवते भोजायाक्लिष्टकर्मणे। शिवाय शिवभक्ताय शिवैकाहितचेतसे॥
देखिये—डा० कामेश्वरनाथमिश्र सम्पादित 'तत्त्वप्रकाशः' पृ० १४७, चौखम्भा ओरियण्टालिया वाराणसी, १९७६.

६. केदार-रामेश्वर-सोमनाथ-सुण्डीर-कालानल-रुद्रसत्कैः।
सुराश्रयैर्व्याप्य च यः समन्ताद्यर्थायसंज्ञां जगतीं चकार॥ एपी० इण्डि० भाग १, पृ० २३६,

प्रतिज्ञा भोजराजेन पापसूदनतीर्थजैः।
सततं वदनस्नाने या तोयैर्विहिताऽभवत्॥
अपूरयत्तस्य यस्तां दुस्तरां नियमादितः।
प्रहितैः काचकलशीकुलैस्तद्वारिपूरितैः॥[1]

मैलकम (Malcolm) के अनुसार भोपाल के दक्षिणपूर्व में ३५० वर्ग मील की एक सुन्दर झील सुरम्य प्राकृतिक वातावरण के साथ भोज के समय में बनवायी गयी थी जो भारतीय स्थापत्यकला का उत्कृष्ट निदर्शन थी।[2] भोज जैसे धार्मिक राजा के लिये यह सब इष्टापूर्तकर्म सहज स्वीकार्य रहा होगा। यहाँ किसी शङ्का के लिये स्थान नहीं।

क्या भोज जैन या इस्लाम धर्म से प्रभावित थे ?—

भोज के शैव होने में कोई सन्देह नहीं रहा, किन्तु कुछ फुटकर उद्धरणों या ग्रन्थों में इनके अन्य-धर्म-स्वीकृति के उल्लेख मिलते हैं। 'श्रवणबेलगोला' से प्राप्त एक कनारी भाषा के अभिलेख में भोज द्वारा जैनाचार्य प्रभाचन्द्र के पैर पूजे जाने का उल्लेख मिलता है।[3] इसी प्रकार दूबकुण्ड से प्राप्त कच्छपघातवंशी विक्रमादित्य के वि० सं० ११४५ के लेख में वर्णन है कि शान्तिसेन ने अम्बरसेन आदि जैनाचार्यों के अपमानकर्त्ताओं को भोज की सभा में पराजित किया था।

आस्थानाधिपतौ बुधादविगुणे श्रीभोजदेवे नृपे
सभ्येष्वम्बरसेनपण्डितशिरोरत्नादिपूद्यन्मदान्।
योऽनेकान् शतशो व्यजेष्ट पटुताभीष्टोद्यमो वादिनः
शास्त्राम्भोनिधिपारगोऽभवदतः श्रीशान्तिषेणो गुरुः॥[4]

किन्तु किसी धर्म के आचार्य को सम्मान देना वस्तुतः भोज की उदारता है तथा अपनी सभा में शास्त्रार्थ के लिये भिन्नमतावलम्बियों को प्रश्रय देना उसकी गुणग्राह्यता तथा विद्याव्यसन के ही परिचायक हैं, इनका तात्पर्य धर्म परिवर्तन नहीं है। अपना व्यक्तिगत धर्म होने पर भी अन्य धर्मों वाली जनता के भी धर्म का स्वागत करना राजा का कर्त्तव्य है।

इसी प्रकार का मनगढन्त निरूपण इस्लाम धर्म के कुछ लेखकों ने भी किया है। 'गुलदस्ते अब्र' नामक उर्दू की एक छोटी सी पुस्तिका में लिखा है कि अब्दुल्ला शाह फकीर के चमत्कारों को देखकर भोज मुसलमान हो गया था।[5] धारा में विद्यमान अब्दुल्ला शाह चङ्गाल की कब्र से प्राप्त (वि० सं० १५१२=१४५५ ई०) ८५९ हिजरी के लेख में लिखा है कि भोज ने धर्म परिवर्तन कर अपना नाम अब्दुल्ला रख लिया था।[6] किन्तु प्रो० रेउ इस मान्यता को स्वीकार नहीं करते और इसे 'मुल्लाओं की कपोलकल्पना' मानते हैं।[7] उनका यह भी मत है कि "या तो भोज के मुसलमान होने की यह कथा कल्पित ही है, या फिर इसका सम्बन्ध भोज

---

१. राजतरङ्गिणी ७।१९०-९२॥
२. M. Krishnamachariar : Hist. of Cl. Skt. Lit., 1970, Page 501.
३. Inscriptions at Śravanabelgola, No 55, p. 47
४. एपिग्रैफिका इण्डिका पृ० २३९।
५. रेउ : राजाभोजः पृ० ८७।
६. वही।
७. वही।

द्वितीय से हैं।[1] यह भोज द्वितीय उपेन्द्र (कृष्णराज) से प्रारम्भ मालवे के परमारों की वंशावली में २५वीं पीढ़ी पर था और २४वीं पीढ़ी वाले अर्जुन वर्मा (द्वितीय) से उत्तराधिकार प्राप्त किया था। भोज द्वितीय का भी उत्तराधिकारी जयसिंह चतुर्थ हुआ था। भोज जैसे पराक्रमी, विद्वान्, साधक तथा परम्परा से शैवधर्म के प्रचारक राजा का धर्मान्तरित होना अत्यन्त अस्वाभाविक है। धर्मान्तरण के प्रतिकूल एक दूसरा प्रबल तर्क यह है कि यदि वह जैन या मुसलमान हो गया होता तो उसके बाद उसके वंशधर सनातनी नाम वाले न होते, उनके भी नाम जैनी या इस्लामी होते। किन्तु इतिहास साक्षी है कि भोज के बाद कई पीढ़ियों तक परमारवंश के सनातनी राजाओं ने शासन किया, अतः भोज के धर्मान्तरण सम्बन्धी प्रवाद निराधार हैं।

भोज का साम्राज्य—

भोज मालवाधीश थे। उनके युद्ध पड़ोस के राजाओं से होते रहे, किन्तु उनका जो कुछ भी भाग हिस्से में आता रहा 'मालवा' में ही समाहित होता रहा। आश्चर्य है कि भोज के राज्य के कैलास से लेकर मलयगिरि तक फैले होने का उल्लेख शिलालेखों में मिलता है।[2] उनको चेदि, कर्णाट, लाट, गुर्जर तथा तुरुष्क प्रदेशों का भी विजेता कहा गया है।

चेदीश्वरेन्द्ररथतोग्गलभीममुख्यान्
कर्णाटलाटपतिगुर्जरराट्तुरुष्कान्।
यद्भृत्यमात्रविजितानवलोक्य मौला
दोष्णां बलानि कलयन्ति न योद्धृलोकान्।[3]

इन अभिलेखों में संभवतः उसी प्रकार का अर्थवाद है जैसा सामन्तीयुग में हुआ करता था, जबकि एक छोटी सी रियासत के ठेकेदार तक को आश्रित कविजन अथवा भाट-चारण लोग त्रिलोकीपति, सकलवसुधाधिपति, चक्रवर्ती आदि कहा करते थे।

भोज के ग्रन्थ—

भोज बहुमुखी प्रतिभा के राजर्षि थे। उन्होंने अनेक विषय के ग्रन्थों का प्रणयन किया। इनकी रचनायें अपने क्षेत्र में अतीव महत्त्वपूर्ण रहीं इसी से परवर्ती ग्रन्थकारों ने तत्तद्विषयों में इनकी उद्धृत भी किया है। आयुर्वेद के क्षेत्र में 'भावप्रकाश' तथा माधव के 'रुग्विनिश्चय' (माधवनिदान) में, ज्योतिष में केशवार्क द्वारा, वैयाकरण तथा कोशकार के रूप में क्षीरस्वामी, सायण तथा महीप द्वारा, चित्तप, देवेश्वर, विनायक शङ्कर, सरस्वती-कुटुम्बदुहितृ आदि कवियों द्वारा सामान्यतः ससम्मान इनको उद्धृत किया गया है तथा इनकी यशोगाथायें गाई गयी हैं।[4] 'शैवदर्शन' में भी 'सर्वदर्शनसंग्रह' में माधव द्वारा तथा 'ईशानगुरुदेवपद्धति' में

---

१. वही पृ० ३३५।

२. आकैलासान्मलयगिरितोऽस्तोदयाद्विंध्याद्वा
भुक्ता पृथ्वी पृथुनरपतेस्तुल्यरूपेण येन।
उन्मूल्योर्वीरणगुरुगणा लीलया चापयष्ट्या
क्षिप्ता दिक्षु क्षितिरपि परां प्रीतिमापादिता च॥ एपि० इण्डिका० भाग १, पृ० २३५

३. एपिग्रैफिका इण्डिका भा० १ पृ० २३६

४. As a medical writer he is quoted in the Bhāvaprakāśa, & Mādhava's Rugviniscaya, as astrologer by Kecvarka, as a grammarian and lexicographer he is noticed by Kshiraswami,

ईशानदेवमिश्र द्वारा भोज के वाक्य बहुशः उद्धृत किये गये हैं। भोज की बहुमुखी साहित्य-सेवा का निदर्शन श्री चन्द्रप्रभसूरि के ग्रन्थ 'प्रभावकचरितम्' (श्लोक ४७५-७८) में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

भोजव्याकरणं ह्येतत् शब्दशास्त्रं प्रवर्तते ॥
असौ हि मालवाधीशो विद्वच्चक्रशिरोमणिः।
शब्दालङ्कार-दैवज्ञ-तर्कशास्त्राणि निर्ममे ॥
चिकित्सा-राजसिद्धान्त-तरुवास्तूदयानि च।
अङ्कशाकुनकाध्यात्म-स्वप्नसामुद्रिकाण्यपि ॥
ग्रन्थान् निमित्तव्याख्यानप्रश्नचूडामणीनिह।
विवृत्तिं चाथ सद्भावेऽर्थशास्त्रं मेघमालया ॥[1]

आजड (Ajada) के अनुसार इनके ग्रन्थों की संख्या चौरासी है जो वस्तुतः भोज के एक-एक विरुद के आधार पर नामाङ्कित हैं। उदाहरणार्थ वह स्वयं शृङ्गारप्रकाश, राजमृगाङ्क, राजमार्तण्ड आदि थे और इन्हीं के नामों पर उन्होंने तन्नामक ग्रन्थों को लिखा।

"इह हि शिष्टशिरोमणि-निखिल-निरवद्य-निर्माणापूर्वप्रजापति-प्रचण्डभुजदण्ड-पराक्रमार्जित-चतुरशीतिविरुदप्रकाशितस्वकृतग्रन्थसमाजः श्रीभोजराजः शास्त्रारम्भे" आदि।[2]

आफ्रेक्ट महोदय ने अपने 'कैटेलागस कैटेलागोरम' में भोज के नाम से भिन्न-भिन्न विषयों के ग्रन्थों की सूची दी है। अन्यत्र भी उल्लिखित ग्रन्थों का विषयतः वर्गीकरण दिया जा रहा है।

काव्यशास्त्र—(१) सरस्वतीकण्ठाभरण (२) शृङ्गारप्रकाश

व्याकरण—(३) सरस्वतीकण्ठाभरण (४) शब्दानुशासन (५) भर्तृहरिकारिका

चिकित्सा—(६) आयुर्वेदसर्वस्व (७) राजमृगाङ्क (८) विश्रान्तविद्याविनोद (९) शालिहोत्र (अश्वचिकित्सा)

ज्योतिष—(१०) आदित्यप्रतापसिद्धान्त (११) राजमार्तण्ड (१२) राजमृगाङ्क(करण)[3] (१३) विद्वज्जनवल्लभ-प्रश्नज्ञान।

शैवदर्शन—(१४) सिद्धान्तसंग्रह[4] (१५) तत्त्वप्रकाश (१६) शिवतत्त्वरत्नकलिका

वास्तुविद्या—(१७) समराङ्गणसूत्रधार (१८) युक्तिकल्पतरु

धर्मशास्त्र एवं नीति—(१९) चाणक्यनीति (२०) चारुचर्या (२१) व्यवहारसमुच्चय (२२) विविधविद्याचतुरा (२३) सिद्धान्तसारपद्धति।

अन्यदर्शन—(२४) राजमार्तण्ड (योगसूत्रवृत्ति) (२५) राजमार्तण्ड (वेदान्त ?) (२६) द्रव्यानुयोगतर्कणा की टीका।

काव्य, कथा, चम्पू आदि—(२७) चम्पूरामायण (२८) नाममालिका (कोष) (२९) विद्या-

---

Sāyaṇa & Mādhava. He is praised by the poets Chittapa, Deveśvara, Vinayaka, Cankara, Saraswatikutumba-duhitṛ."

Aufrecht : Cat, Cat. Vol. I pp. 418–9

१. Dr. V. Raghvan : Bhoja's Śṛṅgāra Prakāśa p. 5 पर उद्धृत।

२. वही।

३. C. M. Duff : The Chronology of Indian Hist., Chauphambha Orientalia, Varanasi, 1975, pp. 149, 310

४. कुछ लोग इसको ज्योतिष का ग्रन्थ मानते हैं।

विनोद (काव्य) (३०) सुभाषित प्रबन्ध (३१) कूर्मशतकम् (३२) अवनिशतकम् (३३) पारिजात-मञ्जरी (३४) शृङ्गारमञ्जरीकथा (३५) कोदण्ड (३६) अज्ञातनामप्राकृतकाव्य।

इन ग्रन्थों में चाणक्यनीति, चारुचर्या तथा राजमार्तण्ड (वेदान्त) सन्दिग्ध हैं, क्योंकि प्रथम सामान्यतः चाणक्य की तथा द्वितीय क्षेमेन्द्र की रचना होने का सन्देह है। राजमार्तण्ड (वेदान्त) नामतः उल्लिखित होने पर भी अनुपलब्ध है। 'शिवतत्त्वरत्नकलिका' किसी कृष्णानन्द सरस्वती की रचना समझी जाती है। इस पर उनकी 'आमोदरञ्जन' नाम की स्वोपज्ञ टीका भी है।[1] नामसाम्य होने पर भी यदि ग्रन्थों के प्रतिपाद्य में भिन्नता हो, तो ग्रन्थों को भी भिन्न कहा जा सकता है, किन्तु प्रस्तुतसन्दर्भ में ऐसी बात प्रतीत नहीं होती। 'सिद्धान्त-संग्रह' पर 'सोमेश्वर' की 'विवृति' नाम की टीका है। यह सिद्धान्तशैवदर्शन का ग्रन्थ है। कूर्मशतकम् तथा अवनिशतकम् ये दोनों प्राकृतभाषा की भोज की रचनायें हैं। 'कोदण्ड' तथा 'अन्तिम ग्रन्थ' दोनों का उल्लेख श्री विश्वेश्वरनाथ रेउ ने अपने ग्रन्थ 'राजा भोज' के परिशिष्ट में किया है और इनको 'प्राकृतकाव्य' कहा हैं।[2] 'चम्पूरामायण' या 'रामायणचम्पू' की रचना भोज ने किष्किन्धाकाण्ड तक ही की थी, शेष युद्धकाण्ड की पूर्ति लक्ष्मणसूरि ने की।[3] 'हनुमन्नाटक' (महानाटक) का भी उद्धारक भोज को माना जाता है और रचयिता दामोदर मिश्र को।[4]

भोज का ग्रन्थकर्तृत्व तथा सरस्वती-कण्ठाभरण—

विद्वान् इस तथ्य पर एकमत नहीं हैं कि उक्त समस्त असन्दिग्ध ग्रन्थों की रचना एक ही भोज ने की थी। ज्ञात नहीं कि इस निराधार भावना का उद्भावक कौन-सा शङ्कालु विकृतमस्तिष्क रहा, किन्तु अन्यों की बनायी सूची के आधार पर अपनी बृहद्ग्रन्थसूची के सम्पादक आफ्रेक्ट महोदय ने भोज के नाम से विख्यात ग्रन्थों की सूची देते समय अपना मत व्यक्त किया था कि—
"It is almost superfluous to add that none of the following works were actually written by himself, but belong to authors who either lived during his reign, or sometime after."[5]
यही नहीं प्रो०चन्द्रप्रसाद सैकिया ने श्री आनन्दोराव बरुआ का मत व्यक्त करते हुये 'भोज' शब्द को एक व्यक्तिविशेष का नाम न मानकर 'वंश' का वाचक माना है और 'सरस्वतीकण्ठाभरणम्' जैसे अलङ्कार ग्रन्थों की रचना अनेकों भोजों में एक द्वारा स्वीकार की है।[6] श्री यदुगिरिस्वामी द्वारा प्रकाशित 'शृङ्गारप्रकाश' (२२-२४ प्रकाश) की भूमिका में ए० रङ्गास्वामी सरस्वती ने

---

१. New Cat. Cat. Val. II p. 147, Madras.
२. राजाभोज : परिशिष्ट पृ० १३–१५।
३. 'लक्ष्मण महाकवि : श्रीमद्भोजराजप्रणीतचम्पूरामायणस्य परिपूर्तये अवशिष्टं युद्धकाण्डं प्रारिप्सुः···' युद्धकाण्ड के प्रारम्भ में नारायण की 'पदयोजना' टीका में।
४. M. Krishnamachariar, Hist. of Class. Skt. Lit., pp. 640–41.
५. Catalogus Catalogorum. Val. I pp. 418–19.
६. The popular belief that the book was written by King Bhoja Deva is not based on unassailable evidence, it seems more reasonable to assume that the book might be the work of any of the several rulers belonging to the Bhoja dynasty" Saraswati Kaṇṭhābharaṇa, Introduction p. viii. Gauhati, 1969.

बड़े अभिनिवेश के साथ एक राजा के निर्देशन में सभापण्डितों द्वारा इन ग्रन्थों का सम्पादन माना है ।[1]

पता नहीं इन मान्यताओं की स्थापना विद्वानों ने भोज की निन्दा के लिये की थी, अथवा व्यक्तित्वहीन सभापण्डितों की अथवा पण्डितों की बहुज्ञता तथा सम्भूयकारित्व की प्रशंसा के लिये। निःसन्देह भारत में ऐसे उदाहरण कम नहीं हैं जिनसे द्रव्यादि देकर राजाओं द्वारा विद्वानों के ग्रन्थों को अपने नाम से प्रकाशित कराये जाने की पुष्टि न हो, अथवा सभापण्डितों को अपनी रचनाओं को आश्रयदाताओं के नाम से प्रकाशित कर कृपापात्रता की सिद्धि न हुई हो, तथापि सर्वत्र ऐसा ही रहा होगा, यह न तो तथ्य है, न परम्परा और न युक्तिसंगत। संभवतः इस अद्भुत उद्भावना का कारण भोज का राजा होना, ग्रन्थों का बहुविषयक तथा बहुसंख्यक होना, राजा होने के कारण युद्धादि अनेक कार्यों में व्यापृत रहना और काव्यरचना के लिये समय न मिल पाना, अथवा सभापण्डितों की चाटुकारिका के चङ्गुल में आना आदि समझा जा सकता है, किन्तु डा० वे० राघवन् का ही मत संगत प्रतीत होता है कि—

"···It must be accepted, very learned men among kings there were, and that when we see modern writers, some of them engaged in multifarious public activities, producing voluminous books on diverse subjects, sometimes in unconnected branches of knowledge, we can certainly believe that the ancient Hindu system of education and the old Hindu devotion to learning did produce giants who wrote a very large number of works, in different fields of learning"[2]

वास्तविकता यह है कि जिन कारणों से विद्वान् इन कृतियों को भोजकृत नहीं मानते हैं, वही उनके कर्तृत्व की सिद्धि के पोषक हैं। राजा होकर ग्रन्थरचना भारतीय इतिहास में न पाप माना गया है न अपराध, अपितु राजशेखर सदृश आलंकारिकों ने उन पर यह दायित्व सौंपा था कि ये कवियों की परीक्षा करायें और अपनी सभा में उनको उचित सम्मान दें। अनेक राजधानियों में कविसभा-समायोजन के उदाहरण भी उन्होंने दिये हैं—

राजा कविः कविसमाजं विदधीत। राजनि कवौ सर्वो लोकः कविः स्यात्। स काव्यपरीक्षायै सभां कारयेत्। सा षोडशभिः स्तम्भैश्चतुर्भिर्द्वारैरष्टभिर्मत्तवारणीभिरुपेता स्यात्। तदनुलग्नं राज्ञः केलिगृहम्। मध्ये चतुःस्तम्भान्तरा हस्तमात्रोत्सेधा समणिभूमिका वेदिका। तस्यां राजासनम्। तस्य चोत्तरतः संस्कृताः कवयो निविशेरन्। बहुभाषाकवित्वे यो यत्राधिकं प्रवीणः स तेन व्यपदिश्यते। यस्त्वनेकत्र प्रवीणः स संक्रम्य तत्र तत्रोपविशेत्, ततः परं वेदविद्याविदः प्रामाणिकाः पौराणिकाः स्मार्ता भिषजो मौहूर्तिका अन्येऽपि तथाविधाः। पूर्वेण प्राकृताः कवयः ततः परं नटनर्तकगायन(क?)वादकवाग्जीवनकुशीलवतालावचरा अन्येऽपि तथाविधाः। दक्षिणतो भूतभाषाकवयः, ततः परं चित्रलेप्यकृतो माणिक्यबन्धका वैकटिकाः स्वर्णकारवर्धकिलोहकाराः अन्येऽपि तथाविधाः। दक्षिणतो भूतभाषाकवयः, ततः परं भुजङ्गणिकाः प्लवकशौभिकधम्मकमल्लाः शस्त्रोपजीविनोऽन्येऽपि तथाविधाः।

तत्र यथासुखमासीनः काव्यगोष्ठीं प्रवर्तयेत् भावयेत् परीक्षेत च। वासुदेवसातवाहन-

१. Foreword p. Vii.

२. Bhoja's Śṛṇgāra Prakāśa, page 6.

शूद्रकसाहसाङ्कादीन् सकलान् सभापतीन् दानमानाभ्यामनुकुर्यात्। तुष्टपुष्टाश्चास्य सभ्या भवेयुः। स्थाने च पारितोषिकं लभेरन्। लोकोत्तरस्य काव्यस्य च यथार्हापूजा कवेर्वा। अन्तरान्तरा च काव्यगोष्ठीं शास्त्रवादाननुज्ञानीयात्। मध्वपि नानवदंशं स्वदते। काव्य-शास्त्रविरतौ विज्ञानिष्वभिरमेत। देशान्तरादागतानां च विदुषामन्यद्वारा सङ्गं कारये-दौचित्यात् यावत्स्थितिपूजां च। वृत्तिकामांश्चोपजपेत् संगृह्णीयाच्च पुरुषरत्नानामेक एव ह्यसावुपकारो यद्राजोपजीविनां संस्कारः। महानगरेषु च काव्यशास्त्रपरीक्षार्थं ब्रह्मसभाः कारयेत्। तत्र परीक्षोत्तीर्णानां ब्रह्मरथयानं पट्टबन्धश्च। श्रूयते चोज्जयिन्यां काव्यकार-परीक्षा—

'इह कालिदासमेण्ठावत्रामररूपसूरभारवयः।
हरिचन्द्रचन्द्रगुप्तौ परीक्षिताविह विशालायाम्॥'

श्रूयते च पाटलिपुत्रे शास्त्रकारपरीक्षा—

'अत्रोपवर्षवर्षाविह पाणिनिपिङ्गलाविह व्याडिः।
वररुचिपतञ्जली इह परीक्षिताः ख्यातिमुपजग्मुः॥'
इत्थं सभापतिर्भूत्वा यः काव्यानि परीक्षते।
यशस्तस्य जगद्व्यापि स सुखी तत्र तत्र च॥[1]

राजशेखर की उक्ति तथा भोज के ग्रन्थों को देखने से प्रतीत होता है कि धर्मशास्त्र, ज्योतिष, आयुर्वेद, काव्यशास्त्र, राजनीति, विभिन्नभाषाज्ञान, वास्तु एवं समर की विद्याओं को जानने तथा प्रवीणता प्राप्त करने के जितने अवसर राजा को मिलते थे, उतने किसी भी अन्य व्यक्ति को नहीं। भोज स्वयं कवि तथा कविहृदय, शूरवीर, धर्मात्मा एवं नीतिज्ञ थे, अतः उनके द्वारा इन विभिन्न विषयों के ग्रन्थों का रचा जाना पुष्ट अधिक एवं शंका का विषय कम सिद्ध होता है।

वात्स्यायन ने अपने 'कामसूत्र' में जिन चतुःषष्टिकलाओं[2] की परिगणना की है और नागरक के जीवन का विधान किया है, वह राजा अथवा बहुत बड़े सामन्त के अतिरिक्त अन्य

---

१. काव्यमीमांसा।

२. गीतम् वाद्य नृत्यं आलेख्यं विशेषकच्छेद्यं तण्डुलकुसुमबलिविकाराः पुष्पास्तरणं दशनवसनाङ्गरागः मणिभूमिकाकर्म शयनरचनं उदकवाद्यं उदकाघातः चित्राश्च योगाः माल्यग्रथनविकल्पाः शेखरकापीडयोजनं नेपथ्यप्रयोगाः कर्णपत्रभङ्गाः गन्धयुक्तिः भूषणायोजनम् ऐन्द्रजालाः कौचुमाराश्चयोगाः हस्तलाघवं विचित्रशाकयूषभक्ष्यविकारक्रिया पानकरसरागासवयोजनं सूचीवानकर्माणि सूत्रक्रीडा वीणाडमरुकवाद्यानि प्रहेलिकाः प्रतिमाला दुर्वाचकयोगाः पुस्तवाचनम् नाटकाख्यायिकादर्शनं काव्यसमस्यापूरणं पट्टिकावेत्रवानविकल्पाः तक्षकर्माणि तक्षणम् वास्तुविद्या रूप्यरत्नपरीक्षा धातुवादः मणिरागाकरज्ञानं वृक्षायुर्वेदयोगाः मेषकुक्कुटलावकयुद्धविधिः शुकसारिकाप्रलापनं उत्सादने संवाहने केशमर्दने च कौशलं अक्षरमुष्टिकाकथनं म्लेच्छितविकल्पाः देशभाषाविज्ञानं पुष्पशकटिका निमित्तज्ञानं यन्त्रमातृका धारणमातृका संपाठ्यं मानसीकाव्यक्रिया अभिधानकोशः छन्दोज्ञानं क्रियाकल्पः छलितकयोगाः वस्त्रगोपनानि द्यूतविशेषा आकर्षक्रीडा बालक्रीडनकानि वैनयिकीनां वैजयिकीनां व्यायामिकीनां च विद्यानां ज्ञानं इति चतुष्षष्टिरङ्गविद्याः कामसूत्रस्यावयविन्याः॥

कामसूत्र॥ १।३।१६॥

व्यक्ति के जीवन में घटित हो पाना असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्य है।[1] वहाँ जिस त्रिवर्गसाधक पुरुष[2] की स्थापना वात्स्यायन ने की है, लगता है भोज ने उसको अक्षरशः अपने जीवन में उतारने की चेष्टा की है। चतुःषष्टिकलाओं में से गीत, वाद्य, नृत्य, नाट्य, आलेख्य, प्रहेलिका, पुस्तकवाचन, काव्यसमस्यापूर्ति, अक्षरमुष्टिकाकथन, म्लेच्छित-विकल्प, देशभाषाविज्ञान, धारण-मातृका, संपाठ्य, मानसीकाव्यक्रिया, अभिधानकोष, छन्दोज्ञान, क्रिया-विकल्प आदि कुछ तो ऐसी हैं जिनका साक्षात् सम्बन्ध कविकर्म से है। इनके प्रति रुचि रखने वाले भोज की रची हुई प्राकृत आदि भाषा की कविताओं तथा अलङ्कारशास्त्र के ग्रन्थों के प्रति तत्कर्तृकता में कोई सन्देह का अवसर ही नहीं रह जाता है। सरस्वतीकण्ठाभरण के द्वितीय परिच्छेद में चित्रकाव्यनिरूपण के प्रसङ्ग में विविध बन्ध, आलेख्य आदि तथा ग्राम्या, उपनागरिका, वक्रोक्ति, गूढोक्ति, चित्रोक्ति, उक्तिप्रत्युक्ति, वाकोवाक्य, प्रहेलिका और उसके च्युताक्षरा, दत्ताक्षरा, मुष्टि, बिन्दुमती, क्रीडागोष्ठी, परव्यामोहन, क्रियागुप्ता, कारकगुप्ता, पादगूढ़, अन्तःप्रश्न, बहिःप्रश्न, ध्रुवा, आक्षिप्तिका, प्रेक्षण, ष्वेडिका, ताण्डव, लास्य, छलिक, शम्पा, हल्लीसक तथा विभिन्न अभिनय निरूपित हैं। इनका किसी न किसी प्रकार ६४ कलाओं में अधिकांश से सम्बन्ध स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। वहीं पञ्चमपरिच्छेद में वर्णित 'प्रकीर्ण'[3] कामसूत्र में वर्णित क्रीड़ाओं से प्रायः मिलते हैं, उनमें अन्तर अतिस्वल्प है।[4]

उक्त तथ्यों से स्पष्ट होता है कि महाराजाधिराज भोजदेव ने त्रिवर्ग का समुचित सेवन किया

---

१. घटानिबन्धं गोष्ठीसमवायः समापानकं उद्यानगमनं समस्याः क्रीडाश्च प्रवर्तयेत् ॥१४॥ पक्षस्य मासस्य वा प्रज्ञातेऽहनि सरस्वत्याः भवने नियुक्तानां नित्यं समाजः ॥१५॥ कुशील-वाश्चागन्तवः प्रेक्षणकमेषां दद्युः। द्वितीयेऽहनि तेभ्यः पूजां नियतं लभेरन्। ततो यथाश्रद्धमेषां दर्शनमुत्सर्गो वा। व्यसनोत्सवेषु चैषां परस्परस्यैककार्यता ॥१६॥ आगन्तूनां च कृतसमवा-यानां पूजनमभ्युपपत्तिश्च। इति गणधर्मः ॥१७॥
एतेन तं तं देवताविशेषमुद्दिश्य संभावितस्थितयो घटाः व्याख्याताः ॥१८॥ वेश्याभवने समायामन्यतमस्योद्वसिते वा समानविद्याबुद्धिशीलवित्तवयसां सह वेश्याभिरनुरूपैरालापैरा-सनबन्धो गोष्ठी ॥१९॥ तत्र चैषां काव्यसमस्या कलासमस्या वा ॥२०॥

नात्यन्तं संस्कृतेनैव नात्यन्तं देशभाषया।
कथां गोष्ठीषु कथयंल्लोके बहुमतो भवेत् ॥ ३७ ॥ कामसूत्र १।४।

२. एवमर्थं च कामं च धर्मं चोपाचरन्नरः।
इहामुत्र च निःशल्यमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ २९ ॥
किं स्यात् परत्रेत्याशङ्का कार्ये यस्मिन्न जायते।
न चार्धध्नं सुखं चेति शिष्टास्तत्र व्यवस्थिताः ॥ ४० ॥
त्रिवर्गसाधकं यत् स्यात् द्वयोरेकस्य वा पुनः।
कार्यं तदपि कुर्वीत न त्वेकार्थं द्विबाधकम् ॥ ४१ ॥ कामसूत्र १।२॥

३. सरस्वतीकण्ठाभरण ५।९३–९६ ॥ द्रष्टव्य-शृङ्गारप्रकाश का ३४ वां प्रकाश।

४. यक्षरात्रिः, कौमुदीजागरः, सुवसन्तकः, सहकारभञ्जिका, अभ्यूषखादिका, बिसखादिका, नवपत्रिका, उदकक्ष्वेडिका, पाञ्चालानम्, एकशाल्मली, यवचतुर्थी, आलोलचतुर्थी, मदनो-त्सवः, दमनभञ्जिका, होलाका, अशोकोत्तंसिका, पुष्पावचायिका, चूतलतिका-इक्षुभञ्जिका, कदम्बयुद्धानि, तास्ताश्च महिमान्यो देश्याश्च क्रीडा जनेभ्यो विशिष्टमाचरेयुरिति संभूय-क्रीडाः। कामसूत्र १।४।४२॥

और शास्त्रीय अपेक्षाओं की पूर्णपूर्ति का यथासम्भव प्रयास किया। इन शास्त्रीय अनुष्ठानों के सम्पादन से उनके चरित्र एवं व्यक्तित्व में आये उग्र चाकचिक्य से समीक्षकों की सशक्त भी चक्षु चौंधिया गयी और वे सदसद्विनिश्चय में असमर्थ हो भ्रान्त हो गये। शास्त्रनिर्देश होने पर भी अनेक शासक प्रायः नियमों और अपेक्षाओं के पालन एवं सम्पादन में असमर्थ रहे, जिन्होंने उनका पालन किया वे आश्चर्य के विषय बने, यही कारण है कि भोज का ग्रन्थकर्तृत्वविवाद का विषय रहा। सरस्वतीकण्ठाभरण तथा शृङ्गारप्रकाश के समानशब्दात्मक उपसंहृतिश्लोक में इन दोनों ग्रन्थों को 'अनङ्गसर्वस्व' कहा गया है और उससे 'परिषद्' के सन्तोष की अपेक्षा की गयी है—

इति निगदितभङ्ग्याऽनङ्गसर्वस्वमेत-
द्विविधमपि मनोभिर्भावयन्तोऽस्य भेदम्।
तदनुभवसमुत्थानन्दसम्मीलिताक्षाः
परिषदि परितोषं हन्त सन्तः प्रयान्तु॥

इन सन्दर्भों से ऐसा प्रतीत होता है मानो भोज ने इन दोनों ग्रन्थों की रचना अन्य काव्य-रचनाओं की भांति—विभिन्न काव्यगोष्ठियों में की हो और उनका आदर्श 'कामसूत्र' ही रहा हो। उक्त प्रमाणों से सिद्ध हो जाता है कि भोज ने ही अपने नाम से विख्यात काव्य तथा अलङ्कार ग्रन्थों को रचा। विभिन्न गोष्ठियों, समाजों और सभाओं के आयोजनों से तथा उनमें सक्रिय भाग लेने से भोज को देशीभाषाओं, प्राकृतों तथा अन्य भाषाविकारों का ज्ञान सहज ही हो गया होगा। राजा का जीवन बहुरङ्गी तथा अनेक साधनों से परिपूर्ण होने से ही सम्भवतः महाकाव्यों एवं नाटकों के नायकादि के रूप में भी उसी की उपयोगिता समझी गयी थी।

यही युक्तियाँ भोज के नाम से विख्यात धर्मशास्त्र, व्यवहारशास्त्र, राजनीति, वैद्यक आदि शास्त्रग्रन्थों के भी विषय में उपस्थित की जा सकती हैं। प्राचीन न्यायप्रणाली में पुरोहित तथा धर्माचार्यों का प्रमुख हाथ होने पर भी पूर्ण वर्चस्व राजा का ही होता था और चरम न्यायमूर्ति वही होता भी था। अतः धर्म तथा व्यवहार का ज्ञान राजा को होना स्वाभाविक था। भोज स्वयं समराङ्गण में उतरता था, लड़ता था और घायल होने पर उसे परिचर्या की अपेक्षा होती थी। उसकी चिकित्सा निपुण वैद्यों द्वारा की जाती थी। शुभ कार्यों तथा रणप्रस्थानों के लिये शुभमुहूर्तों का ज्ञान भी अपेक्षित था। यद्यपि उसकी सभा में 'दैवज्ञ' रहे ही होंगे, तथापि यह आवश्यक नही कि रोगी होने पर दवा तो खायी जावे और उसके गुणावगुण जाने ही न जायें, शुभ घड़ी में प्रस्थान या शुभकार्य का आरम्भ तो किया जाये किन्तु उन शुभनक्षत्रों के विषय में ज्ञान प्राप्त ही न किया जाये। ऐसी दशा में प्रतिभाशाली भोज का उनमें प्रावीण्य प्राप्त करना तथा तद्विषयक अनुभवों को लिपिबद्ध करना न तो अस्वाभाविक है और न अनुचित। यही बातें वास्तुविद्या के ग्रंथों के विषय में भी चरितार्थ होती हैं। वास्तुविद्या के ग्रन्थों की रचना का एक और रहस्य प्रतीत होता है। यह बतलाया जा चुका हैं कि भोज-सिद्धान्त 'शैवदर्शन' के दीक्षित साधक थे। इस सम्प्रदाय में 'चर्या' का विशेष महत्त्व है जिसमें देवविग्रह, देवालय-निर्माण आदि का ज्ञान विशेषतः अपेक्षित है। ईशानदेव मिश्र का 'ईशानगुरुपद्धति' ग्रन्थ इस विषय के लिये विशेष द्रष्टव्य है। शैवदर्शन से सम्बद्ध अंशुमद्भेद, कामिक, करण, वैखानस तथा सुप्रभेद आगमों और अग्नि, गरुड, नारद, ब्रह्माण्ड, भविष्य, मत्स्य, लिङ्ग, वायु, स्कन्द, कालिका आदि पुराणों में वास्तुविद्या के प्रचुरनिरूपण का भी यही रहस्य प्रतीत होता है। यद्यपि किसी भी सम्प्रदाय में देवालयनिर्माण आदि का विधान है, तथापि इसमें विशिष्ट हैं।

'तत्त्वप्रकाश' आदि शैवदर्शन के ग्रन्थों की रचना के विषय में भी सन्देह निराधार सिद्ध होता है[1], क्योंकि भोज ने उत्तुङ्गशिव से दीक्षा ली थी। इनके पूर्वचर्चित १०७६ तथा १०७८ वि० सं० के दानपत्रों से भी स्पष्ट है कि इस राजा ने संसार की असारता को जान लिया था और वह आध्यात्मिक साधना की ओर भी अग्रसर हो गया था।

चर्चित सभी ग्रंथों के रचयिता अकेले भोज ही थे इसकी पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि प्रायः सभी उक्त ग्रंथों के मङ्गलाचरण, पुष्पिका अथवा उपसंहार के श्लोक शिवपरक हैं। प्रारम्भ तथा अन्त में प्रायः सभी ग्रन्थों में शिव का स्मरण है। इनके बहुसंख्यक ग्रन्थों में कुछ ही ऐसे हैं जिनमें यह बात नहीं घटती। 'राजमार्तण्ड' (ज्योतिष) के प्रारम्भ में सूर्य, 'चम्पूरामायण' में गणेश, 'चाणक्यराजनीति' में गणेश तथा विष्णु और 'भुजबलनिबन्ध' में विष्णु का, सरस्वतीकण्ठाभरणम्' (अलङ्कार) में वाग्देवी का स्मरण है। किन्तु ज्योतिष तथा काव्यशास्त्र के ग्रन्थ की प्रस्तावना में सूर्य या वाग्देवी की तथा भारतीय परम्परा में विघ्नविनाशक स्वीकृत होने से गणेश की स्तुतियाँ न तो अस्वाभाविक हैं न अव्यावहारिक, विशेषतः एक राजा के लिये जिसे व्यक्तिगत धार्मिक सम्प्रदाय के साथ प्रजा के भी धर्म का सम्मान करना अपेक्षित है। विष्णु का भी स्मरण भोज को अनपेक्षित नहीं, क्योंकि सरस्वतीकण्ठाभरण तथा शृङ्गारप्रकाश दोनों के समान शब्दात्मक उपसंहार श्लोक में शिव के साथ विष्णु का भी उल्लेख है—

यावन्मूर्ध्नि हिमांशुकन्दलवती स्वर्वाहिनी धूर्जटेः
यावद्वक्षसि कौस्तुभस्तबकिते पद्मा मुरद्वेषिणः।
यावच्चित्तभुवस्त्रिलोकविजयप्रोच्चं धनुः कौसुमं
भूयात्तावदियं कृतिः कृतधियां कर्णावतंसोत्पलम्॥

जहाँ तक सैकिया के इस मत का प्रश्न है कि इन ग्रन्थों की रचना एक भोज ने नहीं अपितु उनके वंशधरों ने की, यह भी निराधार एवं असिद्ध है। कामसूत्र तथा कौटलीय अर्थशास्त्र दोनों ग्रन्थों में कामातिशयता से भोजवंशीय दाण्डक्य नामक राजा के विनाश का उल्लेख एक ही शब्दावली में है—**"यथा दाण्डक्यो नाम भोजः कामाद् ब्राह्मणकन्यामभिमन्यमानः सबन्धुराष्ट्रो विननाश'**। इसी पर जयमङ्गल टीकाकार कहते हैं—**दाण्डक्य इति संज्ञा। भोज इति भोजवंशः। अभिमन्यमानोऽभिगच्छन्।**[2] किन्तु इतिहास की अबतक प्राप्त सामग्री और राजवंशावली में कोई भोजवंश नहीं मिला, यदि हो भी तो वह परमावंशीय भोज और उनके वंश से सर्वथा भिन्न था। मालवा के परमारवंश में केवल दो ही भोज हुये, एक सिन्धुराज के पुत्र दूसरे इनसे कई पीढ़ी बाद अर्जुनवर्मा (द्वितीय) के उत्तराधिकारी तथा जयसिंह (चतुर्थ) के पिता (लगभग १२८३ में)। महामहोपाध्याय गणपति शास्त्री के तीन भोज[3], भी अबतक न तो इतिहास में पूर्णतः प्रकाश में आये हैं और न उनका ग्रंथकर्त्ता के रूप में कोई विशेष उल्लेख हैं। अन्य वंशों तथा स्थानों के भोजनामधारी राजाओं से हमारा कोई प्रयोजन यहाँ है ही नहीं। अतः सैकिया महोदय का मत पूर्णतः निराधार है।

---

१. माधव ने 'सर्वदर्शनसंग्रह' तथा ईशानगुरु ने अपनी 'पद्धति' में 'तत्त्वप्रकाश' की कारिकायें उद्धृत की हैं तथा भोज का नामशः उल्लेख किया है।

२. कामसूत्र पृ० ६५ तथा—उदयवीर शास्त्री सम्पादित—कौटलीय अर्थशास्त्रः प्रथम भाग १।६।७॥ मेहरचन्द लछमनदास दिल्ली, १९७० ई०।

३. डा० कामेश्वरनाथ मिश्र सम्पादित—तत्त्वप्रकाश, भूमिका पृ० ३५, पादटिप्पणी ६।

आश्चर्य तो यह है कि किसी भी परवर्ती भारतीय कवि या नाटककार ने परम्परा का ही अनुसरण किया है और अपने-अपने क्षेत्र में भोज के नाम से विख्यात ग्रंथो को यदि कुछ भी कहा है तो भोजकृत ही कहा है[1], कहीं भी यह उल्लेख नहीं किया कि भोज ने किसी कवि या सभापण्डित से पैसे देकर ग्रन्थ अपने नाम से लिखवा लिया, यद्यपि उनकी दानशीलता, काव्य-प्रेम और कविसत्कार आदि निरन्तर प्रशंसित रहे और सभी कार्य निर्विशेष भाव से ही किये गये। यदि भोज ने आश्रित कवियों की रचनाओं को अपने नाम से घोषित किया होता, तो 'हर्षादेर्धावकादीनामिव' जैसा प्रवाद इनके लिये भी अब तक प्रचलित हो गया होता और कहीं न कहीं प्राचीन ग्रन्थकारों ने अपने ग्रन्थों में चर्चा अवश्य की होती।

भोज की सभा में दैवयोग से विक्रमादित्य की सभा जैसे 'नवरत्न' या बहुत प्रख्यात कवि और लेखक नहीं थे। बल्लाल के 'भोजप्रबन्ध' में भोजदेव से कई सौ वर्ष पहले तथा कई दशक बाद तक के कवियों का उनकी सभा में सन्निवेश अनैतिहासिक तथा प्रमाणहीन सिद्ध हो चुका है। श्री वि० ना० रेउ के शब्दों में "मेरुतुङ्गरचित 'प्रबन्धचिन्तामणि' और बल्लालकृत 'भोज-प्रबन्ध' में माघ, बाणभट्ट, पुलिन्द, सुबन्धु, मयूर, मदन, सीता, कालिदास, अमर, वासुदेव, दामोदर, राजशेखर, भवभूति, दण्डी, मल्लिनाथ, मानतुङ्ग, धनपाल, भास्करभट्ट, वररुचि, रामदेव, हरिवंश, शङ्कर, कलिङ्ग, कर्पूर, विनायक, विद्याविनोद, कोकिल, तारेन्द्र आदि अनेक प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध कवियों का भोज की सभा में होना लिखा है। परन्तु इनमें से बहुत से विद्वान् भोज से पहले हो चुके थे, इसलिये यह नामावलि विश्वासयोग्य नहीं है।"[2] भोज के शासनकाल में सामान्य जनता का भी वैदुष्य तो प्रथित है, किन्तु सभासद के रूप में किसी कालिदासकोटिक कवि तथा वराहमिहिर, अमरसिंह आदि के सदृश दैवज्ञों एवं कोषकारों की उपस्थिति इतिहास सिद्ध नहीं। अतः यह कहना निरर्थक है कि भोज के ग्रन्थों की रचना उनके सभासदों ने की होगी। वस्तुतः उनकी सभा में एक ही विशिष्ट कवि दामोदरमिश्र—का उल्लेख मिलता है, जिनके नाम से 'महानाटक' अथवा 'हनुमन्नाटक' विख्यात है। यदि तथ्य अन्यथा होता तो यह ग्रन्थ भी भोज के ही नाम से प्रथित होता। धनिक, धनञ्जय आदि आचार्य भोज के समकालीन अथवा कुछ पूर्वापर रहे होंगे, किन्तु उनकी सभा में इनका होना सिद्ध नहीं है। दूसरी बात यह है कि उनके नाम से स्वयं ही उत्कृष्टकोटि के ग्रंथ विख्यात हैं।

यह तर्क भी असंगत लगता है कि परवर्ती छोटे-छोटे ग्रंथकारों ने भोज के नाम से ख्याति की कामना से अपने ग्रंथों को उनके नाम से अङ्कित कर दिया होगा। वस्तुतः जिसको अपनी कृति की ख्यातिप्रिय होगी, वह अपने नाम को अज्ञात नहीं रख सकता, न दूसरे के नाम कर सकता है, और यदि यही सत्य होता तब तो एक महान् ग्रन्थकार के बाद छोटे ग्रन्थकारों का नाम ही श्रवणगोचर न होता।

अतः सिद्ध होता है कि भोज ने स्वयं बहुत से ग्रन्थों की रचना की। यदि आश्चर्य हो सकता है तो इसी बात पर कि भोज जैसे महान् एवं यशस्वी राजा, प्रतिभाशाली कवि, उदार एवं सहृदय दानकर्ता, तथा विशाल व्यक्तित्व के महापुरुष की लेखनी से कुछ ग्रन्थ और भी क्यों नहीं लिखे गये, जीवन के कुछ अन्य विषय पाकशास्त्र, कामशास्त्र आदि अछूते क्यों रह गये? वस्तुतः भोज द्वारा ग्रन्थों को न रचे जाने की प्रामाणिकता किम्वदन्ती जैसी ही है।

---

१. द्रष्टव्यः आफ्रेक्टः कैटे० कैटे० वाल्यूम I, पृ० ४१८–१९।

२. राजा भोज, पृ० १८३।

तत्त्वप्रकाश, सरस्वतीकण्ठाभरण और शृङ्गारप्रकाश के अतिरिक्त भोज के अन्य ग्रन्थों में समराङ्गणसूत्रधार (सम्पादक गणपतिशास्त्री, दो भागों में, गायकवाड़ ओ० सी० बड़ौदा, १९२४-२५), युक्तिकल्पतरु (ईश्वरचन्द्र शास्त्री, कलकत्ता, १९१७), प्रकाशित हो चुके हैं। 'योगसूत्र' की राजमार्तण्डवृत्ति कलकत्ता (१८८३ ई.) के बाद अनेक स्थानों से एवं 'सरस्वतीकण्ठाभरण' (व्याकरण-मद्रास वि. वि. १९३७ ई.) नारायणदण्डनाथ की हृदयहारिणी टीका के साथ त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरिज से १९३५, '४८ में प्रकाशित हुये थे।

डा० राघवन् की भांति प्रो० कीथ[1] तथा एम० कृष्णमाचारियर[2] भी भोज के ग्रंथकर्तृत्व में आस्था अधिक एवं सन्देह कम ही व्यक्त किये हैं। अतः जिन ग्रन्थों के विषय में विवाद नहीं है, विषय और भाषाशैली में औचित्य का निर्णय कर उनको भोजकृत ही स्वीकार करना चाहिये।

सरस्वतीकण्ठाभरण तथा उसके टीकाकार—

भोजरचित व्याकरण तथा अलङ्कारशास्त्र के दो ग्रन्थ एक ही नाम—सरस्वतीकण्ठाभरण—से उपलब्ध होते हैं। वर्तमान अलङ्कारशास्त्र का ग्रन्थ पाठक के हाथों में है। इसके विवेच्य विषय भी समक्ष ही हैं।

इस ग्रन्थ का सम्भवतः सर्वप्रथम टीका सहित प्रकाशन वही था जिसका सम्पादन द्राविड वीरेश्वर शास्त्री ने किया था। इसमें तृतीय परिच्छेद के अन्त तक रत्नेश्वर मिश्र की टीका भी साथ में रही। इसका प्रकाशन वर्ष वैशाख सुदी ८, भौमवार मि० सं० १९४३ तथा प्रकाशन स्थान काशी रहा।

सम्भवतः दूसरा संस्करण निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से काव्यमाला सं० ९४ के रूप में सन् १९२५ ई० में प्रकाशित हुआ, जिसका सम्पादन एवं संशोधन श्री वासुदेव शर्मा ने किया था। इस संस्करण में तृतीय परिच्छेद के अन्त तक रत्नेश्वर की टीका तथा चतुर्थ परिच्छेद पर जगद्धर की टीका रही। यह जगद्धर सम्भवतः मेघदूत, वासवदत्ता, वेणीसंहार, मालतीमाधव आदि के टीकाकार ही हैं। इनका समय १७वीं सदी के पूर्व है[3]। रत्नेश्वर की टीका का नाम 'रत्नदर्पण' रहा। इसी ग्रन्थ का दूसरा संस्करण उसी स्थान से उसी काव्यमाला संख्या में सन् १९३४ में भी प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ के निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित दोनों संस्करणों में मुखपृष्ठ पर "रामसिंहविरचितया तृतीयपरिच्छेदान्तया..." आदि लिखा है, और ग्रन्थारम्भ में टीका में रामसिंह के टीकाकार होने का भी उल्लेख है, किन्तु वीरेश्वर शास्त्री ने अपने संस्करण के प्राक्कथन के पृष्ठ २ पर "इति श्रीमहाराजरामसिंहनरेन्द्राज्ञाकारिणा श्रीमत्कविवरेण्येन रत्नेश्वरमिश्रेण विरचितां रत्नदर्पणाख्यां व्याख्यां..." आदि लिखा है। काव्यमाला के संस्करणों के प्रथम परिच्छेद के अन्त में—"श्रीमन्महाराजाधिराजश्रीभोजदेवविरचितं सरस्वतीकण्ठाभरणम्। श्रीरत्नेश्वरविरचितया रत्नदर्पणाख्यया व्याख्यया समेतम्।" आदि तथा तृतीयपरिच्छेद के अन्त में—

---

१. "Four hundred years later Bhoja of Dhārā was more fortunate, for we have no real knowledge to disprove his claim to polymathy exhibited in a large variety of works." A Hist. of Sans. Literature, page. 53.

२. Hist of Cl. Sans. Literature p. 501.

३. De : Sanskrit Poetics, page 139.

श्रीरामसिंहदेवाज्ञामादाय रचितो मया।
दर्पणाख्यः सदा तेन तुष्यतु श्रीसरस्वती॥
रत्नेश्वरो नाम कवीश्वरोऽसौ विराजते काव्यसुधाभिषेकैः।
दुस्तर्कवक्राहतदुर्विदग्धां वसुंधरां पल्लवयन्नजस्रम्॥
अद्य स्फुरतु वाग्देव्याः कण्ठाभरणकौतुकम्।
मयि ब्रह्ममनोवृत्तौ कुर्वाणे रत्नदर्पणम्॥

इति श्रीमन्महाराजश्रीरामसिंहेन महामहोपाध्यायमनीषिरत्नेश्वरेण विरचय्य प्रकाशिते दर्पणाख्ये सरस्वतीकण्ठाभरणविवरणेऽर्थालङ्कारस्तृतीयः परिच्छेदः समाप्तः।''

लिखा है, जिससे उक्त टीका रामसिंह प्रेरित रत्नेश्वर की लिखी सिद्ध होती है। चतुर्थ परिच्छेद की जगद्धर के विवरण की पुष्पिका में "**रत्नं रत्नधरोऽजनिष्ट०**" आदि शब्दों से भी रत्नेश्वर का ही टीकाकर्तृत्व सिद्ध होता है।

इस ग्रन्थ का तीसरा संस्करण कलकत्ता से पण्डित जीवानन्द विद्यासागर ने निकाला था, जिसमें रत्नेश्वर मिश्र की टीका एक से तीन परिच्छेद तक रही, किन्तु उन्होंने शेष परिच्छेदों में अपनी संक्षिप्त टिप्पणी भी जोड़ दी जिससे अध्येताओं को काफी सरलता हुई। रत्नेश्वर ने 'काव्यप्रकाश' पर भी टीका लिखी थी। इनका समय सम्भवतः १४वीं शती ई० था[1]।

आनन्दोराम बरुआ द्वारा सम्पादित मूलमात्र का प्रकाशन १९६९ ई० में प्रकाशन विभाग, आसाम, से हुआ। इसका प्रथम संस्करण श्री बरुआ ने सन् १८८० अथवा १८८४ ई० में ही किया था। इस प्रकार ग्रन्थ के मूलमात्र का यह सर्वप्रथम प्रकाशन सिद्ध होता है।

प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा ने अपने भामहकृत काव्यालङ्कार के आमुख (पृष्ठ ६) पर बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् से हिन्दी व्याख्या सहित इस ग्रन्थ के भावी प्रकाशन की घोषणा बहुत पहले संवत् २०१९, (१९६२ ई०) में ही की थी, किन्तु आज तक वह ग्रंथ दृष्टि में न आ सका।

विख्यात भारतीय विद्याविद् डा० राघवन् ने 'आजड' नाम के इस ग्रन्थ के एक और संस्कृत व्याख्याकार की चर्चा अपने विख्यात ग्रन्थ 'भोजाज़ शृङ्गारप्रकाश' में की है। आजड का उल्लेख मेरी इस भूमिका में भी कई स्थानों पर उसी आधार पर किया गया है, किन्तु यह टीका अभी तक प्रकाश में नहीं आयी। यदि आयी भी हो तो अब तक देखने का सुयोग नहीं आया। प्रो० डे ने दण्डी के टीकाकार हरिनाथ की 'मार्जना' टीका का भी 'सरस्वतीकण्ठाभरण' पर होना स्वीकार किया है। इनका समय १६९० ई० से पूर्व होना चाहिये।[2] डे महोदय ने ही 'दुष्कर-चित्र-प्रकाशिका' नाम की लक्ष्मीनाथभट्ट की टीका का भी उल्लेख किया है,[3] किन्तु वह भी प्रकाश में नहीं आयी।

---

१. वही।
२. वही पृ. ७० तथा १३९
३. वही पृ० १३९

चित्र-अलङ्कार

शरीरभूत शब्द एवं अर्थ के माध्यम से काव्य की शोभाभिवृद्धि करने वाले तत्त्वों को अलङ्कार स्वीकार किया गया है।[1] इनकी संख्या तथा स्वरूप के विषय में आचार्यों में वैमत्य दृष्टिगोचर होता है जो उनके गहन चिन्तन का परिणाम है।

शब्दालङ्कारों में अनुप्रास, यमक तथा श्लेष का बहुल उल्लेख काव्यशास्त्रियों ने किया है। चित्रालङ्कार भी शब्दालंकारों में परिगणित होता है।

'चित्र' और चित्रालङ्कार का अर्थ—

'चित्र' शब्द का प्रयोग सामान्यतः—आश्चर्य तथा आलेख्य[2]—दो अर्थों में होता है। अलङ्कारशास्त्र में विभिन्न आचार्यों ने चित्रालङ्कार के सन्दर्भ में इन दोनों अर्थों में से एक-एक अथवा दोनों को एक साथ स्वीकार किया है। आद्य आलंकारिकों में भामह ने इधर ध्यान नहीं दिया। दण्डी ने गोमूत्रिका, यमक तथा स्वर-स्थान-वर्ण से सम्बद्ध उदाहरण तो प्रस्तुत किया, किन्तु चित्रालङ्कार के लक्षण आदि से विरत रहे।[3]

प्रारम्भिक आचार्यों में रुद्रट ने अपने 'काव्यालङ्कार' में चित्रालङ्कार पर विशेष ध्यान दिया। उनके अनुसार—

भङ्ग्यन्तरकृततत्क्रमवर्णनिमित्तानि वस्तुरूपाणि।
साङ्कानि विचित्राणि च रच्यन्ते यत्र तच्चित्रम् ॥ काव्या० ५।१ ॥

उसी कारिका पर नमिसाधु की टीका है—"यत्र काव्ये वस्तूनां चक्रादीनां रूपाणि संस्थानानि रच्यन्ते निबध्यन्ते तच्चित्रसादृश्यादाश्चर्याद् वा चित्रं नामालङ्कारः।"[4] इन दोनों आचार्यों ने दोनों अर्थों का सन्निवेश अपने लक्षण में कर लिया है अर्थात् चाहे वर्णों को क्रमविशेष में रखने से कमल आदि कोई आलेख्य बन जाये, अथवा चित्र न बनने पर भी अक्षरपंक्तियों के विशिष्ट क्रम से असामान्यता लक्षित होने से द्रष्टा या अध्येता को आश्चर्य हो उठे, इन दोनों परिस्थितियों में चित्रालङ्कार होगा, ऐसा इन आचार्यों का अभिप्राय परिलक्षित होता है। 'आश्चर्य' की अनुभूति की अभिव्यक्ति 'एकावली' के शब्दों में द्रष्टव्य है—**"अहो येन क्रमेण गता वर्णपंक्तिः तेनैव क्रमेण प्रत्यागतेत्याश्चर्यकारित्वाद् वा चित्रम्"**।[5]

'आश्चर्य' के अर्थ को छोड़ कर 'आलेख्य' अर्थ पर विशेष बल देने वाले आचार्यों में संभवतः आनन्दवर्धन प्रथम हैं। उन्होंने चित्रालंकार की आश्चर्यार्थकता को छोड़ कर आलेख्यार्थकता पर विशेष बल दिया, यह उनके ध्वन्यालोक के वचनों से स्पष्ट है—**"केवल-वाच्य-वाचकवैचित्र्यमात्राश्रयेण उपनिबद्धालेख्यप्रख्यं यदाभासते तच्चित्रम्।"**[6] उनका भाव अभिनवगुप्त के 'लोचन' के अंश से और भी स्पष्ट हो जाता है—**यमकचक्रबन्धादि चित्रतया**

---

१. काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते॥ दण्डी : काव्यादर्श २।१ ॥ मम्मटः काव्यप्रकाशः ८।२॥
२. आश्चर्यालेख्ययोश्चित्रम्-अमरकोशः
३. काव्यादर्श, ३ य परिच्छेद। ४. काव्यालंकार ॥ ५।१ ॥ पर टीका।
५. विद्याधरः एकावली, बाम्बे संस्कृत सीरीज सं० ६३, १९०३ ई० पृ. १९१
६. ध्वन्यालोक ३।

प्रसिद्धमेव तत्तुल्यार्थमेवार्थचित्रं मन्तव्यम् इति भावः। आलेख्यप्रख्यमिति रसादि-जीवरहितं मुख्यप्रतिकृतिरूपं चेत्यर्थः।'[1] दोनों आचार्यों के इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि इनको 'रस-व्यञ्जना' की अप्रधानता के कारण चित्रकाव्य अभीष्ट न था। यहीं यह दूसरा तथ्य भी प्रकाशित होता है कि जहाँ आनन्दवर्धन 'आलेख्य' को 'चित्र' मानने पर विशेष बल देते थे, वहीं अभिनवगुप्त को यमक आदि भी लोकमान्यता के आधार पर चित्र रूप में अभीष्ट थे। आगे यथास्थान इस विषय पर प्रकाश डाला जायेगा कि 'चित्रालंकार' की उद्भावना में यमक प्रमुख आधार रहा और वही गतिचित्र के रूप में पूर्णतः विकसित हुआ। यद्यपि 'आश्चर्य' के अर्थ में 'चित्र' को स्वीकार कर उसके भेदोपभेदो का निरूपण कारणनिर्देशपूर्वक करने वाले आचार्यों की कमी न रही तथापि आनन्दवर्धन के बाद रसध्वनिवादी आलंकारिको ने खड्ग, कमल आदि आकारों—आलेख्यों—के हेतुभूत वर्णविन्यास को प्रधान रूप से 'चित्रालंकार' मानना प्रारम्भ कर दिया। ध्वनिस्थापनाचार्य मम्मट[2], आचार्य रुय्यक,[3] जयदेव,[4] विद्यानाथ,[5] विश्वनाथ,[6] अप्पय, शिवदत्त[7] आदि प्रमुख आचार्यों की दृष्टि में 'आलेख्यता' ही 'चित्र' के अर्थ में विद्यमान रही। सामान्य पाठक के भी हृदय में चित्रालंकार का नाम लेने पर 'आलेख्य' अर्थ ही सर्वप्रथम स्फुरित होता है।

भोजदेव ऐसे आचार्य थे जिन्होने दण्डी की भांति 'चित्र' की विशिष्ट परिभाषा तो नहीं दी किन्तु उसका निरूपण प्रारम्भ करते समय 'आलेख्य' के अतिरिक्त अन्य प्रकारों का भी समावेश उसमें किया और 'आश्चर्य' अर्थ को भी स्थापित किया।[8] भोज की इस उक्ति पर व्याख्या करते समय रत्नेश्वर मिश्र ने अभिनवगुप्त की मान्यता पर आक्षेप किया है और भोज के मतको पुष्ट करते हुए चित्र का 'आश्चर्य' अर्थ स्वीकार किया है।

"चित्रमालेख्यं तदिव जीवितस्थानीयध्वनिरहितं चित्रमिति काश्मीरकाः। तदसत्। ध्वनेः प्राधान्यानङ्गीकारात् प्रतीयमानमात्राभावस्य क्वचिदप्यसंभवात्। यद्वा आकृति-

---

१. वही।

२. 'तच्चित्रं यत्रवर्णानां खड्गाद्याकृतिहेतुता।' सन्निवेशविशेषेण यत्र न्यस्ताः वर्णाः खड्ग-मुरज-पद्माद्याकारमुल्लासयन्ति तच्चित्रकाव्यम्॥ का. प्र। ९।

३. वर्णानां खड्गाद्याकृतिहेतुत्वे चित्रम्। अलंकारसर्वस्वम्, काव्यमाला ३४, बम्बई —१९३९ ई. पृ. ३०

४. काव्यवित्प्रवरैश्चित्रं खड्गबन्धादि लक्ष्यते। चन्द्रालोक ५।९॥

५. पद्माद्याकारहेतुत्वे वर्णानां चित्रमुच्यते॥ प्रतापरुद्रीय,, बालमनोरमाप्रेस मद्रास, १९२४ ई. पृ. २५१

६. 'पद्माद्याकारहेतुत्वे वर्णानां चित्रमुच्यते।' साहित्यदर्पण। १०।१५॥
'आदिशब्दात् खड्गमुरज-चक्र-गोमूत्रिकादयः' विश्वनाथ की इसी उक्ति पर हरिदाससिद्धान्त-वागीश—"अस्य चित्रसम्पाद्यतया चित्रमिति नाम।" सा. द. कलकत्ता, शकाब्द १८४१.

७. 'चित्रं पद्मादिबन्धत्वे।' शब्दानामिति यावत्। अस्यापि प्रचुरभेदत्वात् दिङ्मात्रम्॥ काव्यारसायनम्॥ २।७१॥ कलकत्ता, १९६० विक्रम०

८. वर्ण-स्थान-स्वराकार-गतिबन्धान् प्रतीह यः।
नियमस्तद् बुधैः षोढा चित्रमित्यभिधीयते॥ स० क० २।१०९॥

विशेषयुक्तं चित्रमिति तदपि न। अव्यापकत्वात्। अतो वर्णादिनियमेन प्रवृत्तमाश्चर्यकारितया चित्रमित्येव युक्तम्।"[1]

अपने टीकाकारों के अतिरिक्त अन्य परवर्त्ती आचार्यों से भी भोज को समर्थन मिला। विद्याधर ने अपनी 'एकावली' में चित्रालङ्कार का लक्षण यद्यपि कहा है, तथापि इस पर उनकी वृत्ति से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने अन्य प्रकारों को भी इस में समाविष्ट ही नहीं किया है, अपितु चित्र की एक नयी परिभाषा भी दी है।

"वर्णानामथ पद्माद्याकृतिहेतुत्वमुच्यते चित्रम्"[2]

आकारचित्र इवेह बन्धचित्रेऽपि वर्णानामाकारोल्लासकत्वात् पद्मादिरूपतयाऽक्षराणां लिख्यमानत्वेन चित्रसादृश्याच्चित्रमिदमुच्यते। अहो येन क्रमेण गता वर्णपंक्तिस्तेनैव क्रमेण प्रत्यागतेत्याश्चर्यकारित्वाद्वा चित्रमित्यन्वर्थबलाद् वर्णानामाकारानुल्लासकत्वेनाव्याप्तावपि गतप्रत्यागतार्धभ्रम-सर्वतोभद्र-धेनुप्रभृतिगतिचित्रमत्रसंग्रहीतम्। अभिनवपदपदार्थ-पर्यालोचनेन मन्दबुद्धीनां चितो ज्ञानस्य त्राणाद्वा चित्रमिति अन्वर्थमहिम्ना निष्कण्ठ्य-निरोष्ठ्य-निस्तालव्यादि-स्थानचित्रं च स्वीकृतम्।[3]

विद्याधर की उक्त पंक्तियों के कुछ शब्दों की मल्लिनाथकृत 'तरला' व्याख्या के कुछ शब्द द्रष्टव्य हैं। इनसे भी अनेक लक्षणों तथा भेदों की पुष्टि हो जाती है।

"आकारेति। आकारोल्लासहेतुत्वाविशेषादाकारचित्र एवान्तर्भूतं बन्धचित्रमपीत्यर्थः। 'आश्चर्यालेख्ययोश्चित्रम्' इत्यमरः। तत्रालेख्यार्थत्वमाश्रित्य चित्रशब्दस्येह प्रवृत्तिनिमित्तमाह। पद्मादिरूपतयेति। चित्रसदृशत्वाच्चित्रमित्यर्थः। तर्ह्याकारोल्लासहेतुत्वाभावाद् गतिचित्रेऽर्धभ्रम-सर्वतोभद्रादौ अतिव्याप्तिः इत्याशङ्क्य चित्रशब्दस्याश्चर्यार्थताश्रयणेन तत्रापि प्रवृत्तिनिमित्तं संभावयति। अहो येनेति। गतागताभ्यां चित्रत्वादाश्चर्यत्वाच्चित्रमिति गतिचित्रेऽपि नाव्याप्तिरित्यर्थः। तर्हि गतप्रत्यागतरहिते स्थानचित्रे निरोष्ठ्यादावव्याप्तिरित्याशङ्क्य रूढिं विहाय चितो ज्ञानस्य त्राणाच्चित्रमितियोगाश्रयणेन तत्रापि चित्रशब्दं प्रवर्तयति। अभिनवेति। निरोष्ठ्य-निष्कण्ठ्याद्यापूर्वार्थपरिशीलनेनेत्यर्थः। अन्वर्थेति। चितं संविदं त्रायत इति चित्रं व्युत्पत्तिविशेषहेतुरिति यावत्। "आतोऽनुपसर्गे कः" इदं चित्रं निरोष्ठ्यादिस्थानचित्रेऽप्यस्तीति न कुत्राप्यव्याप्तिरित्यर्थ।"[4]

विद्याधर की भांति वाग्भट ने अपने 'वाग्भटालङ्कार' में 'चित्रालङ्कार' के लक्षण में 'आलेख्य' रूप अर्थ को और भी अधिक स्पष्ट किया है, तथा 'आश्चर्यकारित्व' को भी 'चित्र' का आधार माना है।

यत्राङ्गसंधितद्रूपैरक्षरैर्वस्तुकल्पना।
सत्यां प्रसत्तौ तच्चित्रं, तच्चित्रं चित्रकृच्च यत्॥ ४।७॥

इसी की अपनी व्याख्या में श्रीसिंहदेवगणि ने भावों को और भी अधिक स्पष्ट कर दिया है—"यत्र बन्धे वस्तुकल्पना पदार्थघटना अङ्गसंधितद्रूपैरक्षरैर्भवति। वस्तुनः कमल-छत्र-चामर-बन्धादेर्घटनावस्तुनोऽङ्गानां ये संधयस्तेषु तद्रूपाणि तान्येवाक्षराणि वस्तु कमलबन्धच्छत्रबन्धादि-तदङ्गानि कमलाङ्गानि दलादीनि। छत्राङ्गानि दण्डपट्टिकादीनि।

---

१. वहीं, रत्नेश्वर की टीका।
२. एकावलीः बाम्बे संस्कृत सीरीज नं० ६३, सन् १९०३ ई., ॥७।८॥ पृ. १८९.
३. वही पृ. १८९–१९१
४. वही पृ० १९०–१९१॥

तेषामङ्गानां ये संधयस्तत्र सदृशाक्षराणि कार्याणीत्यर्थः। तच्चित्रमुच्यते। यच्च चित्रकृदाश्चर्यकारि दुष्करत्वेन कविप्रज्ञातिशयख्यापकं भवति एकस्वरादिकमेकव्यञ्जनादिकं वा तदपि चित्रमुच्यते। परमपि यथाचित्रं प्रसत्तौ सत्यां प्रसत्तेरेव काव्यैर्विधेयम्। अप्रसत्तेस्तु काव्यैः को नाम चित्रकविर्न भवेत्।"[1]

उपरिलिखित सन्दर्भों से स्पष्ट है कि ध्वनिवादी आचार्यों के प्रभाव से यद्यपि चित्रालङ्कार आलेख्यार्थ में रूढ़ सा हो गया था, तथापि समय-समय पर व्यापक दृष्टि रखने वाले आचार्यों ने 'आश्चर्यकारित्व' अर्थ भी स्वीकार किया और चित्र-काव्य तथा चित्रालङ्कार को व्यापक क्षेत्र प्रदान किया।

चित्रालङ्कार के आधार—

चित्रालङ्कार के भीतर जहाँ आलेख्य एव आश्चर्य की भावना ने काम किया, वहीं इसके विकास के मूल में अनुप्रास, यमक तथा श्लेष इन तीन शब्दालंकारों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा।[2] यह योगदान अथवा मूलकता उसी प्रकार की है जैसी अप्पय की दृष्टि में अन्य अर्थालङ्कारों के प्रति उपमा की है।[3] तथापि न उपमा एकमात्र अर्थालङ्कार है और न अनुप्रास, यमक आदि ही शब्दालङ्कार। अनुप्रास में एक अथवा कुछ वर्णों की आवृत्तिमात्र अपेक्षित होती है, क्रम का महत्त्व विशेष नहीं होता, जब कि बन्ध, स्थान, व्यञ्जन तथा स्वर के चित्रों में कहीं वर्ण का क्रम महत्त्वपूर्ण होता है, कहीं संख्या और कहीं पौर्वापर्य अथवा पढ़ने का अनुलोम या विलोम क्रम। ऐसी दशाओं में पाठक का ध्यान इस तथ्य पर नहीं जाता कि एक अथवा दो वर्ण की आवृत्ति कितनी बार हुयी है, अपितु वह आदि से अन्त तक पूरे श्लोक या पाद में एक, दो या तीन वर्णों का ही अनवरत प्रयोग देखकर चमत्कृत हो जाता है। बन्ध आदि चित्रों में संयोग से ही आवृत्ति हो जाती है, अनिवार्यतः अपेक्षित नहीं, जहाँ अपेक्षा है भी वहाँ उसका क्रम पूर्वतः निश्चित होता है।

जहाँ तक यमक का प्रश्न है, निश्चित ही चित्रकाव्यों के 'गति' नामक भेद में उसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। दण्डी के काव्यादर्श के तृतीय परिच्छेद में यमकों के जितने भेद दिये गये हैं, उनका विशेष प्रभाव ही नहीं अपितु बहुतों का स्वरूप भी भोजकृत गतिचित्र में देखा जा सकता है। भोजको मान्य चित्र-भेदों में श्लेष का बहुत प्रभाव नहीं दृष्टिगत होता है, किन्तु परवर्ती विशाल संस्कृतवाङ्मय में कवियों ने अन्यविध चित्रों की भी उद्भावना की है, वहाँ अवश्य श्लेष का महत्त्वपूर्ण सहयोग है।

प्रसिद्ध भारतीयविद्याविद् प्रो० कीथ के अनुसार यह क्षमता संस्कृत भाषा के ही स्वरूप में है कि उसकी शब्दावली इतनी विविध, लचीली तथा व्याकरण की दृष्टि से परिपुष्ट है कि उससे अनेक अर्थ विभिन्न भङ्गियों के आधार पर किये जा सकते हैं। विश्वसाहित्य में 'लियन आफ मेडीना'

---

१. वाग्भटालङ्कारः—काव्यमाला ४८, निर्णयसागर, बम्बई, १९०३ ई०, पृ० २९.

२. "The figures that make up a Citrakāvya are Anuprāsa, Yamaka and Śleṣa." M. Krishnamachariar..Hist. of Cl. Skt. Lit. page. 369, Motilal Banarsidass, 1970.

३. उपमैका शैलूषी संप्राप्ता चित्रभूमिकाभेदान्।
रञ्जयति काव्यरङ्गे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः॥ चित्रमीमांसा पृ. ४१. वाणीविहार, वाराणसी १९६५ ई०,

ही एक ऐसा निदर्शन है जिसको इटैलियन तथा हेब्रू दोनों भाषाओं में पढ़ा जा सकता है।[1] संस्कृतचित्रकाव्य के मर्मज्ञ पूर्णतः जानते हैं कि जो क्षमता विश्व की अन्यभाषाओं में असम्भव सी है, वह संस्कृत में कितनी सहज है कि संस्कृत के श्लोक प्राकृत आदि भाषाओं तक में पढ़े जा सकते हैं, संस्कृत की संस्कृत में विकृतियाँ तो अनन्त हैं।

'चित्र' की शब्दालङ्कारता—

भोजदेव के परवर्तियों में कई ने चित्रालङ्कार के प्रसङ्ग में इसकी शब्दालंकारता के औचित्य पर भी विचार किया है। निःसंदेह उनके मन में 'चित्र' का रूढ अर्थ 'बन्ध' या 'आकार' ही प्रधानतः विद्यमान रहा। किसी भी वस्तु का चित्र स्वयं में काव्य नहीं है, और न लिपि ही अक्षर हैं। वस्तुतः शब्द हैं सार्थक ध्वनियों के समूह। इनका वाचक होने से ही प्रत्येक ध्वनि के लिपिबद्ध प्रतीक वर्ण या अक्षर कहे जाते हैं। यही लिपिबद्ध अक्षर समूह शब्द, पद, वाक्य आदि का रूप ग्रहण करते हैं। इसी प्रकार की स्थिति चित्रालङ्कारों की है। 'चित्र' जब तक शब्द या वर्ण का समूह नहीं होता है, तब तक उसकी अलंकारता का प्रश्न नहीं उठता, अन्यथा कोई भी चित्र काव्य हो जाता, किन्तु जब श्लोकों को लिपिबद्ध कर दिया जाता है और उनके घटक वर्णों की क्रमविशेष में सन्निविष्ट कर देने से एक चित्र बन जाता है और श्लोकता भी सुरक्षित रहती है, तब वही भूषण हो जाता है। रुय्यक[2] के शब्दों में "यद्यपि लिप्यक्षराणां खड्गादि-संनिवेशविशिष्टत्वं तथापि श्रोत्राकाशसमवेतवर्णात्मकशब्दाभेदेन तेषां लोके प्रतीतेर्वाचक-शब्दालङ्कारोऽयम्।" 'एकावली' में विद्याधर ने इस भाव को और भी स्पष्ट किया है कि—

"कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नाकाशसमवेतैः ककारादिभिरभेदेन ग्रहणाल्लिप्यक्षरेष्वप्ययं ककार इत्यैक्यप्रतीतेः शब्दालङ्कारत्वमत्रौपचारिकम्। कर्णिकाप्रमुखस्थानविशेषश्लिष्टानां वर्णानां पुनः पुनरावृत्तिव्यावृत्तिभ्यामादानादक्षरसंकोचश्चित्रम्।"[3] यद्यपि विश्वनाथ ने भी लगभग इन्हीं शब्दों में[4] अपना मन्तव्य प्रकट किया है तथापि विद्यानाथ के प्रतापरुद्रीय' पर अपनी 'रत्नापण' नामक व्याख्या में मल्लिनाथ के पुत्र कुमारस्वामी ने मूल 'पद्माद्याकारहेतुत्वे वर्णानां चित्रमुच्यते' पर जो लिखा वह प्रस्तुत विषय को अधिक स्पष्ट करता है—"पद्मेति। न च

१. "The feat which at first sight appears incredible, is explained without special difficulty by the nature of Sanskrit···Further and this is of special importance, the Sanskrit laxica allow to words a very large variety of meanings and they supply a considerable numbers of very strange words which have a remarkable appearance of being more or less manufactured... L. H. Gray has noted a western parallel in the elegy of Leon of Medina on his teacher Moses Bassola, which can be read either as Italian or as Hebrew." A Hist. of Skt. Lirerature, pp. 137, 138, 139, Oxford, 1961.

२. अलंकारसर्वस्वः काव्यमाला ३५, सन् १९३९ ई. पृ. ३०

३. एकावली ७।८ पर वृत्ति, पृ. १९९, बाम्बे सं. सी. ६३, १९०२ ई.

४. अस्य च तथाविध-लिपिसन्निवेश-विशेषवशेन चमत्कारविधायिनामपि वर्णानां तथाविध-श्रोत्राकाश-समवाय-विशेषवशेन चमत्कारविधायिभिर्वर्णैः अभेदेनोपचाराच्छब्दालङ्कारत्वम्। साहित्यदर्पण १०।१५ की वृत्ति।

श्रावणानां वर्णानां पद्माद्याकारहेतुत्वं न घटत इति वाच्यम्। वर्णशब्देन तत्स्मारकाणां लिप्यक्षराणामाक्षेपात् तेषां मुख्यवर्णाभेदेन लोकव्यवहारादस्य शब्दालङ्कारत्वम्।"[1]

नरेन्द्रप्रभसूरि ने चित्रनिरूपण के प्रसङ्ग में—

"लिप्यक्षराणां विन्यासे खड्ग-पद्मादिरूपता।
यस्मिन्नालोक्यते चित्रा तच्चित्रमिति गीयते॥

यस्मिन् यत्र लिप्यक्षराणां लिपिवर्णानां न तूच्चार्यमाणानां, जिह्वापाटनादिप्रसङ्गात् विन्यासे पद्मादिलेखने सति खड्गपद्मादिरूपता खड्गपद्मादीनामाकृतिश्चित्राऽवलोक्यते, तच्चित्रम् इत्यलङ्कारो गीयते।"[2] आदि कह कर स्पष्ट कर दिया है कि चित्रनिर्माण लिप्यक्षरों के सन्निवेश से ही अपेक्षित है, उच्चारण से नहीं। उच्चारण से खड्ग आदि बनने लगने पर जिह्वा आदि वाग्यन्त्र कट जायेंगे।

इन रूपों में आचार्यों ने सिद्ध कर दिया है कि जिस प्रकार कर्ण से उपहित आकाश में समवायसम्बन्ध से विद्यमान ककार आदि के साथ लिपि के अक्षरों का भी अभेदरूप से ग्रहण होता है उसी प्रकार शब्दों में विद्यमान रहने वाला अलङ्कार उपचारतः चित्र आदि में भी अभिन्नरूप से स्वीकार किया जाता है।

चित्रालङ्कार के भेद—

जिन आलङ्कारिकों के मत से बन्ध, आकार अथवा आलेख्य ही चित्र का अर्थ रहा, उनकी दृष्टि में पद्म, खड्ग, मुरज आदि वस्तुविशेष की आकृतियाँ ही चित्रालङ्कार का भेद होंगी,[3] किन्तु जिन्होंने इसका व्यापक अर्थ लिया है, उनके अनुसार इसके कई विभाग संभव हैं।

अग्निपुराण में सर्वप्रथम चित्र का नियम, विदर्भ (विकल्प) तथा बन्ध तीन प्रमुख भेद किया गया है और पुनः प्रथम के स्थान, स्वर तथा व्यञ्जनभेद से तीन, विकल्प (या विदर्भ) के प्रतिलोम आदि अनेक तथा बन्ध के आठ प्रमुख भेद प्रदर्शित हैं।[4] आचार्य दण्डी ने यमक के भेदोपभेद निरूपित किये हैं, 'गति' शब्द का प्रयोग भी उसी सन्दर्भ में[5] किया हैं, उसके पश्चात् गोमूत्रिका निरूपित की गई है,[6] अर्धभ्रम तथा सर्वतोभद्र का भी उल्लेख हुआ है,[7] और स्वर, स्थान, वर्ण के नियमों में दुष्करता बतलाकर उदाहरण भी दिया गया है,[8] किन्तु चित्रालङ्कार का न तो स्पष्ट लक्षण है और न वर्गीकरण।

---

१. प्रतापरुद्रीयः पृ. २५१, बालमनोरमाप्रेस, १९१४ ई.

२. अलंकारमहोदधि ७।२१ तथा वृत्ति, पृ. २१९, ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, १९४२ ई.

३. आदिग्रहणाच्चक्रबन्धादयः। (प्रतापरुद्रीय पृ० २५१) आदिशब्दात् खड्ग-मुरज-चक्र-गोमूत्रिकादयः। (साहित्यदर्पण १०।१५ वृत्ति), आदिशब्दान्मुरज-चक्रादिरूपता गृह्यते। सा च शिशुपालवध-रुद्रटादिष्वालोकनीया। (अलङ्कारमहोदधि पृ० २२०), चित्रं पद्मादि-बन्धत्वे। शब्दानामिति यावत्। अस्यापि प्रचुरभेदत्वाद् दिङ्मात्रम्। (काव्यरसायनम्, ॥ २।७१ ॥, शिवदत्तशर्मा, कलकत्ता, सम्वत् १९६० वैं०) आदि।

४. अग्निपुराण अध्याय ३४३।३३–६५ ॥

५. इति पादादियमकविकल्पस्येदृशी गतिः। काव्यादर्श ३।३७ ॥

६. वही ३।७८ ॥

७. वही ३।८० ॥

८. यः स्वरस्थानवर्णानां नियमो दुष्करेष्वसौ ॥ वही ३।८३ ॥

अन्य आचार्यों में हेमचन्द्र ने स्वर, व्यञ्जन, स्थान, गति, आकार, नियम, च्युत, और गूढ आदि चित्र के भेद स्वीकार किया है।[1] वाग्भट ने भी अपना मत इसी से मिलता दिया है।[2] अलङ्कारचिन्तामणि में इसके बहुत से भेदोपभेद किये गये हैं—

नीरोष्ठ्य-बिन्दुमद्-बिन्दुच्युतमादिस्वतोऽद्भुतम्।
करोति यत्तदत्रोक्तं चित्रं चित्रविधा यथा॥

तच्च बहुविधम्—उभे व्यस्तसमस्ते च द्विर्व्यस्तद्विःसमस्तके।
उक्तव्यस्तसमस्तं च द्विर्व्यस्तकसमस्तकम्॥
द्विःसमस्तकसुव्यस्तमेकालापं प्रभिन्नकम्।
भेद्यभेदकमोजस्वि सालङ्कारं च कौतुकम्॥
प्रश्नोत्तरसमं पृष्टप्रश्नभग्नोत्तरं तथा।
आदिमध्योत्तराभिख्ये अन्तोत्तरमपह्नुतम्॥
विषमं वृत्तनामापि नामाख्यातं च तार्तिकम्।
सौत्रं शाब्दिकशास्त्रार्थे वर्णवाक्योत्तरे तथा॥
श्लोकवाक्योत्तरं खण्डं पादोत्तरसुचक्रके।
पद्मं काकपदं चापि गोमूत्रं सर्वतः शुभम्॥
गतप्रत्यागतं चापि वर्धमानाक्षरं तथा।
हीयमानाक्षरं चापि श्रृङ्खलं नागपाशकम्॥
चित्रं संशुद्धमन्यत्तु सप्रहेलिकमीरितम्।[3]

विद्याधर ने 'एकावली' में स्वररहित व्यञ्जनमात्रसादृश्य वाले वर्णचित्रों को वृत्यनुप्रास में अन्तर्भूत कर दिया है और स्वरचित्र को बन्धशैथिल्य कह कर दोष की संज्ञा दी है। अतः उनके मत में यह दोनों स्वतन्त्र अलङ्कार नहीं हैं।[4] विद्याधर का मत यह है जब कि 'वाग्भटालङ्कार' में 'चित्र' के चार भेद अभीष्ट है—"चित्रमाकार-गति-स्वर-व्यञ्जन-भेदाच्चतुर्विधं भवति"[5]।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आचार्यों ने अपने मन से 'चित्र' का अर्थ किया है, और उनका वर्गीकरण भी। भोज ने इन सबका एक ऐसा वर्गीकरण प्रस्तुत किया है जिसका कम से कम एक रूप ध्वनिवादी आचार्यों को भी अभीष्ट है, और अन्यों को भी शेष भेद प्रायः मान्य ही हैं। सामान्यतः भोजकृत 'चित्र' का वर्गीकरण अधिक सङ्गत, सर्वग्राहक तथा प्रख्यात है। इस प्रसङ्ग में विद्याधर ने अनेक स्थानों पर भोज का नाम-स्मरण किया है,[6] और हरिदाससिद्धान्तवागीश ने

---

१. स्वरव्यञ्जनस्थानगत्याकारनियमच्युतगूढादि चित्रम्। काव्यानुशासनम्

२. आकार-गति-स्वर-व्यञ्जन-स्थान-नियम-च्युत-गुप्तादिभेदैरनेकधाचित्रम्। काव्यानुशासनम्, निर्णयसागर, १९१५ ई.

३. अलङ्कारचिन्तामणि २।२-९॥

४. यत् पुनः स्वरविरहितव्यञ्जनमात्रसादृश्यप्रयुक्तं वर्णचित्रमपरैरभ्यधायि तदस्मिन् दर्शने वृत्यनुप्रास एव। यथा कलंकित० आदि।...स्वरचित्रं तु बन्धशैथिल्यकारितया दोष एवेति नालंकारतया स्वीकृतम्। यदाह राजा-उरुगुं युगुरु० आदि। एकावली पृ० १९१-२, बाम्बे संस्कृत सीरीज नं० ६३, सन् १९०३ ई०।

५. वाग्भटालंकार पृ. २९।

६. एकावली—पृ० १९२।

तो स्पष्ट कह दिया था—**"एषां लक्षणानि सरस्वतीकण्ठाभरणादावनुसंधेयानि।"**[1]

भोजकृत 'चित्र' का वर्गीकरण—

यमक, श्लेष तथा अनुप्रास के बाद भोज ने चित्रालंकार का निरूपण किया है। इससे प्रकट होता है कि 'चित्र' पर इन तीनों अलंकारों का प्रभाव है, यद्यपि विद्यानाथ[2] तथा रुय्यक[3] 'पुनरुक्ति' को इसका आधार मानते हैं। वस्तुतः पुनरुक्ति अथवा आवृत्ति उक्त तीनों अलंकारों का भी मूल है, अतः पारमार्थिक रूप से इन मान्यताओं में विरोध नहीं परिलक्षित होता है, यह मात्र अभिप्राय का भेद है।

भोज के अनुसार 'चित्रालंकार' छः प्रकार का होता है—

वर्ण-स्थान-स्वराकार-गति-बन्धान् प्रतीह यः।
नियमस्तद्बुधैः षोढा चित्रमित्यभिधीयते॥ स० क० २।१०९॥

(१) **वर्णचित्र**—यहाँ 'वर्ण' का अर्थ 'व्यञ्जन' है।[4] वाग्भट ने इसको स्पष्ट कर दिया है—**"एक-द्वि-त्र्यादिव्यञ्जननियमो व्यञ्जनचित्रम्।"**[5] अर्थात् एक, दो, तीन आदि ही व्यञ्जनों का प्रयोग श्लोक में सीमित रखने से एक आश्चर्य उत्पन्न होता है, इसको ही वर्णचित्र की संज्ञा दी जाती है। 'वाग्भटालंकार' के आचार्य के मतानुसार व्यञ्जनचित्र में एक श्लोक में एक, दो, तीन या चार व्यञ्जनों का ही प्रयोग करना चाहिये, तभी वैचित्र्य की प्रतीति होगी, अन्यथा अधिक वर्णों का प्रयोग होने पर न तो उनमें कोई विशिष्टता रहेगी और न दुष्करता।[6] वाग्भट का अभिप्राय स्पष्ट है कि अधिक व्यञ्जनों का प्रयोग करने से श्लोकों में कोई असामान्यता नहीं रह जायेगी, वे भी अन्यों की ही भाँति हो जायेंगे।

गोष्ठीरसिक भोज ने वाग्भट के पूर्व ही वर्णचित्रों का क्षेत्र-विस्तार कर दिया था। चतुर्व्यंजन, त्रिव्यंजन, द्विव्यंजन और एकव्यंजन का उदाहरण तो दिया ही था, उन्होंने क्रमशः सभी व्यञ्जनों का एक श्लोक में सार्थक प्रयोग प्रस्तुत कर आश्चर्यजनक चमत्कार उत्पन्न कर दिया।[7] कवि गोष्ठी में छन्दों के लिये निर्धारित अक्षरों का प्रयोग, षड्ज आदि स्वरों के व्यञ्जक व्यञ्जनों—स, र, ग, म आदि का प्रयोग तथा 'मुरजाक्षर' व्यञ्जनों के प्रयोग से उद्गत चित्रता प्रदर्शित कर अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन भोज ने किया।[8]

स्मरणीय है कि यहाँ व्यञ्जनों के ही विषय में नियम अपेक्षित हैं, स्वरों का कोई नियम

---

१. साहित्यदर्पण की टीका, पृ० ८०६, कलकत्ता, शकाब्द १८४१।
२. पद्मादिबन्धेषु कर्णिकादिस्थानविशेषेषु वर्णानां पौनरुक्त्यात् पौनरुक्त्यमूलालंकारानन्तर्यं च द्रष्टव्यम्। प्रतापरुद्रीय पृ. २५१, बालनोरमाप्रेस, मद्रास, १९१४ ई०।
३. पौनरुक्त्यप्रस्तावे स्थानविशेषश्लिष्टवर्णपौनरुक्त्यात्मकं चित्रवचनम्। अलंकारसर्वस्वम्, पृष्ठ ३०, काव्यमाला ३५, १९३९ ई०
४. वर्णा व्यञ्जनानि। स. क. २।१०९॥ पर रत्नेश्वर की टीका।
५. काव्यानुशासनम्, निर्णयसागर, १९१५ ई. पृ. ४८
६. व्यञ्जनचित्रं एकव्यञ्जन-द्विव्यञ्जन-त्रिव्यञ्जन-चतुर्व्यञ्जनबन्धम् यावद् व्यञ्जनचित्रम्। न तत्परं सुकरत्वाद्।" वाग्भटालंकार, पृ० २९, निर्णयसागर, बम्बई, १९०३ ई.।
७. स. कं. १।३६३ श्लोक॥ पृ. ४०२।
८. द्रष्टव्य स. क. पृष्ठ ४०२-३।

व्यञ्जनचित्र में अभीष्ट नहीं। भोजदेव ने स्वयं इस अभिप्राय को व्यक्त किया है—**"वर्णशब्देन चात्र स्वराणां पृथङ्निर्देशाद् व्यञ्जनान्येव प्रगृह्यन्ते।"**[1]

भोजकृत वर्णचित्रों के आठ उदाहरण मिलते हैं। इनको ही भेद मान कर स्पष्टता के लिये रेखाचित्र इस प्रकार दिया जा सकता है—

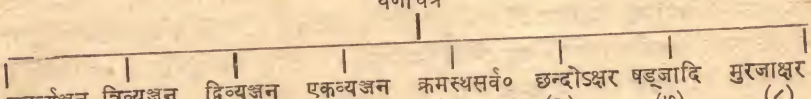

शेष ग्रन्थ में ही द्रष्टव्य है। (पृ. ४००–४)

(२) **स्थानचित्र**—'स्थान' का अभिप्राय यहाँ 'कण्ठ' आदि उच्चारण स्थान है।[2] जैसे व्यञ्जनचित्र में एक श्लोक में कुछ वर्णों का ही नियत प्रयोग अभीष्ट रहा उसी प्रकार यहां कुछ ही उच्चारण-स्थानों से निर्गत वर्णों का। वाग्भट इसके विषय में मौन हैं। सम्भवतः उन्होंने 'स्थान' को 'व्यञ्जन' या 'स्वर' से भिन्न नहीं समझा।

यद्यपि 'स्वर' या 'व्यञ्जन' भी किसी न किसी 'स्थान' से ही निर्गत होते हैं तथापि इसका उनसे भेद है। व्यञ्जनचित्र में वर्णों की संख्या एक से चार तक अथवा षड्ज, मुरजादि प्रकार तक सीमित होती है, उनका उच्चारण का स्थान भिन्न भी हो सकता है और समान भी, जब कि स्थानचित्र में वैशिष्ट्य यह हैं कि यहां वर्णों की संख्या नियत न होकर स्थान की संख्या नियत होती हैं। एक स्थान से बहुत से वर्ण निर्गत होते हैं, अतः स्थान एक होने पर भी वर्ण बहुत से हो सकते हैं। यदि विशेष ध्यान न दिया जाये तो स्थानचित्र के वैशिष्ट्य का पता ही न चल सके और श्लोक सामान्य ही प्रतीत हो, जब कि वर्णचित्र में वह अन्तर स्पष्ट होता है। यदि वहां निर्देश न हो कि अमुक श्लोक निष्कण्ठ्य है अथवा निस्तालव्य आदि, तो उनके वैचित्र्य का आभास ही न हो। स्पष्टतार्थ स्थानचित्रों के उदाहरण द्रष्टव्य हैं।[3]

वर्णचित्र की भांति स्थानचित्र को भी चार आदि स्थानों से निर्गत वर्ण तक सीमित रखना चाहिये।[4] वस्तुतः उच्चारण-स्थान आठ हैं—उर, कण्ठ, शिर, जिह्वामूल, दन्त, नासिका, ओष्ठ तथा तालु। वैयाकरणों के अनुसार शुद्धाशुद्ध रूप से उच्चारण के स्थान ग्यारह हैं—कण्ठ, तालु, मूर्धा, दन्त, ओष्ठ, मुखसहित नासिका, कण्ठतालु, कण्ठोष्ठ, दन्तोष्ठ, जिह्वामूल तथा नासिका।[5] रत्नेश्वर पुरानी परम्परा का अनुसरण करते हुये जिह्वामूल, उरस्य और नासिक्य का स्वतन्त्र प्रयोग न स्वीकार कर केवल पाँच स्थानों से ही निष्पन्न वर्णों के प्रयोग पर बल देते हैं, उनमें भी एक साथ अधिक से अधिक चार का।

---

१. वही पृ. ४०० ।

२. वही २।१०९ पर रत्नदर्पण पृष्ठ ४०० ।

३. वही पृष्ठ ४०४–८ तक ।

४. कण्ठ-तालु-मूर्ध-दन्तौष्ठादि-स्थाननियमः स्थानचित्रम् । वाग्भट, काव्यानुशानम् , पृ. ४८ ।

५. "अकुहविसर्जनीयानां **कण्ठः**। इचुयशानां **तालु**। ऋटुरषाणां **मूर्धा**। लृतुलसानां **दन्ताः**। उपूपध्मानीयानामोष्ठौ। ञमङणनानां **नासिका च**। एदैतोः **कण्ठतालु**। ओदौतोः **कण्ठोष्ठम्**। वकारस्य **दन्तोष्ठम्**। जिह्वामूलीयस्य **जिह्वामूलम्**। **नासिकाऽनुस्वारस्य**।" सिद्धान्तकौमुदी, संज्ञाप्रकरण पृ. २, चौखम्भा ओरियण्टालिया, १९७५ ई.।

"वर्णवत् स्थानेष्वपि चतुरादिनियमेन चित्रम्। यद्यपि च 'अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा। जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च' इति, तथापि जिह्वामूलीयस्य स्वरत्वादुरस्य-नासिक्ययोः काव्यप्रवेशाभावादुरोनासिका-जिह्वामूलपर्युदासेन स्थानपञ्चके चतुरादिनिरूपणम्।"[1]

भोज ने स्थानचित्र का प्रधानतः चार भेद किया है, वह चतुस्थान, त्रिस्थान, द्विस्थान तथा एक-स्थान के चित्रों का उदाहरण देते हैं। कुल पञ्चस्थानीय वर्ण हैं उनमें से चतुःस्थानता किसी भी एक स्थान के वर्णों का अभाव कर देने से बन जाती है। सरस्वतीकण्ठाभरण में इस प्रकार के पांच प्रयोग उदाहृत हैं। एक में कण्ठ्य वर्णों का अभाव है, दूसरे में तालव्य, तीसरे में दन्त्य, चतुर्थ में ओष्ठ्य तथा पञ्चम में मूर्धन्य। इसी प्रकार त्रिस्थानों में निरोष्ठ्यदन्त्य तथा निरोष्ठ्य-मूर्धन्य का, द्विस्थान में दन्त्यकण्ठ्य का एवं एक स्थान में कण्ठ्य का उदाहरण प्रस्तुत किया गया हैं।[2] इसके अतिरिक्त भी उदाहरण हो सकते हैं, किन्तु विस्तारभय से वह सब नहीं दिया गया। स्पष्टतार्थ रेखाचित्र दिया जा रहा हैं।

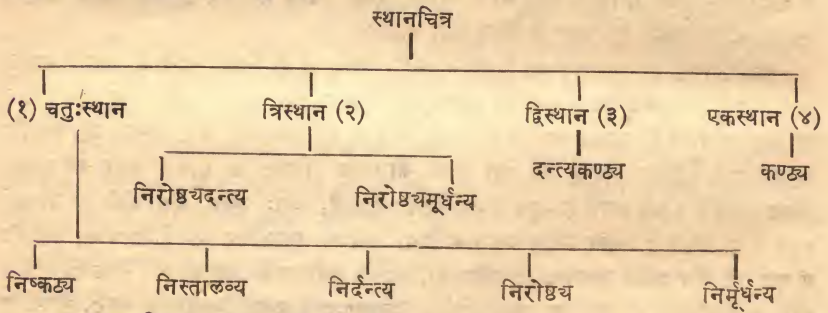

(३) **स्वरचित्र**—अकार आदि स्वर हैं।[3] जिस श्लोक में नियत एक, दो या तीन स्वर ही प्रयुक्त होते हैं, भले ही व्यञ्जन अनेक हों, उसमें स्वरनियम के कारण एक वैचित्र्य दृष्टिगोचर होने लगता है। इसी को स्वरचित्र कहते हैं।

स्वर सामान्यतः ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत होते हैं। प्लुत का प्रयोग स्वल्प होता है, अतः ह्रस्व' दीर्घ और इनके मिश्रित स्वरूपों से ही वैचित्र्य उत्पन्न किया जाता है। वाग्भट के शब्दों में—'ह्रस्वादिस्वरनियमो स्वरचित्रम्।"[4] वाग्भटालंकार के कर्त्ता का कथन है कि एक, दो या अनेक स्वरों से निष्पादित चित्र 'स्वरचित्र' है। उनके मत में एक श्लोक में तीन स्वरों तक का ही प्रयोग अधिक दुष्कर होता है, अतः उतने का ही प्रयोग आश्चर्योत्पादक होगा, उसके आगे चित्रात्मकता कहाँ ?

"स्वरेण स्वराभ्यां स्वरैर्वा चित्रं स्वरचित्रम्। स्वरत्रयं यावच्चित्रकस्य दुष्करत्वं संभवति। स्वरत्रयादूर्ध्वं किं चित्रम्।"[5]

---

१. स. कण्ठा. पृ. ४०४, द्वितीय परिच्छेद के श्लोक २६७ की टीका।
२. वही पृ. ४०४–४०७।
३. स्वरा अकारादयः। रत्नदर्पणटीका २।१०९ पर, स. कण्ठा. पृ. ४००
४. काव्यानुशासनम्, पृ. ४७
५. वाग्भटालंकार पृ. २९, बम्बई १९०३ ई.

भोज ने सर्वप्रथम, स्वरचित्र का तीन भेद किया हैं—ह्रस्वस्वर, दीर्घस्वर तथा मिश्रस्वर। ह्रस्वस्वरों में भी कहीं एक, कहीं दो और कहीं तीन का प्रयोग एक श्लोक में उदाहृत किया हैं। दीर्घ में एक, दो तथा चार के उदाहरण हैं। 'मिश्र' में प्रतिव्यञ्जनविन्यस्तस्वर तथा प्रतिव्यञ्जन-विन्यस्तापास्तस्वर दो भेद हैं। उनका सरल रेखाचित्र इस प्रकार है।

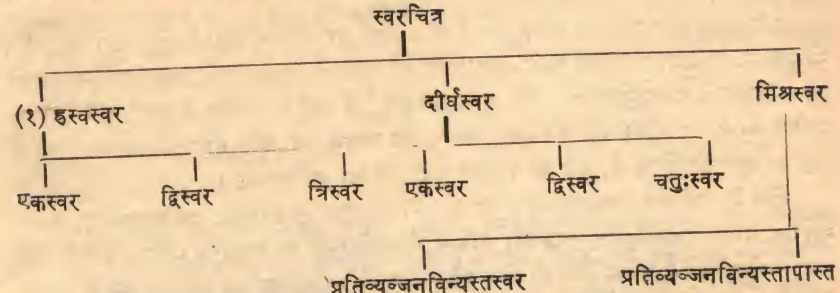

(४) **आकारचित्र**—वर्णों के विन्यास से कमल आदि का आकार उन्मुद्रित होना आकार-चित्र हैं।[1] सामान्यतः आकारचित्र ही चित्रालंकार के रूप में रूढ़ है। वाग्भट ने वाग्भटालंकार में "आकारचित्रं पद्म-छत्र-चामर-स्वस्तिक-कलश-हल-मुसलादिबन्धैरनेकधा।"[2] कहा है जिससे इसका स्वरूप तथा भेद दोनों प्रकट होता है। 'काव्यानुशासन' के रचयिता वाग्भट आकार और बन्ध को पर्याय समझते हैं, अतएव 'चित्रों' के भेद में प्रथम को वह 'आकार' कहते हैं और लक्षण देते समय उसी की व्याख्या 'बन्ध' शब्द से करते हैं।

"बन्धस्य खड्ग-धनु-र्बाण-मुसल-शूल-शक्ति-हल-च्छत्र-पद्म-मुरज-चक्र-स्वस्तिकाद्याकार-सादृश्यादाकारचित्रम्।"[3]

भोज ने आकारचित्र का लक्षणादि न देकर उसके भेदों का परिगणन एवं उदाहरण देना प्रारम्भ कर दिया था। उनके आकारचित्र मूलतः दो हैं—कमलचित्र तथा चक्रचित्र। कमलचित्रों में उन्होंने तीन प्रकार के अष्टदल, चतुष्पत्र, अष्टपत्र, षोडशपत्र तथा कविनामांक अष्टपत्र भेदों का, और चक्रों में द्व्यङ्कषडरचक्र तथा चतुरङ्कषडरचक्र का उदाहरण दिया है।[4]

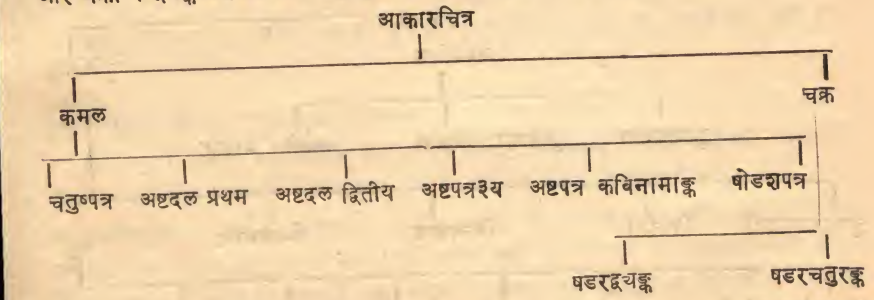

१. आकारः पद्माद्याकृत्युन्मुद्रणम्। रत्नदर्पणटीका स. क. २।१०९ पर, पृ० ४००
२. वाग्भटालंकार पृ. २९, निर्णयसागर, बम्बई, १९०३ ई.
३. काव्यानुशासनम्, पृ. ४६, बम्बई, १९१५ ई.
४. सर. कण्ठा. पृ. ४११-२२

(५) **गतिचित्र**—रत्नेश्वर के अनुसार 'गतिः पठितिभङ्गविशेषः''[1] है। अर्थात् एक श्लोक में लिखे हुये वर्णों को एक विशेष क्रम से सीधे, उलटे, प्रथम पाद, द्वितीय पाद आदि पादशः, वर्णभेदशः आदि पढ़ने पर भी उनकी सार्थकता, एक अथवा अनेकार्थता, एक ही श्लोक से दूसरे छन्द, दूसरी भाषा अथवा अर्थ का श्लोक निकालना आदि देखकर आश्चर्य होता है। यही पठितिभङ्ग विशेष है।

पठितिभङ्गविशेष भी कहीं श्लोक के वर्ण अथवा पाद पर आश्रित होता है और कहीं तुरङ्गगति, गोमूत्रिका, अर्धभ्रम, सर्वतोभद्र आदि, पशु आदि की गतियों, तत्कृतचिह्नों तथा वर्णविन्यासक्रमों पर। वाग्भट के काव्यानुशासन[2] तथा वाग्भटालङ्कार[3] में इसी से लक्षण न देकर मात्र भेदों का उल्लेख करके स्पष्टता की गयी है। किन्तु सूक्ष्म दृष्टि डालने पर स्पष्ट होता है कि गतिचित्रों में कुछ का मूलाधार यमक है, कुछ का पशुगति तथा कुछ का वर्णविन्यास।

भोज ने सर्वप्रथम गतप्रत्यागत (पदगत), गतप्रत्यागत (अक्षरगत), श्लोकान्तरगत, भाषान्तरगत, भाषान्तर-अर्थानुगत, तुरङ्गपद, अर्धभ्रम और सर्वतोभद्र का उदाहरण प्रस्तुत किया है और बाद में गोमूत्रिका के अनेक भेदों की ओर संकेत किया है। गोमूत्रिका का निरूपण उन्होंने स्पष्टता के लिये 'बन्धो' के बाद दिया है। गतिचित्र का सामान्यरेखांकन इस प्रकार किया जा सकता है—

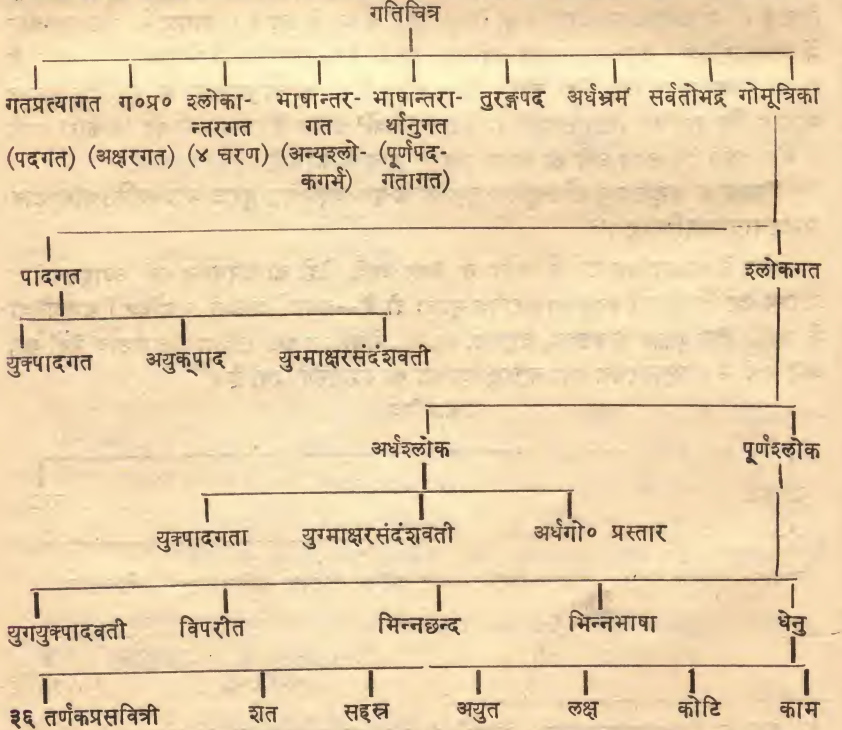

१. स. कण्ठा. ॥ २।२०९ ॥ पृ. ४००
२. गतिचित्रं सर्वतोभद्र-गतप्रत्यागत-गोमूत्रिका-अर्धभ्रम-रथ-पद-तुरगपद-गजपदादिभेदैरनेकधा भवति। काव्यानुशासन पृ. ४७
३. गतिचित्रं गोमूत्रिका-तुरग-गजपदादिभिर्भवति। वाग्भटालङ्कारः पृ. २९

गतिचित्रों का यह सामान्य रेखाचित्र है। विशेष वर्णन ग्रन्थ में ही देखना चाहिये।

(६) **बन्धचित्र**—सामान्यतः 'आकार' और 'बन्ध' में कोई अन्तर नहीं प्रतीत होता। भोज ने भी कोई अन्तर दिये बिना दोनों का अलग-अलग परिगणन कर दिया। रत्नेश्वर ने भी आकार के विषय में 'आकारः पद्माद्याकृत्युन्मुद्रणम्" और 'बन्ध, का 'बन्धो विविडितप्रभृतिः"[1] कहकर मुक्ति ले ली है। प्रायः अन्य आलङ्कारिकों ने भी दोनों को परस्पर पर्याय ही समझा है और 'आकार' तथा 'बन्ध' दोनों को पृथक् भेद नहीं स्वीकार किया। विद्याधर सम्भवतः प्रथम परवर्ती आचार्य हैं जिन्होंने न केवल इन दोनों भेदों की ओर संकेत किया अपितु भोजकृत विभाजन को एक आधार भी दिया है। उनके अनुसार ईश्वरकर्तृक पद्म, शैल आदि पर आधृत चित्र 'आकार' हैं और जो ईश्वरदत्त वस्तुओं से मनुष्यकृत होने के कारण द्विकर्तृक हैं जैसे—हल, मुसल आदि—वे सब बन्धचित्र हैं।

"अत्र यद्यपि बन्धचित्रमाकारचित्राद् भिन्नं मन्यमानैरपि चिरन्तनैः न किञ्चिद्-भेदकमुक्तं तथापीश्वरकर्तृकत्वे सत्यपि यदेककर्तृकतया प्रसिद्धं तत् पद्मशैलादिकमाकार-चित्रम्। यत्तु द्विकर्तृकं हल-मुसल-मुरज-गोमूत्रिका-चाप-चक्रादि तद्बन्धचित्रमित्यनयो-र्भेदः कल्पयितुं शक्य एवाऽस्माभिः। तथापि न कल्पितः। आकारचित्र इवेह बन्धचित्रेऽपि वर्णानामाकारोल्लासकत्वात् पद्मादिरूपतयाचराणां लिख्यमानत्वेन चित्रसादृश्याच्चित्र-मिदमुच्यते।"[2]

यह तर्क भोज के उदाहरणों में भी पूर्णतः चरितार्थ नहीं होता। अन्यत्र की उतनी चिन्ता भी नहीं है क्योंकि इन्होंने जब दोनों को पृथक् माना नहीं तब अन्तर का कोई प्रश्न नहीं। वस्तुतः विद्याधर ने भोज को एक सुदृढ़ आधार देने का प्रयास किया।

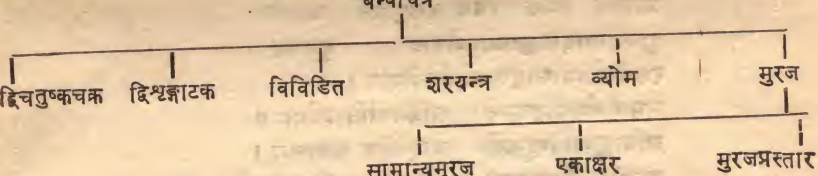

अन्य भेदोपभेदों का निरूपण ग्रन्थ में ही देखना चाहिये[3]। पिष्टपेषण बचाने के लिये यहां नहीं दिया जा रहा है।

चित्रालङ्कार में कुछ अनवधेयतायें—

चित्रालङ्कार स्वयं में बहुत कठिन साधना की अपेक्षा रखता है। यहां कवि की प्रौढि और व्युत्पत्ति का विशेष महत्त्व है। दैवज्ञ सूर्य कवि ने स्वीकार किया था कि चित्रालङ्कार या चित्र-काव्य की रचना मे कहीं तो छन्दःपूर्ति में बाधा पड़ती है, कहीं अनुलोमविलोम-क्रम में पदों में साकांक्षता का अभाव हो जाता है और कहीं प्रारम्भ किये गये कथानक के आद्यन्तनिर्वाह की ही समस्या उत्पन्न हो जाती हैं, इसी से वह अपनी चपलता पर विद्वानों से क्षमा मांगते हैं और चित्रकाव्यनिर्माण में शारदा की कृपा को ही प्रधान मानते हैं--

१. सर. कण्ठा. पृ. ४००
२. एकावली, पृ. १८९-१९१, बम्बई, १९०३ ई.
३. स. कण्ठा. पृ. ४२८ तथा आगे

छन्दःपूरणमुत्क्रमक्रमविधौ साकांक्षता तत्पदे-
ष्वारम्भाच्चरिते क्रमोऽपि सुतरामेतत्त्रयं दुर्गमम् ।
एवं सत्यपि मन्मतिः कियदपि प्रागल्भ्यमालम्बते
तत्सर्वं गुणिनः क्षमन्तु यदहो यूयं श्रमज्ञाः स्वयम् ॥
कदाचिदपि संतरेत् कृतिपरो नरो नीरधिं,
कथंचिदपि धावति प्रवरधाम धाराध्वनिः ।
ऋतेऽप्यतिविशारदा प्रचुरशारदानुग्रहं
विलोमकविताकृतौ सुकविधीरधारा भवेत् ॥[1]

रचना की इन कठिनाइयों को देखकर उन्होंने पिङ्गलमुनि के वचनों को उद्धृत करते हुये स्पष्ट किया था कि चित्रालङ्कारयुक्त काव्य में वाक्य या अर्थ की पूर्ति के लिये 'यत्-तद्' का अथवा क्रिया का अध्याहार, पाद के आदि अथवा अन्त में विसर्ग का ग्रहण या परित्याग, अथवा अर्थसिद्धि के लिये अभिधा से काम न चलने पर लक्षणा या व्यञ्जना का आश्रय लेना, आवश्यकतानुसार, अनुचित नहीं है--

अथ कवित्व-परिभाषा पिङ्गलादौ कथिता—
अध्याहारो यत्तदोर्वा क्रियायाः पादाद्यन्ते वा विसर्गोऽविसर्गः ।
कुत्राप्यूह्या लक्षणा व्यञ्जना वा विद्यादेतां चित्रकाव्यानुपूर्वाम् ॥[2]

विद्याधर ने भी यमक और चित्रकाव्य में रसपोष की कमी को स्वीकार किया है और दुष्करता के कारण इनमें अश्लीलत्वदोष की सम्भावना व्यक्त की हैं। इसी से उन्होंने र और ल, ड तथा ल, ल और ळ, ब तथा व, न और म, न तथा ण, अन्त में सविसर्गता तथा अविसर्गता, सानुस्वारता तथा निरनुस्वारता में अभेद-कल्पना को क्षम्य माना है।

प्रायशो यमके चित्रे रसपुष्टिर्न दृश्यते ।
दुष्करत्वादसाधुत्वमेकमेवात्र दूषणम् ॥
रलयोर्डलयोस्तद्वल्लडोर्बवयोरपि ।
नमयोर्णयोश्चान्ते सविसर्गाविसर्गयोः ॥
सबिन्दुकाबिन्दुकयोः स्यादभेदेन कल्पनम् ।
यमकं तु विधातव्यं कथञ्चिदपि न त्रिपात् ॥[3]

भोज द्वारा दिये गये उदाहरणों में कहीं-कहीं ये असंगतियां तथा समायोजनायें दृष्टिगोचर होती हैं।

चित्रकाव्य की हेयता—

दण्डी ने पर्याप्त विवेचन भी किया और 'चित्र' को 'नैकान्तमधुर'[4] भी घोषित कर दिया। आनन्दवर्धन ने रस और ध्वनि पर इतना बल दिया कि उनको असहज तथा प्रयाससाध्य काव्य भी अभीष्ट न रहा।[5] फिर 'चित्र' के दुष्करत्व, नीरसत्व, दुर्बोधत्व के प्रतिपादन की परम्परा-सी चल पड़ी। भोज ने स्वयं कहा था--

---

१. डा० कामेश्वरनाथ मिश्र : रामकृष्णविलोमकाव्यम्, पृ० १, चौखम्बा, वाराणसी १९७० ई०
२. वही।
३. एकावली ७।५-७। पृ० १८९, वा० सं० सी० ६३, बाम्बे, १९०३ ई०।
४. काव्यादर्श ॥ १।६१ ॥
५. ध्वन्यालोक ३।४३ की वृत्ति।

दुष्करत्वात् कठोरत्वाद् दुर्बोधत्वाद् विनावधेः।
दिङ्मात्रं दर्शितं चित्रे शेषमूह्यं महात्मभिः ॥ स० क० २।१४६॥

आचार्य मम्मट ने भी इसमें नीरसता आदि का नाम न लेकर मात्र 'कष्टं' पद से सभी की अभिव्यक्ति कर दी है और उसी को इस काव्य का दोष कहा है।[1] विद्याधर और विश्वनाथ[2] ने 'चित्र' प्रहेलिका आदि सबको रसबोध में बाधा माना है।[3] अप्पयदीक्षित को रस के अतिरिक्त अन्य कोई भी वस्तु नहीं मिलती है जिससे वह शब्दचित्र का विशेष निरूपण कर सकें--"**शब्द-चित्रस्य प्रायोनीरसत्वान्नात्यन्तं तदाद्रियन्ते कवयः, न वा तत्र विचारणीयमतीवोपलभ्यत इति।**"[4] नरेन्द्रप्रभसूरि इसे कवि का शक्तिप्रदर्शनमात्र तथा रसबोधीबहिष्कृत मानते हैं। इसी से इसका विवेचन विशेष नहीं करते।[5] यह सत्य है कि अलंकारयुक्त होने पर भी नीरस वनिता की भांति कविता भी आनन्द नहीं देती,[6] तथापि अलंकरणों का अपना महत्त्व है। दुःख का विषय यह है कि विद्वान् कविगण केवल एक-एक साम्प्रदायिक गुण के पीछे ऐसा पड़े कि मधुरस विष हो गया, अलंकार भार हो गये, रीति अवरोध हो गई, ध्वनि कोलाहल बन गयी वक्रोक्ति बन गयी प्रवञ्चना और औचित्यलोक से उठ ही गया।

अप्पय ने नीरसत्व का आरोप शब्दचित्र पर करके भी, सामान्य रूप से 'चित्र' को व्यङ्ग्यहीन होने पर भी 'चारु' कहा है। "यदव्यङ्ग्यमपि चारु तच्चित्रम्।"[7] वस्तुतः कहीं-कहीं परिस्थिति के अनुसार विचित्रप्रयोगों में ही स्वाभाविकता प्रतीत होती है। दण्डी ने दशकुमारचरितम् में मन्त्रगुप्त को प्रियतमा से इतना पिटवाया है कि उसका नीचे का ओठ कट गया। ऐसी दशा में उसके उच्चारण में ओष्ठ्यवर्णों का अभाव ही स्वाभाविक रहा, जिसे दण्डी ने सायास नियोजित किया है।[8] चित्रात्मक होते हुये भी यह प्रयास प्रशंसनीय तथा हृद्य हैं। इसी प्रकार युद्धों में भी सैन्यविन्यास की विविधता, बहुविध प्रहारक्षमता, विषम गति आदि का प्रदर्शन करने के लिये तद्रूप श्लोकों का ग्रहण युद्धप्रसंग में कवियों ने किया है। माघ ने युद्धप्रसंग में ऐसे श्लोकों का प्रयोग किया है, जो उचित है। मन्दबुद्धि वालों को अनुचित न लगे इसलिये उन्होंने स्पष्टीकरण भी दिया है--

---

१. कष्टं काव्यमेतदिति दिङ्मात्रं प्रदर्श्यते। का. प्र. पृ. ४३४, ज्ञानमण्डल, वाराणसी, १९६० ई०।

२. एतच्च काव्ये गडुभूतमिति नेह प्रतायते। एकावली, पृ० १९१

३. काव्यान्तरगडुभूततया तु नेह प्रपञ्च्यते--
रसस्य परिपन्थित्वान्नालङ्कारः प्रहेलिका। उक्तिवैचित्र्यमात्रं सा च्युतदत्ताक्षरादिका॥
सा० दर्पण १०।१६॥

४. चित्रमीमांसा, पृ. ४०, वाणीविहार, वाराणसी, १९६५ ई०।

५. शक्तिमात्रप्रकाशनकलैवेषा कविता न भूम्ना महाकविभिरादृता रसवीथीबहिष्कृतत्वादिति ज्ञापनाय न प्रपञ्च्यते। अलङ्कारमहोदधि ७।२१ की वृत्ति, पृ. २२०, ओरियण्टल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा, सन् १९४२ ई०।

६. रतिरीतिवीतवसना प्रियेव शुद्धापि वाङ्मुद्रे सरसा।
अरसा सालङ्कृतिरपि न रोचते शालभञ्जीव॥ आर्यासप्तशती॥ १।५४॥

७. चित्रमीमांसा, पृ. ३५, वाराणसी, १९६५ ई०

८. दशकुमारचरितम् ७॥

विषमं सर्वतोभद्रचक्रगोमूत्रिकादिभिः ।
श्लोकैरिव महाकाव्यं व्यूहैस्तदभवद् बलम् ॥[1]

इसी प्रकार तुरग, गज आदि के गमन, सेना के पदाभ्यास, काव्यगोष्ठी आदि में इनकी सहजता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। अग्निपुराण में चित्रबन्ध, प्रश्न, प्रहेलिका आदि का औचित्य गोष्ठी में कौतूहल हेतु उचित माना गया है--

गोष्ठ्यां कुतूहलाध्यायी वाग्बन्धश्चित्रमुच्यते ।
प्रश्नः प्रहेलिका गुप्तं च्युतदत्ते तथोभयम् ॥[2]

गोष्ठी आदि के अतिरिक्त अनुकरण, विद्वद्वार्ता आदि ऐसे प्रसङ्ग हैं जहां श्लेष, अप्रतीतत्व, निहतार्थत्व, अप्रयुक्तप्रयोग आदि दोष दोष नहीं रह जाते अपितु गुण भी हो जाते हैं। मम्मट में शब्दों में--

"अनुकरणे तु सर्वेषां वक्त्र्यौचित्यवशाद् दोषोऽपि गुणः क्वचित्। क्वचिन्नोभौ।[3]

वहीं वृत्ति में आचार्य प्रवर कहते हैं--

"वक्तृ-प्रतिपाद्य-व्यङ्ग्य-वाच्य-प्रकरणादीनां महिम्ना दोषोऽपि क्वचिद् गुणः, क्वचिन्न दोषो न गुणः। तत्र वैयाकरणादौ वक्तरि प्रतिपाद्ये च, रौद्रादौ च रसे व्यङ्ग्ये कष्टत्वं गुणः।[4] विश्वनाथ ने भी इसी क्रम का अनुसरण किया है।[5]

भोज ने 'दोषगुण' प्रकरण में प्रथम परिच्छेद में स्पष्ट कर दिया था कि अविद्वानों, अज्ञ, स्त्रियों तथा बालकों के लिये प्रसादपूर्ण काव्य रचा जाता है, किन्तु श्रोताओं या अध्येताओं के विद्वान् होने पर 'अप्रसन्नता' दोष नहीं, इसी प्रकार 'चित्र' में भी। वह तो दोषहान में कवि की क्षमता को ही हेतु मानते हैं--

अविद्वदङ्गनाबालप्रसिद्ध्यर्थं प्रसादवत्।
विपर्ययोऽस्याप्रसन्नं चित्रादौ तन्न दुष्यति ॥
विरोधः सकलेष्वेव कदाचित् न कविकौशलात्।
उत्क्रम्य दोषगणनां गुणवीथीं विगाहते ॥[6]

स्पष्ट है कि 'चित्रकाव्य' का दुष्करत्व, दुर्बोधत्व अज्ञों के लिये भले हो किन्तु विशेषज्ञों के लिये वह सरस एवं आनन्ददायक है। व्याकरण तथा इतिवृत्तों का ज्ञान चित्ररसज्ञ के लिये आवश्यक है। इस विषय में ब्रह्मलीन अनन्तश्रीविभूषित स्वामी महेश्वरानन्द सरस्वती के शब्द दर्शनीय हैं--

सर्वो धातुगणः क्रियादिविपुलो जिह्वाजिरे रागते
विश्वास्तद्धितवृत्तयः प्रमुदिताः क्रीडन्ति कण्ठस्थिताः।

---

१. शिशुपालवध ॥ १९।४१ ॥
२. अग्निपुराण ३४३।२२ ॥
३. काव्यप्रकाश सप्तम उल्लास पृ० ३४५-६
४. वही।
५. स्यातामदोषौ श्लेषादौ निहतार्थाप्रयुक्तये। गुणः स्यादप्रतीतत्वं ज्ञत्वं चेद्वक्तृवाच्ययोः ॥
सा० द० ७।१७,१८ ॥
६. सर० कण्ठा० १।१२९, १५६ ॥

कृत्संज्ञा विलसन्ति प्रत्ययघटाः स्वान्तान्तरालाम्बरे
येषां ते विभवो भवन्ति कृतिनो बन्धोत्कटे कानने ॥
सत्यं वल्गितमस्ति तत्र भवतोऽशक्तस्य कस्यापि ते
द्राक्षामञ्जलतां वदन्ति कृपणाः श्रान्ताः परास्तोद्यमाः ।
शाब्दे ब्रह्मणि साधिकारवचसां क्लिष्टक्रमाभ्यासिनां
बन्धाली विजरीहरीति सुभगा विद्येश्वराणां मुदे ।[1]

महाराजाधिराज भोज स्वयं कवि थे, उनको गोष्टी का सौभाग्य प्राप्त था, उनकी सारी प्रजा विद्यामण्डित थी । अतः ऐसे विद्या-राज्येश्वर का चित्रकाव्यनिरूपण विस्तृत होना आश्चर्य का विषय नहीं ।

—कामेश्वरनाथ मिश्र

---

१. रामरूपकवि : चित्रकाव्यकौतुकम् , की भूमिका १६,९ ॥

॥ श्रीः ॥

सरस्वतीकण्ठाभरणम्

सानुवाद 'स्वरूपानन्द' हिन्दीभाष्योपेत 'रत्नदर्पण'-व्याख्याविभूषितम्

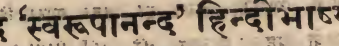

प्रथमः परिच्छेदः

ग्रन्थारम्भे समुचितेष्टदेवतानमस्कारेण शिष्टाचारमनुवर्तते—ध्वनिरिति ।

ध्वनिर्वर्णाः पदं वाक्यमित्यास्पदचतुष्टयम् ।
यस्याः सूक्ष्मादिभेदेन वाग्देवीं तामुपास्महे ॥ १ ॥

व्याख्याकर्तृमङ्गलम्

जयति स्वरूपानन्दो जातो यो रत्नदर्पणे दृष्ट्वा ।
वाणीकण्ठाभरणं रचितं सुष्ठु भोजदेवेन ॥

अनुवाद—ग्रन्थकार भोजदेव अपनी कृति की निर्विघ्न समाप्ति तथा दुरित प्रणाश के लिए विद्या की अधिष्ठात्री देवी की स्तुति करते हैं—

सूक्ष्म आदि भेद करने से ध्वनि, वर्ण, पद तथा वाक्य ये चार जिसके अधिष्ठान हैं उस वाणी देवी की हम उपासना—वन्दना करते हैं ॥ १ ॥

स्वरूपानन्दभाष्य—यह मङ्गल श्लोक कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इसमें परम्परा का निर्वाह तो है ही, साथ ही अतिसूक्ष्म विवेचन के आधार पर किये गये चार विभाग और उन विभागों में अर्थ का समावेश न होना साहित्य-शास्त्र के प्रेमी के लिए असमञ्जस की स्थिति उत्पन्न करता है। सामान्यतः साहित्यशास्त्र में शब्द, अर्थ तथा वाक्य इन तीन शब्दों का महत्त्व विभिन्न आचार्यों ने पृथक्-पृथक् अथवा समवेत रूप में स्वीकार किया है। पद, वाक्य तथा प्रमाण को महत्त्व देने वाले भिन्न शास्त्रों का भी निर्माण हो चुका है। ध्वनिवादी आचार्यों ने तो ध्वनि को ही काव्य का प्राण तक स्वीकार किया है और इसे वर्ण, पद आदि से भी यत्र-तत्र व्यंग्य माना है। इसी प्रकार वैयाकरणों ने पद-शास्त्र विषय होने पर भी अपरिहार्य होने से पदों के घटक वर्णों तथा उनकी भी मूलभूत ध्वनियों का विशद विश्लेषण एवं वर्गीकरण प्रस्तुत किया है।

यह स्पष्ट है कि भोजराज समस्त पूर्वाग्रहों से मुक्त हैं और उन्होंने किसी के अनुसार नहीं अपितु अनुभवगम्य आधार पर वाणी का विभाजन किया है जो वस्तुतः वैयाकरणों की वैखरी वाणी से प्रारम्भ करके वाक्य की स्थिति में आने का क्रम प्रस्तुत करता है। सर्वप्रथम वाणी एक ध्वनि के रूप में अवतरित होती है, वही ग्राहकों द्वारा वर्ण के रूप में स्वीकृत होती है, इन वर्णों से प्रयोगयोग्य पद बनते हैं और पदों से वाक्यों का निर्माण होता है। यही वाणी का स्पष्ट स्वरूप है जिसका उपयोग अपनी-अपनी आवश्यकताओं तथा मान्यताओं के आधार पर विभिन्न आचार्यों ने किया है। व्याकरण शास्त्र में किये गये परा, पश्यन्ती आदि सूक्ष्मभेद यहाँ अधिष्ठान के रूप में अपेक्षित नहीं, क्योंकि शब्दोत्पत्ति के क्रमज्ञान हेतु आवश्यक होने पर भी पाठ्य

तथा श्रव्य अथवा वाच्य साहित्य में उसका उपयोग नहीं होता। अन्य तथ्यों की भाँति यह भी विषय यहाँ निर्विवाद है कि यहाँ ध्वनि शब्द का अर्थ किसी भी दशा में व्यंग्यार्थ नहीं है, वैसा कहना मात्र द्रविड-प्राणायाम है।

अतिसूक्ष्म भेद करने पर भी यहाँ 'अर्थ' का समावेश न करना अवश्य ही विचारणीय है। वस्तुतः यह विचार ही इसलिए आया क्योंकि अन्य आलङ्कारिकों ने प्रायः वन्दना में, काव्य-लक्षण में अथवा इनके आस-पास ही शब्द, अर्थ या वाक्य का महत्त्व काव्य के घटक तत्त्वों के रूप में स्वीकार किया है, किन्तु भोजराज ने वन्दना में नाम ही नहीं लिया तथा काव्य की परिभाषा भी ऐसी निपुणता से प्रस्तुत की कि यह प्रश्न ही नहीं उठ पाता। इन्होंने अन्य ग्रन्थकार आलङ्कारिकों की भाँति पृथक् रूप से काव्य का लक्षण भी नहीं कहा। इस आश्चर्य का समाधान अनेक अनुमानों से किया जा सकता है।

जो लोग शब्द तथा अर्थ, पद और पदार्थ, नाम और रूप इनको पृथक्-पृथक् मानते हैं, उनके लिए तो यह स्पष्ट उत्तर ही है कि जब समस्त साहित्य वाङ्मय ही है तब अर्थ का समावेश ही कैसे हो सकता है? दूसरी बात यह भी है कि शब्द और अर्थ हैं तो अवश्य भिन्न किन्तु इनका सम्बन्ध नित्य है। इस नित्य सम्बन्ध के कारण शब्द का उच्चारण करते ही अर्थ स्वतः उपस्थित हो जाता है, ठीक उसी भाँति जैसे काव्य परिभाषा में 'रस' शब्द का प्रयोग न करने पर भी मम्मट की परिभाषा में गुण शब्द का ग्रहण करने मात्र से 'रस' का ग्रहण हो जाना[1]। इसके अतिरिक्त व्यावहारिक कठिनाई भी है, शब्द तथा अर्थ में पारमार्थिक भिन्नता स्वीकार करने पर एक ही तत्त्व दो पूर्ण भिन्न वस्तु एक साथ हो ही कैसे सकता है?

कठिनाई यह है कि भोज ने अपने ग्रंथ में अर्थ की पृथक् सत्ता—शब्द के अतिरिक्त—स्वीकार भी की है। यदि ऐसा न होता तो अर्थालङ्कारों का समावेश भी कैसे होता? सूक्ष्म विवेचन करने पर असङ्गति का निराकरण हो जाता है। लोक में तो शब्द और अर्थ भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु काव्य में अर्थ भी शब्दात्मक ही होता है। जो अर्थ साहित्य में प्रकट होता है, वह जबतक शब्दात्मक नहीं हो जाता तबतक कोई भी औपचारिकता निभ नहीं सकती। काश्मीरीय शैवदर्शन में तो नामरहित विश्व माना ही नहीं गया है। पण्डितराज जगन्नाथ के भी शब्द को काव्य मानने का अभिप्राय यही लगता है। भोजराज ने सम्भवतः इन्हीं विरोधाभासों का समाधान करने के लिए 'सूक्ष्मादिभेदेन' पद का प्रयोग किया है। तुलसी के शब्दों में—'गिरा अर्थ जलवीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।' प्रकृत कारिका में प्रयुक्त 'सूक्ष्मा' 'परा' का पर्याय है।

एकेन यस्य यमिनः प्रमदेव देहमर्धेन राजति पुमानिव चापरेण।
तत्त्वक्रमादथ च न प्रमदा पुमान् वा श्रेयांसि वर्धयतु स स्मरशासनो वः॥
श्रीरामसिंहदेवेन दोर्दण्डदलितद्विषा।
क्रियतेऽवन्तिभूपालकण्ठाभरणदर्पणः॥
कण्ठाभरणमनर्घ्यं वाग्देवीरत्नदर्पणोत्सङ्गे।
अस्मिन् पश्यतु निभृतं प्रकाशसर्वाङ्गलावण्यम्॥

वाचामधिष्ठात्री देवी द्योतमाना स्वप्रकाशशब्दब्रह्मरूपा भारती। कथमुपास्यते। सूक्ष्मादिभेदेन ध्वन्यादिभेदेन च विवक्षितो नमस्कारः। शब्दब्रह्मणश्चतस्रो भिदा भवन्ति। सूक्ष्मा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी चेति। तत्राविकारदशा सूक्ष्मा। सा हि सर्वस्य प्राणापानान्तरालवर्तिनी विगतप्रादुर्भावतिरोभावा सम्यक्प्रयोगपरिशीलनात्मना कर्मयोगेन मननादिना

---

१. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि। का० प्र० १।४॥

ज्ञानयोगेन च सम्यगधिगम्यते। 'सेयमाकौर्यमाणापि नित्यमागन्तुकैर्मलैः। अन्या कला हि सोमस्य नात्यन्तमभिभूयते॥ तस्यां विज्ञातमात्रायामधिकारो निवर्तते। पुरुषे षोडशकले तामाहुरमृतां कलाम्॥' इति। तस्य ब्रह्मणोऽनाद्यविद्यावशादाद्यः परिणामः पश्यन्तीरूपो जायते। स हि वर्णविभागादक्रमः स्वयंप्रकाशश्च। पूर्वापरे स्वावस्थे पश्यतीति पश्यन्तीत्युच्यते। ततः परमविद्योपादानादन्तःसंकल्परूपक्रमवान् श्रोत्रग्राह्यवर्णाभिव्यक्तिरहितस्तृतीयः परिणामो मध्यमारूपो जायते। सा किल द्वयोः परिणामयोर्मध्ये सदा तिष्ठतीति मध्यमेत्युच्यते। अन्तरं दूरप्रसृतायामविद्यायां स्थानकरणप्रयत्नव्यज्यमानश्रोत्रसंवादिवीणादुन्दुभिनादपरिचयगद्वदाव्यक्ताकारादिवर्णसमुदायात्मकस्तृतीयः परिणामो वैखरीरूपो जायते। विशिष्टं खमाकाशं राति प्रयच्छतीति विखरो देहेन्द्रियसंघातः। तथा च श्रुतिः—'न ह वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति। अशरीरं वा व सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः॥' इति। तत्र भवा वैखरीति। तदेतासामवस्थानामाद्यास्तिस्रो नित्या अतीन्द्रियाः। तदुक्तम्—'स्थानेषु विवृते वायौ कृतवर्णपरिग्रहा। वैखरी वाक्प्रयोक्तॄणां प्राणवृत्तिनिबन्धना॥ केवलं बुद्ध्युपादानक्रमरूपानुपातिनी। प्राणवृत्तिमतिक्रम्य मध्यमा वाक्प्रवर्तते॥ अविभागात्तु पश्यन्ती सर्वतः संहृतक्रमा। स्वरूपज्योतिरेवान्तःसूक्ष्मा सा चानपायिनी॥' इति। श्रुतिरप्याह—'चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः। गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥' इत्यादिकमागमसमुच्चयादेवावसेयम्। का पुनस्ता वाचो यासामियमधिष्ठात्रीत्यत उक्तम्—'ध्वनिर्वर्णाः पदं वाक्यमित्यास्पदचतुष्टयम्। यस्याः' इति। आस्पदमधिष्ठानमवच्छेदः। ध्वन्यादिभिरवच्छिन्ना परा वाक् तव्यवहारहेतुः। साहित्यप्रसिद्धाभिधानध्वननलक्षणव्यवहारकारित्वमेकस्मिन् वर्णे न निरूप्यते इति बहुवचनम्। पदवाक्ययोरस्ति प्रत्येकमपि तथाभाव इति ताभ्यामेकवचनमुपात्तम्। तदयमत्र तात्पर्यसंक्षेपः। साहित्यस्वरूपनिरूपणाय किलैष ग्रन्थारम्भः। साहित्यं च शब्दार्थयोः संबन्धः। तत्र शब्द एव क इत्यपेक्षायामयं विभागो ध्वनिरित्यादिः। अर्थस्तु स्तम्भकुम्भादिलक्षणो लोके शास्त्रे च प्रसिद्धः। संबन्धः कश्चिदनादिः। सर्वस्वायमानस्तु संबन्धो नान्यत्रेत्यस्मिन्नायतते। स चतुर्विधः—दोषहानम्, गुणोपादानम्, अलंकारयोगः, रसाभियोगश्चेति॥ १॥

प्रेक्षावत्प्रवृत्यङ्गसंबन्धप्रयोजने दर्शयति—

निर्दोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति॥ २॥[1]

अनुवाद—अग्रिम कारिका में ग्रन्थकृत् काव्य का लक्षण तथा प्रयोजन अपने ढङ्ग से प्रस्तुत करता है—

दोषहीन, गुणसमन्वित, अलङ्कारों से विभूषित तथा रसपेशल काव्य की रचना करता हुआ कवि यश तथा आनन्द-प्रीति प्राप्त करता है॥ २॥

स्व०भा०—उपर्युक्त कारिका में कवि को एक विशेष प्रकार की कविता रचने से विशिष्ट फल की प्राप्ति होने का उल्लेख किया गया है। स्वतःसिद्ध है कि जो कवि अपेक्षित गुण युक्त काव्य-निर्माण नहीं करेगा उसे उक्त फल भी प्राप्त नहीं हो सकते। यहाँ अन्य आलङ्कारिकों की भाँति न तो स्पष्ट रूप से काव्य का लक्षण ही दिया गया है और न प्रयोजन ही निर्दिष्ट है। यहाँ है प्रका-

१. अप्पय दीक्षित इस कारिका को अपनी 'चित्र-मीमांसा' में अग्निपुराण की स्वीकार करते हैं।

रान्तर से पूर्ववर्ती अथवा समकालीन आचार्यों द्वारा दी गई काव्य-परिभाषाओं का सङ्कलन। इसमें उनका संकलन भी संयोगवश प्रसंगतः हो गया है, ध्यान देकर लिखा नहीं गया। इसका कारण यह लगता है कि भोज व्यर्थ का विवाद नहीं चाहते। उनके समय तक काव्य का स्वरूप प्रायः स्पष्ट हो चुका था और प्रयोजन भी स्पष्ट ही था। विभिन्न सम्प्रदायों का सूत्रपात भी तबतक हो जाने से, उन्होंने यह पाठकों पर ही छोड़ दिया कि वे अपनी रुचि के अनुसार काव्य की परिभाषा करते रहें, इनका सम्बन्ध अनपेक्षित तथा अपेक्षित काव्य-तत्त्वों के निरूपण से है।

यहाँ 'काव्यम्' पद के विशेषण के रूप में प्रयुक्त 'निर्दोषं', 'गुणवत्', 'अलङ्कारैरलंकृतं' तथा 'रसान्वितं' पद ग्रन्थकार की काव्य-विषयक मान्यता को स्पष्ट कर देते हैं। भामह की—'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्', दण्डी की-'शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली', अग्निपुराण की-'संक्षेपाद् वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्नां पदावली काव्यम्', रुद्रट की-'शब्दार्थौ काव्यम्', वामन की-'काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्कारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोः वर्तते' तथा आनन्दवर्धन की-'शब्दार्थशरीरं तावत्काव्यम्' आदि समस्त परिभाषाओं में शब्द तथा अर्थ अनिवार्यतः काव्य शरीर के रूप में स्वीकृत हैं। निर्देश न करने पर भी भोज इन्हें स्वीकार करते हैं। उनकी परिभाषा में विद्यमान काव्य के विशेषण पद परवर्ती आचार्यों की परिभाषा रचना पर विशेष छाप डालते हैं। इनके परवर्ती आचार्यों में हेमचन्द्र की परिभाषा-'अदोषौ सगुणौ सालङ्कारौ च शब्दार्थौ काव्यम्' इनके अत्यन्त निकट है। इसी प्रकार आचार्य मम्मट की-'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि', वाग्भट्ट की-'शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्रायः सालङ्कारौ च काव्यम्' विद्यानाथ की-'गुणालङ्कारसहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ काव्यम्' तथा जयदेव की—

निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषिता। सालङ्काररसानेकवृत्तिर्वाक् काव्यनामभाक्॥

आदि उक्तियाँ निःसन्देह भोजराज का प्रभाव प्रदर्शित करती हैं।

भोजराज रसवादी समीक्षक हैं। अतः काव्य के लिए अपेक्षित गुण एवं अलङ्कार दोनों में से किसी एक को ही यदि ग्रहण करना हो तो वह गुण को ही **वरीयता** देंगे। गुण का रस से नित्य सम्बन्ध है जब कि अलङ्कारों का नहीं। उन्होंने स्पष्ट ही स्वीकार किया है—

अलंकृतमपि श्राव्यं न काव्यं गुणवर्जितम्। गुणयोगस्तयोर्मुख्यो गुणालङ्काययोगयोः॥ १।५९॥

प्रथम परिच्छेद के अन्त में इन्होंने अत्यन्त सरस-रीति से अलङ्कार की अपेक्षा गुणों की वरीयता प्रतिपादित की है।

युवतेरिव रूपमङ्गकाव्यं स्वदते शुद्धगुणं तदप्यतीव।
विहितप्रणयं निरन्तराभिः सदलङ्कारविकल्पनाभिः॥
यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यो वपुरिव यौवनबन्धमङ्गनायाः।
अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं नियतमलङ्करणानि संश्रयन्ते॥

दीर्घापाङ्गं नयनयुगलं भूषयत्यञ्जनश्रीस्तुङ्गाभोगौ प्रभवति कुचावर्पितुं हारयष्टिः।
मध्ये क्षामे वपुषि लभते स्थामकूर्पासलक्ष्मीः श्रोणीबिम्बे गुरुणि रशनादामशोभां बिभर्ति॥१।५८-६०॥

भोजराज की यह मान्यता परवर्ती आलङ्कारिकों में 'अनलंकृती पुनः क्वापि', 'प्रायः अलङ्कारैरलंकृतम्' सदृश काव्यपरिभाषाओं में स्पष्ट देखी जाती है।

इसी प्रकार रसविहीन वाक्य भी काव्य के रूप में भोज को अस्वीकार्य है। पञ्चम परिच्छेद में इन्हीं की उक्ति है—

पश्यति स्रोति वाक्ये हि न रसः प्रतिभासते। विलोकयति कान्तेति व्यक्तमेव प्रतीयते॥ ५।४॥
नवोऽर्थः सूक्तिरग्राम्या श्रव्यो बन्धः स्फुटा श्रुतिः। अलौकिकार्थयुक्तिश्च रसमाहर्तुमीशते॥ ५।७॥

काव्यप्रयोजन—भोज ने कवि को दो लाभ बताया है। वे लाभ हैं कीर्ति और प्रीति। रसाचार्य भरत के अनुसार नाटक और उपचारतः सम्पूर्ण साहित्य का प्रयोजन यों है—

उत्तमाधममध्यानां नराणां कर्मसंश्रयम्। हितोपदेशजननं धृतिक्रीडा-सुखादिकृत्॥
दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्। विश्रान्तिजननं लोके नाट्यमेतद्भविष्यति॥
धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम्। लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद्भविष्यति॥

भरत द्वारा निर्दिष्ट प्रयोजनों का ही संक्षेप-सा अपने शब्दों में भामह ने किया है—

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च। करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिबन्धनम्॥

वामन ने भी प्रीति और कीर्ति का सहारा लिया है। उनके भी अनुसार काव्य का हेतु यही है—'काव्यं सद् दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात्।' आचार्य कुन्तक ने बड़े सुन्दर ढङ्ग से काव्य के प्रयोजनों का संकलन किया है। उनके अनुसार—

धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः। काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः॥
व्यवहारपरिस्पन्दसौन्दर्यं व्यवहारिभिः। सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते॥
चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्। काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते॥१।३-५॥

कुन्तक में भामह के प्रयोजनों का विस्तार स्पष्टतः लक्षित होता है। भोज के पूर्ववर्ती रुद्रट ने भी काव्यप्रयोजनों का विशद वर्णन किया है—

ज्वलदुज्ज्वलवाक्प्रसरः सरसं कुर्वन् महाकविः काव्यम्।
स्फुटमाकल्पमनल्पं प्रतनोति यशः परस्यापि॥
अर्थमनर्थोपशमं सममसममथवा मतं यदेवास्य। विरचितरुचिरसुरस्तुतिरखिलं लभते तदेव कविः॥
तदिति पुरुषार्थसिद्धिः साधु विधास्यद्भिरविकलां कुशलैः।
अधिगतसकलज्ञेयैः कर्तव्यं काव्यममलमलम्॥

इनमें भी पूर्वाचार्यों का पूर्णप्रभाव विद्यमान है, यद्यपि भाषा अधिक परिमार्जित है। भोज के पूर्ववर्ती उपर्युक्त प्रमुख आलङ्कारिकों के काव्यप्रयोजन सम्बन्धी छन्दों का विवेचन करने से स्पष्ट हो जाता है कि इन पर अन्यों की अपेक्षा इस प्रसङ्ग पर भामह का प्रभाव विशेष है। इन्होंने काव्यालङ्कार से ही 'कीर्ति' और 'प्रीति' शब्दों का ग्रहण किया है। भामह ने अपने ग्रंथ के प्रथम परिच्छेद के षष्ठ से दशम कारिकाओं में काव्यरचना से प्राप्य कीर्ति का आकर्षक वर्णन किया है। प्रायः यही वर्णन रुद्रट में भी है।

सूक्ष्म विवेचन से ज्ञात होता है कि भोज ने अपने 'कीर्ति' और 'प्रीति' शब्दों में ही पूर्ववर्ती एवं उत्तरवर्ती दोनों समय के आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट समस्त प्रयोजनों का अन्तर्भाव-सा कर दिया है। शब्द पूर्वपरिचित तथा अन्यतः प्राप्त होने पर भी इनके यहाँ अर्थविस्तार कर बैठे हैं। इसके यहाँ 'प्रीति' शब्द अर्थजन्य, व्यवहारजन्य, शिवेतरक्षतिजनित, रसानुभूतिजनित तथा मधुर उपदेशजन्य इन समस्त आनन्दों को अपने में समाविष्ट कर लेता है। यहाँ प्रीतिपद अधिक व्यापक है।

अब जटिल समस्या उपस्थित होती है इन फलों के भोक्ता के विषय में। कीर्ति और प्रीति मिलती किसे है? भोज की पङ्क्ति से ज्ञात होता है कि इनकी प्राप्ति सत्कवि को होती है क्योंकि वही काव्य का कर्ता है। लगभग यही भाव इनसे पूर्ववर्ती अन्य आचार्यों के निरूपणों में भी देखा जा सकता है। किन्तु पुनः प्रश्न उठता है कि पाठक को क्या मिलता है? आचार्य मम्मट ने अपने ग्रन्थ में जिन छः काव्यप्रयोजनों का उल्लेख किया है उनकी वृत्ति में लिख दिया है—

'...यथायोगं कवेः सहृदयस्य च करोतीति सर्वथा तत्र यतनीयम्।' अर्थात् यशःप्राप्ति, अर्थप्राप्ति, व्यवहारज्ञान, शिवेतरक्षति, रसास्वाद और उपदेश इन छः प्रयोजनों में से आवश्यकतानुसार कुछ कवि तथा सहृदय को प्राप्त हुआ करते हैं। काव्यप्रकाश के व्याख्याकारों ने इनमें से यश तथा अर्थ की प्राप्ति और शिवेतरक्षति को मुख्यतः कविनिष्ठ तथा शेष को मुख्यतः रसिकनिष्ठ स्वीकार किया है। पूर्वाचार्यों ने यह विभाग नहीं किया है, तथापि यह तथ्य स्वभावतः सिद्ध है कि कवि को पाठक का रसबोध नहीं हो सकता। उसे प्राप्त हो सकता है केवल कर्तृत्व का सन्तोष। यदि वह पुनः अपने काव्य का आनन्द लेना चाहता है तो उसे पाठक अथवा सामाजिक की कोटि तक उतरना पड़ेगा। किसी ने तो स्पष्ट कहा था कि—कवितारसमाधुर्यं कविर्वेत्ति न तत्कविः। भवानी भ्रुकुटीभङ्गं भवो वेत्ति न भूधरः॥ सरस्वतीकण्ठाभरण के व्याख्याकार रत्नेश्वर ने रत्नदर्पणटीका में लिखा है कि—'प्रीतिः सम्पूर्णकाव्यार्थस्वादसमुत्थः आनन्दः, काव्यार्थभावनादशायां कवेरपि सामाजिकत्वाङ्गीकारात्।' अतः इसका स्पष्टार्थ यह हुआ कि सत्काव्य का कवि रचना करने के कारण अक्षयकीर्ति पाता है तथा काव्यार्थ की भावना करने पर पाठकों-सा रसचर्वणा का अतुल आनन्द भी। इस आनन्द की उपलब्धि के लिए उसे परमुखापेक्षी नहीं होना पड़ता, वह उसके अधीन ही रहता है। यदि प्रीति का विस्तृत अर्थ भी लिया जाये तो भी रसानुभूतिजन्य आनन्द में अव्याप्ति नहीं होगी।

दोष-निरास—भोज ने काव्य में सर्वाधिक अपेक्षा निर्दोषता की की है। उनको दोषयुक्त काव्य स्वीकार्य नहीं। इसीलिए 'क्या होना चाहिये' इसका वर्णन तो उन्होंने बाद में किया है किन्तु 'क्या नहीं होना चाहिये' इसका सर्वप्रथम। महर्षि पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में दोषों की गणना असंख्य कहकर शुद्ध शब्दों की रचना-विधि पर बल दिया और उनकी ही गणना प्रारम्भ की, किन्तु यहाँ की धारा ही उलटी है। कारण भी स्पष्ट है। शब्दों में दोष अनेक प्रकार आ सकते हैं, क्योंकि वे वस्तुतः असंख्य हैं, अपरिमित हैं, किन्तु काव्य में दोषों की संख्या तथा प्रकार बहुत हो सकते हैं किन्तु असंख्येय नहीं। एक निश्चित मान्यता के अनुसार होने वाली रचना में सम्भव दोष गिनाये तो जा ही सकते हैं।

भोजराज की स्पष्ट घोषणा है कि—

एवं पदानां वाक्यानां वाक्यार्थानां च यः कविः। दोषान् हेयतया वेत्ति स काव्यं कर्तुमर्हति॥१।५८॥

इनके पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी काव्य की निर्दोषता पर बहुत ही बल दिया है। अलंकारशास्त्र के प्रमुख आचार्य भामह ने पहले ही उपदेश दिया था कि—

सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत्। विलक्ष्मणा हि काव्येन दुःसुतेनेव निन्द्यते॥ १।११॥

इसी सन्दर्भ में उन्होंने जितनी ही अधिक सत्काव्य के कारण कवि के यश की प्रशंसा की है, उतनी ही दुष्टकाव्य के कारण अपकीर्ति की निन्दा भी। आचार्य दण्डी भी दोष-निरास को अपरिहार्य मानते हैं। उनका मत है कि—

गौर्गौः कामदुघा सम्यक् प्रयुक्ता स्मर्यते बुधैः। दुष्प्रयुक्ता पुनर्गौत्वं प्रयोक्तुः सैव शंसति॥
तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन। स्याद् वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्॥१।६-७॥

यही कारण है कि भोजराज ने दोषों का निराकरण अत्यन्त आवश्यक माना है।

दोष—आशा की जाती थी कि ग्रन्थकार दोष-सामान्य की परिभाषा देने के बाद दोष-विशेष का साङ्गोपाङ्ग निरूपण करेंगे, किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। इनके लक्षणों से तो ऐसा प्रतीत होता है कि पद, वाक्य तथा वाक्यार्थों में जिन्हें नहीं आना चाहिए वही दोष हैं, किन्तु यह कोई

परिभाषा नहीं हुई। यह बात यहाँ बहुत खटकती है। लगता है कि ग्रन्थकार ने यहाँ भी समीक्षा के क्षेत्र में सामान्यतः स्वीकृत दोष-व्याख्या तथा दोष-स्वरूप को ही मनमें स्वीकार करके विशेष झगड़ा न खड़ा कर विशिष्ट-विशिष्ट दोषों का सोदाहरण निरूपण प्रारम्भ कर दिया।

भारतीय समीक्षा के प्रायः सभी सिद्धान्तों और सम्प्रदायों में कुछ न कुछ ऐसे तत्व अवश्य ही हेय माने गए हैं जिनका निरास करना काव्य के प्राण को अक्षत बनाये रखने के लिए आवश्यक है। रसाचार्य भरत ने भी दोष माने हैं। आनन्दवर्धन ने पहले ही घोषित किया था—'अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्'। अग्निपुराण ने उद्वेगजनकता को ही दोष माना है—'उद्वेगजनको दोषः'। रीतिमार्ग के आचार्य वामन की भी दोषधारणा स्पष्ट है। वह रीति को काव्य की आत्मा तथा गुण को उसका उन्नायक समझते हैं। जिस प्रकार एक औचित्यवादी की दृष्टि में अनौचित्य से बढ़कर दूसरा अपकारी नहीं हो सकता उसी प्रकार रीतिगुणवादी के लिए अरीतित्व, अगुणत्व आदि से बढ़कर दूसरा दोष नहीं हो सकता। उनके अनुसार 'गुणविपर्ययात्मानो दोषाः' हैं। ध्वनिवादी आचार्य मम्मट ने मुख्यार्थ के अपकर्षक को दोष माना है। उनके अनुसार रस का वाचक होने से—व्यञ्जक होने से—वाच्यार्थ भी उपचारतः लिया जा सकता है। अपने काव्यप्रकाश में उन्होंने अपनी स्थिति स्पष्ट कर ली है—

मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद् वाच्यः।
उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्याः तेन तेष्वपि सः॥

रसवादी आचार्य विश्वनाथ ने अपना पक्ष और भी स्पष्ट रखा है। उनके अनुसार तो—'रसापकर्षका दोषाः।' और 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्, दोषास्तस्यापकर्षकाः।' अलंकार सम्प्रदाय के आचार्य भामह ने 'दुष्टं च नेष्यते' कहकर और आचार्य दण्डी ने भी तीसरे परिच्छेद के १२६ वें छन्द के उत्तरार्ध में 'वर्ज्याः काव्येषु सूरिभिः' तो कहा किन्तु कारण नहीं स्पष्ट किया। भामह का 'नेष्यते'-(अभीष्ट नहीं है), और दण्डी के 'वर्ज्याः' ('वर्जनीय हैं',) भोजराज के 'हेयाः' ('त्यागने योग्य हैं') के अधिक निकट हैं।

इसमें कोई विवाद नहीं है कि कुछ कारणों से काव्य उत्कृष्ट हो जाता है और कुछ कारणों से अपकृष्ट, इनमें प्रथम गुण तथा दूसरा अवगुण या दोष है, किन्तु विवाद प्रारम्भ हो जाता है काव्यस्वरूप के विषय में मतवैभिन्न्य के कारण। सभी भारतीय आलंकारिकों ने अपने अपने सम्प्रदाय के अनुसार काव्य की आत्मा भिन्न-भिन्न माना है। अतः आन्तरिक सम्बन्ध के कारण गुण और दोष सीधे उसी से सम्बद्ध होने के कारण भिन्न से हो उठते हैं, यद्यपि अन्ततः सबका उद्देश्य आनन्दोपलब्धि है और उसमें बाधा पहुँचाने वाले सर्वत्र अनपेक्षित होते हैं। भोज समन्वयवादी रसशास्त्री हैं। अतः वह सभी सम्प्रदायों के उपयोगी तत्त्वों को ग्रहण कर अपने अनुसार रसानुगुण ढालते हैं। इनके द्वारा चर्चित दोषों में प्रायः सभी दोषों का समावेश हो जाता है। दोषों के निरूपण के प्रसंग में परिभाषा में यह अवश्य अपने पूर्ववर्ती भामह और दण्डी के अनुगामी प्रतीत होते हैं, किन्तु वर्गीकरण के सिद्धान्त इनके निजी ही हैं।

काव्य के ये अनपेक्षित, हेय, वर्ज्य अथवा 'नेष्ट' दोष काव्य, रस, वाच्यार्थ अथवा अभिमत-प्रतीति के परिपन्थी तत्त्व किन रूपों में हानि पहुँचा कर अपकर्ष करते हैं, उसका सुष्ठु विवेचन काव्यप्रदीप में उपलब्ध होता है। उसके अनुसार—'नीरसे तु अविलम्बितचमत्कारिवाक्यार्थप्रतीतिविघातका एव हेयाः।' अर्थात् काव्य के दुष्ट होने पर काव्यास्वाद में विलम्ब होता है, काव्य का आस्वाद ही नहीं मिलता है अथवा काव्य की उत्कृष्टता समाप्त हो जाती है। काव्य का चमत्कार प्रतीत ही नहीं होता है। अतः भोज के अनुसार भी वे अनपेक्षित तत्त्व ही हैं जिनके आने से उपर्युक्त तीन प्रकार की त्रुटि समवेत अथवा पृथक् रूप से काव्य में आ जाया करती हैं।

दोषों का वर्गीकरण—आचार्य भरत से लेकर अर्वाचीन समीक्षकों तक सभी ने दोषों की गणना करके संख्या तक का उल्लेख किया है। वर्गीकरण भी उपलब्ध होते हैं। भरत ने केवल दस दोष स्वीकार किये हैं। वे प्रायः सभी शब्द दोष ही हैं। उनके द्वारा गिनाये गए दोष ये हैं—

'गूढार्थमर्थान्तरमर्थहीनं भिन्नार्थमेकार्थमभिप्लुतार्थम्।
न्यायादपेतं विषमं विसन्धि शब्दच्युतं वै दश काव्यदोषाः॥'

भामह ने 'प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तहीनं दुष्टं च नेष्यते' कहकर पूर्वनिर्दिष्ट दोषों की अपेक्षा तीन दोष और माने हैं। किन्तु दण्डी ने केवल दस ही स्वीकार किये हैं। उनके अनुसार—

अपार्थं व्यर्थमेकार्थं ससंशयमपक्रमम्। शब्दहीनं यतिभ्रष्टं भिन्नवृत्तं विसन्धिकम्॥
देशकालकलालोकन्यायागमविरोधि च। इति दोषा दशैवैते वर्ज्याः काव्येषु सूरिभिः॥
प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तहानिर्दोषो न वेत्यसौ। विचारः कर्कशः प्रायस्तेनालीढेन किं फलम्॥३।१२५-२७॥

भोज के परवर्ती मम्मट और विश्वनाथ आदि ध्वनि तथा रसवादी समीक्षकों ने पूर्वाचार्यों की भांति केवल शब्द अथवा अर्थ दोष ही नहीं माना है। उनके अनुसार दोषों के पाँच आश्रय होने से पाँच विभाग किए जा सकते हैं। विश्वनाथ के अनुसार—

रसापकर्षका दोषास्ते पुनः पञ्चधा मताः। पदे तदंशे वाक्येऽर्थे सम्भवन्ति रसेऽपि यत्॥ ७।१॥

मम्मट ने विश्वनाथ सा पृथक् संख्या निर्देश नहीं किया अपितु दोषों का लक्षण सामान्य बतला कर विभिन्न प्रकार के दोषों की गणना और उदाहरण दिया है। विश्वनाथ पर मम्मट का सीधा प्रभाव है।

भोज में दोनों अतिरेकों का परित्याग है। उन्होंने वर्गीकरण तथा संख्या दोनों में अपनी ही विचारस्वतन्त्रता का परिचय दिया है। इनके अनुसार पद, वाक्य तथा वाक्यार्थ में दोष संभव हैं।

भोज का वर्गीकरण भी समीचीन है। वस्तुतः पदांशदोष भी पददोष ही है, अतः वह पृथक् वर्णनीय नहीं। उसका अन्तर्भाव पददोषों में हो जाता है। जहाँ तक रस-दोष का प्रश्न है, उसकी भी स्थिति स्पष्ट ही है। यदि मम्मट रसरूप मुख्यार्थ का आश्रय होने से वाच्यार्थ तथा शब्दों का ग्रहण कर सकते हैं, तो भोज केवल पद, वाक्य अथवा वाक्यार्थ मात्र के दोषों की गणना करके, रस के आश्रय इनके ही दोषों से रस में अपकृष्टता आने से पृथक रसदोष की चर्चा नहीं कर सकते। सूक्ष्म विवेचन से ज्ञात हो जाता है कि दोषों का रस से साक्षात् सम्बन्ध नहीं है, और न सम्बन्ध ही नित्य है। दोष काणत्व, खञ्जत्व की भाँति काव्यशरीर शब्द तथा अर्थ के माध्यम से रस में अपकर्ष लाते हैं। वामन ने दोषों को गुण विपर्यय कहा है। उससे भी यह अर्थ निकल सकता है कि दोष केवल गुण के उलटे ही नहीं हैं अपितु गुणों के सम्बन्ध के विपरीत उनका सम्बन्ध भी अनित्य ही है। इस प्रकार जैसे पद, वाक्य और अर्थ के माध्यम से रसानुभूति होती है, उसी भाँति इनमें ही दोष आ जाने से रस भी दोषवर्जित नहीं रह पाता। वस्तुतः तो जब सभी दोषों का उद्देश्य ही रसापकर्ष करना है—रसवादी की दृष्टि में—तब अलग से रसदोषों की गणना करना ही असंगत है। परवर्ती आचार्यों द्वारा गिनाये गए रस के स्वपदवाच्यता आदि दोषों का अन्तर्भाव पद, वाक्य तथा वाक्यार्थ दोषों में हो जाता है। अतः पद, वाक्य तथा वाक्यार्थ इन तीन विभागों में दोषों का भोजकृत वर्गीकरण महत्वपूर्ण एवं विवेकपरिचायक है।

पदों से वाक्य बनने के कारण, तीनों प्रकार के दोषों का उल्लेख मात्र करके, भोज ने लक्षण तथा उदाहरण दे देकर, पददोषों का विशद वर्णन किया है।

निर्दोषमिति। प्रीतिः संपूर्णकाव्यार्थस्वादसमुत्थ आनन्दः काव्यार्थभावनादशायां कवेरपि सामाजिकत्वाङ्गीकारात्। सहृदयश्लाघया वा प्रीतिस्तदृष्टं प्रयोजनम्। कीर्तिरदृष्टद्वारा स्वर्गफलेत्यदृष्टम्। यदाह—'कीर्तिं स्वर्गफलामाहुः' इति। अङ्गिनः काव्यस्य प्रयोजनान्वाख्यानेनाङ्गभूतस्यास्य प्रयोजनसंबन्ध उक्तः। यद्यपि काव्यशब्दो दोषाभावादिविशिष्टावेव शब्दार्थौ ब्रूते, तथापि लक्षणया शब्दार्थमात्रे प्रयुक्तः। लक्षणाप्रयोजनं चाभिधेयानामुद्देशः। त्रिधा हि शास्त्रशरीरम्—'उद्देशः, लक्षणम्, परीक्षा चे'ति। उदाहरणव्याख्याग्रन्थः सर्वत्र परीक्षापर इत्यस्मद्गुरवः। प्रयोजनाभिसम्बन्धपरादेवोद्देशो लभ्यत इति न विरोधः। अत एव दोषाद्युद्देशक्रमेण परिच्छेदाः। निर्दोषं दोषात्यन्ताभाववत्, अवयवैकदेशवर्तिना श्वित्रेणेव कामिनीशरीरस्य वर्णमात्रगतेनापि दोषेण काव्यवैरस्यनियमात्। अत एवामङ्गलप्रायाणामपि दोषाणां प्रथममुपादानम्। अयमेव हि प्राचः कवेर्व्यापारो यद्दोषहानं नाम। गुणवदिति। भूम्नि प्रशंसायां वा मतुप्। अलंकृतमित्येव वक्तव्येऽलङ्कारैरिति प्रसिद्धालङ्कारपरिग्रहार्थम्। तथालङ्कारैरित्येव वाच्ये प्रसिद्धानामपि वक्ष्यमाणानामेवोपादानार्थमलंकृतपदम्। रसान्वितं रसेन नित्यसम्बद्धम्। 'नास्त्येव तत्काव्यं यत्र परम्परयापि विभावादिपर्यवसानं न भवति' इति काश्मीरिकाः। एतेन काव्यलक्षणमपि कटाक्षितम्। ईदृशं काव्यं तत्कुर्वन्। कविरिति कवेरपि लक्षणमिति॥ २॥

अथोद्देशक्रमेण दोषाणां सामान्यलक्षणं विभागं चाह—

दोषाः पदानां वाक्यानां वाक्यार्थानां च षोडश।
हेयाः काव्ये कवीन्द्रैर्ये तानेवादौ प्रचक्ष्महे॥ ३॥

अनुवाद—पदों, वाक्यों तथा वाक्यार्थों के (प्रत्येक के पृथक् पृथक्) सोलह-सोलह दोष होते हैं। अच्छे कवियों द्वारा वर्जनीय जो ये दोष हैं, (गुण, अलंकार, रस आदि की अपेक्षा) पहले उन्हीं को कहते हैं॥ ३॥

स्व० भा०—द्वितीय कारिका में काव्य लक्षण वाले छन्द में काव्य के विशेषणों के क्रम में दोषों का ही उल्लेख सर्वप्रथम हुआ है। अतः सबसे पहले उसी का वर्णन क्रमानुसार प्राप्त भी है। इसी लिए भोज दोषों का ही निरूपण कर रहे हैं। काव्यशास्त्र के अन्य ग्रन्थों में आचार्यों ने काव्य, उसके प्रकार, रस, गुण आदि का यथास्थान यथायोग्य समावेश करने के पश्चात् ही दोष प्रकरण प्रारम्भ किया है, किन्तु भोज की दृष्टि दोषों को हटाने के लिए अचल है।

दोषाः पदानामिति। हेया इत्यनेन सामान्यलक्षणम्। ये हेयास्ते दोषा इत्यभिप्रायात्। अभिमतप्रतीतिव्यवधायकतया विघ्नभूतः शश्वत्काव्ये हेयतामासादयति स एव दोषः। अयमेवार्थः 'मुख्यार्थहतिर्दोषः—' इति पदेनान्येषामभिमतः। स च पद-वाक्य-वाक्यार्थविषयतया पूर्वं त्रिविधः। पदपूर्वकत्वाद्वाक्यस्य तत्पूर्वकत्वाद्वाक्यार्थस्य युक्तः क्रमः। वर्णमात्रदोषो नोल्लेखीत्युपेक्षितवान्। अवान्तरविभागे तु क्रियमाणे प्रत्येकं षोडशभिरुपाधिभिः सङ्कुलमित्याह—षोडशेति। काव्यप्रकाशकारादिभिरुक्तानामधिकानामिहान्तर्भावः। अनन्तर्भावे तु दोषत्वमेव नास्तीत्यभिप्रायः, न तु देशीयरागन्यायेन स्वमतप्रकाशनम्। प्रतीतिव्यवधायकानां सर्वदा तद्रूपत्वात्। उक्तमेवाभिसन्धानम्—तानेवादाविति॥ ३॥

विभागमन्तरेण विशेषलक्षणानवतारात्पददोषान् विभजते—

असाधु चाप्रयुक्तं च कष्टं चानर्थकं च यत्।
अन्यार्थकमपुष्टार्थमसमर्थं तथैव च॥ ४॥

अप्रतीतमथ क्लिष्टं गूढं नेयार्थमेव च ।
सन्दिग्धं च विरुद्धं च प्रोक्तं यच्चाप्रयोजकम् ॥ ५ ॥
देश्यं ग्राम्यमिति स्पष्टा दोषाः स्युः पदसंश्रयाः ।

अनुवाद-पददोष—(१) असाधु (२) अप्रयुक्त (३) कष्ट (४) अनर्थक (५) अन्यार्थक (६) अपुष्टार्थ उसी प्रकार (७) असमर्थ (८) अप्रतीत (९) क्लिष्ट (१०) गूढ (११) नेयार्थ (१२) सन्दिग्ध (१३) विरुद्ध तथा जिसे (१४) अप्रयोजक कहते हैं वह (१५) देश्य (१६) ग्राम्य ये पद पर आश्रित रहने वाले स्पष्ट (सोलह) दोष हैं। (पदाश्रित होने के कारण इन्हें पददोष कहा जाता है।) ॥ ४-५ अ ॥

असाध्विति । मुख्यार्थहतौ मिथोऽनपेक्षसूचनया समासः । अत एव लाघवेऽनादरः । कथं पदप्रतीकदोषा न गण्यन्त इति शङ्कामभिप्रेत्याह—स्पष्टा इति । पदसंश्रयाः पदान्वयव्यतिरेकानुविधायिनः । एवं वाक्यादावपि गुणादावपीदमेवाश्रितत्वम् ॥ ४-५ ॥

विभागप्रयोजनमाह—

अथैषां लक्षणं सम्यक्सोदाहरणमुच्यते ॥ ६ ॥

अनुवाद—(इनकी नाम गणना के) पश्चात् भलीभाँति इनके लक्षण तथा उदाहरण कहे जा रहे हैं ॥ ६ ॥

स्व० भा०—भरत ने कुल मिलाकर दस, भामह ने तेरह तथा दण्डी ने दस दोष माने हैं जब कि भोज ने केवल पददोष ही सोलह माना है। परवर्ती विश्वनाथ ने भी सोलह पददोष तथा पाँच पदांशगत दोषों को स्वीकार किया है। मम्मट ने तो पदांशगत ६ दोष तथा पदगत सोलह ही दोष माना है।

अथैषामिति । परीक्षां प्रतिजानीते—सम्यगिति । लक्षणदोषशून्यं लक्षणानुपपत्तिनिर्णजननमेव हि परीक्षापदार्थः । कथमेतत्सम्पत्स्यते इत्यत आह—सोदाहरणमिति ॥ ६ ॥

शब्दस्वरूपलक्षणः प्रथमनिरस्यो दोष इत्याशयेन प्रागुद्दिष्टस्यासाधोर्लक्षणमाह—

(१) पदगत असाधु दोष

शब्दशास्त्रविरुद्धं यत्तदसाधु प्रचक्षते ।

यथा—

'भूरिभारभराक्रान्त बाधति स्कन्ध एष ते ।
तथा न बाधते स्कन्धो यथा बाधति बाधते ॥ १ ॥

अत्र बाधतेरात्मनेपदित्वाद् 'बाधते' इति स्यात्, न पुनर् 'बाधति' इति ॥

अनुवाद—जब कोई पद शब्दशास्त्र के नियमों के विपरीत होता है, तब वहाँ असाधुत्व दोष कहा जाता है ॥ ७ अ ॥

जैसे—हे अत्यधिक भार से दबे हुए वाहक! क्या तुम्हारा यह कंधा दुःख दे रहा है? (वह उत्तर देता है)-कंधा उतना अधिक कष्ट नहीं दे रहा है जितना कि बाध् धातु का 'बाधति' रूप ॥ १ ॥

स्व० भा०—व्याकरणशास्त्र को शब्द अथवा पद शास्त्र कहा जाता है। उसमें पद-सम्बन्धी नियमों का निर्देश है। सभी लोग पदों का प्रयोग उन्हीं रूपों में करते हैं जैसा वहाँ विहित है।

उसके विपरीत प्रयोग करना अशुद्धता है। उसी अशुद्ध रूप के प्रयोग को भोज ने काव्य में असाधुत्व दोष की संज्ञा दी है। मम्मट इस दोष को च्युतसंस्कृति कहते हैं और लक्षण देते हैं—'च्युतसंस्कृति व्याकरणलक्षणहीनम्'। यही परिभाषा विश्वनाथ की भी है। पूर्ववर्ती आचार्य दण्डी ने इसे 'शब्दहीनत्व' दोष कहा है। उनके ही शब्दों में—

शब्दहीनमनालक्ष्यलक्ष्यलक्षणपद्धतिः। पदप्रयोगोऽशिष्टेष्टः शिष्टेष्टस्तु न दुष्यति ॥ ३।१४८ ॥

वस्तुतः शब्दहीनत्व नाम उतना उचित नहीं प्रतीत होता है जितना 'असाधुत्व' या 'च्युतसंस्कृति'। 'साधु' और 'असाधु' पद व्याकरण जगत् में विशेष अर्थ में प्रयुक्त होते हैं जिसका अभिप्राय होता है व्याकरण के नियमों के अनुरूप अथवा विरुद्ध। शास्त्र-विशेष से सम्बद्ध पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग तत्सम्बद्ध सन्दर्भों में उचित ही है। मम्मट और विश्वनाथ द्वारा प्रयुक्त शब्द भी अधिक सरलतापूर्वक अर्थज्ञान करा देते हैं। लोकदृष्टि से इनका प्रयोग अच्छा है।

प्रस्तुत उदाहरण में व्याकरण विरुद्ध प्रयोग करके स्पष्टीकरण किया गया है। वस्तुतः 'बाधृ लोडने' भ्वादिगणीय धातु का प्रयोग आत्मनेपद में होता है। यही रूप व्याकरणसम्मत है। इसका परस्मैपद की धातु की भाँति प्रयोग करना नियम विरुद्ध है। अतः यहाँ असाधुत्व दोष है।

कथा—प्रस्तुत उदाहरण एक कथा से सम्बद्ध है। उस कथा में हुए प्रश्नोत्तर के श्लोक रूप में ही यह छन्द प्रयुक्त हुआ है। यह कथा शार्ङ्गधरपद्धति में है। इस ग्रन्थ में अनेक चमत्कारपूर्ण साहित्यिक चुटकुलों का संग्रह है। कहा जाता है कि एक बार गुणरत्नपारखी एवं सहृदय धाराधीश भोज पालकी में बैठकर कहीं जा रहे थे। उनकी पालकी को उठाने वाला एक व्यक्ति नया ही था। उसको पहले कभी पालकी लेकर चलने का अभ्यास नहीं था, अतः वह क्षण-क्षण में अपना कंधा बदल रहा था। उसका कन्धा दर्द कर रहा था। पालकी में बैठे महाराज यह दृश्य देख रहे थे। उनसे रहा न गया। उन्होंने उस नववाहक से पूछा—भूरिभारभराक्रान्त बाधति स्कन्ध एष ते—हे अत्यधिक भार से दबे जा रहे वाहक! क्या तुम्हारा कन्धा दुःख दे रहा है? उनके प्रश्न को सुनकर और 'बाधृ' धातु का परस्मैपदीय प्रयोग देखकर वह विद्वान् भारवाह् तिलमिला उठा। बिना विचारे कि कौन बैठा है और किससे बात हो रही है—उसने तत्काल कह दिया कि महाराज, इस समय तो कन्धा उतना कष्ट नहीं दे रहा है जितना कि बाध् धातु का परस्मैपद में प्रयोग। उसका रूप बाधते बनता है वही साधु है। 'बाधति' रूप तिप् लगाकर तब बनता जब कि वह परस्मैपद का होता। नियम विरुद्ध होने से यह प्रयोग असाधु है, अतः **दोष है।**

शब्देति। **शब्दाः शिष्यन्ते प्रकृतिप्रत्ययविभागपरिकल्पनया ज्ञाप्यन्ते येन तच्छब्दशास्त्रं त्रिमुनिव्याकरणं तेन विरुद्धं तदाम्नातप्रातिस्विकविशेषपरित्यक्तमतो न देशीयपदानामसाधुत्वम्। तथा च प्राच्यैः—'नाथते कुचयुगं पत्राावृतं मा कृथाः' इति अन्यकारकवैयर्थ्यमिति, 'सलीलपाणिद्वयलोलनालमानर्तितात्राम्रदलं दधन्तीम्' इति च तादृशमेवोदाहृतम्। अत्र केचिदाहुः—'बाधतिधातुं संस्कारप्रच्यावनेन बाधते इति बाधतिबाधस्तस्य सम्बोधनं बाधतिबाधेति। ते तव। वचनमिति शेषः' इति, तदसत्। नेयार्थत्वप्रसङ्गात्। अन्ये तु 'वाधतिर्बाधते यथा' इति पठन्ति। इदं तत्त्वम्। विद्यमानस्यार्थवत्त्वस्याविवक्षायां गवित्ययमाहेत्यादाविव प्रातिपदिकसंज्ञा न प्रवर्तते ॥ ७ ॥**

(२ अप्रयुक्त पद-दोष)

कविभिर्न प्रयुक्तं यदप्रयुक्तं तदुच्यते ॥ ७ ॥

यथा—

'कामचीकमथाः केऽमी त्वामजिह्मायकीयिषन्।
स सस्ति किं वचन्तीमे कम्बः शम्बं धरिष्यति ॥ २ ॥'

अत्र 'अचीकमथाः', 'अजिह्वायकीयिषन्', 'सस्ति', 'वचन्ति', 'धरिष्यति', 'कम्बः', 'शम्बम्' इति शब्दानुशासनसिद्धान्यपि कविभिर्न प्रयुज्यन्ते ।

अनुवाद—(व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध होने पर भी) जिसका कवियों द्वारा प्रयोग नहीं किया जाता है (उस पद का प्रयोग करने पर जो दोष होता है) उसे अप्रयुक्त दोष कहते हैं ॥ ७ ॥

जैसे तुम दोनों ने किस नायिका को चाहा ? ये कौन हैं जो तुम्हें अपना ह्रायक-दूत बनाना चाहते थे ? वह सोती है । ये क्या कहते हैं ? मेघ तालाब को सींच देंगे-भर देंगे[1] ॥ २ ॥

यहाँ इस श्लोक में 'अचीकमथाः', 'अजिह्वायकीयिषन्', 'सस्ति', 'वचन्ति', 'धरिष्यति', 'कम्बः', 'शम्बम्' ये शब्द व्याकरण के नियमों के अनुसार बनने पर भी कवियों द्वारा प्रयुक्त नहीं होते ।

स्व० भा०—व्याकरण के नियमों के विरुद्ध किसी पद का प्रयोग करना तो दोष है ही, किन्तु उसके नियमानुकूल होने पर भी यदि कोई पद सामान्य प्रयोग प्रवाह में नहीं है तो उसका प्रयोग करने पर भी दोष होता है । प्रस्तुत उदाहरण में अनेक पदों का प्रयोग करके बतलाया गया है, कि ये पद व्याकरण के नियमों के अनुकूल होने पर भी दोष मुक्त नहीं हैं । कमि धातु का लुङ् लकार में द्विवचन मध्यम पुरुष में सन्वद्भाव, दीर्घत्व, ह्रस्वत्व आदि के अतिरिक्त णित्व विधान तथा लोप करने से 'अचीकमथाः' पद बनता है । यह व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध है, किन्तु इसका प्रयोग कवियों द्वारा नहीं किया जाता । अतः दोष है । इसी प्रकार ह्रायक शब्द से क्यच्, सन् आदि करके लङ् में 'अजिह्वायकीयिषन्' रूप बनता है । 'षस सस्ति स्वप्ने' धातु का लट् अन्य पुरुष में 'सस्ति' रूप नियमानुकूल बन जाता है । 'वच परिभाषणे' धातु से बहुवचन में 'वचन्ति' रूप भी बन ही जाता है । 'कम्' तथा 'शम्' पद जलवाचक हैं । इनसे 'कंशंभ्यां वभयुस्तितुतयसः' ५।२।१३८ सूत्र के अनुसार मत्वर्थीय प्रत्यय लगाकर 'कंबः', 'शंबः' रूप बनते हैं । 'घृ सेचने' धातु का भी सामान्य भविष्यत् में एक वचन प्रथम पुरुष का 'धरिष्यति' रूप बनता है । ये सभी रूप अपेक्षित नियमानुसार पूर्ण शुद्ध हैं, दोष इसीलिए है क्योंकि इनका प्रयोग प्रचुरता से कवि-समुदाय में नहीं होता ।

भोजराज के पूर्ववर्ती आचार्यों में दण्डी ने इस दोष पर स्पष्ट मति प्रकट की है । अप्रयुक्तत्व-दोष इनको अभिमत 'शब्दहीनत्व' दोष का एक प्रकार कहा जा सकता है ।

शब्दहीनमनालक्ष्यलक्ष्यलक्षणपद्धतिः । पदप्रयोगोऽशिष्टेष्टः शिष्टेष्टस्तु न दुष्यति ॥ ३।१४८ ॥

भोज के परवर्ती मम्मट, जयदेव, विश्वनाथ आदि ने इस दोष को इसी अर्थ एवं रूप में ग्रहण किया है, किन्तु भोज की परिभाषा तथा उदाहरण दोनों सर्वोत्कृष्ट हैं । यह दोष प्रायः पण्डितम्मन्य लोगों में पाया जाता है ।

कविभिरिति । **अस्ति हि किञ्चित्पदं यत्राप्रयोज्यत्वेनैव हेयता । यद्येवं लोके प्रयुज्यमानस्य साधुतैव प्रसक्ता इत्यत उक्तम्—कविभिरिति । काव्ये यस्याप्रयोज्यत्वमेव दुष्टत्वबीजं तदित्यर्थः । तथाभूता च पदजातिरलङ्कारकारसमयादवसीयते । तथा चैकेन पुंदैवतशब्दोऽपरेण चीर्णशब्द उदाहृतः । एवमन्यदप्यप्रयुक्तमित्याशयवान् किञ्चिदुदाहरति—कामचीकमथा इति । उदाहरणत्वान्नैकोऽत्र श्लोको गवेष्यः । एकपदमात्रप्रयोगस्तु त्याज्यः समयविरोधाभावादित्याराध्याः । 'अचीकमथाः' इति कमेर्णिङन्तस्य लुङि चङि**

---

१. कहीं-कहीं 'शम्बः कम्बम् धरिष्यति' पाठान्तर मिलता है । वहाँ इसका अर्थ होगा कि 'कोई कल्याणवान् पुरुष कपाली को सींचेगा ।'

द्विर्वचनसन्वद्भावदीर्घत्वहस्वत्वणिलोपेषु रूपम् । कां नायिकां कामितवानसीत्यर्थः। अमी च के स्वामात्मनो ह्रायकमेषितुमिष्टवन्तः। ह्रायकशब्दात् क्यच्। ततः सन्। ततो लडि अजिह्रायकीयिषन्निति रूपम्। स कश्चित् सस्ति स्वपिति। 'षस सस्ति स्वप्ने' इति धातोः रूपम्। कम्बः शम्बमिति। कंशंशब्दौ जलवाचकौ ताभ्याम्। 'कंशंभ्यां बभयुस्तितुतयसः' इति मत्वर्थीयो बप्रत्ययः। तत्राद्येन जलधरो जलाशयं सेचयतीत्यर्थः। 'शम्बः कम्बन्' इति क्वचित्पठ्यते। तत्र कल्याणवान् कपालिनं सेचयतीत्यर्थो बोद्धव्यः। 'घृ सेचने' इत्यस्य धातोर्घरिष्यतीति रूपम्। स हि धातुः 'घृतघृणाघर्मेभ्यो नान्यत्र युज्यते' इति पूर्वाचार्याः। कविभिरित्यनेनासाधुशङ्का व्यावर्तितेत्याह—शब्दानुशासनसिद्धान्यपीति।

(३ कष्ट दोष)

पदं श्रुतेरसुखदं कष्टमित्यभिशब्दितम्।

यथा—

'वर्वर्ष्टि जलदो यत्र यत्र दुर्धर्ष्टि चातकः।
पोफुल्लति नीपः कालोऽयं चर्कर्ति हृदयं मम ॥ ३ ॥'

अत्र वर्वर्ष्टर्यादीनि क्रियापदानि श्रुत्यसुखदानि श्रूयन्ते ॥

अनुवाद—(दुर्वाच्य वर्णों से बने पदों का उच्चारण कष्टता से होने के कारण) पद के कर्णप्रिय न होने से अथवा श्रोत्रेन्द्रिय को सुख न देने वाले कर्णकटु पद को, कष्ट (अर्थात् कष्टत्व दोष से युक्त) कहा गया है ॥ ८ अ ॥

जैसे—जहाँ-(जब)-बादल बार-बार बरसता है, जब चातक बार-बार धृष्टता करता है,[1] जब खूब कदम्ब फूलता है, वहीं यह (वर्षा) काल मुझ (विरही) के हृदय को बार-बार टुकड़े-टुकड़े किये दे रहा है ॥ ३ ॥

इस श्लोक में 'वर्वर्ष्टि' आदि क्रिया पद कानों को कष्टप्रद अथवा 'सुखकर नहीं' सुनाई पड़ते हैं।

स्व० भा०—प्रस्तुत उदाहरण में 'वर्वर्ष्टि', 'दुर्धर्ष्टि', 'पोफुल्लति', तथा 'चर्कर्ति इन चारों क्रियाओं में रेफ, षकार, टकार, धकार आदि कठोर वर्णों का संयोग हुआ है। इनको पढ़ते ही निकलने वाली संयुक्त ध्वनियाँ कानों को कष्ट ही देती हैं। वाक्य में प्रयुक्त सभी क्रियाओं क्रमशः वृष्, धृष्, अथवा 'दर्द्रष्टि' अवस्था में दृश्, फुल्, तथा 'कृती छेदने' के यङ् तथा लुङ् के रूप हैं। यहाँ अनेक पदों के होने से वाक्य दोष की संभावना की जा सकती है, किन्तु वस्तुतः वह है नहीं। एक प्रधान वाक्य में एक ही क्रिया होती है। इस उदाहरण में जितनी क्रियायें हैं उतने ही उपवाक्य हैं। एक वाक्य में एक ही पद कटु है। अतः पददोष ही हुआ।

आचार्य वामन ने इस दोष को इसी नाम से स्वीकार किया है। उनका 'श्रुतिविरसं कष्टम्' लक्षण भी (२।१।६) लगभग समान ही है। मम्मट ने इसे श्रुतिकटु (का० प्र० ७।२), जयदेव भी यही (चन्द्रा० २।२) तथा विश्वनाथ 'दुःश्रवत्व' नाम (सा० द० ७।२) देते हैं। प्रायः सर्वत्र समान ही भाव है। आचार्य भामह इसे 'श्रुतिदुष्ट' कहते हैं, तथा विभिन्न कारणों से श्रुतिदोष उत्पन्न करने वाले कई पदों का संग्रह भी करते हैं।[2]

---

१. 'दुर्धर्ष्टि' के स्थान पर 'दर्द्रष्टि' पाठ होने पर अर्थ होगा—'जब पपीहा बार-बार देखता है।'

२. विड् वर्चोविष्ठितक्लिन्नछिन्नवान्तप्रवृत्तयः। प्रचारधर्षितोद्गारविसर्गहृदयन्त्रिताः॥
हिरण्यरेता : सम्बाधः पेलवोपस्थिताण्डजाः। वाक्काटवादयश्चेति श्रुतिदुष्टा मता गिरः॥
काव्यालंकार १।४८-४९

पदमित्यादि । दुर्वचकवर्णारब्धपदं कष्टोच्चारणीयतया कष्टमुच्यते । श्रुतेरसुखदमिति दूषकताबीजोद्घाटनम् । कदर्थिता हि तेन श्रुतिशक्तिर्न तद्वाक्यप्रतीकपरामर्शत्वमेति । काव्यप्रकाशकृता पदैकदेशः कष्ट उक्तः, यथा—'तद्वच्छ सिद्धयै', 'अपेक्षते प्रत्ययमङ्गलब्ध्यै' इत्यत्र 'ध्यै' 'ध्यै' इति, तत्राह—पदमिति । न हि समस्तवस्तुकटुत्व एव पदं कष्टत्वमासादयति । कार्तार्थ्यमित्यादौ तदुदाहृते तदभावात् । एकदेशकष्टतया पदकष्टत्वमिति चात्रापि न दण्डवारितमिति भावः । वर्वर्ष्टि पुनः पुनर्वर्षति । वृषेर्यङ्लुगन्तस्य रूपम् । दर्धर्ष्टि पुनः पुनर्धृष्टो भवति । 'जिधृषा प्रागल्भ्ये' इत्यस्य तत्रैव रूपम् । 'दर्दृष्टि' इति पाठे दृशेर्यङ्लुक्यमागमे च रूपम् । पुनः पश्यति । नीपः कदम्बः । पोफुल्ल्ति । 'फुल्ल विकसने' इत्यस्य तत्रैव रूपम् । एवम्भूतो वर्षासमयो मम विदूरकान्तस्य हृदयं चर्कर्ति पुनः पुनरतिशयेन वा छिनत्ति । 'कृती छेदने' इत्यस्य रूपम् । भूयसां कष्टपदानां समभिव्याहाराद्वाक्यदोष इति भ्रान्तिः स्यात्तत्राह—क्रियापदानीति । कथमेवं विभागोऽवसीयत इत्यत आह—श्रूयन्त इति । श्रोत्रप्रत्यक्षेणैव पदमात्रगामितया कष्टत्वमनुभूयते इत्यर्थः ।

(४ अनर्थक दोष)

पादपूरणमात्रार्थमनर्थकमुदाहृतम् ॥ ८ ॥

यथा—

'बिभर्ति यश्च देहार्धे प्रियामिन्दुं हि मूर्धनि ।
स वै देवः खलु त्वां तु पुनातु मदनान्तकः ॥ ४ ॥'

अत्र 'च' 'हि' 'वै' 'खलु' 'तु' इत्येतानि पदानि पादानेव पूरयन्ति ॥

अनुवाद—(अर्थ में उपयोगी न होने पर भी छन्दोभङ्गता न आने देने के लिए) छन्द की पादपूर्ति के लिए ही किसी पद का प्रयोग करने पर 'अनर्थक पददोष कहा गया है ॥ ८ ॥

जैसे, जो अपने अर्धशरीर में अपनी प्रियतमा पार्वती तथा मस्तक पर चन्द्रमा को धारण करते हैं, वही कामविनाशकदेव भगवान् शिव आपको पवित्र करें ॥ ४ ॥

इसमें च, हि, वै, खलु, तु ये पद केवल चरणों की पूर्ति करते हैं ।

स्व०भा०—च, हि, तु आदि अव्यय हैं । इनका एक विशेष अर्थ होता है । किन्तु यहाँ पर इनके अर्थों के साथ वाक्यार्थ करना अत्यन्त असुन्दर होगा । अतः इनका प्रयोग केवल उदाहरण के अनुष्टुप् छन्द की छन्दोभङ्गता बचाने के लिए किया गया है । अनुष्टुप् में ८, ८ वर्णों के चार पाद होते हैं । इन अव्ययों का अर्थ न ग्रहण करने से वाक्यार्थ पर तनिक भी असर नहीं पड़ता, किन्तु इन पदों का प्रयोग न करने पर पद्य बन ही नहीं सकता । पाँच वर्णों की कमी बत्तीस वर्ण वाले छन्द में हो जाती और यह उदाहरण गद्यात्मक हो जाता । आचार्यों ने छन्दोभङ्गता बचाने को अधिक महत्व दिया है । 'मात्रस्यापि मषं कुर्यात्, छन्दोभङ्गं न कारयेत्' । इसका प्रमाण है । आश्चर्य है कि भामह, दण्डी, रुद्रट आदि ने इस दोष का उल्लेख नहीं किया है । वामन ने जो परिभाषा दी है—'पूरणार्थमनर्थकम्' (२।१।९) वह भोज के शब्द नाम से तो सारूप्य बताती ही है, उनके पद से अधिक व्यापक भी है । इसी सूत्र की वृत्ति में कथित—'पूरणमात्रप्रयोजनमव्ययपदमनर्थकम् । दण्डापूपन्यायेन पदमन्यदप्यनर्थमेव ।' पदों से स्पष्ट है कि अनर्थक किन्तु पादपूर्ति में सहायक ये पद प्रायः अव्यय होते हैं, किन्तु उपचारतः इनके स्थान पर अन्य प्रकार के पदों का भी प्रयोग किया

जा सकता है। जहाँ इनका प्रयोग वाक्यालङ्कारार्थ होता है, वहाँ ये दोष नहीं होते।[1] जयदेव का भी मत है कि—

दधार गौरी हृदये देवं हिमकराङ्कितम्।
अत्र श्लेषोदयान्नैव त्याज्यं हीति निरर्थकम्॥ चन्द्रालोक २।४४-५॥

मम्मट और विश्वनाथ ने भी इस दोष को 'निरर्थक' संज्ञा दी है।[2] इन दोनों का भी अभिप्राय भोज जैसा ही है। श्री रत्नेश्वर महोदय ने भोज की इसी पंक्ति की अपनी रत्नदर्पण व्याख्या में अव्यय के अतिरिक्त अन्य प्रकार के पदों की भी निरर्थकता का उल्लेख किया है।

पादपूरणेति। द्योतनीयमर्थमन्तरेण प्रयुक्तमव्ययमनर्थकमभिमतम्, अत एव प्राच्यैश्चादिपदमव्ययमिति प्रयोगबीजकथनार्थं नहि निर्मूलः प्रयोगः सम्भवति वृत्तिनिर्वहणसमर्थः। प्रायेणाव्ययपदानि क्षिप्त्वा तत्पूरयति। तदुक्तम्—'कुकविप्रबन्ध इव श्लिष्टपदप्रचारः। प्रकटतुहिनचयो जनाकीर्णश्च' इति। बिभर्तीति। च समुच्चयादिषु चतुर्षु प्रसिद्धप्रयोगो न च तेषामन्यतमोऽप्यत्र सम्भवति। नाप्युच्चावचार्थकः इति भाषणेनार्थान्तरमपि। एवं हिप्रभृतिष्ववसेयम्। एतेनैतदप्यपास्तम्। यदाहुरेके—पदादिविशेषानुपादानात्पदैकदेशोऽप्यनर्थकोऽभिमतः। तथा च—'आदावञ्जनपुञ्जलिप्तवपुषां श्वासानिलोल्लासितप्रोत्सर्पद्विरहानलेन च ततः सन्तापितानां दृशम्। सम्प्रत्येव निषेकमश्रुपयसा देवस्य चेतोभुवो भल्लीनामिव पानकर्म कुरुते कामं कुरङ्गेक्षणा।' इत्यत्र दृशामिति बहुवचनमनर्थकं कुरङ्गेक्षणाया एकस्या एवोपादानात्। न चात्र व्यापारे इक्शब्दो वर्तते, अञ्जनपुञ्जलेपादीनामनन्वयापत्तेः। तथा 'कुरुते' इत्यात्मनेपदमनर्थकमकर्त्रभिप्रायक्रियाफलादिति। अपि च। बहुत्वकर्त्रभिप्रायफलाभावे कथनं द्वयोरसाधुत्वमिति राजमार्ग एव भ्रमः। नहि स्वरूपत एव किञ्चिदसाधु साधु वा सम्भवति।

(५ अन्यार्थ दोष)

रूढिच्युतं पदं यत्तु तदन्यार्थमिति श्रुतम्।

यथा—

'विभजन्ते न ये भूपमालभन्ते न ते श्रियम्।
आवहन्ति न ते दुःखं प्रस्मरन्ति न ये प्रियाम्॥ ५॥

अत्र विभजतेर्वण्टने, आलभतेर्मारणे, आवहतेः करणे, प्रस्मरतेर्विस्मरणे रूढिः। न तु विशेषसेवायाम्, अभितो लाभे, समन्ताद्वहने, प्रकृष्टस्मरणे चेति।

अनुवाद—(जब) कोई पद (अपने परम्परया संकेतित अथवा सर्वमान्य अर्थसामान्य का ज्ञान न कराकर), अपने रूढिगत अर्थ से अलग हो जाता है तब वह अन्यार्थ अर्थात् अन्यार्थत्व दोष से युक्त सुना जाता है॥ ९ अ॥

जैसे, जो लोग राजा की विशेष सेवा नहीं करते वे धन अच्छी तरह नहीं पा सकते। उन्हें बहुत अधिक दुःख नहीं होता जो अपनी प्रियतमा की बहुत अधिक याद नहीं करते॥ ५॥

इस छन्द में विभजते क्रिया का बाँटना, आलभते का मारण, आवहति का करना, तथा प्रस्मरण

---

१. द्रष्टव्य-काव्यालंकारसूत्र २।१।१०॥
२. काव्य० प्र० ७।२॥, सा० द० ७।४॥

का विस्मरण अर्थ रूढ है। इनका क्रमशः विशिष्ट सेवा, चातुर्दिक लाभ, भलीभाँति वहन, तथा प्रकृष्ट स्मरण आदि अर्थ (रूढ) नहीं।

स्व० भा०—किसी शब्द का उच्चारण करने पर उसका जो अर्थ अव्यवहित रूप से उपस्थित होता है, वही अभिधेय, वाच्य, मुख्य अथवा संकेतित अर्थ होता है। उसके अन्य अर्थ भी हो सकते हैं, किन्तु उसका एक अर्थ सामान्यतः निर्विवाद रूप से सर्वस्वीकृत होता है। अतः वह अर्थ विशेष उस शब्द-विशेष का रूढ अर्थ हो जाता है। जब कोई प्रयोक्ता उस सर्वमान्य अर्थ को छोड़कर प्रकृति प्रत्यय आदि के आधार पर एक विशेष अर्थ में किसी शब्द का प्रयोग करता है तब अन्यार्थत्व दोष हो जाता है। शब्दशास्त्र के अनुसार-'उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते। प्रहाराहारसंहारविहारपरिहारवत्॥' इस प्रकार उपसर्गभेद के कारण धात्वर्थ में अन्तर आने पर भी, एक अर्थ में उपसर्ग सहित धात्वात्मक पद का एक न एक रूढ अर्थ होता ही है। उस रूढ अर्थ के अतिरिक्त विशिष्ट यौगिक अर्थ करने पर यह दोष होता है।

भामह तथा दण्डी इस दोष के प्रति मौन हैं। पूर्ववर्ती वामन के द्वारा कथित नाम तथा लक्षण दोनों ही भोज ने स्वीकार किया है। उनके अनुसार 'रूढिच्युतमन्यार्थम्' है (२।१।१२) स्पष्टता के लिए इसी सूत्र पर वामन की वृत्ति भी दर्शनीय है।[1] भोज द्वारा प्रयुक्त 'आवहन्ति' तथा 'प्रसरन्ति' पदों का ही प्रयोग है, किन्तु छन्द में किञ्चित् अन्तर है। यह मम्मट, जयदेव तथा विश्वनाथ प्रभृति परवर्ती आचार्यों के दोष 'असमर्थत्व से मिलता है। इन सबने विभिन्न छन्दों में अथवा छन्दांशों में 'हन्' धातु का गमनरूप अर्थ निकालना असमर्थता माना है। जयदेव का उदाहरण तथा लक्षण दोनों रमणीय हैं—

असमर्थं तु हन्त्यादेः प्रयोगो गमनादिषु। स हन्ति हन्त कान्तारे कान्तः कुटिलकुन्तलः॥
चन्द्रा० २।३-४॥ रुद्रट ने इस असमर्थत्व दोष के चार प्रकार निरूपित किए हैं।[2]

यद्यपि पूर्ववर्ती रुद्रट तथा परवर्ती अनेक आलंकारिकों ने इस दोष का नाम 'असमर्थत्व' जिस दृष्टि से रखा है, कुछ सीमा तक ठीक भी है, किन्तु वामन और भोज द्वारा प्रदत्त नाम 'अन्यार्थ' अधिक स्पष्ट है। यहाँ शब्द की अपेक्षा अर्थ पर अधिक बल प्रतीत होने से इसकी अर्थदोषों में गणना की भ्रान्ति हो सकती है, किन्तु वस्तुतः ऐसा है नहीं। मूल दोष तो शब्दाश्रित ही है। यदि पद विशेष का प्रयोग न किया जाये तो इस भ्रान्ति की संभावना ही न होती। अतः इसे पददोष ही मानना चाहिए।

---

१. रूढेश्च्युतं रूढिच्युतम्, रूढिमनपेक्ष्य यौगिकार्थमात्रोपादानात्। अन्यार्थं पदम्॥ वही॥ अन्तर यही है कि भोज इसे पददोष मानते हैं और वामन पदार्थदोष। भोज तथा मम्मट आदि के 'असमर्थत्वों' में भी अन्तर है।

२. पदमिदमसमर्थं स्याद् वाचकमर्थस्य तस्य न च वक्तुम्।
तं शक्नोति तिरोहिततत्सामर्थ्ये निमित्तेन॥
धातुविशेषोऽर्थान्तरमुपसर्गविशेषयोगतो गतवान्।
असमर्थः स स्वार्थे भवति यथा प्रस्थितः स्थास्नौ॥
इदमपरमसामर्थ्यं धातोर्यत्पठ्यते तदर्थोऽसौ। न च शक्नोति तमर्थं वक्तुं गमनं यथा हन्ति॥
शब्दप्रवृत्तिहेतौ सत्यप्यसमर्थमेव रूढिबलात्। यौगिकमर्थविशेषं पदं यथा वारिधौ जलभृत्॥
निश्चीयते न यस्मिन् वस्तु विशिष्टे पदे समानेन।
असमर्थं तत्त्व यथा मेघच्छविमारुरोहाश्वम्॥ काव्यालङ्कार ६।३-७॥

रूढिच्युतमिति। शक्तिमनपेक्ष्य प्रयुक्तं रूढिच्युतम्। अत एव यदभिसन्धाय प्रयुज्यते न कथञ्चन यस्यासावर्थ इति अन्वर्थमन्यार्थमिति नाम। एतदेव धातुविशेषोऽवान्तरमुपसर्गविशेषयोगतो योगवानित्यादिनान्यैरुक्तम्। विभजन्त इति। भजिः सेवार्थो विरुपसर्गस्तद्वतविशेषद्योतकस्ततश्च यथा विद्योतत इति। अत्र विशिष्टधात्वनुरूपप्रयोगाभिधानं तथात्रापि भविष्यतीति भ्रमो बीजमत्र शब्दशक्तिस्वभावात्। क्वचिदुपसर्गोपसंदानेन धातुरर्थान्तर एव वर्तते। यदाहुः—'उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते। प्रहाराहारसंहारविहारपरिहारवत्॥' इति। तदाह—अत्र विभजतेरित्यादि। नन्वर्थापेक्षित्वे पदार्थदूषणमेवंविधमिति वामनः। नैतत्। पदस्यैवान्वयव्यतिरेकवत्त्वात्। नह्यत्रान्वयस्यापराधः कश्चित्। किं तु शब्द एव वृत्तिस्खलितादिभिरपराध्यति। यदि चार्थापेक्षितामात्रेणार्थदोषत्वं कथमसाधुप्रभृतीनामपि शब्ददूषणता। नहि तानि स्वरूपत एव तथापि त्वर्थविशेषो विशेष एवाश्वगोश्वादिवदिति। अर्थदोषास्तु यथा भवन्ति तथा वक्ष्यामः।

(६ अपुष्टार्थ दोष)

यत्तु तुच्छाभिधेयं स्यादपुष्टार्थं तदुच्यते ॥ ९ ॥

यथा—

'शतार्धपञ्चांशभुजो द्वादशार्धार्धलोचनः।
विंशत्यर्धार्धमूर्धा वः पुनातु मदनान्तकः॥ ६॥

अत्र दशबाहुः, त्रिलोचनः, पञ्चवक्त्र इति तुच्छमेवाभिधेयमतुच्छशब्दैरुक्तमिति अपुष्टार्थम्।

(जब कोई पद इस प्रकार से प्रयुक्त हो कि उसका) वाच्यार्थ तुच्छ हो अर्थात् अपने लिए प्रयुक्त वाचक शब्दों की अपेक्षा अत्यल्प हो, तब वह पद अपुष्टार्थ कहा जाता है॥ ९॥

जैसे—सौ के आधे के पाँचवें अंश अर्थात् दस संख्यक भुजाओं वाले, बारह के आधे के आधे नेत्र वाले, बीस के आधे के आधे शिर वाले भगवान् शंकर आप की रक्षा करें अथवा आप को पवित्र रखें॥ ६॥

यहाँ दस भुजाओं वाले, तीन आँखों वाले तथा पंच मुख यह तुच्छ अर्थात् अल्प वाच्य अर्थ अत्यधिक शब्दों द्वारा कहा गया है। इसीलिए अपुष्टार्थत्व दोष है।

स्व० भा०—वस्तुतः अल्प शब्दों का प्रयोग करके अधिकाधिक अर्थ की प्रतीति कराना हितकर होता है किन्तु जब बहुत शब्दों का प्रयोग करने के बाद भी कम अर्थ निकलता है तब वह पद जितना पुष्ट होना चाहिए वैसा नहीं रह पाता। अतः ऐसी दशा में अपुष्टार्थता दोष होता है। यहाँ दश बाहु, त्रिनेत्र तथा पंचमुख इन विशेषणों को शिव के साथ सम्बद्ध करना था। केवल दस, तीन और पाँच कहने से ही जो काम हो जाता उसी के लिए सौ के आधे पचास का पाँचवाँ भाग, बारह के आधे छः के आधे तीन तथा दस के आधे पाँच का प्रयोग क्रमशः किया गया है। इतने अधिक वाग्जाल का प्रयोग केवल कुछ वर्णों के पदों के लिए किया गया है। अतः यहाँ दोष है।

यत्तु तुच्छाभिधेयमिति। **स्तोकशब्दाभिलभ्येऽर्थे बहुतरशब्दबहुलमित्यर्थः। नहि तथा क्रियमाणमल्पीयसीमपि प्रकर्षतां पुष्यति येन त्याज्यं न स्यादित्यपुष्टपदेन सूचितम्। शतस्यार्धं पञ्चाशत्तेषां पञ्चतमोऽशो दश। समासे पूरणप्रत्ययलोपः।**

(७ असमर्थ दोष)

असंगतं पदं यत्तदसमर्थमिति स्मृतम् ।

यथा—

'जलं जलधरे क्षारमयं वर्षति वारिधिः ।
इदं बृंहितमश्वानां ककुद्मानेष ह्रेषते ॥ ७ ॥'

अत्र जलधरो मेघः, वारिधिः समुद्रः, बृंहितं गजानाम्, ह्रेषितमश्वानामिति लोकप्रसिद्धम् । तदिह समुद्र-मेघ-अश्व-वृषभविषयतया प्रयुज्यमानमसंगतार्थत्वादवाचकमित्यसमर्थम् ।

जो पद असंगत हो (अर्थात् जब पदों का परम्परया रूढ अर्थ ग्रहण करने पर योग्यता का अभाव दृष्टिगोचर हो) वह पद असमर्थत्व दोष से युक्त जाना जाता है ॥ १० अ ॥

जैसे—यह मेघ समुद्र पर खारा जल बरसता है। यह घोड़ों की चिग्घाड़ है। यह बैल हिनहिना रहा है ॥ ७ ॥

जलधर शब्द मेघ के लिये, वारिधि समुद्र के लिए, चिग्घाड़ हाथियों का तथा हिनहिनाना घोड़ों का विश्व में विख्यात है। वही यहाँ क्रमशः समुद्र, मेघ, घोड़ा तथा बैल के लिए प्रयुक्त हुआ है। यह अर्थ संगत न होने से—रूढ़ न होने से, वाच्य नहीं है और न ये शब्द ही इन अर्थों के वाचक हैं। अतः अवाचकत्व होने से यहाँ असमर्थत्व दोष है।

स्व० भा०—मम्मट, जयदेव, विश्वनाथ आदि द्वारा निरूपित असमर्थत्व दोष भोज के अन्यार्थकत्व के अधिक निकट है, और इनका अवाचकत्व पददोष भोज के असमर्थत्व के बहुत निकट है। इस प्रकार नाम में समानता होने पर भी लक्षण और उदाहरण में बहुत अन्तर है। रुद्रट के द्वारा दिया गया असमर्थत्व का तृतीय उदाहरण और लक्षण इसकी परिभाषा स्पष्ट कर देता है।

शब्दप्रवृत्तिहेतौ सत्यप्यसमर्थमेव रूढिबलात् ।
यौगिकमर्थविशेषं पदं यथा वारिधौ जलभृत् ॥ काव्यालंकार ६।६ ॥

इसमें तथा अन्यार्थकत्व दोष में अन्तर स्पष्ट है। अन्यार्थत्व में यौगिक अर्थ की अपेक्षा रूढिगत अर्थ बलवान् होता है और इसमें केवल यौगिक की अपेक्षा यौगिक तथा रूढ़ दोनों। अर्थात् इसमें सबसे प्रथम एक शब्द का यौगिक अर्थ निश्चित किया जाता है। सर्वमान्य परम्परा में आ जाने पर वही पद अर्थविशेष के लिए रूढ़ हो जाता है। पुनः उस रूढ़ परम्परा को तोड़कर यौगिक अर्थ स्वीकार करने पर असमर्थ दोष होता है।

असंगतमिति । **कथं पुनरिदमन्यार्थाद्भिद्यते । अत्राराध्याः । अन्यार्थे केवलं योगाद्रूढिर्बलवती । असमर्थे तु केवलयोगाद्योगरूढिः । तदपरे दूषयन्ति । तथापि रूढिच्युतिः साधारण्येव तदवान्तरं विशेषद्वयमन्यदिति । तन्न । भावानवबोधात् । किंचिद्धि पदमपवादकारणबलादवगम्यमानमपि योगमनपेक्ष्यैव क्वचिदर्थविशेषे वर्तते । यथा—गौरिति । नहि गमनस्य वाक्यार्थे प्रवेशः संभवति । किंचित्पुनरसति बाधहेतौ बुध्यमानस्य त्यागायोगाद्योगविशिष्टमेवोपाधिमभिधत्ते । यथा—पङ्कजमिति । तत्राद्यप्रकारे रूढिरेव सर्वस्वमिति तत्परित्यागे रूढिच्युतम् । द्वितीये तु योगमात्रे प्रयुक्तमसंगतं शक्तिशून्ये प्रयुक्तं शक्त्यैकदेशे प्रयुक्तमिति भिन्नोऽर्थस्तदेतत्सर्वं व्याख्यानेन स्फुटयति—अत्र जलधरेति । जलधरादिपदानि जलधारणादिविशिष्टे मेघत्वादौ रूढाभिधानशक्तीनि । कथमेतदवसितमिति चेत्तत्राह—लोकप्रसिद्धमिति । लोकाधीनावधारणत्वाच्छब्दार्थसंबन्धस्येति भावः ।**

ततश्च यद्विशिष्टस्य योगस्य शक्तिविषयतया न तेन संकेतः। यत्र च समुद्रादौ प्रयोगो न तदुपाधिभिः समुद्रत्वाद्यैः संभूय शक्त्या संकेतः। क्षारादिपदोपसंदानेन च समुद्रादौ प्रयोग उन्नीयत इत्याह—तदिहेति। अत एव न तदवस्थस्य पदं वाचकमत एव चाज्ञमत्वाद-समर्थमिति संज्ञयैव व्यवह्रियत इति संक्षेपः॥

(८ अप्रतीत दोष)

अप्रतीतं तदुद्दिष्टं प्रसिद्धं शास्त्र एव यत्॥ १०॥

यथा—

'किं भाषितेन बहुना रूपस्कन्धस्य सन्ति मे न गुणाः।
गुणनान्तरीयकं च प्रेमेति न तेऽस्त्युपालम्भः॥ ८॥'

अत्र रूपस्कन्ध-नान्तरीयकशब्दयोः शास्त्रप्रसिद्धत्वादन्यत्राप्रतीयमानयोः प्रयोगादप्रतीतम्।

अप्रतीत उस पद को कहा गया है जो केवल शास्त्रों में प्रसिद्ध हो, (लोकसामान्य में नहीं)॥ १०॥

जैसे—बहुत बोलने से क्या लाभ? मुझ रूपस्कन्ध में गुण है ही नहीं। प्रेम ऐसा होता है जिसके लिए गुण आवश्यक है—(गुण व्यापक है)। अतः तुमसे कोई उलाहना नहीं॥ ८॥

रूपस्कन्ध तथा नान्तरीयक इन दोनों ने पदों के शास्त्र में ही प्रसिद्ध होने के कारण तथा लोक में दूसरी जगह प्रकट न होने के कारण, यहाँ प्रयोग होने से अप्रतीतत्व दोष हुआ।

स्व० भा०—प्रस्तुत छन्द में किसी नायक का नायिका के प्रति प्रतिवेदन है। किन्तु उसके द्वारा प्रयुक्त रूपस्कन्ध तथा नान्तरीयक ये दोनों पद क्रमशः बौद्धदर्शन तथा न्यायदर्शन के पारिभाषिक शब्द हैं। बौद्धदर्शन के अनुसार रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान इन पांचों का संग्रह मानव है। इनमें रूपस्कन्ध पञ्चेन्द्रिय, पञ्च विषय तथा विज्ञप्ति इन ग्यारह का समूह है। इन पारिभाषिक शब्दावलियों का ज्ञान शास्त्राभ्यासी को ही होगा, लौकिक जनता इनसे अपरिचित है, अतः काव्य में दुर्बोधता आने के कारण दोष होगा। इसी प्रकार 'नान्तरीयक' पद न्यायशास्त्र में 'आवश्यक' के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसी को दूसरे शब्दों में 'व्यापक' भी कहते हैं। वहाँ पर परामर्शजन्य ज्ञान का महत्त्व अधिक होने से तथा उसका आधार व्याप्यव्यापक का ज्ञान होने से, इसका विशेष महत्त्व है। ऐसे शब्दों का प्रयोग दुष्ट माना गया है।

रुद्रट द्वारा भी अप्रतीतत्व दोष स्वीकार किया गया है। (द्रष्टव्य काव्यालंकार ६।२, ११-१३॥) किन्तु इनका अप्रतीतत्व भोज के अप्रतीतत्व से सर्वथा भिन्न है। वामन द्वारा निर्दिष्ट यह दोष भोज से पूर्णतः मिलता है। लगता है भोज ने उदाहरण भी वामन से ही लिया था, क्योंकि दोनों के ग्रन्थों में एक ही उदाहरण का छन्द है।[1] परवर्ती आलंकारिकों का भी मत भोज के अनुकूल ही है।

लोक तथा शास्त्र दोनों ओर प्रयुक्त होने वाले शब्दों से बने छन्द आदि का अर्थज्ञान अज्ञात शब्द के कारण व्यवहित हो जाता है। अतः दोष होता है। अप्रयुक्तत्व दोष में शब्दशास्त्र से सिद्ध पदों का प्रयोग प्रवाह में न होने के कारण प्रयोग करने पर दोष होता है, जब कि इसमें शब्द

१. द्रष्टव्य-काव्यालंकारसूत्र २।१।८॥

पारिभाषिक होते हैं, शास्त्रज्ञ लोग प्रयोग भी करते हैं, किन्तु लोकव्यवहार में न होने के कारण दोषाधान होता है।

अप्रतीतमिति। शास्त्रमात्रप्रसिद्धं शास्त्रव्यवहारिभिः संकेतितमित्यर्थः। प्रतीताप्रतीतसमभिव्याहाररूपं हि वाक्यमशास्त्रज्ञविषयं प्रयुक्तमभिमतार्थप्रतीतिं न जनयितुमीष्टे। तत्राप्रतीतानामेवापराधोऽतः परिस्खलनखेददायितया भवति दुष्टत्वम्। अत एवाप्रयुक्ताद्बहिर्भावः। किं भाषितेनेति। रूपस्कन्धवाचोयुक्तिः सौगतसमयप्रसिद्धा। तेषां रूपं वेदना संज्ञा संस्कारो विज्ञानमिति पञ्च स्कन्धाः। तत्रापि रूपस्कन्धपदार्थं एकादशपदार्थकः। पञ्चेन्द्रियाणि पञ्च विषया विज्ञप्तिरेकादशीति प्रक्रिया। अन्तरमिति विनार्थे गहादौ पठ्यते। 'तत्र भवः' इति छे स्वार्थिके च कनि नञ्समासे पृषोदरादित्वान्नलोपाभाव इति भाष्यटीका। प्रेम्णो व्यापका गुणा न सन्ति मे न च व्यापकमन्तरेण व्याप्यं भवतीति व्यापकानुपलब्धिप्रयुक्तत्वात्प्रेमाभावस्य तथोपालम्भे वाच्यता नास्तीति भावः। शास्त्र एवेत्यवधारणेन यद्व्यावर्त्यते तदाह—अन्यत्रेति। लोक इत्यर्थः।

(९ क्लिष्ट नामक दोष)

दूरे यस्यार्थसंवित्तिः क्लिष्टं नेष्टं हि तत्सताम्।

यथा—

'विजितात्मभवद्वेषिगुरुपादहतो जनः।
हिमापहामित्रधरैर्व्याप्तं व्योमाभिनन्दति ॥ ९ ॥

अत्र विना गरुत्मता जित इन्द्रस्तस्यात्मभवोऽर्जुनस्तस्य द्वेषी कर्णस्तस्य गुरुः सूर्यस्तत्पादैरभिहतो लोक आकाशमभिनन्दति। कीदृशम्। हिमापहो वह्निस्तस्यामित्रो जलं तद्धारयन्ति ये मेघास्तैर्व्याप्तमिति व्यवहितार्थप्रत्ययं क्लिष्टमेतत्।

जिसका अर्थज्ञान विलम्ब से हो सके उसे क्लिष्ट (कहते हैं।) यह निश्चित ही सज्जनों-सहृदय रसिकों को अभीष्ट नहीं ॥ ११अ ॥

जैसे—गरुड के द्वारा जीते गये इन्द्र के पुत्र अर्जुन के द्वेषी कर्ण के गुरु सूर्य की किरणों से अभिहत लोक शीत को नष्ट करने वाले अग्नि के शत्रु जल को धारण करने वाले मेघों से व्याप्त आकाश का अभिनन्दन करता है ॥ ९ ॥

अर्थात् सूर्य के ताप से आहत व्यक्ति बदली चाहता है।

इस छन्द में वि अर्थात् पक्षी गरुड के द्वारा पराजित इन्द्र के पुत्र जो अर्जुन उनके द्वेषी कर्ण और कर्ण के पिता सूर्य उनके किरण चरणों से व्याकुल लोक आकाश का स्वागत करता है। (वह) किस प्रकार के आकाश को चाहता है, यह कहते हैं—हिम-शीत-को नष्ट करने वाले अग्नि का शत्रु जो जल हैं, उस जल को ये जो धारण करने वाले मेघ हैं उनसे व्याप्त आकाश को इसमें अर्थ का ज्ञान साक्षात् संकेतित न होकर व्यवधानपूर्वक परम्परया होता है। अतः यह क्लिष्टत्व दोष से युक्त होता है।

स्व० भा०—भामह, दण्डी और रुद्रट इस दोष पर मौन हैं। वामन ने पदार्थ दोषों में इसे अन्तिम माना है। भोज ने तो इनकी परिभाषा की पूरी शब्दावली ही व्याख्या में उतार दी है।

'व्यवहितार्थप्रत्ययं क्लिष्टम्' यह भोज की वृत्ति का अन्तिम अंश है और वामन की परिभाषा भी[1] मम्मट तथा विश्वनाथ की भी परिभाषायें समान ही हैं, मात्र वर्णों का अन्तर है। जयदेव की परिभाषा भाव को और भी अधिक स्पष्ट कर देती है।

क्लिष्टमर्थो यदीयोऽर्थश्रेणितः श्रेणिमृच्छति।
हरिप्रियापितृवारिप्रवाहप्रतिमं वचः॥ चन्द्रालोक २।१२॥

अर्थात् इसमें अर्थ शृङ्खलाबद्ध रूप में एक दूसरे से सम्पर्क जोड़ता चला जाता है।

भोजराज ने उदाहरण का छन्द दण्डी के काव्यादर्श के प्रहेलिका प्रकरण (३।१२०) से उद्धृत किया है। भारवि ने भी किरातार्जुनीयम् के प्रथम सर्ग में 'अनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमः' आदि पदों का प्रयोग इसी प्रकार किया है। तेल मँगाने के लिए दासी को सूचना देती हुई नायिका की हिन्दी उक्ति दर्शनीय है—

'बाजीबाहन तासु रिपु ता रिपु तुरत मँगाव। आज श्याम सो मिलन है यह शृङ्गार सजाव॥'

इस प्रकार के साहित्यिक प्रयोग चामत्कारिक हैं गुप्त संकेत के लिए उपयोगी भी, किन्तु क्लिष्टता के कारण साहित्यिक क्षेत्र में त्याज्य हैं। यानी बौद्धिक व्यायाम बहुत अपेक्षित है।

दूर इति। **दूरं चिरं विलम्ब इत्यनर्थान्तरम्। क्लेशो द्विविधः—पदविषयः, वाक्यविषयश्च। आद्यः सामान्यशब्दस्य प्रकरणादिकमनपेक्ष्य क्वचिदभिप्रेतविषये प्रयोगः। तथा सति वाचकतायामपि झटिति प्रतिपत्तिर्न भवति। किं तु परस्परान्वयपर्यालोचनया चिरेणेति विरसत्वम्। यदाह—'नेष्टं हि तत्प्रसितानाम्' इति, अयमेवार्थो व्यवधानपदेन वामनादिभिरुक्तः। द्वितीयस्तु व्याकीर्णादिपदेनान्यथा वक्ष्यते—विजितेति। विशब्देन पक्षिसामान्यवचनेन तद्विशेषो गरुडात्मा विवक्षितः। तज्जितोऽपि विशेष एव। एवमन्यत्रापि। न चात्रापि किंचिज्झटिति प्रतीत्यनुगुणं नियमकारणमस्तीति युक्तमेव व्यवधानम्। हिमापहो वह्निरिति हन्तेर्डप्रत्यये रूपम्। तथा च चन्द्रगोमी डप्रकरणे 'हन्तेर्डः' इत्येव सूत्रितवान्। हिमापहो वह्निरिति क्विपि व्यभिचारं दृष्ट्वा 'ब्रह्मभ्रूण–' इत्यादि सूत्रितं चन्द्रगोमिना।**

(१० गूढार्थ दोष)

गूढार्थमप्रसिद्धार्थं प्रयोगं ब्रुवते बुधाः॥ ११॥

यथा—

'सहस्रगोरिवानीकं भवतो दुःसहं परैः।
हरेरिव तवाभान्ति नान्यतेजांसि तेजसि॥ १०॥'

सहस्रगुशब्देन सहस्राक्ष उक्तः। न च गोशब्दस्याद्यिणि भूयसी प्रसिद्धिः। हरिशब्देन च सहस्रांशुः सोऽपि न तेन नाम्ना बहुभिरुच्यत इति गूढत्वम्।

विद्वान् उस प्रयोग को गूढार्थत्व दोष से युक्त मानते हैं जिसमें (किसी अनेकार्थक शब्द का) अप्रसिद्ध अर्थ ग्रहण किया जाता है॥ ११॥

जैसे—(कोई वन्दी राजा से कहता है, हे महाराज!) सहस्राक्ष इन्द्र की सेना की भांति आपकी भी सेना शत्रुओं को असह्य है। हरि-सूर्य की भांति आपके भी तेज में दूसरों के तेज ज्ञात ही नहीं पड़ते॥ १०॥

---

१. द्रष्टव्य-काव्यालंकारसूत्र २।१।२१॥

इस छन्द में सहस्रगु शब्द से सहस्राक्ष इन्द्र कहे गये हैं। गो शब्द की अत्यधिक ख्याति नेत्र अर्थ में नहीं है। इसी प्रकार हरि शब्द का भी यहाँ सहस्रांशु सूर्य अर्थ अभीष्ट है, किन्तु वह भी इस नाम से बहुत लोगों द्वारा अभिहित नहीं होते। इसी से गूढता है।

स्व० भा०—भोज की परिभाषा में प्रायः वामनोक्त शब्द ही हैं। फिर भी, वामन का लक्षण अधिक ठोस एवं श्लिष्ट है।[1] इनके उदाहरण का पूर्वार्द्ध भी वामन से ही है। मम्मट आदि ने इस दोष को निहतार्थ दोष कहा है। अपनी अपनी दृष्टि से दोनों द्वारा किया गया नामकरण उचित ही है। 'गौः शराक्षिपयःस्वर्गपशुभेदवचःसु च' तथा 'हरिः कृष्णे च सिंहे च भेकार्कभुजगेषु च' इन वचनों से गौ तथा हरि का क्रमशः अक्षि तथा सूर्य अर्थ होता तो है, किन्तु इनकी प्रसिद्धि गाय तथा कृष्ण के अर्थ में अधिक है। अतः अप्रख्यात अर्थ प्रयुक्त होने से गूढार्थत्व दोष हुआ।

अप्रयुक्तत्व तथा इस दोष में अन्तर पद के प्रयोग की मात्रा का है। यहाँ अप्रसिद्ध रहने पर भी इसका प्रयोग प्रायः होता ही रहता है, जब कि प्रथम में लगभग नहीं।

गूढार्थमिति। **यस्य पदस्य द्वावर्थौ सिद्धश्चासिद्धश्च तच्चेदप्रसिद्धे प्रयुक्तं तदा गूढार्थम्। अप्रसिद्धार्थं प्रयोगमिति। अप्रसिद्धेऽर्थे प्रयोगो यस्येति गमकत्वाद्बहुव्रीहिः। तव तेजसि नान्यतेजांसि भान्तीति योजना। 'गौः शराक्षिपयःस्वर्गपशुभेदवचःसु च' इत्याम्नाताऽपि तथा नाक्षिण प्रयुज्यते यथा पशुभेदादावित्याह—न च गोशब्दस्येति। 'हरिः कृष्णे च सिंहे च भेकार्कभुजगेषु च' इति स्वसंकेतितस्यापि हरिशब्दस्य न तथा रवौ प्रसिद्धिर्यथान्यत्रेत्याह—सोऽपि नेति।**

(११ नेयार्थत्व दोष)

स्वसंकेतप्रकृष्टार्थं नेयार्थमिति कथ्यते।

यथा—

'मुखांशवन्तमास्थाय विमुक्तपशुपङ्क्तिना।
पङ्क्त्यनेकजनामध्रतुका जित उलूकजित्॥ ११॥

अत्र पङ्क्तिशब्देन दशसंख्या, अनेकजनामेत्यनेन चक्रम्, तद्ध्र इत्यनेन रथस्ताभ्यां दशरथस्तस्य तुक् बालको लक्ष्मणस्तेन जित उलूकजिदिन्द्रजित्। किं कृत्वा। मुखांशवन्तमास्थाय हनुमन्तम्। किंभूतेन। विमुक्तपशुपङ्क्तिना विमुक्तेषु पशुपङ्क्तिना। अत्र पशुशब्देन गोशब्दो लक्ष्यते तेनेषवस्तदिदं स्वसंकेतकल्पितार्थं नेयार्थमुच्यते॥

जब किसी शब्द के वाच्य अर्थ की कल्पना की जाती है तब नेयार्थत्व दोष होता है॥ १२ अ॥

जैसे—मुख के एक अंश हनु से संयुक्त अर्थात् हनुमान् के सहारे पशु अर्थात् गो, तदर्थक बाणों के समूह को छोड़ने वाले, पंक्ति-दश तथा एक से अधिक दो जन्म वाले द्विज पक्षी चक्र को धारण करने वाले रथ अर्थात् दशरथ के पुत्र लक्ष्मण ने इन्द्रजित् मेघनाद को परास्त कर दिया॥

इस छन्द में पङ्क्ति शब्द से दस की संख्या, अनेकजनाम (अनेक + ज = द्विज + नाम = चक्र) इस पद से चक्र, तद्ध्र पद से रथ और इन दोनों के साथ अर्थात् दशरथ, उनके पुत्र लक्ष्मण के द्वारा जीता गया उलूकजित् मेघनाद। क्या करके? मुख के अंश से संयुक्त नाम वाले हनुमान् का

---

१. वही २।१।१४॥

सहारा लेकर। किस प्रकार के ? विमुक्त पशुपङ्क्ति अर्थात् छोड़ छोड़कर बाणों को। यङ्काँ पशुशब्द से गौ पद लक्षणा से प्राप्त होता है और उस गोपद से बाण। यह वही अपने वाच्य अर्थ की कल्पना कराने वाला पद नेयार्थत्व दोष से संयुक्त कहा जाता है ॥ ११ ॥

स्व० भा०—कहने का अभिप्राय यह है कि यहाँ शब्द का संकेतित अर्थ स्वयं प्रकट नहीं होता है अपितु अर्थ की कल्पना की जाती है। यहाँ कल्पना शब्द अपना महत्त्व रखता है क्योंकि यह कल्पित अर्थ न तो स्पष्टरूप से संकेतित अर्थ ही होता है और न लक्ष्यार्थ ही। यदि संकेतित अभिधेय अथवा वाच्य होता तो कल्पना की आवश्यकता ही न पड़ती और यदि लक्ष्यार्थ होता तो रूढि अथवा प्रयोजन होता। इसीलिए अर्थ कल्पनीय होता है।

इसी उदाहरण के श्लोक में प्रत्येक पद का अर्थ कल्पित ही है। वस्तुतः मुख के अंश के रूप में हनु ही कल्पित किया गया जब कि कोई भी भाग लिया जा सकता था। इसी भांति पङ्क्ति एक दशाक्षर छन्द है जिससे दश संख्या ग्रहण की गई। अनेकज पद भी द्विजवाचक और द्विज भी पक्षीवाचक, न कि दाँत, ब्राह्मण या चन्द्रमा, स्वीकार किया गया। यह पक्षी भी चक्रवाक और उसका भी पूर्वार्द्ध मात्र चक्र। चक्रध तो विष्णु भी कहे जा सकते थे, किन्तु उसका भी अर्थ रथ ही लिया गया। तुक् शब्द जहाँ अनेकार्थक है, वहीं उसका अर्थ पुत्र ही लिया गया और यह पुत्र भी लक्ष्मण को छोड़ कर और किसी को नहीं माना गया। इस तरह से कहीं लक्ष्मण अर्थ की कल्पना की जा सकी। वस्तुतः यह संकेतित अर्थ नहीं है, अपितु यही कल्पित किया गया है।

आचार्य वामन ने लगभग भोज के ही शब्दों में नेयार्थत्व की परिभाषा दी है। (२।१।१३)। उनके उदाहरण में शब्द दूसरे अवश्य हैं किन्तु भोज के उदाहरण के अर्थ सा ही उससे भी अर्थ निकलता है। मम्मट, जयदेव तथा विश्वनाथ भी प्रकारान्तर से इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं।

स्वसंकेतेति। **कल्पितार्थ नेयार्थमिति सूत्रयित्वा वामनेन व्याख्यातम्। अश्रौतस्यार्थस्य कल्पना कल्पनाकल्पितार्थम्। अस्यार्थः—यत्पदं नानार्थस्वपर्यायलक्षणया विवक्षितप्रतीतिपर्यन्तं नीयते तत्कल्पितार्थमिति केचित्। तदयुक्तम्। स्वपर्यायेत्यस्य व्यर्थत्वादव्यापकत्वाच्च। तस्मात्प्रयोजनं विना लक्षणया प्रयुक्तमित्येवार्थः। यदाह काव्यप्रकाशकारः—नेयार्थेयत्वशक्तित इति यस्मिन्निषिद्धं लाक्षणिकमिति। प्रयोजनं विना रूढं लक्षणापरिग्रहे न दोषः। तथा च द्विरेफरथाङ्गनामादिपदानां रेफद्वयानुगतभ्रमरादिशब्दलक्षणाद्वारेण षट्पदादौ वृत्तिर्वृद्धव्यवहारपरम्परानुपातिनीति तेषां प्रयोगोऽयुक्त एव। अत एव 'तुरङ्गकान्तामुखहव्यवाहज्वालेव भित्त्वा जलमुल्ललास' इत्यादिकमपि नेयार्थमिति काश्मीरकाः। तदेतत्स्वपदेन दर्शितवान्। मुखस्यांशो हनुरत्राभिमतः। पङ्क्तिरिति दशाक्षरं छन्दः दशसंख्या लक्ष्यते। अनेकजो द्विजश्चक्रवाकस्तस्य नाम चक्रं रथैकदेशस्तद्धारयतीति धारयतेर्मूलविभुजादित्वात्कः। ताभ्यामिति। पङ्क्तिरनेकज इति नाम यस्येत्यर्थात्। तुक् तोकं तोक्ममित्यपत्यनामानि। उपलक्षणतयैकदेशं व्याचष्टे। अत्र पशुशब्देन गोशब्दो लक्ष्यत इति प्रकृतापेक्षया। तेनेषवः प्रत्यायन्त इति शेषः ॥**

(१२ संदिग्धत्व दोष)

न यत्पदं निश्चयकृत् संदिग्धमिति तद्विदुः ॥ १२ ॥

यथा—

'नीललोहितमूर्तिर्यो दहत्यन्ते जगत्त्रयम्।
स एष हि महादेवस्त्रिषु लोकेषु पूज्यते ॥ १२ ॥'

अत्र वह्निरर्कः शिवो वेति न निश्चीयते ॥

जो पद एक निश्चित अर्थ नहीं देता उसे संदिग्ध अथवा संदिग्धत्व दोष से युक्त जाना जाता है ॥

जैसे—नीलरक्त वर्ण का जिसका रूप है, जो अन्त में तीनो लोकों को जला डालता है, वही यह बहुत बड़ा देवता है, जो तीनो लोको में पूजा जाता है ॥ १२ ॥

इस उदाहरण में (ये विशेषण) अग्नि, सूर्य अथवा शिव हैं यह निश्चित नहीं है ।

स्व० भा०—यहाँ पद का स्वरूप ही बाधित है । ये सभी विशेषण सबके साथ जा सकते हैं । प्रलयकाल में अत्यन्त प्रवृद्ध, सूर्य, अग्नि, शिव ये सभी दाहकता के कारण एक से ही हो जाते हैं । यहाँ प्रकरण संदिग्ध है । वक्ता, तथा बोद्धा का संयोग और स्वरूप अज्ञात है । इन विशेषणों का प्रयोग किसके लिए हुआ, यह निश्चित ज्ञात नहीं होता ।

भामह और दण्डी इस दोष को ससंशय संज्ञा देते हैं ।[1] रुद्रट का चतुर्थ प्रकार का असमर्थत्व दोष ससंशय ही है ।[2] वामन ने संदिग्धत्व को (२।२।२०) वाक्यदोष माना है । मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने भोज के सदृश ही लक्षण दिये हैं ।

ससंशय अथवा संदिग्धत्व दोष तथा संदेह अलंकार इन दोनों में अन्तर है । प्रथम भेद तो यही है कि एक दोष है और दूसरा अलंकार-शोभादायक । सबसे बड़ी बात तो यह है कि प्रथम में अपनी क्षमता के कारण रचनाकार अपने लक्ष्य को स्पष्ट रूप नहीं दे पाता है, जब कि द्वितीय में वह अपनी प्रतिभा के द्वारा संशय उत्पन्न करके चमत्कार पैदा करता है । दोष इसीलिये होता है, क्योंकि कवि प्रयोग तो करना चाहता है निर्णयार्थ किन्तु वहाँ असफल रहता है । इस प्रकार ससंशय दोष और संदेह अलंकार में लक्ष्य का ही महान् अन्तर हो जाता है । दण्डी ने यही तथ्य स्पष्ट किया है—

ईदृशं संशयायैव यदि जातु प्रयुज्यते ।
स्यादलंकार एवासौ न दोषस्तत्र····· ॥ काव्यादर्श ३।१४१॥

न यत्पदमिति । **पदस्वरूपमेव संदिह्यमानमत्र । तथाहि—स एष हि महादेव इत्यत्र स किमेष हि महादेव इति च्छेदो विधीयतां महादेव इति वा साधकबाधकप्रमाणाभावे संदिह्यते । न च विशेषणनियमहेतुः । बह्वयर्कावपि हि भगवतो नीललोहितमूर्तिभूतौ हिमापहौ च न निश्चयकृदिति दूषणताबीजप्रदर्शनम् । यदैको विवक्षितस्तदा दोषः । साधुचर इत्यत्रापि 'भूतपूर्वे चरट्' इति चरट्प्रत्यये किं पूर्वं साधुरथवा चरेष्टप्रत्यये साधुषु चरतीति पदमेव संदिह्यते तेन पदावयवः संदिग्ध इति केनचिदुक्तम्, तदप्यपास्तम् ॥**

(१३ विरुद्ध अथवा विरुद्धार्थ प्रकल्पन दोष)

विपरीतं विरुद्धार्थप्रकल्पनमिहोच्यते ।

यथा—

'अनुत्तमानुभावस्य परैरपिहितौजसः ।
अकार्यसुहृदोऽस्माकमपूर्वास्तव कीर्तयः ॥ १३ ॥'

अत्र अनुत्तमा इत्यनेन यथोत्कृष्टस्तथापकृष्टोऽपि । अपिहितमित्यनेन यथा नाच्छादितं तथाच्छादितमिति । अकार्यसुहृदित्यनेन यथाकार्यमन्तरेण सुहृदेव-

१. काव्यालंकार ४।१, १८, १९॥ काव्यादर्श ३।१२५।१३९–४०॥
२. काव्यालंकार ६।७॥

मकार्ये यः सुहृत् सोऽप्युच्यते । अपूर्वाः कीर्तय इत्यनेन यथाद्भुताः कीर्तय एवमकीर्तयोऽप्युच्यन्ते ॥

विरुद्ध, विरुद्धार्थ प्रकल्पन अथवा व्यर्थत्व दोष उस पद में होता है जिसके अर्थ पूर्णतः विपरीत-(एक अर्थ के सर्वथा प्रतिकूल) होते हैं ॥ १३अ ॥

जैसे—सर्वोत्कृष्ट कर्मों वाले, शत्रुओं से अनाच्छन्न प्रताप वाले, विना प्रयोजन के ही हमसे मैत्रीभाव रखने वाले आपकी कीर्ति अनोखी है। (विपरीत अर्थकल्पना में इसका दूसरा अर्थ यह होगा)—निकृष्ट कर्म करने वाले, शत्रुओं से अभिभूत प्रभाव वाले, अपकर्म के साथी अथवा हमारे कामों में साथ न देने वाले आपकी कीर्ति अपूर्व है—अर्थात् अवर्ण है पूर्व में जिसके वह अकीर्ति है ॥ १३ ॥

इस छन्द में अनुत्तम पद से जिस प्रकार उत्कृष्ट अर्थ निकलता है उसी प्रकार अपकृष्ट भी, अपिहित से जिस प्रकार अनावृत उसी प्रकार आवृत (भी अर्थ ज्ञात होता है।) अकार्यसुहृद् पद से जैसे काम के विना भी मैत्रीभाव रखने वाला, उसी भांति अपकर्म में जो साथी है यह भी अर्थ निकलता है। 'अपूर्वाः कीर्तयः' इस पद द्वारा जैसे अद्भुत यश उसी प्रकार अकीर्ति-अपयश-अ है पूर्व में जिसके ऐसी कीर्ति अर्थात् अकीर्ति भी उक्त होती है।

स्व० भा०—यहाँ निर्दिष्ट क्रम में प्रायः प्रत्येक पद के जो अर्थ निकल रहे हैं वे परस्पर विरोधी हैं। व्याकरण के ग्रन्थों में तो 'सर्वे शब्दाः सर्वार्थवाचिनः' तक की व्यवस्था है, किन्तु यह देखा जाता है कि एक पद एकाधिक अर्थों का प्रत्यायन कराने में समर्थ है। कहीं कहीं ये अर्थ परस्पर भिन्न होते हैं और कहीं सर्वथा विपरीत। एक पद की भिन्नार्थता देखी जा चुकी है, आगे भी देखी जायेगी, किन्तु विपरीत अर्थ तो यहीं उपस्थित है। अनुत्तम आदि पद सर्वथा विपरीत अर्थों के वाचक हैं। ऐसी स्थिति में जहाँ एक ओर चमत्कार प्रतीत होता है, वहीं अर्थ का अनर्थ संभव होने से दोष भी है। 'विरुद्धार्थों में किसको ग्रहण किया जाये' इस प्रकार का सन्देह भी उपस्थित होता है। किन्तु इस दोष में तथा संदिग्धत्व में महान् अन्तर है। संशय में अर्थों के अनेक विशेष्य संभव होने पर भी विरोध नहीं होता है। पूर्वोक्त उदाहरण में ही नीललोहितत्व आदि गुण अग्नि, सूर्य तथा शिव में से किसी के भी साथ संयुक्त हो सकते हैं, किन्तु यहाँ दोनों अर्थ पूर्णतः विरोधी ही हैं। दूसरी बात यह भी है कि संदिग्धत्व में प्रायः विशेषण समानता के प्रतिपादक होते हैं, विरोध के नहीं और अनिश्चय भी प्रायः विशेष्य के प्रति ही होता है।

भामह और दण्डी का व्यर्थत्व दोष इससे मिलता है। उनको व्यर्थ का 'वि' उपसर्ग विरोध अथवा विरुद्ध अर्थ में अभीष्ट है, अभाव के अर्थ में नहीं ॥ द्रष्टव्य है काव्यालंकार के चतुर्थ परिच्छेद का नवम छन्द—

विरुद्धार्थं मतं व्यर्थं विरुद्धं तूपदिश्यते । पूर्वापरार्थव्याघाताद्विपर्ययकरं यथा ॥

दण्डी ने भी 'विरुद्धार्थतया व्यर्थमिति दोषेषु पठ्यते' (३।१३१) कहा अवश्य है किन्तु दोष वाक्य तथा प्रबन्ध में माना है। यही भाव भामह का भी है जो उनके उदाहरण छन्द ४।१० से स्पष्ट है। वामन ने भी 'विरुद्ध' अर्थ में ही 'व्यर्थ' दोष माना है। इनको भी यह दोष वाक्यगत ही मान्य है। मम्मट आदि भोजराज के अनुसार ही अपना मत प्रकट करते हैं।

भामह दण्डी आदि आलंकारिकों ने देश, काल, कला, लोक, न्याय और आगमविरोधी दोष माना है। भोज इस रूप में इन्हें नहीं मानते। तथापि 'व्यर्थ' और 'विरोध' के अन्तर का आधार क्रमशः प्रबन्ध या वाक्य के पर्यालोचन तथा प्रकरण-पर्यालोचन के बाद होने वाला आभास है।

इसी प्रकार इनको मान्य 'अपार्थ' में दुष्टत्व का कारण आकांक्षा आदि के अभाव में न होने वाला शाब्दबोध है तथा व्यर्थ में शाब्दबोध के अनन्तर अर्थविरोध दृष्टिगोचर होता है।

विपरीतमिति। **विपरीतं प्रकृतोपमर्दकमर्थकल्पनं यत्र। तथा हि—अनुत्तमेत्यादौ प्रकरणादिभिः स्तुतिपरत्वे व्यवस्थिते उत्तमत्वाभावादिना विरुद्धेनार्थेन तत्र पर्यवसाययितुं न शक्यते। संशयं युगपद्विज्ञायामपि न विरोधः। इह तु स्तुतिनिन्दयोर्युगपद्यमसंभावितमत एवैकस्य संभवे त्वपरस्य बाध एव। यथा—'चिरकालपरिप्राप्तलोचनानन्ददायिनः। कान्ता कान्तस्य सहसा विदधाति गलग्रहम्॥' इति गलग्रहशब्दस्य कण्ठग्रहप्रतिद्वन्द्विन्यर्थे विवक्षिते पूर्वप्रक्रान्तानन्ददायित्वं बाध्यते। अन्रानुत्तम इति बहुव्रीहितत्पुरुषाभ्यामपिहितमिति 'वष्टि भागुरिः' इत्यादिना विकल्पेनाकारलोपविधानात्। अपूर्वा इति पक्षान्तरेऽकारपूर्वाः। नियामकसद्भावे तु गुण एव। यथा—'अपूर्वं यद्वस्तु प्रथयति विना कारणकलाम्' इति शब्दरूपान्तरमेव विरुद्धोपचायकमित्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां शब्ददोषताव्यवस्थितिः॥**

(१४ अप्रयोजक दोष)

अप्रयोजकमित्याहुरविशेषविधायकम् ॥ १३ ॥

यथा—

'तमालश्यामलं क्षारमत्यच्छमतिफेनिलम्।
फालेन लङ्घ्यामास हनूमानेष सागरम्॥ १४॥'

अत्र तमालश्यामलमित्यादीनि सागरविशेषणानि तानि न हनूमतो लङ्घनेऽतिशयं सूचयन्ति॥

अप्रयोजक दोष तब कहा गया है (जब प्रयुक्त पद से कर्त्ता आदि में) विशिष्टता का विधान नहीं हो पाता॥ १३॥

जैसे—हनुमान् एक ही उछाल में तमाल के सदृश नीले, खारे, अत्यन्त निर्मल, खूब फेन से भरे हुये समुद्र को लांघ गए॥ १४॥

इस छन्द में प्रयुक्त तमालश्यामल आदि सागर के विशेषण हैं। वे हनुमान् द्वारा लाँघने की विशेषता अथवा महत्त्व नहीं सूचित करते।

स्व० भा०—वस्तुतः कवि द्वारा प्रयुक्त वे ही पद प्रशस्त माने जाते हैं जो वाक्य में अर्थ को चरमसीमा तक उत्कृष्टता प्रदान करें। यदि उनके प्रयोग से कोई विशेषता नहीं आती तब तो परिश्रम व्यर्थ ही है। यहाँ परिश्रम की व्यर्थता पर सहृदय को उतना क्षोभ नहीं होता जितना शब्दराशि की निरर्थकता अथवा अनुपादेयता पर। यदि सागर की सुन्दरता को नहीं अपितु इसकी दुर्लंघ्यता को बताने वाले पदों का प्रयोग करके तब हनुमान् के कृत्य का निरूपण होता तब विशिष्टता आती। कार्य के दुष्कर होने पर ही उसे साधने वाला विशिष्ट होता है।

विशिष्टताधायक न होने पर भी इन प्रयुक्त पदों को अनर्थक दोष में अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता क्योंकि वहाँ पादपूरक पदों का अर्थ ही ग्रहण नहीं किया जाता। यहाँ अर्थ होता है, केवल वह विशिष्टता लाने में असमर्थ होता है। उसकी यह असमर्थता ही दोष है। वह दोष भोज की अपनी उद्भावना है।

अप्रयोजकमित्याहुरिति। **तदेव हि कवीनामुपादेयं यद्वाक्यार्थे प्रकृष्टकाष्ठां पुष्णाति। अन्यथानङ्गाभिधानेऽवाच्यवचनमेव स्यात्सार्थकत्वादनन्वयत्वाच्च। न वृत्तपूरणमात्रप्रयोजनता नातिशयमिति। सागरलङ्घनद्वारा हनूमतः प्रकर्षो वाच्यः। न च तमालश्यामलत्वादिविशेषणानि कथंचित्प्रकर्षमर्पयन्ति यानि दूरत्वादीनि तथा न तेषामुपादानम्॥**

(१५ देश्यदोष)

तद्देश्यमिति निर्दिष्टं यदव्युत्पत्तिमत् पदम्।

यथा—

'गल्लौ लावण्यतल्लौ ते लडहौ मडहौ भुजौ।
नेत्रे वोसट्टकन्दोट्टमोट्टायितसखे सखि॥ १५॥

अत्र गल्लतल्लादयः शब्दा अव्युत्पत्तिमन्तो देश्या दृश्यन्ते॥

वह पद देश्यदोष से युक्त कहा गया है जो व्युत्पत्ति रहित होता है अर्थात् जिसके प्रकृतिप्रत्यय आदि का ज्ञान नहीं हो पाता॥ १४ अ॥

जैसे (कोई सखी नायिका से कहती है कि) हे सखी, तेरे कपोल तो सौन्दर्य की तलैया हैं, तेरी दोनों बाहुयें अत्यन्त मनोहर तथा कृश हैं, और दोनो नयन तो विकसित नीलोत्पल की छटा के साथी हैं॥ १५॥

इस छन्द में गल्ल, तल्ल आदि शब्द व्युत्पत्तिहीन होने से देशी दिखाई पड़ते हैं।

स्व० भा०—शाखियों के व्युत्पत्ति तथा अव्युत्पत्तिवादी दो पक्ष हैं। प्रथम के अनुसार मूल शब्द से प्रत्यय आदि लगाकर ही पद बनाया जाता है जब कि दूसरों के मत में शब्द ज्यों के त्यों ही होते हैं। यास्क ने तो अग्नि जैसे पद को भी अद्, गम् तथा नी इन तीन धातुओं के योग से निष्पन्न माना है। व्युत्पत्तिवादी शब्दों को किसी न किसी धातु से सम्बद्ध कर ही देते हैं। किन्तु कुछ पद ऐसे भी हैं जिनका प्रयोग केवल लोक में होता है। शास्त्र में न आने से भी तथा सीधे या टेढे उनका प्रकृति-प्रत्यय विभाग नहीं हो पाता। प्रकृतिप्रत्यय का विभाग न हो पाने से, केवल लोक में प्रयुक्त होने से इसमें उसी भांति दुर्बोधता तथा दोषत्व है जैसे अप्रतीत पद में।

जब ये व्युत्पन्न तथा अव्युत्पन्न दोनों प्रकार के पद एक साथ छन्द में प्रयुक्त होते हैं तब दोनों का प्रभाव दो प्रकार होने से सहृदय को खटक जाता है, उसे रसबोध में व्यवधान होता है। अतः यह दोष है।

रुद्रट ने अपने काव्यालंकार में देश्य तथा ग्राम्य दोनों दोषों को पृथक् २ माना है। भोज का यह दोष विवेचन रुद्रट से ही मिलता है, क्योंकि वामन (काव्यालंकारसूत्र २।११७) तथा मम्मट, और जयदेव, विश्वनाथ आदि ने भोज के देश्य को ही अपने यहाँ ग्राम्य कहा है। इनके देश्य की वही परिभाषा है जो उनके ग्राम्य की है। भोज का ग्राम्य उनके त्रिविध अश्लीलत्व का पर्याय है। रुद्रट की परिभाषा भोज की भी अपेक्षा अधिक स्पष्ट है, अतः दर्शनीय है।

प्रकृतिप्रत्ययमूला व्युत्पत्तिर्नास्ति यस्य देश्यस्य।
तन्मडहादि कथञ्चन रूढिरिति न संस्कृतं रचयेत्॥ काव्या० ६।२७॥

प्रस्तुत श्लोक में उद्धृत तल्लशब्द ताल या छोटे तडाग, लडहं मनोहर, मडहं कृशता, वोसट्ट विकसित, कन्दोट्ट नीलोत्पल तथा मोट्टायित विलास के वाचक हैं।

तद्देश्यमिति। **अव्युत्पत्तिमत् प्रकृतिप्रत्ययविभागशून्यं लोकमात्रप्रयुक्तं पदमनादेयं भवति। तद् द्विविधम्—अभागं भागवच्चेति। आद्यं देश्यम्, द्वितीयं ग्राम्यमिति विभागः।**

व्युत्पन्नानामन्यादृशी च्छाया देश्यानां च न तादृशीति देश्यवेद्यपदसमभिव्याहारे प्रायेण छायावैरूप्यं बन्धस्य भवतीति सहृदयहृदयसाक्षिकं दोषबीजम्। तल्लमल्पसरः, लडहं मनोहरम्, मडहं कृशम्, वोसट्टं विकसितम्, कन्दोट्टं नीलोत्पलम्, मोट्टायितं विलासः॥

(१६ ग्राम्यत्व दोष)

अश्लीलामङ्गलघृणावदर्थं ग्राम्यमुच्यते ॥ १४ ॥
अत्राश्लीलमसभ्यार्थमसभ्यार्थान्तरं च यत्।
असभ्यस्मृतिहेतुश्च त्रिविधं परिपठ्यते ॥ १५ ॥

अश्लील, अमङ्गल तथा घृणोत्पादक अर्थ वाले पद को ग्राम्य कहते हैं इन भेदों में अश्लील असभ्यार्थ, असभ्यार्थान्तर तथा असभ्यस्मृति हेतु इस तीन प्रकार का पढ़ा जाता है ॥ १४-१५ ॥

स्व० भा०—भोज और रुद्रट ने ग्राम्यत्व पद का प्रयोग अधिक विवेक के साथ किया है। वामन, मम्मट, जयदेव तथा विश्वनाथ आदि ने ग्राम्यत्व दोष की जो परिभाषायें दी हैं वे भोज के 'देश्य' के समान हैं। इन लोगों ने अश्लीलत्व एक अलग दोष मानकर उसके तीन भेद किये हैं। सूक्ष्म विचार करने से भोज का देश्य तथा ग्राम्य विभाजन अधिक उपयुक्त दृष्टिगोचर होता है। सम्भवतः मम्मट आदि ने लोक में प्रयुक्त होने वाले शब्दों को ग्राम में बसने वाले लोगों की वाणी समझा और उनके द्वारा प्रयुक्त शब्दों को ग्राम्यनाम दे डाला। देशी अथवा देश्य शब्द इसलिए उचित है क्योंकि ये एक देश अथवा क्षेत्र विशेष में प्रयुक्त होते हैं। ये एक देशीय अथवा क्षेत्रीय होते हैं। दूसरी ओर ग्राम्यत्व विभाजन इसलिए अश्लीलत्व, अमङ्गल तथा घृणावद् पदों के लिए उपयुक्त है, क्योंकि नागर अथवा अधिक परिष्कृत न होने के कारण एक ग्राम्य व्यक्ति से यह आशा की जाती है कि उसके वाणी में ये पद आ जायें। आज भी गाँवों में सहजभाव से इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग खूब होता है जिसे वहाँ के लोग विना विशेष ध्यान दिए सुनते हैं, यह बात केवल ग्राम में रहने वालों तक ही नहीं अपितु लक्षणया असंस्कृत लोगों से भी सम्बद्ध है।

भोज ने ग्राम्यत्व की सीमा और प्रकार का निर्धारण तो कर दिया किन्तु उसकी परिभाषा नहीं की। इनके अनुकूल, न कि मम्मट आदि के जैसा जो देश्य को ही ग्राम्य मानते हैं, रुद्रट की परिभाषा अत्यन्त स्पष्ट तथा सुन्दर है।

यदनुचितं यत्र पदं तत्तत्रैवोपजायते ग्राम्यम्।
तद् वक्तृवस्तु विषयं विभिद्यमानं द्विधा भवति ॥ ६।१७॥

रुद्रट ने भेद भी प्रकारान्तर से दो ही-सभ्य तथा असभ्यार्थक-किया है (६।२१)

वामन ने अश्लीलत्व दोष का दो प्रकार से विभाजन किया है। प्रथम में असभ्यार्थान्तर तथा असभ्यस्मृति हेतु का समावेश है तथा द्वितीय में व्रीडा, जुगुप्सा तथा अमङ्गलरूप का [1]। वामन के ये दोष पदार्थगत हैं। इनमें से प्रथम भेद भोज के तथा द्वितीय प्रकार का भेद परवर्तियों के अधिक निकट है। भोज ने वामन की अपेक्षा अश्लील का एक उपभेद अधिक किया है।

---

१. असभ्यार्थान्तरमसभ्यस्मृतिहेतुश्चाश्लीलम् ।२।१।१५॥ तथा
तत्त्रैविध्यम्० व्रीडाजुगुप्सामङ्गलातङ्कदायिभेदात् ॥ २।१।२०॥

(१६ क-१ ग्राम्यत्व के अश्लील भेद का प्रथम उपभेद असभ्यार्थ)

तेष्वसभ्यार्थं यथा—

'छत्राकारशिराः शिरालसरसस्थूलप्रकाण्डो महान्
मध्ये भानुसुताभ्रसिन्धुविपुलाभोगो वटः पातु वः ।
कायैक्ये विकटप्रसारितमहाजङ्घं महीसुप्तयो-
र्यः खण्डेन्दुकिरीटकैटभजितोः काटश्रियं कर्षति ॥ १६ ॥

तदेतच्छत्राकारशिराः काट इत्यादेरसभ्यार्थत्वादसभ्यार्थम् ॥

अश्लील के भेदों में (जिसे) असभ्यार्थ कहते हैं, वह इस प्रकार होता है (जैसा कि आगे है ।) छाते के सदृश शिरोभाग वाला, शिराओं-जटाओं से संयुक्त, हरी-भरी तथा मोटी डालों से संयुक्त; अत्यन्त विशाल तथा यमुना और गङ्गा के विस्तृत पुलिन प्रदेश के मध्य स्थित वह वटवृक्ष आपकी रक्षा करे जो शरीर एक में सटाकर अपनी विशाल एवं सुदृढ़ जांघों को फैलाकर पृथ्वीपर ही सोये हुये अर्धचन्द्र को किरीट की भांति शिर पर धारण करने वाले शिव तथा विष्णु की कटि की शोभा को धारण कर रहा है ॥ १६ ॥

यहाँ पर 'छत्राकारशिरा' काट, आदि पदों का असभ्य अर्थ होने से यहाँ असभ्यार्थ दोष है ।

स्व० भा०—वस्तुतः इस पद्य को पढ़ने पर प्रकारान्तर से जितने भी वट के विशेषण पद हैं वे पुरुष लिङ्ग के लिए भी अर्थ देने में सक्षम प्रतीत होते हैं । पुरुष जननेन्द्रिय का अर्थ लेने पर छन्द का अर्थ कुछ इस प्रकार होगा—यह वटवृक्ष एक में शरीर सटाकर अपनी बलिष्ठ तथा विशाल जांघों को फैलाकर पृथ्वी पर ही अर्धचन्द्र-गलबांहीं डालकर सोये हुये मिथुन के छत्ते से फैले हुए अग्रभाग वाली नसों से संयुक्त, चिकने एवं मोटे-मोटे, बहुत बड़े यमुना तथा गंगा नदियों के पुलिन के सदृश लम्बाई चौड़ाई वाले गुप्तांग की भांति लग रहा है ।

भोजराज द्वारा उद्धृत इस पद्य के प्रायः प्रत्येक पद से अश्लील असभ्य अर्थ निकल रहा है । यहाँ 'काट' शब्द गुप्तांग का वाचक हो जाता है । छत्राकार शिरा आदि पदों का अर्थ उत्तेजित अवस्था के छत्ते सा फूले हुये अग्रभाग वाले शिश्न के विशेषण के रूप में लग जाता है । इसी प्रकार अन्य शब्दों के भी अर्थ उपर्युक्त व्याख्या के अनुसार लगा लेना चाहिए । परवर्ती आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट व्रीडार्थक अश्लील दोष इससे मिलता जुलता है । अन्यों के उदाहरण एक अथवा दो अश्लील पदों से युक्त हैं, किन्तु भोज ने तो पूरा पद्य ही ऐसे व्रीडाव्यंजक पदों से भर दिया है ।

अश्लीलेति । **देश्यातिरिक्तं लोकमात्रप्रयुक्तं ग्राम्यम् । तद्विधा—व्रीडाजुगुप्सातङ्कदायित्वात् । तत्राद्यमश्लीलं श्रीर्यस्यास्ति तच्छ्लीलम् । सिध्मादेराकृतिगणत्वाल्लच् । कपिलकादिपाठाल्लत्वम् । न श्लीलमश्लीलम् । व्रीडादायित्वेनाकान्तमित्यर्थः । द्वितीयं घृणावदर्थकम् । जुगुप्सादायि प्रत्याख्येयमस्येति । तृतीयममङ्गलार्थमातङ्कदायिज्ञाप्यमस्येति कृत्वाश्लीलपर्यायोऽसभ्यशब्दः । सभायां साधुरित्यर्थे तेनापि शास्त्रे व्यवहार इति प्रदर्शनार्थमसत्यशब्देनाश्लीलमनूद्य व्याचष्टे । तत्रासभ्यमिति । अर्थस्यासभ्यत्वात्पदमप्यसभ्यम् । स चार्थः क्वचित् प्रकृतोऽप्रकृतोऽपि श्लेषोपस्थित एकदेशात्स्मृतिमात्रारूढो वा । तत्र यथाक्रममसभ्यादयस्त्रयः । एवममङ्गलादयोऽपि । सूर्यसुता यमुना । अभ्रसिन्धुर्गङ्गा । तयोर्मध्ये 'पारे मध्ये षष्ठ्या वा' इत्यव्ययीभावः । अर्धं हरेरर्धं हरस्येति शरीरैक्ये काटशब्दस्यासभ्यार्थत्वे तद्विशेषणानामप्यसभ्यत्वमिति तान्यादाय व्याचष्टे—अत्र छत्राकारेति ॥**

(१६ क-२ ग्राम्य अश्लील का दूसरा भेद असभ्यार्थान्तर)

असभ्यार्थान्तरं यथा—

'विद्यामभ्यसतो रात्रावेति या भवतः प्रिया ।
वनिता गुह्यकेशानां कथं ते पेलबन्धनम् ॥ १७ ॥

तदेतद्या भवतः प्रिया गुह्यकेशानां पेलबन्धनशब्दानामसभ्यार्थान्तरत्वादसभ्यार्थान्तरम् ॥

असभ्यार्थान्तर अश्लीलत्व भी होता है जैसे—

(कोई साथी अपने मित्र से कहता है कि) रात्रि में मन्त्रविद्या का अभ्यास करने वाले आपकी जो प्रियतमा आती है वह तो गुह्यकों की स्त्री अर्थात् यक्षिणी है। अतः आपको धन की कमी कैसे हो सकती है ॥ १७ ॥

तो यहाँ यह जो 'या भवतः प्रिया' (जो आपकी प्रेयसी अथवा 'मैथुन करने वाले की प्रेमिका') 'गुह्यकेशानाम्' (यक्षों के स्वामी की अथवा गुप्तांग के बालों की), 'पेलबन्धन'- (धनाभाव अथवा अण्डकोशों का बन्धन), इन शब्दों का दूसरा अर्थ असभ्य होने से यहाँ असभ्यार्थान्तर दोष है।

स्व० भा०—जब किसी पद के अनेक अर्थों में एक अर्थ अश्लील होता है तब यह दोष होता है। वामन द्वारा दी गई परिभाषा[1]-'यस्य पदस्यानेकार्थस्यैकोऽर्थोऽसभ्यः स्यात् तदसभ्यार्थान्तरम्' से यह स्पष्ट हो जाता है। परवर्ती आचार्यों में अश्लीलार्थक विसन्धि दोषों के प्रकरण में यह स्वरूप दृष्टिगोचर होता है।

विद्यामिति। **या रात्रौ विद्यामभ्यसतो मन्त्रमावर्तयतस्तव प्रिया समायाति सा यक्षिणी। अतः कथं ते धनं पेलवं कोमलम्। स्वल्पमिति यावत्। किं तु यक्षिणीप्रसादाद्बहु धनं तवोचितमित्यर्थः। प्रकृतपदानि त्वसभ्यार्थान्तराणि तान्युद्धृत्य व्याचष्टे—तदेतद्या भवतः प्रियेति। असभ्यार्थप्रकाशनमेव 'षष्ठ्या आक्रोश' इत्यर्थः। याभवतः प्रियेति एकं पदं याभो मैथुनं तद्वतः प्रियेत्यर्थात्। योनिर्वनिताया गुह्यस्तस्य केशाः। पेलशब्दो मुष्कयोः प्रसिद्धः। तत्र बन्धनमिति ॥**

(१६ क-३ ग्राम्य अश्लील का असभ्यस्मृति हेतु दोष)

असभ्यस्मृतिहेतुर्यथा—

'उत्कम्पयसि मां चूत पिकवाक्काटवेन किम् ।
कृतः ककाटिकायां ते पादः प्राणेन यास्यता ॥ १८ ॥'

तदिदं काटवककाटिकापादयोरसभ्यस्मृतिहेतुत्वादसभ्यस्मृतिहेतुता ॥

(जब कोई पद सभ्यार्थवाचक होते हुये भी, एक अंश द्वारा असभ्यार्थ का स्मरण करा देता है तब) असभ्यार्थस्मृति हेतु होता है जैसे—हे आम्रवृक्ष, दुःखद होने के कारण कोयल की वाणी से तुम मुझे क्यों डरा रहे हो। तुम्हारे गले पर पाँव रखकर मेरे प्राण चले, (अतः मैं जीत गया।) ॥ १८ ॥

यहाँ काटव तथा ककाटिका इन दोनों पदों से अश्लील अर्थ की याद आने से यह दोष है।

स्व० भा०—काट तथा काटिका पदों का अर्थ गुह्यांग है, अतः पद के बीच में आने पर भी इनसे अश्लील अर्थ की याद आ ही जाती है।

---

१. काव्यालंकारसूत्र २।१।१५॥ की वृत्ति।

उत्कम्पयसीति। हे चूतवृक्ष, कोकिलस्य वाचा कटुत्वेन दुःखदायित्वात् किं मां भापयसि। ननु तव कृकाटिकायां ग्रीवायां पादं दत्त्वा चलिता मम प्राणास्तेन मया जितम्। व्यर्थस्तवायं परिश्रम इति वाक्यार्थो विवक्षितः। काटवशब्दे काट एकदेशः कृकाटिकाशब्दे काटिकेति लोपः। काटः काटिका॥

(१६ ख-१ ग्राम्य-अमङ्गल का अशस्तार्थ भेद)

लोकेषु यदशस्तार्थमशस्तार्थान्तरं च यत्।
अशस्तस्मृतिहेतुश्चामङ्गलार्थं त्रिधैव तत्॥ १६॥

तेष्वशस्तार्थं यथा—

'खेटके भक्तसूपस्य वलभ्याः पत्तनस्य च।
अतृप्तोऽहं मरिष्यामि हे हले भाषितस्य च॥ १६॥'

अत्र मरिष्यामीतिपदमशस्तार्थम्॥

लोक में जो अशस्तार्थ अर्थात् अमाङ्गलिक अर्थवाला, अशस्तार्थान्तर अर्थात् अनेक अर्थों में एक अशिव अर्थ रखने वाला तथा अशस्तस्मृति हेतु अर्थात् अमाङ्गलिक अर्थ की याद दिलाने वाला अमङ्गलार्थ (नामक ग्राम्यत्व का द्वितीय भेद है) वह तीन ही प्रकार का है॥ १६॥

इनमें से अशस्तार्थ इस प्रकार होता है जैसे—(कोई रसिक कहता है कि) गांवों में (उत्पन्न) भात तथा दाल या चटनी से तथा नगर की छतों पर स्त्रियों के हो रहे 'हे हले' के साथ प्रेमपूर्ण वार्तालाप से विना अघाये ही मैं मर जाऊँगा, अर्थात् मैं जितना भी इन्हें पाऊँ मेरी तृप्ति नहीं होती॥ १९॥

स्व० भा०—यहाँ पर प्रयुक्त 'मरिष्यामि' मर जाऊँगा यह पद अमङ्गलवाचक है।

खेटक इति। **अतृप्तः सुखस्येयत्तापरिच्छेदाभावात्। खेटके ग्रामे यद्भक्तं सूपश्चोत्पद्यते तस्य पत्तनस्य या वलभी नगरस्य या वलभी तस्यां सुहितार्थयोगे षष्ठीनिषेधाल्लिङ्गादनुमीयते तृप्त्यर्थयोगे षष्ठी भवति। अन्ये तु व्याचक्षते—भक्तसूपपदनामा दक्षिणापथे विषयस्तत्सन्निधौ खेटके वलभीनाम कस्यचिद्विरूपाख्याधिष्ठानस्य तत्रैव पत्तनस्य हे हले इति स्त्रीणामव्याजमन्योन्यप्रेमातिशयगर्भस्य भाषितस्येति॥**

(१६ ख-२ ग्राम्य अमङ्गलका अशस्तार्थान्तर दोष)

अशस्तार्थान्तरं यथा—

'प्रवासयति या कान्तं वसन्ते गृहसंस्थितम्।
विना शपथदानेन पिशाची सा न चाङ्गना॥ २०॥'

अत्र प्रवासयति-संस्थितं-विनाशपथदानेन-पिशाचीपदानामशस्तार्थान्तरत्वम्॥

अशस्तार्थान्तर दोष ऐसे स्थानों पर होता है जैसे—

विना शपथ दिलाए घर में सम्यक् स्थित प्रिय को वसन्त ऋतु में जो बाहर जाने देती है वह वस्तुतः स्त्री नहीं अपितु पिशाची के सदृश अनुचितकारिणी है॥ २०॥

यहाँ प्रवासयति = बाहर जाने देती है, संस्थित = भली भांति विद्यमान, विना शपथदान = विना कसम दिये, तथा पिशाची = तद्वत् कठोर कर्म करने वाली पदों का (उच्चाटन, मृत, विनाश का मार्ग देना, तथा मांसभक्षिणी जैसा) दूसरा अमांगलिक अर्थ भी होने के कारण यह दोष है।

प्रवासयतीति। शपथदानं विना प्रवासयति अन्यत्र प्रहिणोति गृहे सम्यक् स्थितं प्रियं साङ्गना न, किं तु पिशाचीवदनुचितकारिणीत्यर्थोऽभिमतः। अन्यत्र प्रवासनमुच्चाटनं संस्थानं विनाशः विनाशस्य पन्थास्तस्य दानम्। पिशितमश्नातीति पिशाची। पृषोदरादित्वात्। तदेतद्व्याचष्टे—अत्र प्रवासयतीति।

(१६ ख-३ ग्राम्य अमङ्गल का अशस्तार्थस्मृति हेतु)

अशस्तस्मृतिहेतुर्यथा—

'मारीचोऽयं मुनिर्यस्य कृत्या कालान्तकालये।
पत्न्यां संक्रन्दनादीनां सुतानामाप्तयेऽभवन्॥ २१॥'

अत्र मारीचकृत्या कालान्तक-संक्रन्दन-पदानामशस्तार्थस्मृतिहेतुत्वम्॥

अशस्तस्मृतिहेतु दोष उन स्थानों पर होता है जैसे—

यही वह मुनि काश्यप हैं जिनकी (आराधना आदि की) क्रियायें शिव के मन्दिर में अपनी पत्नी से इन्द्र आदि द्वादश आदित्यों को पुत्र रूप में प्राप्त करने के लिए की गई थीं॥ २१॥

यहाँ छन्द में प्रयुक्त मारीच, कृत्या, कालान्तक, संक्रन्दन पद क्रमशः मारक, कृत्या, यमराज तथा चिल्लाना आदि अमङ्गल अर्थों की याद का कारण बनते हैं, अतः यहाँ अशस्तस्मृति हेतु दोष है।

स्व० भा०—इन दोषों के नामों से ही गुण प्रकट हो जाने के कारण भोज ने पृथक् २ लक्षण नहीं दिये। यही भाव अश्लीलत्व तथा घृणावत् में भी समझना चाहिए।

मारीचोऽयमिति। **मरीचेरपत्यं मारीचः काश्यपः संक्रन्दनादीनिन्द्रादीन् द्वादश पुत्रानादित्यानुत्पादितवान्। तच्च कालान्तकस्य भगवतो महादेवस्यालये याः कृत्याः क्रिया भगवदाराधनरूपास्तासां फलमित्यर्थः। मारीचशब्दे मारकदेशः कृत्या इति सुबन्तपदे कृत्येत्येकदेशः, कालान्तकालय इत्यत्रान्तकेति, संक्रन्दने शब्दक्रन्दनेति॥**

(१६ ग-१ ग्राम्यघृणावदर्थ तथा भेद)

**पदमर्थं घृणावन्तं यदाहार्थान्तरं च यत्।
घृणावत्स्मृतिहेतुर्यत्तद्घृणावदिह त्रिधा॥ १७॥**

तेषु घृणावदर्थं यथा—

'पर्दते हदते स्तन्यं वमत्येष स्तनन्धयः।
मुहुरुत्कौति निष्ठीवत्यात्तगर्भा पुनर्वधूः॥ २२॥'

पर्दते दहते वमति निष्ठीवतीति शब्दानां घृणावदर्थत्वम्॥

जब कोई पद घृणावान् अर्थ को, अथवा घृणावदर्थान्तर को प्रकट करता है और घृणावत् अर्थ की याद का निमित्त बनता है, तब घृणावद् दोष होता है जो तीन प्रकार का है॥ १७॥

इनमें घृणावदर्थ दोष यों होता है जैसे—

यह दुधमुँह बच्चा पादता है, हगता है और स्तन के पिये हुये दूध को वमन करता है। फिर से गर्भवती हो गई दुलहिन बार बार उबकाई लेती है, बार बार थूकती है॥ २२॥

स्व० भा०—इस भेद को परवर्ती आचार्यों के जुगुप्सित अश्लील की कोटि में रखा जा सकता है।

पर्दत इति। उत्कौति उत्कारं करोति। निष्ठीवति थूत्करोति। आत्तगर्भा पुनर्वधूरिति बालस्य स्तन्यवमनादिनिदानसूचनम्। अत एव 'न गर्भिण्याः पिबेत्क्षीरं पारगर्भिककृत्तु तत्' इति वैद्यकम्॥

(१६ ग-२ ग्राम्य घृणावद् का अर्थान्तर दोष)

घृणावदर्थान्तरं यथा—

'बाष्पक्लिन्नाविमौ गण्डौ विपूयापाण्डरौ तव।
प्रियोऽग्रे विष्ठितः पुत्रि स्मितवर्चोभिरर्चति॥ २३॥'

अत्र क्लिन्नगण्डविपूयाविष्ठितवर्चःपदानां घृणावदर्थान्तरम्॥

यह वहाँ होगा जैसे—(कोई वृद्धा दूती नायिका से कहती है कि) हे बेटी, सामने भली भांति बैठा हुआ तुम्हारा प्रेमी अपने मन्द हास्य की चमक से तुम्हारे इन दोनों मूँज के सदृश स्वर्णिम आभावाले सरस कपोलों की मानो पूजा कर रहा है॥ २३॥

यहाँ प्रयुक्त क्लिन्न = कोमल या सरस, गण्ड = कपोल, विपूय = मूँज, विष्ठित = विशेषरूप से बैठे, वर्चः = छटा या आभा पदों का दूसरा अर्थ (गला हुआ, घाव, पीव, मलत्याग किए हुये, तथा मल) घृणोत्पादक है। अतः यहाँ घृणावदर्थान्तर दोष हुआ।

बाष्पेति। **विपूयो मुञ्जः। विशेषेण स्थितो विष्ठितः स्मितवर्चो हास्यतेजः। तव कपोलौ दृष्ट्वा पुरःस्थितस्तव प्रिय ईषद्धास्यं कुर्वन् कपोलयोर्हास्यज्योत्स्नया पूजां करोतीत्यर्थः। अन्यत्र बाष्पेणोष्मणा क्लिन्नो मृदूभूतः गण्डो व्रणः। विशिष्टः पूयो विपूयस्तेन पाण्डरः। विष्ठितो विष्ठा संजातास्य। वर्चः पुरीषम्। यत्स्मरणाद्बाष्पादीनां घृणावति वृत्तिस्तदेव पृथक्कृत्याह—अत्र क्लिन्नेति॥**

(१६ ग-३ ग्राम्यघृणावत्स्मृतिहेतु)

घृणावत्स्मृतिहेतुर्यथा—

'प्रत्यार्द्रयन्तो रूढानि मदनेषुव्रणानि नः।
हृदयं क्लेदयन्त्येते पुरीषण्डमहद्द्रुमाः॥ २४॥'

अत्र रूढव्रणक्लेदपुरीषण्डपदानां घृणावत्स्मृतिहेतुत्वम्॥

(जुगुप्सित अर्थ की याद दिलाने वाला पद) घृणावत् स्मृति हेतु है। जैसे—ये नगरी से सटे हुए सघन एवं विशाल वृक्ष कामबाण से बने उभर रहे घावों को और भी अधिक आर्द्र करते हुये हृदय को द्रवित किये दे रहे हैं॥ २४॥

यहाँ रूढ = उगे हुए, व्रण = घाव, क्लेद = आर्द्रता, पुरीषण्ड = मल, पदों के घृणित अर्थ का स्मारक होने से घृणावत्स्मृतिहेतु नामक दोष हुआ।

स्व० भा०—ग्राम्यत्व दोष के अश्लील, अमङ्गलार्थ तथा घृणावदर्थ विभागों के जो सर्वत्र तीन-तीन उपभेद किए गए हैं उनमें अन्तर स्पष्ट हैं। जैसे असभ्यार्थ असभ्यार्थान्तर से इसलिए भिन्न है क्योंकि प्रथम का स्वाभाविक संकेतित अर्थ ही अश्लीलता का ज्ञान कराता है जब कि द्वितीय में अभिधेय के अतिरिक्त जो पद का अमुख्य दूसरा अर्थ होता है वह अश्लीलता उत्पन्न करता है। इसी प्रकार स्मृति हेतु में छन्द में प्रयुक्त पद अथवा उसका कोई अंश इस रीति से सामने आ जाता है कि वह स्वयं स्पष्ट रूप से प्रथम भेद की भाँति नहीं अपितु अमुख्य अर्थ अथवा पद के

भीतर पड़े रह कर झलक जाता है और अश्लील, अमङ्गल अथवा घृणावत् पदार्थ की याद आ जाया करती है।

पददोष : एक रेखा चित्र

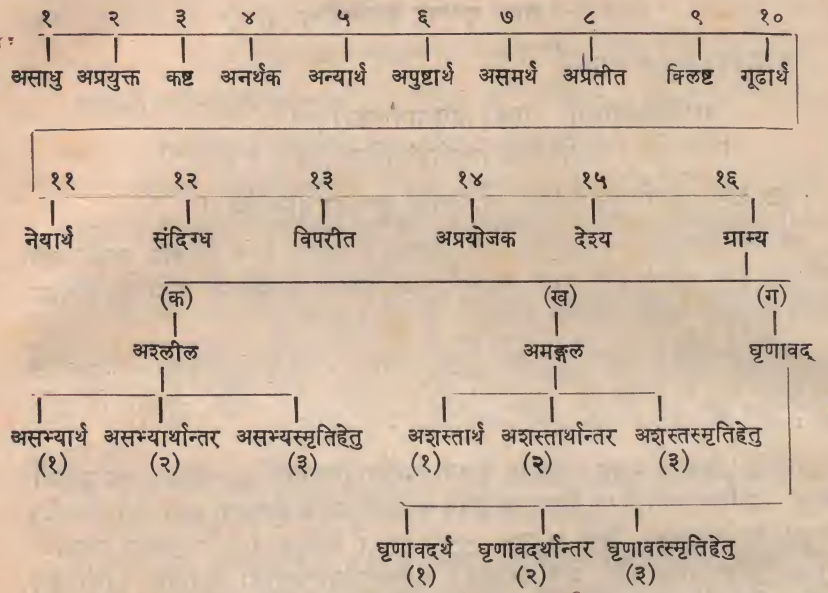

इस प्रकार पददोषों का विहगावलोकन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि अलंकारिकों में इनकी संख्या, स्वरूप, नाम तथा भेदोपभेद के विषय में ऐकमत्य नहीं है। नाम समान होने पर भी उनके लक्षणों में यत्र तत्र भिन्नता है। संक्षेप में इसका कारण समीक्षकों के मौलिक चिन्तन की क्षमता, संस्कृत भाषा के शब्दों में अनेकार्थ प्रतीत करा लेने की शक्ति, पुनरुक्ति तथा पिष्टपेषणता से बचने की प्रवृत्ति तथा काव्य की आत्मा के विषय में मतभेद होने से अपनी मान्यता के अनुसार ही दोषादिर्शन की भावना, क्रमशः सूक्ष्मविवेचन के प्रति अभिरुचि आदि हैं।

वाक्यदोष

वाक्य पर आश्रित दोषों को वाक्यदोष कहते हैं। पददोषों में अवाञ्छित तत्त्व केवल एक पद के कारण आता है और उसका प्रभाव भी उसी पद तक सीमित रहता है, किन्तु वाक्यदोष में वह अपने तक ही सीमित न रहकर पूरे वाक्य पर अथवा अपने से भिन्न पदों पर भी असर डाल कर पूरे वाक्य को दुष्ट कर देता है। वाक्यों में पद ही होते हैं अतः पदों के माध्यम से ही प्रायः वाक्य में दोष आते हैं। दोनों का अन्तर विशेषतः प्रभावक्षेत्र का है। मम्मट ने इसीलिए समस्त पद दोषों की भी गणना वाक्यदोषों में की है।

प्रत्यार्द्रयन्त इति। **अन्योन्यलग्नो वृत्तसमूहः षण्डः। रूढानीत्यनेन मदनेषुव्रणानां विशेषितत्वात्। मदनेषुभागमपहाय व्रणभागमात्रेण रूढव्रणस्मृतिर्भवन्तीपदादेवेति विवक्षितवान्। पुरीषण्डशब्दे पुरीषेत्येकदेशः॥**

तदेवं पददोषांल्लक्षयित्वा क्रमप्राप्तवाक्यदोषा लक्षणीया इति तान्विभजते—

शब्दहीनं क्रमभ्रष्टं विसंधि पुनरुक्तिमत् ।
व्याकीर्णं वाक्यसंकीर्णमपदं वाक्यगर्भितम् ॥ १८ ॥
द्वे भिन्नलिङ्गवचने द्वे च न्यूनाधिकोपमे ।
भग्नच्छन्दोयती च द्वे अशरीरमरीतिमत् ॥ १९ ॥
वाक्यस्यैते महादोषाः षोडशैव प्रकीर्तिताः ।

भोज अपनी पूर्वप्रतिज्ञा 'दोषाः पदानां वाक्यानां वाक्यार्थानां च षोडश' (१।३) के अनुसार पददोषों का निरूपण करने के बाद क्रमप्राप्त षोडश वाक्यदोषों का उल्लेख करते हैं—

(१) शब्दहीन (२) क्रमभ्रष्ट (३) विसन्धि (४) पुनरुक्तिमत् (५) व्याकीर्ण (६) वाक्यसंकीर्ण (७) अपद (८) वाक्यगर्भित (९) भिन्न लिङ्ग (१०) भिन्न वचन ये दो, तथा दो ये (११) न्यूनोपमा (१२) अधिकोपमा, (१३) भिन्नछन्द तथा (१४) भिन्नयति ये दो, (१५) अशरीर (१६) अरीतिमत् ये सोलह ही वाक्य के महादोष प्रख्यात हैं ॥ १८-२० अ ॥

स्व० भा०—ग्रन्थकार ने षोडश संख्या पर विशेष बल दिया है। रसाचार्य भरत ने दस, भामह ने दोषनिरूपक चतुर्थ परिच्छेद के प्रारम्भ में सब मिलाकर-न कि केवल वाक्यगत-१८ दोष, रुद्रट ने काव्यालंकार के षष्ठ अध्याय में सामान्यरूप से सात दोष तथा एकादश में नव अर्थदोष बताया है। रुद्रट ने पृथक् रूप से वाक्यदोषों की गणना षष्ठ अध्याय के चालीसवें छन्द में की है और संख्या केवल तीन कही है।[1] इनके अतिरिक्त वाक्यगुणों के वर्णन के प्रसङ्ग में कुछ दोष प्रकारान्तर से गिना गए हैं।

अन्यूनाधिकवाचकसुक्रमपुष्टार्थशब्दचारुपदम् ।
क्षोदक्षममक्षूणं सुमतिर्वाक्यं प्रयुञ्जीत ॥ वही २।८ ॥

दण्डी ने 'इति दोषा दशैवैते वर्ज्याः काव्येषु सूरिभिः' (कव्यादर्श ३।१२६) कहकर दस संख्या पर अधिक बल दिया है और भामह के प्रतिज्ञा, हेतुदृष्टान्तहानि आदि दोषों को अपास्त कर दिया है। (वही १२७)। वामन ने 'भिन्नवृत्तयतिभ्रष्टविसंधीनि वाक्यानि' (काव्यालंकारसूत्र २।२।१) कहकर केवल तीन वाक्यदोष माना है। अतः भोज ने सोलह संख्या पर बल दिया है।

दोषाः के स्थान पर 'महादोषाः' कहने का अभिप्राय केवल पाद पूरण नहीं है। इससे यह व्यक्त होता है कि पदगत अन्य दोष अथवा अर्थगत अन्य दोषों की संभावना वाक्यदोषों में भी की जा सकती है किन्तु बहुत ही अधिक अखरने वाले केवल ये वाक्यगत ही दोष हैं। संभवतः परवर्ती भम्मट को—

अपास्य च्युतसंस्कारमसमर्थं निरर्थकम्। वाक्येऽपि दोषाः सन्त्येते…" काव्यप्रकाश ७।४॥

कहने की प्रेरणा भोज के इसी शब्द से मिली।

शब्दहीनमिति। **उक्तेनैव प्रयोजनेनासमासद्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिसमासौ। एवं गुणादिविभागवाक्येष्वपि प्रयोजनमवसेयम्। भिन्नलिङ्गवचने इत्यादौ तु द्वन्द्वलक्षणस्य समासस्य पूर्ववर्तिनां भिन्नादिपदानां प्रत्येकमन्वयः। यमनं यतिरिति भग्नच्छन्दो भग्नयतिरिति**

---

(१) वाक्यं भवति तु दुष्टं संकीर्णं गर्भितं गतार्थं च।
यत्पुनरनलंकारं निर्दोषं चेति तन्मध्यम् ॥ वही ६।४० ॥

केचित्। तथा च व्यतिकीर्णोऽर्थः स्यात्। अरीतिमदिति। रीतिरस्यास्तीति नित्ययोगे मतुप्। नित्ययोगप्रतिपादनं हि दूषकताबीजोद्भाटनायोपपद्यते। अत एव बहुव्रीहौ लाघवं तत्र नादरः॥

अथैषां लक्ष्म संक्षेपात् सनिदर्शनमुच्यते ॥ २० ॥

दोषों की नामगणना के अनन्तर संक्षेप में इनके उदाहरण सहित लक्षण कहे जा रहे हैं ॥२०॥

(१ शब्दहीनत्व वाक्यदोष)

असाधुवदसाधुमत्त्वस्य प्राथम्याल्लक्षणमाह—

उच्यते शब्दहीनं तद्वाक्यं यदपशब्दवत्।

यथा—

'नीरन्ध्रं गमितवति क्षयं प्रपत्कैर्भूतानामधिपतिना शिलावितानें।
गाण्डीवी कनकशिलानिभं भुजाभ्यामाजघ्ने विषमविलोचनस्य वक्षः॥ २५ ॥'

अत्र गमितवतीति क्तवतोः कर्मणि, आजघ्न इति आत्मनेपदस्यास्वाङ्गकर्मणि प्रयोगादपशब्दौ। तौ च शिलावितानव्यक्षवक्षःसंबन्धाद्वाक्यदोषौ जायमानौ असाधुनाम्नः पददोषाद्भिद्येते॥

जो वाक्य अपशब्द अर्थात् व्याकरण सम्बन्धी असंगति से युक्त होता है, उसे शब्दहीन कहते हैं। (२१ अ)

जैसे—प्रमथगणों के अधीश्वर शंकरजी के द्वारा बाणों से (अर्जुन द्वारा फेंकने से बन गये) सघन पाषाणजाल के भी क्षीण कर दिये जाने पर, गाण्डीवधारी (अर्जुन) ने त्रिनेत्र शंकर के स्वर्णशिला सदृश वक्षस्थल पद दोनों भुजाओं से ही प्रहार किया॥ २५॥

इस छन्द में गमितवति इस क्तवतु प्रत्ययान्त पद का कर्म में, 'आजघ्ने' इस आत्मनेपद की धातु का कर्म स्वाङ्ग न होने से दोनों पदों का प्रयोग अपशब्दत्व दोष से युक्त है। शिला-वितान तथा विषमविलोचन के वक्षस्थल से सम्बद्ध होने के कारण होने वाले ये दोनों स्थलों के दोष असाधुनामक पददोष से भिन्न है।

स्व० भा०—वृत्ति में गमितवति तथा आजघ्ने के कारण अपशब्दत्व होने से शब्दहीनत्व है, ऐसा कहा गया है। 'कर्तरि कृत्' के अनुसार क्तवतु प्रत्यय का प्रयोग कर्तृवाच्य में होना चाहिये कर्मवाच्य में नहीं। कर्मवाच्य के कारण कर्त्ता तृतीयान्त हो जाता है। अतः अधिपति में तृतीया एकवचन का टा प्रत्यय लगा है, किन्तु यह अनुचित है।

इसी प्रकार "अकर्मकाच्च (१।३।२६) की अनुवृत्ति करके "आङोयमहनः॥१।३।२८॥ सूत्र का अर्थ होता है कि अपने ही शरीर के अङ्ग के कर्म होने पर आङ् उपसर्ग पूर्वक हन धातु का आत्मनेपदीय प्रयोग होता है। यदि मारने वाला अपने अङ्ग—स्वाङ्ग—पर प्रहार नहीं करता है तो आत्मनेपद नहीं होगा, यह बात "स्वाङ्गकर्मकाच्चेति वक्तव्यम्' वार्तिक से स्पष्ट होती है। प्रस्तुत पद्य में गाण्डीवी अर्जुन ने अपने अङ्ग पर प्रहार न करके विषमविलोचन शिव के वक्षस्थल पर प्रहार किया है। अतः आत्मनेपदी रूप यहाँ नहीं होना चाहिए। इस प्रकार 'गमितवति' तथा 'आजघ्ने' इन दोनों पदों का प्रयोग अपशब्दत्व का सूचक है।

वृत्ति के अन्तिम अंश में भोज ने इस दोष की वाक्यपरता सिद्ध की है। इसी प्रकार का व्याकरण विरुद्ध प्रयोग असाधुत्व पददोष में भी होता है, अतः इसे भी पददोष ही मानना

चाहिए ऐसा भ्रम हो सकता है। इसी का निराकरण करते हुए ग्रन्थकार ने स्पष्ट किया है कि पददोष एकदेशीय होता है। वह दोष उसी तक सीमित रहता है किन्तु वाक्य दोष में ऐसे पदों का प्रभाव अन्यपदों पर भी पड़ता है जिनसे वाक्य बनता है। यहीं पर 'गमितवति' का सम्बन्ध शिलावितान से है और 'आजघ्ने' का विषमविलोचन के वक्ष से। अतः ये स्वयंसीमित नहीं हैं।

पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी—विशेषकर भामह और दण्डी ने इस दोष को इसी नाम से अभिहित किया है। परिभाषा भी लगभग इसी प्रकार की दी है। मम्मट के निरर्थकत्व दोष से यह बहुत-कुछ मिलता है।

इस छन्द को भारवि के सत्रहवें सर्ग से उद्धृत किया गया है। जो पाठ यहाँ मिलता है वही उदाहरण के रूप में सिद्धान्तकौमुदी में आत्मनेपद प्रक्रिया के सन्दर्भ में 'आङो यमहनः' १।३२८॥ के साथ दिया भी गया है। किन्तु चौखम्बा, वाराणसी से प्रकाशित सम्पूर्ण किरातार्जुनीयम्' में उत्तरार्ध में पाठान्तर है। वहाँ का रूप निम्नलिखित है।—

नीरन्ध्रं परिगमिते क्षयं पृषत्कैर्भूतानामधिपतिना शिलावितानै।
उच्छ्रायस्थगितनभोदिगन्तरालं चिक्षेप क्षितिरुहजालमिन्द्रसूनुः ॥ १७।६१ ॥

उच्यत इति। अपशब्दत्वं पद एव नियतं वाक्ये संस्कारप्रसक्तेरभावादपशब्दत्वं न वाक्यदूषणम्। तथा हि—'कर्तरि कृत्' इति नियमात्कर्मणि क्तवतुरसाधुः। 'अकर्मकाच्च' इत्यनुवृत्तौ 'आङो यमहनः' इत्यात्मनेपदमकर्मक एव प्राप्तं 'स्वाङ्गकर्मकाच्च' इति वाक्यैकवाक्यतापर्यालोचनयास्वाङ्गकर्मण्यसाधुः कथं वाक्यदूषणता। नहि वाक्यान्तःपातितामात्रेण सा युज्यतेऽतिप्रसङ्गादित्याशङ्क्योक्तम्। तौ चेति। नहि यथा बाधधातुः परस्मैपदान्त इत्येवासाधुत्वम्, तथात्र पदान्तरसंनिधानापेक्षत्वेऽध्यवसीयते। भूतानामधिपतिना इति शिलावितान यावत्तानुसंधीयते तावद्गमितवतीति किं कर्तरि कर्मणि वेति संदेहानिवृत्तेः। तथा गाण्डीवी विषमविलोचनस्य वक्ष इत्येतावत्प्रतीत्य कथमाजघ्न इत्यस्वाङ्गकर्मणि आत्मनेपदमध्यवसानयोग्यम्। इयमेव हि वाक्यदोषता यदनेकपदनिरूप्यता नाम बाधतीत्यत्रापि किं बाधशब्दात् क्विबन्तात्तिप्, उत बाधधातुरिति संदेह इति कुदेश्यम्। स्कन्धादिपदसंनिधानेऽपि तस्यानिवृत्तेः। 'तेन त्वामनुनाथते कुचयुगम्—' इत्यादिकमत्रत्यमुदाहरणं प्रमादात् काव्यप्रकाशकृता पददोषेषु लिखितम्। यथा च। 'उदपूतितः को न हीयते' इति रुद्रटेन। तत्र हि 'अपादाने चाहीयरुहोः' इति तसिप्रत्ययनिषेधः। स च पदान्तरसंनिधानेनैवेति स्वयमालोचनीयम्। शिलावितानस्यत्तवक्ष इत्युपलक्षणम्। अधिपतिगाण्डीविशब्दावपि बोद्धव्याविति ॥

(२ क्रमभ्रष्ट वाक्यदोष)

क्रमभ्रष्टं भवेदार्थः शाब्दो वा यत्र तत्क्रमः ॥ २१ ॥

यथा—

'तुरङ्गमथ मातङ्गं प्रयच्छास्मै मदालसम्।
कान्तिप्रतापौ भवतः सूर्याचन्द्रमसोः समौ ॥ २६ ॥'

अत्र मातङ्गमथ तुरङ्गमिति वक्तव्ये तुरङ्गमथ मातङ्गमित्यर्थः। कान्तिप्रतापौ चोक्त्वा सूर्याचन्द्रमसोः समाविति शाब्दः क्रमभ्रंशो लक्ष्यते ॥

जहाँ पर अर्थसम्बन्धी तथा शब्दसम्बन्धी क्रम का निर्वाह न हो वहाँ क्रमभ्रष्ट दोष होता है ॥ २१ ॥

जैसे—(हे महाराज !) इसको घोड़ा अथवा मदमत्त गजराज दीजिए। आपकी कान्ति तथा प्रताप सूर्य तथा चन्द्रमा के सदृश है ॥ २६ ॥

यहाँ पर हाथी अथवा घोड़ा यह कहना था किन्तु घोड़ा अथवा हाथी कहा गया है। इसलिए अर्थसम्बन्धी क्रमभ्रष्टता हुई। कान्ति तथा प्रताप कहकर सूर्य और चन्द्रमा के सदृश बताया गया है, अतः शब्दसम्बन्धी क्रमभ्रष्टता लक्षित होती है।

स्व० भा०—यहाँ उदाहरण में यह प्रदर्शित किया गया है कि कोई व्यक्ति किसी राजा अथवा धनाढ्य व्यक्ति से कह रहा है कि आप इस व्यक्ति को घोड़ा दीजिए। यदि यह शक्ति न हो तो मत्त गजराज दे दीजिए। अतः यहाँ अर्थक्रम च्युत हुआ है। वस्तुतः कहना तो यह था कि यदि हाथी नहीं दे सकते तो घोड़ा दीजिए, क्योंकि जब कोई व्यक्ति किसी बड़ी चीज को देने में असमर्थ होता है तभी कोई अपेक्षाकृत छोटी चीज देने को कही जाती है। यहाँ इसी का व्यतिक्रम है। यह व्यतिक्रम मुख्यतः बड़ी तथा छोटी वस्तु से सम्बद्ध है, अतः आर्थक्रम-भ्रष्टता रही।

उदाहरण के उत्तरार्ध में शाब्द क्रमभङ्गता है। कान्ति कोमल छटा का व्यञ्जक है और प्रताप उग्र। अतः इनका सम्बन्ध क्रमशः चन्द्रमा तथा सूर्य से होना चाहिए। यहाँ उसी पौर्वापर्य का निर्वाह न होने से शाब्द क्रमभ्रष्टता है।

यहाँ शब्दों के अर्थ में कोई अनौचित्य नहीं है, अपितु वह है उन अर्थों वाले शब्दों के क्रम में। अतः दोष अर्थसम्बन्धी होते हुए भी शब्द से अपेक्षाकृत अधिक सम्बद्ध है। इस प्रकार शब्दमय होने से वाक्य पर सीधा प्रभाव पड़ता है। अतएव वाक्यदोष है। वामन ने अपक्रम वाक्यार्थ दोष (२।२।२२) के उदाहरण के रूप में यह छन्द उद्धृत किया है।

क्रमभ्रष्टमिति। **अर्थादागतः क्रम आर्थः। शब्दादागतः शाब्दः। अर्थक्रमभ्रंशः कथं शब्ददूषणमत आह—इति वक्तव्य इति। मातङ्गो दीयतामथ तद्दानसामर्थ्यं नास्ति तदा तुरङ्ग इति वक्तव्ये रचनावैपरीत्यमात्रमत्रापराध्यति। नार्थ इति युक्ता शब्ददोषता ॥**

(३ विसंधि दोष)

विसंहितो विरूपो वा यस्य संधिर्विसंधि तत्।

यथा—

'मेघानिलेन अमुना एतस्मिन्नद्रिकानने।
मञ्जर्युद्गमगर्भासौ तर्वाल्युर्वी विधूयते ॥ २७ ॥'

अत्र मेघानिलेन अमुना एतस्मिन्नसंहितया विवक्षामीत्यभिसंधानं विसंधिः। मञ्जर्युद्गमगर्भासौ इत्यादौ तु विरूपसंधानं विसंधिः ॥

जिस वाक्य में संधिकार्य (संहिता-अर्थात् स्वरसंधि) न हो, या (संहिता करने पर पदयोगों में) अनौचित्य अथवा अननुरूपता हो, वह विसंधि अथवा विसंधित्व दोष से युक्त होता है ॥ २२ अ ॥

जैसे—इस आर्द्र वायु के द्वारा इस पर्वतीय वन में इन निकल रही मञ्जरियों से भरी हुई और दूर तक फैली हुई वृक्षों की पंक्ति झकझोरी जा रही—हिलाई जा रही है ॥ २७ ॥

प्रस्तुत छन्द में मेघानिलेन अमुना इन (दोनों पदों में) संहिता नहीं कहना चाहता (करना चाहता) इस घोषणा से ही विसंधित्व (है)। 'मञ्जर्युदगमगर्भासौ' इत्यादि में तो विरूप-अनुचित-संधि होने से विसंधित्व दोष है।

स्व० भा०—विसंधित्व दोष दो प्रकार का होता है। प्रथम तो वहाँ जहाँ संहिता कार्य हो सकता है, किन्तु किया नहीं गया। दूसरे वहाँ जब कि संहिता की तो जाती है, किन्तु संहित पद कटुता, क्लिष्टता, अश्लीलता आदि दोषों से युक्त हो जाते हैं। इन्हीं को क्रमशः असंहित तथा 'विरूप' कहा गया है।

वस्तुतः यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि—

संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः। नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते॥

अतः मेघानिलेन+अमुना में 'अकः सवर्णे दीर्घः' सूत्रानुसार तथा अमुना+एतस्मिन् में 'वृद्धिरेचि' से क्रमशः सवर्णदीर्घ तथा वृद्धि संधि होनी ही चाहिए। यदि यह कहा जाये कि यह संहिता कार्य विवक्षाधीन है अतः नहीं किया, यह भी अनुचित ही है, क्योंकि 'नहीं किया' या 'अभीष्ट नहीं है', यह कथन ही इसका सूचक है कि कोई कार्य सज्जनों को मान्य है, किन्तु प्रमादवश किया नहीं जा रहा है। 'न संहितां विवक्षामि' यह वृत्ति का भाग दण्डी के निम्नांकित छन्द के अनुसार अर्थ प्रकट करता है—

न सहितां विवक्षामीत्यसन्धानं पदेषु यत्।
तद्विसन्धीति निर्दिष्टं न प्रगृह्यादिहेतुकम्॥ काव्यादर्श ३।१५९॥

दूसरी बात यह भी है कि जब एक ही छन्द में एक स्थान पर संधि नहीं की जा रही है और दूसरे स्थान पर की जा रही है, तब तो अनौचित्य के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। या तो सभी अपेक्षित स्थानों पर संधि हो या सर्वथा हो ही नहीं। दोनों में से एक विकल्प स्वीकार करना चाहिए।

संधि स्वरस्वर के अतिरिक्त व्यञ्जन और व्यञ्जन में भी होती है। इसके अतिरिक्त स्वर और व्यञ्जन को भी नितान्त निकट—केवल अर्धमात्रा के व्यवधान से—रख कर भी संधि की जाती है। इनमें प्रथम तथा तृतीय को 'परः सन्निकर्षः संहिता' के अनुसार स्वर सन्धि या संहिता कहते हैं। तथा 'हलोऽनन्तराः संयोगः' नियमानुसार द्वितीय को हल्, व्यञ्जन संधि अथवा संयोग कहते हैं। वाक्य में संहिता का ही महत्त्व होने से अन्य संधिभेदों का उल्लेख नहीं किया गया।

कहीं-कहीं संहिताकार्य करने पर संहितरूप ऐसा हो जाता है, कि अच्छा नहीं लगता। वहाँ दुर्वाचकता, श्रुतिकटुत्व, अश्लीलत्व आदि दोष आ जाते हैं। जैसे मञ्जरी+उद्गम=मञ्जर्युद्गम, तरु+आली+उर्वी=तर्वाल्युर्वी में। अतः 'यह भी दोषान्तरजनकता के कारण अनपेक्षित है। भामह, दण्डी, रुद्रट आदि सभी आचार्य इस दोष को स्वीकार करते हैं। वामन से तो भोज ने उदाहरण तक लिया है। (द्रष्टव्य २।२।८॥ के उदाहरण)। वामनने वहीं भोज के प्रथम प्रकार के विसंधि दोष को 'विश्लेष' तथा शेष के दो रूप अश्लीलत्व तथा कष्टत्व-दिखाये हैं। वामन का यही दोष-विभाग मम्मट, विश्वनाथ आदि में विश्लेष, अश्लील तथा कष्ट इन्हीं नामों से विख्यात है।

विसंहित इति। **विशब्दो विगमं वैपरीत्यं च द्योतयति। तेनार्थद्वयं संपद्यते। 'परः संनिकर्षः संहिता'। तया तत्कार्यं लक्ष्यते। संधानं संधिः। अर्धमात्राकालव्यवधानं। तथा च—संहिताकार्यशून्यं संधानं यत्रेत्यर्थः। 'संहितैकपदे नित्या' इति समयादन्यत्र विकल्पः।**

वैरूप्यं द्विविधम्। दुर्वचत्वम्, अश्लीलत्वं च। तत्राद्यमुपलक्षणतयोदाहृतम्। द्वितीयं यथा—'उड्डीय गगने दूरं चलन् डामरचेष्टितः। अयमुत्पतते पत्री ततोऽन्नैव रुचिं कुरु॥' ननु यदि संधिकार्यं वैकल्पिकं कथमत्र दोष इत्यत आह—न संहितामिति। यदि संहिताप्रतिषेधः स्यात्तदा सकृद्विसंधिकरणेन तथावैरूप्यं भवतीति कवेरपराधो न संभाव्यते, यदि तु प्रतिषेधो नास्ति असकृद्वोपादानं तदा व्यक्तवैरूप्यप्रतिभासात्कथं न दोष इत्यर्थः। न विवक्षामीत्युपलक्षणम्। विवक्षायामप्यसकृत्प्रयोगो विरस एव। यथा—'तत उदित उदारहावहारी' इति। विशेषं वैशेषिके वक्ष्यामः॥

(४ पुनरुक्तिमत् दोष)

पदं पदार्थश्चाभिन्नौ यत्र तत्पुनरुक्तिमत् ॥ २२ ॥

यथा—

'उत्कानुन्मनयन्त्येते गम्भीराः स्तनयित्नवः।
अम्भोधरास्तडित्वन्तो गम्भीराः स्तनयित्नवः॥ २८ ॥

अत्र उत्कानुन्मनयन्तीत्यर्थपुनरुक्तम्। गम्भीराः स्तनयित्नव इति शब्दपुनरुक्तम्॥

जिस वाक्य में पद तथा पदार्थ उसी रूप में (पुनः) आते हैं वह वाक्य पुनरुक्ति दोष से युक्त होता है॥ २२॥

जैसे ये मांसल, शब्द करते हुये, विद्युत् युक्त मेघ उन्मन नायिका को उन्मन बनाये दे रहे हैं॥ २८॥

यहाँ उन्मनो को उन्मन बनाये दे रहे हैं, इस कथन के कारण अर्थ की पुनरुक्ति हुई तथा गम्भीर और गर्जनकारी—(गम्भीराः तथा स्तनयित्नवः) शब्दों के दो बार आने से शब्द पुनरुक्ति है।

स्व० भा०—इस प्रकार पुनरुक्ति दोष अर्थसम्बन्धी तथा शब्दसम्बन्धी दो प्रकार का होता है। लाटानुप्रास तथा यमक अलंकारों में तात्पर्य और अर्थ का भेद होता है। अतः वहाँ दोष नहीं हुआ।

भामह तथा दण्डी ने इसे एकार्थ दोष माना है। भामह इसे विशेषकर अर्थदोष ही मानते हैं।[1] किन्तु दण्डी ने स्पष्ट रूप से भोज पर अपना प्रभाव डाला है। उनके अनुसार—

अविशेषेण पूर्वोक्तं यदि भूयोऽपि कीर्त्यते। अर्थतः शब्दतो वापि तदेकार्थं मतं यथा॥
काव्यादर्श २।१३५

भोज का उदाहरण तो अक्षरशः दण्डी का ही है।[2] मम्मट आदि के यहाँ यही दोष कथितपदता नाम से विख्यात है। यहाँ अर्थ को छोड़ कर केवल पद की ही एकाधिक बार प्रयुक्ति अभिमत है।[3]

पदं पदार्थश्चाभिन्नाविति। **पदमभिन्नमभिन्नतात्पर्याभिधेयमिति विशेषः। तेन तात्पर्यभेदे लाटानुप्रासोऽभिधेयभेदे यमकं च न दोषः। पदार्थोऽभिन्नपर्यायशब्दोपात्त इति शेषः। तेन पूर्वस्माद्विशेषः। स्वाभिधेयतात्पर्यकपदावृत्तिः पर्यायोपादानं च द्वयमपि शब्दपुनरु-**

---

१. अत्रार्थपुनरुक्तं यत्तदेवैकार्थमिष्यते। काव्यालंकार ४।१५॥ २. काव्यादर्श ३।१३६॥
३. काव्यप्रकाश ७।४॥ में सप्तमदोष।

क्तमिष्यते। तथा च पारमर्षं सूत्रम्-'शब्दयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तमन्यत्रानुवादात्' इति। युक्तं चैतत्। एकस्याभिधेयस्य द्विरभिधानं दोषः। तच्चाभिधानं तेनैव पदेन पर्यायेण वा संभवतीति शब्दमादायैव तस्य व्यवस्था पुनरुक्तिरत्रैव पदे भवति, तत्कोऽत्र मत्वर्थ इत्यत उक्तम—यत्र तदिति। यत्र समुदायेऽवयवः पुनरुक्तरूपः स मतुवर्थः। अत एव नानापदनिरूपणीयतया वाक्यदूषणमिति स्फुटोऽर्थः। विकल्पितं चेदं लक्षणमेकस्यैव दूषणधुरारोहणक्षमत्वात्। संक्षेपार्थं त्वेकमुदाहरणम्। अर्थमादायैव पुनरभिधानं पुनरुक्तमिति विभावयितुं लक्षणक्रमवैपरीत्येन प्रथममर्थपुनरुक्तमुदाहृतमित्याशयवान्। व्याख्यानेऽपि तमेव क्रममाद्रियमाण आह—अत्रोत्कानिति। उत्क उन्मनाः। उन्मनयन्तीति उन्मनसं कुर्वन्तीति णिचि इष्टवद्भावे टिलोपे च रूपम्। अम्भोधरा इति विशेष्यपदम्। शेषाणि विशेषणानि—गम्भीरा मांसलाः, स्तनयित्नवः शब्दायमानाः, तडित्वन्तः प्रकृष्टतडिद्युक्ताः।

(५ व्याकीर्णत्व दोष)

व्याकीर्णं तन्मिथो यस्मिन्विभक्तीनामसंगतिः।

यथा—

'दण्डे चुम्बति पद्मिन्या हंसः कर्कशकण्टके।
मुखं वल्गुरवं कुर्वंस्तुण्डेनाङ्गानि घट्टयन्॥ २९॥'

अत्र कर्कशकण्टके दण्डेऽङ्गानि घट्टयन् हंसः पद्मिन्या मुखं चुम्बतीति वक्तव्ये यथानिर्दिष्टरूपे विघट्टितविभक्तिकयुक्तित्वाद्व्याकीर्णम्॥

जिस वाक्य में परस्पर विभक्तियों का साथ न हो, वह व्याकीर्ण अथवा व्याकीर्णतादोष से युक्त माना जायेगा। २३ आ।

जैसे—कठोर कांटों से संयुक्त कमलदण्ड में अपने अङ्गों को रगड़ता हुआ, सानन्द शब्द कर रहा हंस कमलिनी के मुख को अपने मुख से चूम रहा है। २९।

यहाँ "कर्कशकण्टके दण्डेऽङ्गानि घट्टयन् हंसः पद्मिन्या मुखं तुण्डेन चुम्बति" यह कहना था, किन्तु समुचित रूप में (क्रमशः रखने के स्थान पर) विभक्तियों (से युक्त पदों को) (अलग अलग) बिखेर कर रख देने से व्याकीर्णत्व दोष हुआ।

स्व० भा०—पदों के क्लिष्ट न होने पर भी साकांक्ष विभक्तियों वाले पदों के व्यवधान से अथवा अनपेक्षित विभक्तियों वाले पदों को एक साथ रख देने से अर्थज्ञान में कठिनाई होती है। इस अपेक्षित क्रम का सम्बन्ध एक पद अथवा अर्थ से ही न होकर पूरे वाक्य से होता है, अतः यह वाक्यदोष है।

वस्तुतः संस्कृत में कर्ता, कर्म तथा क्रिया इस क्रम से शब्द रखकर वाक्य बनाने का नियम है। इससे अर्थावबोध में सरलता होती है। यदि यह क्रम नहीं रहता तब भी संस्कृतभाषा की अपनी विशिष्टता के कारण अनर्थ तो नहीं होता, किन्तु अर्थबोध में कठिनाई अवश्य होती है। उदाहरणार्थ प्रस्तुत छन्द में ही यह निश्चित क्रम नहीं मिलता है। अतः दोष है। छन्द और वृत्ति दोनों में इन पदों का रूप स्पष्ट लक्षित होता है।

इस छन्द को दण्डी ने काव्यादर्श में, अन्वयबोध के लिये आवश्यक पदासत्ति का विशेष रूप से अतिक्रमण होने के कारण, व्युत्क्रान्ता नामक प्रहेलिका के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है।[1]

---

१. काव्यादर्श ३। ११०॥

व्याकीर्णं तदिति। **पदानामक्लेशेऽप्यर्थप्रतीतिहेतुभूताकाङ्क्षावद्विभक्तिव्यवधानादनाकाङ्क्षितविभक्तिसंनिधानाच्च नाहत्यपदानि विशिष्टार्थज्ञानजननसमर्थानि भवन्ति। विलक्षणलक्षणक्लेशपदानि श्रमकराणीति वदतामाराध्यानामयमेवाभिप्रायो बोद्धव्यः। विभक्तिव्यवधानमात्रकृतस्तु क्लेशः प्रायेण पदैकवाक्यतायामुपयुज्यते। दण्ड इति। आधारविभक्तिराधेयविभक्तिमपेक्षते, न तु चुम्बतीति क्रियाविभक्तिम्। सापि कारकविभक्तिमाकाङ्क्षति। पञ्चम्या इति संबन्धविभक्तिकमेव तत्र बोद्धव्यम्। क्लेशेन योऽन्वागम्यते तमभिमतमर्थमावेदयति—अत्र कर्कशेति। अत एव नापार्थकत्वेन संकरः समुदायार्थस्य प्रतीयमानत्वात्। अस्ति कश्चिदुच्चारणयोर्विशेषो येन वाक्यार्थप्रतीतिः क्वचिदाहत्य भवति। क्वचित्तु नेति स एव विशेषः। संनिधानं व्यवधानमिति व्याख्यायते। कार्यदर्शनादर्शनाभ्यां चोन्नीयत इत्याशयवानाह—यथोक्तरूपेणेति (?)॥**

(६ संकीर्णता दोष)

वाक्यान्तरपदैर्मिश्रं संकीर्णमिति तद्विदुः॥ २३॥

यथा—

'काअं खाअइ खुहिओ कूरं फेल्लेइ णिब्भरं रुट्ठो।
सुंणअं, गेण्हइ कण्ठे हक्केइअ णत्तिअं ठेरो॥ ३०॥'

[काकं खादति क्षुधितः कूरं फेल्लति निर्भरं रुष्टः।
श्वानं गृह्णाति कण्ठे हक्कायति नप्तारं स्थविरः॥]

अत्र काकं क्षिपति, कूरं खादति, कण्ठे नप्तारं गृह्णाति, श्वानं भीषयते, इत्यादौ वक्तव्ये यथोक्तपदविन्यासः संकीर्यते॥

(एक वाक्य के पदों के) दूसरे वाक्य के पदों से मिल जाने पर संकीर्णता दोष समझा जाता है॥ २३॥

जैसे—कौवे को खाता है, भूखा भात मारता है, अत्यन्त क्रुद्ध, कुत्ते को गले से पकड़ता है, दूर हटाता है नाती को बुड्ढा॥ ३०॥

यहाँ कौवे को मारता है, भात खाता है, नातीको गले से पकड़ता है, कुत्ते को डराता है, इत्यादि कहना चाहिए था, किन्तु यह निश्चित क्रम वाली वाक्य रचना संकीर्ण हो रही है।

स्व० भा०—व्याकीर्ण तथा संकीर्ण इन दोनों में अन्तर विशेषतः यह है कि प्रथम में वाक्य एक ही होता है, उसमें पद जहाँ के तहाँ अनपेक्षित ढंग से रख दिए जाते हैं जब कि द्वितीय में वाक्य एक से अधिक होते हैं। सम्पूर्ण छन्द का स्पष्ट अर्थ है—बुड्ढा आदमी क्षुधित होकर भात खाता है, कौवे को अत्यन्त रुष्ट होकर मारता है, कुत्ते को डराता है (भगाता है), और नाती को गले से लगाता है। यहाँ संस्कृत छन्द में एक वाक्य के पद दूसरे-दूसरे में घुस कर पूरे समुदाय को दुष्ट किए दे रहे हैं। मम्मट, विश्वनाथ आदि परवर्ती आचार्यों ने भी यह दोष इसी रूप में स्वीकार किया है।

वाक्यान्तरपदैरिति। **वाक्यान्तरसंवलितानि पदानि वाक्यान्तरमनुप्रविश्य तथा प्रतीतिं विघ्नन्ति, यथा समुदाय एव दूषितो भवति॥ काकमिति। कूरं भक्तं क्षुधितः खादति, काकं च निर्भरं रुष्टः सन् क्षिपति, श्वानं च निवारयति, नप्तारं च कण्ठे गृह्णाति स्थविरजातिः॥ आकाङ्क्षाक्रमेण किंचित्पदं कस्यचिद्वाक्यस्य संबद्धमिति ज्ञायत एव। तदाह—अत्र काकं**

क्षिपतीति। शब्ददोषत्वं प्रकाशयति—इति वक्तव्य इति। यथोक्तपदविन्यास इत्यनेन संकीर्यत इत्यस्यार्थो विवक्षितः। एवंप्रकारः संकर इत्यर्थः। विजातीयसंवलने लोके संकरव्यवहारः॥

(७ अपदत्व दोष)

विभिन्नप्रकृतिस्थादि पदयुक्त्यपदं विदुः।

यथा—

'आउज्जअ पिट्टिअए जह कुक्कुलि णाम मज्झ भत्ताले।
पेक्खन्तह लाउलकण्णिआह हा कस्स कन्देमि॥ ३१॥'

[आवर्ज्य पीड्यते यथा कुक्कुरो नाम मम भर्ता।
प्रेक्षंत राजकुलकर्मकरा अहह कस्यं क्रन्दामि॥]

तदेतत्प्रकृतिस्थकोमलकठोराणां नागरोपनागराणां ग्राम्याणां वापदानामयुक्तेरपदम्॥

वाक्य में जब समुचित पदयोजना प्रकृतिस्थ आदि पदों द्वारा अन्यथा कर दी जाती है तब अपदत्व दोष होता है॥ २४ अ॥

जैसे, (कोई मजदूर की पत्नी कह रही है)–सिर पकड़ कर कुत्ते की भांति मेरा पति राजकुल कर्मचारियों के देखते-देखते मारा जा रहा है, हाय किससे रोऊँ॥ ३१॥

यहाँ प्रकृतिस्थ, कोमल, कठोर, नागर, उपनागर अथवा ग्राम्य पदों का समुचित प्रयोग न होने से अपदत्व दोष है।

स्व० भा०—पद छः प्रकार के होते हैं। प्रकृतिस्थ, कोमल, कठोर, ग्राम्य, नागर तथा उपनागर। अनेक दीर्घस्वर के कारण गुरु तथा एक वर्ण के संयुक्ताक्षर से युक्त होने पर पद प्रकृतिस्थ, एकस्वर से दीर्घ अथवा गुरुरहित को कोमल, अनुस्वार, विसर्ग तथा दीर्घस्वर से गुरु अथवा अनेक संयुक्ताक्षर से युक्त को कठोर कहते हैं। इसी प्रकार प्रसिद्धि के आधार पर शेष तीनों का विभाजन होता है। सर्वलोकप्रसिद्ध को ग्राम्य, पण्डितजन-प्रसिद्ध को नागरिका तथा उभयनिश्रित को उपनागरिका कहते हैं। प्रस्तुत प्राकृत छन्द में प्रथमपाद में आउज्झिए' में उपनागर तथा प्रकृतिस्थ, इसी प्रकार 'भत्ताल' में भी, तृतीयपाद में 'पेक्खन्तह' में कठोर तथा उपनागर, 'लाउल 'कण्णिआह' में ग्राम्य तथा प्रकृतिस्थ हैं। इसी प्रकार अन्यों में भी मिश्रण दर्शनीय है। इनके मिश्रण के कारण यहाँ अपदत्व दोष है।[1]

विभिन्नेति। षोढा पदं भवति—प्रकृतिस्थम्, कोमलम्, कठोरम्, ग्राम्यम्, नागरम्, उपनागरं च। तत्रानेकदीर्घस्वरकृतगौरवमेकसंयोगकृतगौरवं पदं प्रकृतिस्थम्। यथा—नीहारतारानीकाशसारसीत्यादि, हस्तपल्लवकङ्कणकर्पूरादि च। यथा च—पाडिव आमाण सिणिवं आलगोलेत्यादि, त्यज्झतुज्झउत्ताविलविहत्थतिअच्छेत्यादि च। एकस्वरकृतगौरवं गुरुशून्यं वा कोमलम्। करेणुतारकसरोजनिकरादि, मधुरमसृणसरससरलेत्यादि च। यथा—नीहारवाण इवाणवेणीत्यादि, परकुअलडहतलिणेत्यादि च। सानुस्वारविसर्गदीर्घस्वरकृतगौरवं संयोगबहुलं वाकठोरम्। यथा शुद्ध पयः पाचयांबभूव ता पिव, आहिषातामित्यत्र।

१. विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य इसी प्रसंग की रत्नदर्पण व्याख्या।

अच्छाच्छतत्रस्थव्यूढोरस्कप्रक्छन्नेत्यादि च यथा च—आ ई इ ए इत्यादि। उप्पिच्छउप्पुअ-एक्कमेक्कमित्यादि च। प्रसिद्धिमादाय ग्राम्यादित्रयं भवति। प्रसिद्धिस्त्रिधा। सार्वलौकिकी, पण्डितजनगामिनी, तदुपजीविन्त्रिचतुरलौकिकगामिनी चेति। तत्र सर्वलोकप्रसिद्धं ग्राम्यम। देशीपदानि सर्वाण्येव संस्कृतेषु हस्तविवाहभगिनीहारकङ्कणादिकम्, तुंभ अंभ हलिद्दासा-हज्जादिकं च। एतदपभ्रंशसमानप्रसिद्धिकमतिप्रसिद्धं चेति गीयते। ग्राम्यवैपरीत्येन नातिप्रसिद्धं नागरं नगरेणोपमितमिति कृत्वातिप्रसिद्धाभावेनोपमा। इदमेव नात्यप्रसिद्धमु-पनागरमित्युच्यते। यथा—आद्याशकिंशारुखुरलीलातङ्केत्यादि. सुदेवअच्छेवगुप्पन्ती विवलाआ इत्यादि च। शृङ्गारप्रकाशे तु भाषाणामपि भेदो पदमित्युक्तम्। इह तु शब्दजा-त्यौचित्याविवेचनेन गतमिति ग्रन्थकर्तुराशयः। तदेवं स्थिते प्रतिपदं कवीनां कोऽपि क्रमो निर्वाह्यो न त्वकस्मादेवालूनविशीर्णभावो विधेयः। तदिदमाह—विभिन्नेत्यादि। युक्तिरुचिता योजना सा प्रकृतिस्थादीनां विभिन्नान्यथानीतात्युक्तिरिति यावत्। एतद्व्यनक्ति—अयुक्ते-रिति॥ आउज्झिअ इति। आवर्ज्य केशेषु नमयित्वा। 'आउज्झिए' इति पाठे निर्भर्त्स्य। पिट्ठिअए ताड्यते। जह कुक्कुलि यथा कुर्कुरी नामशब्दः प्राकाश्ये प्रकाशमेव ताडितमि-त्यर्थः। मज्झ भत्ताले मम भर्ता। पेक्खन्तह लाउलकण्णिआह। अनादरे षष्ठी। राजकु-लनियुक्तान् प्रेक्षमाणाननादृत्येत्यर्थः। हाशब्दः खेदे। कस्य क्रन्दामि। कस्य फूत्करो-मीत्यर्थः। अत्र प्रथमे पादे आउज्झिए इत्युपनागरं प्रकृतिस्थं च। 'आउज्झी' इति पाठे ग्राम्यं प्रकृतिस्थं च। भत्ताल इत्यपि तथा। तृतीयपादे पेक्खन्तहेति कठोरमुपनागरं च। राउल-कण्णिआहेति ग्राम्यं प्रकृतिस्थं च। हेति ग्राम्यं कोमलं च। कस्सेति प्रकृतिस्थमुपनागरं च। कन्देमीति ग्राम्यं प्रकृतिस्थं च। तदिहैकरूप एव कर्मकरबधूलक्षणे ग्राम्ये वक्तरि एकरूप एव वाक्यार्थे सर्वदोषतिरोधायकरसदीप्त्यभावे च यथा भाषाणां व्यतिकरो दूषणं तथा ग्राम्यादीनामिति सहृदयमात्रवेद्यश्चायं पन्था इत्यबहितैर्भवितव्यम्। एतेषां च स्वरूपं स्वयमेव गुणीभावप्रस्तावे लेशतः प्रकाशयिष्यति तेनेह संक्षिप्तवान्। नैवंविधः कदापि व्यति-करो महाकविगिरामाजानिकः प्रवर्तते। तथा हि—'त्यजतो मङ्गलक्षौमे दधानस्य च वल्कले। ददृशुर्विस्मितास्तस्य मुखरागं समं जनाः॥' अत्र प्रथमादिषु पादेषु क्षौमचीरविस्मितरा-गपदानि उपनागराणि शेषाणि ग्राम्याणि। प्रतिपादं च प्रकृतिस्थकोमलाभ्यामेव निर्वाहः। एवमन्यत्रापि प्रत्येकं द्वन्द्वसमुदायैः प्रतिपादमुपक्रमोपसंहारनिर्वाहक्रमः स्वयमुपलक्षणीय इत्यास्तां तावत्॥

(८ वाक्यगर्भित दोष)

वाक्यान्तरसगर्भं यत् तदाहुर्वाक्यगर्भितम्॥ २४॥

यथा—

'योग्यो यस्ते पुत्रः सोऽयं दशवदन लक्ष्मणेन मया।
रक्षैनं यदि शक्तिर्मृत्युवशं नीयते विवशः॥ ३२॥'

अत्र योग्यो यस्ते पुत्रो लक्ष्मणेन मया मृत्युवशं नीयत इति वाक्यस्य रक्षैनं यदि शक्तिरिति वाक्यान्तरेण सगर्भत्वाद्गर्भितम्॥

जब एक वाक्य के गर्भ में दूसरा भी वाक्य होता है, (तब) उसे वाक्यगर्भित दोष कहते हैं॥ २४॥

जैसे–हे रावण, मुझ लक्ष्मण के द्वारा तुम्हारा यह जो दक्ष पुत्र (मेघनाद) है, हठात् मारा जा रहा है, यदि शक्ति हो तो इसकी रक्षा करो ॥ ३२ ॥[1]

यहाँ पर तुम्हारा जो योग्य पुत्र है, वह मुझ लक्ष्मण के द्वारा मृत्यु के वश मे ले जाया जा रहा है, इस वाक्य के मध्य में यदि शक्ति हो तो रक्षा करो यह दूसरा वाक्य आ जाने से वाक्यगर्भितत्व दोष हुआ।

स्व० भा०—जब एक वाक्य के पूर्व तथा उत्तरभाग के मध्य में कोई दूसरा वाक्य ही आकर अर्थ में व्यवधान उपस्थित करता है तब यह दोष होता है। व्याकीर्ण में वाक्य एक ही होता है, किन्तु साकांक्ष विभक्ति वाले पद अस्तव्यस्त क्रम से रखे होते हैं, संकीर्णत्व में अनेक वाक्य होते हैं जिनमें एक दूसरे के पद एक दूसरे वाक्य में चले जाते हैं, किन्तु इसमें केवल दो वाक्य होते हैं जिनमें एक छोटा वाक्य बड़े वाक्य के ही भीतर रखा रहता है। इसमें न तो व्याकीर्ण जैसा विभिन्न विभक्तिक पद ही अस्त-व्यस्त रहते हैं और न तो एक के पद ही दूसरे से मिल जाते हैं, अपितु पूरा क्रम अपेक्षित रूप से ही होता है, केवल दूसरा वाक्य प्रथम वाक्य के पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध के मध्य आ जाता है। मम्मट आदि परवर्तियों ने भी इसे इसी रूप में माना है।

वाक्यान्तरेति। मध्यप्रविष्टं वाक्यं पूर्वोत्तरभागाभ्यामेकीभूतस्य गर्भायमाणमेकस्वरसप्रसूतां प्रतीतिं विघ्नयदात्मना सहैव समुदायविरसकक्षामारोहयति। वाक्यान्तरवाक्यस्य विशेषो विवक्षितः प्रतीतिव्यवधायक इति यावत्॥ योग्य इति। मयेति। कारकविभक्तेः क्रियाकाङ्क्षागशीलायास्तामसंगमय्य मध्ये रक्षैनं शक्तिरित्येतावता गर्भस्थानीयेन विरसीकरणमित्याह—अत्र योग्यो य इति। एवं वाक्यरूपताभङ्गहेतून्दोषानभिधाय तत्रैव काव्यभावप्रत्यूहहेतवोऽभिधातव्यास्ते च गुणभङ्गद्वारकाः, अलंकारभङ्गद्वारकाः, छन्दोभङ्गद्वारकाः, यतिभङ्गद्वारकाश्चेति चतुर्धा विप्रथन्ते। ततश्च यद्यपि प्रथमं गुणभङ्गद्वारका वक्तुमुचितास्तथापि तेषां बहुत्वाद् दुरूहत्वाच्च सूचीकटाहन्यायेन पश्चात्करणमलंकारभेदादिषु च मध्ये प्रतियोगिद्वारालंकारभङ्गस्य प्राधान्यमिति तद्द्वारा दोषांल्लक्षयति॥

(९–१० भिन्नलिङ्गोपमा तथा भिन्नवचनोपमा दोष)

यत्रोपमा भिन्नलिङ्गा भिन्नलिङ्गं तदुच्यते।
भवेत्तद्भिन्नवचनं यद्भिन्नवचनोपमम्॥ २५॥

यथा—

'अविगाह्योऽसि नारीणामनन्यवचसामपि।
विषमोपलभिन्नोर्मिरापगेवोत्तितीर्षतः॥ ३३॥'

अत्रापगेव त्वमविगाह्योऽसीति लिङ्गभेदः। नारीणामुत्तितीर्षत इति लिङ्गभेदो वचनभेदश्च। तदिदं द्वयोरेकमेवोदाहरणम्॥

जहाँ पर उपमा भिन्नलिङ्ग की होती है अर्थात् उपमेय तथा उपमान के लिङ्ग भिन्न होते हैं, वहाँ वाक्य भिन्नलिङ्गोपम होता है। तथा जिस वाक्य में उपमा का वचन भिन्न होता है अर्थात् उपमेय तथा उपमान के वचन एक नहीं होते तब भिन्नवचन दोष होता है॥ २५॥

---

१. रुद्रट के काव्यालंकार ६।४४ में यही उदाहरण है।

जैसे—(हे महाराज,) अनन्यवाक् स्त्रियों के लिए आप उसी प्रकार दुःखग्राह्य हैं जिस प्रकार पार जाने की इच्छा वाले व्यक्ति के लिए ऊँचे-नीचे पत्थरों से टकराती हुई लहरों वाली नदी ॥ ३३ ॥

यहाँ पर "नदी की भाँति आप अनवगाह्य हैं" इतने में लिङ्गभेद, 'स्त्रियों के' तथा पार जाने की "इच्छा वाला" में लिङ्गभेद तथा वचनभेद (दोनों हैं)। यह दोनों का एक ही उदाहरण है।

स्व० भा०—कोई भी उपमातभी अच्छी लगती है और उससे तभी सचमुच भावबोध के साथ चमत्कार की प्रतीति होती है जब उपमेय तथा उपमान दोनों ही समानलिङ्ग तथा वचन के होते हैं। ऐसा न होने पर दोष होता है क्योंकि साधर्म्य बोध पूर्ण पुष्ट नहीं हो पाता। वस्तुतः एक तथा अनेक की और स्त्री, पुरुष अथवा नपुंसक की एक दूसरे से तुलना ही असङ्गत है।

यत्रोपमेति। **उपमाग्रहणमुपलक्षणमित्यग्रे वक्ष्यामः। उपमा उपमितिः सादृश्यभिन्नोपमानवाचिनन उपमेयवाचिनश्च लिङ्गं स्त्रीपुंनपुंसकं यस्य सा तथोक्ता। एवं भिन्नवचनोपमामित्यत्रापि व्याख्येयम्॥ अविगाह्योऽसीति। अविगाह्यतामात्रमत्र सादृश्यं विवक्षितमेतदुपयुक्तमेव विशेषणमुपमानोपमेययोरुपादानयोग्यमित्यकस्मादेव विकृतवचनभेदनिबन्धनः प्रयोजनमाकाङ्क्षति। तथा तदनुसंधानप्रवणस्य प्रकृतप्रतीतिराच्छाद्यत इतिदूषणसिद्धिः। एतेन दूषणता व्याख्याता। विभागवाक्ये संहितावस्थयोरुद्देशादिह च मिलितयोरुदाहरणात्तथाभावो दोषत्वमिति भ्रान्तिं निरस्यति—तदिदमिति। एकमुदाहरणं नत्वेकः संभिन्न उपाधिः प्रत्येकमेव त्वस्ति समर्थत्वादित्यर्थः। एतदेवानुसंधाय विभागवाक्ये द्वे पदम्॥**

तत्किमुदाहरणस्य संकीर्णत्वमेव नेत्याह—

अथ भिन्नलिङ्गस्यैव यथा—

'वापीव विमलं व्योम हंसीव धवलः शशी।
शशिलेखेव हंसोऽयं हंसालिरिव ते यशः॥ ३४॥'

भिन्नवचनस्यैव यथा—

'सरांसीवामलं व्योम काशा इव सितः शशी।
शशीव धवला हंसी हंसीव धवला दिशः॥ ३५॥'

अब (दोनों का पृथक्-पृथक् उदाहरण देते समय) केवल भिन्नलिङ्गोपमा का उदाहरण किया जा रहा है। जैसे—(कोई बन्दी राजा की प्रशस्ति करते हुए कहता है कि हे महाराज) वापी के सदृश आकाश निर्मल है, हंसी के सदृश चन्द्र श्वेत है, चन्द्रकला की भाँति यह हंस है तथा हंस-पङ्क्तियों की भाँति आपका यश है॥ ३४॥

भिन्नवचन का उदाहरण इस प्रकार है जैसे—सरोवरों की भाँति आकाश स्वच्छ है काशों की भाँति चन्द्रमा श्वेत है, चन्द्रमा की भाँति हंसी श्वेत है और हंसी की भाँति दिशायें स्वच्छ हैं॥ ३५॥

स्व० भा०—ये दोनों क्रमशः भिन्नलिङ्ग तथा भिन्नवचन के उदाहरण हैं। वापी स्त्रीलिङ्ग तथा व्योम नपुंसकलिङ्ग है। इसी प्रकार हंसी, शशिलेखा, तथा हंसालि ये उपमान स्त्रीलिङ्ग तथा क्रमशः शशी, हंस और यशः पुल्लिंग, पुल्लिंग तथा नपुंसक लिङ्ग में है। अतः दोनों में भिन्नलिङ्गता स्पष्ट है।

दूसरे छन्द में भी 'सरांसि' 'काशा' तथा हँसी ये बहुवचन, बहुवचन तथा एकवचन के उपमान शब्द क्रमशः 'व्योम' 'शशी,' तथा 'दिशः' उपमेयों की तुलना में आए हैं जो क्रमशः एकवचन, एकवचन तथा बहुवचन हैं।

भोज ने दोनों दोष भामह से ग्रहण किये हैं। उन्होंने काव्यालङ्कार में (२।३९) इनका उल्लेख किया है। भोज ने प्रथम उदाहरण भी भामह का ही लिया है।[1]

अथ भिन्नलिङ्गस्यैवेति। **द्वयमपि निगदव्याख्यातम्॥**

(११ न्यूनोपम दोष)

जातिप्रमाणधर्मतो न्यूनता उपमानस्य न्यूनोपमत्वम्। तत्र जातिप्रमाणन्यूनतार्थदोषः। धर्मन्यूनता तु धर्माभिधायकपदन्यूनतालक्षणाशब्ददोष एव। एतेनाधिक्यं व्याख्यातमित्याशयवानाह—

न्यूनोपममिह न्यूनमुपमानविशेषणैः।

यथा—

'संहअचक्कवाअजुआ विअसिअकमला मुणालसंच्छण्णा।
वावी वहु व्व रोअणविलित्तथणआ सुहावेइ॥ ३६॥'

[संहतचक्रवाकयुगा विकसितकमला मृणालसंच्छन्ना।
वापी वधूरिव रोचनाविलिप्तस्तनी सुखयति॥]

अत्र नेत्रबाहूपमापदानां वधूविशेषणत्वेनानुक्तत्वादिदं न्यूनोपमम्॥

इस काव्यशास्त्र में उपमान के विशेषणों में कमी होने पर वाक्य न्यूनोपम होता है। २६ अ।

जैसे--सट कर बैठे हुए दो चक्रवाकों से संयुक्त, खिले हुए कमलों वाली तथा कमलदण्ड से भरी हुई वापी स्तनों में गोरोचन (अथवा रोचना) का लेप की हुई नववधू की भांति सुख दे रही है। ३६॥

इस छन्द में वधू के विशेषण के रूप में नेत्र और बाहु जैसे पदों को न कहने के कारण इस वाक्य में न्यूनोपमत्व दोष है।

स्व० भा०—भामह ने भी (काव्या २।३९, ४१) उपमा दोषों में प्रथम हीनत्व दोष को ही स्वीकार किया था। लक्षण समान होने पर भी भोज ने उसे न्यूनोपमत्व नाम दिया है।

वस्तुतः उपमेय तथा उपमान दोनों के समलिङ्गवचन होने के साथ समान तथा समसंख्यक विशेषण भी होने चाहिए। अन्यथा सादृश्य अपूर्ण रह जाता है।

उपर्युक्त छन्द में ही उपमेय वापी पद चक्रवाक युगल, कमल तथा मृणाल इन तीन विशेषणों से युक्त है जब कि उपमान वधू पद केवल स्तनमात्र विशेषण से संयुक्त है। यदि बधू के नेत्र तथा बाहु का भी समावेश कर लिया गया होता तो दोनों स्थानों में समसंख्यता होने से यह दोष न रहता। अतः उपमान के विशेषणों में अपेक्षाकृत कमी के कारण यहाँ न्यूनोपमत्व दोष है।

न्यूनोपममहेति। **इहशब्दो येषु मध्येषूपमानस्य स्तोकविशेषणतयोपमेयन्यूनेत्युक्तं तथाधिकोपममिति वक्ष्यति—संहतेत्यादि। अत्र चक्रवाकयुगोपमानमपदमेव परमुपात्तम्। रोचनाविलिप्तस्तनीत्यनेन कमलस्योपमानं नेत्रपदं मृणालस्योपमानं बाहुपदं च नोपात्तं**

---

१. काव्यालंकार २।५३॥

तदपि च सविशेषणमुपादेयं भवति। येन विकासादिसमभिव्याहारसामर्थ्यस्यमपि स्यादिति। पदानामिति बहुवचनाभिप्रायः। अत एव धर्माणामेकनिर्देशेऽन्यसंवित्साहचर्यादिति नावतरति व्यभिचारात्। किमर्थं तस्योपमानमनुसंधेयमित्यपि न वाच्यम्। मात्रापि नानर्थिका कविनोपादेयेति साहित्यविदाज्ञायव्यवस्थितावुपमेयविशेषणस्योपमानविशेषणतया प्रयोजनचिन्तायां पूर्ववदेव प्रतीतिप्रत्यूहस्य सुलभत्वादनुक्तत्वादितिशब्दप्रधानकतामाचष्टे। एवमुत्तरत्र ॥

(१३ अधिकोपमत्व दोष)

अधिकं यत्पुनस्तैः स्यात्तमाहुरधिकोपमम् ॥ २६ ॥

यथा—

'अहिणवमणहरवरिइअवलअविहूसा विहाइ णववहुआ।
कुन्दलएव्व समुप्फुल्लगुच्छपरिणित्तभमरगणा ॥ ३७ ॥'

[अभिनवमनोहरविरचितवलयविभूषा विभाति नववधूः।
कुन्दलतेव समुत्फुल्लगुच्छपरिणीयमानभ्रमरगणा ॥]

इदं भ्रमरगणस्योपमानविशेषणस्याधिक्यादधिकोपमानम् ॥

जो वाक्य अधिक उपमान पदों से युक्त होता है उसको अधिकोपम कहा गया है ॥ २६ ॥

जैसे—नवीन एवं मनोहर बने हुये वलय से सुशोभित नववधू फूले हुये पुष्पगुच्छ पर परागपान कर रहे भ्रमरों से संयुक्त कुन्दलता की भांति लग रही है। ३७ ॥

उपमान (कुन्दलता) के विशेषण भ्रमरसमूह इस पद के (उपमेय की अपेक्षा) अधिक होने से अधिकोपम दोष हुआ।

स्व० भा०—यहाँ नववधू के सदृश कुन्दलता तो है, नवीन और मनोहर वलय का उपमान उसी भांति समुत्फुल्ल गुच्छ है, किन्तु भ्रमरगण पद का स्थान ग्रहण करने वाला कोई उपमेय पद नही है। अतः जहाँ न्यूनोपम में उपमान की कमी से दोष आता था, वहीं यहाँ पर पदों के अधिक हो जाने से दोष हुआ। इसे भी भोज ने भामह से ही लिया है।[1] परवर्ती मम्मट, जयदेव, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने भी न्यूनपदत्व तथा अधिकपदत्व दोषों की चर्चा की है, किन्तु उन लोगों ने उपमा से इनका सम्बध्ध नहीं जोड़ा है।

अधिकमिति। यद्यप्येकस्य विशेषणाधिक्ये विशेषणन्यूनत्वे वान्यविशेषणस्य न्यूनाधिकभावो नियतस्तथाप्युपमानगतमेव द्वयं निरूप्यते। तत्र हि दृष्टमुपमेये प्रतिबिम्बकल्पमुपस्थाप्यते तेनान्तो नोपमेये तयोर्निरूपणमिति ॥

(१४ छन्दोभङ्गता दोष)

भग्नच्छन्द इति प्राहुर्यच्छन्दोभङ्गवद्वचः।

यथा—

'यस्मिन्पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः।
तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ॥ ३८ ॥'

अत्र पञ्चमवर्णस्य लघोः स्थाने गुरोः करणाच्छन्दोभङ्गः ॥

---

१. काव्यालंकार २।५८ ॥

जो उक्ति छन्दोभङ्गता से युक्त होती है, उसे भग्नछन्द कहा जाता है। २७ अ।

जैसे—जिसमें पांच २ पुरुष--देव, पितृगण, गन्धर्व, राक्षस तथा असुर अथवा निषाद सहित चतुर्वर्ण और आकाश भी स्थित हैं, उसी आत्मतत्व को जानकर धीर ब्राह्मण उत्कृष्ट ज्ञान का साक्षात्कार करे ॥ ३८ ॥

यहाँ लघु रूप से अपेक्षित पञ्चम वर्ण के स्थान पर गुरु कर देने से छन्दोभङ्ग हो गया है।

स्व० भा०—यह एक ऐसा वाक्यदोष है जिसको कोई भी दोषविचारक प्रायः छोड़ नहीं सका है। यहाँ भोज की परिभाषा स्पष्ट नहीं है, किन्तु उदाहरण तथा वृत्ति से ऐसा ज्ञात होता है कि वाक्य अथवा छन्द में अपेक्षित क्रम में गुरु तथा लघु का सन्निवेश न होने से केवल लघु गुरु विपर्ययरूप दोष ही मान्य है। भामह को भिन्नवृत्तत्व दोष में गुरु तथा लघु वर्णों का अस्थान में सन्निवेश, अथवा उनकी न्यूनता या अधिकता सब स्वीकार्य है। उनके अनुसार--

गुरोर्लघोश्च वर्णस्य योऽस्थाने रचनाविधिः।
तन्न्यूनाधिकता वापि भिन्नवृत्तमिदं यथा ॥ ४।२६ ॥

इसी से मिलता-जुलता लक्षण दण्डी का भी है।[1] वामन का लक्षण 'स्वलक्षणच्युतकृतं वृत्तं भिन्नवृत्तम्' (२।२।१ ॥) अधिक श्लिष्ट है। वृत्त अपने लक्षण से हीन हो गया, चाहे जिस रीति से हो, वह दोष युक्त हो गया। मम्मट ने अश्रव्य, अप्राप्तगुरुभावान्तलघु तथा रसाननुगुण इन तीन प्रकार के रूपों को स्वीकार किया है।[2]

यहाँ उद्धृत छन्द अनुष्टुप् है। इसका लक्षण है--

पञ्चमं लघु सर्वत्र सप्तमं द्विचतुर्थयोः।
षष्ठं गुरुं विजानीयाच्छेषास्त्वनियता मताः ॥

इस लक्षण के अनुसार प्रत्येक पाद में पञ्चम वर्ण लघु होना था, किन्तु यहाँ 'पं' प्रथम पाद में, 'री' तृतीय में, 'त' चतुर्थ में गुरु है। द्वितीय के 'प्र' का भी उच्चारण गुरु-सा ही है। अतः यहाँ दोष है।

भग्नच्छन्द इति। **वाचां श्रव्योऽवच्छेदश्छन्दस्तस्यैवोपमानयुक्तादयस्तेनैव गुरुलघुनिवेशक्रमेण श्रव्यता भवतीत्याशयात्। तस्य विपर्यासश्छन्दोभङ्गो व्यक्त एव वैरस्यहेतुः प्राहुरिति। पञ्चोदाहरणत्वावच्छेदविपर्यासत्वे च भग्नवृत्तव्यवहारादिदमेव निमित्तमस्यावधार्यत इत्यर्थः।** पञ्चेति। **पञ्चजनाः पुरुषास्ते देवपितृगन्धर्वराक्षसासुरभेदात्पञ्च। अथवा निषादपञ्चमब्राह्मणादिचतुष्टयभेदात्। तमेवात्मानं ब्रह्मापरपर्यायं विज्ञाय श्रवणमनननिदिध्यासनैरुपास्य प्रज्ञां प्रकृष्टं ज्ञानं साक्षात्कुर्वीत ॥ अत्र पञ्चमवर्णस्येति। 'पञ्चमं लघु सर्वत्र सप्तमं द्विचतुर्थयोः। षष्ठं गुरुं विजानीयाच्छेषास्त्वनियता मताः ॥' इत्यनुष्टुप्छन्दसो लक्षणम् ॥**

(१४ भग्नयति दोष)

अस्थाने विरतिर्यस्य तत्तु भग्नयतीष्यते ॥ २७ ॥

---

१. वर्णानां न्यूनताधिक्ये गुरुलघ्वयथास्थितिः।
यत्र तद् भिन्नवृत्तं स्यादेष दोषः सुनिन्दितः ॥ ३।२५६ ॥

२. द्रष्टव्य काव्यप्र० ७।५ ॥ का पाँचवां दोषवर्णन।

यथा—

'ब्रह्मेन्द्रोपेन्द्रादिगीर्वाणवन्द्यो भक्तानां भूयाच्छ्रिये चन्द्रचूडः ।
स्त्रीणां संगीतं समाकर्णयन्केतूदस्ताम्भोदं सदध्यास्त ईशः ॥३६॥'

अत्र चतुर्थस्थाने यतौ कर्तव्यायां तदन्यत्र यतिकरणाद्भग्नयतीदम् ॥

जिस वाक्य में जहाँ नहीं होना चाहिए उस स्थान पर होता है अथवा जहाँ होना चाहिये उस स्थान पर विराम हो जाने से होता है, उस वाक्य में भग्नयतित्व दोष अपेक्षित होता है ॥२७॥

जैसे—ब्रह्मा, इन्द्र, विष्णु आदि देवताओं के वन्दनीय भगवान् शिव भक्तों की समृद्धि के लिए हों अर्थात् भक्तों की समृद्धि का वर्धन करें। स्त्रियों के गीतों को सुनते हुये, अपनी ध्वजाओं से बादलों को भी ऊपर उठा देने वाली अर्थात् ऊँची सभा में महाराज बैठे हैं। (३९) अथवा– (दोनों पंक्तियों को एक-सा मानने पर)–ब्रह्मा, इन्द्र, विष्णु आदि देवताओं के वन्दनीय स्त्रियों (किन्नरियों तथा अप्सराओं) के गीतों को सुनते हुये, अपनी पताका से बादलों को भी ऊपर खिसका देने वाली अर्थात् अत्यन्त ऊँची चोटी से संयुक्त सभा में बैठे, चन्द्रधर भगवान् शंकर भक्तों की समृद्धि का वर्धन करें ॥ ३९ ॥

यहाँ चतुर्थ स्थान पर यति करनी चाहिए थी अतः दूसरी जगह यति करने से भग्नयतित्व दोष है।

स्व० भा०—इस छन्द के पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध समान वृत्त वाले दो छन्दों के अंश प्रतीत होते हैं अन्यथा सम्पूर्ण छन्द का अर्थ बाद वाला होगा। यहाँ शालिनी नामक छन्द है। उसका लक्षण है–"वेदैश्छेदा शालिनी मोऽथ तौ गौ"। यह ग्यारह वर्णों का छन्द है जिसमें चार तथा सात वर्णों पर यति होती है। प्रस्तुत श्लोक में संहिता अथवा संयोग होने से चारों चरणों में चार वर्णों के बाद यति नहीं हो पाती। प्रथम, तृतीय तथा चतुर्थ पादों में नामपद––संज्ञायें-आयी हैं जो चतुर्थ पर यति लेने से कट जाती हैं तथा द्वितीय में धातु है जो कट रही है। अतः यहाँ भग्नयति दोष है।

इस दोष को भी भामह,[1] दण्डी तथा वामन ने यतिभ्रष्ट नाम दिया है। भोज उसी को भग्नयति कहते हैं। दण्डी की परिभाषा भोज से भी अधिक स्पष्ट है––

श्लोकेषु नियतस्थानं पदच्छेदं यतिं विदुः ।
तदपेतं यतिभ्रष्टं श्रवणोद्वेजनं यथा ॥ ३।१५२ ॥

वामन ने 'विरसविरामं यतिभ्रष्टम्' (२।२।३) कह कर उसका 'तद्धातुनामभागभेदे स्वर-संध्यकृते प्रायेण (२।२।४) के अनुसार धातुभागभेद तथा नामभागभेद दो भेद भी किया है। उन्होंने प्रश्न भी उठाया है कि––"न वृत्तदोषात्पृथग्यतिदोषः, वृत्तस्य यत्यात्मकत्वात्" (२।२।५) तथा समाधान भी किया है––'न, लक्ष्मणः पृथक्त्वात् ॥ वही ६ ॥···"गुरुलघुनियमात्मकं वृत्तम्। विरामात्मिका च यतिरिति" (वही।)

अस्थान इति। **अन्यः पठिति-विच्छेदो यतिर्विच्छिद्य विच्छिद्य पठ्यमाना भारती स्वदतो अन्यतोपलक्षणार्थं च द्विमुनिवेदादिसंज्ञया तत्र तत्र विविच्यते। तथा चास्ति कश्चिद्विशेषो येन क्रियमाणापि विरतिर्न सौभाग्यपदं पुष्यति। स च विशेषो नाम भागभेदोऽस्वर-संधिकृतश्च प्रायेण एतेषां स्वभावविशेषादेव स्थाने क्रियमाणापि विरतिरन्यत्रैव परं प्रकाशते।**

१. काव्यालंकार ४।२४ ॥

न तत्र कथंचन सौभाग्यमुन्मीलयति, स्थानपरिभाषया व्यावर्तितत्वात्। तदिदमुक्तम्—अस्थान इति वामनोऽप्याह 'विरमविरामं कष्टम्' इति। सदो गृहरूपा सभा केतूदस्ताम्भोदं ध्वजदण्डोल्लिखज्जलधरमित्युच्चैस्त्वम्। 'वेदच्छेदा शालिनी मोऽथ तौ गौ' इत्युपलक्षणं श्रव्यरतेः। अत्र द्वितीयपादे धातुभागभेदः शेषपादत्रये नामभागभेदाः। न चात्र स्वरसंधानमस्तीति॥

(१५ अशरीरत्व दोष)

क्रियापदविहीनं यदशरीरं तदुच्यते।

यथा—

'सेलसुआरुद्धद्धं मुद्धाणाबद्धभुद्धससिलेहम्।
सीसपरिट्ठिअगङ्गं संज्झापणअं पमहणाहम्॥ ४०॥'

[शैलसुतारुद्धार्धं मूर्धाबद्धभुग्नशशिलेखम्।
शीर्षपरिष्ठितगङ्गं संध्याप्रणतं प्रमथनाथम्॥]

क्रियापदाभावादशरीरमिदम्॥

जो वाक्य क्रियापद से रहित हो, वह अशरीर अथवा इस दोष से युक्त होगा। २८ अ।

जैसे—पर्वतपुत्री पार्वती से अवरुद्ध अर्ध शरीर वाले, भाल पर खण्डचन्द्रकला बाँधे हुये, मस्तक पर गङ्गा को बैठाये हुए, सन्ध्या के लिए प्रणत प्रमथगणों के स्वामी को (प्रणाम)॥४०॥

क्रिया पद का अभाव होने से यह वाक्य अशरीर है।

स्व० भा०—किसी भी वाक्य में पूर्णता के लिए क्रिया आवश्यक होती है। इसके बिना वाक्य का एक अङ्ग ही नहीं रहता। रत्नदर्पण टीका के कर्त्ता रत्नेश्वर के अनुसार 'क्रियेत्युपलक्षणम्। प्रधानपदहीनमिति बोद्धव्यम्।' यहाँ क्रिया न होने से यह नहीं स्पष्ट हो पाता है, कि उन शिव को क्या किया जाये। अतः यहाँ विधेय अंश अस्पष्ट है। इसके कारण यहाँ यह दोष है।

क्रियापदेति। **क्रियेत्युपलक्षणम्। प्रधानपदहीनमिति बोद्धव्यम्। प्रधानाविमर्शे हि वाक्यशरीरमेव न निष्पन्नं स्यात्॥** शैलेति। वाक्ये क्रियाप्रधानमिति दर्शने तत्पदानुपादानादत्र प्रधानाविमर्शः। शैलसुतयावरुद्धमर्धं यस्य। मुद्धाणो मूर्धा तत्रावद्धा भुग्ना शशिलेखा येन। शीर्षे परिष्ठिता गङ्गा येन। यश्च संध्यायै प्रणतस्तं प्रमथनाथं प्रमथा गणास्तेषां नाथम्। कर्मविभक्तेः क्रियामन्तरेणाचरितार्थत्वात् क्रियाया नमस्काररूपाया व्यभिचारेणार्थापत्तिविषयतानुपपत्तेरिति। अस्यां च गाथायां स्त्रीमयव्यापाररूपता भगवतः प्रतीयते इति रहस्यमाराध्या मन्यन्ते॥

(१६ अरीतिमत् वाक्यदोष)

गुणभङ्गद्वारकदोषनिरूपणावसरोऽयमित्याशयवानाह—

गुणानां दृश्यते यत्र श्लेषादीनां विपर्ययः॥ २८॥
अरीतिमदिति प्राहुस्तत्त्रिधैव प्रचक्षते।
शब्दार्थोभययोगस्य प्राधान्यात् प्रथमं त्रिधा॥ २९॥
भूत्वा श्लेषादियोगेन पुनस्त्रेधोपजायते।

अत्र यः श्लेषसमतासौकुमार्यविपर्ययः ॥ ३० ॥
शब्दप्रधानमाहुस्तमरीतिमति दूषणम् ।

जहाँ पर श्लेष आदि गुणों की विपरीतता देखी जाती है वहाँ अरीतिमत् दोष कहा गया है। यह तीन प्रकार का ही कहा जाता है। शब्द, अर्थ तथा दोनों की प्रधानता होने पर पहले तीन प्रकार का होकर श्लेष आदि के सम्बन्ध से पुनः प्रत्येक तीन प्रकार का हो जाता है। इनमें भी जो श्लेष, समता, और सुकुमारता की विपरीतता है उस अरीतिमत् वाक्यदोष को शब्द-प्रधान कहा गया है। (२८-३१ अ)

स्व० भा०—श्लेष, प्रसाद, समता, सौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, माधुर्य, कान्ति, उदारता तथा ओज इनके योग में वाक्य में वक्रता आती है और काव्य नाम सार्थक होता है। इन गुणों के अभाव में काव्य केवल काव्याभास रह जाता है। ये श्लेष आदि नौ ही ऐसे हैं जिनके अभाव में काव्याभास होता है। इनके विपरीत हो जाने से रीति भग्न हो जाती है क्योंकि गुणों से युक्त पदों की रचना ही रीति है। "विशिष्टपदसंघटना रीतिः।"

यहाँ भोज ने विभाजन शब्द, अर्थ तथा उभय के आधार पर प्रथम किया। इस प्रकार यह त्रिविध हुआ। इसके पश्चात् इनमें आश्रित रहने वाले अलग २ प्रत्येक तीन-तीन गुण हैं। उनके न रहने से अथवा विपर्यय से एक-एक के तीन-तीन दोष होने से सब मिला कर अरीतिमत् दोष के नव भेद हुए।

(१६ क (१) श्लेषविपर्ययरूपशब्दप्रधान अरीतिमत् दोष)

तत्र—

विपर्ययेण श्लेषस्य संदर्भः शिथिलो भवेत् ॥ ३१ ॥

यथा—

'आलीयं मालतीमाला लोलालिकलिला मनः ।
निर्मूलयति मे मूलात्तमालमलिने वने ॥ ४१ ॥'

अत्र भिन्नानामपि पदानामेकपदता प्रतिभासहेतुरनतिकोमलो बन्धविशेषः श्लेषः। तद्विपर्ययेण शब्दप्रधानोऽयं श्लेषविपर्ययः ॥

श्लेष के विपर्यय से प्रसंग शिथिल हो जाता है ॥ ३१ ॥

जैसे--हे सखी ! तमालवृक्ष के कारण श्यामल इस वन में यह चञ्चल भ्रमरों से कलुषित मालतीमाला मेरे मन को जड़ से उखाड़े दे रही है ॥ ४१ ॥

काव्यशास्त्र में भिन्न-भिन्न भी पदों की एकपदता को प्रदर्शित करने का कारणभूत, जो बहुत ही अधिक कोमल नहीं होता है वही बन्धविशेष--विशेष प्रकार की पदयोजना श्लेष है। उसके विपर्यय से यह शब्दप्रधान श्लेष-विपर्यय दोष है।

स्व० भा०—पूरे कारिका शब्दों में अभिप्राय यही है कि काव्य में अत्यधिक कोमलता भी दोष है। यहाँ लकारबहुल अत्यन्त मृदु वर्णों का ही उपयोग करने से जितना वेग होना चाहिए कथन में वह नहीं आ पाया।

गुणानामिति। **समाध्यादिभङ्गोऽपि तर्हि दोषः स्यादित्यत आह—श्लेषादीनामिति। श्लेषप्रसादसमतासौकुमार्यार्थव्यक्तिमाधुर्यकान्त्युदारतौजसाम्। एतद्योगाद्वाक्यं वक्रूरूप-**

तामासाद्य काव्यव्यपदेशं लभते। तेषां गुणानां भङ्गः काव्याभासत्वपर्यवसायी दोषः। ते च श्लेषादयो नवैव। तेषामन्यतमाभावे काव्यस्याभासत्वात्। तेषां हि विपर्यये रीतिरवश्यं भज्यते। तस्या गुणवत्पदरचनारूपत्वात्। अत एव पानकरसन्यायेन संभूयचित्रास्वादपर्यवसानत्वमं गुणसंवलनमेव रीतिरिति लोचनकारः। रीतिः साररूपतया काव्यस्यात्मेत्युच्यते। यथा चित्रस्य लेखा उत्तुङ्गप्रत्यङ्गलावण्योन्मीलनक्षमा, तथा रीतिरिति द्वितीये विस्तरः। तन्निवेति। तदिति काकाक्षिगोलकवत्पूर्वापराभ्यामभिसंबध्यते। यत्र गुणानां विपर्ययस्तदरीतिमत्। तन्निषेत्यर्थः। त्रिधाभूतं भूयस्त्रिधा प्रचक्षते। तेन नवभेदाः। तदेतद्विवृणोति—शब्दार्थेति। योगशब्दः प्रत्येकमन्वीयते। शब्दप्रधानत्वमर्थानपेक्षशब्दनिरूप्यत्वम्। वाक्यगुणस्य श्लेषादित्रयस्य। एवशब्दानपेक्षार्थनिरूपणीयत्वं तादृशस्य कान्त्यादित्रयस्य। एतेनौजःप्रभृतित्रिकस्योभयप्रधानता व्याख्याता। तेनायमर्थः शब्दार्थोभयप्रधानतया सामान्यतस्त्रिधा भूत्वा श्लेषादित्रिकविवक्षया प्रत्येकं त्रिधा भवतीति। तेषु शब्दस्य प्राथम्यात्तत्प्रधानकगुणभङ्गः प्रथमं विवेक्तव्य इत्याह—तत्रेति। अरीतिमतीति निर्धारणे सप्तमी। जात्यभिप्रायमेकवचनम्। विपर्ययेणेति। श्लेषः संधानं घटनमित्यनर्थान्तरम्। न चैतावतैव गुणत्वं वाक्यमात्रसाधारणत्वात्। तेन बहूनामपि पदानामेकताप्रतिभासहेतुत्वमनतिकोमलत्वं च विशेषणमिच्छन्ति। विशेषमर्थगुणकाण्डे वक्ष्यामः। एवंभूतविशेषणविपर्यासे शिथिलो बन्धोऽतिकोमलो विकीर्णप्रायश्चेत्यर्थः। आलीयमित्यादौ दन्त्यवर्णप्रायतयातिकोमलत्वं विकीर्णता च व्यक्तैव। नास्य निरूपणे क्वचिदप्यर्थापेक्षेति स्फुटयन्नाह—अत्र भिन्नानामिति। श्लेषस्य शब्दप्रधानतया तद्विपर्ययोऽपि शब्दप्रधानो भवतीत्याह—शब्दप्रधानोऽयमिति। अन्यतरविशेषणहानावपि श्लेषाभावो भवत्येव। तेन पूर्वार्धस्य लेशत ऐक्यप्रतिभानसंभवेऽप्यतिकोमलतया दुष्टत्वम्॥

(१६ क (२) समताविपर्यय रूप शब्दप्रधान अरीतिमत दोष)

भवेत् स एव विषमः समताया विपर्ययात्।

तथा—

'कोकिलालापवाचालो मामेति मलयानिलः।
उच्छलच्छीकराच्छाच्छनिर्झराम्भःकणोक्षितः॥ ४२॥'

अत्र पूर्वार्धस्य मृदुबन्धत्वादुत्तरार्धस्य च गाढबन्धत्वात् समबन्धेषु विषममिति विषमो नाम शब्दप्रधानः समताविपर्ययो दोषः॥

वही सन्दर्भ समतागुण की अननुकूलता से समताविपर्यय अथवा विषम दोष होता है। ३२ अ।

जैसे--कोयल की आवाज से'मुखर, छलकते हुए जलकणों से संयुक्त, अतिनिर्मल झरने के जलकण से परिपूर्ण दक्षिणदिशा की (सुगन्धित) वायु मेरे पास आ रही है॥ ४२॥

इस छन्द में पूर्वार्ध में मृदुबन्धता के कारण तथा उत्तरार्ध के गाढबन्धता—कठोर वर्णों के सम्बन्ध से समबन्ध में भी विषमता आ जाने से, समता के विपर्यय से होने वाला विषम नामक शब्दप्रधान दोष है।

स्व० भा०—यह अनुष्टुप् छन्द है। इसमें पूर्वार्ध में मृदु वर्णों का आधिक्य है और उत्तरार्ध में कठोर वर्णों का। अतः यहाँ पूर्णतः—मृदु-मृदु अथवा कठोर-कठोर वर्णों के ही आदि से अन्त पर्यन्त न रहने से दोष आ गया।

भवेदिति। स एव संदर्भो मृदुमध्यकठोरवर्णनिर्व्यूढास्तिस्रो बन्धजातयस्तत्रैकरूपे वाक्यार्थे एकैव जातिरुपादेयेति तद्विपर्यासो वैराग्यहेतुरेव। उच्छलन्तः शीकरा यस्मात्तथोच्छाच्छमत्यच्छम्। द्वयमपि निर्झराम्भोविशेषणम्। मलयमारुतस्योद्दीपनविभावभूतस्य वर्णमात्रवैरूप्यमस्येत्याशयवानाह—अत्र पूर्वार्धस्येति। शब्दप्रधानतामस्य विवृणोति—समबन्धेष्विति॥

(१६ क (३) कठोरतारूप शब्दप्रधान अरीतिमत् दोष)

सौकुमार्यविपर्यासात् कठोर उपजायते॥ ३२॥

यथा—

'असिततिगुगद्रिच्छित्स्वःक्षितांपतिरद्विट्क्।
अमिद्रिः शुभ्रदृग्दृष्टैर्द्विषो जेत्नीयिषीष्ट वः॥ ४३॥'

अत्रातिकठोरत्वादसौकुमार्यं सुप्रतीतमेव॥

सुकुमारता के विपर्यास से कठोरता उत्पन्न हो जाती है॥ ३२।

जैसे—कृष्णमार्ग वाले अग्नि के पुत्र, (क्रौञ्च) पर्वत को छेद डालने वाले, स्वर्गवासियों के रक्षक, दो आँखे नहीं (अपितु द्वादश नेत्र) रखने वाले, श्री कार्तिकेय जी अपने रूक्ष तथा धवल नेत्रपातों से आप लोगों के शत्रुओं का पूर्णतः विनाश करें॥ ४३॥

यहाँ अत्यधिक कठोरता होने से सुकुमारता का अभाव स्पष्ट रूप से ज्ञात ही है।

स्व० भा०—यहाँ छन्द में 'तिं', 'द्रि', 'च्छि', 'द्विट्', 'दृग्दृष्टैः' आदि वर्णों का इस क्रम में रखना ही कठोरता है। √हन+यङ्+आशीर्लिङ् में बना रूप 'जेत्नीयिषीष्ट' पद भी अत्यन्त कठोर है।

ये शब्दप्रधान दोष किसी रूप में पददोषों में भी देखे जा सकते हैं, किन्तु वहाँ आधार पद या शब्द थे और यहाँ पर रीति तथा गुण है। यही दोनों का अन्तर है।

सौकुमार्यविपर्यासादिति। अकठोराक्षरप्रायतावन्धस्य सुकुमारत्वं तद्विपर्यये कठोरता श्रुतिकटुत्वं भवति। असिततीति। 'ऋ गतौ' इति धात्वनुसारादृतिर्वर्त्म। असिता कृष्णा ऋतिर्वर्त्म यस्य कृष्णवर्त्मा वह्निस्तस्य तुगपत्यम्। अद्रिच्छिदिति क्रौञ्चदारणत्वात्। स्वर्गे त्रियन्ति निवसन्ति ये देवास्तेषां पतिः सेनानीत्वात्। अद्विदृग्द्वादशलोचनत्वात्। स एवंभूतो भगवान् कुमारोऽमिद्भिरस्निग्धै रूक्षैः शुभ्रदृग्दृष्टैर्धवलाक्षिविलोकितैः सक्रोधनिर्भालने तारकाभागस्योर्ध्वतया नयनात्तथाभावो जातिर्वो युष्माकं द्विषः शत्रून् जेघ्नीयिषीष्ट अत्यर्थं पुनः पुनर्वा वध्यादित्यर्थः। हन्तेर्यङि घ्नीभावे आशीर्लिङि रूपम्। स्वतन्त्रस्य पदस्य श्रुतिकटुता पददोषः। इह तु पदानामतथाभावे ति द्रि च्छि इत्यादीनां वर्णानां परस्परसंनिधाने घटनैव कठोरेत्याह—अत्रातिकठोरत्वादिति॥

(१६ ख अर्थप्रधान (१) अप्रसन्नदोष)

**या तु कान्तिप्रसादार्थव्यक्तीनामन्यथा गतिः।
अर्थप्रधानः प्रोक्तः स वाक्ये गुणविपर्ययः॥ ३३॥
अप्रसन्नं भवेद्वाक्यं प्रसादस्य विपर्ययात्।**

यथा—

'अनङ्गकमलं चक्रे मयमाना मरालिका।
यस्यानत्यर्जुनाब्जन्म सदृक्षाङ्को वलक्षगुः ॥ ४४ ॥'

अत्र शब्दानामनतिप्रसिद्धत्वादनतिप्रसन्नत्वमिति सोऽयमर्थप्रधानः प्रसाद-विपर्ययो दोषः ॥

जो कान्ति, प्रसाद तथा अर्थव्यक्ति का विपर्यास है वही (गुणविपर्यय) वाक्य में अर्थ-प्रधान दोष कहा गया है। प्रसाद गुण के न रहने पर वाक्य अप्रसन्नत्व दोष से युक्त हो जाता है ॥ ३३-३४ अ ॥

जैसे—अनधिक श्वेत जलोत्पन्न--नीलकमल सदृश चिह्न से संयुक्त शुभ्रकिरणों वाला चन्द्रमा जिसे सुशोभित न कर सका उसी अङ्गविहीन आकाश को यह उड़ती हुई हंसी सुशोभित कर रही है ॥ ४४ ॥

इस श्लोक में शब्दों के अत्यधिक विख्यात न होने से अत्यधिक सरलता नहीं है। अतः यहाँ अर्थप्रधान प्रसादविपर्यय अथवा अप्रसन्नता दोष है।

स्व० भा०—यहाँ छन्द में मूलपाठ 'कान्तिप्रसादार्थव्यक्तीनाम्' इस पाठ के स्थान पर निरूपण के क्रम को देखते हुए 'प्रसादार्थव्यक्तिकान्तीनाम्' यह पाठ होना चाहिए। सुनते ही जिस शब्द का अर्थ हृदय पर छा जाये वह शब्द प्रसन्न अथवा प्रसादगुणसम्पन्न माना जाता है। प्रस्तुत छन्द में 'अनङ्ग' पद का आकाश के लिए, 'मयमाना' पद चलती अथवा उड़ती हुई के अर्थ में, 'अर्जुन' का श्वेतता के लिये, 'अब्जन्म' कमल के लिए, 'वलक्षगुः' चन्द्रमा के लिए अप्रसिद्ध हैं। अप्रसिद्ध होने के कारण अर्थ तत्काल प्रकट नहीं हो पाता है।

ऐसी दशाओं में 'क्लिष्टता' तथा 'गूढार्थत्व' दोषों की शङ्का हो सकती है, किन्तु वस्तुतः है नहीं। इसी की टीका में रत्नेश्वर ने लिखा है—'न च मयमानादीनां क्लिष्टता (श्लिष्टता वा)। तल्लक्षणविरहात्। नापि गूढार्थत्वं तत एव।"

या तु कान्तीति। **'कान्तिप्रसादार्थव्यक्तीनाम्' इति प्रमादात् पाठः। विवरणक्रमानुरोधेन 'प्रसादार्थव्यक्तिकान्तीनाम्' इति पठनीयम्। अप्रसन्नमिति। श्रुतमात्रस्यैव यस्यार्थश्चित्ते प्रतिफलति स प्रसन्नः शब्दः। तथा चार्थस्य प्राकट्यं झटिति प्रतिबन्धयोग्यत्वम्। 'पक्षादिव गतिर्वाचः पुरस्तादिव वस्तुतः' इति सहृदयव्यवहारार्थविषयत्वं प्रसादोऽर्थनिरूपणीय इति भवत्यर्थप्रधानः। न चासौ पदमात्रमुल्लिखतीति वाक्यांशो भवति। तेन तद्विपर्यय-योऽपि वाक्यगामी। 'अर्थस्य यन्न झटिति प्रतीतिरुपजायते। तत्र तत्र महाराज शब्द एवापराध्यति ॥' इति वाक्यदोषेषु परिगणनमभ्यच्छुतया च शब्दानां प्रतीतिः स्खलन्ती दूषणतामस्य स्थापयति—अनङ्गकमिति। न विद्यतेऽङ्गं यस्येत्यनङ्गकमाकाशं मयमाना गच्छन्ती। अयमयेति दण्डकेषु पठितान्मयधातोः शानच्। मरालिका हंसी। अलंचक्रे शोभितवती। ननु हंस्यागमनपथालंकरणकालो रात्रिस्तस्यां च तुषारकिरण एव तदलंकार-कारी किमनया वराक्येत्यत आह—यस्येति। यदनत्यर्जुनं न भवति अब्जन्म तोयभवम्। नीलोत्पलमिति यावत्। तत्सदृशलाञ्छनो वलक्षगुर्वलक्षो गौः किरणो यस्य शुभ्रांशुश्चन्द्रः। तेनासौ सकलङ्कतया न तथालंकाराय यथेयमित्यर्थः। पश्येति वाक्यार्थकर्मकमेके पठन्ति। तन्न युक्तम्। चक्र इति परोक्षतया स्वरसभङ्गापत्तेः। उक्तयुक्त्या वाक्यदोषत्वमाह—अत्र शब्दानामिति। न च मयमानादीनां श्लिष्टता। तल्लक्षणविरहात्। नापि गूढार्थत्वं तत एव ॥**

(१६ ख (२) अर्थ व्यक्तिविपर्यय)

वाक्यं भवति नेयार्थमर्थव्यक्तेर्विपर्ययात् ॥ ३४ ॥

यथा—

'मही महावराहेण लोहितादुद्धृतोदधेः ।
इतीयत्येव निर्दिष्टे नेया लौहित्यहेतवः ॥ ४५ ॥'

तदिदं निगदेनैव व्याख्यातमित्यर्थप्रधानोऽयमर्थव्यक्तिविपर्ययः ॥

अर्थव्यक्ति का विपर्यय होने से वाक्य के अर्थ की कल्पना करनी पड़ती है अर्थात् नेयार्थत्व दोष होता है। (अतः ऐसे स्थलों पर अर्थव्यक्तिविपर्यय या नेयार्थ नामक दोष होता है।) ॥३४॥

जैसे—आदि वाराह के द्वारा अरुणिम अथवा रक्तमिश्रित सागर से पृथ्वी निकाली गई। इस इतने ही निर्देश में अरुणता के कारण कल्पनीय हैं ॥ ४५ ॥

इस छन्द में उक्ति द्वारा ही व्याख्या कर दी गई है। कि (किस कारण यहाँ अर्थव्यक्ति न हो पाने से अर्थ की कल्पना करनी पड़ती है।) यहाँ अर्थप्रधान अर्थव्यक्ति विपर्यय नामक दोष है।

स्व० भा०—जहाँ सम्पूर्णवाक्यता होती है अर्थात् वाक्य की अर्थपूर्ति के लिये अलग से कल्पना नहीं करनी पड़ती है, वहाँ अर्थव्यक्ति गुण होता है। गुण-प्रसङ्ग में इसका निरूपण होगा। यहाँ सागर का विशेषण लोहित पद है। इसकी उपयुक्तता के लिए 'वराह द्वारा असुर को मारने से प्रवाहित रक्त के कारण लोहित' इतने अर्थ की कल्पना करनी पड़ती है। अतः अर्थव्यक्ति गुण के न होने से यह वाक्य दुष्ट हुआ। दण्डी के काव्यादर्श (१। ७४) में यही उदाहरण अर्थव्यक्ति के अपवाद के रूप में उद्धृत किया गया है।

वाक्यमिति। **संपूर्णं वाक्यत्वमर्थव्यक्तिं करोति वक्ष्यति। सर्वस्य वाक्यस्य विशेषण-विशेष्यभावबोधकत्वनियमे यावतां विशेषणविशेष्यभावोऽभिमतस्तावत्प्रतिपादकपदोपादानं संपूर्णता। सा च विशेषणविशेष्यभावानुरूपार्थनिरूपणीयतयार्थप्रधानेति तद्विपर्ययोऽपि तत्प्रधान इति पूर्ववन्नेयम्। अत एव विवक्षितवाक्यान्यथानुपपत्त्या नेयः कल्पनीयोऽर्थो यस्येति नेयार्थमित्यर्थोऽपि घटते।** महीति। **पूर्वार्ध एव काव्यं निर्वर्तितम्। न च तावता विवक्षितार्थलाभः। तथा हि—समुद्रमध्यात्पृथिव्यामुद्धियमाणायां महासुरविमर्दे तेषां दंष्ट्रया पाटनेन रुधिरशबलतया लोहितत्वमुदधेरिति वाक्यार्थोऽभिप्रेतः। लक्षणाया अभावान्न नेयार्थत्वं पददूषणमत्र संभावनामारोहति। दूषणताबीजं चात्र स्फुटमेव। अशरीरं तु क्रियापदशून्यमित्युक्तम्। तदेतत्सर्वमभिप्रेत्याह—तदिदं निगदेनैवेति॥**

(१६ ख (३) कान्तिविपर्यय दोष)

कान्तेर्विपर्ययाद्वाक्यं ग्राम्यमित्यपदिश्यते ।

यथा—

'विरहे ते विषीदन्तं निषीदन्तं तवान्तिके ।
कन्ये कामयमानं मां त्वं न कामयसे कथम् ॥ ४६ ॥'

इदमुक्तेर्ग्राम्यतया कान्तिहीनमित्यर्थप्रधानोऽयं कान्तिविपर्ययो दोषः ॥

कान्तिगुण का विपर्यय होने से वाक्य ग्राम्यत्व दोष से युक्त होने से कुख्यात होता है।

जैसे—तुम्हारे वियोग में दुःख उठा रहे, तुम्हारे पास में ही पड़े हुए, रति के लिए व्याकुल मुझको, हे कन्ये, तुम क्यों नहीं चाहती ? ॥ ४६ ॥

इस उक्ति में ग्राम्यता होने के कारण, कान्ति न होने से, अर्थप्रधान कान्तिविपर्यय दोष है।

स्व० भा०—रस की दीप्ति को कान्ति कहते हैं। अनुकूल सम्बोधन तथा समुचित कथन रीति से अर्थ स्वयं रस की वर्षा करने लगता है। कन्या पद जो कि 'पुत्री का वाचक है उसी का प्रेमहेतु स्पष्ट शब्दों में आह्वान करने पर असभ्यता ही दृष्टिगोचर होती है। अतः रसोत्कृष्टता में बाधा उपस्थित होना स्वाभाविक है।

इस छन्द का उत्तरार्ध काव्यादर्श (१ । ६३) के कान्तिरहित छन्द में ग्राम्यता का प्रतिपादन कर रहे प्रसङ्ग से उद्धृत किया गया है।

कान्तेरिति। **रसस्य दीप्तिः कान्तिरग्रे विवरिष्यते तेनार्थप्रधानता व्यक्ता। तस्यामस्ति वाक्यवाच्ययोर्व्यापारः। वाक्यं विदग्धोक्तिकं व्याप्रियते। अतथाभूतस्य रसाभ्यञ्जकत्व-नियमात्। तथाहि—कन्ये इति संबोधनेन रसविरोधिनीविलसिता क्षमता प्रतीयते। कामयमानमित्यनेनानावरणमुच्यमानोऽर्थः कथं न वैरस्यमावहतीत्यादिकमुन्नेयम्। तदिदमाह—इदमुक्तेर्ग्राम्यतयेति ॥**

(१६ ग उभय प्रधान (१) ओजोविपर्यय दोष)

ओजोमाधुर्यमौदर्यं न प्रकर्षाय जायते ॥ ३५ ॥
यस्मिंस्तमाहुरुभयप्रधानं तद्विपर्ययात्।
वाक्ये यः खण्डयन् रीतिं भवत्योजोविपर्ययः।
असमस्तमिति प्राहुर्दोषं तमिह तद्विदः ॥ ३६ ॥

यथा—

'स्मरः खरः खलः कान्तः कायः कोपधनः कृशः।
च्युतो मानोऽधिको रागो मोहो जातोऽसवो गताः ॥ ४७ ॥

अत्र सत्यसमस्तपदाभिधाने सत्यपि चार्थसौकुमार्ये श्लेषादिगुणसामग्र्य-भावान्न वैदर्भी रीतिः। नापि यथोक्तलक्षणाभावाद्गौडीयादय इति। खण्डित-रीतित्वादयमोजोविपर्ययः शब्दार्थप्रधानो गुणविपर्ययो दोषो भवति। यदाह—

इत्यादिबन्धपारुष्यं शैथिल्यं च नियच्छति।
अतो नैनमनुप्रासं दाक्षिणात्याः प्रयुञ्जते ॥ ३७ ॥

जिस वाक्य में ओज, माधुर्य और औदार्य गुण विपर्ययके कारण उत्कर्षाधायक नहीं होते उस वाक्य को उभयप्रधान दोष से संयुक्त कहते हैं। जो ओजगुण का विपर्यय वाक्य में एक निश्चित रीति को भग्न करता है, समास से रहित होता है, उसे काव्यज्ञों ने काव्यशास्त्र में ओजोविपर्यय दोष कहा है ॥ ३५-३६ ॥

जैसे—काम उद्दीप्त है, प्रिय निष्ठुर है, क्रोध का धनी शरीर तथा क्रोध रूप धन (दोनों) क्षीण हैं, मान गल गया, प्रेम बढ़ गया है, [मेरी] मूर्खता जाती रही अथवा मूर्च्छा आने लगी, प्राण निकल गये ॥ ४७ ॥

यहाँ बहुत समासयुक्त पदों का ग्रहण न होने पर भी, अर्थ सुकुमारता के होने पर भी श्लेष आदि समस्त गुणों अथवा श्लेष आदि गुणों की सामग्री के अभाव में वैदर्भी रीति नहीं है। कहे गये नियमों के अनुसार लक्षण का अभाव होने से गौडी आदि रीतियाँ भी नहीं हैं। [अतः] रीति का खण्डन होने से यहाँ ओजोविपर्यय नामक शब्दार्थप्रधान गुणहीन दोष होता है। कहा गया है—इस प्रकार के प्रयोग बन्ध में परुषता तथा शिथिलता लाते हैं। अतएव इस अनुप्रास का प्रयोग दाक्षिणात्य [कवि] नहीं करते हैं ॥ ३७ ॥

स्व० भा०—प्रस्तुत छन्द में किसी भी रीति का निर्वाह नहीं हो पा रहा है। इसका लक्षण यथावसर कहा जायेगा। वैदर्भी में दसो गुण होने चाहिए, गौडीया में समासाधिक्य अपेक्षित है, ऐसे ही अन्यों का भी क्रम है। इस छन्द के शब्दों को देखने से स्पष्ट है कि कोई भी रीति पूर्णतः नहीं है। यद्यपि इस छन्द में अनुप्रास अलंकार है, किन्तु रीति के विना यह शव के आभूषण की भाँति है। इसी कारण यहाँ सदोषता है।

वाक्ये य इति। **ननु समासभूयस्त्वमोजोऽभिधास्यते तत्कथमस्याभावोऽर्थप्रधानोऽपि कथं च दोष इत्यत आह—खण्डयन् रीतिमिति। रीतिर्भङ्गपर्यवसायी तस्याभावो दूषणम्। न तु तन्मात्रमित्यर्थः। एतदुक्तं भवति। शब्दार्थयोरुचिता प्रौढिरोजः। यदाह—'रौद्रादयो रसा दीप्त्या लक्ष्यन्ते काव्यवर्तिनः। तद्व्यक्तिहेतुशब्दार्थावाश्रित्यौजो व्यवस्थितम् ॥' इति। तत्रार्थव्यक्तिमर्थगुणेषु विवेचयिष्यामः। शब्दस्य तु पारुष्यशैथिल्यव्यतिकरलक्षणा सा च क्वचित्समासदीर्घतया व्यज्यते। यथा—'चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघातसंचूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य।' इति। क्वचित् अन्यथापि प्रकाश्यते। यथा—'यो यः शस्त्रं बिभर्ति' इत्यादि। तदेवं तत्त्वव्यवस्थितौ पूर्वाचार्यव्यवस्थित्या गुणकाण्डे समासभूयस्त्वमोजोलक्षणं व्यभिचारितगुणमध्ये समासरचनासौष्ठवं वक्तृत्वमतया गुण इत्यभिप्रायाद्विशेषं तत्र वक्ष्यामः—तदिदमिति। रीतिं खण्डयतीति। नहि प्रौढेरभावे गुणसंबन्धनात्मिका रीतिर्नामेति विपर्ययपदेन साधारणेन पारुष्यशैथिल्ये दर्शयति—अत्रेति। एतदेवाचार्यमतेन द्रढयति—यदाहेति। यद्यप्यत्रानुप्रासोऽस्ति तथापि रीतिमन्तरेण मृतशरीर इव काव्ये नालंकरणतामध्यास्ते। ततश्च न प्रकृतः कोऽपि चमत्कारोविर्भाव इति नास्यैव काव्यतां प्रयोजयतीत्यर्थः। दाक्षिणात्या वैदर्भीमाहुः। पारावरीणास्ते हि विशिष्टरीतिस्वरूपमवधारयितुं क्षमा इति ॥**

१६ ग (२) उभयप्रधान माधुर्यव्यत्ययदोष।

माधुर्यव्यत्ययो यस्तु जायते रीतिखण्डनात्।
तदनिर्व्यूढमित्युक्तं काव्यसर्वस्ववेदिभिः ॥ ३८ ॥

यथा—

'नखिनां च नदीनां च शृङ्गिणां शस्त्रपाणिनाम्।
विश्वासो नैव कर्तव्यः स्त्रीषु राजकुलेषु च ॥ ४८ ॥'

अत्र नखिनां च नदीनां चेति षष्ठ्यन्ताच्चकारेण रीतेरुपक्रमे शृङ्गिणां शस्त्रपाणिनामिति चकारानिर्वाहात् स्त्रीषु राजकुलेषु चेति षष्ठीपरित्यागादमधुरार्थत्वाच्च माधुर्यविपर्ययनामायं शब्दार्थप्रधानो गुणविपर्ययो दोषः। यदाह—

मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः ।
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः ॥ ३९ ॥
यया कयाचिच्छ्रुत्या यत्समानमनुभूयते ।
तद्रूपा हि पदासत्तिः सानुप्रासा रसावहा ॥ ४० ॥

एक प्रारब्ध रीति का खण्डन हो जाने से जो माधुर्य का व्यत्यय हो जाता है उसे काव्य की आत्मा को जानने वालों ने अनिर्व्यूढत्व कहा है—अर्थात् क्रम का निर्वाह न कर पाने से दोष कहा है ॥ ३८ ॥

जैसे—नख वाले प्राणियों का, नदी का, शस्त्र हाथ में लिए हुए लोगों का, स्त्रियों तथा राजकुल में विश्वास नहीं ही करना चाहिए ॥ ४८ ॥

यहाँ पर 'नखिनाम्' तथा 'नदीनां' इन षष्ठी विभक्त्यन्त पदों को चकार से (संयुक्त करने की) रीति प्रारम्भ करने के बाद 'शृङ्गिणाम्' तथा 'शस्त्रपाणिनाम्' इनके साथ चकार का निर्वाह न करने से तथा 'स्त्रीषु' और 'राजकुलेषु' में षष्ठी का परित्याग कर देने से तथा अर्थ के भी मधुर न होने से माधुर्यविपर्यय नामक शब्दार्थप्रधान गुण से विपरीत दोष है। जैसा कहा गया है—

सरस को मधुर कहते हैं। रस की स्थिति शब्द (वाणी) तथा अर्थ (वस्तु) (दोनों) में हुआ करती है जिससे सहृदय लोग उसी प्रकार मस्त हो जाया करते हैं जैसे पराग से भ्रमर जिस किसी भी वाणी के उच्चारण से अथवा तालव्य और कण्ठ्य वर्णों के उच्चारण से जो समानता की अनुभूति होती है, उस समान श्रुतिरूप अनुप्रास से संयुक्त पदों की घटना रसाधायक हुआ करती है ॥ ३९-४० ॥

स्व० भा०—यहाँ छन्द में कई रीतियों का प्रारम्भ किया गया, किन्तु प्रारम्भ से लेकर अन्त तक उसका निर्वाह नहीं किया गया। प्रथमतः 'च' का प्रयोग प्रत्येक पद के बाद किया गया, वह भी दो पदों के बाद छोड़ दिया गया। षष्ठ्यन्त पदों का ग्रहण करके दूसरी रीति चालू की गई किन्तु फिर सप्तम्यन्त पदों का प्रयोग प्रारम्भ हुआ। इन रीतियों के अनिर्वाह के साथ ही ऐसी रसात्मकता-मधुरता-भी नहीं है जो चित्त को द्रवित कर दे। अतः यहाँ माधुर्य विपर्यय नामक दोष है। अन्त में दिये गए छन्द मत की पुष्टि के लिए दण्डी के काव्यादर्श (१।५१-५२) के हैं।

माधुर्यव्यत्यय इति। **शब्दार्थयोश्चित्तद्रुतिविधायित्वं माधुर्यम्। निचुलितत्वमिवार्द्रता-पदाभिधेया चेतसोऽवस्था तत्कारिता माधुर्यम्। सा च शृङ्गारकरुणान्यतरप्रकाशानुगुण-व्यापारावेशेन भवति। यदाह—'शृङ्गार एव मधुरः परः प्रह्लादनो रसः। तन्मयं काव्य-माश्रित्य माधुर्यं प्रतितिष्ठति ॥ शृङ्गारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत्। माधुर्यमात्रतां याति यतस्तत्राधिकं मनः ॥' इति। तत्र शब्दस्य माधुर्यं पृथक्पदतया व्यज्यते। दीर्घ-समासस्य यत्नान्तरसाध्यतया सुकुमाररसप्रकाशसामग्रीबहिर्भावात्। ततश्च शब्द-दूषणप्रस्तावे पृथक्पदतामात्रप्रत्ययो यद्युच्यते गौडीया दुष्टा स्यात्, इति रीतिखण्डन-पर्यवसायितयाभिधानम्। भवति हि कदाचित्कवेः शक्तिवशात्सोल्लेखेऽपि समासे रसव्यक्तिः। यथा—'याते द्वारवतीं तदा मधुरिपौ तद्वत्तसङ्गानतां, कालिन्दीतटरूढवञ्जुल-लतामालिङ्ग्य सोत्कण्ठया। उद्गीतं गुरुबाष्पगद्गदगलत्तारस्वरं राधया, येनान्तर्जलचारि-**

भिर्जलचरैरप्युत्कमुत्कूजितम् ॥' एवं चास्खलितप्रतीतिविषयस्यैव संदर्भस्य रसत्वं पदघटनारूपस्य च संदर्भस्यानिर्वाहादेव प्रतीतिः स्खलतीत्याह—तदनिर्व्यूढमिति। काव्यसर्वस्वं रसप्रकाशस्तद्वेदिभिस्तदुपायभूतघटनास्वरूपवेदिभिः। एतदेव व्याख्यानेन स्फुटयति—अत्रेति। नखिनां च नदीनां चेति चकारेणोत्तरत्र तत्परित्यागेऽनुपपत्तिर्ज्ञापिता तदेव प्रतीतेः संवलनम्। एवमुत्तरत्रापि। अस्तु तर्हि वस्त्वसत्त्वेऽप्येकदिङ्माधुर्यसंपत्तौ काव्यताप्रतिलम्भ इत्यत आह—अमधुरार्थत्वाच्चेति। स्पष्टमेतच्छब्दार्थप्रधानतां माधुर्यस्य पूर्वाचार्यसंमत्या द्रढयति—यदाहेति। माद्यन्ति आर्द्रचित्ता भवन्ति। मधुरसादृश्यादयं व्यवहार इत्यत आह—मधुनेति। इदं च घटनाया माधुर्ये परमं रहस्यमित्याह—यया कयाचिदिति। ओष्ठ्यकण्ठ्यादिकं वा तद्रूपसमानश्रुतिकमादौ यस्य तथाभूतस्य पदस्य प्रत्यासत्तिः 'तद्रूपा हि' इति पाठे व्यक्त एवार्थः। अत एव सानुप्रासा ततश्च रसावहेत्यर्थः। यदाह—'कङ्कणादिविमुक्तापि कान्ता किमपि शोभते। कुङ्कुमेनाङ्गरागश्चेत् सर्वाङ्गीणः प्रवर्तते ॥' इति ॥

(१६ ग (३) औदार्यविपर्यय दोष)

विकटतामात्रभावस्यादोषत्वाद्विशेषयन्नाह—

यस्तु रीतेरनिर्वाहादौदार्यस्य विपर्ययः।
वाक्यं तदनलंकारमलंकारविदो विदुः ॥ ४१ ॥

यथा—

'दीर्घपुच्छश्चतुष्पादः ककुद्मान्लम्बकम्बलः।
गोरपत्यं बलीवर्दस्तृणमत्ति मुखेन सः ॥ ४९ ॥'

तदिदमपुष्टार्थत्वादनुत्कृष्टविशेषणमनुदारं निरलंकारमाचक्षते सोऽयमौदार्यविपर्ययो नाम शब्दार्थप्रधानो गुणविपर्ययो दोषः। यदाह—

श्लाघ्यैर्विशेषणैर्युक्तमुदारं वाक्यमिष्यते।
यथा लीलाम्बुजक्रीडासरोहेमाङ्गदादयः ॥ ४२ ॥
उत्कर्षवान् गुणः कश्चिदुक्तेर्यस्मिन् प्रतीयते।
तदुदाराह्वयं तेन सनाथा काव्यपद्धतिः ॥ ४३ ॥

रीति का निर्वाह न हो पाने से जो औदार्य का व्यत्यय है इससे युक्त वाक्य को अलंकार शास्त्रियों ने अनलङ्कार समझा है ॥ ४१ ॥

जैसे—जिसकी लम्बी सी पूँछ है, चार पैर हैं, ककुद् है, लम्बकम्बल (गले में नीचे लटकने वाली लम्बी खाल = लर) है, वह गाय का बच्चा बैल मुख से घास चरता है ॥ ४९ ॥

इस प्रकार जो यह अर्थ के परिपुष्ट न होने से, अच्छे विशेषणों से रहित, औदार्यहीन, वाक्य निरलंकार कहा जाता है, वही औदार्यविपर्यय नामक शब्दार्थप्रधान गुणहीनता रूप दोष कहा जाता है। जैसा कि कहा गया है।—

कुछ लोगों को प्रशंसनीय विशेषणों से युक्त उदारता गुण अभीष्ट है (अर्थात् श्लाघ्य विशेषणों से युक्त वाक्य को उदार कहते हैं)। जैसे—लीलाम्बुज, क्रीडासर, हेमाङ्गद आदि। जिस

वाक्य में उक्ति का कोई उत्कृष्ट अलौकिक गुण प्रतीत होता है उसको उदारता नामक गुण कहते हैं। इससे काव्य-पद्धति सनाथ हो जाती है ॥ ४३ ॥

स्व० भा०—ये दोनों छन्द दण्डी के काव्यादर्श (१।७९, ७६) से प्रमाण रूप में उद्धृत हैं। इसमें औदार्य गुण तथा उससे समन्वित वाणी की विशिष्टता द्योतित की गई है। श्लाघ्य विशेषणों से युक्तता का अभिप्राय यह है कि जहाँ एक पद सामान्य रूप से किसी अर्थ के वाचक के रूप में प्रयुक्त हुआ, वहीं, यदि उसे कोई उपयुक्त विशेषण मिल जाये तो शोभा और भी बढ़ जाती है। अम्बुज पद के साथ 'लीला' पद जोड़ देने से 'लीलाम्बुज' पद उच्चारण में भी अच्छा लगता है तथा अर्थ का प्रत्यायन भी कोमल ढङ्ग से कर देता है। इसी प्रकार अन्य विशेषण और विशेष्य भी द्रष्टव्य हैं।

वाक्यदोष के सोलहवें दोष अरीतिमत्त्व के भेदोपभेद की स्पष्टता के लिए इसी का एक रेखाचित्र दिया जा रहा है। ऊपर से लिखी गई संख्याओं तथा कोष्ठ के वर्णों को मिलाने से जो रूप बनेगा, वही रूप उनका विवेचन करते समय कोष्ठ में लिख दिया गया है। जैसे—अरीतिमत्त्व दोष सोलहवाँ है अतः (१६) संख्या लिखी होगी। इसका तृतीय भेद शब्दार्थ प्रधान रूप है अतः (ग) लिखा है और इसका तीसरा भेद औदार्य-विपर्यय है अतः (३) लिख दिया गया है।

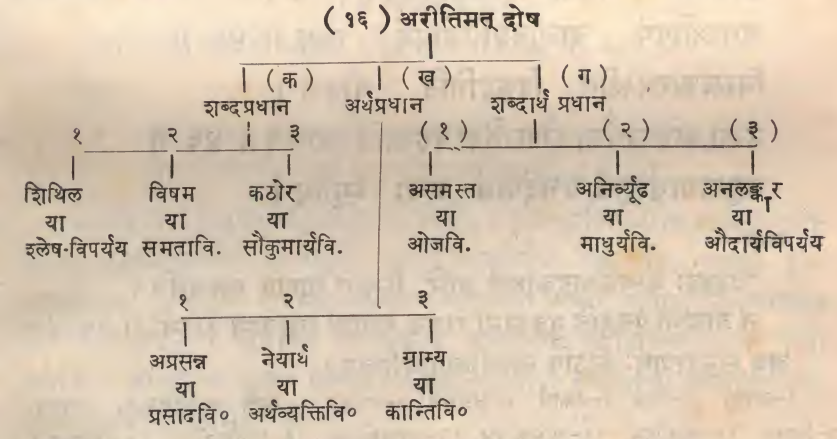

वाक्यार्थ दोष

यह वाक्यार्थ दोष नया नहीं है। भामह और दण्डी ने दोषों का सोदाहरण लक्षण दिया है। इन लोगों ने एक साथ दोष गिना दिए थे, उनके लक्षण भी यथामति दिये थे, किन्तु उनका वर्गीकरण नहीं किया था। रुद्रट ने अपने काव्यालङ्कार के षष्ठ अध्याय में पद तथा वाक्य दोषों का और एकादश में अर्थदोषों का निरूपण किया है। वामन ने काव्यालङ्कार सूत्र के द्वितीय अधिकरण के प्रथम अध्याय में पद तथा पदार्थ दोषों का और उसी अधिकरण के द्वितीय अध्याय में वाक्य तथा वाक्यार्थ दोषों का सोदाहरण विवेचन किया है। महिम भट्ट ने द्वितीय विमर्श में दोषों को अनौचित्य नाम से अभिहित कर उनको शब्द तथा अर्थ विषयक माना था। वहीं उन्होंने रस सम्बन्धी दोषों को अन्तरङ्ग तथा शेष को बहिरङ्ग माना है। उनके बहिरङ्ग दोषों में विधेयाविमर्श, प्रक्रमभेद, क्रमभेद, पौनरुक्त्य तथा वाच्यावचन है। इन्हीं बहिरङ्ग भेदों का उन्होंने विशेष वर्णन किया है।

भोज का दोष-विभाग वामन से अधिक प्रभावित दृष्टिगोचर होता है, जब कि अधिकांश वाक्यार्थ-दोष उदाहरण सहित उन्होंने दण्डी से लिए हैं और कुछ भामह से। इनका आगे यथास्थान निर्देश होगा। भामह ने चतुर्थ परिच्छेद में १८, दण्डी ने १० तथा वामन ने ६ वाक्यार्थ दोष माना है। भोजराज के वाक्यार्थ दोषों की संख्या १६ है।

यस्तु रीतेरिति। काव्यरूपताप्रयोजकं शब्दार्थयोर्वक्रता उदारता। नहि वक्रतामन्तरेण काव्यपदवीप्राप्तिस्तदाह—'यत्तु वक्रं वचः शास्त्रे लोके च वच एव तत्। वक्रं यदनुरागादौ तत्र काव्यमिति श्रुतिः॥' इति। तदेतदलंकारसामान्यमस्याभावे निरलंकारता भवतीत्याह—अनलंकारमिति। दीर्घपुच्छ इत्यादौ प्रकृतोदाहरणे स्फुटयति—यथेति। विविच्य गुणप्रस्तावे कथयिष्यामः। अर्थदोषमाह—उत्कर्षवानिति। उभयप्रधानतामुपसंहरति—काव्येति॥

तदेवं वाक्यदोषाँल्लक्षयित्वा क्रमप्राप्ता वाक्यार्थदोषा लक्षणीया इति तान्विभजते—

अपार्थं व्यर्थमेकार्थं ससंशयमपक्रमम्।
खिन्नं चैवातिमात्रं च परुषं विरसं तथा॥ ४४॥
हीनोपमं भवेच्चान्यदधिकोपममेव च।
असदृक्षोपमं चान्यदप्रसिद्धोपमं तथा॥ ४५॥
निरलंकारमश्लीलं विरुद्धमिति षोडश।
उक्ता वाक्यार्थजा दोषास्तेषां वक्ष्यामि लक्षणम्॥ ४६॥
समुदायार्थशून्यं यत्तदपार्थं वचः स्मृतम्।

यथा—

'जरद्गवः कम्बलपादुकाभ्यां द्वारि स्थितो गायति मङ्गलानि।
तं ब्राह्मणी पृच्छति पुत्रकामा राजन् रुमायां लशुनस्य कोऽर्थः॥ ५०॥'

अत्र समुदायार्थः कोऽपि नास्तीत्यपार्थमिदम्।

१-अपार्थ २-व्यर्थ ३-एकार्थ ४-ससंशय ५-अपक्रम ६-खिन्न ७-अतिमात्र, ८-परुष, ९-विरस १०-हीनोपम ९१-अधिकोपम १२-असदृशोपम १३-अप्रसिद्धोपम १४-निरलङ्कार १५-अश्लील १६-विरुद्ध ये सोलह वाक्यार्थ से उत्पन्न दोष कहे गए हैं। उनका लक्षण कहूँगा।

(सोलह में प्रथम दोष अपार्थ)

साथ में आये हुए सभी पदों के अर्थ से शून्य जो वाणी है उसे अपार्थ नाम से याद किया गया है॥ ४४-४६, ४७ अ॥

जैसे—कम्बल तथा चरणपादुका के साथ बूढ़ा बैल द्वार पर बैठ माङ्गलिक गीत गा रहा है। उससे पुत्र चाहने वाली स्त्री पूछती है हे राजन् रुमा लवणाकर में लहसुन का क्या अर्थ है?॥ ५०॥

यहाँ समुदाय अर्थ कोई नहीं है इसलिए यहाँ अपार्थत्व दोष है।

स्व० भा०—भामह (४।१) तथा दण्डी (३।२५) के लक्षण शब्दशः मिल रहे हैं। दोष-गणना में चौवालीसवीं कारिका का पूर्वार्ध इन्हीं दोनों से अक्षरशः उद्धृत हैं। इसी प्रकार दण्डी के अपार्थत्व लक्षण (३।१२८) तथा भोज के अपार्थत्व लक्षण अभिन्न हैं। अपार्थत्व के

सन्दर्भ में आया हुआ समुदाय पद शब्द तथा वाक्य दोनों के समूह का वाचक हो सकता है। उसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि जब एक वाक्य के पदों का अर्थ तो होता है, किन्तु उनका समवेत अर्थ नहीं बन पाता, अथवा कई उपवाक्यों का पृथक्-पृथक् अर्थ तो होता है किन्तु महावाक्य में वे वाक्य निरपेक्ष सा लगते हैं। अतः अपार्थता होती है।

उपर्युक्त उदाहरण में ही प्रत्येक पद का—सविभक्तिक—होने से एक अर्थ है, किन्तु वे परस्पर साकांक्ष नहीं। कम्बल तथा पादुका से बूढ़े बैल का कोई सम्बन्ध नहीं। इस प्रकार उसके मङ्गल-गान ही कैसे होंगे? पुत्रकामा का उससे सम्बोधन 'राजन्' भी महत्त्व का नहीं।

अपार्थमिति। **उद्देशे दोषाणां व्यासेनोक्तिः पूर्वोक्तप्रयोजनानुरोधेनेति। समुदायिपदानां विशेषणविशेष्यभावः समुदायार्थः : तेन शून्यं पदजातमपार्थकं पदार्थानामसंसर्गेण पदानामसंसर्गोऽभिधीयते। तेनार्थदोषत्वम्। जरद्गव इति। कम्बलपादुकाभ्यामिति लक्षणे तृतीया। न च ताभ्यां वृद्धोक्षस्य संबन्धः। कथं च तस्य मङ्गलानां धवलादीनाम्। 'मद्रकाणाम' इति पाठे गीतकविशेषाणां वा संगतिः, कथं वा पुत्रकामायास्तत्प्रश्नसंसर्गः, कथं च राजन्निति संबोधनं घटते, पुत्रकामायाश्च रुमालवणार्थप्रश्नः। रुमा लवणाकरः। तथा च प्रयोगः—'रुमाघासकान्तादिलवणात्मवत्' इति॥**

(२ व्यर्थत्व दोष)

व्यर्थमाहुर्गतार्थं यद्यच्च स्यान्निष्प्रयोजकम्॥ ४७॥

यथा—

'आहिषातां रघुव्याघ्रौ शरभङ्गाश्रमं ततः।
स्वामहौषीत्तनुं वह्नौ दृष्ट्वा तौ रामलक्ष्मणौ॥ ५१॥'

अत्राहिषातां दृष्ट्वेत्येताभ्यामेव ताविति, रघुव्याघ्रावित्यनेनैव रामलक्ष्मणाविति, तनुमित्यनेनैव स्वामिति, अहौषीदित्यनेनैव वह्नाविति, गम्यत इति गतार्थत्वम्। न च शरभङ्गाश्रमगमनं तनुहोमो वाग्रतः कथाशरीरोपयोगीति निष्प्रयोजकत्वम्। अतोऽयं व्यर्थनामा वाक्यस्य महावाक्यस्य च दोषो भवति। आर्थ्या च वृत्त्या लब्धस्य शास्त्रेतिहासादौ शब्दवृत्त्या भणनमपौनरुक्त्यायेत्यर्थपुनरुक्तेर्भिद्यते॥

जो वाक्य गतार्थ हो—जिसका अर्थ पहले से ज्ञात हो अथवा जिसका कोई अर्थ ही न हो—तथा जो आगे प्रयोजक न हो—कथाशरीर से सम्बन्ध न हो—उसे व्यर्थ कहा गया है॥ ४७॥

जैसे—उसके बाद रघुव्याघ्र शरभङ्ग के आश्रम में आये। (वहाँ) उन दोनों राम तथा लक्ष्मण को देखकर उन्होंने अपने शरीर को अग्नि में होम कर दिया॥ ५१॥

यहाँ आये हुए (आहिषातां) तथा देखकर (दृष्ट्वा) इन दोनों से ही उन दोनों (तौ), 'रघुव्याघ्रौ' इस पद से ही 'रामलक्ष्मणौ', 'तनुम्' इससे ही 'स्वाम्' (अपनी), अहौषीत् (होम कर दिया) इससे ही 'वह्नौ' (अग्नि में) यह सब ज्ञात हो जाता है अतः यहाँ गतार्थता है। और शरभङ्ग के आश्रम को जाना अथवा तनु का होम करना इससे आगे कथा शरीर के लिए उपयोगी भी नहीं इसलिए निष्प्रयोजकता है। अतः यह व्यर्थ नाम का वाक्य तथा महावाक्य का दोष होता है। आर्थी वृत्ति से प्राप्त वस्तु का शास्त्र, इतिहास आदि में शब्दवृत्ति से कहना पुनरुक्ति नहीं हैं। इस प्रकार पुनरुक्ति दोष से यह भिन्न है

स्व० भा०—भोज तथा उनके पूर्ववर्तियों में इस दोष की परिभाषा को लेकर एकता नहीं। भामह और दण्डी व्यर्थ के 'वि' उपसर्ग का अर्थ विरुद्ध लगाते हैं, 'न कि विना'। भामह ने स्पष्ट कहा है—

विरुद्धार्थं मतं व्यर्थं विरुद्धं तूपदिश्यते।
पूर्वापरार्थव्याघाताद्विपर्ययकरं यथा ॥ काव्यालङ्कार ४।२ ॥

लगभग यही भाव दण्डी का (काव्यादर्श ३।१३१) भी है। जब कि भोज 'वि' उपसर्ग का अर्थ 'गत' अथवा 'विगत' तथा 'अनावश्यक' भी लेते हैं। इनके यहाँ विरुद्धता का कोई प्रश्न ही नहीं है।

वृत्ति में व्यर्थता का निरूपण स्पष्ट है। 'आये हुए' को 'देखकर' कोई कार्य करना इस बात का परिचायक है कि जब कोई आ गया है तो उसकी अनुभूति हो ही गई, पुनः 'दृष्ट्वा' कहना अनावश्यक है। इसी प्रकार द्विवचनान्त संज्ञाओं का प्रयोग करने के बाद 'तौ' जैसे द्वित्वबोधक पदों का प्रयोग भी बेकार ही है। व्यर्थ का अर्थ निष्प्रयोजन बेकार बिना किसी विशेष उपयोग का आदि ही है न कि पूर्णतः अर्थहीन। एकबार किसी बात को कहने के बाद पुनः कहना सामान्यतः पुनरुक्ति है, किन्तु अर्थ रूप से प्राप्त का शब्द से और शब्द से उक्त का अर्थ द्वारा पुनः कथन पुनरुक्ति नहीं है। माध्यम का भेद होने से पुनरुक्ति नहीं होगी। यहाँ 'रघुव्याघ्रौ' पद प्रसङ्गवश 'रामलक्ष्मणौ' अर्थ को प्रकट करता है, वस्तुतः उसका यह शब्दार्थ नहीं। अतः अर्थतः उससे रामलक्ष्मणौ प्राप्त होता है और दूसरी ओर शब्दतः कहा गया है।

व्यर्थमिति। **विज्ञातो वा विगतो वार्थोऽभिधेयं प्रयोजनं यस्य तद्व्यर्थं स्वतन्त्रं च दूषणमिति वैशेषिके वक्तव्यम्। तथा हि—आहिपातामिति। अंहेर्गतिकर्मणो लुङि रूपम्। स च प्राचुर्यप्रयोगः प्राप्त्यवच्छिन्नं व्यापारप्रचयमभिधत्ते। तथा चार्थसिद्धायां प्राप्तौ शब्देनोपादानमनुचितं लोकानुसारेण काव्ये इशिश्राचुष एव ज्ञाने प्रयुज्यते। यथा—'मया तावद्दृष्टो न खलु कलिकन्दर्पनृपतेर्गुणैस्तुल्यः कोऽपि क्वचिदपि किमश्रावि भवता। इति प्रश्नं श्रुत्वा क्षणितमिव कर्णान्तिकमगान्मृगाक्षीणां चक्षुश्चटुलभवतो चान्तरलम् ॥' यथा वा—'नैवादर्शि न चाश्रावि फलं मलयभूरुहः।' चक्षुश्च प्राप्तमेव गृह्णातीत्यर्थलब्धायां प्राप्तौ कथं शब्देनोपादानम्। तदिदमुक्तम्—एताभ्यामेवेति। रघुव्याघ्रादिप्रकरणादिकमासाद्य विशेषपर्यवसायि यौगिकत्वान्न तु विशेष एव शक्तम्। 'उपगम्य रघुव्याघ्रः कच्छभूभागचारिणीम्। लुलुभे मुनिधेनुं तां वेलामिव महार्णवः ॥' इति महर्षिप्रयोगात्। एतेन पुष्पवदादिपदवद्वचनभेदोऽप्यपास्तः। एवं च प्रकरणादिना रघुव्याघ्रपदं रामलक्ष्मणपरमेवेति पूर्वार्द्धे तयोरेव प्रक्रान्तत्वादुत्तरार्धे सर्वनाम्ना परामर्शो युज्यते, न तु स्वशब्देन। तनुप्रभृतिशब्दानां संबन्धिशब्दत्वात्समभिव्याहृतशब्दार्थसंबन्धकत्वं लोके व्युत्पन्नम्। यथा—'करौ धुनाना नवपल्लवाकृती वृथा कृथा मानिनि मा परिश्रमम्।' इति शब्दान्तरसंनिधाने तु क्वचित्तद्रूप्यावगमो भवति। यथा—'उमास्तनोद्भेदमनुप्रवृद्धो मनोरथो यः प्रथमं बभूव। तमेव मेनादुहितुः कथंचिद्विवाहदीक्षातिलकं चकार ॥' तदिहान्यस्यानुपादानाच्छरभङ्गसम्बन्धिन्येव तनुः प्रतीयते। जुहोतिश्च वह्न्याधारकमेव हविर्द्रव्यत्यागमभिधत्ते तेन 'वह्नौ' इत्यपि न वाच्यम्। गतार्थशब्दं व्याचष्टे—गम्यत इति। अस्मिन्नेवोदाहरणे निष्प्रयोजनत्वमाह—न चेति। शरभङ्गाश्रमगमनं तनुहोमश्चात्र वाक्यार्थद्वयं न प्रयोजनवत्। अस्य वाक्यस्य चरितार्थत्वात्। किं प्रयोजनान्तरगवेषणयेत्यत आह—अत इति। यद्वाक्यपोषणाद्यनौपयिकपदमप्रयोजकवचसा प्रागुक्तं तथा**

च प्रबन्धाद्यर्थपोषपर्यवसायि वाक्यमेव; इहाप्यवाच्यवचनस्य स्फुटत्वात्। न चाश्रमगमनतनुहोमौ करिष्यमाणवीररसोचितकथाशरीरे कामपि शोभामात्रामर्पयत इति वाक्यस्य महावाक्यस्य चेति यथासंख्यमन्वयः। कथं पुनर्गतार्थं प्रसाधितस्येत्यादेरर्थपुनरुक्तान्निद्यत इत्यत आह—आर्थ्या चेति। शब्दवृत्त्यैवावगतस्य शब्दवृत्त्या पुनरुक्तम्। अर्थतो लब्धस्य शब्दवृत्त्या भणनमित्येकः प्रकारः। अर्थतो लाभं व्युत्पादयति—शास्त्रेति। अस्य रघुकुलभुवः शरभङ्गाश्रमगमनमितिहासाच्चक्षुषः प्राप्तस्यैव ज्ञानजनकत्वं शास्त्रात्। शरभङ्गसंबन्धिन्येव तनुर्लोकव्युत्पत्तेस्तेन नियमेन ह्यर्थतः प्राप्तिर्भवतीत्यभिप्रायः॥

(३ एकार्थता दोष)

उक्त्यभिन्नार्थमेकार्थं

यथा—

'प्रसाधितस्याथ मुरद्विषोऽभूदन्यैव लक्ष्मीरिति युक्तमेतम्।
वपुष्यशेषेऽखिललोककान्ता सानन्यकान्ता ह्युरसीतरा तु॥ ५२॥'

इत्युक्तैकार्थमेवाह—

'कपाटविस्तीर्णमनोरमोरःस्थलस्थितश्रीललनस्य तस्य।
आलिङ्गिताशेषजना बभूव सर्वाङ्गसङ्गिन्यपरैव लक्ष्मीः॥ ५३॥

अनयोः श्लोकयोरभिन्नार्थमेकं वाक्यं महावाक्ये दुष्यति॥

उक्तियों का एक ही अर्थ होना एकार्थ दोष है॥ ४८ क॥

जैसे—इस प्रकार अनेक प्रकार के आभूषणों से सुसज्जित श्रीकृष्ण की श्री एक अन्य ही हो गई थी, यह उचित ही था, क्योंकि अलङ्कारों से आई श्री उनके सम्पूर्ण शरीर में निवास कर रही थी और सम्पूर्ण लोक की प्रिया थी, जब कि दूसरी श्री—लक्ष्मी-दूसरी की प्रिया नहीं थी और वह उनके हृदय में ही निवास कर रही थी॥ ५२॥

इसी कहे हुए अभिप्राय को ही (पुनः कहा गया है)—

कपाट के सदृश विशाल तथा मनोहर वक्षःस्थल पर निवास करने वाली लक्ष्मी ही जिनकी कान्ता थीं, उन श्रीकृष्ण की उस समय सबको आनन्दित करने वाली, सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त एक दूसरी ही लक्ष्मी थी॥ ५३॥

इन दोनों श्लोकों का समान अर्थ वाला एक ही वाक्य है जो महावाक्य में दोष होगा।

स्व० भा०—ये दोनों छन्द शिशुपालवध (३।१२-१३) से लिए गए हैं। शरीरश्री तथा पत्नीश्री दोनों से सम्बद्ध अपूर्वता दोनों ही छन्दों में शब्दान्तर से कही गई है अतः। पूरे प्रबन्ध को एक साथ देखने पर अपूर्वता नहीं प्रकट होती। पूर्व छन्द की ही अपूर्वता पुनः वर्णित हो जाने से चमत्कारहीन हो गई है।

भोज द्वारा वर्णित एकार्थता भामह और दण्डी की एकार्थता से भिन्न है। इन लोगों की एकार्थता पूर्णतः पुनरुक्ति दोष है। भोज का यह दोष वामन के एकार्थदोष के अधिक निकट है। वस्तुतः भामह और दण्डी इस दोष को पदगत तथा अर्थगत मानते हैं। भोज तथा वामन द्वारा इसको वाक्यार्थ दोष मानने से आधार का अन्तर होने से भेद होना स्वाभाविक ही है।

उक्तयभिन्नार्थमिति। **वाक्यान्तरोक्तयभिन्नस्तात्पर्यार्थो यस्य तत्तथोक्तम्। तथा हि—'प्रसाधितस्य–' इत्यादिश्लोके श्लेषोपहितेन व्यतिरेकेण काप्यपूर्वा कृष्णस्य लक्ष्मीस्तत्काले बभूवेति तात्पर्यार्थः। तेनैव प्रकारेण 'कपाट–' इत्यग्रिमश्लोके स एवास्ति। तुल्यार्थत्व उपादानं भिन्नार्थत्वेऽपि। तदिदमाह—अनयोः श्लोकयोरिति। महावाक्ये श्लोकद्वयरूपे एकम्, अन्यतरद् दुष्यति। हेयं भवतीत्यर्थः॥**

(४ ससंशय दोष)

संदिग्धार्थं ससंशयम्।

यथा—

'मनोरथप्रियालोकरसलोलेक्षणे सखि।
आराद्वृत्तिरियं माता न क्षमा द्रष्टुमीदृशम्॥ ५४॥'

अत्रारात्प्रभृतिशब्दानामुभयार्थत्वान्माता द्रक्ष्यति न वेति संदिग्धम्।

जहाँ अर्थ संदिग्ध हो अर्थात् एक निश्चयात्मक तथ्य पर न पहुँचा जा सके, वहाँ ससंशय दोष होता है॥ ४८ अ॥

जैसे—अपने मनचाहे प्रेमी को निहारने से आनन्द के कारण चञ्चलनयनों वाली हे सखी! दूर अथवा निकट स्थित तुम्हारी माँ, इस प्रकार की बातों को देखने में असमर्थ है॥ ५४॥

यहाँ आरात् जैसे शब्दों के द्व्यर्थक होने से 'माता देखेगी अथवा नहीं' इसमें संदेह है। अतः यहाँ ससंशय दोष है।

स्व० भा०—यहाँ भोज की परिभाषा उतनी स्पष्ट नहीं है जितनी कि भामह या दण्डी की। इन्होंने तो वामन की शैली में[1] लक्षण कह दिया है। भामह की उक्ति—

श्रुतेः सामान्यधर्माणां विशेषस्यानुदाहृते। अप्रतिष्ठं यदत्रैतज्ज्ञानं तत्संशयं विदुः॥
ससंशयमिति प्राहुस्ततस्तज्जननं वचः। इष्टं निश्चितये वाक्यं न दोलयेत तद् यथा॥
काव्या० ४।१७–१८॥

लक्षण दण्डी का भी स्पष्ट है।[2] भोज ने उदाहरण दण्डी से ही दिया है। (द्रष्टव्य ३।१४०)।

छन्द में प्रयुक्त 'आरात्' शब्द 'दूर' तथा 'निकट' दोनों अर्थों का वाचक है। अतः प्रथम अर्थ ग्रहण करने पर माता के दूर होने से नायिका के स्वैर प्रियदर्शन की छूट द्योतित होती है, जब कि निकट अर्थ पर उस कार्य का निषेध प्रकट होता है। अतः ऐसे द्व्यर्थक पदों का प्रयोग पूरे वाक्यार्थ पर अपना असर दिखा देता है।

संदिग्धार्थमिति। **शब्दस्वरूपनिश्चयेऽपि वाक्यार्थो दोलायित इत्यर्थदोषत्वम्। तथा हि—मनोरथेत्यादौ मनोरथे यः प्रियो वल्लभस्तदालोकरसेन लोलेक्षणे चपललोचने तव मातेयमारादवृत्तिर्दूरवर्तिनी। अतो नैतादृशं सानुरागाङ्गनाजनयोग्यं द्रष्टुं क्षमा इति व्यवस्थापनान्नावलोकयितुं शक्ता ततो निःशङ्कमालोकस्वेति वाक्यार्थं उतेयमारादवृत्तिः समीपदेशवर्तिनी। 'आराद् दूरसमीपयोः'। तथा चेदृशं कुलाङ्गनानुचितं चारित्रखण्डनं द्रष्टुं न क्षमा न सहिष्णुरतो मा नयनचापलं कार्षीरिति। नानार्थपदप्रक्षेपात्साधकबाधकप्रमाणाभावाच्च संदिह्यत इत्याह—अत्रारात्प्रभृतिशब्दानामिति। न च मिथो विरोधिनोरेकत्र विवक्षा संभवति। न चास्ति प्रकरणादिकमेकनियामकम्। न च मातुः प्रकोपशङ्कया प्रियविलोकनरसोत्काया मनोरथभङ्गो न भवतीत्यर्थः॥**

---

१. संशयकृत् संदिग्धम्। २।२।२०॥ २. काव्यादर्शः ३।१३९॥

(५ अपक्रम दोष)

वाक्यं यत्तु क्रमभ्रष्टं तदपक्रममुच्यते ॥ ४८ ॥

यथा—

'काराविऊण खउरं गामउलो मज्जिओ अ जिमिओ अ ।
णक्खत्ततिहिवारे जोइसिअं पुच्छिउं चलिओ ॥ ५५ ॥'

[कारयित्वा क्षौरं ग्रामप्रधानो मज्जितश्च भुक्तवांश्च ।
नक्षत्रतिथिवाराञ्ज्यौतिषिकं प्रष्टुं चलितः ॥]

अत्र क्षुरकर्मणोऽनन्तरं नक्षत्रादिप्रश्नादिदमपक्रमम् ॥

जो वाक्य क्रमभ्रष्ट हो अर्थात् जिसमें करणीय कर्मों के पौर्वापर्य का ध्यान न रखा गया हो, उसे अपक्रम दोष कहते हैं ॥ ४८ ॥

जैसे—बाल बनवाने के बाद स्नान तथा भोजन करके ग्रामप्रधान ज्योतिषी से नक्षत्र, तिथि तथा दिन पूछने के लिए चलता है ॥ ५५ ॥

यहाँ क्षौर कर्म के पश्चात् नक्षत्र आदि पूछने से अपक्रम दोष है ।

स्व० भा०—लोक में कार्यों का एक निश्चित पौर्वापर्य होता है। जब वाक्य में उसका वर्णन उस क्रम में नहीं होता है तब अपक्रम हो जाता है। क्षौर कर्म के लिए एक निश्चित दिन आदि भारतीय ज्योतिष् में निर्दिष्ट है। ये नियम प्रत्येक शुभ तथा अशुभ दोनों प्रकार के कार्यों के लिए बने हैं, छोटे से छोटे से लेकर बड़े से बड़े कार्यों के करने के दिन, घड़ी, नक्षत्र आदि का विचार इस शास्त्र में है। किसी कार्य को सम्पन्न करने के पूर्व ही इनका ज्ञान अपेक्षित है। यहाँ निर्दिष्ट प्रसंग में क्षौर के पश्चात् स्नान तथा भोजन ये तो क्रम से ही हैं किन्तु इनके बाद बाल कटाने का समय पूछने के लिये चलना एक निश्चित क्रम का भङ्ग ही है। अतः यहाँ अपक्रम दोष है ।

भामह, दण्डी आदि द्वारा निर्दिष्ट अपक्रमत्व शब्द दोष है, वाक्यार्थ दोष नहीं ।

वाक्यं यत्त्विति । **कारयित्वा क्षौरं गामउलो ग्रामप्रधानपुरुष इति देशीयाः। ग्रामेऽपि वा यः कुटोऽभ्युत्पन्नः। मज्जिओ अ सुस्नातश्च जिमिओ अ भुक्तवांश्च ततो नक्षत्रं तिथिवारौ च ज्यौतिषिकं प्रष्टुं चलितः। तिथिवारज्ञानानन्तरं क्षुरकर्म, ततः स्नानभोजने, इति लौकिकः क्रमस्तस्य विपर्यासो व्यक्त एव श्रुतिवचनात्। क्रियमाणेऽपि रचनावैपरीत्येन क्रमभ्रंशः समाधीयत इति नासौ शब्ददोषः। अत्र पूर्वार्धोपात्तानां क्रमो न विपर्यस्तः, किंतु क्षौरोत्तरार्धोक्तयोरित्याह—अत्र क्षुरकर्मण इति ॥**

(६ खिन्नत्व दोष)

जात्याद्युक्तावनिर्व्यूढं खिन्नमाहुर्महाधियः ।

यथा—

'वेवाहिऊण वहुआ सासुरअं दोलिआइ णिज्जन्ती ।
रोअइ दिअरो तं संठवेइ पस्सेण वच्चन्तो ॥ ५६ ॥'

[विवाह्य वधूः श्वाशुरकं दोलिकया नीयमाना ।
रोदिति देवरस्तां संस्थापयति पार्श्वेन व्रजन् ॥]

अत्र प्रक्रान्तस्य नवपरिणयवतीस्वरूपभणनस्यानिर्व्यूढत्वात्खिन्नत्वम् ॥

(एक विशेष) जाति आदि का ग्रहण करने के बाद उसका निर्वाह न करने पर विशद बुद्धि वालों ने 'खिन्नत्व' दोष कहा है ॥ ४९ अ ॥

जैसे—विवाह करके पालकी से ससुराल ले जाई जा रही नवपरिणीता वधू रो रही है और बगल में चलता हुआ देवर उसे आश्वासन दे रहा है ॥ ५६ ॥

यहाँ प्रारम्भ कर दिये गए नवपरिणीता वधू के स्वरूप का आगे निर्वाह न करने से खिन्नत्व दोष है।

स्व० भा०—स्वतःसम्भवी, कविप्रौढोक्तिनिर्मित आदि वाक्यार्थ के भेद हैं। कोई कारण विशेष न होने पर एक जिस प्रकार के अर्थ का ग्रहण कवि ने कर लिया है, उसका निर्वाह उसे अन्त तक करना चाहिए यही जाति का निर्वाह है। ऐसा न करने पर दोष होता है।

यहाँ नवविवाहिता का स्वरूपचित्रण प्रारम्भ किया गया। वह रो रही थी। यदि उसकी चेष्टाओं का आगे और भी निरूपण किया गया होता, कि आत्मीय जनों द्वारा समझाने पर भी वह उन्हीं के गले से और अधिक लिपट कर रोने लगती है, आदि, आदि तो एक क्रम का निर्वाह होता। वहाँ स्वाभाविकता होती किन्तु समझाना और वह भी देवर द्वारा जो कि ससुराल पक्ष का ही है, स्वभाव के विपरीत है। अतः दोष है।

जात्यादीति। **वाक्यार्थो द्विविधः—स्वतःसंभवी, कविप्रौढोक्तिनिर्मितश्च। तत्रासति विशेषहेतौ यज्जातीयमर्थं बुद्ध्या व्यवस्थाप्य वचनोपक्रमस्तज्जातीयस्यैव समस्तवाक्यनिर्वाहो युक्तो न स्वन्तरेण परित्यागेन भेदः। उपक्रान्तनिर्वाहाशक्तो लोके खिन्न इत्युच्यते। तदिदमुक्तम्—जात्यादीति। आदिपदेन स्वतःसंभविविशेषाणामुपमादीनां कविप्रौढिनिर्मितानां च रूपकादीनां परिग्रहः। विवाह्य नववधूः सासुरं श्वशुरगृहं दोलिकया नीयमाना रोदितीति स्वतःसंभवी। नवपरिणीतास्वभावलक्षणार्थस्तावदुपक्रान्तः, तथा सति यो जन्माभ्यस्तपितृगृहवियोगवेदनादूनमानसाया अत्यन्तापरिशीलितेन देवरेण संस्थापनप्रकारः स न जातौ निविशते। परिशीलितभर्तृकुलायाः कुलायां वा। तस्यौचित्यात्तस्या एव हि किंचन वक्तव्यं भवतीत्याह—अत्र प्रक्रान्तस्येति ॥**

(७ अतिमात्रता दोष)

यत्सर्वलोकातीतार्थमतिमात्रं तदुच्यते ॥ ४९ ॥

यथा—

'भृङ्गेण कलिकाकोषस्तथा भृशमपीड्यत।
ववर्ष विपिनोत्सङ्गे गोष्पदप्रं यथा मधु ॥ ५७ ॥'

अत्र कलिकाकोषे गोष्पदप्रमधुवर्षस्यासंभवादतिमात्रत्वम् ॥

जो वाक्य ऐसा हो जिसका अर्थ सम्पूर्ण लोक की मर्यादा से भी बढ़ कर हो वह अतिमात्रत्व दोष से युक्त कहा जाता है ॥ ४९ ॥

जैसे—भौंरे ने कली के कोष को इतना अधिक कस कर दबाया कि उसके कारण उपवन के प्राङ्गण में इतनी मधुवृष्टि हुई कि गोपद से बने गड्ढे भर गए ॥ ५७ ॥

यहाँ कलीबन्ध से गोपद को भरने के प्रमाण की मधुवर्षा असम्भव होने से अतिमात्रत्व दोष है।

स्व० भा०—यहाँ पर दो बातें अलोकसामान्य कही गई हैं। प्रथम तो फूले फूल के अतिरिक्त कली में भ्रमर बैठता नहीं, यहाँ उसके बैठने का ही नहीं अपितु दबाने तक का वर्णन है। दूसरे एक कली का आकार इतना छोटा होता है कि उससे निकलने वाला रस कभी इतनी मात्रा में हो ही नहीं सकता कि उपवन-भूमि में गोपद के गड्ढे भर जायें। अतः यह उक्ति दोषपूर्ण है। रुद्रट की परिभाषा सुन्दर है—'अतिदूरमतिक्रान्तो मात्रालोकेऽतिमात्र इत्यर्थः' ११।१७ ॥

यत्सर्वलोकेति। **गोष्पदप्रमिति पूरेर्णिजन्ताद् 'वर्षप्रमाण ऊलोपश्चास्यान्यतरस्याम्' इति णमुल्, ऊलोपश्च। कलिकामकरन्दपरिणामस्यैतावतो लोके न प्रसिद्धिः। न चैतस्खिन्नमेव। कलिकाकुसुमस्यानुपक्रमात्, किं तु स्वरूपभ्रमाल्लोकमर्यादातिरिक्तवृत्तमुपात्तमिति पृथगेव दोषः ॥**

(८ परुषत्व दोष)

यत्तु क्रूरार्थमत्यर्थं परुषं तु तदुच्यते।

यथा—

'खाहि विसं, पिअ मुत्तं, निज्जसु मारीअ, पडउ दे वज्जम्।
दन्तक्खण्डिअथणआ खिविऊण सुअं सवइ माआ ॥ ५८ ॥'

[खाद विषं, पिब मूत्रं, नीयस्व मार्या, पततु ते वज्रम्।
दन्तखण्डितस्तनी क्षिप्त्वा सुतं शपति माता ॥]

अत्र खाद विषमित्यादीनां क्रूरार्थानामभिधानात्परुष्यम् ॥

जिस वाक्य का अर्थ अत्यन्त कठोर होता है वह परुष कहा जाता है। ५० अ ॥

जैसे—विष खा ले, मूत्र पी ले, तुझे महामारी उठा ले जाये, तुझ पर वज्र गिरे। इसी प्रकार के शब्दों से दाँत से स्तन काट लेने पर एक माँ बच्चे को पटक कर शाप देती है ॥ ५८ ॥

यहाँ 'जहर खा ले' इत्यादि क्रूर वस्तुओं का उच्चारण करने से कठोरता है।

स्व० भा०—दुधमुँहे बालक का माता के स्तन को काटना स्वाभाविक है। यही एक प्रकार की जाति है। अतः ऐसा कहने पर जाति भङ्ग होने से यहाँ खिन्नत्व दोष होना चाहिए ऐसा भ्रम होता है, किन्तु यहाँ अत्यन्त कठोरता अपेक्षित होने से परुषत्व दोष ही हुआ।

यच्चिति। **'खाद विषं, पिब मूत्रं, नीयस्व मार्या, पतत् ते वज्रम्' इत्थं माता पुत्रमाक्रोशति। किं कृत्वा। क्षिप्त्वा भूमौ निरस्य। कुतः। दन्तखण्डितस्तनी। यतो बालो दन्तैर्मातुः स्तनं दशतीति जातिस्तस्याः पुनरेवंविधं परुषाभिधायित्वमनुचितम्। अतिपारुष्यमेव चात्र विरसताहेतुः। तेनातिमात्राद्भेदः ॥**

(९ विरसत्व दोष)

अप्रस्तुतरसं यत्स्याद्विरसं तन्निगद्यते ॥ ५० ॥

यथा—

'तव वनवासोऽनुचितः पितृमरणशुचं जहीहि किं तपसा।
सफलय यौवनमेतत्सममनुरक्तेन सुतनु मया ॥ ५९ ॥

अत्र पितृमरणसंतप्तायाः संभोगप्रवर्तनमप्रकृतरसत्वाद्विरसम् ॥

प्रस्तुत, प्रारब्ध अथवा प्राप्त रस की बात जिसमें (आगे) न हो अथवा अनुपस्थित अनुपयुक्त या अप्राप्त रस जिस वाक्य में आ जाये उस वाक्य को विरस (विपरीत रस वाला) अथवा विरसत्व दोष से युक्त कहते हैं ॥ ५० ॥

जैसे—तुम्हारा वनवास अनुचित है, पितृशोक छोड़ो, तपस्या से क्या लाभ ? अरी सुन्दरी ! मुझ प्रेमी के साथ अपने इस यौवन को सार्थक करो ॥ ५१ ॥

यहाँ पिता की मृत्यु से शोक-संतप्त युवती को रतिहेतु प्रवृत्ति कराना प्रस्तुतरस से विरुद्ध है। अतः विरसत्व नामक दोष है।

स्व० भा०—पितृमरण से करुण प्रसंग उपस्थित था। यहाँ करुण का ही विस्तार होने से उस प्राप्त रस का विस्तार होता, किन्तु उसके विरोधी शृङ्गार को उपस्थित करना अनुचित है। इसी अनौचित्य के कारण यहाँ दोष है। जो वर्णन का रस नहीं है उसका ग्रहण करना अथवा वर्णित हो रहे रस का आगे विस्तार न करना दोनों अर्थ 'अप्रस्तुतरस' पद से 'नञ्' अ का भिन्न स्थानीय प्रयोग करके निकाला जा सकता है। रुद्रट का भी उदाहरण यही है। उनकी परिभाषा स्पष्ट है।[1]

अप्रस्तुतेति। **अप्रस्तुतः प्रस्तावमन्तरेण सूचितो रसो यत्र तत्तथा। एकरसप्रक्रमे हि विरोधिरसान्तरप्रस्ताव एव क्रियमाणो नौचित्यवान्। न चौचित्यमन्तरेण रसस्य पदसंबन्धः संभवति। यदाह—'अनौचित्यादृते नास्ति रसभङ्गस्य कारणम्। प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा॥' इति। तव वनवास इत्यादौ पितृमरणानुभवप्राप्तशोकप्रकर्षायाः शृङ्गारप्रस्तावना विरसायते। सा हि स्वभावत एव करुणेन सहैकवाक्यसमावेशविरोधिनी। न चैकस्य बाध्यत्वमङ्गभावो वावगम्यते। नाप्युभयोरन्यगुणीभावोऽवगम्यते। येनायं विरोधः समाधीयताम्। युक्तिरत्र विदग्धैव। अर्थस्तु रसात्माविरोधेन पदं बध्नाति ततः कान्तिविपर्ययाद्भेदः। न च करुणोक्तिरुपक्रान्ता यतस्तदनिर्वाहे खेदसंभावना स्यात्। किंतु पितृमरणशुचं जहीहीत्यनेन शोकाविष्टायां शृङ्गारप्रस्तावना। तथा च भिन्नमेव दुष्टताबीजं तदेतत्सर्वमपि संधाय व्याचष्टे—**अत्रेति॥

इदानीमनौचित्यरूपदूषणप्रस्तावः। अर्थालंकारेषूपमा प्रधानमिति प्रसिद्धया तस्यामेवोपलक्षणतयानौचित्यं प्रपञ्चयति—

(१० हीनोपमत्व दोष)

हीनं यत्रोपमानं स्यात्तत्तु हीनोपमं स्मृतम्।

यथा—

'क्वचिदग्रेऽप्रसरता क्वचिदाप्लुत्य निम्नता।
शुनेव सारङ्गकुलं त्वया भिन्नं द्विषत्कुलम्॥ ६०॥

अत्र शौर्यशालिनः शुनोपमितत्वाद्धीनोपममिदम्॥

जिस वाक्य में उपमान (उपमेय की अपेक्षा) हीन होता है, वहाँ हीनोपमत्व दोष अभिमत है ॥ ५१ अ ॥

जैसे—कहीं आगे बढ़कर, कभी पीछे मुड़कर प्रहार करते हुए तुमने शत्रुसेना को उसी प्रकार छिन्न-भिन्न कर दिया जैसे एक कुत्ता मृग समूह को छिन्न-भिन्न कर देता है ॥ ६० ॥

---

१. अन्यस्य यः प्रसङ्गे रसस्य निपतेद्रसः क्रमापेतः।
विरसोऽसौ स च शक्यः सम्यग्ज्ञातुं प्रबन्धेभ्यः॥ काव्यालं० ११।१२-१३॥

शौर्यशाली व्यक्ति की कुत्ते से तुलना करने से यह श्लोकार्ध हीनोपम दोष से युक्त है।

स्व० भा०—भामह ने (काव्यालं० २।५३-५४ ॥) इस दोष को उपमा के विपर्यय दोषों में से प्रथम माना है। भोजराज ने उदाहरण वहीं से लिया है। यहाँ कुत्ते जैसे कार्यव्यापार का सादृश्य भले ही बहुत अच्छा हो, और सटीक भी बैठता हो किन्तु निम्नयोनि वाले कुत्ते से एक राजा की तुलना करना दोषपूर्ण है।

हीनमित्यादि। **हीनमपकृष्टमसज्जातीयमुपमानमित्युपमानप्रसिद्धा विशेषा उपमेये प्रतिबिम्बकरूपाश्च प्रतीयन्त इत्युक्तम्। उत्कृष्टजातीयस्योपमेयस्य हीनजातीयेन सामान्यमभिधीयमानं शाब्दन्यायेन बोधयदनुचितमेव भवति। यथा—'रणाश्वमेधे पशुतामुपागताः' इति। नन्वत्र रूपकबलेन वर्णनीयस्य पशुतावगम्यत इति युक्तमनौचित्यम्। क्वचिदग्र इत्यादौ प्रकृतोदाहरणे तु कथम्। नह्यत्र प्रस्तुतोपस्कारकस्य सारमेयतावगम्यते अग्रे प्रसरणमाप्लुत्य निहननं च सादृश्यमुपात्तमुचितमेवेति नैतत्। तत्त्वप्रतिबिम्बे सादृश्यप्रतीतिरपि शब्देन क्रियमाणा लोके कान्तिं प्रति पुष्णाति। न हि कदापि हीनेन सादृश्योक्तौ वर्णना सजीवा प्रतीयते। प्रतीतिमात्रपरमार्थं च काव्यदर्शनमिति ॥**

(११ अधिकोपम दोष)

तदेव यस्मिन्नधिकं तद्धवेदधिकोपमम् ॥ ५१ ॥

यथा—

'अयं पद्मासनासीनश्चक्रवाको विराजते।
युगादौ भगवान् ब्रह्मा विनिर्मित्सुरिव प्रजाः ॥ ६१ ॥'

अत्र चक्रवाकस्य जगत्स्रष्टा ब्रह्मणोपमितत्वादधिकोपममिदम् ॥

जिस वाक्य में उपमान ही (उपमेय की अपेक्षा) अधिक वर्णित हो वह वाक्य अधिकोपम अर्थात् अतिशयित उपमा वाले दोष से युक्त होगा ॥ ५१ ॥

जैसे—युग के प्रारम्भ में प्रजा का निर्माण करने की इच्छा वाले भगवान् ब्रह्मा की भाँति यह चक्रवाक कमल पर बैठा हुआ सुशोभित हो रहा है ॥ ६१ ॥

यहाँ चक्रवाक की जगत् के निर्माता ब्रह्मा से तुलना करने से अधिकोपमत्व दोष हुआ।

स्व० भा०—उपमा में तो उपमेय की अपेक्षा उपमान बढ़ा-चढ़ा रहता ही है। अन्यथा उपमा देने से तो कोई लाभ ही नहीं है। किन्तु जिस प्रकार उपमान को उपमेय से अपकृष्ट चित्रित करना दोष है, उसी प्रकार किसी छोटी सी वस्तु की तुलना किसी बहुत बड़ी वस्तु से देना भी उपहास का विषय है। भोज ने यह उदाहरण भी भामह के द्वारा निरूपित उपमा दोष के प्रसङ्ग से ही उद्धृत किया है। (द्रष्टव्य काव्यालं० २।५६) रुद्रट ने (काव्यालं० ११। ३४-५) श्लोक के पूर्वार्ध को अप्रसिद्धोपम के उदाहरण के रूप में किया है।

तदेवेति। **हीनेनोत्कृष्टं यथा नोपमीयत इति लोकमर्यादा तथोत्कृष्टेन हीनम्। तथा हि—चक्रवाकोपमितिमनुसंदधतां विशेषावगतिविधुराणां च सहृदयानां प्रतीतिः स्खलन्ती जनयत्येव वैरस्यमिति सूक्ष्मेक्षिकया दूषणम् ॥**

इदमपरमायातमनौचित्यं यत्सादृश्यबुद्धया निबन्धेऽप्यसादृश्यपर्यवसानमित्याह—

(१२ असदृशोपम दोष)

यत्त्वत्तुल्योपमानं तद्वदन्त्यसदृशोपमम्।

यथा—

'णमह हरं रोसाणलणिद्दड्ढमुद्धमम्महसरीरम् ।
वित्थअणिअम्बणिग्गअगङ्गासोत्तं व हिमवन्तम् ॥ ६२ ॥'

[नमत हरं रोषानलनिर्दग्धमुग्धमन्मथशरीरम् ।
विस्तृतनितम्बनिर्गतगङ्गास्रोतसमिव हिमवन्तम् ॥)

अत्र कोपानलनिर्दग्धमुग्धमन्मथशरीरस्य हरस्य नितम्बनिर्गतस्रोतसा हिमवद्गिरिणा सहासादृश्यादिदमसदृशोपमम् ॥

उस वाक्य को असदृशोपमत्व दोष से युक्त कहते हैं जिसमें उपमेय के सदृश उपमान नहीं होता ॥ ५२ अ ॥

जैसे—सुन्दर कामदेव को क्रोधाग्नि से भस्म कर देने वाले शंकर को प्रणाम करो जो कि विशाल नितम्ब से निकली हुई गङ्गा की धारा वाले हिमालय की भाँति हैं ॥ ६२ ॥

यहाँ "क्रोधानल से मनोहर कामदेव के शरीर को जलाने वाले शङ्कर" की "नितम्ब से निकली हुई गङ्गा की धारा वाले हिमालय" के साथ तुलना उपयुक्त न होने से असदृशोपमत्व दोष है।

स्व० भा०—शङ्कर तथा हिमालय दोनों पूज्य हैं, किन्तु दोनों की तुलना नहीं हो सकती। यह सम्भव है कि कुछ गुणों के कारण दोनों में साम्य दिखाया जाये, किन्तु जो विशेषण यहाँ पृथक्-पृथक् रूप से दोनों के दिए गए हैं उनमें तो किसी प्रकार का सादृश्य है ही नहीं अतः यहाँ असादृश्योपम दोष है।

यत्त्विति। **यद्यपि बलवत्त्वादिना प्रतीयमानं हिमवद्भगवतोरस्ति सादृश्यम्, तथापि वाच्योपमाभ्रमेणायं निबन्धः, सा च न सम्पन्ना, नहि रोषेण विदग्धमन्मथशरीरदाहो विस्तृतनितम्बनिर्गतगङ्गास्रोतःप्रतिबिम्बभूतः। धातुरङ्गरञ्जितो गङ्गाप्रवाहोऽभिमतस्य भवति ललाटनेत्राग्निज्वालाप्रतिबिम्बमित्यपि न वाच्यम्, येनान्धत्वप्रसङ्गात्। नितम्बसंबन्धोक्तिश्च न संगता स्यात्। कथं च मन्मथशरीरदाहः प्रतिबिम्बायत इत्याशयेन व्याचष्टे—अत्रेति। विशेषणयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावाभावे विशिष्टयोरुपमानं संभवतीति मत्वा विशेषणद्वयमदोषायैवेति व्याख्यातवान्॥**

(१३ अप्रसिद्धोपम)

इदानीं कविसमयबहिर्भूतत्वेनोपमानौचितीमाह—

अप्रसिद्धोपमानं यदप्रसिद्धोपमं हि तत् ॥ ५२ ॥

यथा—

'कुमुदमिव मुखं तस्या गौरिव महिषः शशीव काव्यमिदम् ।
शरदिव विभाति तरुणी विकसितपुलकोत्करा सेयम् ॥ ६३ ॥'

अत्र कुमुदमुखयोर्गोमहिषयोः काव्यशशिनोश्च प्रतीयमाने शरत्तरुण्योश्च विधीयमाने सादृश्ये उपमानोपमेयस्याप्रसिद्धत्वादप्रसिद्धोपममिदम् ॥

जिस वाक्य में प्रयुक्त उपमान लोकविख्यात नहीं होते हैं, (उनका उपयोग होने पर) उसको अप्रसिद्धोपम दोष से युक्त कहते हैं ॥ ५२ ॥

जैसे—कुमुदिनी की भाँति मुख है उस नायिका का, गाय की तरह भैंस होती है, चन्द्रमा की तरह यह काव्य है, अत्यधिक स्पष्ट पुलकों से संयुक्त यह युवती फूले हुये पुलक वृक्षों से संयुक्त शरद् की भाँति लगती है ॥ ६३ ॥

यहाँ कुमुद तथा मुख का, गौ तथा महिष का, कविता तथा चन्द्रमा का, प्रतीयमान तथा शरद् और तरुणी का विधीयमान सादृश्य प्रदर्शित करते समय उपमेय का उपमान जगद् विख्यात न होने से अप्रसिद्धोपम दोष है। (रुद्रट ने उदाहरण के श्लोक का उत्तरार्ध अप्रतीतत्व दोष के उदाहरण (काव्यालंकार ११।५) के रूप में दिया था।)

स्व० भा०—किसी भी उपमेय की तुलना इसीलिये की जाती है कि उसका सादृश्य एक उत्कृष्ट पदार्थ से जानकर सहृदय चमत्कृत होता है। किन्तु वह चमत्कार तब तक नहीं आ सकता जब तक उपमान का उन्हें ज्ञान नहीं होता। उपमान जितना ही अधिक विख्यात होता है सादृश्यबोध उतना ही शीघ्र होता है और जितना शीघ्र सादृश्य ज्ञान होता है उतना ही शीघ्र आनन्द की प्राप्ति होती है। इस प्रकार यदि उपमान प्रख्यात नहीं हुआ, अथवा जिन उपमेयों के जो उपमान पूर्व ज्ञात है, उनमें से नहीं हुआ तो आनन्द प्राप्त नहीं होता, व्यवधान के कारण यहाँ दोष की कल्पना है।

अप्रसिद्धेति। **कमलमुखयोरिव कुमुदमुखयोर्गोगवयोरिव गोमहिषयोः काव्यशब्दयोरिव काव्यशशिनोरस्ति सादृश्यं सौरभादिकमेवानुपात्तमपि प्रसिद्धतया प्रतीयमानम्। शरत्तरुण्योस्तु न तथा प्रसिद्धमिति विकसितपुलकाङ्कुरा भातीत्येताभ्यामुपात्तम्। पुलक इवाङ्कुरा इति तत्राशयात्। विशिष्टभानस्य च द्वयानुगतत्वेनैव प्रतीयमानत्वात्तथापि पद इवालंकारेऽपि कविभिरप्रयुज्यमानत्वमेव दोष इति व्याचष्टे**—अत्रेति। **प्रतीयमान इति। इवशब्दस्य द्योतकमात्रत्वात्। अभिधीयमानं व्याख्यातम्** ॥

(१४ निरलंकार दोष)

वक्तताविशेषविशिष्टस्यवार्थस्य काव्यकोटिनिवेशादवक्को हेय इत्याह—

यदलंकारहीनं तन्निरलंकारमुच्यते।

यथा—

'कोला खणन्ति मोत्थं, गिद्धा खाअन्ति मउअमंसाइं,।
उलुआ हणन्ति काए, काआ उलुए वि वाअन्ति ॥ ६४ ॥'

[कोलाः खनन्ति मुस्ताम्, गृध्राः खादन्ति मृतकमांसानि।
उलूका घ्नन्ति काकान्, काका उलूकानपि वायन्ति ॥)

अत्र कोलादेः स्वरूपाद्यनभिधानाज्जात्याद्यलंकारासंभवे निरलंकारनामायं वाक्यार्थदोषः। सविशेषणाद्गोरपत्यमित्यादेर्वाक्यदोषाद्भिद्यते ॥

जो अलंकार से हीन होता है वह निरलंकार कहा जाता है ॥ ५३ अ ॥

जैसे—शूकर मोथा खोदते हैं, गृद्ध मृतकों का मांस खा रहे हैं। उल्लू कौओं को मारते हैं। कौवे भी उल्लुओं को परेशान कर रहे हैं ॥ ६४ ॥

यहाँ शूकर आदि के स्वरूप आदि का वर्णन न होने से 'जाति' आदि अलंकार भी न होने से निरलंकार नामक वाक्यार्थ दोष है। यह विशेषण से युक्त होने वाले "गोः अपत्यम्" वाले वाक्यदोष से भिन्न है।

स्व० भा०—एक निरलंकारता नामक वाक्यदोष भी होता है। वहाँ पर भी लक्षण समान सा ही लगता है, किन्तु उदाहरण से इन दोनों का–वाक्य तथा वाक्यार्थ का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। वाक्य दोष के उदाहरण में विशेषण का प्रयोग होने से वक्रताव्यतिरेक के कारण शब्दों का ही अपवाद होता है। अतः वहाँ शब्द का ही दोष है। यहाँ तो कहा ही गया है कि स्वरूप वक्र नहीं है।

यदिति। **वक्रताव्यतिरेकेऽलंकारसामान्यमेव न स्यादिति निरलंकारमित्युक्तम्। वायन्ति क्षिपन्ति खादन्ति। 'वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु' इति धात्वनुसारात्। नन्वस्ति कोलादिस्वरूपमत्र। ततो जात्यलंकारेण वक्रत्वमाक्षिप्यते। विशेषस्य च सामान्यमान्तरीयकत्वात्कथमुच्यते निरलंकारमित्यत आह—अत्रेति। स्वं रूपं चमत्कारकारि कविप्रतिभामात्रप्रकाशनीयं रूपं तदेवालंकारकक्षामधिशेते। न चात्र तथा किंचिदभिहितमतो न जात्यलंकारः। एवमन्योऽप्यलंकारो नास्ति। कथं तर्हि वक्रताभावरूपदीर्घपुच्छ इत्यादेः शब्ददोषाद्विद्यते तदाह—सविशेषणादिति। तत्र विशेषणप्रयोगे शब्दानामेव वक्रताव्यतिरेकेणापवाद इति शब्ददूषणम्, इह तु न तथा। किं तूक्तमेव स्वरूपं न वक्रमिति वाक्यार्थ एव दुष्टः॥**

(१५ अश्लीलत्व दोष)

अश्लीलमिति निर्दिष्टमश्लीलार्थप्रतीतिकृत् ॥ ५३ ॥

यथा—

'उद्यतस्य परं हन्तुं स्तब्धस्य विवरैषिणः।
पतनं जायतेऽवश्यं कृच्छ्रेण पुनरुन्नतिः॥ ६५॥'

अत्रोद्यतस्य परं हन्तुमिति संभोगारम्भविषया, स्तब्धस्य विवरैषिण इति वराङ्गविषया, पतनं जायतेऽवश्यमिति रेतोविसर्गविषया, कृच्छ्रेण पुनरुन्नतिरिति नष्टरागप्रत्यानयनविषया अश्लीलवाक्यार्थविषया प्रतीतिर्भवति॥

अश्लील अर्थ को प्रकट करने वाला अश्लीलदोष कहा गया है॥ ५३॥

दूसरे को मारने के लिये सन्नद्ध, सावधान तथा (दूसरे का) छिद्रान्वेषण करने के इच्छुक, व्यक्ति का अधःपात निश्चित होता है किन्तु उसका उत्कर्ष बड़ी कठिनाई से होता है॥ ६५॥

यहाँ पर 'उद्यतस्य परं हन्तुं' इससे रतिक्रिया को प्रारम्भ करने के विषय की, 'स्तब्धस्य विवरैषिणः' पदों से योनिविषयक अथवा लिङ्ग विषयक, 'पतनं जायतेऽवश्यं' से वीर्यस्खलन विषयक, तथा 'कृच्छ्रेण पुनरुन्नतिः' इससे नष्टराग प्रत्यानयन–अर्थात् स्खलन के बाद पुनः लिङ्ग चैतन्य लौटाने–के विषय में अश्लील वाक्यार्थ की प्रतीति होती है।

स्व० भा०—यहाँ अर्थ स्पष्ट है। विशेष्य का शब्दशः उपादान न होने से इसका अश्लील अर्थ भी प्रकट होता है। इसका अश्लीलार्थ इस प्रकार होगा—

'कस कर प्रहार करने के लिए पूर्णतः तैयार, उत्थित तथा योनिछिद्र में प्रवेश करने की कामना से संयुक्त (शिश्न में वीर्यस्खलन होने से) शिथिलता अवश्य आ जाती है, किन्तु पुनः लिङ्ग चैतन्य की प्राप्ति—नष्टराग प्रत्यानयन—बड़ी मुश्किल से होती है। अन्यत्र निरूपित अश्लीलत्व दोष पद अथवा वाक्यमात्र में होता है किन्तु यहाँ सम्पूर्ण वाक्य में व्याप्त शब्दों का अर्थ अश्लील हो सकने से वाक्यार्थ दोष है।

अश्लीलमिति। **उद्यतस्येति। परमन्यं हन्तुमुद्यतस्य विवरैषिण इति प्रमादकृतावधानस्य स्तब्धस्यात्मन्युत्कर्षाभिधानेनान्यानवधीरयतः पतनमावश्यकमुद्गमः कृच्छ्रादिति संसर्गोऽ-**

भिमतः। एषामेव पदार्थानां संसर्गान्तरमश्लीलमेवेत्याह—अत्रोद्यतस्येति। एतेन पददोषाऽभेद उक्तः॥

(१६ त्रिविधविरोध-(क) १ देशविरोध)

देशकालादेः काव्याङ्गत्वात्तद्विरोधेनार्थो दुष्टः। विरोधश्च बाधः। स प्रमाणेनैव ततो लोकादिविरोधस्यालंकारसमयसिद्धस्य प्रमाणविरोधपर्यवसायित्वं विवक्षन्नाह—

विरुद्धं नाम तद्यत्र विरोधस्त्रिविधो भवेत्।
प्रत्यक्षेणानुमानेन तद्वदागमवर्त्मना॥ ५४॥
यो देशकाललोकादिप्रतीपः कोऽपि दृश्यते।
तमामनन्ति प्रत्यक्षविरोधं शुद्धबुद्धयः॥ ५५॥

तत्र देशविरोधो यथा—

'सुराष्ट्रेष्वस्ति नगरी मथुरा नाम विश्रुता।
अक्षोटनारिकेराढ्या यदुपान्तादिभूमयः॥ ६६॥'

अत्र सुराष्ट्रेषु मथुरा नास्ति। तत्पर्यन्तादिभूमिषु चाक्षोटनारिकेराणामभावात्। देशोऽद्रिवनराष्ट्रादिरित्ययं देशकृतः प्रत्यक्षविरोधः॥

विरुद्ध नामक दोष वहां होता है—जहां पर प्रत्यक्ष, अनुमान और उसी प्रकार आगम रीति से तीन प्रकार का विरोध हो जो कोई भी देश, काल, लोक आदि का उल्टा दिखाई पड़ता है उसे विमलबुद्धि वाले विद्वान् लोग प्रत्यक्ष-विरोध मानते हैं॥ ५४-५५॥

इनमें देशविरोध इस प्रकार होता है, जैसे—

सुराष्ट्र देश में मथुरा नाम की विख्यात नगरी है, वह अखरोट तथा नारियल के वृक्षों से भरी है तथा उसके निकट पहाड़ी भूमि है॥ ६६॥

यहां (छन्द में जैसा दिखाया गया है) सुराष्ट्र में मथुरा नहीं है। उसके निकटवर्ती प्रदेश में अखरोट तथा नारियल का अभाव है। देश शब्द के अन्तर्गत पर्वत, वन राष्ट्र आदि का समावेश होता है। अतः यहाँ देशकृत प्रत्यक्ष विरोध है।

स्व० भा०—भामह ने भी देश, काल, कला, लोक, न्याय, आगम आदि का विरोध निरूपित किया है। दण्डी ने 'देशकालकलालोकन्यायागमविरोधि च' (३।१२६) कह कर भामह को ही पुष्ट किया है। वामन ने (२।२।९) लोकविद्याविरुद्ध एक दोष माना है। भोज ने वामन से ही उनके देशविरोध के उदाहरण से मिलता-जुलता ही उदाहरण उपस्थित किया है। जहाँ तहाँ एकाध शब्दों में अन्तर है (२।२।२३) भामह का देशविरोधी का लक्षण अधिक स्पष्ट है—

या देशे द्रव्यसम्भूतिरपि वा नोपदिश्यते।
तत्तद्विरोधि विज्ञेयं स्वभावात्तद् यथोच्यते॥ ४।२९॥

दण्डी ने देश के अन्तर्गत वहीं माना है जो भोज ने बाद में स्वीकार किया—'देशोऽद्रिवनराष्ट्रादिः।' ३।१६२ काव्यादर्श॥

छन्द में जो नगरी जहाँ नहीं है वहाँ, जो पदार्थ जहाँ नहीं उत्पन्न होता वहाँ, उनकी उपस्थिति बताने से दोष हुआ है।

विरुद्धमिति। तत्र देशकालादौ प्रत्यक्षत एव वर्ण्यमानस्याभावो निश्चीयते इति देशादिविरोधः प्रत्यक्षविरोधः। शूरसेनेषु मथुरा न सुराष्ट्रेषु। तत्पर्यन्तभूमिष्वक्षोटा नालिकेरा वा न संभवन्ति। अद्रीणां कथं देशत्वमित्यत आह—देशोऽद्रिवनराष्ट्रादिरिति॥

(१६ (क) २ कालविरोध)

कालविरोधो यथा—

'पद्मिनी नक्तमुन्निद्रा स्फुटत्यह्नि कुमुद्वती।
मधुरुत्फुल्लनिचुलो निदाघो मेघदुर्दिनः॥ ६७॥

अत्र पद्मिन्या नक्तं कुमुद्वत्या अह्नि मधौ निचुलानामुन्निद्रत्वाद्यभावान्निदाघस्य चामेघदुर्दिनत्वात् कालो नक्तं दिनर्तव इति कालकृतोऽयं प्रत्यक्षविरोधः॥

कालविरोध (वहाँ होता है) जैसे—

कमलिनी रात में खिली, दिन में कुमुदिनी विकसित होती है, वसन्त में हिज्जल फूल उठते हैं और ग्रीष्म में मेघों के कारण दुर्दिन हो जाता है॥ ६७॥

कमलिनी का रात्रि में, कुमुदिनी का दिन में, वसन्त में हिज्जलों के फूलने का अभाव होने से, और ग्रीष्म में मेघों के कारण दुर्दिन की उपस्थिति बताने से यहाँ कालविरोध हुआ। काल के अन्तर्गत रात, दिन, ऋतु आदि हैं। (यहाँ उन्हीं का विरोध बताया गया है) अतः यह कालकृत प्रत्यक्ष विरोध का उदाहरण है।

स्व० भा०—भोज ने स्पष्टतः कारिका द्वारा इस उपभेद का लक्षण नहीं दिया है। भामह ने इसकी परिभाषा ठीक ही दी है। (४।३०)

षण्णामृतूनां भेदेन कालः षोढेव भिद्यते।
तद्विरोधकृदित्याहुर्विपर्यासादिदं यथा॥

दण्डी ने ऋतुओं के अतिरिक्त दिन, रात आदि को भी काल की सीमा में ला दिया है। उनके अनुसार "कालो रात्रिदिवर्तवः" (काव्यादर्श ३।१६२) है। भोज ने तो उदाहरण दण्डी से ही (काव्यादर्श ३।१६७) लिया है।

पद्मिनीति। **नक्तं रात्रौ। मधुर्वसन्तः निचुला हिज्जलाः। ते वर्षासु पुष्प्यन्ति न वसन्ते। यद्यपि कालस्वरूपमप्रत्यक्षं तथापि तदुपाधीनां व्यवहाराङ्गतेव प्रत्यक्षता चेत्याह—कालो नक्तं दिनर्तव इति॥**

(१६ (क) ३ लोकविरोध)

लोकविरोधो यथा—

'आधूतकेसरो हस्ती तीक्ष्णशृङ्गस्तुरङ्गमः।
गुरुसारोऽयमेरण्डो निःसारः खदिरद्रुमः॥ ६८॥'

अत्र हस्तिहयैरण्डखदिराणां केसरादिसद्भावस्य प्रत्यक्षेणानुपलम्भात्। जङ्गमस्थावरो लोक इति लोककृतोऽयं प्रत्यक्षविरोधः॥

लोकविरोध वहाँ होता है जैसे (निम्नलिखित वाक्य में)—

हाथी केसर हिलाता है, घोड़े की सींग खूब तेज है, इस एरण्ड वृक्ष में बहुत सार है और खैर का वृक्ष सारहीन है॥ ६८॥

यहाँ पर हाथी, घोड़ा, एरण्ड, खदिर आदि में केसर आदि की उपस्थिति प्रत्यक्षरूप से उपलब्ध नहीं होती। अतः यहाँ लोक विरुद्ध दोष है। लोक स्थावर तथा जङ्गम (दो प्रकार का) होता है इसलिए यह लोककृत प्रत्यक्षविरोध है।

स्व० द०—जो बातें लोक में स्वतः जिस रूप में दृष्टिगोचर होती हैं, उनका वैसा वर्णन न करना लोकविरुद्ध है। केसर सिंह को होती है हाथी को नहीं। घोड़े को सींग नहीं होती फिर तीक्ष्णता का प्रश्न ही क्या? एरण्ड वृक्ष भीतर से निःसार होता है खैर का वृक्ष नहीं किन्तु यहाँ उलटा ही वर्णन है। अतः लोकविरुद्धत्व दोष है।

दण्डी के अनुसार "चराचराणां भूतानां प्रवृत्तिर्लोकसंश्रिता" ३।१६३॥

आधूतेति। **अन्ते प्रत्यक्षविरोधशब्दार्थं व्याचष्टे—प्रत्यक्षेणानुपलम्भादिति। कथमयं लौकिकविरोध इत्यत आह—जङ्गमेति। जङ्गमस्थावरं जीवच्छरीरं लोकः। तत्र जङ्गमं गवाश्वादि स्थावरं लतावृक्षादि राष्ट्रादावेव देशपरिभाषा इदं प्रकारान्तरेण देशशब्देनाभिधीयते॥**

(१६ (ख) १ अनुमान विरोध और युक्तिविरुद्धता)

युक्त्यौचित्यप्रतिज्ञादिकृतो यस्त्विह कश्चन।
अनुमानविरोधः स कविमुख्यैर्निगद्यते॥ ५६॥

तत्र युक्तिविरुद्धं यथा—

'सुरहिमहुपाणलम्पडभमरगणाबद्धमण्डलीबन्धम्।
कस्स मणं णाणन्दइ कुम्मीपुट्ठट्ठिअं कमलम्॥ ६९॥'

[सुरभिमधुपानलम्पटभ्रमरगणाबद्धमण्डलीबन्धम्।
कस्य मनो नानन्दयति कूर्मीपृष्ठस्थितं कमलम्॥]

अत्र कूर्मीपृष्ठे कमलोद्भूतेरयुक्तियुक्तत्वाद्युक्तिविरुद्धमिदम्॥

काव्य में युक्ति, औचित्य, प्रतिज्ञा आदि के विषय में जो कोई भी विरोध प्रदर्शित किया जाता है, उसे श्रेष्ठ कवियों ने अनुमानविरोध कहा है॥ ५६॥

इनमें युक्ति विरोध उन स्थानों पर होता है, जैसे—

सुगन्धित परागपीने के लोभी भ्रमर समुदायों से घिरा हुआ, कच्छपी की पीठ पर उग। कमल किसके मन को प्रसन्न नहीं बनाता है॥ ६९॥

कच्छपी की पीठ पर कमल का निकलना तर्कविरुद्ध होने से इस श्लोक में युक्तिविरुद्धता दोष हुआ।

स्व० भा०—न्यायशास्त्र में विशेषरूप से तथा अन्य दर्शनों में सामान्यरूप से अनुमान प्रमाण स्वीकार किया गया है। यह व्याप्यव्यापक के परामर्श से उत्पन्न होने वाला ज्ञान है। अर्थात् जिन पदार्थों का परस्पर अटूट सम्बन्ध रहता है, उनमें से एक को देखकर दूसरे की उपस्थिति का ज्ञान कर लेना ही अनुमान है। अतः जहाँ पर कारण कार्य आदि रूप से विख्यात सम्बन्धों वाले पदार्थों को छोड़कर किसी अन्य असम्बद्ध को उनके स्थानों पर मान लिया जाता है तब यह दोष हो जाता है।

इसी उदाहरण में कमल की उत्पत्ति कूर्मीपृष्ठ पर दिखाई गई है, जब कि कमल कमल से अथवा जल से उत्पन्न होता है।

युक्तीति। सामान्यतस्तावदनुमानविरोधो यत्प्रमाणाभावः। नहि प्रमेयाभावे प्रमाणं प्रसिद्धम। तदयमर्थो युक्तिः प्रमाणम्। आधूतकेसरेत्यादौ उदाहरणे क्वचिदेव व्यक्तिविशेषे केसरादिसंबन्धप्रतिपादनं कथमन्यथा तेषामेरण्डं निर्दिशति। ततो भवति प्रत्यक्षेणैव विरोधः। इह तु न तथा। नहि विशेषतः कापि कूर्मपृष्ठव्यक्तिरस्तीति सामान्याकारेण विवक्षितम्। ततश्च कमलजातेः पङ्कजप्रभवाया एव निश्चयात् कूर्मपृष्ठादुद्गमे न किञ्चित्प्रमाणं कदापि कस्याप्यवतरतीत्याशयवान् व्याचष्टे—अत्रेति। अयुक्तियुक्तत्वादिति। युक्तेः प्रमाणत्वेनासंबद्धत्वादित्यर्थः॥

(१६ (ख) २ औचित्य विरोध)

औचित्यविरुद्धं यथा—

'पट्टंसुउत्तरिज्जेण पामरो पामरीऍ परिपुसइ।
अइगरुअकूरकुम्भीभरेण सेउल्लिअं वअणम्॥ ७०॥'

[पट्टांशुकोत्तरीयेण पामरः पामर्याः प्रोञ्छति।
अतिगुरुककूरकुम्भीभरेण स्वेदार्द्रितं वदनम्॥]

अत्र पामरस्य पट्टांशुकोत्तरीयाभरणानौचित्याद् औचित्यविरुद्धमिदम्॥

औचित्य विरोध वहाँ होता है जैसे—

रेशमीवस्त्र के दुपट्टे से एक पामर पामरी का बड़े भारी भात की कलशी के भार के कारण उत्पन्न पसीने से आर्द्र मुख पोंछ रहा है॥ ७०॥

यहाँ पामर के लिए रेशमीवस्त्र के दुपट्टे का ग्रहण अनुचित होने से यह छन्द औचित्यविरुद्ध का उदाहरण है।

स्व० भा०—जो जिसके उपयुक्त हो, उसका उसके साथ होने वाला चित्रण औचित्यपूर्ण होगा। किन्तु अनुपयुक्त पदार्थ का संयोग किसी अनधिकारी के साथ प्रदर्शित करना अनौचित्य है। पामर का रेशमी वस्त्र धारण करना ही अनुचित है, क्योंकि वह तो सभ्यों का परिधान है।

औचित्यविरुद्धमिति। **औचित्यं योग्यता तस्य परामृश्यमानस्य विवक्षितविपरीतपर्यवसानमन्योऽनुमानविरोधः। तथा हि—पट्टांशुकोत्तरीयेण पामरः पामर्याः प्रोञ्छति। अतिगुरुककूरकुम्भीभरेण स्वेदार्द्रितं वदनमित्यत्र पूर्ववत्संबन्धग्राहकप्रमाणाभावः। कदाचिद्राजप्रसादादिना तथा संभवात्। किं तु पामरौचित्यप्रतिसंधाने पट्टांशुकावगुण्ठनमनुचितम्। विदग्धनेपथ्यपरिग्रहादिनागरवृत्तापरिचय एव पामरत्वम्। ततश्चायमर्थो भवति—पट्टांशुकसंबन्धायोग्येयं पामरत्वादिति। कूरं भक्तम्। कुम्भी कलशी॥**

(१६ (ख) ३ प्रतिज्ञाविरुद्धत्व दोष)

प्रतिज्ञाविरुद्धं यथा—

'यावज्जीवमहं मौनी ब्रह्मचारी च मे पिता।
माता च मम वन्ध्यासीत्स्मराभोऽनुपमो भवान्॥ ७१॥'

अत्र स्वयं वक्तुरेव 'यावज्जीवमहंमौनी' इत्यादिपदानामुक्त्या प्रतिज्ञाविरोधात् प्रतिज्ञाविरुद्धमिदम्॥

प्रतिज्ञाविरुद्ध दोष उन स्थलों पर होता है जैसे—

मैं सम्पूर्ण जीवनपर्यन्त मौनी हूँ, मेरे पिता ब्रह्मचारी हैं, मेरी माँ वन्ध्या थीं। कामदेव के सदृश सुन्दर आप तो अतुलनीय है ॥ ७१ ॥

यहाँ स्वयं वक्ता का कहना कि "मैं जीवनपर्यन्त मौनधारी हूँ" प्रतिज्ञा विरोध के कारण प्रतिज्ञाविरुद्धत्व दोष से युक्त है।

स्व० भा०—प्रतिज्ञा का लक्षण भामह ने दिया है—

विविधास्पदधर्मेण धर्मी कृतविशेषणः। पक्षस्तस्य च निर्देशः प्रतिज्ञेत्यभिधीयते ॥ काव्यालं० ५।१२॥

अर्थात् जो पदार्थ कई गुणों से युक्त है, उनमें से किसी एक का उससे सम्बन्ध स्थापित करना प्रतिज्ञा है। जैसे अग्नि के अनेक गुण-धर्म हैं, जिनमें से एक धर्म उसका धुयें से संयुक्त रहना भी है। अतः अग्नि से धुआँ उठता है कहना अथवा धुयें से संयुक्त होने के कारण पर्वत पर अग्नि है कहना प्रतिज्ञा होगी। इसी में विरोध हो जाने से अधर्मी से धर्म विशेष का सम्बन्ध चित्रित कर देने से प्रतिज्ञाविरुद्ध दोष होता है।

प्रस्तुत उदाहरण में ही कई प्रतिज्ञाओं का विरोध दर्शित है। जो जीवनपर्यन्त मौन है, वह स्वयं बोलेगा कैसे? जिसका पिता ब्रह्मचारी और माता वन्ध्या है, उसकी उत्पत्ति कहाँ से हुई, जो कामदेव के सदृश सुन्दर है वह अतुलनीय कैसे हुआ? इनका सम्बन्ध न होने पर भी चित्रित किया गया है, अतः प्रतिज्ञा विरुद्धत्व दोष है।

प्रतिज्ञाविरुद्धमिति। **अभ्युपगमवाक्यं प्रतिज्ञा। यथा—'यद्यदादिशति स्वामी तत्करोम्यविचारयन्' इति साध्यनिर्देशश्च—'अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनवमिर्दनः। नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः॥' इति। द्वयमपि प्रतिज्ञापदेनाभिमतम्। तत्राद्ये 'यावज्जीवमहं मौनी' इत्युदाहरणम्। अभ्याहारो मौनम्। तदभ्युपगमवाक्येनैव बोध्यते। तथा हि—नायं मौनी वचनवत्त्वादित्यभ्युपगम्य मौनाभावपर्यवसन्नमिति तृतीयोऽयमनुमानविरोधः। द्वितीयपक्षकक्षीकरणेन चतुर्थोदाहरणे 'ब्रह्मचारी च मे पिता, माता च मम वन्ध्या' इति वक्ता यस्यौरसः सुतः स पितृपदेनाभिमतो न च तस्य ब्रह्मचारित्वं संभवति। माता जनन्येवाभिधीयते न च तस्या बन्ध्यात्वं संभवति। परस्परव्याघातो विरोधः। अयं च पञ्चमप्रकारो यद्व्यापकद्वारा विरोधः। यथा—स्मराभोऽनुपम इति। नहि स्मराभत्वं लोके प्रसिद्धं किंतु स्मरतुल्यतां वदन् सोपमानत्वमभ्युपगच्छति। तच्चानुपमत्वेन विरुद्धम्। ततो व्यापकविरोधोऽयम्। यथा—वह्निरनुष्ण इति। आदिग्रहणाद् दृष्टान्तद्वारकोऽनुमानविरोधः संगृहीतः॥**

(१६ (ग) १ आगमविरोध में धर्मशास्त्रविरोध)

धर्मार्थकामशास्त्रादिविरोधः कोऽपि यो भवेत्।
तमागमविरोधाख्यं दोषमाचक्षते बुधाः॥ ५७ ॥

तेषु धर्मशास्त्रविरोधो यथा—

'असावनुपनीतोऽपि वेदानधिजगे गुरोः।
स्वभावशुद्धस्फटिको न संस्कारमपेक्षते॥ ७२ ॥'

अत्रानुपनीतस्य वेदाध्ययनानधिकाराद्धर्मशास्त्रविरोधः॥

जो कोई भी विरोध धर्म, अर्थ, कामशास्त्रादि के विषय में होता है उसको विद्वानों ने आगम विरोध नामक दोष कहा है ॥ ५७ ॥

इनमें धर्मशास्त्र का विरोध वहाँ है जैसे—

बिना यज्ञोपवीत किए हुए भी इसने गुरु से विधिवत् वेदों को पढ़ लिया। वस्तुतः प्राकृतिक रूप से शुद्ध-निर्मल- स्फटिक को संस्कार की अपेक्षा नहीं होती ॥ ७२ ॥

यहाँ यज्ञोपवीत न करने वाले का वेदाध्ययन में अधिकार न होने पर भी वेदपाठ निरूपित करने से धर्मशास्त्र विरोध हुआ।

स्व० भा०—धर्मशास्त्र के अन्तर्गत वेद, उपनिषद्, स्मृति, पुराण आदि सब आ जाते हैं। अतः कहीं भी निर्दिष्ट विधान का विरोध निरूपित करने पर, यह दोष होता ही है। धर्मशास्त्र का नियम है कि—

अकृतव्रतबन्धे तु गुरावुपरते सति।
नाभिव्याहारयेद् ब्रह्म स्वधानिनयनादृते ॥

बिना यज्ञोपवीत किये वेदाध्ययन का विधान नहीं है। यहाँ वही वर्णित है अतः धर्मशास्त्र विरोध हुआ। भोज ने यह उदाहरण दण्डी के काव्यादर्श (३।१७८) से उद्धृत किया है।

धर्मार्थेति। वेदाध्ययनानधिकारादिति। **'अकृतव्रतबन्धे तु गुरावुपरते सति। नाभिव्याहारयेद् ब्रह्म स्वधानिनयनादृते ॥' इति धर्मशास्त्रम् ॥**

(१६ (ग) २ अर्थशास्त्रविरोध)

अर्थशास्त्रविरोधो यथा—

'कामोपभोगसाकल्यफलो राज्ञां महीजयः।
अहंकारेण जीयन्ते द्विषन्तः किं नयश्रिया ॥ ७३ ॥'

अत्र महीजयस्य फलत्वेन कामोपभोगानामर्थशास्त्रकारैरननुमतत्वाच्छत्रुविजये चाहंकारस्याहेतुत्वादर्थशास्त्रविरोधः ॥

अर्थशास्त्र का विरोध जैसे—

राजाओं के लिए पृथ्वी को जीतना तो सभी कामनाओं के उपभोग का फल है। (अर्थात् उन्होंने धरती क्या जीत ली, मानो सभी पुरुषार्थ—काम आदि-मिल गए।) अहंकार मात्र से शत्रुगण पराजित हो जाते हैं, नीतिशास्त्र से क्या लाभ ? ॥ ७३ ॥

यहाँ पृथ्वीजय के फल के रूप में कामोपभोगों की प्राप्ति अर्थशास्त्रकारों को अभिमत नहीं है, इसलिए, तथा शत्रु को जीतने में अहंकार को कारण मानने से भी अर्थशास्त्र का विरोध है।

स्व० भा०—यहाँ का उद्धरण वामन के काव्यालंकार सूत्र (२।२।२४) से उपस्थित किया गया है।

उन्होंने इसकी प्रथम पंक्ति चतुर्वर्गशास्त्र के विरोध के उदाहरण के रूप में तथा द्वितीय पंक्ति को अर्थशास्त्र के विरोध के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया था।

वृत्ति के अनुवाद से दोष स्पष्ट हो जाता है। वस्तुतः पृथ्वी जीतना ही राजा का उद्देश्य नहीं, उसी से सभी पुरुषार्थों की प्राप्ति उसे नहीं होती और अहंकारमात्र से राजा लोग सफल नहीं होते, अन्य अनेक बातें भी अपेक्षित होती हैं। अतः यहाँ कही गई बातें अर्थशास्त्र में स्वीकृत न होने से, उसके विरोध के रूप में प्रस्तुत की गई हैं।

कामेति । अत्र महीजयस्येति । **महीजयस्य धर्मः फलमिति नीतिशास्त्रे स्थितम् । अहंकारो मानः स न शत्रुविजये साधनम् । अरिषड्वर्गत्यागे हीन्द्रियजयः । तथा विजिगीषुता । तया च शत्रुपरिभव इति । यदाह—स रघुराष्ट्रो विललास इत्युपक्रम्य कौटिल्याचार्यः मानाद्रावणः परदारानप्रयच्छन् दुर्योधनो राज्यांशं चेति ॥**

(१६ ग (३) कामशास्त्र विरोध)

कामशास्त्रविरोधो यथा—

'तवोत्तरोष्ठे बिम्बोष्ठि दशनाङ्को विराजते ।
पूर्णसप्तस्वरः सोऽयं भिन्नग्रामः प्रवर्तते ॥ ७४ ॥'

अत्रोत्तरोष्ठे दशनाङ्कस्य कामशास्त्रकारैरननुज्ञानात्कामशास्त्रविरोधः । भिन्नग्रामाणां च पूर्णसप्तस्वरत्वानुपपत्तेः । कलाविरोधेऽपि तदंशत्वात्कामशास्त्रविरोध एव ॥

कामशास्त्र का विरोध जैसे—

हे लाल लाल होठों वाली सुन्दरि ! तुम्हारे ऊपरी होठ पर दाँतों के चिन्ह सुशोभित हो रहे हैं । यह वही पूरे सातों स्वरों वाला भिन्न ग्राम प्रवृत्त हो रहा है ॥ १७० ॥

यहाँ ऊपरी ओष्ठ में दाँतों का चिह्न कामशास्त्रकारों को स्वीकार न होने से कामशास्त्र का विरोध है । भिन्नग्राम-रागों की पूर्ण सप्तस्वरता सिद्ध नहीं होती, (अतः इस अनुमति के कारण यहाँ कला-विरोध हुआ) । कलाविरोध होने पर भी उसका अंश होने के कारण कामशास्त्र का ही विरोध प्रदर्शित है ।

स्व० भा०—कामशास्त्र में मुख के भीतर के भाग तथा नेत्रों के किनारों को छोड़कर शेष अंगों का चुम्बन तथा दंशन अभीष्ट है । साथ ही अधर—नीचे के होंठ—का चुम्बन तथा दन्तच्छेद शास्त्रविहित है, न कि ऊपर के ओष्ठ का । अतः यहाँ कामशास्त्र के नियमों का विरोध है । इसी प्रकार उत्तरार्ध में संगीतशास्त्र के नियमों का उल्लंघन है । वस्तुतः शास्त्रीय भिन्नमार्गता सातों स्वरों को मिलाकर नहीं होती । अर्थात् सातों स्वर यदि पूर्णतः साथ रहे तो संगीत को भिन्नमार्ग अथवा भिन्नग्राम नहीं कहा जा सकता, जबकि यहाँ कहा गया है । इस शास्त्र के विपरीत कथन के कारण यहाँ शास्त्रविरुद्धता आ गई है ।

दण्डी ने काव्यादर्श में (३।१७०) इस संगीतशास्त्र वाले उत्तरार्ध भाग को कला विरोध के उदाहरण के रूप में रखा है ।

वामन ने 'कलाचतुर्वर्गशास्त्रविरुद्धानि विद्याविरुद्धानि' (२।२।२४) कहकर इन सबको विद्याविरुद्ध कहा है ।

सरलता के लिए विरुद्धत्व दोष के भेदोपभेदों का रेखाचित्र प्रस्तुत है ।

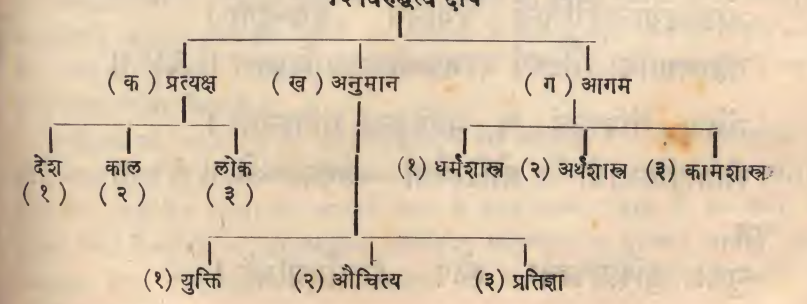

तवेति। अत्रोत्तरोष्ठ इत्युपरितन ओष्ठ उत्तरोष्ठमन्तरमुखं नयनान्तं च मुक्त्वा चुम्बन-वद्दशनच्छेद्यस्थानानीति काममूत्रम्। भिन्नग्रामरागाणामिति। भिन्नमार्गेषु सप्तस्वराणां समवायो नोपनिबद्धः। तथा च 'प्रांशुस्तु धैवतन्यासः पञ्चमर्षभवर्जितः। षड्जो दीप्यतां जा(या)तो भिन्नषड्ज उदाहृतः'। तमङ्गोऽप्याह—'षाडवौडविके जाती भिन्नग्राम उदाहृतः' इति। ततश्च षड्वा पञ्च वा स्वरा भवन्ति भिन्नग्रामे न तु सप्त। कामशास्त्र-विरोधप्रस्तावे कथं कलाविरोध उदाहियत इत्यत आह—तदंशत्वादिति। गीतादिकला-चतुःषष्टेः कामाङ्गतया काममूत्रकारैरुपदेशाद्भवति तद्विरोधे कामशास्त्रविरोध इत्यर्थः। आदिग्रहणादेवताभक्तितो मुक्तिर्न तत्त्वज्ञानसंपदेत्यादिकं मोक्षादिशास्त्रविरुद्धमुदाहरणीयम्॥

गुण की भूमिका और श्लेष गुण (१)

दोषाणां प्रथममुद्देशोऽयमभिसंधाय कृतस्तं विशेषसंहारव्याजेन स्फुटयति—

एवं पदानां वाक्यानां वाक्यार्थानां च यः कविः।
दोषान्हेयतया वेत्ति स काव्यं कर्तुमर्हति॥ ५८॥

अलंकृतमपि श्रव्यं न काव्यं गुणवर्जितम्।
गुणयोगस्तयोर्मुख्यो गुणालंकारयोगयोः॥ ५९॥

त्रिविधाश्च गुणाः काव्ये भवन्ति कविसंमताः।
बाह्याश्चाभ्यन्तराश्चैव ये च वैशेषिका इति॥ ६०॥

बाह्याः शब्दगुणास्तेषु चान्तरास्त्वर्थसंश्रयाः।
वैशेषिकास्तु ते नूनं दोषत्वेऽपि हि ये गुणाः॥ ६१॥

चतुर्विंशतिराख्यातास्तेषु ये शब्दसंश्रयाः।
ते तावदभिधीयन्ते नामलक्षणयोगतः॥ ६२॥

श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिस्तथा कान्तिरुदारत्वमुदात्तता॥ ६३॥

ओजस्तथान्यदौर्जित्यं प्रेयानथ सुशब्दता।
तद्वत्समाधिः सौक्ष्म्यं च गाम्भीर्यमथ विस्तरः॥ ६४॥

संक्षेपः संमितत्वं च भाविकत्वं गतिस्तथा।
रीतिरुक्तिस्तथा प्रौढिरर्थेषां लक्ष्यलक्षणे॥ ६५॥

तत्र

गुणः सुश्लिष्टपदता श्लेष इत्यभिधीयते।

यथा—

'उभौ यदि व्योम्नि पृथक्प्रवाहावाकाशगङ्गापयसः पतेताम् ।
तदोपमीयेत तमालनीलमामुक्तमुक्तालतमस्य वक्षः ॥ ७५ ॥'

अत्र भिन्नानामपि पदानामेकपदताप्रतिभासहेतुत्वेन संदर्भस्य सुश्लिष्टत्वादयं श्लेषो नाम शब्दगुणः ॥

इस प्रकार से जो कवि पदों, वाक्यों तथा वाक्यार्थों के दोषों को त्याज्य अथवा हीन होने से अग्रहणीय समझता है उसे काव्य करना चाहिये ॥ ५८ ॥

अलंकार से युक्त रहने पर भी गुणहीन काव्य को नहीं सुनना चाहिए। गुण तथा अलंकार इन दोनों के योगों में गुण का योग अपेक्षाकृत प्रमुख है ॥ ५९ ॥

कवियों को मान्य तीन प्रकार के गुण होते हैं काव्य में, और वे हैं—बाह्य, आभ्यन्तर तथा वैशेषिक ॥ ६० ॥

इनमें बाह्य वे हैं जो शब्द के आश्रित हैं, और अर्थ पर आश्रित रहने वाले हैं आन्तर। निश्चय ही वे वैशेषिक है जो दोष मुक्त होने पर भी गुण होते हैं ॥ ६१ ॥

जो शब्द पर आश्रित दोष है वे चौबीस विख्यात हैं। तब तक नाम और लक्षण सहित उन्हीं को (शब्द दोषों को) कहते हैं ॥ ६२ ॥

ये हैं (१) श्लेष (२) प्रसाद (३) समता (४) माधुर्य (५) सुकुमारता (६) अर्थ-व्यक्ति (७) कान्ति (८) उदारत्व (९) उदात्तता (१०) ओज (११) औजित्य (१२) प्रेयान् (१३) सुशब्दता (१४) समाधि (१५) सौक्ष्म्य (१६) गाम्भीर्य (१७) विस्तर (१८) संक्षेप (१९) संमितत्व (२०) भाविकत्व (२१) गति (२२) रीति (२३) उक्ति और (२४) प्रौढि। अब इनके लक्ष्य तथा लक्षण कहे जायेंगे ॥ ६३-६५ ॥

इनमें वह गुण जिसमें सुन्दर श्लिष्ट पदत्व होता है श्लेष कहा जाता है ॥ ६६ अ ॥

जैसे—यदि आकाश में आकाश गङ्गा के जल की दो अलग अलग धारायें गिरने लगे तभी इनके (कृष्ण) तमालतरु की भांति नीले और मुक्ताहार से संयुक्त वक्षस्थल की तुलना की जा सकती है ॥ ७५ ॥

यहाँ पदों के भिन्न २ रहने पर भी एकपदत्व सा ज्ञात होने के कारण पूरे संदर्भ में सुश्लिष्टता होने से श्लेष नामक शब्द गुण है।

स्व० भा०—काव्य की रमणीयता में वृद्धि करने के लिए कवि निरन्तर प्रयत्नशील रहता है। जिन तत्त्वों के आधार पर रमणीयता में वृद्धि होती है उसे काव्यशास्त्रियों ने गुण तथा अलङ्कार नामों से अभिहित किया है। इनमें से कुछ ऐसे होते हैं जिनके आधार पर काव्य का अस्तित्व होता है और कुछ ऐसे हैं जो अस्तित्व में आने के बाद काव्य की श्रीवृद्धि करते हैं। प्रथम को गुण तथा द्वितीय को अलंकार कहते हैं। भोज के पूर्ववर्ती आचार्यों ने इनके ऊपर विशद विचार किया है।

भट्टोद्भट का मत है कि गुण तथा अलङ्कार में कोई भेद नहीं है। दोनों ही काव्य के शोभाधायक तत्त्व है। लोक गड्डलिकाप्रवाहेण दो शब्द होने के कारण जिसका चाहता है उपयोग करता है। इनका मत आचार्य मम्मट ने अपने काव्य प्रकाश में इन शब्दों में उद्धृत किया है—"एवं च समवायवृत्त्या शौर्यादयः संयोगवृत्त्या तु हारादय इत्यस्तु गुणालंकाराणां भेदः, ओजःप्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनां चोभयेषाम् अपि समवायवृत्त्या स्थितिरिति

गड्डलिकाप्रवाहेणैवैषां भेदः" (अष्टम उल्लास)। अतः इनका मत अभेदवादी मत के नाम से जाना जाता है।

दण्डी ने भी अलङ्कार तथा गुण शब्दों का अलग अलग प्रयोग किया है। काव्यादर्श के द्वितीय परिच्छेद की प्रथम कारिका में दी "काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते" कहा है जब कि प्रथम परिच्छेद में (१।४१) गुणों का नाम गिनाकर "इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणाः स्मृताः"। अतः यह स्पष्ट है कि दण्डी के मन में इनका भेद प्रस्फुटित हो रहा था। इसीलिए उन्होंने काव्य अर्थात् शब्द और अर्थ को सुशोभित करने वाले तत्त्वों को अलङ्कार कहा और रीति—विशेषकर वैदर्भी का सौन्दर्य नहीं अपितु प्राण कहा गुणों को।

आचार्य वामन ने स्पष्ट शब्दों में गुण तथा अलंकार का भेद निरूपित किया है। उनके अनुसार—"काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः ॥ १ ॥ ये खलु शब्दार्थयोर्धर्माः काव्यशोभां कुर्वन्ति ते गुणाः। ते चौजःप्रसादादयः। न यमकोपमादयः, कैवल्येन तेषामकाव्यशोभाकरत्वात्। ओजःप्रसादादीनां तु केवलानामस्ति काव्यशोभाकरत्वम् इति। तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः ॥ २ ॥ तस्याः काव्यशोभायाः अतिशयस्तदतिशयस्तस्य हेतवः। तुशब्दो व्यतिरेके। अलंकाराश्च यमकोपमादयः"···"पूर्वे नित्याः ॥ ३ ॥ पूर्वे गुणाः नित्याः। तैर्विना काव्यशोभानुपपत्तेः।" का० सू० ३।१ ॥

वामन की परिभाषा से इतना तो स्पष्ट ही है कि वह गुणों को काव्य की आत्मा तो नहीं किन्तु उसका एक अत्यन्त आवश्यक अपरिहार्य अङ्ग अवश्य मानते हैं।

आनन्दवर्धन का विचार है कि—

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अङ्गाश्रितास्त्वलंकाराः मन्तव्याः कटकादिवत् ॥

काव्य की आत्मा रसादिध्वनि के आश्रित रहने वाले वे तत्त्व जो काव्य की श्रीवृद्धि करते हैं, गुण है, अलङ्कार गौण है, अत्याज्य नहीं है। ध्वनि सम्प्रदाय के ही प्रतिष्ठापनाचार्य मम्मट ने आनन्दवर्धन के ही मत से मिलता जुलता अपना मत दिया है। इनके अनुसार—

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥ ८।१ ॥

इनके मत में वामन के गुण की नित्यता तथा अपरिहार्यता सम्बन्धी मान्यता तथा आनन्दवर्धन के रसाश्रयत्व के सिद्धान्त का समन्वय है। साथ ही इनका योग यह है कि शोभाजनक केवल गुण ही है, अलङ्कार नहीं, अलङ्कार तो केवल गुणों द्वारा आयातित सौन्दर्य को किञ्चित् उत्कृष्ट कर देते हैं।

भोजराज का भी अपना मत है। यह भी अलङ्कारों की अपेक्षा, वामन की भांति, गुण को बहुत महत्त्व देते हैं। भामह की भांति वामन ने भी गुणों को रीति का जीवन निश्चित किया था, किन्तु भोजराज गुणों का आश्रय शब्द तथा अर्थ ही मानते हैं। वैशेषिक गुण तो इनकी अपनी ही मान्यता हैं। जयदेव ने दोषपरिहार को दोषाङ्कुश[1] के नाम से अभिहित किया है। पूर्ववर्ती आचार्यों ने ऐसी स्थितियों का निर्देश किया अवश्य था जहां पर दोष-दोष नहीं रह पाते थे, किन्तु उनका नामकरण तथा गुणों के मध्य में गणना करने का प्रयास भोज ने ही किया। गुणों की संख्या की भी बड़ी रोचक कहानी है। आदि आचार्य भरत ने दस गुणों का

१. चन्द्रालोक २।४०।४१ ॥

उल्लेख किया है। भामह ने प्रकारान्तर से तीन ही गुणों का—माधुर्य, प्रसाद तथा ओज-(२।१,२) उल्लेख किया है। दण्डी ने दस, वामन ने शब्द तथा अर्थगत करके २० और भोज ने २४ शब्द तथा २४ अर्थ के सब मिलाकर ४८ भेद किये हैं।

वामन ने श्लेष की परिभाषा 'मसृणत्वं श्लेषः' (३।१।१०॥) कह कर 'मसृणत्वं नाम यस्मिन् सति बहून्यपि पदान्येकवद्भासन्ते।' वृत्ति दी है। प्रायः इसी प्रकार की परिभाषा अन्य आचार्यों ने भी दी है, किन्तु भरत की परिभाषा सर्वश्रेष्ठ और स्पष्ट लगती हैं—

विचारगहनं यत्स्यात् स्फुटं चैव स्वभावतः।
स्वतः सुप्रतिबद्धं च श्लिष्टं तत् परिकीर्तितम्॥

भोज की परिभाषा कि जो सुन्दर श्लिष्ट पदों से युक्त होने का भाव है वही श्लेष है, कोई परिभाषा नहीं हुई। यहां का उदाहरण शिशुपालवध के प्रथम सर्ग से है।

एवमिति। तदेवं दोषलक्षणे वृत्ते क्रमप्राप्ता गुणा लक्षयितव्याः। तदेवमोजःप्रसादादयो गुणाः यमकादयस्त्वलंकारा इति पूर्वप्रसिद्धौ सत्यां विचार्यते। किमेषां मिथो भेदनिबन्धनम्, कथं चालंकारेभ्यो गुणानां पूर्वनिपातः, रसस्य हि दोषाभावादित्रयसंस्कृत एव पदलाभ इत्यस्ति पश्चाद्भावे निबन्धनमिति तत्राह—अलंकृतमपीति। रसावलम्बिनो गुणाः, शब्दार्थावलम्बिनस्त्वलंकारा इति काश्मीरकाः। तदगमकम्। तथा हि—यदि काव्यस्य रसप्रधानात्मकतामाश्रित्यायं विभागः, अलंकारा अपि तर्हि तत्प्रवणा एव। अथ नायं नियमो यत्सर्वत्र रसः प्रधानमिति, तदात्र गुणेष्वपि कथं तदालम्बननियमः। किं चात्र प्रसादादिवत् श्लेषादयोऽपि शब्दार्थगता एव प्रत्यभिज्ञायन्ते तत्कथमयं विभागः। यद्यपि शब्दार्था ज्ञायन्ते, तथापि रसप्रवणा इति चेत्। किमिदं रसप्रवणत्वं, रसाश्रितत्वं तावन्न संभवत्येव। रसप्रतीतिपर्यवसानं च यथाकथंचिदलंकारेष्वपि तुल्यमित्यविचारितरमणीयोऽयं मार्गः। लोकशास्त्रवचनातिगामी कश्चिद्विशेषः शोभापदाभिलप्यो भवन्नस्मिन्श्रव्यशब्दः शब्दार्थौ विषयीकरोति। ततश्च तथाभूतशोभानिष्पत्तिहेतवो गुणास्तदुत्कर्षहेतवस्त्वलंकाराः। यदाह—'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणास्तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः' इत्यन्ये, तदपि न। अस्य रसादिवदव्याप्तेः। नहि तेषां रीतिशरीरान्तर्निवेशः कैश्चिदभ्युपगम्यते, तस्मादालंकारिकसमयानुपाती श्लेषाद्यन्यतमो गुणः। जात्याद्यन्यतमश्चालंकार इति विभागः। तत एव च शोभाकारित्वेन गुणानामलंकारपक्षनिक्षेपं करिष्यति। उद्भूतगुणं तु स्फुटालंकारहीनमपि चमत्कारमावहत्येव। यथा—'का त्वं शुभे कस्य परिग्रहो वा किं वा मदभ्यागमकारणं ते। आचक्ष्व मत्वा वशिनां रघूणां मनः परस्त्रीविमुखप्रवृत्ति॥' यतो गुणयोगो मुख्यस्ततः प्रथममुद्दिष्टो लक्षितश्चैषः। सामान्यगुणस्थितौ गुणान्विभजते—त्रिविधाश्चेति। शब्दः शरीरस्थानीयोऽधिष्ठेयतया प्रथमप्रतिसंधेयतया च बाह्यः। ततस्तदाश्रिता गुणा अपि बाह्याः। अर्थस्त्वात्मतुल्योऽधिष्ठायकतया पश्चादाह्यतया चान्तरस्तेन तदाश्रिता गुणा अप्यान्तराः। अथेदानीं येषामग्रे दोषत्वं ततो गुणभावः। केचिद्विशेषमासाद्यन्ते वैशेषिकाः। पूर्वं दोषा अपि विशेषयोगेन गुणीभवन्तीत्यभिप्रायात्। 'माधुर्यौजःप्रसादाश्च एव गुणाः' इति ध्वनिकारस्य मतं निरस्यति—चतुर्विंशतिरिति। परस्परसंकीर्णत्वादुपाधीनामिति भावः। न चैतदस्माकं मनीषामात्रेण कल्पनमित्याह—आख्याता इति। निष्ठाप्रत्ययेनेदंप्रथमता द्योत्यते। उक्तविशेषादेव शब्दगुणानां पूर्वमाह इत्याह—तेष्विति। अभिधानं द्विविधं विभागतः, लक्षणतश्चेत्याह—नामलक्षणयोगत इति। पदघटनाव्यवस्थितौ गुणान्तरगवेषणम्। अतः प्रथमं श्लेषलक्षणमाह—तत्रेति। श्लिष्टानि

घटितानि पदानि यत्र तस्य भावस्तत्ता। न च घटनामात्रस्य गुणभाव इति शङ्क्यम्। सुपदं शोभना घटनेत्यर्थः। शोभनत्वं घटनाया मसृणत्वमेकताप्रतिभानसामर्थ्यं यद्ग्राह्यं सूत्रमुरःस्थल इति। बीजं चात्र श्रुत्यनुप्रासवत्त्वमलक्षितसंधिता च। तथा हि प्रकृतोदाहरणे उभावित्युकारभकारावोष्ठ्यौ। यदि 'ध्य' इत्याद्यन्तौ वकारयकारौ तालव्यौ। न चायं वर्णानुप्रासः। ईषत्स्पृष्टत्वादिभेदात्। मध्ये दकारवकारौ दन्त्योष्ठ्यौ। 'म्नि' इत्यत्र मकारो भकारेण, नकारो दकारेण समानश्रुतिक इत्यादि बोद्धव्यम्। तथा 'पृथक्प्रवाहौ' इति ककारस्य पवर्गगमनैकता प्रतिभासते, 'प्रवाहावाकाश' इत्यौकारस्यावादेशेन वर्णान्तरनिष्पत्त्या। एवं 'पयसः पतेताम्' इत्यादावुन्नेयम्। पृथगिति पार्श्वद्वये। तेन वक्षःस्थलदक्षिणवामभागयोर्लम्बमानो द्विसरो हार इति लभ्यते। अस्य वक्ष इति। अत्रास्येति पदेन नान्यस्य हार इत्थमनुपमो न चान्यस्य वक्षःस्थलमाकाशवदुन्नतविस्तीर्णमिति भगवतः सकलजगद्विलक्षणत्वध्वनिरित्याराध्याः॥

(२) प्रसाद गुण

प्रसिद्धार्थपदत्वं यत्स प्रसादो निगद्यते॥ ६६॥

यथा—

'गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितं
छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यतु।
विश्रब्धैः क्रियतां वराहपतिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले
विश्रामं लभतामिदं च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः॥ ७६॥'

अत्र 'गाहन्तां महिषा निपानसलिलम्' इत्यादिप्रसिद्धार्थपदोपादानात्प्रसादः॥

वह गुण जिसे प्रसाद कहते हैं वह होता है जो ऐसे पद में रहता है जिसका अर्थ अत्यन्त विख्यात हो, (अर्थात् जिस पद का अर्थ पूर्ण प्रचलित रूप में ही ग्रहण होता है, जिसे समझने के लिए विशेष प्रयास नहीं करना पड़ता है, वहां प्रसादगुण होता है।)॥ ६६॥

जैसे—सींगों से बार-बार आलोडित किए जाते हुए गड्ढे के जल में भैंसे अवगाहन करें, छाया में झुण्ड बनाकर स्थित मृगों का समूह जुगाली का अभ्यास करे, वराहपति भी आश्वस्त होकर तलैया में मोथे की खुदाई करें, और यह ढीली की गई प्रत्यञ्चा वाली मेरी धनुष् भी आराम कर ले॥ ७६॥

यहां 'गाहन्तां महिषा निपानसलिलम्' आदि प्रसिद्ध अर्थवाले पदों का ग्रहण करने से प्रसाद गुण है।

स्व० भा०—भोज का यह लक्षण दण्डी के "प्रसादवत् प्रसिद्धार्थम्" १।४५॥ का रूपान्तर मात्र है। इनके पूर्ववर्ती वामन ने 'श्लथत्वमोजसा युक्तं प्रसादं च प्रचक्षते' कहा है, किन्तु भरत का लक्षण अधिक स्पष्ट है—

अथानुक्तो बुधैर्यत्र शब्दादर्थः प्रतीयते।
सुखशब्दार्थसंयोगात् प्रसादः परिकीर्त्यते॥

प्रसाद गुण सामान्य शब्दों में सरलता का नाम है जिसके कारण किसी भी शब्द का अर्थ विना विशेष कष्टके समझ में आ जाता है।

प्रसिद्धार्थेति। अस्यार्थः प्रागेव विवृतः। प्रसादो द्विधा—वाच्यविषयः, प्रतीयमानविषयश्च। तत्र प्रतीयमानविषयो यथा—'एवंवादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी। लीला-

कमलपत्राणि गणयामास पार्वती ॥' अत्र श्रुतावगतादेव वाक्यात्सज्जादयो हस्तदत्ता इव प्रकाशन्ते ॥ वाक्यविषयो द्विधा भवति । ग्राम्यैरेव ग्राम्य उपनागरैर्वा, पदैः संदर्भनिर्वाहे । आद्यो यथा—'चन्द्रे कलङ्कः सुजने दरिद्रता विकाशलक्ष्मीः कमलेषु चञ्चला । मुखाप्रसादः सधनेषु सर्वदा यशो विधातुः कथयन्ति खण्डितम् ॥' द्वितीयमुदाहरति—गाहन्तामिति । अत्र प्रथमपादे गाहन्तां महिषा इति ग्राम्यम् । निपानसलिलमित्युपनागरम् । शृङ्गैरिति ग्राम्यम् । मुहुरित्युपनागरम् । ताडितमिति ग्राम्यम् । द्वितीयपादे कदम्बक-रोमन्थशब्दावुपनागरौ, शेषाणि ग्राम्याणि । एवं च चरमयोरपि स्वतो विवेचनीयम् । गाहनं विलोडनं तन्निःशङ्कमेव भवतीति विस्रम्भध्वनिः । अत एव त्रासाभावात्प्रकृतिप्रत्या-पत्तौ । शृङ्गाभ्यां पर्यायेण जलताडनं महिषजातिः । छायाश्रयणं यूथबन्धश्च मृगजातिः । चिरपरस्परवार्तानभिज्ञानाद्विवा निष्पलायनेन रोमन्थोऽपरिचित इवासीत्तस्येदानीं शिक्षा-क्रमेण यदि परिचयः स्यादित्यभ्यस्यत्विति ध्वनिः । वराहपतिभिरिति न यादृशतादृशा-नामस्मन्मृगयासंरम्भगोचरत्वमिति प्रकाश्यते । ननु चात्र कर्तृप्रक्रमभेदो दूषणं कस्मान्न भवति । नैतत् । आपातशौण्डेषु परिणतिभीरुषु च महिषेषु स्वभावभीतेषु मृगेषु न तथायं संरम्भते यथा पुनरावृत्तिचतुरेषु प्रकारकोविदेषु च वराहेषु । ततश्च तैषामुचितक्रियासु कर्तृतामात्रमेव न सोढवानिति सांप्रतं कर्तृताभ्यनुज्ञानेन व्यज्यते । ततस्तृतीयायामौचित्य-निवेशिन्यां प्रक्रमभेदोऽप्युचित एवेति व्यक्तिविवेककारादीनामपि संमतः पन्थाः । इदं चेति चकारेण चेदस्मद्वनुरारूढमवतीर्णं वा तदेव संरम्भगोचराणां भयविस्रम्भाविति कोप-प्रकर्षः । अत एवास्मदिति बहुवचनं सजीवम् ॥

(३) समता गुण

यन्मृदुप्रस्फुटोन्मिश्रवर्णबन्धविधिं प्रति ।
अवैषम्येण भणनं समता साभिधीयते ॥ ६७ ॥

यथा—

'यच्चन्द्रकोटिकरकोरकभारभाजि
बभ्राम बभ्रुणि जटापटले हरस्य ।
तद्वः पुनातु हिमशैलशिलानिकुञ्ज-
झाङ्कारडम्बरविरावि सुरापगाम्भः ॥ ७७ ॥'

अत्रोपक्रमादासमाप्ति स्फुटबन्धस्य निर्वाहात्समत्वम् ॥

मृदु, प्रस्फुट, तथा उन्मिश्र वर्णों द्वारा जो रचना विधान है उसी के अनुसार समान रूप से जो कथन है वही समता कहा जाता है ॥ ६७ ॥

जैसे—जो चन्द्रमा की असंख्य किरणवल्लरियों के समूह से संयुक्त भगवान् शङ्कर की पिशङ्ग जटाओं में घूमता रहा, वही हिमालय पर्वत की कन्दराओं में झङ्कारपूर्ण प्रतिध्वनि करने वाला गङ्गा का जल आप लोगों की रक्षा करे ॥ ७७ ॥

यहां प्रारम्भ से लेकर अन्त तक स्फुटबन्ध का निर्वाह होने से समता नामक गुण है ।

स्व० भा०—मृदु, प्रस्फुट तथा मिश्र वर्णों से रचना का विधान है । स्वरों में ह्रस्व, व्यंजनों में पञ्चम, और दन्त्य वर्ण मृदु अथवा कोमल कहे जाते हैं । दीर्घस्वर, णकार को छोड़ कर टवर्ग के

वर्ण र, फ, श, ष, ह तथा दन्त्यों के अतिरिक्त अन्य वर्णों के संयोग ये स्फुट कहे जाते हैं। शेष व्यञ्जन, और दन्त्यसंयोग को उन्मिश्र, मध्यम आदि कहा जाता है। इनमें से किसी एक का आश्रय लेकर रचना में आदि से अन्त तक जब उसी का निर्वाह किया जाता है तब समतागुण होता है। प्रस्तुत छन्द में आदि से अन्त तक स्फुट वर्णों से बने बन्ध का ही निर्वाह होने से यहां समता गुण है। वर्णों के विषय में मम्मट के ये छन्द स्मरणीय हैं—

मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः स्पर्शा अटवर्गा रणौ लघू।
अवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना तथा॥
योग आद्यतृतीयाभ्यामन्त्ययो रेण तुल्ययोः।
टादिः शषौ वृत्तिदैर्घ्ये गुम्फ उदधत ओजसि॥ काव्यप्र० ८।९-१०॥

जहां तक समता की परिभाषा का प्रश्न है, दण्डी की बहुत स्पष्ट है—

समं बन्धेष्वविषमं ते मृदुस्फुटमध्यमाः।
बन्धा मृदुस्फुटोन्मिश्रवर्णविन्यासयोनयः॥ १।४७॥

यदिति। प्रतीत्यन्तेन मार्गो व्याख्यातः। अवैषम्येण भणनमित्यनेन वाग्भेदः स्वरेषु ह्रस्वान्त्याः, व्यञ्जनेषु वर्गान्त्या दन्त्याश्च मृदवः कोमला वर्णाः। दीर्घाः स्वराः व्यञ्जनेषु णकारवर्जटवर्गरेफशषहा अदन्त्यसंयोगाश्च प्रस्फुटाः। शेषाणि व्यञ्जनानि दन्त्यसंयोगाश्चोन्मिश्रमध्यमा वर्णास्तेषामन्यतमैर्वर्णैर्यो बन्धनविधिस्तं प्रति यदवैषम्येण उपक्रमनिर्वाहादिना करणेन भणनमुक्तिः सा समता। न चेयं दोषाभावमात्रमेकजातीयवर्णपरिचयप्रबन्धप्रवेशनिर्वाहाणां सिद्धिः शक्तिव्युत्पत्तिरूपतया प्रधानोत्कर्षपर्यवसानात्। न च दोषाभावस्यैवंरूपता केनचित्प्रतिपिद्धा। अत एव श्लेषप्रसादयोरपि गुणभावः सिद्धः। ननु 'रक्ताशोककृशोदरी क्व नु गता त्यक्त्वानुरक्तं जनं नो इष्टेति मुधैव चालयसि किं वाताभिभूतं शिरः। उत्कण्ठाघटमानषट्पदघटासंघट्टदृष्टच्छदस्तत्पादाहतिमन्तरेण भवतः पुष्पोद्गमोऽयं कुतः॥' इत्यत्र वैषम्यं दोष एव स्यात्। न ह्यत्र मुक्तस्थाने स्फुटता। तस्माद्यत्किंचिदेतत्। तदेवं निर्वाह्यत्रैविध्यात्समता त्रिरूपा भवति ग्राम्या परुषा उपनागरिका च। तत्रोन्मिश्रप्रायसंदर्भनिर्वाहे ग्राम्या। यथा—'पुरः पाण्डुच्छायं तदनुकपिलिम्ना कृतपदं ततः पाकोद्रेकादरुणगुणसंवर्धितवपुः। शनैः कोशारम्भे स्थपुटनिजविष्कम्भविषमे वने पीतामोदं बदरमरसत्वं कलयति॥' परुषा यथा—यच्चन्द्रेति। बालेन्दुमयूखमुकुलजालनिचुलितासु परमेश्वरजटावल्लरीषु भ्रमणाध्यासादिवाद्यापि हिमाद्रिकुञ्जेषु झाङ्कारिगङ्गाम्भ इति प्रतीयमानोत्प्रेक्षा। उपनागरिका यथा—'वसने परिधूसरे वसाना नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः। अतिनिष्करुणस्य शुद्धशीला मम दीर्घां विरहव्यथां व्यनक्ति॥' अत्रास्मत्सहाध्यायिनः पूर्वार्धमेवोपनागरिकोदाहरणं मन्यन्ते। उत्तरार्धे हि निष्केत्यादिवर्णनिवेशनादुन्मिश्रत्वमेव। इयमपरोन्मिश्रा संदर्भजातिर्यत्कोमलकठोरवर्णतुल्यतया निर्वहणमिति॥

(४) माधुर्यगुण

या पृथक्पदता वाक्ये तन्माधुर्यमिति स्मृतम्।

यथा—

'स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः।
वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे चिरेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः॥ ७८॥'

अत्र पदेषु संहिताभावात्पृथक्पदत्वेन माधुर्यम्।

वाक्य में पदों की जो अलग-अलग स्थिति है, उसी को माधुर्य नाम से स्मरण किया गया है। (६८अ)

(कालिदास तपस्विनी पार्वती के ऊपर प्रथम जल वृष्टि के समय ऊपर से नीचे की ओर बह उठी जल बिन्दुओं का वर्णन करते हैं कि)—प्रथम बरसी हुई जल की बूंदे एक क्षण के लिए नेत्ररोमों पर रुकीं, फिर अधरों पर टकराई और वहां से उभरे उरोजों पर गिर कर चूर चूर हो गईं। (इस प्रकार) उस पार्वती की त्रिवलियों में ढुलक आई हुई बूंदे बड़ी देर में उसके नाभि गह्वर को प्राप्त कर सकीं ॥ ७८ ॥

यहां पदों में संहिता—सन्धि का अभाव होने से पदों के अलग-अलग रहने से माधुर्य गुण है।

स्व० भा०—दण्डी ने माधुर्य की परिभाषा इस प्रकार दी है—

मधुरं रसवद् वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः।
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः ॥ १।५१ ॥

किन्तु भोज इस गुण की परिभाषा में वामन से अधिक प्रभावित दृष्टिगोचर होते है। इन्होंने इसकी परिभाषा 'पृथक्पदत्वं माधुर्यम्। ३।१।२० ॥ बन्धस्य पृथक्पदत्वं यत्तन्माधुर्यम्। पृथक् पदानि यस्य स पृथक्पदः, तस्य भावः पृथक्पदत्वम्। समासदैर्घ्यनिवृत्तिपरं चैतत्।' वामन समास की दीर्घता नहीं चाहते हैं, किन्तु भोज तो संहिता भी नहीं स्वीकार करते। संहिता व्यञ्जनों को छोड़ कर शेष वर्णों की अत्यन्त समीपता को कहते है। "परः सन्निकर्षः संहिता।" कहा गया है।

या पृथगिति। पृथगिव पदानि यत्र भासन्ते स पृथक्पदः संदर्भ इत्युपमागर्भो बहुव्रीहिश्च। तस्य भावस्तत्ता। माधुर्यमुक्तस्वरूपं तच्छब्दगतं पृथक्पदतया विच्छिद्यत इति। तदेव माधुर्ययुक्तम्। औचित्येन हि समासव्यतिरेक आकृष्यते कदाचिदनुद्धतो वा समासः। अनुद्धतिरनुल्लेखः। तदुक्तम्—'अवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्यं घटना तथा' इति। अत एव 'समासनिवृत्तिपरमेतत्' इति वामनः। कश्चित्समासो रसौचित्येनाकृष्टः परिभाव्यमानो मनीषिभिश्चमत्कारकारणं भवति। यथा—'तेषां गोपवधूविलाससुहृदां राधारहःसाक्षिणां क्षेमं तत्र कलिन्दशैलतनयातीरे लतावेश्मनाम्। विच्छिन्ने स्मरतल्पकल्पनमृदुच्छेदोपयोगेऽधुना ते नूनं जरठीभवन्ति विगलन्नीलत्विषः पल्लवाः॥' अत्र तच्छब्दो येषां विलाससंपत्तिस्वभावलब्धप्रकर्षाणामनुभव एव साक्षीति विशेषप्राधान्यविवक्षया नसमासेनानिगमनात्। न या कापि वधूः, अपि तु गोपसंबन्धिनी कृतगोपाचारचातुरीपराधीना। नान्यत्र नीरसप्राये क्वचन सौहार्दं किं तु विलास एव। सोऽपि न यः कश्चित्, अपि तु गोपवधूसंबन्धीत्येवं बहूनां पिण्डीभावविवक्षया समास एवोचितः। एतावतैवाच्छेदोऽप्युचित एव। सर्वस्वायमानत्वात्तत्संबन्धजनितस्य विशेषस्य पृथगेवोक्तिरुचिता। राधारहःसाक्षिणामित्यत्रापि समासः पूर्ववत्। यद्यपि राधासंबन्धस्य वैवक्षिकं प्राधान्यमिति न समासः प्रतिभासते तथापि यदन्यस्य राधारहसि निवेशः क्षम इति भावयन्सुहृदामित्यपहाय साक्षिणामित्युक्तवान्। साक्षी हि तटस्थ एव व्याप्रियते। तेनावश्यकर्तव्यसाक्षिताप्राधान्यविवक्षया संभवति विरोधादित्यवसेयम्। स्थिता इति। पक्ष्मावस्थानेऽधरताडने स्तनतटनिपाते वलिभङ्गस्खलने नाभिनिम्नप्राप्तौ जलबिन्दूनां कर्तृतानिर्देशात्स्वाच्छन्द्यमुन्मीलितम्। तथा च—गौर्या बाह्यसंवेदनाभावस्तेन भगवद्रतोऽनुरागप्रकर्षः प्रथमपादेन। निदाघतापच्छिदा रजोहरणेन वसुंधरा सौरभोन्मीलनेन मयूरकेकायितादिना त्रिभुवनस्यापि ये चमत्कारास्पदमिति ध्वनितम्। तथाभूतानामथ संवेदने पूर्व एवाभिप्रायः। ताडितेत्याकारेण च्छेदोन्मेषः पयोधरेत्यादावोकारः। धकारतकारौ ॥

(५) सुकुमारता गुण

अनिष्ठुराक्षरप्रायं सुकुमारमिति स्मृतम् ॥ ६८ ॥

यथा—

'मण्डलीकृत्य बर्हाणि कण्ठैर्मधुरगीतिभिः ।
कलापिनः प्रनृत्यन्ति काले जीमूतमालिनि ॥ ७९ ॥'

अत्र सर्वकोमलत्वेऽसति श्लेषविपर्ययदोषशैथिल्याभावाद्बाहुल्याद्वर्णानामनैष्ठुर्यात्सौकुमार्यम् ॥

जिस वाक्य में ऐसे पद हों जिनमें परुष वर्ण अधिकतर न हो, तो वहां सुकुमारता स्मृत की जाती है ॥ ६८ ॥

जैसे—अपने पंखों को गोलाई में फैलाकर, कण्ठ से कर्णप्रिय गीत गाते हुये मयूर वर्षाकाल में नाचते हैं ॥ ७९ ॥

यहां सभी वर्णों के कोमल ही न होने पर भी श्लेष के विपर्यय से होने वाले शैथिल्य दोष से रहित होने के कारण तथा अधिकतर वर्णों के कठोर न होने से सुकुमारता है।

भोजराज ने लक्षण तथा उदाहरण दोनों दण्डी से लिया है। (काव्यादर्श १।६९–७० ॥) केवल लक्षण वाले छन्द का उत्तरार्ध नहीं दिया गया। उसका भाव वृत्ति में है। दण्डी ने कहा था कि—"बन्धशैथिल्यदोषोऽपि दर्शितः सर्वकोमले।" अर्थात् छन्द में कोमल वर्ण अधिकतर होने चाहिए किन्तु केवल कोमल ही नहीं। यदि केवल कोमल वर्ण ही होंगे तो शैथिल्य दोष हो जायेगा जो कि श्लेष गुण के विपरीत पड़ता है। 'प्रायः' पद का प्रयोग करके इसी अभीष्ट का प्रदर्शन किया गया है।

वामन इस गुण को अपारुष्यरूप मानते हैं। 'अजरठत्वं सौकुमार्यम्' ३।१।२१ ॥ बन्धस्य अजरठत्वमपारुष्यं यत् तत् सौकुमार्यम्।'

अनिष्ठुरेति। समस्त एव गुम्फे द्वित्राणि त्रिचतुराणि प्रस्फुटान्यक्षराणि निवेश्यन्ते स किलान्तरान्तरोपदंशन्यायेन चित्रास्वादपर्यवसायी सुकुमार इति प्राचां मतम्। अत एव समतायां भेदः। मृद्वीकापाकः पुनरन्यादृशो वक्ष्यते। अनिष्ठुरे सुकुमारव्यवहारो लोके दृष्टः। मण्डलीकृत्येत्यादौ प्रथमपादे मण्डेति, कृत्येति, बर्हेति अत्र संयोगत्रयम्। द्वितीयपादे ण्ठेति, र्मेति च संयोगद्वयमुपन्यस्य गीतिदीर्घस्वरनिवेशो रूपान्तरमादाय विशेषशोभाहेतुः। तृतीयपादे केतिं न इति प्रनृत्यन्तीति च दीर्घविसर्गसंयोगा इति व्यन्तरम्। चतुर्थपादे दीर्घस्वरा एवान्तरान्तरेति सैव वासना। ननु अनिष्ठुराक्षरमयत्वं सुकुमारतेति वक्तव्ये प्रायशब्दः केन प्रयोजनेनेत्यत आह—अत्रेति। न चायमर्थगुणः स हि वाक्यार्थे धर्मिणि निरूप्यते। अयं तु पदसमुदाय इति युक्तं शब्दगुणेषु परिगणनम्। संमितत्वमन्यथा भविष्यति ॥

(६) अर्थव्यक्ति गुण

यत्र संपूर्णवाक्यत्वमर्थव्यक्तिं वदन्ति ताम् ।

यथा—

'वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥ ८० ॥'

अत्र वाक्यपरिपूर्णतयार्थसमर्पकत्वादर्थव्यक्तिः ॥

जिस वाक्य में सम्पूर्णता हो वहाँ अर्थव्यक्ति कहते हैं ॥ (६९ अ) ॥

जैसे—शब्द तथा अर्थ की सिद्धि के लिए शब्द तथा अर्थ की ही भांति एक में मिले हुए संसार के माता तथा पिता भगवती पार्वती तथा भगवान् शिव की वन्दना करता हूँ ॥ ८० ॥

यहां वाक्य के पूर्ण होने से सभी अर्थ प्राप्त हो जाने से अर्थव्यक्ति नामक गुण है।

स्व० भा०—वाक्य की सम्पूर्णता का अभिप्राय उस वाक्य से है जिसमें सभी अपेक्षित अर्थों के वाचक पद हों। इस वाक्य में 'मैं' अर्थ का वाचक कोई पद नहीं है, किन्तु 'अस्मद्युत्तमः' नियम के अनुसार 'वन्दे' क्रिया का उच्चारणमात्र करने से मैं अर्थ का स्वतः आक्षेप हो जाता है।

दण्डी ने इसीलिए इस गुण को नेयत्व दोष का विपर्यय सा माना है—'अर्थव्यक्तिरनेयत्वमर्थस्य' ॥ १।७३ ॥ नेयार्थत्व दोष इसीलिए है क्योंकि उसमें अर्थ की कल्पना करने पर वाक्य में पूर्णता आती है और यह गुण है इसके विपरीत होने से।

वागर्थाविवेति। **अत्र वन्दे इत्युत्तमपुरुषवचनेनैवाहमिति प्राप्तम् 'अस्मद्युत्तमः' इत्यत्र स्थानिनीत्यभिधानात्। किमिति कर्मापेक्षायां पार्वतीपरमेश्वराविति। तावपि किंभूतावित्यतो जगतः पितराविति। तेन लक्ष्मीनारायणादिवैधर्म्येण नमस्कार्यत्वम्। एकशेषशब्देनैव मातृशब्दार्थः। स्त्रीपुंसयोरित्यौचित्याद्वागर्थाविवेति। किमर्थं नमस्कुरुत इत्यत्र वागर्थप्रतिपत्तये इति। तदेवं यादृशो यावांश्च विशेषणविशेष्यप्रकारोऽभिमतः स सर्व एव वागित्याद्युपात्तशब्दसमुदायमात्रेण निष्प्रत्यूहमवगम्यत इत्यर्थव्यक्तिशब्दार्थव्याख्यानेन स्फुटयति**—अत्रेति। अर्थसमर्पकत्वादित्यनेन शब्दगुणता व्यक्तीकृता ॥

(७) कान्ति गुण

यदुज्ज्वलत्वं बन्धस्य काव्ये सा कान्तिरुच्यते ॥ ६९ ॥

यथा—

'निरानन्दः कौन्दे मधुनि विधुरो बालबकुले
न साले सालम्बो लवमपि लवङ्गे न रमते।
प्रियङ्गौ नासङ्गं रचयति न चूते विचरति
स्मरंल्लक्ष्मीलीलाकमलमधुपानं मधुकरः ॥ ८१ ॥'

अत्र बन्धस्य छायावत्त्वेनौज्ज्वल्यं तदेव च कान्तिरुच्यते ॥

बन्ध की जो उज्ज्वलता है वही काव्य में कान्ति कही जाती है ॥ ६९ ॥

जैसे—कुन्द पुष्प के पराग में आनन्द न पाता हुआ, (पुष्पित न हो पाने के कारण) छोटे बकुल वृक्ष से भी खिन्न, (नीरस तथा असमय के कारण) सालवृक्ष से भी सहारा न पाने वाला भ्रमर लवंग लता में भी लेशमात्र रमण नहीं करता। प्रियङ्गु लता के साथ भी सम्बन्ध नहीं जोड़ता है और न तो आम्रवृक्ष की ही ओर जाता है। बस वह तो लक्ष्मी की विलास भूमि कमल के पराग के पान की ही याद किया करता है ॥ ८१ ॥

यहां पद रचना के छायायुक्त होने से उज्ज्वलता है। यह उज्ज्वलता ही कान्ति है।

स्व० भा०—यहां भोज की परिभाषा 'मघवा शब्द विडौजा टीका' हो गई है। कान्ति पद का पर्याय जो उज्ज्वलत्वपद है, वह भी स्पष्ट नहीं। रङ्ग में उज्ज्वलता का ज्ञान तो है, किन्तु काव्य में इसका अर्थ स्पष्ट नहीं होता। वामन ने भी 'औज्ज्वल्यं कान्तिः' ३।१२४ कह कर "बन्धस्यौज्ज्वलत्वं नाम यदसौ कान्तिरिति। तदभावे पुराणच्छायेत्युच्यते।" वृत्ति दी है। यहाँ

अर्थ स्पष्ट नहीं है। दण्डी की भी परिभाषा स्पष्ट नहीं है! भोज के टीकाकार रत्नेश्वर ने यह प्रश्न उठाया है—"किं पुनरिदमुज्ज्वलत्वं नाम। केचिदाहुरनुप्रासबहुत्वमिति। तदसत्।... एवंविधं हि पुराणच्छायमामनन्ति। कान्तिविपर्ययः पुराणी छाया।...तस्माद् अप्रहतपदैरारम्भः संदर्भस्य कान्तिः।...गुरुत्वमिति प्रहतम्। गौरवमित्यप्रहतम्।...कान्तवर्णानुप्रासोऽपि कान्त एव भवति इति मत्वानुप्रासोत्कटमुदाहरति।..."

भोज द्वारा उपस्थित किए गए उदाहरण से ऐसा अवश्य लगता है कि 'कान्तवर्णानुप्रासता' ही उज्ज्वलता है। किन्तु आगे के औदार्यगुण को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि प्रहतपदत्व औदार्य है और अप्रहतपदत्व कान्ति। प्रहत में पद अनेक वर्णों से युक्त होते हैं जब कि अप्रहत कम ही वर्णों से।

यदुज्ज्वलत्वमिति। **किं पुनरिदमुज्ज्वलत्वं नाम। केचिदाहुरनुप्रासबहुत्वमिति, तदसत्— 'तस्याः सुस्राव नेत्राभ्यां वारि प्रणयकोपजम्। कुशेशयपलाशाभ्यामवश्यायजलं यथा॥' इत्यादावनुप्रासबहुलता संभवति। एवंविधं हि पुराणच्छायमामनन्ति। कान्तिविपर्ययः पुराणी छाया। यथा—'व्रजति गगनं भङ्गात्क्या दलेन सहोपमाम्' इति। अत एवाह— 'पुराणचित्रस्थानीयं तेन वन्द्यं कवेर्वचः' इति। तस्मादप्रहतपदैरारम्भः संदर्भस्यैव कान्तिः। तद्यथा—कुसुमस्य धनुरिति प्रहतम्। कौसुममित्यप्रहतम्। जलनिधाविति प्रहतम्। अधिजलधीत्यप्रहतम्। गुरुत्वमिति प्रहतम्। गौरवमित्यप्रहतमित्यादि। अत एव प्रहतशङ्का। चमत्कारित्वं तु सहृदयाह्लादकत्वमस्ति हि तुल्येऽपि वाचकत्वे पदानां कश्चिदवान्तरो विशेषो यमधिकृत्य किंचिदेव प्रयुञ्जते महाकवयो न तु सर्वम्। यथा— पल्लव इति वक्तव्ये किसलयमिति। स्त्रीति वक्तव्ये कान्तेति। कमलमिति राजीवमित्यादि। एतदेव महाकविभिरुपेयते। 'कत्ते मणाम इच्चं सच्चं कविए समं समग्गेसु।...सीमठेउण मुस्मितम्मि सच्चण वञ्चेअ॥' कान्तवर्णानुप्रासोऽपि कान्त एव भवतीति मत्वानुप्रासोत्कटमुदाहरति—निरानन्द इति। अस्ति कुन्दे मधु परं न कमलसजातीयमित्यसक्तो नानन्दमलभत। कुन्दस्येति प्रहतम्, कौन्दमित्यप्रहतम्। बालत्वे बकुलकुसुमानां न मधुप्रादुर्भाव इति एतत्काले रतिं न प्राप्स्यानिति विधुर इत्यनेन व्यज्यते। कालान्तरेऽपि साले मधुनोऽसंभवादालम्बः प्रत्याशामात्रबन्धोऽपि न तस्यासीत्। आमोदप्रकर्षादन्तः क्षणं निपत्य रसमनासादयंल्लवङ्गमनुसरतीति लवमित्यनेन ध्वन्यते। एवमुत्तरार्धेऽपि पदस्वरसो गवेषणीयः। उक्तमेव विशेषमभिसंधाय व्याचष्टे—अत्रेति। छायौज्ज्वल्यं कान्तिरित्येकार्थतया लोके प्रसिद्धं तदिह यथा शब्देषु संगच्छते तथा पूर्वाचार्यप्रसिद्ध्या विवेचनीयमित्यभिप्रायः॥**

(८) औदार्यगुण

विकटाक्षरबन्धत्वमार्यैरौदार्यमुच्यते।

यथा—

'आरोहत्यवनीरुहं प्रविशति श्वभ्रं नगैः स्पर्धते
खं व्यालेढि विचेष्टते क्षितितले कुक्षोदरे लीयते।
अन्तर्भ्राम्यति कोटरस्य विलसत्यालम्बते वीरुधः
किं तद्यन्न करोति मारुतवशं यातः कृशानुर्वने॥ ८२॥'

अत्र विकटाक्षरबन्धत्वे नृत्यद्भिरिव पदैर्यद्वाक्यरचना सा उदारता॥

विकट अर्थात् विशाल या अधिक अक्षरों से रचित बन्धगुण को औदार्य कहा जाता है। (७ अ)

जैसे—एक वातव्याधि से पीडित व्यक्ति की भांति वायु के वश में पड़कर अग्नि वन में वृक्षों पर चढ़ जाती है, छिद्रों में प्रविष्ट हो जाती है, पर्वतों से (ऊँचाई आदि में) मुकाबला करती है, आकाश को चाट जाती है, पृथ्वी पर लोटती है, लताविताने मे आकार समा जाती है, खोहों के भीतर घुमड़ती है, फैलती है, लताओं का सहारा लेती है। (इस दशा में) वह क्या क्या नहीं करती ॥ ८२ ॥

यहाँ पर विशाल पदबन्ध होने पर नाच से रहे पदों द्वारा जो वाक्य की रचना है वही उदारता है।

स्व० भा०—यहाँ विकटता का अर्थ कठोरता आदि नहीं है। इस पद का अर्थ है विशाल अथवा अधिक। जब अधिक वर्णों के संयोग से कोई बड़ा पद बन जाता है, यद्यपि छोटा हो सकता है, तब उस वाक्य में विद्यमान रहने वाला गुण औदार्य कहा जाता है। आचार्य वामन ने इस शब्द का अर्थ लीला सी कर रहा पद माना है। वामन के ही शब्दों में—"विकटत्वमुदारता ।३।१।२२॥ बन्धस्य विकटत्वं यदसावुदारता यस्मिन् सति नृत्यन्तीव पदानीति जनस्य वर्णभावना भवति तद्विकटत्वम्। लीलायमानत्वमित्यर्थः।" दण्डी के अनुसार—

उत्कर्षवान् गुणः कश्चित् यस्मिन्नुक्ते प्रतीयते।
तदुदाराह्वयं तेन सनाथा काव्यपद्धतिः ॥ १।७६ ॥

विकटेति। विकटैरक्षरैर्बन्धो यस्य तस्य भावस्तत्त्वम्। अस्ति तावन्नृत्यन्तीव पदानीति सहृदयानां क्वचिदर्थे व्यवहारः। स च न निर्विषयो नाप्यस्य विशेष इति तत्प्रमाणकमेव गुणान्तरमवस्थितमिति कश्चिद्व्याचष्टे। तथा तु न कथंचित्स्वरूपमुद्भिद्य दर्शितं भवति। अन्ये तु विसर्गानुप्रासादिग्रन्थिलत्वमनेनाभिमतमित्याहुः। तदपि न। और्जित्याबहिर्भावप्रसङ्गात्। तस्मादिदमत्र वाच्यम्—विकटानि विशालानि। प्रभूतानीति यावत्। तथाभूतान्यक्षराणि दीर्घानुस्वारादिरूपाणि सहृदयसंवेदनीयानि। अत एव नृत्यतुल्यता। यथा हि—नृत्येङ्गानामङ्गुल्यादीनामाकुञ्चनप्रसारणक्रमेण रञ्जकत्वं तथात्रापि। तथाहि—आरोहतीत्यादौ प्रथमपादे आकारोकाराभ्यां प्रसारः। हत्यवेति संकोचः। नीरुह इतीकारविसर्गाभ्यां प्रसरणम्। नगैः स्पर्धत इति विसर्गसंध्यक्षरैर्विकाशः। द्वितीयपादेऽपि प्रसारणेनोपक्रम्यत इति नैव निर्वहणमन्तरान्तरवहोरक्रमो भवति। न चात्र यतीनां संनिवेशोऽभिमतः। मारुतवश यात इत्यनेनोन्मादरोगगृहीत इति शब्दमूलानुस्वान(सार)बलेनावगम्यते। उन्मादगृहीतोऽपि वृक्षारोहणादिकमसमञ्जसमव्यवस्थितं च करोति। वन इत्यनेन यत्र सर्वथैव प्रतीकारासंभव इति निरङ्कुशोन्मादचेष्टितमेवोपबृंहयति। नगैः स्पर्धते पर्वतोच्छ्रायमनुकरोतीति दूरप्रसृत उन्मादः। स्वं व्यालेढीत्यत्रापि तथैवाभिप्रायः। किं तद्यदिति न शक्यते गणयितुमुन्मादचेष्टितानीति प्रकाशन्तेत्येति ग्रन्थिलाविच्छेदात्। प्रसारणस्य पर्यवसानं श्वेत्यनेन प्रविशतीति संकोचः। अत एव परस्मैपदयोनिरन्तरमावापः कान्तिविशेषकरत्वादुपादेय एव भवतीति ॥

(९) उदात्तता

श्लाघ्यैर्विशेषणैर्योगो यस्तु सा स्यादुदात्तता ॥ ७० ॥

यथा—

'श्रुत्वायं सहसागतं निजपुरात्त्रासेन निर्गच्छतां
शत्रूणामवरोधनैर्जललवप्रस्यन्दतिम्यत्पुटाः ।

शुभ्रे सद्मनि पल्लविन्युपवने वाप्यां नवाम्भोरुहि
क्रीडाद्रौ च सशाद्वले विवलितग्रीवैर्विमुक्ता दृशः ॥ ८३ ॥'

अत्र शुभ्रे पल्लविनि नवाम्भोरुहि इत्यादिश्लाघ्यविशेषणोपादानादुदात्तता ॥

श्लाघ्य अर्थात् सहृदयों के हृदय को आकृष्ट करने में सक्षम विशेषणों का जो योग है, उसे उदात्तता कहते हैं ॥ ७० ॥

कोई कवि किसी राजा के प्रताप का वर्णन करते हुए लिखता है कि हे महाराज, केवल यह सुनते ही कि आप आ गए हैं, अपने नगर से मारे भय के एकाएक भाग रहे शत्रुओं की रानियाँ अश्रुधार बहने से अवरुद्ध पलकों वाली निगाहें अतिशय धवल प्रासादों पर, अत्यन्त पल्लवित उद्यानों पर, नवविकसित कमलों से भरी हुई पुष्करिणियों पर तथा हरी हरी घासों से भरे विहार पर्वतों पर गर्दन घुमा कर डालती रहीं ॥ ८३ ॥

यहाँ पर शुभ्र, पल्लविनि, नताम्भोरुहि इत्यादि आह्लादक विशेषणों के ग्रहण से उदात्तता है।

स्व० भा०—रानियों का भय से भागने और अपने विलास के सहचरों तथा स्थलों को मुड़ मुड़ कर देखने का अत्यन्त स्वाभाविक ढंग से समर्थ शब्दों में चित्रण किया गया है। ये विशेषण विलास के मनोरम स्थलों को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत सा कर रहे हैं।

श्लाघ्यैरिति। उत्कर्षवानुदात्तो लोके प्रसिद्धः। बहूनां मध्ये यः श्लाघते स उत्कर्षवान्। तेन श्लाघ्यत्वमुदात्तलक्षणम्। तदिह काव्ये वाक्यार्थपोषाधायकतया सहृदयहृदयाकर्षकत्वेन श्लाघाविषयत्वे विशेष्यत्वं च वाक्यार्थोऽतस्तद्विशेषणपदेषु यथोक्तरूप उत्कर्षोऽभिमतोऽनुदारश्चायं गुण इति स्वरूपविशेषकृतात्कान्तिशरीरान्तर्गताच्चमत्कारित्वाद्विद्यते। नचात्र मुहुरिरभिमतेति नैकमपि कान्तिरूपमस्ति। अत एव पुराणच्छायमुदाहरति—श्रुत्वेति। श्रुतिमात्रेणेयं दशा दर्शने तु न ज्ञायते कथं भविष्यतीति। यमिति न ह्यन्यस्य श्रुतमात्रस्य तादृशप्रभावसंभावना। सहसेति यावत्क्रीडासहचराणां धवलगृहादीनामपि च प्रेमानुरूपमापृच्छ्यते तावानपि समयो न लब्ध इति ध्वन्यते। आगतमिति चेदिच्छति सिद्धमेवागमनमिति द्योतयति—निजेति। यस्यान्येन धर्षणं स्वप्नेऽपि न बुद्धिविषय आसीत्। सोपद्रवस्यापि यस्य न त्यागः कदापि कथंचिदभूदिति व्यज्यते। निर्गच्छतामिति हृदयवैमुख्येन पुनः पुनरवतिष्ठमानानामसंभवद्रूपं निर्गमनमिति द्योत्यते। शत्रूणामिति बहुवचनेन यदैकावस्कन्दमुद्दिश्यायं प्रचलति तदा सर्वेषामियं दशा भवतीति प्रत्याय्यते। अत एवासमासः सजीवः। वियोगवेदनादूनमानसानामुद्गतोऽपि बाष्पस्रावादन्तरेव विच्छिद्यत इति लवपदेन ध्वन्यते। पुनः समागमाशंसनशीलानाममङ्गलभिया बाष्पस्तभ्नो लवपदरहस्यमित्येके मन्यन्ते। अन्यस्य बाष्पस्य निर्गमनानुपपत्तौ पुटयोरार्द्रभावमात्रम्। शुभ्र इति यत्र चन्द्रातपेन पल्लविताः कान्तयः क्षणदाविलासविहारेषु कामपि रसमात्रामुत्कर्षयन्तीति व्यनक्ति, तदनन्तरमेव व्याप्यामित्याह—नवाम्भोरुहीति। पूर्ववत्संभोगोद्दारः। सशाद्वल इत्यनेन रतिकुतूहलोत्कण्ठितानामद्रिशृङ्गारोहणश्रान्तानां तदेवास्तरणमिति प्रकटीक्रियते। विवलितग्रीवतया च पद्भ्यां पलायनमेव न तु शरीरवलनमपीति। शृङ्गाराद्भयानक एव रसः स्थायीति ध्वनितम्। तदेतत्सर्वमभिप्रेत्याह—अत्रेति ॥

(१०) ओज

अरीतिमत्करणोक्तमभिप्रेत्यौजोलक्षणमाह—

ओजः समासभूयस्त्वम्

यथा—

'जयति भुजगरज्जुग्रन्थिनिष्पीडितेन्दु-
स्रवदमृतनिवृत्तप्रेतभावैः कपोलैः।
विरचितनुतिबन्धो मूर्ध्नि सद्यः पुरारेः
परिणतबहुकल्पब्रह्मणां ब्रह्मघोषः ॥ ८४ ॥'

अत्र भुजगरज्जुग्रन्थीत्यादिना समासभूयस्त्वादोजः ॥

समास की अधिकता ओज है। ७१ (अ)

जैसे—शिर पर साँपों की रस्सी की गांठ से कसे हुए चन्द्रमा से टपक रही अमृत बिन्दुओं से प्रेतभाव दूर किया जा रहा है जिनका उन बीते हुए अनेक कल्पों के ब्रह्माओं के कपोलों द्वारा शिव हेतु तत्काल बताई हुई स्तुति के विशिष्ट पदों से संयुक्त मन्त्र ध्वनियाँ सर्वोत्कृष्ट हैं ॥ ८४ ॥

यहाँ पर 'भुजगरज्जुग्रन्थि' इत्यादि के प्रयोगों के कारण समास की अधिकता होने से ओज गुण है।

स्व० भा०—जब छन्द में अधिक समस्तपदों का प्रयोग होता है, तब उसमें एक विशेषता आ जाती है। उस प्रकार के शब्दों को पढ़ने से एक विशेष प्रकार की अनुभूति होती है। यही ओज नाम का गुण है। वामन की परिभाषा 'गाढबन्धत्वमोजः' ३।१।५॥ है' किन्तु इनका ओज भोज के और्जित्य का पर्याय है। भोज ने यह परिभाषा दण्डी से ली है।

क्योंकि दण्डी ने भी इस गुण की परिभाषा 'ओजःसमासभूयस्त्वम्' (१।८०) दी है, और निर्देश किया है कि—

तद्गुरूणां लघूनां च बाहुल्याल्पत्वमिश्रणैः।
उच्चावचप्रकारं तद् दृश्यमाख्यायिकादिषु ॥ वही १।८१॥

ओज इति। वैपुल्यवृत्तैर्बहुशब्दस्येयसुनि भूय इति रूपम्। तथा च समासस्य भूयस्त्वं वैपुल्यविकटत्वमिति यावत्। न चैवं गौडीया रीतिरेवेयमिति वाच्यम्। क्वचित्समासभूयस्तामात्रस्यैवौचितीवशेन विशेषशोभावहत्वात्। यथा—

'वाद्यन्ति दिग्गजगण्डकषणैर्भग्नस्रस्ता' इति। न च समासाभावो नोचितः। नह्येक एव समासो रूपभेदमादाय गुणत्वमनलंकारत्वं च प्रयोजयतीति किमनुपपन्नम्। एवं प्रकृतोदाहरणेऽपि। तथा हि—परिणतः परिणामं गताः। बहूनां कल्पानां ब्रह्माण इति चतुर्णां पदार्थानां पिण्डग्वे चत्वारि पदानि समबहुव्रीहिरूढिभिर्भुजगरज्जुभिरिति ग्रन्थिदृढताबोधनाय रूपकम्। अत इव निवीत्युपसर्गस्तात्पर्यवान्। सद्यो विरचितनुतीत्यनेन कपालानामसाधारणो व्यापारः। बन्धो हि ब्राह्मरूपस्तालवादिकमन्तरेण न निष्पद्यते। जीवनानन्तरमेव त्रासावेशात्स्तुतिरूप एव ब्रह्मघोष उदचरदिति भगवतस्त्रैलोक्यग्रहे निरङ्कुशप्रभावः सद्यःपदेन सूच्यते। अथवा चेदागमानामात्मलाभानन्तरमेव परमेश्वरस्तुतिरूपतात्पर्यावसानमिति सर्वस्या अपि श्रुतेः परमेश्वरप्रवणत्वमनन्यसाधारणभक्तिप्रह्वतां च कविरभिप्रैति। पुरारेरित्यनेन संहारिरूपता भगवतः प्रकृतपोषानुगुणा प्रकाशिता ॥

(११) और्जित्य गुण

और्जित्यं गाढबन्धता।

यथा—'अस्मिन्नीषद्ललितविततस्तोकविच्छिन्नभुग्नः
किंचिल्लीलोपचितविततः पुञ्जितश्चोच्छ्रितश्च ।
धूमोत्पीडस्तरुणमहिषस्कन्धनीलो दवाग्नेः
स्वैरं सर्पन्सृजति गगने गत्वरानभ्रभङ्गान् ॥ ८५ ॥'

अत्र गाढबन्धस्य स्पष्टमेव प्रतिभानादौजित्यम् ॥

गाढबन्धता औजित्य है ।

जैसे—थोड़ा थोड़ा सिमट कर फैलता हुआ, कुछ कुछ टुकड़े टुकड़े में बँटता हुआ, कुछ कुछ सुन्दरतापूर्वक इकट्ठा होकर फैल रहा, पिंडीभूत, ऊपर उठा हुआ, और तरुण भैंसे के कन्धे की भाँति नीला नीला यह दावाग्नि का धूम्र पिण्ड मन्द मन्द बढ़ता हुआ आकाश में चञ्चल मेघखण्डों की रचना कर रहा है ॥ ८५ ॥

यहाँ गाढबन्धता की स्पष्ट ही प्रतीति होने से औजित्य गुण है ।

स्व० भा०—सन्दर्भ की महाप्राणता को गाढत्व कहते हैं । अतः जिस छन्द में महाप्राणता का सन्निवेश होता है, उसमें औजित्य उपस्थित समझा जाता है । महाप्राणता का अभिप्राय महाप्राण वर्णों का ही प्रयोग नहीं है, अपितु उसका अर्थ है ऐसे ऐसे वर्णों का क्रम से वाक्य में सन्निवेश जिनके कारण छन्द में बीच बीच में अवरुद्धता तथा गति आती रहती है । प्रस्तुत छन्द में ही जिस क्रम से मृदु, स्फुट और उन्मिश्र वर्णों का प्रयोग किया गया है, उसके अनुसार प्रथम तथा तृतीय चरणों की अपेक्षा द्वितीय तथा चतुर्थ पदों में विशेष गाढता है । यह गुण भोज की अपनी उपज है । वामन ने गाढबन्धत्व को ओज का लक्षण माना है ।

औजित्यमिति । ऊर्जितो महाप्राणस्तस्य भाव औजित्यं तत्र संदर्भस्य महाप्राणता गाढत्वमन्तराविलम्बितनयद्भिः प्रयोगैः कुण्डिलत्वम् । गुणसामान्यलक्षणादतिप्रसङ्गो नास्ति । तथा हि—प्रकृतोदाहरणे प्रथमपादे विच्छिन्नभुग्न इत्यत्र तालव्यद्वयम् । कण्ठ्यदन्त्यसंयोगौ प्रस्फुटोन्मिश्रौ । अन्ये मृदवः । द्वितीयपादे औष्ठ्योपध्मानीयतालव्यचतुष्कसंयोगाः प्रस्फुटाः । स्वरव्यञ्जनमध्ये विसर्गपाठ उभयसंज्ञाभिप्रायेणेति दुर्गसिंहः । तेन तदादेशस्यापि व्यञ्जनत्वम् । अन्ये मृदवः तृतीयपादे दन्त्योष्ठ्यदन्त्यकण्ठ्यसंयोगा उन्मिश्राः । अन्ये मृदवः । चतुर्थपादे रेफान्तसंयोगा मृदवो य इति न कापि कठोरता प्रतिभासते । तथा च—प्रथमतृतीयाभ्यामत्र द्वितीयचतुर्थयोर्गाढत्वम् । तथा—'हस्ते लीलाकमलमलकं बालकुन्दानुविद्धम्—' इत्यादेरगाढप्रथमतृतीययोरस्त्यस्ति धारणी महाप्राणता व्यक्तेत्याह—अत्रेति ॥

(१२) प्रेय गुण

प्रेयः प्रियतराख्यानं चाटूक्तौ यद्विधीयते ॥ ७१ ॥

यथा—'सौजन्याम्बुनिधे बुधप्रिय गुणप्राकार धर्मद्रुम
प्रारोह प्रतिपन्नवत्सल महात्यागिन्विवेकाश्रय ।
लक्ष्म्यावास मनस्विनीमनभिजव्यापारदक्षागुरो
श्रीमन्मुञ्ज किमित्यमुं जनमुपस्प्रष्टुं दृशा नार्हसि ॥ ८६ ॥'

अत्र सौजन्याम्बुनिध इत्यादीनां प्रियार्थानां पदानामुपादानं प्रेयः ॥

प्रेय गुण वहां होता है जिसमें दूसरे को अत्यन्त अच्छी लगने वाली बातें कही जाती हैं। इसका विधान दूसरों की चाटुकारिता (चापलूसी) के लिए किया जाता है ॥ ७१ ॥

जैसे—हे सज्जनता के महासिन्धु, विद्वानों के प्रिय या विद्वानों को प्रेम करने वाले, गुणों की राशि अथवा गुणों की चरमसीमा, धमरूपी वृक्ष के अङ्कुर अर्थात् धर्मतरु के अवलम्ब, शरणागतों पर स्नेह करने वाले, महात्यागशाली, ज्ञान के आधार, लक्ष्मी के निधान, मानिनियों में भी कामव्यापारप्रवृत्त कराने में निपुण, श्रीमान् मुञ्ज महाराज ! आप इस व्यक्ति को भी अपनी दृष्टि से क्यों नहीं स्पर्श करना चाहते ? अर्थात् इस व्यक्ति पर आप अपनी कृपादृष्टि क्यों नहीं डालते ? ॥ ८६ ॥

यहाँ पर 'सौजन्याम्बुनिधे' इत्यादि अच्छे लगने वाले अर्थों से समन्वित पदों का प्रयोग करने से प्रेयोगुण है।

स्व० भा०—यहाँ कोई व्यक्ति महाराजाधिराज मुञ्ज की प्रार्थना करता हुआ दिखाया गया है। वह व्यक्ति मुञ्ज के लिए ऐसे-ऐसे शब्दों का प्रयोग करता है जो पूर्णतः चाटूक्तियों से भरे हैं। चाटुकारिता में प्रयुक्त पदों द्वारा वे भी गुण किसी व्यक्ति विशेष में बताये जाते हैं जो उसमें नहीं होते। न होने पर भी उनकी सम्भावना करने से व्यक्ति को अच्छे लगते हैं। मुञ्ज में चाहे ये गुण न रहे हों फिर भी उनकी उपस्थिति बताई गई है।

प्रेय इति। **परप्रियाख्यानं चाटूक्तिस्तत्र यद्विधीयते स प्रेयो नाम गुणः किं तु क्रियत इत्याह—प्रियतराख्यानमिति। प्रत्ययांशे तात्पर्यं लोके साधारण एव प्रिय इत्युच्यमाने यस्तत्रासाधारणः प्रकर्षोऽवसीयते स इत्यर्थो भवति। एतेन लक्षणपदे ईयसुन् व्याख्यातः। उक्तिखण्डैरुपचितोऽर्थः सन्नसन्वा भवतु कविप्रतिकृष्टा सूक्तिरेक एव त्रिभुवने भूयसीनामपामधिष्ठानम्। एवं भवानपि तत्स्थानीयस्य सौजन्यस्येति प्रतीयते। बुधप्रियेति बहुव्रीहितत्पुरुषाभ्यामर्थद्वयमुपात्तम्। सूक्ष्मगुणप्रतिबिम्बभासितया यावद्भिमतदायितया च प्रीतिध्वनितया च प्रकर्षमर्पयति—गुणप्राकारेति। यथा प्राकारे उपर्युपरि शिलादीनामवस्थितिरेवमहमहमिकया त्वयि गुणानाम्। अथवा यथा प्राकारः कलत्रावेष्टणस्थानमेवं भवानपि गुणानामेव प्रोच्यते। धर्मद्रुमप्रारोहेति। प्रारोहः प्ररोहोऽङ्कुरः। तेनातिजरतो भग्नानेकविक्रमादित्यादिशाखस्य धर्मतरोस्त्वमग्रिमः संतानोऽवलम्बः। यदि वाऽधोमुखी लम्बमानलता प्ररोहः। तथा च धर्मतरोरुपरि ब्रह्मलोकादिवद्धविस्तारस्य भगवद्रूपः प्रारोहो भूपृष्ठमधितिष्ठतीति कोऽपि प्रीतौ प्रकर्षः। प्रतिपन्नवत्सलेति। उपकर्तव्यतया प्रतिपन्नः स्वीकृतस्तत्र वत्सलो झटिति स्नेहार्द्रान्तःकरणस्तेनाङ्गीकृतभङ्गभीरुतामात्रेण पुरुहूतादिवन्नापि श्लेषाविश्लेषान्विततया बलिकर्णादिवत्किं तु भवान् सिन्धुरिव वाञ्छितादिकमुपकारं करोतीति समानं पूर्वेण। महात्यागिन्निति। त्यागिनामपि यः पूज्यः स महात्यागी तेन नूनं दधीचिप्रभृतयो विश्राणितार्था अपि न तव तुल्यतामारोढुमीशत इति पूर्ववत्। विवेकाश्रय इति। यथाकर्तव्यताज्ञानं विवेकस्तस्याश्रयो विश्रान्तिस्थानं यदि त्वं मूलस्तम्भो नाभूस्तदा कमाश्रित्य विवेकप्रासादः पदमारोपयेदित्यादिकं स्वयमूहनीयमिति तदेतत्सर्वं सूचयन्नाह—प्रियार्थानां पदानामिति। प्रियार्थानां प्रीतिप्रकर्षार्थानाम्॥**

(१३) सुशब्दता

व्युत्पत्तिः सुप्तिङां या तु प्रोच्यते सा सुशब्दता।

यथा—

'तस्याजीवनिरस्तु मातरवमा ज़ीवस्य माजीवतो
भूयाद्वाऽजननिः किमम्ब जनुषा जन्तोर्वृथा जन्मनः ।
यस्त्वामेव न वन्दते न यजते नोपैति नालोकते
नोपस्तौति न मन्यते न मनुते नाध्येति न ध्यायति ॥ ८७ ॥'

अत्र अजीवनिः-अजननिः-इत्यादीनां सुबन्तानां वन्दते-यजते-इत्यादीनां तिङन्तानां च व्युत्पत्तिः सुशब्दता ॥

सुप् तथा तिङ् प्रत्ययों के प्रयोग की जो निपुणता है वही सुशब्दता कही जाती है। (कोई भगवती का भक्त अन्य किसी देवता के पूजक के जीवन की निरर्थकता बताते हुये कहता है कि) हे माता, जो तुम्हारी ही वन्दना नहीं करता, तुम्हारा ही भजन नहीं करता, तुम्हारे ही पास नहीं आता, तुम्हें ही नहीं देखता, तुम्हारी ही स्तुति नहीं करता, तुम्हें ही नहीं मानता, तुम्हारा ही साक्षात्कार नहीं करता, तुम्हारे ही विषय में अध्ययन नहीं करता और तुम्हारा ही ध्यान नहीं करता, उसका जीवन ही भले न रहे किन्तु इस प्रकार का अपमान न हो, यदि हो भी तो उसका पुनर्जीवन न हो, क्योंकि हे माता, ऐसे व्यर्थ जन्म वाले प्राणी के जन्मग्रहण से लाभ ही क्या ? ॥ ८७ ॥

यहाँ पर अजीवनिः, अजननिः इत्यादि सुबन्तों का तथा वन्दते, यजते आदि तिङन्तों की विशिष्ट उत्पत्ति-रचना-से सौशब्द्य है।

स्व० भा०—जिन प्रत्ययों के योग से संज्ञा, सर्वनाम तथा विशेषण शब्दों के सभी विभक्तियों में रूप बनते हैं, उनको सुप् प्रत्यय कहते हैं। ये संख्या में २१ होते हैं। जिन प्रत्ययों के लगने से क्रियाओं के रूप विभिन्न लकारों में चलते हैं उनको तिङ् कहते हैं। जिस व्यक्ति को इनका ज्ञान जितना ही अधिक होगा, छन्दोरचना के लिए उसे उतनी ही सरलता से शब्द मिलते जायेंगे और कहीं शब्ददारिद्र्य नहीं होगा। इसके साथ ही कहीं एक धातु से निष्पन्न होने वाले विभिन्न पद विभिन्न अर्थ प्रदान करेंगे और कहीं अनेक धातुओं का ही पूरा पद्य का पद बनता रहेगा। इस पूरी कला से एक विशेष आह्लाद उत्पन्न होगा। यही शब्दप्रयोग की दक्षता काव्य में सुशब्दता के नाम से अभिहित है। प्रस्तुत श्लोक में ही जन् धातु का जितने विभिन्न रूपों और अर्थों में तथा अन्तिम दो चरणों में केवल क्रियापदों का प्रयोग हुआ है, शायद ही कोई दूसरा व्यक्ति कर सकता। इसके लिए व्याकरणज्ञान की नितान्त आवश्यकता है।

व्युत्पत्तिरिति। **विशिष्टा उत्पत्तिर्व्युत्पत्तिः। सुबन्तानां तिङन्तानां च बहूनामपि चकारादिमन्तरेण घटनासौष्ठवार्पकतया चमत्कारकारित्वमित्यर्थः। 'आक्रोशे नञ्यनिः'। किमर्थमिदमाशास्यत इत्यत आह—जीवतोऽवमान इति। जीवतोऽवमाननं माभून्मरणमपि तदपेक्षया वरमित्यर्थः। आयुःकर्मवशात्तथाभूतोऽपि जीविष्यतीति यदि तदाऽजननिरनुपपत्तिरेव भूयात्। कुत इत्यत आह—किमिति। जनिनेति पुंल्लिङ्गनिर्देशश्चिन्त्यः इकः स्त्रीप्रकरणे विधानात्। जननिरुत्पत्तिरिति साहचर्याच्च। कस्येदं सर्वमाशास्यत इत्यत आह—यस्त्वामेवेति। त्वदन्यदेवताप्रवणस्य जन्मादिकं विफलमिति वदतः कोऽपि भगवतीविषये भक्तिप्रकर्षोऽवसीयते। अन्ये तु व्याचक्षते कवेः पदपरिचयान्तरी व्युत्पत्तिः। पदं च सुप्तिङन्ततया द्विविधम्। तयोरेकमुभयं वा यत्र निवेश्यमानं व्युत्पत्तिमभिव्यनक्ति तत्र सौशब्द्यमिति लक्षणार्थः। तथा हि—अजीवनिरिति सोपाधिसिद्धकृदन्तं जीवितमुप-**

न्यस्य तदेव जीवस्य जीवत इति निरुपाधिसिद्धसाध्यार्थाभिधायिकृदन्तमुपन्यस्तवान्। मातरवमेति मातृत्वमुभयथोत्प्रेक्षितवान्। द्वितीयपादे जनिजीवमिवोपक्षिप्य जनिना जन्मेति तमेव प्रकारद्वयेनोपात्तवान्। एकैकधातुप्रपञ्चानां सुबन्तानां दुर्घटमेकसंदर्भप्रवेशं तत्तदुचितक्रियासंगमेन विहितवानिति सुबन्तव्युत्पत्तिरिति दिक्। अवमेति अस्त्वित्यनुषज्यते। वृथादि वा पूर्वेणापि संबध्यते। अथोत्तरार्धे तिङन्तव्युत्पत्तिः। तत्र पूर्वप्रकारभेदो न घटते। अतः साभिप्रायाणामेवोत्प्रेक्षणं सा वाच्या। तथा हि—वन्दत इति जायमानमात्राभिवाद्यतया त्रिभुवनमातृता। यजत इति समस्तदेवतारूपत्वम्। उपैतीति सर्वोपगम्यतया जगच्छरण्यत्वम्। आलोकत इति विश्ववर्ति यावन्मनोहरत्वम्। स्तौतीति समस्ताभिमतदायिता। मन्यत इति निखिलज्ञेयस्वरूपता। मनुत इत्यवधारणीयतया तत्त्वात्मकता। अध्येतीति कान्तारादिस्मर्तव्यतया दुर्गादिभेदेन प्रपञ्च्यमानत्वम्। ध्यायतीति निदिध्यासनविषयतया प्रत्यग्ज्योतीरूपतेति परापरभेदभिन्ना भगवती स्तुता भवति। मन्यते मनुते इति यथा सामान्यविशेषाभिधायिनौ तथाध्येति ध्यायतीत्यपि। तिङन्तानां च दुर्घटोऽपि परस्परमन्वयः केनापि प्रकारेण घटित इति पूर्ववद्बोद्धव्यः। तदेतदाह—अत्रेत्यादिपदमुभाभ्यां संबध्यते। तेन जीवितवर्गो जनिवर्गश्चाभिमतः। मतिः सकृदेवावृत्त इति नोक्तः भूयसा हि लोके व्यपदेशो दृश्यत इति ॥

(१४) समाधिगुण

समाधिः सोऽन्यधर्माणां यदन्यत्राधिरोपणम् ॥ ७२ ॥

यथा—

'प्रतीच्छत्याशोकीं किसलयपरावृत्तिमधरः
कपोलः पाण्डुत्वादवतरति तालीपरिणतिम्।
परिम्लानप्रायामनुवदति दृष्टिः कमलिनी-
मितीयं माधुर्यं स्पृशति च तनुत्वं च भजते ॥ ८८ ॥

अत्र प्रतीच्छति-अवतरति-अनुवदति-इत्यादिचेतनक्रियाधर्माणामचेतनेऽधरादिपूपचारेणाध्यारोपणं समाधिः ॥

समाधिगुण वहाँ होता है जहाँ दूसरे पदार्थ के धर्मों का दूसरे पदार्थ पर अध्यारोप किया जाता है ॥ ७२ ॥

जैसे—(विरहिणी के) अधर अशोकपल्लवों की कान्ति को लौटा देना चाहते हैं, पीलेपन के कारण उसके कपोल ताली के परिपाक को उतर रहे हैं। इसकी निगाहें—आँखें—लगभग सूख गई कमलिनी के सदृश हो रही हैं, इस प्रकार यह विरहिणी नायिका माधुर्य को भी छू रही है और कृशता को भी प्राप्त कर रही है ॥ ८८ ॥

यहाँ प्रतीच्छति, अवतरति, अनुवदति इत्यादि चेतन की क्रिया के धर्मों का अचेतन अधर आदि में गौण रूप से अध्यारोप करने से समाधि गुण है।

स्व० भा०—परिभाषा के अनुसार उदाहरण अधिक उपयुक्त है क्योंकि यहाँ पर अशोक किसलय की छटा, पके ताली का पीलापन, म्लान कमलिनी का स्वरूप तथा माधुर्य का स्पर्श आदि ऐसे गुण हैं जो दूसरों के हैं किन्तु विरहिणी के अङ्ग-प्रत्यङ्गविशेष में उतरते दिखाये गये हैं।

वामन ने इस गुण की परिभाषा—"आरोहावरोहक्रमः समाधिः" (३।१।१२) दी है जब कि भोज ने दण्डी की परिभाषा से सीधे प्रेरणा ली है—

अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना ।
सम्यगाधीयते यत्र स समाधिः स्मृतो यथा ॥ १।९३ ॥

समाधिरिति । **सम्यगाधानमारोपणं समाधिः । सम्यक्त्वं च वक्रतालोकातिगत्वं न तदधिकभावः । तदिदं लक्षणे स्फुटम् । कमलानि निमीलन्ति कुमुदान्युन्मिषन्ति च' इत्यादौ व्यभिचाराच्च । तेन संबन्धिता न धर्मविशेषणमत्राभिमता । अलंकाराद्भेदश्चतुर्थे वक्ष्यते—प्रतीच्छतीति । प्रत्येषणं दीयमानस्य ग्रहणं चेतनधर्मः स विरहवत्या अचेतनेऽधरे समारोपितः । किसलयकान्तिमितो मन्दीभूततामवगमयति । देयस्य दातुरपसरणेऽन्यत्र संक्रान्तौ च प्रत्येषणविर्वाहाच्च । तथा चाशोककिसलयेभ्योऽपि कोमलपाटलत्वमधरस्येति माधुर्यपोषः । तदभिमुखप्रवर्तनमवतरणमपि चेतनधर्मः सोऽचेतने कपोले समारोपितः किंचित्पाण्डुतामवद्योतयति । न च प्रत्येषणवत्सामस्त्येन ग्रहणमपि तु संमुखीभावमात्रमिस्याशयात् । तथा च पूर्ववन्माधुर्यं पुष्णाति, अनुवादोऽपि चेतनधर्म एव सोऽचेतनायां दृष्टावारोपितः पर्युषितकमलच्छायामखण्डामेवात्र बोधयति । परप्रकर्षाभिमुखेऽपि विप्रलम्भे कदाचित्संकल्पोपस्थितप्राणनाथायां दृष्टौ कान्तीभवतीति प्रायः पदेन सूचितम् । स्पर्शस्य माधुर्यविषयेऽसंभवात्स्पृशतीत्यप्यारोपः । प्रथमविग्रहशोभाविर्भावमभिव्यनक्ति—चेतनक्रियेति । प्रकृतापेक्षया क्रियाक्रियावतोः सादृश्याभावान्नेयं गौणी किं तूपचरितैव शुद्धेत्याह—उपचारेणेति । एतेन रूपकादिभ्यो भेदः समर्थितः ॥**

(१५) सूक्ष्मगुण

अन्तःसंजल्परूपत्वं शब्दानां सौक्ष्म्यमुच्यते ।

यथा—

'केवलं दधति कर्तृवाचिनः प्रत्ययानिह न जातु कर्मणि ।
धातवः सृजतिसंहृशास्तयः स्तौतिरत्र विपरीतकारकः ॥ ८६ ॥'

अत्र श्रुतावगतवाक्यार्थस्य सृजति-संहरति-शास्ति-स्तूयते-इति शब्दानामन्तःसंजल्परूपेण सूक्ष्मतया सूक्ष्मत्वम् ।

किसी वाक्य में भीतर ही भीतर वार्तालाप होना अर्थात् एक सामान्य अर्थ निकलने के बाद पुनः पूर्वप्रयुक्त पद से एक और अर्थ का प्रतीत होना शब्दों का सौक्ष्म्य गुण कहा जाता है । (७३ अ)

सृजति, संहरति, शास्ति, ये धातुयें केवल कर्तृवाच्य में ही अर्थज्ञान कराने के लिए प्रत्ययों को ग्रहण करती हैं, कर्मवाच्य में नहीं । केवल 'स्तूयते' धातु विपरीत है ।

जैसे सृजति (निर्माण), संहरति (विनाश करना), शास्ति (उपदेश देना), स्तूयते (प्रार्थित होता है), इन शब्दों को सुनने के बाद वाक्यार्थ ज्ञात हो जाने पर भी भीतर ही भीतर वार्तालाप—अर्थान्तर का प्रत्यायन कराने से यहाँ सूक्ष्मता के कारण सौक्ष्म्य गुण है ।

स्व० भा०—उदाहरण के छन्द में कुछ धातुओं को केवल कर्तृवाच्य में और एक को केवल कर्मवाच्य में अर्थप्रत्यायन के लिए प्रत्ययों का ग्रहण करने का निर्देश है । इसके विपरीत नहीं । अतः इनका सीधा अर्थ होगा कि परमेश्वर लोक का निर्माण करते हैं, विनाश करते हैं, अनुशासन करते हैं, किन्तु कर्मवाच्य करने से इनका अर्थ होगा कि परमेश्वर गढ़े जाते हैं, नष्ट किए जाते हैं, उपदिष्ट होते हैं । यह अर्थ ईश्वर के सन्दर्भ में ठीक नहीं । इसी प्रकार 'स्तूयते' का कर्मवाच्य में

अर्थ है स्तुत किए जाते हैं, सभी उनकी स्तुति करते हैं, किन्तु उलटा करने पर कर्तृवाच्य में इसी का अर्थ होगा कि 'वह किसी की स्तुति करते हैं। यह अनुचित है।

यहाँ पर यही निर्देश है कि इन धातुओं का वाच्य विशेष में क्या उचित अर्थ सम्भव हो सकता है, वाच्य परिवर्तन करने से उनका जो अर्थ हो सकता है इसका केवल भीतर ही भीतर ज्ञान हो जाता है, शब्दतः उपात्त नहीं। अतः एक अर्थ निकल जाने पर पाषाण में समाई मूर्ति की भांति एक दूसरा ही अर्थ प्रतीत होने लगता है। यह केवल सूक्ष्मता के कारण है। औचित्य तथा अनौचित्य और तद्रूप अर्थ का ज्ञान सूक्ष्मता से ही सम्भव है। सूक्ष्म रूप से अर्थ प्रतीति होने के कारण यहाँ सौक्ष्म्य नामक गुण है।

अन्तरिति। **यथा करितुरगादिरूपकाणां पाषाणशिलादावभिव्यक्तमवस्थितौ सूक्ष्मरूपता तथा शब्दानां श्रूयमाणानामपि कथमन्यथा वाक्यार्थभावनदशायां शेषनियमेनोन्मेषः। केवलमित्यादौ सृजति-संहरति-शास्तयो धातवः कर्तर्येव भगवद्विषये प्रयुज्यमानाः प्रत्ययान्प्रयोजयन्ति न कर्मणीति वाक्यार्थो यदा भाव्यते तदैवायं सृजति संहरति शास्ति, न तु सृज्यते संहियते शिष्यते इति शब्दाः प्रकाशन्ते। एवं स्तौतिर्विपरीतकारकः। अत्र स्तौतिः कर्मण्येव प्रत्ययप्रयोजको न कर्तरीति वाक्यार्थभावनासमय एवं किंचित्स्तौति किंतु सर्वैः स्तूयत एवेति शब्दा उन्मिषन्ति। तदेतदाह—अत्र श्रुतावगतेति। यावदेव वाक्यं श्रूयमाणमवगम्यते तस्यैव भावनापल्लवः पश्चादवसीयत इति वटबीजन्यायमुपोद्बलयति। सोऽयं सहृदनप्रतीतिसाक्षिकोऽर्थः॥**

(१६) गाम्भीर्य गुण

ध्वनिमत्ता तु गाम्भीर्यम्

यथा—

'मौलौ धारय पुण्डरीकममितं तन्वात्मनो विक्रमं
चक्राङ्कं वह पादयुग्ममवनीं दोष्णा समभ्युद्धर।
लक्ष्मीं भ्रूनिकटे निवेशय भव ज्यायान्दिवौकस्पते-
विश्रान्तःकरणैकचौर तदपि ज्ञातं हरिः खल्वसि॥ ९०॥'

अत्र नाभ्यां पुण्डरीकधारणं परिमितविक्रमत्वं चक्राङ्कितकरत्वं दंष्ट्रया वसुधोद्धारणं वक्षःस्थलनिवेशितलक्ष्मीकत्वमिन्द्रावरजत्वं च ध्वनयतीति गाम्भीर्यम्॥

व्यंग्य अर्थ से युक्त होना गाम्भीर्य है।

जैसे—चाहे तुम कमल (श्वेत छत्र) को मस्तक पर धारण कर लो, अपने पौरुष को चाहे जितना अपरिमित बनाओ, चक्र अथवा चक्र के चिह्न को दोनों चरणों में धारण करो, पृथ्वी को भुजाओं से ही उठाओ, लक्ष्मी को चाहे अपनी भौंहों के पास रखो और इंद्र से भी क्यों न बढ़ जाओ, फिर भी हे सम्पूर्ण जगत् के प्राणियों के अन्तःकरण को चुराने वाले अब पहचान लिए गए हो कि निश्चय ही तुम विष्णु ही हो—हरि ही हो॥ ९०॥

यहाँ नाभि में कमल धारण, सीमित पराक्रम, चक्र से हाथ का अङ्कित होना, (वाराह रूप में) दाढों पर धरती का उद्धार करना, वक्षस्थल पर लक्ष्मी को धारण करना तथा इन्द्र का छोटा भाई होना आदि ध्वनित हो रहा है, अतः यहाँ गाम्भीर्य है।

स्व० भा०—अभिधा व्यापार द्वारा एक अर्थ निकल आने पर संयोग, विप्रयोग आदि के द्वारा एक दूसरा भी अर्थ प्रतीत होता है। कहा गया है कि—

"अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते। संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद्व्यापृतिरञ्जनम्" ॥
मम्मट २।१९ ॥

तथा—

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता। अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य संविधिः ॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः। शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥

अर्थात् जिन पदार्थों का साहचर्य अथवा विरोध आदि स्वभावसिद्ध है, सहज है, उनका एक अर्थ स्पष्ट रूप से अभिधेय अर्थ निकलने के बाद भी प्राप्त होता है। इस द्वितीय अर्थ का कारण व्यञ्जना शक्ति होती है। जहाँ व्यञ्जना द्वारा अर्थान्तर प्रतीत होता है वहाँ गाम्भीर्य गुण होता है। प्रस्तुत प्रसंग में ही विष्णु की नाभि में कमल, हाथ में चक्र, परिमित रक्षा शक्ति, पृथ्वी का दंष्ट्रा से उद्धार आदि सहज हैं। विपरीत अर्थ, शिर पर धारण आदि 'अभिधा से निकलने के बावजूद भी सहज अर्थ का प्रत्यायन होता ही है। अतः गाम्भीर्य गुण है।

ध्वनिमत्तेति। **ध्वननं ध्वनिर्व्यञ्जनात्मा व्यापारः। स द्विविधः—शब्दध्वनिः अर्थध्वनिश्च। येन शब्द एव ध्वन्यते स शब्दध्वनिरभिमत इति केचित्, तन्न। शब्दस्यैव ध्वन्यतानङ्गीकारात्। नाभ्यां पुण्डरीकधारणमित्यादि व्याख्याग्रन्थभङ्गप्रसङ्गाच्च। तस्माच्छब्दाश्रितं ध्वननं शब्दध्वनिरर्थाश्रितं चार्थध्वनिरिति वक्तव्यम्। प्रभूतध्वनिसंबद्धपदकदम्बकस्य गाम्भीर्यम्। अथवा ध्वनयतीति ध्वनिः शब्दात्मको यत्रास्ति पदसमुदायस्तद्गाम्भीर्यम्। तथा हि पुण्डरीकपदप्रस्तावात्सितच्छत्रे नियताभिधानशक्तिकं कांस्यतालानुस्वानस्थानीयां सिताम्भोजव्यक्तिमुपजनयच्चोपलभ्यते। अनेकार्थनियताभिधानशक्तिकत्वाच्च। तदाह—'अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते। संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद्व्यापृतिरञ्जनम् ॥' इति। एवं विक्रमादिषु। तथापि विक्रमः पौरुषं परिशिष्टः पादविक्षेपश्च। चक्रं चक्रवर्तिचिह्नं रेखासंनिवेशलक्षणमायुधविशेषश्च। अभ्युद्धरणं सम्यग्लाभपालनप्रापणमुत्थापनं च। लक्ष्मीः संपद्देवताविशेषश्च। ज्यायान् प्रशस्यतरो वयोज्येष्ठश्च। इदमेवाभिसंधाय दिवौकस्पतेरित्यन्तं व्याचष्टे—अत्रेति। तदपीत्यपिशब्देन विरोधद्योतिना हरिभावमाचरन्निति प्रतीयते पुण्डरीकधारणादेरुभयतुल्यत्वान्मौलावित्यादिविरुद्धम्, अतस्तद्विपरीतस्थानीयं विष्णौ ध्वनयत्प्रसिद्धिबलाभ्यादिकमेव ध्वनयति। प्रसिद्धिरपि हि विशिष्टार्थप्रतिपत्तौ कारणमेवेत्यभिप्रेत्य शब्दध्वनिप्रस्तावेऽप्यन्यद्व्याख्यातवान्। अन्यथा तु प्रकृतासंगतिशङ्कया न वाच्यार्थपुष्टिः स्यात्। सोऽयं विरोधरूपमूलः प्रतीयमानव्यतिरेको वाक्यार्थः शब्दध्वनिश्चात्र जीवभूतः। विश्रान्तःकरणैकचोर इत्यनेन त्रिभुवनमनोहरता। दिवानिशमन्तःकरणानि चोरयन्नभ्यासकौशलादिवात्यन्तप्रसिद्धानि नारायणचिह्नानि गोपायसीति प्रतीयमानोत्प्रेक्षा। ननु वस्तुध्वनिं शब्दशक्तिमूलमेके न मन्यन्ते। कथं तर्हि 'पन्थिअ न एत्थ सत्थरमत्थि मणं पत्थरत्थले गामे। उन्नअपओहरं पेक्खिअ उण जइ वससि ता वससु ॥' इत्यादौ वस्तुवर्णनं? न ह्यत्र श्लेषन्यायो न वा समासोक्तिन्यायः संभवति। किं चालंकारध्वनावपि शब्दशक्तिरेवोपयुक्तेत्यक्षुण्णः शब्दध्वनिः। ये तु वदन्ति शब्दस्याभिधाव्यतिरिक्ता वृत्तिरेव नास्तीति, लक्षणापि तैरनङ्गीकरणीया स्यात्। न चानङ्गीकर्तव्येति वाच्यम्। "गङ्गायां घोषः" इत्यत्र सप्तम्यनन्वयापत्तेः। प्रकृत्यनुगतस्वार्थाभिधानं हि विभक्तीनां व्युत्पन्नमिति घोषप्रतियोगिकाधिकरणभावयोग्यः कश्चिदर्थो गङ्गापदस्य**

वक्तव्यः। तथा च कान्या नाम लक्षणा। एवं पुण्यत्वादिप्रतीतिस्तत एव भवन्ती ध्वनन्मुपस्थापयतीत्यादिकमस्माभिः काव्यप्रकाशविवरणे प्रपञ्चितम्। इह तु ग्रन्थगौरवभिया विरम्यते ॥

(१७) विस्तर गुण

व्यासेनोक्तिस्तु विस्तरः ॥ ७३ ॥

यथा—

'जनः पुण्यैर्यायाज्जलधिजलभावं जलमुच-
स्तथावस्थं चैनं निदधतु शुभैः शुक्तिवदनैः।
ततस्तां श्रेयोभिः परिणतिमसौ विन्दतु यथा
रुचिं तन्वन् पीनस्तनि हृदि तवायं विलुठति ॥ ९१ ॥'

अत्र कथमहं त्वत्कुचतटे विलुठामीत्यभिप्रायस्य विस्तरेण प्रकाशितत्वादयं विस्तरः॥

विस्तृत रूप से (किसी विषय का) प्रतिपादन करना विस्तर गुण है ॥ ७३ ॥

जैसे—(कोई नायक किसी नायिका से कहता है कि) हे विशाल स्तनों वाली, यह जन तो यह चाहता है कि अपने समस्त सत्कर्मों के फलस्वरूप यह सागर का जल बने, उससे मेघ बने और इस मेघावस्था में स्थित यह अतिसुन्दर शुक्तियों के मुखो से पिया जाये। इसके पश्चात् यह उस श्रेयस्कर दशा को प्राप्त हों कि तुम्हारे वक्षस्थल पर कान्ति फैलाता हुआ लोटता रहे ॥ ९१ ॥

यहाँ पर 'मैं कैसे तुम्हारे उरोजों के समीप लुढ़क सकता हूँ' इसी आशय को विस्तारपूर्वक प्रकट करने से विस्तरगुण है।

स्व० भा०—किसी थोड़ी सी बात को बहुत बढ़ाकर कहना विस्तरगुण है। यहाँ विस्तार करते समय भी चमत्कार रहे इसका विशेष ध्यान रखना पड़ता है। चमत्कारविहीन पद्य काव्य की कोटि में नहीं आ सकता। इसी प्रसंग में नायक केवल इतना कहना चाहता है कि वह घड़ी कैसे आ सकेगी जब मैं तुम्हारे वक्षस्थल का आनन्द ले सकूँगा, किन्तु इतनी ही बात को बहुत विस्तार से अत्यन्त चमत्कारपूर्ण ढंग से रख दिया गया है।

व्यासेनेति। **यत्र स्तोकेऽपि वाच्ये वचनपल्लवश्रमत्कारकारी तत्र स एव गुणकक्षाधिरोहणक्षम इति शब्दगुणेषु युक्तो विवेक्तुमत एवोक्तिं विशेष्यतया निर्दिशति। जनः पुण्यैरित्यादौ कथमहमित्यादौ निर्दिष्टोऽपि वक्त्राभिप्रायरूपोऽर्थ उक्तिपल्लवेन प्रकर्षमानीयते। तथा हि जन इति तटस्थोक्त्या न ममेदृशानि भागधेयानि येनाहत्य मनो निर्वहति। पुण्यैरिति बहुवचनेनानेकजन्मोपात्तानामेवेदं फलम्। यायादिति संभावनाभिप्रायेण लिङा मुक्ताफलपरिणतियोग्यजलधिजलप्राप्तिसंभावनापि कस्यचिदेव धन्यजन्मन इति प्रकाशिते कोऽपि कारणप्रकर्षः। जलमुच इत्यनेन येषां न जलदानमेव व्यापारः, अपि तु विश्वसंतापच्छिदुराणामन्योपकारप्रवणतया शुक्तिमुखपर्यन्तमपि नयनमुपपद्यत इति। तथावस्थमित्यनेन यदैव स्मरावस्था तदैव जलधरैः पानमाशंसामात्रगोचरो न तु पूर्ववत्संभावनामात्रगोचरः, अत एव शुभैरिति समयविलम्बनस्य प्राक्तनपुण्यमानहेतुकत्वादित्यादि स्वयमवसेयम्। एतेन 'पदार्थे वाक्यरचनम्' इति यदन्यैर्गुणान्तरमभिहितं तद्विस्तारमेकमेव। घटनासौष्ठवमात्रोपयुक्तस्तु पल्लवो विशेषगुणेष्वस्माभिरभिधास्यते। त्वत्कुचतटे लुण्ठनमत्य-**

ल्पपुण्यस्य न संपद्यत इत्येतावानेवार्थो विवक्षाविषय इति कार्यविकासस्यैव चमत्कारार्पणे प्रागल्भ्यमिति शब्दप्रधानकतया युक्तमत्र परिसंख्यानमिति ॥

(१८) संक्षेपगुण

समासेनाभिधानं यत्स संक्षेप उदाहृतः । ७३ (अ)

यथा—

'स मारुतिसमानीतमहौषधिहृतव्यथः ।
लक्ष्मणो रक्षसां पुनश्चक्रे विलापाचार्यकं शरैः ॥ ९२ ॥

अत्र कथाविस्तरप्रतिपाद्यस्यार्थस्य प्रकृतसंग्रामरसविच्छेदाशङ्कया श्लोकार्धमात्रेणोक्तत्वात्संक्षेपः ॥

अत्यन्त संक्षेप में वर्णन करना संक्षेप कहा गया है । ७३ (अ)

जैसे—हनुमान् जी द्वारा लाई गई महत्वपूर्ण औषधि से वेदनारहित होकर उन्होंने (लक्ष्मण ने) पुनः अपने को बाणों द्वारा लङ्का की स्त्रियों के लिए रोने का उपदेशक बना दिए ॥९२॥

यहां पर कथा में विस्तार से कथनीय विषय को उपस्थित युद्ध के रस की समाप्ति की आशंका से (पूरी कथा को) केवल आधे श्लोक से व्यक्त कर देने के कारण संक्षेपगुण है ।

स्व० भा०—यह भी एक विचित्रता है कि वाक्य को संकुचित कर देने पर ही अर्थ-चमत्कार लाया जा सकता है । शक्ति लगने तथा हनुमान द्वारा ओषधि लाने की कथा जगद्विख्यात है । प्रस्तुत संदर्भ में यदि उपर्युक्त विषय संक्षेप में न कहकर अधिक विस्तृत कर दिया गया होता, तो युद्ध सम्बन्धी चल रहे वर्णन में गतिरोध उत्पन्न हो जाता, अवान्तर विषय को प्रधानता तथा प्रधान विषय को गौणत्व प्रदान करने से रसबोध का तारतम्य विशृङ्खल हो जाता ।

समासेनेति । **अस्ति कश्चिद्विशेषो यत्र वाक्यसंकोचः प्रकृतौचितीवशेन चमत्कारकारणम् । तथा हि—स मारुतीत्यादौ मारुतिना यदोषधेरानयनम् , यच्च तया व्यथाहरणम् , तदुभयमपीतिहासकथाविस्तरेण प्रतिपादितमिह तु श्लोकार्धमात्रेणेति शब्ददत्तभर एवायं गुणो यद्यपि भवति, तथापि यावद्विवक्षितोपादानकाव्यरूपेणार्थसंकोचो वक्तव्यः । स च तथाविधवक्रोक्तिसंकोच एव भवतीत्युक्तावेव संकोच उल्लिखति । कथमयं संकोचः प्राप्तोचितभाव इत्याह—प्रकृतेति । अत एवोपक्षिप्तमपीतिहासार्थमपहाय त्वराविष्टेन कविना प्रकृतमुत्तरार्धं एवासंहितं पूर्वोत्तरार्धसामञ्जस्याय संक्षिप्यैव प्रकृतमप्युक्तम् ॥**

(१९) संमितत्वगुण

यावदर्थपदत्वं च संमितत्वमुदाहृतम् ॥ ७४ ॥

यथा—

'केचिद्वस्तुनि नो वाचि केचिद्वाचि न वस्तुनि ।
वाचि वस्तुनि चाप्यन्ये नान्ये वाचि न वस्तुनि ॥ ९३ ॥'

अत्रार्थस्य पदानां च तुलाविधृतवत्तुल्यत्वेन संमितत्वम् ॥

जितने अर्थ अतेक्षित हैं, (उनके वाचक) उतने ही पदों का होना संमितत्व कहा गया है ॥ ७४ ॥

जैसे—कुछ केवल अर्थ में ही होते हैं, शब्द में नहीं, और कुछ शब्द में होते हैं, अर्थ में नहीं ।

अन्य शब्द तथा अर्थ (दोनों) में होते हैं, और कुछ तो न शब्द में न अर्थ में ही ॥ ९३ ॥

यहाँ अर्थ तथा पद को तराजू पर रखे हुए (परिमाण तथा वस्तु) की भांति बराबर-बराबर रखने से संमितत्व गुण है।

स्व० भा०—विस्तर में किसी छोटे-मोटे विषय का, अथवा अत्यन्त बड़े वर्ण्य विषय का वर्णन अत्यन्त विस्तार से किया जाता है, संक्षेप में विस्तृत विषय का थोड़े में, किन्तु संमितत्वगुण वही होता है जहां वर्णन न तो अधिक शब्दों में ही किया जाता है और न कम में ही। इसमें जितनी बातें कहनी होती हैं, उतने ही शब्द ग्रहण किए जाते हैं। यही इसका अन्यों से भेद है।

यावदिति। **यावन्ति वर्णानि विना प्रकृतमनुसर्तुमेव न शक्यन्ते तावन्मात्रमयत्वं वाक्यस्य संमितत्वम्। अतः संक्षेपाद् भेदः। कवेः शक्तिव्युत्पत्तिभ्यामसत्यपि पल्लवे कदाचिद्घटनालावण्यमुन्मिषत्येव। यथा पूर्वमुदाहृतम्—'का त्वं शुभे कस्य परिग्रहो वा इत्यादि। अर्थव्यक्तिसंकरशङ्काप्यत एव निराकृता। 'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा' इति केचिदुदाहरन्ति तदयुक्तम्। अनेन नामपदयोः पल्लवरूपत्वात्संमितत्वाभावे कथमाभासत्वं भवतीति विस्मृतव्यभिचारिगुणप्रकरणस्य भाषितमुपेक्षणीयम्। केचिदिति सर्वनाम्न एवाभिमतकविविशेषे पर्यवसानं सामर्थ्येन संभवतीति नाध्याहारशङ्का। शक्ता इत्यादिक्रियापि सामर्थ्येनावसीयते तदेतत्सर्वमभिप्रेत्याह—तुलाविधृतवदिति।**

(२०) भाविकगुण

भावतो वाक्यवृत्तिर्या भाविकं तदुदाहृतम्।

यथा—

'एह्येहि वत्स रघुनन्दन पूर्णचन्द्र
चुम्बामि मूर्धनि चिरं च परिष्वजे त्वाम्।
आरोप्य वा हृदि दिवानिशमुद्वहामि
वन्देऽथवा चरणपुष्करकद्वयं ते ॥ ९४ ॥

अत्र हर्षवशादनौचित्येनापि 'वन्देऽथवा चरणपुष्करकद्वयम्' इत्यादीनामुक्तत्वाद् भाविकत्वम् ॥

(विचार के अनुसार नहीं अपितु) भाव के अनुसार वाक्य में जो पदों का प्रयोग होता है, उसे भाविक कहते हैं। (७५ अ)

जैसे—आओ, आओ, बेटा राम, (आओ) पूर्णचन्द्र (की भांति सुख देने वाले), (आओ) मैं तुम्हारा सिर चूम लूँ और देर तक तुम्हारा आलिङ्गन करता रहूँ। या अपने हृदय पर रख कर दिनरात तुम्हारे दोनों चरणकमलों की वन्दना करता रहूँ" ॥ ९४ ॥

यहाँ आत्यन्तिक प्रसन्नता के कारण अनुचित होने पर भी 'वन्देऽथवा चरणपुष्करकद्वयं ते' यह कहने पर भाविकत्वगुण हुआ।

स्व० भा०—जब मनुष्य विवेकपूर्वक कार्य करता है तब अनौचित्य नहीं होता और न असंगति ही आती है किन्तु भावविह्वलता की दशा में औचित्यानौचित्य का भाव समाप्त हो जाता है और मनुष्य विचार खो बैठता है। जब इस प्रकार की भावविह्वल अवस्था का चित्रण होता है, वहाँ अनुचित सम्बोधनों तथा कर्मों का हो जाना सम्भव भी है और स्वाभाविक भी। ऐसी

अवस्था में अनौचित्य होने पर भी वहाँ दोष न होकर वस्तुतः भाविक नाम का गुण होता है, क्योंकि भावों के अनुसार शब्दों का ग्रहण न होने पर अभिव्यक्ति तथा स्वाभाविकता दोनों में शैथिल्य आ जाता है। स्वाभाविकता न होने से कृत्रिमता आ जाती है तथा कृत्रिमता के कारण काव्य अपनी आत्मा ही खो बैठता है। प्रस्तुत संदर्भ में ही बड़े द्वारा छोटे के चरण की वन्दना शास्त्रतः अनुचित है, किन्तु भावतः उचित।[1]

भावत इति। **भावनादशापन्ना चित्तवृत्तिर्भावः। भावना वासनाव्यासिरित्यनर्थान्तरम्। तथा ह्युच्यते—अनेन गन्धेन रसेन वा सर्वं भावितमिति। हर्षादिभावितचेतसो हि वीचिप्राया उक्तिभेदाः प्रादुर्भवन्ति यैरप्रत्यूहमेव भावोऽभिव्यज्यते तदिदमुक्तं या भावतो वाचः काव्यरूपायाः प्रवृत्तिर्निष्पत्तिः सैव भाविकम्। भावप्रधानो निर्देशः। तथा हि—प्रकृतोदाहरणे एहीत्येकेनैव युष्मदर्थाविनाभाविनाभिमुखीकरणे वृत्ते द्वितीयस्य यदुपादानम्, पूर्णचन्द्रेति यदग्रिमक्रियास्वनुपयुक्तस्यैवाभिधानम्, चुम्बामीति करिष्यमाणस्यापि यो वर्तमानोपदेशः, चुम्बामीत्यत्र विशेषणमनुपादाय परिष्वज इत्यत्र चिरमिति यद्विशेषणोपादानम्, त्वामिति योग्यार्थस्यापि प्रयोगः पूर्वोपात्तवदुत्तरक्रियास्पर्धितया यदेकस्यैव वहनस्य भाषणमेव समस्तसमकक्षतयैव यद्वहनाभिधानम्, वत्सेत्यभिधाय चरणौ वन्द इति या विरुद्धोक्तिः, यच्च ते इत्यस्यावगतार्थस्यापि वचनम्, तत्सर्वमधर्मसिद्धमेवेति भावार्थस्य निष्पादितया स्वादहेतुर्भवति। प्रवर्तन्ते हि लौकिकानां स्नेहार्थानामुत्कलिकाप्राया वाचः स्वदन्ते च। यथा—'इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयोरसावस्याः स्पर्शो वपुषि बहलश्चन्दनरसः' इति। तदेतदभिप्रेत्य व्याचष्टे—अत्रेति। उद्भटत्वात्तेन शेषाण्युपलक्षयति—अनौचित्येनापि वन्द इति॥**

(२१) गति नामक गुण

गतिर्नाम क्रमो यः स्यादिहारोहावरोहयोः॥ ७५॥

यथा—

'वराहः कल्याणं वितरतु स वो यस्य शशभृत-
कलाकोटीकान्तं क्रमविगलदभ्युद्धृतिभिया।
मिथः संमूर्च्छद्भिश्चतुरुदधिकल्लोलपटलै-
रनामृष्टं दंष्ट्राशिखरमधिशेते वसुमती॥ ९५॥

अत्र पूर्वार्धे स्वरस्यारोहादुत्तरार्धे चावरोहाद्गतिः॥

(छन्द में स्वरों के) आरोह तथा अवरोह का जो क्रम होता है उसका गति नाम है॥ ७५॥

जैसे—वह आदि वाराह देव आपमें कल्याण वितरण करें जिनकी चन्द्रकला के किनारे की भांति कमनीय तथा चारो महासिन्धुओं की हिलोर ले रही तरङ्ग से अक्षत दाढ के अग्रभाग पर पदनिक्षेपों के कारण उद्धार से च्युत हो जाने की आशंका के साथ पृथ्वी अवस्थित है॥ ९५॥

यहाँ पूर्वार्ध में स्वर के आरोह के कारण तथा उत्तरार्ध में अवरोह के कारण गति गुण है।

स्व० भा०—किसी छन्द में जब ऐसी रीति से स्वरों का प्रयोग किया जाता है कि आरोह और अवरोह का क्रम स्पष्ट लक्षित हो जाये तब वहां गति नामक गुण होता है। वृत्तिभाग से यह

---

१. महावीरचरितम् (१।५५) में धनुर्भङ्ग कर लेने पर राम के प्रति जनक की उक्ति है।

और भी स्पष्ट है कि यहां यतियों का आरोह-अवरोह अपेक्षित नहीं। आरोह और अवरोह सामान्यतः भी स्वरों के ही कारण होते हैं, यति आदि के कारण नहीं। आरोह तथा अवरोह का क्रम श्लोकार्ध, श्लोकपाद तथा श्लोकांश सब में सम्भव है। यहाँ पर पूर्वार्ध में आरोह तथा उत्तरार्ध में अवरोह है।

प्रस्तुत छन्द में 'वराहः' तथा कल्याण' में दो दीर्घ 'आकारों' का प्रयोग करने के बाद 'वो' के ओकार द्वारा ऊँचाई बढ़ा दी गई है और द्वितीय चरण में 'कलाकोटीकान्तम्' में विभिन्न स्वरों द्वारा भी आरोह का क्रम ऊपर ही उठाया गया है। उत्तरार्ध में यह क्रम दृष्टिगोचर नहीं होता, अतः गति नामक गुण है।

वामन ने (३।१।१२) 'आरोहावरोहक्रमः समाधिः' कहा है। इसी प्रसङ्ग में आगे उन्होंने आरोह-अवरोह को ओज और प्रसाद से भिन्न सिद्ध करते हुए इनको समाधि का आधार स्वीकार किया है—'आरोहावरोहनिमित्तं समाधिरारभ्यायते' (३।१।१८॥)

गतिरिति। केचिद् व्याचक्षते। यतीनामारोहावरोहौ विवक्षितौ क्वचित्कविशक्तिवशाद्यद्द्वयारूढा अवरूढा इव प्रकाशन्ते। यथा-'भुवो नीचैर्नीचैरवटपरिपाटीषु पततां स्फुरत्यर्वागर्वागखिलभुवने भोगितिलकः। क्रमादुच्चैरुच्चैर्गिरिशिखरभाजामपि नृणामयं दूरे दूरे भवति भगवानम्बरमणिः॥' अत्र यती नानारोहावरोहौ तिलतन्दुलवत्प्रकाशेते। इयं तु वृत्तौचिती वक्ष्यते। तथा च द्वितीये संगता स्यात्। तस्मादयमर्थः—स्वराणामकारादीनामुपर्युपरितया बोधः संनिकृष्टानामिव प्रकाशनं गतिरिति। तथा च व्याख्यास्यति—स्वरस्येति। तथा हि प्रकृतोदाहरणे वराहः कल्याणमित्यत्राकारद्वयं तुल्यजातीयं निर्दिश्य स वो इत्यत्रौकारेण तुङ्गत्वमिव विधाय द्वितीयपादोपक्रमे कलाकोटीकान्तमित्यत्राभिन्नजातीयारोहपरम्परा विहिता। उत्तरार्धे तु तथा नास्ति। शेते इत्यत्रापि न सोल्लेख आरोहः सोऽयमानुभविको गुणः श्लोकार्धश्लोकपादश्लोकांशक्रमेण नरसिंहवद्भवति। अत्रोपलक्षणतयाद्यमुदाहरति—यत्र पूर्वार्ध इति। क्रमैरितस्ततश्चरणविन्यासैर्विगलन्ती असंपद्यमाना याभ्युद्धृतिरभ्युद्धरणं तस्या या भीर्भयं तयेति केचित्। अन्ये तु वदन्ति—क्रमेण विगलदभ्युद्धृतिभयमूर्ध्वनयने स्फुटनादिभयं यस्याः सा क्रमविगलदभ्युद्धृतिभियेति॥

(२२) रीतिगुण

उपक्रमस्य निर्वाहो रीतिरित्यभिधीयते।

यथा—

'ग्राव्णा नासि गिरेः क्षता न पयसा नार्तासि न म्लायिता
न श्वासैः फणिनोऽसि न त्वदनुगा नायासिता क्वापि न।
स्वं वेश्म प्रतिगच्छतोरिति मुहुः श्रीशार्ङ्गिणोः सस्पृहं
सा प्रश्नोत्तरयुग्मपङ्क्तिरुभयोरत्यायता पातु वः॥ ६६॥'

अत्र प्रत्येकपदानन्तरं नव्यो विनिवेशात्क्रमाभेदो रीतिः॥

किसी प्रकार के स्वीकृत ढंग को आदि से अन्त तक बनाये रह जाना रीतिगुण कहा गया है।

जैसे—"पर्वत के पत्थरों से चोट तो नहीं आई?" "नहीं", "जल से तुम्हें कष्ट तो नहीं हुआ?" "नहीं", "सांप के सांसों से कुम्हलाई तो नहीं?" "नहीं", "कहीं तुम्हारे सेवकों को दुःख तो नहीं हुआ?" "नहीं", इस प्रकार से अपने-अपने घर की ओर जा रहे श्री तथा विष्णु

दोनों की बड़ी उत्कण्ठा से होने वाली बड़ी लम्बी-चौड़ी प्रश्न तथा उत्तर दोनों की पंक्तियां आप लोगों की रक्षा करें।" ॥ ९६ ॥

यहां प्रत्येक पद के पश्चात् नञ् (नकार रूप निषेध) को रखने के क्रम का खण्डन न होने से रीतिगुण है।

स्व० भा०—प्रस्तुत छन्द में नकार ग्रहण का उपक्रम प्रारम्भ किया गया। यदि आदि से अन्त तक सन्दर्भ में यह क्रम न निभा होता तो दोष हो जाता और निभ जाने से गुण हो गया। यहां 'पद' का अभिप्राय उतने वाक्यखण्ड से है जितने में कोई अपेक्षित अर्थ निकल जाये, अन्यथा तो 'असि', गिरेः, श्वासैः, आदि पदों के बाद भी 'नञ्' आना ही चाहिए।

उपक्रमस्येति। यादृशी पदसंनिवेशत्वेनोपक्रम्यते तादृश्या वृत्तिनिर्वाहः क्वचिद्विशेषशोभावहो भवति। अत एवात्र नात्यन्तनिर्वाहोऽभिमतः। एकादशवृत्तेरप्यभिप्रायसमप्रकाव्यजीवभूतत्वादेतस्या एव नातिप्रसङ्गोऽपि तथा प्रकृतोदाहरणे प्रथमोत्थिताया अब्धिदुहितुरव्याजसर्वाङ्गीणलावण्यमवलोकयिता कृष्णः स्वचक्षुषोः कृतार्थतां गमितवान्। इदानीमधरोष्ठमुद्राभेदेन यदि वर्णमात्रामपि भारतीं निश्चरन्तीमाकर्णयामि तदा श्रोत्रयोः सफलता भवेदिति मन्यते। न चेत्थमेव मुग्धाङ्गनानामालापः प्रवर्तते अपि तु नायकसन्निधौ भयादेवेति प्रथमं पृच्छति—ग्राह्णा नासि गिरेः क्षतेति। अनन्तरं च यदि न वक्ष्यामि तदा धृष्टामाकलयिष्यतीति जानत्या द्वयमुत्तरमौचित्यापन्नं स्यात् शिरःकम्प एकाक्षरं च। तत्राद्यः कालिदासेन प्रयुक्तो 'मूर्धकम्पमयमुत्तरं ददौ' इति। द्वितीयं कविना विनिवेशितम्—नेति। एवं श्रुतजल्पितामृतस्तदनुबन्धेन कृतकृत्यमिवात्मानं मन्यमानोऽधिकत्रासहेतुं स्मारयन्पृच्छति—पयसेति। तदिदमुक्तम्—आर्तेति। प्रकारान्तरेणोत्तरदानासंभवात्पुनरप्याह—नेति। तदनन्तरं व्याजरसायाः कियदधिकवचनश्रवणोत्कण्ठितः सर्वं लोकप्रसिद्धं भयहेतुं स्मारयन्पृच्छति—म्लायितेति। अभिमतस्यानिष्टं स्वप्नेऽपि न सज्जत इति दृष्टासीति नोक्तम्। एवं प्रसिद्धमपि वचनपल्लवेन समस्तमुग्धाङ्गनाप्रसिद्धेन वचनोन्मुद्रणप्रकारेण पृच्छति—त्वदनुगेति। सर्वाकारेणोत्तमतामभिज्ञायमानो दक्षः स्ववेश्म प्रत्येव गतवान् न तु पृष्टवानिति। तदिदं सर्वमभिप्रेत्य व्याचष्टे—अत्रेति ॥

(२३) उक्तिगुण

विशिष्टा भणितिर्या स्यादुक्तिं तां कवयो विदुः ॥ ७६ ॥

यथा—

'कुशलं तस्या जीवति कुशलं पृच्छामि जीवतीत्युक्तम्।
पुनरपि तदेव कथयसि मृतां नु कथयामि या श्वसिति ॥ ९७ ॥'

अत्र कुशलं तस्या इति पृष्टे कुशलमकुशलं वेति वक्तव्ये योऽयं जीवतीत्याद्युक्तिभङ्ग्या जीवितमात्रशेषताप्रतिपादनप्रकारः स काव्ये शब्दगुणेषूक्तिसंज्ञां लभते ॥

जो कोई विशेष प्रकार का (अलोकसामान्य) कथन होता है उसे कवियों ने 'उक्ति' जाना है ॥ ७६ ॥

जैसे—"(कहो भाई) वह सकुशल तो है ?" "(हां) जी रही है", "(अरे) मैं कुशल पूँछ रहा हूँ" "(हां, हां) कहा तो कि जी रही है" "फिर तुम वही कह रहे हो ?" "हां, मैं उस मरी हुई के विषय में कह रहा हूँ जो केवल सांस ले रही है"॥ ९७ ॥

यहां "कहो उसका कुशल तो है ?" ऐसा पूँछने पर कुशल है अथवा नहीं है यही कहना चाहिये था, किन्तु 'जीवित है' आदि शब्दों द्वारा घुमाकर उसके केवल जीवितभर रहने की बात कहने का जो ढंग है, वही काव्य के शब्द गुणों में उक्ति नाम से ख्यात है।

स्व० भा०—कवि अपनी प्रतिभा द्वारा सामान्य विषय का भी अलौकिक रूप प्रस्तुत करता है। वस्तुतः यह तो कवि की प्रतिभा ही है जो किसी कवि के काव्य में चमत्कार उत्पन्न करती है, अन्यथा एक ही सामान्य विषय का विभिन्न कवियों द्वारा विविध वर्णन सम्भव न होता। भामह के शब्दों में—

काव्यं तु जायते जातु कस्यचित्प्रतिभावतः ॥ १।५ ॥

यहां प्रश्न पूछने पर यही उत्तर पर्याप्त था कि "हां, वह सकुशल है' अथवा 'वह सकुशल नहीं है" किन्तु इतना घुमाकर उत्तर देने से विशेष चमत्कार आ गया है।

विशिष्टेति। **लोकोत्तराः सन्ति हि भणितिप्रकारा लोकप्रसिद्धाः। यथा सुसोऽसीति प्रश्ने गृहे देवकुले वेत्यादि। एतत्प्रसिद्धिव्यतिक्रमेण तु या काचित्कविप्रतिभया भणितिराकृष्यते सा भवति लोकोत्तरा। तथा च प्रतिभाकृष्टतया चमत्कारित्वाद् गुणत्वम्। अत एव कवय इत्याह। कविसहृदयानामेव तादृशोक्तिपरिचयसंभवात्। तथा हि—प्रकृतोदाहरणे कुशल-प्रश्ने कुशलं वेति लोकप्रसिद्धमतस्तदेव वक्तुमर्हति। यत्तु तदपहाय जीवतीत्युपात्त-मपरत्रापि प्रश्ने तथैवोक्तं तत्प्रतिभाकृष्टतया साभिप्रायमुन्नीयत इत्याह—अत्र कुशलमकु-शलमित्यादि ॥**

(२४) प्रौढिगुण

संप्रति प्रकर्षकाष्ठालक्षणं वाक्यस्य गुणं लक्षयति—

उक्तेः प्रौढः परीपाकः प्रोच्यते प्रौढिसंज्ञया।

यथा—

'अभ्युद्धृता वसुमती दलितं रिपूरः
क्षिप्तक्रमं कवलिता बलिराजलक्ष्मीः।
अत्रैकजन्मनि कृतं यदनेन यूना
जन्मत्रये तदकरोत्पुरुषः पुराणः ॥ ६८ ॥'

अत्र प्रकृतिस्थकोमलकठोरेभ्यो नागरोपनागरग्राम्येभ्यो वा पदेभ्योऽभ्यु-द्धृतादीनां ग्राम्यादीनामुभयेषां वा पदानामावापोद्वापाभ्यां सन्निवेशचारुत्वेन योऽयमभ्यासिको नालिकेरपाको मृद्वीकापाक इत्यादिर्वाक्यपरिपाकः सा प्रौढि-रित्युच्यते। तथा चैतद्वाक्यं नालिकेरपाक इत्युच्यते। एवं सहकारमृद्वीकापाके अप्युदाहरणीये इति ॥

वाक्य की गम्भीर परिपक्वता प्रौढि नाम से अभिहित की जाती है। (७७ अ)

जैसे—धरती का उद्धार किया, शत्रुओं का वक्षस्थल तोड़ा, कदम रखते ही बलि की राज-समृद्धि को ग्रास बना लिया। (इस प्रकार) इस तरुण राजा ने एक ही जन्म में इन (तीनों) कामों को पूर्ण कर लिया जिसे पुरातन पुरुष विष्णु ने (क्रमशः वराह, नृसिंह तथा वामन इन) तीनों जन्मों (अवतारों) में पूर्ण किया था ॥ ९८ ॥

यहां पर प्रकृतिस्थ, कोमल तथा कठोर अथवा नागर, उपनागर और ग्राम्य पदों का, अथवा

अभ्युद्धृत आदि ग्राम्य पदों का अथवा) शेष (दोनों पदों के ही सन्निवेश अथवा ग्रहण तथा परित्याग द्वारा वाक्यरचना में सौन्दर्य लाकर अभ्यास से सम्पन्न होने वाला जो यह 'नारिकेल-पाक' 'मृद्वीकापाक' आदि वाक्यों की परिपक्वता है वही प्रौढि कही जाती है। जैसे कि इसी वाक्य में नारिकेलपाक कहा जाता है। इसी प्रकार सहकारपाक और मृद्वीकापाक का भी उदाहरण दिया जा सकता है।

स्व० भा०—काव्यरचना में प्रौढ़ता कवि को सफल बनाती है। जब कवि अत्यन्त पटु हो जाता है फिर उसमें ऐसी क्षमता आ जाती है कि वह जो कोई भी पद रखता है, अत्युचित ही होता है, अनुचित समझकर बाद में हटाने की दशा नहीं आती। यह सक्षमता ही पाक, प्रौढि, प्रौढता, अभ्यास की पूर्णता आदि कही जाती है। राजशेखर ने काव्यमीमांसा के पञ्चम अध्याय में सिद्धान्त वाक्य उद्धृत किया है—

अवापोद्धरणे तावद् यावद्दोलायते मनः। पदानां स्थापिते स्थैर्ये हन्त सिद्धा सरस्वती॥
यत्पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुतां। तं शब्दन्यायनिष्णाताः शब्दपाकं प्रचक्षते॥

भोज द्वारा प्रयुक्त आभ्यासिक पद का अर्थ राजशेखर के शब्दों में—'सततम् अभ्यासवशतः सुकवेः वाक्यं पाकमायाति।" है अन्ततः वह पाक के विषय में अपना मत व्यक्त करते हैं—रसोचितशब्दार्थसूक्तिनिबन्धनः पाकः। यदाह—

गुणालङ्काररीत्युक्तिशब्दार्थग्रथनक्रमः। स्वदते सुधियां येन वाक्यपाकः स मां प्रति।"

भोज ने भी सरस्वतीकण्ठाभरण के पञ्चम परिच्छेद में ४४२ वें छन्द से पाकों का लक्षण और उदाहरण प्रारम्भ किया है। शेष के लक्षण वहीं देखने चाहिए।

उक्तेरिति। **उक्तेर्वाक्यस्यायं पाकः सा प्रौढिः। शब्दानां पर्यायपरिवर्तासहत्वं पाकः। यदाह—'यत्पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुताम्। तं शब्दन्यायनिष्णाताः शब्दपाकं प्रचक्षते॥' इति प्रौढ इति। उपक्रमोपसंहारयोर्निर्व्यूढः स चायं नायं नालिकेरसहकारमृद्वीकोपलक्षणैस्त्रिविधो गीयते। तद्यथा—नालिकेरफलं पक्वं त्वचि कठिनं शिरास्वविवृतकोमलप्रायं कपालिकायां कठिततरं तथा कश्चित्संदर्भो मुखे कठिनस्तदनन्तरं मृदुप्रायस्ततः कठिनतरो नालिकेरपाक इत्युच्यते। तथा हि—प्रकृतोदाहरणे प्रथमपादेऽभ्युद्धृतेति वर्णचतुष्टयमारम्भे कठिनं 'वसुमती दलि' इति वर्णषट्कं कोमलं 'तं रिपूरः' इत्यनुस्वाररेफदीर्घरचरचतुष्टयं कठिनतरम्। अत्रापि तमिति मृदुप्रायनिवेशनेन कोमलकपालिकामुखभागसारूप्यं द्रढयतीत्यस्मदाराध्याः। एवं द्वितीयादिपादत्रये चतुष्कषट्कचतुष्कैर्नालिकेरफलसाम्यमुन्नेयम्। कथं पुनरेवंविधः पाकः संभवतीत्यत आह—अत्रेति। अभ्यासेन निर्वृत्त आभ्यासिकः। काव्यं कर्तुं विचारयितुं च ये जानन्ति तदुपदेशेन करणे योजने च पौनःपुन्येन प्रवृत्तिरभ्यासः। असावपि कथं पाकविशेषो भवतीत्यत आह—सन्निवेशचारुत्वेनेति। सन्निवेशो रचना तस्यां चारुत्वम्। तदपि कथमित्यत आह—आवापोद्वापाभ्यामिति। संदर्भानुप्रवेशनमावापः। ततः समुद्धरणमुद्वापः। केषामित्यत उक्तम्—पदानामिति। उद्धृतानामिति बुद्ध्या पृथक्कृतानाम्। केभ्य इत्यत उक्तम्-प्रकृतिस्थादित्यादि। तेनायमर्थः—प्रकृतिस्थादिपदतोऽप्येतदेवोद्धर्तव्यं यद् घटनासौष्ठवेन पर्यायपरिवर्तनं न सहते। भवति हि सहृदयानामेवमन्यत्पदं नास्तीति व्यवहारः। सोऽयं रचनासिद्धिविशेषः कथमन्यथा तज्जातीयमेव पदमन्यत्र संदर्भे निवेशितं न तथा स्वदते। अत एवासौ वाक्यगुणः। काठिन्यं च संयोगैर्दीर्घैर्वा स्वरैर्भवति। यथात्रैवोदाहरणे रिपूर इत्यादौ। सुप्तिङ्व्युत्पत्तिलक्षणस्तु वार्तिकपाकः कैश्चिदुक्तः, स तु सुशब्दतालक्षणगुण एव। एवमिति। यथा**

द्राक्षाफलं त्वच आरभ्य कोमलमन्तरा द्वित्रिचतुरास्थिसंपादितं किंचित्काठिन्यमेवं कश्चित्संदर्भमुपक्रमोपसंहारयोः कोमल एव मध्ये कठिन एव। संयोगदीर्घस्वरमात्रकृतमनाक्कठोरभावो मृद्वीका पाक इत्युच्यते। यथा—'अयि त्वदावर्जितवारिसंभृतं प्रवालमासामनुबन्धिवीरुधाम्। चिरोज्झितालक्तकपाटलेन ते तुलां यदारोहति दन्तवाससा॥', यथा च—'अनवरतनयनजललवनिपतनपरिपीतहरिणमदतिलकम्। वदनमपमातमृगमदशशिकिरणं वहन्ति लोलदृशः॥' अत एव कविकल्पलताकारादिभिरुक्तो नीलकपित्थपाकश्चतुर्थो नास्ति। यद्वच्च परिणतं सहकारफलमारम्भादेव कोमलमस्थनि तु कठोरप्रायमेवमपरः संदर्भो मुखादारभ्य मृदुरन्तरे कठिनतरः सहकारपाक इत्युच्यते। यथा—'कमलिनि कुशलं ते सुप्रभातं रथाङ्गाः कुमुदिनि पुनरिन्दावुद्गते त्वं रमेथाः। सखि रजनि मतासि त्वं तमो जीर्णमुच्चैरिति तरलितपक्षाः पक्षिणो व्याहरन्ति॥' अत्रैवोदाहरणेऽपि द्विधा कठोरत्वमवसेयम्। तेऽमी त्रय एव शुद्धपाकाः। व्यतिकरजन्मानस्तु भूयांसः। एत एवार्थपाकाः पञ्चमे प्रकारान्तरेण प्रतिपादयिष्यन्ते॥

अर्थगुण तथा (१) अर्थश्लेष

सूत्रकार एवार्थगुणप्रकरणे संगतिं करोति—

उक्ताः शब्दगुणा वाक्ये चतुर्विंशतिरित्यमी॥ ७७॥
अथैतानेव वाक्यार्थगुणत्वेन प्रचक्ष्महे।
तेषां श्लेष इति प्रोक्तः संविधाने सुसूत्रता॥ ७८॥

यथा—

'दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा-
देकस्या नयने निमील्य विहितक्रीडानुबन्धच्छलः।
ईषद्वक्रितकन्धरः सपुलकः प्रेमोल्लसन्मानसा-
मन्तर्हासलसत्कपोलफलका धूर्तोऽपरां चुम्बति॥ ९९॥

अत्रैकासनसंस्थितयोः प्रियतमयोर्विलासिना ह्येका नयनमीलनकेलिकर्मणा वञ्चिता। अन्या तु वदनचुम्बनेन रञ्जितेति। सेयं संविधाने सुसूत्रता। श्लेषो नाम वाक्यार्थगुणः॥

वाक्य में होने वाले ये चौबीस शब्द के गुण कह दिए गए। अब इनको ही वाक्य के अर्थ के गुणों के रूप में कहेंगे। इनमें से श्लेष (अर्थश्लेष) वहां होता है जहां पर किसी कार्य के सम्पादन में सुन्दर योजना निरूपित होती है॥ ७७-७८॥

जैसे—एक धूर्त नायक एक ही आसन पर अपनी दोनों प्रियतमाओं को बैठी देखकर चुपके से पीछे पहुँचता है और प्रिय खेल (आंखमिचौनी) के कृत्यों के बहाने वह एक की दोनों आंखों को मूँदकर केवल गर्दन को ही किञ्चिन्मात्र घुमाकर, रोमाञ्चित होकर प्रेमानन्द से खिली हुई मन वाली तथा भीतर ही भीतर हँसने से सुन्दर लग रहे गालों वाली दूसरी का चुम्बन करता है॥ ९९॥

यहां एक ही आसन पर बैठी हुई दोनों प्रेयसियों में से लम्पट के द्वारा एक तो आँखमिचौनी के प्रेमभरे कृत्यों द्वारा ठग ली गई और दूसरी मुखचुम्बन के द्वारा प्रसन्न की गई। यही है कार्य के सम्पादन में सुबद्धता। श्लेष यहां वाक्यार्थ का गुण है।

स्व० भा०—कामी पुरुष अपनी उपस्थित सेदोनों प्रेमिकाओं में से किसी को भी विना अप्रसन्न किए प्रणयप्रसार करने का इच्छुक था। सामान्यतः यह असम्भव था, क्योंकि दोनों की उपस्थिति में न तो दोनों से प्रेम किया जा सकता है और न एक से ही। दोनों से एक साथ प्रेम सम्भव नहीं और दोनों के उपस्थित होने पर एक से ही प्रेम करने का अर्थ दूसरे से द्रोह ही है। यह काम यहां बड़ी चतुराई से सम्पन्न हो गया। जिसकी आंख मूँदी गई उसने समझा कि मेरे साथ केलिकौतूहल हैं और दूसरी ने तो चुम्बन का सुख ही लूटा। आंख मूँद देने से धूर्तता प्रकट नहीं हो पाई। अतः कार्य विधान का समुचित नियोजन होने से यहां श्लेषगुण है।

भोज भी, वामन की भांति, श्लेषादि ही २४ गुणों को अर्थाश्रित भी मानते हैं। नाम एक होने पर भी शब्द तथा अर्थरूप आश्रयभेद होने से दोनों में भेद होता है। वामन ने जिन दस गुणों को शब्दगत माना है उन्हीं को अर्थगत भी। कण्ठाभरणकार पृथक् से शब्दगुण या अर्थ गुण न मानकर वाक्यपदगुण तथा वाक्यार्थ गुण मानते हैं। वाक्य से बाहर के पदों अथवा अर्थों को मान्यता नहीं देते। वास्तव में विना वाक्य में आये पद अपना क्या अर्थ प्रकट करेगा और क्या उसकी स्थिति ही होगी। वामन ने भी अर्थश्लेष के उदाहरण के रूप में अमरुक का यही छन्द उद्धृत किया है। (३।२।४)

उक्ता इति। **वृत्तकीर्तनं हेतुभावप्रदर्शनार्थम्। एतानेव श्लेषादिनामकानिति। एषामिति निर्धारणे षष्ठी। 'वाक्यार्थशरीरभूतः श्लेषः प्रथमं लक्ष्यत इति। 'घटनाश्लेषः' इति सूत्रयित्वा 'क्रमकौटिल्यानुल्बणत्वोपपत्तियोगो घटना' इति वामनेन व्याख्यातम्। अस्यार्थः—इदं कृत्वा इदं कर्तव्यमिति क्रमस्तत्रैव कौटिल्यं लोकातिगामिनीवक्रता। अवक्रयोः शब्दार्थयोः वचनमात्रत्वात्। अतिमात्रतया प्रतिभासाभावोऽनुल्बणत्वम्। कथमेवमर्थः संगच्छत इत्यनुपपत्तिसमाधानौपयिकविशेषनिवेशनमुपपत्तिः। तथा च क्रमेण कौटिल्येनानुल्बणतया उपपत्त्या योजनमर्थस्य श्लेष इति तत्र संविधानक्रमानुल्बणत्वेन सूत्रशब्देनोपात्ते स्वपदेन कौटिल्यमुक्तमघटमानस्येव वाक्यार्थस्य बुद्धिचातुर्येण घटनेति वाक्यार्थः। दृष्ट्वेति। एका नायिका। अपरा नायिका च तत्सखी प्रच्छन्ननायकप्रेमपात्रं तेनैकासनसंगतिः। प्रियतमे इति तदनुरञ्जनमेव जीवितसर्वस्वमिति मन्यमानस्य युगपत्प्रवृत्तिः। आदरेण निभृतपदन्यासता तथा भूत्वा युगपत्कराभ्यां नयनद्वयपिधानं लोकप्रसिद्धा केलिः। ईषदिति कन्धरामात्रं यथा चलते न तु शरीरमपि। अन्यथा चलनज्ञाने नायिकायाः कषायभावः स्यात्। निभृतरागोन्मुद्रणात् पुलकोद्गमः। अत एव प्रेम्णा स्वगोचरलोकोत्तरत्वाभिमानरूपेण तत्तदनेकभावोर्मिभिरान्दोलनं मनस उल्लासः। साधुवचनं न जानातीत्यभिप्रायिकसपत्नीगतधिक्कारभावनया निभृतहासोन्मेषः। वञ्चनाचातुर्येण स्वमनीषितसम्पादनं धूर्तता। तदेतद् व्याचष्टे—अत्रैकासनेति॥**

(२) अर्थप्रसाद गुण

यत्तु प्राकट्यमर्थस्य प्रसादः सोऽभिधीयते।

यथा—

अयमुदयति मुद्राभङ्गनः पद्मिनीना-
मुदयगिरिवनालीबालमन्दारपुष्पम्।
विरहविधुरकोकद्वन्द्वबन्धुर्विभिन्दन्
कुपितकपिकपोलक्रोडताम्रस्तमांसि॥ १०० ॥'

अत्र पद्मिनीविकासकरणे उदयशैलावतरणे कोकशोकहरणे तमोविदारणे चानुक्तोऽपि सूर्यलक्षणोऽर्थः प्रकटमुपलक्ष्यते ॥

(विना शब्दतः कहे हुये भी) जो अर्थ का स्पष्ट प्रकट हो जाना है, वही प्रसाद कहा जाता है। (७९ अ)

जैसे—(देखिये) कमलिनियों का संकोच दूर करने वाला, उदयाचल के वनसमूह में विद्यमान बाल कल्पवृक्ष का सुमन, वियोगी चक्रवाक-मिथुनों का हितैषी, क्रुद्ध बन्दर के कपोलक्रोड की भांति लाल-लाल, अन्धकार को छिन्न-भिन्न करता हुआ यह (सूर्य) उदित हो रहा है ॥१००॥

यहाँ कमलिनियों को प्रफुल्लित करने, उदयाचल पर उतरने, चक्रवाकों का शोक हरने, अन्धकार को मिटाने आदि कर्मों से बिना कहे भी सूर्य के लक्षण वाला अर्थ स्पष्ट रूप से लक्षित हो जाता है।

स्व० भा०—वामन ने भी 'अर्थवैमल्यं प्रसादः' (३।२।३) कहा है। अर्थ की विमलता का अभिप्राय ही है अर्थ का अव्यवधानेन प्रकट हो जाना। कथनीय वस्तु का शब्दशः उल्लेख न करके भी इस ढंग में वाक्य योजना कर देना कि अभीष्ट स्वतः उससे प्रकट हो जाये, प्रसाद गुण है। उपस्थित श्लोक में ही शब्दशः सूर्य शब्द उपात्त नहीं है, किन्तु ऐसे-ऐसे विशेषण रखे गये हैं, कि सूर्यरूप अर्थ स्वतः स्पष्ट हो जाता है।

यत्तु प्राकट्यमिति। **समभिव्याहृतपदार्थसंसर्गात्मनि वाक्यार्थे दर्पणतल इवानुपात्तस्यापि विवक्षितस्य वस्तुनः प्रतिभासोऽर्थप्रसादः। न चेदमनुमानं समानसंवित्संवेद्यत्वात्। तदाह—अनुक्तोऽपि सूर्यलक्षणोऽर्थः प्रकटमुपलक्ष्यत इति ॥**

(३) समत्वगुण

अवैषम्यं क्रमवतां समत्वमिति कीर्तितम् ॥ ७९ ॥

यथा—

'अग्रे स्त्रीनखपाटलं कुरबकं श्यामं द्वयोर्भागयो-
र्बालाशोकमुपोढरागसुभगं भेदोन्मुखं तिष्ठति।
ईषद्बुद्धरजःकणाग्रकपिशा चूते नवा मञ्जरी
मुग्धत्वस्य च यौवनस्य च सखे मध्ये मधुश्रीः स्थिता ॥ १०१ ॥'

अत्र मधुश्रियो मौग्ध्यत्यागयौवनारम्भकृतानां विशेषणानामवैषम्यात्समता ॥

क्रमशः वर्ण्यमान विषयों में क्रमबद्धता का भङ्ग न होना समत्व कहा गया है ॥ ७९ ॥

जैसे—(राजा कहता है कि) हे मित्र (देखो तो) सामने ही कान्ता के नख की भांति लाल-लाल तथा दोनों भागों के बीच में श्यामल वृन्तों वाला कुरबक स्थित है, यह लाली ग्रहण करने के कारण सुन्दर लग रहा नवीन अशोक बस फूल ही उठने वाला है। आम्रवृक्ष में भी आई हुई नयी मञ्जरी कुछ-कुछ आ गये परागकणों के अग्रभाग पर छा जाने से कपिशवर्ण की हो उठी है। इससे तो ऐसा लगता है कि वसन्तलक्ष्मी ही मानो मुग्धता तथा युवा अवस्थाओं के बीच खड़ी हुई हो ॥ १०१ ॥

यहाँ मधुश्री को मुग्धात्व भाव छोड़ने तथा यौवनारम्भ की प्राप्ति को बताने वाले विशेषणों में अवैषम्य न होने से—उनके यथाक्रम ही आने से—समता नामक गुण है।

स्व० भा०—यहाँ मुग्धता का भाव छोड़कर यौवन की ओर बढ़ रही मधुलक्ष्मी का निरूपण प्रारम्भ से अन्त तक इसी क्रम से किया गया है। अतः जिस क्रम से लोक में जो कार्य होता है, उसका उसी क्रम में चामत्कारिक वर्णन होने से यहाँ समता नामक अर्थगुण है। कुरवक में प्रथम लाली और बाद में श्यामता आती है। अशोक पहले अपनी लाल-लाल पत्तियों से लद उठता है, फिर फूलता है, आम्रमञ्जरी में पराग धीरे-धीरे प्राचुर्य ग्रहण करता है। इस प्रकार सर्वत्र क्रमशः विकासशील क्रम वर्णित है। यह क्रम किसी सुन्दरी के मुग्धात्व भाव को छोड़कर यौवन की ओर बढ़ने की भांति है। सर्वत्र इसी क्रम का निर्वाह यहाँ दर्शनीय है।

वामन की परिभाषा 'अवैषम्यं समता (३।२।५) के काफी निकट है भोज का लक्षण।

अवैषम्यमिति। **येन रूपेण लोकेऽर्थः प्रतीतस्तदनतिक्रमेण तस्योक्तिः समता। वक्रता चात्र विशेषणमूहनीयम्। अन्यथा भुक्त्वा व्रजतीत्यतः को विशेषः स्यात्। अग्रे इति। मुग्ध इति कोषात्प्रथममुद्भिद्यमाना कुरबककलिका कान्तानखवत्पाटला भवतीति मधुश्रियो बाल्यम्। ततः प्रौढिमापद्यमानासु कलिकासु श्यामो वृन्तभागः स्फुटितत्वाद् द्विधावतिष्ठत इति यौवनम्। एवं बालाशोकमित्यादौ क्रमेण बाल्ययौवनचिह्नोपदर्शनमवसेयम्॥**

(४) माधुर्य गुण

माधुर्यमुक्तमाचार्यैः क्रोधादावप्यतीव्रता।

यथा—

'भ्रूभेदे सहसोद्गतेऽपि वदनं नीतं परां नम्रता-
मीषन्मां प्रति भेदकारि हसितं नोक्तं वचो निष्ठुरम्।
अन्तर्बाष्पजडीकृतं प्रभुतया चक्षुर्न विस्फारितं
कोपश्च प्रकटीकृतो दयितया मुक्तश्च नो प्रश्रयः॥ १०२॥'

अत्र वासवदत्तालक्षणस्यार्थस्य कोपेऽपि योऽयं विनयावलम्बेन कोपचिह्न-निह्नवस्तन्माधुर्यम्॥

क्रोध आदि के वर्णन में भी तीव्रता का न होना आचार्यों द्वारा माधुर्य कहा गया है॥८० आ॥

जैसे—(राजा वासवदत्ता के विषय में कहता है कि) क्रोध के कारण भौंहों के एकाएक तिरछी हो जाने पर भी उसने अपना मुख अत्यन्त नम्र कर दिया। मुझ पर वह भेदभरी रीति से थोड़ा सा हँसी तो जरूर, किन्तु कोई कर्कश बात नहीं कही, भीतर ही भीतर नेत्र तो जड़ हो गये, किन्तु अपनी सामर्थ्य से नेत्रों को (वश में ही रखा) आंखें फाड़कर देखा नहीं, इस भांति मेरी प्रेयसी ने मुझ पर क्रोध भी प्रकट किया और हमारे लिए एक आसरा भी छोड़ रखा॥१०२॥

यहाँ वासवदत्ता विषयक वर्णन में क्रोध होने पर भी नम्रता का सहारा लेकर उसका क्रोध के लक्षणों को छिपा जाना माधुर्य है।

स्व० भा०—प्रायः क्रोध की दशा में अनुभाव तथा वाणी दोनों कर्कश हो जाते हैं। यही दशा वीर, भयानक आदि रसों के प्रसङ्गों में भी दृष्टिगोचर होती है। किन्तु ऐसी स्थितियों में भी अनुभावों की उग्रता प्रदर्शित नहीं होती तभी अर्थमाधुर्य होता है। अर्थगत माधुर्य शर्करारस की भांति है जो सहृदय तथा अहृदय दोनों को समानरूप से अपने गुणों से आकृष्ट कर लेता है।

माधुर्यमिति। **शृङ्गारकरुणौ हि मधुरौ ततस्तद्व्यञ्जकोऽर्थोऽपि मधुरस्तस्य शर्करादिरससोदरं माधुर्यम्। यथा हि—शर्करारसः सहृदयस्यासहृदयस्य वा, सुस्थस्यासुस्थस्य**

वा, झटिति रसनाग्रमर्पितश्रमत्कारमावहति, तथा चित्तद्रुतिसारचर्वणैकप्राणरसव्यञ्जकोऽर्थस्तेन तद्व्यञ्जनशक्तिसमुद्रेकनिर्वहणं वाक्यार्थस्य माधुर्यमिति पर्यवसितोऽर्थः। तत्र वासनापरिपाकवशादुदयव्ययवतीषु दीप्तचित्तवृत्तिषु जागरूकास्वपि समस्तन्यग्भावनया विरोधः संपद्यत इति क्रोधादावप्यतीव्रता इत्युक्तम्। तथा हि—भ्रूभेदे इत्यादौ गोत्रस्खलितादिना कदाचिदपराद्धे नायके प्रेमस्वभावादीर्ष्यारोषलक्षणव्यभिचारिप्रादुर्भावात्तदनुभावभ्रूभेदोद्गमो रतिप्रकर्षाद्भविष्णुनावहित्थेन न्यग्भाव्यते। विरोधिविजये हि भूयान् प्रकर्षः परस्य भवति। अत एव परामित्युक्तम्। एवं 'ईषन्मां प्रति भेदकारि हसितम्' इत्यादौ माधुर्यमुन्नेयम्। तदिदमाह—अत्र वासवदत्तालक्षणस्येति॥

(५) सौकुमार्यगुण

अनिष्ठुरत्वं यत्प्राहुः सौकुमार्यं तदुच्यते॥ ८०॥

यथा—

'सद्यः पुरीपरिसरेऽपि शिरीषमृद्वी
सीता जवात त्रिचतुराणि पदानि गत्वा।
गन्तव्यमस्ति कियदित्यसकृद्ब्रुवाणा
रामाश्रुणः कृतवती प्रथमावतारम्॥ १०३॥

अत्र सीतायाः पुरीपरिसरेऽपि कियदस्ति गन्तव्यमिति वचनं शृण्वतो रामस्य शिरीषमृदुतदङ्गावलोकनेनाश्रुणोऽवतारः सौकुमार्यमाह॥

(किसी कोमल प्रसङ्ग के अवसर पर अपने को) जो कठोर न रख पाना है, वही काव्य में अर्थसुकुमारता है॥ ८०॥

जैसे—(वनगमन के समय) शिरीष पुष्प के सदृश कोमलाङ्गी सीता मार्ग में तेजी से तीन चार कदम ही चली होगी कि तत्काल अयोध्यानगरी के समीप ही 'अभी कितना चलना है' इस बात को बार-बार कहकर उन्होंने राम की आंखों में प्रथम तया आँसू छलका दिया॥१०३॥

यहाँ पर सीता का नगर के निकट ही 'अभी कितना और चलना है', यह वचन सुनने वाले राम को उनके शिरीषपुष्प सदृश कोमल शरीर को देखकर आँसू आ जाना सुकुमारता है।

स्व० भा०—वामन ने अर्थसौकुमार्य का लक्षण "अपारुष्यं सौकुमार्यम्" (३।२।११) तथा इसकी वृत्ति 'परुषेऽप्यर्थेऽपारुष्यं सौकुमार्यमिति' दिया है। अतः यह लक्षण भोज के माधुर्य के अधिक निकट है, न कि सुकुमारता के। भोज की दृष्टि में किसी हृदयविदारक करुण अथवा चित्ताकर्षक शृङ्गार आदि की घड़ियों में अपना भी उसी के अनुसार लय कर देना—तन्मय हो जाना, न कि कठोर बने रहना, सुकुमारता है।

तुलसीदास ने बालरामायण के इस छन्द का भावानुवाद अपनी कवितावली में दिया है—

पुरतें निकसीं रघुबीरवधू धरि धीर दये मग में डग द्वै।
झलकीं भरि भाल कनी जलकी, पुनि सूखि गये मधुराधर वै॥
फिर बूझति हैं चलनोब कितै, पिय पर्नकुटी करिहौ कित है।
तिय की लखि आतुरता पिय की अँखियाँ अतिचारु चलीं जल च्वै॥

अनिष्ठुरत्वमिति। **सामग्रीसंभवेऽपि चित्तद्रुतिमनासादयन्नीरसः कठोरोऽभिधीयते। अतथाभूतस्तु झटिति तन्मयीभवनयोग्यान्तःकरणः सुकुमारस्तदिदमुक्तमनिष्ठुरत्वमिति।**

प्राहुरित्यनेन प्रसिद्धिं द्योतयति—सद्य इति। सहगन्तुमुत्सुका कथमेव सुकुमारप्रकृतिः कान्तारेषु भविष्यसीति वार्यमाणापि हृदयवैमुख्येन पद्भ्यामतित्वरितं गमिष्यामीति स्नेहमूढा त्रिचतुराणि पदानि जवाद्गतवती। अश्रुणः प्रथमावतारो भविष्यदश्रुपरम्परा-प्रचारभूतः। सौकुमार्यमाहेति अश्रुपातेनानुभावाश्रुनिमित्तभूता चित्तद्रुतिः करतलामल-कवत् प्रकाश्यते॥

(६) अर्थव्यक्तिगुण

अर्थव्यक्तिः स्वरूपस्य साक्षात्कथनमुच्यते॥ ८१।अ॥

यथा—

'पृष्ठेषु शङ्खशकलच्छविषु च्छदानां
रेखाभिरङ्कितमलक्तककलोहिताभिः।
गोरोचनाहरितबभ्रुबहिःपलाश-
मामोदते कुमुदमम्भसि पल्वलस्य॥ १०४॥

अत्र कुमुदस्वरूपस्य साक्षादिव प्रतीयमानत्वेन यत्स्पष्टरूपाभिधानम-सावर्थव्यक्तिः॥

किसी भी वस्तु का ऐसा वर्णन कि सामने उसकी आकृति सी उपस्थित हो जाये, अर्थव्यक्ति कहा जाता है॥ ८१ अ॥

जैसे—पंखुडियों के शंखखण्ड तुल्य श्वेत छटा वाले पृष्ठभाग पर आलता के सदृश लाल-लाल रेखाओं से चिह्नित और गोरोचन तथा हरे रंग के बाहरी दलों वाला कुमुद का पुष्प तालाब के जल में सुगन्ध बिखेर रहा है॥ १०४॥

यहाँ कुमुद के रूप के प्रत्यक्ष सा प्रकट हो जाने से जो यह अव्यवहित रूप से चित्र का कथन है, वही अर्थव्यक्ति है।

स्व० भा०—अर्थव्यक्ति का समकक्ष गुण आधुनिक समालोचना के भी क्षेत्र में प्रयुक्त होता है। उसे कहते हैं 'चित्रात्मकता' (Pictorial quality) अर्थात् किसी पदार्थ का ऐसा सजीव-वर्णन करना कि उस वर्ण्यमान विषय का साक्षात् रूप सा प्रकट हो जाये।

भोज ने उदाहरण वामन से लिया है और लक्षण की दिशा में भी वह उन्हीं से प्रभावित हैं। वामन के अनुसार—'वस्तुस्वभावस्फुटत्वमर्थव्यक्तिः।' (३।२।१३), वस्तूनां भावानां स्वभावस्य स्फुटत्वं यदसावर्थव्यक्तिः।"

अर्थव्यक्तिरिति। स्वरूपं स्वमसाधारणं कविप्रतिभैकगोचरं चमत्कारिरूपं तस्य साक्षा-त्कथनम्। कविशक्तिवशात्साक्षात्कारसोदरप्रतीतिजनकपदवत्त्वं संदर्भस्यार्थव्यक्तिनामा गुणः। अर्थो यथोक्तस्तस्य व्यक्तिः प्रत्यक्षायमाणता। जातेर्भेदस्तृतीये वक्ष्यते॥ पृष्ठेष्विति। ईषद्विकस्वरस्य कुमुदस्य किंचिद्विघटमानबहिः पलाशसंबन्धिषु शीतातपासंपर्कादत्यन्त-विशदानां दलानां पृष्ठानि पाकलोहितरेखाङ्कितानि दृश्यन्ते। अत एवामोदते किंचिदुद्भि-दुरेण मुखेन गर्भपिण्डितमामोदं मुञ्चतीति॥

(७) कान्तिगुण

कान्तिर्दीप्तरसत्वं स्यात्॥ ८१ ब।१॥

यथा—

'मा गर्वमुद्वह कपोलतले चकास्ति

कान्तस्वहस्तलिखिता मम मञ्जरीति ।
अन्यापि किं न सखि भाजनमीदृशीनां
वैरी न चेद्भवति वेपथुरन्तरायः ॥ १०५ ॥

अत्र नायिकायाः सपत्न्यामीर्ष्यानुबन्धेन प्रतिपादितस्य प्रियतमानुरागलक्षणस्य शृङ्गारस्य दीप्तरसत्वं कान्तिः ॥

(शृङ्गार आदि) रसों का दीप्त होना अर्थात् चरमकोटि की ओर अग्रसर होना आर्थी कान्ति है । (८१ वा१) जैसे—

(एक नायिका अपनी सपत्नी से कहती है) तुम यह घमण्ड मत करो कि तुम्हारे गालों पर प्रियतम के अपने हाथों द्वारा ही लिखी गई पत्ररचना (मञ्जरी) सुशोभित हो रही है । अरी सखी, क्या कोई दूसरी भी इस प्रकार की रचनाओं का पात्र नहीं बन सकती ? अर्थात् बन सकती यदि कहीं इस सुख के बाधक कम्प आदि सात्त्विक भाव वैर न साधते । (अर्थात् तुम तो मूर्ख हो जो इस प्रकार की रचना करा लेने पर गर्व करती हो, तुम्हें प्रियस्पर्शजन्य सुख का ज्ञान ही नहीं । हम लोगों में तो उनका सम्पर्क पाते ही ऐसे भाव जाग्रत हो जाते हैं कि ये रचनायें सम्भव ही नहीं होतीं ।)

यहाँ नायिका का सौत के प्रति ईर्ष्याभाव से निरूपित प्रियतम के प्रेम को प्रकट करने वाले शृङ्गार रस की दीप्ति होने से कान्ति गुण है ।

स्व० भा०—भोज का कान्ति गुण का लक्षण वामन से मिलता है । वामन के अनुसार 'दीप्तरसत्वं कान्तिः (३।२।१४॥) है । 'दीप्तरस' पद सीधे वामन से भोज ने उतार लिया है ।

कान्तिरिति । रसोऽभिमानात्मा शृङ्गारस्तस्य दीप्तत्वं विभावानुभावव्यभिचारिभिः सम्यक् संचलितेन स्थायिना निरन्तरमुपचीयमानस्य परमकोटिगमनम् । तथा हि—मा गर्वमित्यादौ यत्र भङ्गेषु बहुतरसूक्ष्मभङ्गविशेषमयमञ्जरीलिखितेव बहिर्विषयातिरोधानलक्षणतादवस्थ्यात् प्रकाशनेन नायकस्य सपत्न्यामनुरागे विच्छायभावोक्तिः । स्वात्मनि तु सहसाविर्भवत्सात्त्विकप्रतिपादनेन जीवितसर्वस्वाभिमानात्मकरतिस्थायिभावप्रकाशने तस्याः सापेक्षभावे नायिकाया अपि तदवस्थैव सा प्रतीयते । तदिदमाह—प्रियतमानुरागेति । अनुरागेण लक्ष्यते सप्तार्चिरिवार्चिषोपचीयत इत्यनुरागलक्षणः ॥

(८) उदारतागुण

भूत्युत्कर्षं उदारता ॥ ८१ ॥

यथा—

'प्राणानामनिलेन वृत्तिरुचिता सत्कल्पवृक्षे वने
तोये काञ्चनपद्मरेणुकपिशे पुण्याभिषेकक्रिया ।
ध्यानं रत्नशिलागृहेषु विबुधस्त्रीसंनिधौ संयमो
यद्वाञ्छन्ति तपोभिरन्यमुनयस्तस्मिंस्तपस्यन्त्यमी ॥ १०६ ॥'

अत्र मारीचाश्रमस्य सत्कल्पवृक्षादिपदैर्वैभवोत्कर्षस्य प्रतिपादनमुदारता ॥

सम्पत्ति का लोकातिशायी प्रकर्ष चित्रित करना उदारता है ॥ ८१ ॥

जैसे—(राजा दुष्यन्त मारीचाश्रम के महात्माओं पर अपना मत व्यक्त करते हैं कि) (एक दो ही नहीं अपितु) कल्पवृक्षों का वन होने पर भी ये तपस्वी केवल वायु के (भक्षण) द्वारा अपना उचित प्राणधारण करते हैं। स्वर्णकमल के पराग से पीले जल में ये पवित्र स्नान आदि की क्रिया करते हैं। ये मणियों के गृहों में ध्यान लगाते हैं और देवाङ्गनाओं की संनिधि में भी इन्द्रियसंयम करते हैं। दूसरे मुनिगण जिन सम्पत्तियों को तपस्याओं से प्राप्त करना चाहते हैं, उनकी उपस्थिति पर भी ये तपस्या कर रहे हैं ॥ १०६ ॥

यहाँ मारीचाश्रम की समृद्धि के उत्कर्ष का 'सत्कल्पवृक्ष' आदि पदों से निरूपण है, अतः उदारता गुण है।

स्व० भा०—यहाँ 'वनों' का 'कल्पतरु' से सम्बन्ध उनका उत्कर्ष द्योतित करता है जब कि 'सत्' कल्पवृक्षों का। कमल समुदाय जल की सम्पत्ति हैं, और काञ्चनता कमलों की। अनेकत्व पाषाणनिर्मितगृहों की सम्पत्ति के सूचक हैं, उनमें भी रत्नता उत्कर्ष है। स्त्रियों की संनिधि ही एक उत्कर्ष है, उसमें भी 'विबुध' उत्कर्षताधायक है। इस प्रकार यहाँ निरन्तर उत्कर्ष व्यक्त होने से उदारता है।

भूतीत्यादि। **भूतिः संपत्तस्या उत्कर्षो लोकातिगप्रकर्षस्तस्यैव सहृदयचमत्कारार्पकतया गुणधुराधिरोहणक्षमत्वात्॥** प्राणानामिति। **उचिता तपोयोग्या। वनस्य कल्पतरुसंबन्धः संपत्, तत्रैव सत्पदेन मुक्तास्तवकमाणिक्यमञ्जरीचीनांशुककिसलयादिविशेषद्योतिना प्रकर्षः। पद्मप्रकरस्तोयसंपत्, तत्रैव काञ्चनमयत्वेन पद्मानां प्रकर्षः। बहुत्वं शिलावेश्मसंपत्, तत्रैव रत्नरूपताप्रकर्षः। संनिधिः स्त्रीप्रतियोगिकतासंपत्, तत्रैव विबुधेति प्रकर्षः। तदिदमाह—सत्कल्पवृक्षादिपदैरिति॥**

(९) उदात्तता गुण

आशयस्य य उत्कर्षस्तदुदात्तत्वमिष्यते ॥ ८२।अ ॥

यथा—

'पात्रे पुरोवर्तिनि विश्वनाथे क्षोदीयसि क्ष्मावलयेऽपि देये।
व्रीडास्मितं तस्य तदा तदासीच्चमत्कृतो येन स एव देवः ॥ १०७ ॥'

अत्र सकलक्ष्मावलयप्रदानेऽपि जातव्रीडतया बलेराशयोत्कर्षप्रतिपादनादुदात्तत्वम् ॥

अभिप्राय की जो उत्कृष्टता है उसे ही उदात्तत्व स्वीकार किया गया है। (८२ अ)

(बलि से वामन द्वारा की गई याचना का प्रसङ्ग उपस्थित करके कवि कह रहा है कि) सामने मांगने वाले खड़े थे सम्पूर्ण चराचर जगत् के स्वामी, जिनको देने के लिए सम्पूर्ण भूमण्डल भी अत्यल्प ही सिद्ध होता है। अतः उस समय दान की क्षुद्रता समझ कर बलि जो लज्जा से मुस्कराया, उस मुस्कराहट से वे देवाधिदेव वामन (विष्णु) भी आश्चर्यचकित हो गये ॥ १०७ ॥

यहाँ सम्पूर्णभूमण्डल प्रदान करने पर भी लज्जा उत्पन्न होनेसे बलि के अभिप्राय की उत्कृष्टता का प्रतिपादन करने से उदात्तता नामक गुण है।

स्व० भा०—त्रिलोकीनाथ के याचक रूप में उपस्थित होने पर सम्पूर्णभूमण्डल दान देने पर भी बलि का लज्जित होना उसके अभिप्राय की उच्चता का सूचक है। यद्यपि समस्त भूमण्डल जिसमें अगणित राष्ट्र समाहित हैं दान में 'दे देना गौरव और गर्व की बात है, लज्जा की नहीं',

किन्तु विश्वनाथ के लिए तो यह अत्यल्प ही है यह सोचकर बलि लज्जित हो उठा था। इसी प्रकार देव, असुर, किन्नर, आदि विभिन्न प्रपञ्चात्मक विश्व जिसके निश्वास रूप में प्रकट हुआ, उसका मात्र बलि की स्मिति देखकर चकित हो जाना भी बिना कहे ही उत्कर्ष का सूचक है।

आशयस्येति। **उत्कर्षः पूर्ववत्। उच्चाशयो लोके उदात्त इति प्रतीतः॥** पात्र इति। **विश्वनाथ इति यदाज्ञावशंवदा त्रिलोकी सोऽपि यत्प्रार्थयत इति, वलयेऽपीत्यपिशब्देन यस्यैकदेशः कुरुपाण्डवनिधननिदानतया विख्यातस्तस्यापि देये लज्जत इति। देवासुरकिन्नरादि रयं जङ्गमस्थावरप्रपञ्चो यदुच्छ्वासविलसितं सोऽपि चमत्कृत इति पदार्थानभिहितः प्रकर्षोऽभिधेयः॥**

(१०) ओजोगुण

ओजः स्वाध्यवसायस्य विशेषोऽर्थेषु यो भवेत्॥ ८२॥

यथा—

'तान्येव यदि भूतानि ता एव यदि शक्तयः।
ततः परशुरामस्य न प्रतीमः पराभवम्॥ १०८॥

अत्र परशुरामो विजयत एवेत्यस्मिन्नर्थे स्वाध्यवसायप्रतिपादनमोजः॥

अनेक अर्थों में वक्ता (स्व) के निश्चय (अध्यवसाय) की विशिष्टता का प्रतिपादन ओज है॥ ८२॥

जैसे—यदि वे ही प्राणी हैं और यदि वे ही शक्तियाँ हैं तो परशुराम के पराजय का हम विश्वास नहीं कर सकते॥ १०८॥

'यहाँ परशुराम जीत रहे हैं', इसी अर्थ का अपना निश्चय प्रकट करने से ओज गुण है।

स्व० भा०—लोक में भी देखा जाता है कि लोग खूब जोर देकर अपनी बात कहते हैं, और उसमें विशिष्टता लाने के लिए अन्य उपक्रमों का भी योग करते हैं। उसी प्रकार यहाँ भी प्रकट किया गया है कि यदि उसी क्षत्रियमानव जाति के लोगों का संहार करना है जिनका परशुराम ने इक्कीस बार बध किया है, यदि परशुराम में अब भी दिव्यशक्तियाँ ज्यों की त्यों विद्यमान हैं, क्षीण नहीं हुई तो यह निश्चय है कि परशुराम यहाँ भी विजयी होंगे ही। अपने निश्चय पर जोर देकर कहने से एक विशेष प्रकार की ऊर्जस्विता प्रतीत होने लगती है, उसी को ओज कहते हैं।

ओज इति। **अध्यवसायो निश्चयस्तत्र विशेषः पूर्ववत्। स्वपदेन वक्ताभिमतः॥** तानीति। **यदि हन्तव्यजातीयमेव न विपर्यस्तम्। ता एवेति। प्रभावोत्साहमन्त्रजास्तद्वदर्थनिबर्हणप्रौढिप्रख्यातकीर्तयः शक्तयो यदि न विलीनतामयासिषुः। परशुराम इति। अर्जुनभुजसहस्रच्छेदादिना यस्य परशु(राम)वरदानेन त्रिभुवनेऽपि प्रसिद्ध इत्यादि॥**

(११) और्जित्यगुण

रूढाहंकारतौर्जित्यम्॥ ८३ आ१॥

यथा—

'उमा वधूर्भवान्दाता याचितार इमे वयम्।
वरः शंभुरलं ह्येष त्वत्कुलोद्भूतये विधिः॥ १०६॥

अत्रेमे वयमित्यात्मान्वितव्रतचर्यादिसमुत्थप्रौढाहंकारप्रतिपादनादौजित्यम् ॥

प्रौढ अहंकार का प्रदर्शन औजित्य है। (८३ आ१)

जैसे—(सप्तर्षिगण हिमालय से कहते हैं कि) शिव और पार्वती के विवाह कर्म का सम्पन्न हो जाना सब कुछ आपके कुल की वृद्धि के लिए ही है। (अरे, देखिये) उमा बहू होगी, आप जैसे लोग दाता होंगे। भगवान् शंकर दूल्हा होंगे। यह हम सभी लोग आपके सामने याचक हैं। इस प्रकार यह विवाहविधि तो आपके कुल का उत्कर्ष ही करने वाला है ॥ १०९ ॥

यहाँ पर 'ये हम लोग' इस प्रकार से सप्तर्षियों का कहना उनके अपने में व्रतचर्या, तपस्या आदि के कारण उत्पन्न प्रौढ अहंकार का प्रतिपादक है। अतः यहाँ औजित्य है।

स्व० भा०—यहाँ 'हमारे जैसे लोग आपके याचक हैं" इस प्रकार का सप्तर्षियों का कहना सूचित कर रहा है कि उन्हें अपनी तपस्या, शक्ति आदि का पूर्ण बोध था। उनके ऐसा कहने से उनके गुणविशेष से संयुक्त होने की बात द्योतित होती है। अतः यहाँ औजित्य गुण है।

रूढेति। **ऊर्जितशब्दोऽहंकृते प्रसिद्धस्तात्कालिकनिमित्तोपनिपाते वासनाविकासात्तमोनिर्भेदस्थानेषु सुप्तप्रबुद्ध इव स्थायिभिरसंसृज्यमानः प्रथमप्रादुर्भूतोऽभिमानोऽहंकार इत्युच्यते। रूढः सूक्ष्मावस्थातो द्वितीयामाविर्भावदशामापन्नोऽहंकारो यस्य स रूढाहंकारस्तस्य भावस्तत्ता। सुगममुदाहरणम् ॥**

(११) प्रेयोगुण

प्रेयस्त्वर्थेष्वभीष्टता ॥ ८३ आ२ ॥

'रसवदमृतं कः संदेहो मधून्यपि नान्यथा
मधुरमधिकं चूतस्यापि प्रसन्नरसं फलम्।
सकृदपि पुनर्मध्यस्थः सन् रसान्तरविज्ञनो
वदतु यदिहान्यत्स्वादु स्यात्प्रियादशनच्छदात् ॥ ११०' ॥

अत्रामृतप्रभृतिभ्यः प्रियादशनच्छदस्याभीष्टताप्रतिपादनं प्रेयः ॥

अनेक वस्तुओं में वक्ता को एक का अतिशय प्रिय लगना प्रेयोगुण है। (८३ आ२)

जैसे—कोई प्रेमी कहता है कि भला इसमें क्या संशय है कि अमृत मधुर होता है, मधु भी मधुर के अतिरिक्त और दूसरा कुछ नहीं होता, अर्थात् वह भी मीठा ही होता है, आम का रस से भरा हुआ फल भी अधिक मीठा ही होता है। इस प्रकार दूसरे रसों को अच्छी तरह जानने वाला कोई भी व्यक्ति जरा बिना पक्षपात के केवल एक बार ही कह दे कि इस संसार में प्रियतमा के अधरों से बढ़कर मधुरतर दूसरी कौन सी वस्तु है। अर्थात् वक्ता के अनुसार समस्त मधुर पदार्थों में प्रेयसी के अधर सर्वाधिक मृदु हैं ॥ १० ॥

यहाँ अमृत आदि वस्तुओं की अपेक्षा प्रियतमा के अधरों की अभीष्टता का प्रतिपादन होने से प्रेयोगुण है।

स्व० भा०—यहां श्लोक में अमृत, मधु, आम्रफल, सदृश पदार्थों को मधुर कहा गया है किन्तु वक्ता के अनुसार सर्वाधिक मधुर तो प्रेयसी का अधर ही है, उसके मत से कोई भी निष्पक्ष व्यक्ति यही कहेगा।

वामन ने इस छन्द को माधुर्य (३।२।१०) गुण के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया था। सम्भवतः भोज ने इसे वहीं से लिया है।

प्रेय इति । शब्दगुणे तु निष्पादितवर्णनीयप्रीतिजनकत्वं पदानामुक्तम् । इह तु वाक्यार्थस्य वक्तृप्रीतिगोचरत्वमुच्यत इति विशेषः । प्रीतिरुक्तपूर्वा । तत्रैवाभिशब्देन प्रकर्षो द्योतितः । अभीष्टता प्रेय इति प्रेयःपदप्रवृत्तिनिमित्तम् । रसवदिति । प्रशंसायां मतुप् । अमृतमिति यस्य प्रसादात्त्रिदशैरमरत्वमासादितं नान्यथेति प्रत्यक्षसाक्षिके वस्तुनि प्रमाणान्तरानुसरणम् । प्रसन्नरसमिति अम्लतालक्षणकाव्यार्थापगमेन परिणतिरित्यादि ॥

(१३) सुशब्दतागुण

अदारुणार्थपर्यायो दारुणेषु सुशब्दता ॥ ८३ ॥

यथा—

'देवव्रते वाञ्छति दीर्घनिद्रां द्रोणे च कर्णे च यशोऽवशेषे ।
लक्ष्मीसहायस्य तवाद्य वत्स वात्सल्यवान्द्रौणिरयं सहायः ॥ १११ ॥

अत्र मुमूर्षामरणादीनां दारुणार्थानां दीर्घनिद्रां वाञ्छति यशोऽवशेष इत्यादिभिः सुशब्दैः पर्यायेण भणनं सुशब्दता । सा च मुख्यार्थव्यतिक्रमस्य वाक्यार्थत्वान्न शब्दगुणः ॥

अत्यन्त कठोर अथवा अशुभ प्रसङ्गों के उपस्थित होने पर उन्हीं के पर्यायवाची कोमल अथवा शुभ शब्दों का प्रयोग सुशब्दता नामक अर्थगुण है ॥ ८३ ॥

जैसे—भीष्म के महानिद्रा की इच्छा करने पर तथा द्रोण और कर्ण के यशःशेष हो जाने पर हे वत्स, वात्सल्य स्नेह से भरा हुआ यह अश्वत्थामा वैभव से समन्वित तुम्हारा सहायक होगा ॥ १११ ॥

मरण की इच्छा तथा मरण आदि अत्यन्त दारुण अर्थों को 'दीर्घनिद्रां वाञ्छति' तथा 'यशोऽवशेष' इत्यादि सुन्दर शब्दों द्वारा प्रकारान्तर से कह देने के कारण यहां सुशब्दता है। (यहाँ शब्दों में भी अन्तर तो अवश्य हुआ है किन्तु) मुख्य अर्थ—अभिधेय—को ही बदल कर वाक्यार्थ निष्पन्न कराने से सुशब्दता नामक शब्दगुण न होकर यहां अर्थगुण ही है ।

स्व० भा०—प्रस्तुत श्लोक में 'मरने की इच्छा' तथा 'मर जाना, इन दोनों अर्थों के कष्टप्रद होने से उनको 'दीर्घनिद्रा' तथा 'यशःशेष' शब्दों से प्रकट किया गया है। ऐसी स्थिति में मरण आदि की अपेक्षा 'लम्बी नींद', 'यशमात्र अवशिष्ट रह जाना', आदि शब्दों के प्रयोग कहीं अधिक कोमलता से वही भाव व्यक्त कर देते हैं। अतः दारुण अर्थों का प्रकारान्तर से कोमल अभिधान करने के कारण यहां सुशब्दता नामक अर्थगुण है ।

यहां एक प्रश्न उठता है कि जब कोमल शब्दों द्वारा दारुण अर्थ का पर्यायवाची अर्थ प्रकट किया जाता है तब तो यहां शब्दों का खेल होने से शब्दगुण ही होना चाहिए न कि अर्थगुण। किन्तु ऐसी बात नहीं है। शब्दों की अपेक्षा होने के कारण ही तो इसे सुशब्दता नाम दिया गया है, किन्तु मुख्य उद्देश्य वाच्य रूप मुख्य अर्थ का ही परिवर्तन होने से, तथा कोमल अर्थों में ही व्यञ्जक शब्दों का प्रयोग अपेक्षित होने से यहां अर्थगुण ही है ।

अदारुणेत्यादि । **झटित्यातङ्कदायी दारुणस्तस्य साक्षादभिधाने विवक्षितप्रतीतिस्खलनखेदसंभवात्तदुपनीतस्य वस्तुनस्तदध्यासान्तरितस्य वाक्यार्थत्वादिति । सर्वत्रैव हि लक्षणायामर्थाध्यासोऽङ्गीक्रियते । लौकिकी चेयं लक्षणेति न प्रयोजनगवेषणमपीति । सुगममुदाहरणम् ॥**

(१४) समाधिगुण

व्याजावलम्बनं यत्तु स समाधिरिति स्मृतः । ॥ ८४।अ ॥

यथा—

'दर्भाङ्कुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे
तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा ।
आसीद्विवृत्तवदना च विमोचयन्ती
शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम् ॥ ११२ ॥

अत्र गमने सति प्रियजनावलोकनाभिलाषिण्याः शकुन्तलाया दर्भाङ्कुरचरणक्षतिवल्कलव्यासङ्गादिव्याजावलम्बनं समाधिः ॥

(अपने भावों को प्रकट करने के लिए अथवा उद्देश्यसिद्धि के लिए) किसी बहाने का सहारा लेना समाधि नामक अर्थगुण के रूप में याद किया जाता है ॥ ८४ अ)

जैसे—दुष्यन्त विदूषक से अपने प्रति शकुन्तला द्वारा किए गये प्रेमपूर्ण प्रदर्शनों के विषय में स्पष्ट कर रहे हैं) कि वह तन्वङ्गी शकुन्तला कुछ ही कदम चलने के बाद एकाएक "कुश के अङ्कुर से पांव घायल हो गया" ऐसा कहकर निष्कारण ही खड़ी हो गई थी, तथा पुनः चलते समय वृक्षों की शाखाओं में वल्कलाञ्चल को न फंसने पर भी छुड़ाती हुई सी शकुन्तला ने मेरी ओर मुँह भी घुमाया था ।

यहां चलना अपेक्षित होने पर भी अपने प्रेमी को देखने की इच्छुक शकुन्तला का कुश की नोक से चरण घायल होने, वल्कलवस्त्र के फस जाने आदि बहानों का सहारा लेने से समाधिगुण है ।

स्व० भा०—शकुन्तला पूर्वानुराग के कारण लजा कर दुष्यन्त को नयनभर देख भी नहीं सकती थी, यद्यपि देखने की उद्दाम उत्कण्ठा थी । अतः घायल न होने पर भी बिना कारण ही रुक जाना और वल्कलों के वृक्षों की टहनियों में न फँसने पर भी उन्हें छुड़ाते-छुड़ाते मुख को राजा की ओर घुमा लेना आदि सब बहाना मात्र था । राजा को जीभर कर देख लेने के लिए ये छलछन्द अपनाये गए । अतः अर्थ का ग्रहण होने से अर्थगुण समाधि हुआ ।

व्याजेति । **चित्तवृत्तिषु बलादाविर्भवन्तीषु प्रकृतरसौचित्यविरोधिप्रकर्षात्प्रकटमनावरणीयासु च यदन्यथा समर्थनं तद्व्याजावलम्बनं प्रस्तुतोचितसमाधानात्मकत्वात् । तथा हि—पूर्वानुरागे त्रपासाध्वसविवशायास्तावन्नायकसमीपादपसरणमौचित्यापन्नम् । अनन्तरं तूत्कण्ठातरलितायाः कथमालोकमात्रेणापि कृतार्थः स्यादिति परावर्तनम् । तत्र च मौग्ध्यभङ्गशङ्कायां दर्भाङ्कुरक्षतिप्रभृतिव्याजावलम्बनमेव कार्यसर्वस्वमाभासत इति ॥**

(१५) सौक्ष्म्यगुण

सौक्ष्म्यमित्युच्यते तत्तु यत्सूक्ष्मार्थाभिदर्शनम् ॥ ८४ ॥

यथा—

'अन्योन्यसंवलितमांसलदन्तकान्ति
सोल्लासमाविरलसंवलितार्धतारम् ।
लीलागृहे प्रतिकलं किलकिञ्चितेषु
व्यावर्तमानविनयं मिथुनं चकास्ति ॥ ११३ ॥'

अत्रान्योन्यसंवलितमांसलदन्तकान्तीत्यादिवाक्ये दंपत्योरनुरागलक्षणस्य सूक्ष्मार्थस्य दर्शनात्सौक्ष्म्यम् ।

(अपनी कुशाग्र बुद्धि द्वारा किसी) अतिसूक्ष्म अर्थ को (उसकी सम्पूर्ण विशेषताओं के साथ प्रत्यक्ष सा) देखना ही सौक्ष्म्यगुण है ॥ ८४ ॥

(कोई नायिका अपनी सखी से किसी नवोढ़ किन्तु मुग्धत्वभाव को छोड़ रहे दम्पति के विषय में कहती है कि अरी सखी देखो न) प्रति दिन जैसे चन्द्रमा की कला बढ़ती जाती है उसी भांति इस जोड़ो की आजकल मौज बढ़ने लगी है। ये दोनों परस्पर चुम्बन आदि क्रियाओं के समय मसृण दांतों की कान्ति के मिल जाने से चमक उठते हैं। ये खुशी से फूलफूल कर खूब घूर-घूर कर सघन भाव से नेत्रपुतलियों को आधा घुमा-घुमा कर एक दूसरे पर कटाक्षपात करते हैं। शून्य केलिगृह निर्द्वन्द्व भाव से इनके किलकिञ्चितों—किलकारियों, भारी प्रसन्नता के होने-वाले हास, परिहास और रुदन आदि से भर उठा है। धीरे-धीरे इनका विनय—लज्जा आदि का भाव भी व्यावृत्त हो रहा है ॥ ११३ ॥

यहां 'अन्योन्यसंवलितमांसलदन्तकान्ति' इत्यादि वाक्य में दम्पति के अनुराग-व्यञ्जक सूक्ष्म अर्थ का दर्शन होने से सौक्ष्म्य गुण है।

स्व० भा०—यहां पर दम्पति के परस्पर कृत्यों से उनका स्नेहातिशय ही प्रकट हो रहा है। यह बात अत्यन्त सूक्ष्म ढंग से कह दी गई है। उनके व्यापारों से उनके भाव व्यक्त हैं, अतः सौक्ष्म्य है। वामन ने इसके दो भेद—भाव्य तथा वासनीय किये हैं। उन्होंने इस उदाहरण को भाव्य के उदाहरण के रूप में (३।२।९) उद्धृत किया है, जब कि भोज के टीकाकार इसे वासनीय का उदाहरण मानते हैं।

सौक्ष्म्यमिति। **सूक्ष्ममित्यादिवाक्यैकगोचरोऽर्थः कुशाग्रीयबुद्धितया सूक्ष्मस्तस्य दर्शन-मुपायवैलक्षण्यात्तद्विशेषवतः प्रत्यक्षायमाणता। सूक्ष्मालंकाराद्भेदस्तृतीये करिष्यते। स चायं भाव्यो वासनीयश्च। भावनामात्रगम्यो भाव्यो यथा—**

'उच्चइ आगमहि आवड्ढ सिज्जन्तरो सपरिआरम्।
पाणौ पसरन्तमत्ताचंवफलिहचसअम्मुहं बाला ॥'

एकाग्रताप्रकर्षगम्यो वासनीयस्तमुद्राहरति—अन्योन्येति। व्याजापसृतपरिवारे लीला-वेश्मनि तत्कालकलितमन्मथोन्माथं विदग्धमिथुनमुत्तरोत्तरमपनीयमानत्रपासाध्वसतया प्रतिकलं नवेन्दुवत्कान्तिविशेषमासादयति। विचित्रमव्यभिचार्यनुप्रवेशे हर्षरुदितस्मिता-दीनामव्यवस्थिततया व्यतिरेकरूपकिलकिञ्चिताख्यश्रृङ्गारभावोन्मेषः ॥

(१६) गाम्भीर्यगुण

शास्त्रार्थसव्यपेक्षत्वं गाम्भीर्यमभिधीयते ॥ ८५।अ ॥

यथा—

'मैत्र्यादिचित्तपरिकर्मविदो विधाय
क्लेशप्रहाणमिह लब्धसबीजयोगाः।
ख्यातिं च सत्त्वपुरुषान्यतयाधिगम्य
वाञ्छन्ति तामपि समाधिभृतो निरोद्धुम् ॥ ११४ ॥'

अत्र मैत्र्यादिपदानां शास्त्रार्थसव्यपेक्षत्वाद्गाम्भीर्यम् ॥

जिस वाक्य का अर्थ समझने के लिए उसमें प्रयुक्त पदों के शास्त्र-विशेष में प्रयुक्त अर्थविशेष की अत्यन्त अपेक्षा होती है उस वाक्यार्थ में गाम्भीर्यगुण होता है। (८५ अ)। जैसे मैत्री आदि चित्त संमार्जनों को जानने वाले योगी गण इस लोक में ही अथवा साधनापथ में क्लेशों का परित्याग करके सबीज समाधि प्राप्त करते हैं। इसके बाद प्रकृति (सत्त्व=प्रधान) तथा पुरुष से भिन्न रूप में ख्याति को समझ कर वे लोग समाधिस्थ होकर उस ख्याति को भी निरुद्ध करने की इच्छा करते है ॥ १४ ॥

यहां मैत्री आदि पदों का शास्त्रीय अर्थ विशेषरूप से अपेक्षित होने से गाम्भीर्यगुण है।

स्व० भा०—सामान्य भाषा में प्रयुक्त होने वाले पद जब किसी शास्त्र-विशेष में अपना विशिष्ट अर्थ देते हैं, वहां वे पारिभाषिक हो जाते हैं। जब उनका ही प्रयोग पुनः लौकिक काव्य भाषा में होने लगता है तब उनका शास्त्रीय अर्थ ही अपेक्षित होने से काव्यार्थ में एक विशेष प्रकार की गरिमा आ जाती है। सामान्य अर्थ भी विशेष सन्दर्भ में गम्भीर हो उठता है।

प्रस्तुत प्रसङ्ग में ही मैत्री, क्लेश, सबीज, ख्याति, सत्त्व, पुरुष, निरुद्ध, आदि पद केवल सख्य, कष्ट, बीज से संयुक्त, प्रसिद्धि या ज्ञान, जीव या गुण विशेष, आदमी, तथा रोक नहीं है। वस्तुतः मैत्री' पद योग सूत्र के 'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणाम् भावनातश्चित्त-प्रसादनम्' (१।३३) सूत्र में चित्त को परिष्कृत करने वाले साधनों के रूप में प्रयुक्त है। क्लेश पद भी "अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः (यो० सू० २।३) सूत्र के अनुसार कष्ट विशेष अथवा बाधक अन्तराय के अर्थ में गृहीत है। योगसूत्रों में पठित "ता एव सबीजः समाधिः" (१।४६) के अनुसार यहां सबीजता समाधि का एक भेद है। इसी प्रकार सत्त्व, पुरुष तथा ख्याति पदों का भी अर्थ "सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञत्वं च" (३।४९) के अनुसार ही लेना लेना चाहिए। 'निरोध' का भी अर्थ 'विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः" (१।१८) के अनुसार ग्रहणीय है। सामान्य विषय को गम्भीर बनाने के लिए ऐसे शब्दों का ही प्रयोग अभीष्ट होता है जो गम्भीर अर्थ वाले होते है। यहां गम्भीरता इसलिए आ गई है क्योंकि शब्दों का पारिभाषिक अर्थों में प्रयोग हुआ है।

शास्त्रार्थ इति। **एकपुरुषार्थप्रयोजनकपदार्थव्युत्पादनं विधिनिषेधव्युत्पत्तिफलकं शास्त्रं तदर्थसव्यपेक्षत्वम्। तदुक्तप्रक्रियानिरूपणाधीननिरूपणत्वं वाक्यार्थस्य गाम्भीर्यम्। मैत्री-करुणामुदितोपेक्षा इति चतस्रश्चित्तसंमार्जनाः। अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः। चित्तवृत्तिनिरोधो योगः, स एव व्युत्थानहेतुभिरनास्कन्दनीयः सबीजः। सत्त्वं प्रधानम्, पुरुषश्चिद्रूपस्तयोर्भेदः प्रथाख्यातिरिति सांख्यप्रक्रिया। अत्र मैत्र्यादिपदानामिति। वाक्यार्थस्यैव यथोक्तरूपत्वे तत्प्रतिपादकपदानामवश्यं तथाभावो भवतीति वैशेषिकाद् भेदो वक्ष्यते ॥**

(१७) विस्तरगुण

विस्तरोऽर्थविकासः स्यात् ॥ ८५।ब ॥

यथा—

'संग्रामाङ्गणमागतेन भवता चापे समारोपिते
देवाकर्णय येन येन सहसा यद्यत्समासादितम्।
कोदण्डेन शराः शरैररिशिरस्तेनापि भूमण्डलं
तेन त्वं भवता च कीर्तिरनघा कीर्त्या च सप्ताब्धयः ॥ ११५ ॥'

अत्र विपक्षवधात्सप्ताब्धिव्यापिनी कीर्तिरर्जितेत्येतावतोऽर्थस्य बहुविधं विकासितत्वाद्विस्तरः ॥

एक विशेष प्रतिपाद्य विषय को (अन्य विषयों का प्रतिपादन करके) बढ़ाना विस्तर गुण है । (८५ ब)

जैसे—(कोई प्रशंसक एक राजा का यशोगान करते हुए कह रहा है कि) हे महाराज, सुनिये, रणभूमि में आकर प्रत्यञ्चा मात्र चढ़ाने से किन-किन को क्या क्या मिला ? आपकी धनुष ने बाण पाये, बाणों ने शत्रुओं के शिर पाये, शत्रुओं के शिरों ने धरती-मण्डल पाया, धरती मण्डल ने आपको पाया, आपने यश पाया और आपकी विमल कीर्ति ने सातों समुद्र पाये ॥ ११५ ॥

यहां 'शत्रुओं का वध करने से आपने सात समुद्रपर्यन्त यश अर्जित किया है' केवल इतना ही प्रतिपाद्य विषय होने पर भी इसका जो अनेक प्रकार से विस्तार किया गया इसी से यहां विस्तर गुण है ।

विस्तर इति । **वाक्यार्थस्य पल्लवभूततत्तत्सहृदयचमत्कारिविशेषप्रसारणं संवृतविवृतपटवत् विस्तराख्यो गुणः । विस्तर इव विस्तरः शब्दप्रपञ्चवदित्यर्थः । अन्यथा विस्तार इति स्यात् । संग्रामाङ्गणेत्यादौ तु शत्रुशिरश्छेदात्सप्ताब्धिव्यापिनी त्वया कीर्तिरर्जितेत्येतावान्वाक्यार्थो लौकिकसाधारणतया च चमत्कारास्पदमिति संग्रामाङ्गणसंगतिरेव न तथा यथा वीरमात्रस्योचिता तत्रापि चापसमारोपणमिति काप्युत्साहशक्तिः । अत एव बलवदाश्रयप्रसक्तलुण्टाकवधेन यदवसितं तेनैव तदासादितमिति सोपस्कारकर्तृकर्मप्रपञ्चेन विकासनमेव काव्यपदवीप्राप्तिबीजम् । तदिदमाह—बहुविधं विकसितत्वादिति । नात्र शब्दविकासाधीनः प्रकर्ष इति शब्दविस्तराद्भेदः ॥**

(१८) संक्षेपगुण

संक्षेपस्तस्य संवृतिः ॥ ८५ ॥

यथा—

'श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥ ११६ ॥

अत्र शास्त्रे विस्तरप्रतिपादितस्य धर्मस्य श्लोकार्धेनोक्तत्वादयमर्थसंकोचः संक्षेपः ॥

(फैले हुए वस्त्र को लपेटने की भांति) एक प्रतिपाद्य अर्थ को बिना विस्तार किए हुये कह देना संक्षेपगुण है । (८५)

जैसे—(कोई धर्मप्रचारक कह रहा है कि) (सज्जनो) आपलोग धर्म का रहस्य सुनिये और सुनकर मन में धारण कीजिए कि जो काम आप अपने लिए अनुचित समझते हैं, उन्हें दूसरों के लिए नहीं करना चाहिए । अथवा जो आत्मा के विपरीत चीजें हैं, उन्हें दूसरों के प्रति नहीं करना चाहिए ॥ ११६ ॥

यहां धर्मशास्त्र में विस्तार से प्रतिपादित धर्म को केवल आधे श्लोक में ही कह देने से होने वाला अर्थसंकोच संक्षेप है ।

स्व० भा०—अत्यन्त विशाल धार्मिक साहित्य में जिस कर्त्तव्याकर्त्तव्य रूप प्रपञ्च का

विस्तार से वर्णन है उसको ही यहां केवल आधे श्लोक में दे दिया गया है। अतः यहां संक्षेप गुण है ।

संक्षेप इति । तस्येत्यर्थस्य समासे गुणीभूतस्यापि बुद्ध्या विभज्य परामर्शः । यथा—अथ शब्दानुशासनम् । केषां ? शब्दानामि'ति । अशेषविशेषोपग्राहकपुरस्कारेण वाक्यार्थस्याभिधानं विवृतसंवृतपटवत्संक्षेपः ॥ श्रूयतामिति । अत्र तेन तेन विशेषेण विस्तरतः प्रतिपादयितव्यस्य धर्मस्य यत्किंचिदात्मनः प्रतिकूलमन्यस्य नाचरणीयमिति सामान्येनाभिधानमप्रवृत्तप्रवर्तने प्रगल्भायमानमतिसुन्दरमाभासते । नात्र रचनासंकोचप्रतिष्ठितं काव्यमिति शब्दगुणाच्छेदः ॥

(१९) संमितत्वगुण

शब्दार्थौ यत्र तुल्यौ स्तः संमितत्वं तदुच्यते ॥ ८६।अ ॥

यथा—

'इन्दुर्मूर्ध्नि शिवस्य शैलदुहितुर्वक्त्रो नखाङ्कः स्तने
देयाद्वोऽभ्युदयं द्वयं तदुपमामालम्बमानं मिथः ।
संवादः प्रणवेन यस्य दलता कायैकतायां तयो-
रूर्ध्वद्वारविचिन्तितेन च हृदि ध्यातः स्वरूपेण च ॥ ११७ ॥'

अत्र प्रणवलक्षणस्यार्थस्य तुल्यत्वेन यथावद्विभज्य विनिवेशनं संमितत्वम् ॥

जहां पर शब्द तथा अर्थ दोनों समानरूप से होते हैं, वहां समितत्व गुण होता है ॥ ८६ अ ॥

भगवान् शिव के मस्तक पर स्थित चन्द्रमा तथा गौरी के स्तन पर बना हुआ टेढ़ा सा नख-चिह्न परस्पर साम्य धारण करने वाले ये दोनों ही एक साथ आप लोगों को कल्याण प्रदान करें। आलिङ्गन के समय उन दोनों के शरीर के एक हो जाने पर ये चन्द्रमा तथा नखच्छेद ऐसे लगते हैं मानों एक ब्रह्मरन्ध्र ऊर्ध्वद्वार-नवमद्वार-पर चिन्त्यमान तथा हृदय में सगुण रूप से ध्यायमान प्रणव—ॐकार-ही दलित होकर दो स्थानों पर बँटकर स्थित हो गया हो ॥ १७ ॥

यहां पर प्रणव के वाचक अर्थ का समानरूप से नियमित विभाजन करके वाक्य में योजना होने से संमितत्व गुण है।

स्व० भा०—योगीगण निराकार ब्रह्म का चिन्तन नवमद्वार-ब्रह्मरन्ध्र में करते हैं और सगुण रूप का हृदयकमल में। सगुण तथा निर्गुण दोनों ही प्रणव के वाच्य हैं। यहां शंकर के मस्तक पर स्थित चन्द्रमा तथा उमा के स्तनों पर बने कुटिल नखच्छेद क्रमशः नवमद्वार तथा हृत्कमल स्थानीय हैं। इन दोनों शब्दों—चन्द्र तथा नखच्छेद—को उद्देश्य करके एक प्रणवरूप अर्थ की योजना की गई हैं। अतः दोनों अर्थों का एकत्र सन्निवेश होने से—तुलाधृतन्यायवत्—संमितत्व गुण है। जब अर्थ का लक्ष्य करके शब्द योजना की जाती हैं तब शब्दगुण होता है और जब शब्द को उद्दिष्ट करके अर्थ का विधान होता है तब अर्थगुण होता है। यहाँ बालेन्दु तथा नखाङ्क इन दोनों शब्दों का पृथक्-पृथक् निर्देश करके प्रणवरूप अर्थ का तुलना में सन्निवेश करने के अर्थसंमितता है।

शब्दार्थाविति । **शब्दस्यार्थौ तयोर्विभज्य विनिवेशनं संमितत्वमिति केचित्, तन्न । शब्दग्रहणवैयर्थ्यप्रसङ्गात् । द्वित्वाविवक्षाप्रसङ्गाच्च ।**

'पल्लविअं विअ करपल्लवेहिं पप्फुल्लिअं व मुणहअच्छेहिम् ।
फलिअंमिव पीणपओहरेहिं अज्जाइ लावण्णम् ॥'
[पल्लवितमिव करपल्लवाभ्यां प्रफुल्लितमिव मुग्धाक्षिभ्याम् ।
फलितमिव पीनपयोधराभ्यामार्याया लावण्यम् ॥]

इत्यादौ द्विप्रभृतीनामर्थानामविभज्य विनिवेशनमिष्यते । तस्माच्छब्दश्चार्थश्च शब्दार्थौ । तयोस्तुल्यत्वं यावदुद्देशशब्दार्थम् । अर्थस्य विभज्य तुलाधृतवत्प्रतिनिवेशः संमितत्वमिति । अर्थमुद्दिश्य शब्दतुलनं काव्यभावबीजं शब्दगुणः, शब्दमुद्दिश्य त्वर्थतुलनमर्थगुणश्च । तथापि—परमेश्वरस्य मूर्ध्नि बालेन्दुः, पार्वतीस्तने नखाङ्क इति पृथक्शब्देनोद्दिश्य तदुपमायोग्यतया कायैकतायां दलनं हृत्पद्मनवमद्वारयोर्ध्यानेन युगपत्संनिधानमिति सम्यग्विभज्य तुलितस्येव प्रणवस्य प्रतिनिर्देश इति ॥ तदिदमाह—अत्रेति । यथावदिति । येन प्रकारेण संगच्छत इति तदनतिक्रमेणेति ॥

(२०) भाविकत्वगुण

साभिप्रायोक्तिविन्यासो भाविकत्वं निगद्यते ॥ ८६ ॥

यथा—

'दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि क्षणमिहाप्यस्मद्गृहे दास्यसि
प्रायेणास्य शिशोः पिता न विरसाः कौपीरपः पास्यति ।
एकाकिन्यपि यामि तद्वरमितः स्रोतस्तमालाकुलं
नीरन्ध्रास्तनुमालिखन्तु जरठच्छेदा नलग्रन्थयः ॥ ११८ ॥

अत्र तमालमालावलयितसरित्तीरकृतसंकेतायाः कुलटायाः स्वतनौ भाविनां परपुरुषनखक्षतानां नलग्रन्थ्यालेखव्याजगोपनेन साभिप्रायभणनं भाविकम् ॥

प्रयोजन विशेष पर ध्यान रखकर जब कथन का सन्निवेश होता है—वाक्य में पदों की स्थिति निश्चित की जाती है—तब वहां भाविकत्वगुण कहा जाता है ॥ ८६ ॥

जैसे—एक कुलटा अपनी पड़ोसिन से कहती है कि हे बहन, जरा एक क्षण के लिये मेरे भी घर पर निगाह डालती रहना । (क्या कहूँ) इस बच्चे का बाप अर्थात् मेरे पतिदेवता की आदत सी है कि वह कुये के स्वादहीन जल को पियेंगे ही नहीं । अकेली ही हूँ भी, फिर भी जा रही हूँ । अतः अच्छा यही है कि इधर से ही सघनतमाल वृक्षों से घिरी हुई नदी से पानी ले आऊँ भले ही मेरा शरीर खूब सटकर उगी हुई कठोर कांटों वाली नल की कांटों से घायल हो जाये ॥ ११८ ॥

यहां तमाल वृक्षों की सघन वनाली से घिरी हुई नदी के तट पर संकेत दी हुई कुलटा का अपने शरीर पर हो सकने वाले उपपति के नखक्षतों का नल की कांटों से छिदने के बहाने से छिपाना साभिप्राय वर्णित है, अतः यहां भाविकगुण है ।

स्व० भा०—प्रस्तुत श्लोक में स्वैरिणी का स्वैर विहार वर्णित है । देखा घर खाली हुआ और वह दरवाजे पर लड़के को बैठाकर, पड़ोसिन को सौंपकर सघनकुञ्ज की शीतल छाया में चल पड़ी । जल का बहाना संस्कृत का पूर्णपरिचित और बहुवर्णित आख्यान है, किन्तु यहां 'कठोर कांटों से शरीर के छिदने पर भी' कहने का अभिप्राय है परपुरुष द्वारा सम्भावित नखक्षतों को छिपाने का स्पष्टीकरण । इन पदों का उल्लेख साभिप्राय है ।

साभिप्राय इति । अभिप्रायविशेषप्रतिबद्धस्य वाक्यार्थस्योक्तिविन्यास उक्त्या विशेषो

न्यासः। शब्दगुणे पदानां भाव्यर्थनिष्पादिता इह त्वर्थस्येति विशेषः। तथा हि—दृष्टिमित्यादौ तनुमालिखन्तु जरठच्छेदा नलग्रन्थय इत्युक्त्या विन्यस्यमान एव भाविनलग्रन्थ्यालेख्यरूपार्थः कुलटास्वरूपानुसंधानदत्तान्तःकरणस्य प्रतिपत्तुरनन्तरमेव स्वैरविहारचिह्नगोपनमभिव्यनक्ति॥

(२१) गतिगुण

गतिः सा स्यादवगमो योऽर्थादर्थान्तरस्य तु॥ ८७अ॥

यथा—

'शुभे कोऽयं वृद्धो गृहपरिवृढः किं तव पिता
न मे भर्ता रात्रौ व्यपगतदृगन्यच्च बधिरः।
हुं हुं हुं श्रान्तोऽहं शिशयिषुरिहैवापवरके
क्व यामिन्यां यासि स्वपिहि ननु निर्दंशमशके॥ ११६॥'

अत्र प्रश्नादर्थमवगम्य उत्तरादर्थान्तरावगमो गतिः॥

जब एक अर्थ से दूसरा अर्थ निकलता है तब वहां गति नामक अर्थगुण होता है। (८७ अ)

जैसे—(कोई पथिक किसी ग्राम में पहुँच कर एक घर के द्वार पर सायंकाल के लगभग पहुँचता है। उस घर में वह एक प्रमदा को देखता है जिसके पास एक बूढ़ा आदमी बैठा है। वह पूँछता है) "भद्रे, यह बूढ़ा कौन है?" 'घर का स्वामी है।' 'क्या यह तुम्हारा बाप है?' "नहीं, मेरा पति है" इसकी दृष्टि रात्रि में काम नहीं करती और यह बहरा भी है।" "अरे, रे, में थका बहुत हूँ और सोना चाहता हूं।" (तो फिर ठीक ही है) अब रात में कहां जाओगे, यहीं इसी भीतर के कमरे में सो जाओ, यहां न मच्छर हैं, न डांस।"

यहां प्रश्न से अर्थ समझकर पुनः उत्तर से भी दूसरे एक और अर्थ का भी ज्ञान होने से गतिगुण है।

स्व० भा०—प्रस्तुत उदाहरण में पथिक तथा नायिका के प्रश्नोत्तर से एक व्यंग्य अर्थ भी निकलता है। यह अर्थ वाच्य अर्थ से ही प्रकट होता है। वहां विशेष रूप से 'रतौंधी वाले' तथा 'बहरे' विशेषणों का रमणी द्वारा प्रयोग, इस बात को और स्पष्ट करता है कि यह इस समय न तो हमारे कृत्यों को देख सकता है और न हमारे प्रेमालाप को सुन ही सकता है। इसी प्रकार पथिक की सोने की इच्छा उसकी कामुकता को प्रकट करती है और नायिका का भीतरी कमरे में स्थान देना तथा दंश और मच्छरों से मुक्त बताना स्वच्छन्द और निर्बाधरमण की ओर भी संकेत करता है। अतः यहां वाच्य अर्थों से एक व्यंग्य अर्थ भी प्रकट होता है।

गतिरिति। **अर्थादर्थविशेषात्। हृदयसंवादिन इति यावत्। अर्थान्तरस्य तथाभूतस्य। तेन यत्र सहृदयहृदयंगमादर्थात्कांस्यतालानुस्वानन्यायेन तादृशमर्थान्तरमवगम्यते सा गतिरिति लक्षणार्थः॥** शुभे कोऽयं वृद्ध इति। **सर्वाकारमनवद्यायास्तावद्दास्यमपि नायमर्हतीति हृदयानुकूलमर्थं प्रश्नादवगत्य गृहपरिवृढ इत्युत्तरम्। अस्मादपि मम नायं कोऽपि किं तु गृहस्वामीति हृदयसंवादिनमर्थमवधार्य किं तव पितेत्यादिकप्रश्नोत्तरशृङ्खलागवेषणीया। तदेतद्व्याचष्टे—उत्तरादिति। उत्तरप्रत्युत्तरवाक्यात्। उत्तरं तु पदं प्रश्नपदमेव॥**

(२२) रीतिगुण

रीतिः सा यस्त्वहार्थानामुत्पत्त्यादिक्रियाक्रमः॥ ८७॥

यथा—

'प्रथममरुणच्छायस्तावत्ततः कनकप्रभ-
स्तदनु विरहोत्ताम्यत्तन्वीकपोलतलद्युतिः ।
प्रभवति पुनर्ध्वान्तध्वंसक्षमः क्षणदामुखे
सरसबिसिनीकन्दच्छेदच्छविर्मृगलाञ्छनः ॥ १२० ॥'

अत्रोदयादारभ्य चन्द्रस्योत्पत्त्यादिक्रियाक्रमो रीतिः ॥

वाक्य में जो वस्तुओं की उत्पत्ति आदि क्रियाओं का यथाक्रम वर्णन है, वही रीति है ॥८७॥

जैसे—रात्रि के प्रारम्भ होते ही सायंकाल सर्वप्रथम तो कुछ लाल-लाल, उसके बाद फिर स्वर्ण-सी पीली-पीली कान्ति से युक्त, उसके बाद वियोगपीडिता दुर्बल नायिका के कपोल मण्डल सी श्वेतकान्ति से युक्त होकर और उसके भी पश्चात् अन्धकार को नष्ट करने में समर्थ और ताजे मृणाल के टुकड़े की भांति अत्यन्त शुभ्र वर्ण वाला चन्द्रमा उदित हो रहा है ॥ १२० ॥

यहां उदय से लेकर चन्द्रमा की उत्पत्ति आदि की क्रियाओं का क्रमशः निरूपण है, अतः यहां रीति नामक गुण है ।

स्व० भा०—ध्यान रखना चाहिये कि यहां उत्पत्ति का क्रमिक वर्णन है, न कि स्वभाव का वर्णन या वस्तु का ही सामान्य निरूपण, अतः यहां अर्थव्यक्ति और जाति का भ्रम नहीं होना चाहिए ।

रीतिरिति । **उत्पत्त्यादीनां क्रियाणां क्रमः काव्यशोभावहत्वेन गुणः । नेदं वस्तुस्वभाववर्णनमिति जातेरर्थव्यक्तेश्च भेदः । सुगममुदाहरणम् ॥**

(२३) उक्तिगुण

उक्तिर्नाम यदि स्वार्थो भङ्ग्या भव्योऽभिधीयते ।

यथा—

'त्वमेवंसौन्दर्या स च रुचिरतायाः परिचितः
कलानां सीमानं परमिह युवामेव भजथः ।
अपि द्वन्द्वं दिष्ट्या तदिति सुभगे संवदति वा-
मतः शेषं चेत्स्याज्जितमिह तदानीं गुणितया ॥ १२१ ॥'

अत्राभीष्टस्य नायकनायिकासंगमस्य भङ्ग्या भणनमुक्तिः ॥

यदि वक्ता का अभिप्राय प्रकारान्तर से किसी मनोहर अर्थ को प्रकट करना हो तो वहाँ उक्ति नामक गुण होगा ॥ ८८ अ ॥

जैसे—(कोई दूती किसी नायिका को नायक से विवाह करने के लिए मनुहार करती हुई दोनों की परस्पर गुणशालिता का उल्लेख करती है और कहती है कि) हे सुन्दरि, तुम इस प्रकार की सुषमा से मण्डित हो और वह नायक भी सौन्दर्य से पूर्णतः परिचित है,—वह गुण का पारखी है—सुन्दर का सम्मान करना जानता है । तुम दोनों ही कलाओं की चरमसीमा प्राप्त कर चुके हो । यदि कहीं सौभाग्य से तुम दोनों का जोड़ा बन जाये अथवा तुम दोनों की जोड़ी परस्पर बातचीत करने लगे तो फिर इसके आगे की शेष बातें तो इस पृथ्वी पर तुम दोनों के गुणों द्वारा मानो जीत ही ली गई हैं ॥ १२१ ॥

यहाँ वक्ता का अभीष्ट है नायक और नायिका का समागम। इसका वक्रोक्ति द्वारा कथन हो जाने से यहाँ उक्ति गुण है।

स्व० भा०—वामन ने यह उदाहरण उदारता नामक गुण के प्रसङ्ग में (३।२।१२) दिया है। वस्तुतः नायिका तथा नायक का समागम दूती को अभीष्ट है। उसी को वह स्पष्ट शब्दों में न कह कर प्रकारान्तर से चतुरता से व्यक्त करती है।

उक्तिरिति। **स्वीयोऽभीष्टोऽर्थः स्वार्थः। तस्य साक्षात्प्रतिपादनमनुचितमिति अर्थान्तरभङ्गिभिः प्रतिपादनमर्थगुणः। भव्यो मनोहरः। सुगममन्यत्। नायकनायिकासंगमस्येति। नायकस्य नायिकया तस्याश्च नायकेनेति परस्परोत्कण्ठाप्रकर्षो विवक्षितः। तेनैकशेषो न भवति॥**

(२४) प्रौढिगुण

विवक्षितार्थनिर्वाहः काव्ये प्रौढिरिति स्मृता॥ ८८॥

यथा—

'त्वद्वक्त्रेन्दुविलोकनाकुलधिया धात्रा त्वदीयां श्रियं
निक्षिप्य प्रतिराजकेषु विदुषां लक्ष्म्या त्वमापूरितः।
तेनैते नियतं दरिद्रति गृहेष्वेषामियं दृश्यते
नैनामाद्रियसे त्वमिच्छसि नु तां त्वामेव सा धावति॥१२२॥'

अत्र त्वद्वक्त्रविलोकनाकुलेन धात्रा त्वदीया लक्ष्मीः शत्रुषु निक्षिप्य विदुषां च लक्ष्मीस्त्वय्यारोपिता। अतस्त्वं विपक्षलक्ष्मीमाद्रियसे सा च त्वामनुधावति। या च विदुषां लक्ष्मीस्तया त्वमापूरितस्तेन ते दरिद्राः। अत एव त्वमेनां नाद्रियसे। इयं च विद्वद्गेहेष्वेव दृश्यते इत्येतावतः प्रभूतस्यार्थस्यानेकवाक्येन प्रतिपादितत्वाद्विवक्षितार्थनिर्वहणं प्रौढिः॥

काव्य में कवि की मनचाही वस्तु का यथावत् वर्णन (अल्पवाक्यों द्वारा ही) कर देना प्रौढि है॥ ८८॥

जैसे—कोई कवि राजा की प्रशंसा में कहता है कि हे महाराज, ब्रह्मा ने जब आपके मुखचन्द्र का निर्माण किया, उस समय इसके सौन्दर्य को देखकर वह आश्चर्य में पड़ गए। उसी आश्चर्य के कारण व्यग्रचित्त होने से उन्होंने आपकी सम्पत्तियों को शत्रु राजाओं के पास रख दिया और विद्वानों की समृद्धि से आपको पूर दिया। निश्चित ही इसीलिए ये विद्वान् दरिद्र हैं और इनके घरों में यही दिखाई भी पड़ती है। यही कारण है कि आप दरिद्र विद्वानों की लक्ष्मी का आदर नहीं करते और जिस शत्रु-लक्ष्मी की आप इच्छा करते हैं, वह आपकी ही ओर दौड़-दौड़ कर आ रही है॥ १२२॥

यहाँ पर 'तुम्हारे मुख को देखकर व्याकुल हो उठे विधाता के द्वारा तुम्हारी लक्ष्मी शत्रुओं के यहाँ रख दी गई और विद्वानों की लक्ष्मी का तुम्हारे ऊपर आरोप कर दिया गया। इसीलिए तुम्हें शत्रुओं की लक्ष्मी प्रिय है और वह भी तुम्हारी ही ओर दौड़ती है। विधाता ने जो विद्वानों की लक्ष्मी है उससे तुमको पूर्ण कर दिया, इसलिए वे दरिद्र हो गए। अतएव आप इसका सम्मान नहीं करते। यह भी विद्वानों के ही घरों में दिखती है। इस इतने अधिक अर्थ का कई वाक्यों द्वारा प्रतिपादन करने से अभीष्ट अर्थ का निर्वाह हो जाने से प्रौढ़ि गुण है।

विवक्षितेति। कवेरभिमतस्य भूयसोऽप्यर्थस्य स्वल्पेनैव वाक्येन प्रतिपादनं प्रौढिः। तथा हि—त्वां निर्माय जगद्विलक्षणवस्तुनिर्वहणचमत्कृतस्य धातुस्त्वद्वक्त्रेन्दुविलोकनं तदासङ्गेन त्वदर्थनिर्मितायाः श्रियः प्रतिराजकेषु भ्रमणक्रमेण संचारणं तत्पूर्वापरप्रतिसंघात(न)बलाद्विद्वद्भ्यो लक्ष्मीमाकृष्येत्यादिको भूयानर्थः स्तोकेन वाक्येनोपनीत इति॥

संप्रत्यतिप्रसङ्गवारणार्थं क्रमप्राप्ता वैशेषिकगुणा लक्षितव्याः। ते च दोषा अपि सन्तो गुणीभावमापन्ना उच्यन्ते। तत्रैष कवीनामालापः—

'सामण्णसुन्दरीणं विब्भममुव्वहइ अविणओच्चेअ।
धूमोच्चिअ पज्जलिआणं बहुमओ सुरहिदारूणम्॥'
['सामान्यसुन्दरीणां विभ्रममुद्वहत्यविनयोच्छ्रायः।
धूमोच्चयः प्रज्वलितानां बहुमतः सुरभिदारूणम्॥']

वैशेषिक अथवा दोषगुण प्रकरण

दारुणानां गुणत्वमिति शङ्कां दर्शयन्नाह—

पदाद्याश्रितदोषाणां ये चानुकरणादिषु।
गुणत्वापत्तये नित्यं तेऽत्र दोषगुणाः स्मृताः॥ ८९॥
त्रिविधा अपि ते भूयश्चतुर्विंशतिधा बुधैः।
प्रोक्ता यथा गुणत्वेन प्रविभज्य तथोच्यते॥ ९०॥

(१) असाधुगुणता

या म्लिष्टम्लेच्छितादीनां पददोषेष्वसाधुता।
निरूपितानुकरणे गुणत्वं सा प्रपद्यते॥ ९१॥

यथा—

'उन्नमय्य सकचग्रहमास्यं चुम्बति प्रियतमे हठवृत्त्या।
हुं हु मुञ्च ममेति च मन्दं जल्पितं जयति मानवतीनाम्॥ १२३॥'
अत्र हुं मुञ्च ममेत्यसाध्वोरपि म्लिष्टम्लेच्छितयोरनुकरणत्वाद्गुणत्वम्॥

पद आदि पर आश्रित दोषों में जो अनुकरण आदि करने पर सदा गुणत्व प्राप्त कर लेते हैं वे इस प्रसङ्ग में दोषगुण के नाम से याद किए गए हैं॥ पद, वाक्य तथा वाक्यार्थ इन तीन प्रकार के होते हुये भी वे प्रत्येक विद्वानों के द्वारा चौबीस-चौबीस प्रकार के कहे गए हैं। वे जिस प्रकार गुण हो जाया करते हैं, उनका विवेकपूर्वक विभाजन करके उल्लेख किया जा रहा है॥ ८९-९०॥

पद दोषों में म्लिष्ट (लुप्तैकदेश), म्लेच्छित (अव्यक्तरूप) (ग्रस्त, निरस्त, उपध्मात, कम्पित) आदि की जो असाधुता निरूपित की गई है, वही अनुकरण करने पर गुणत्व प्राप्त करती है॥ ९१॥

जैसे—केश पकड़कर, ऊपर उठाकर प्रियतम द्वारा जबर्दस्ती प्रियतमा का मुख चूमने पर मानवती कामिनियों के द्वारा धीरे-धीरे कहा गया 'हुँ हु, मेरा पल्ला छोड़ो' आदि पद सबसे सुन्दर है॥ १२३॥

यहाँ पर 'हुं हु ममम' यह सब व्याकरण से सिद्ध न होने से असाधुत्व दोष से संयुक्त हैं, किन्तु इन म्लिष्ट तथा म्लेच्छित दोनों पदों का अनुकरण करने से गुणत्व आ गया है।

स्व० भा०—किसी द्वारा कहे गए शब्दों को उन्हीं रूपों में व्यक्त करना अनुकरण है। अतः जब कोई व्यक्ति किसी की कही हुई शब्दावली का अनुकरण करता है उस समय उससे अपेक्षा की जाती है कि वह वक्ता के शब्दों को ज्यों का त्यों उपस्थित करेगा। यदि वक्ता का उच्चारण अशुद्ध है, तो अनुकर्त्ता को अशुद्ध उच्चारण करके ही शुद्धता रखनी पड़ती है। ऐसी दशा में वहाँ दोष नहीं होता।

प्रस्तुत उदाहरण में ही कोई नायिका अथवा पुरुष ही किसी मानिनी के उस विशेष स्थिति में उक्त शब्दों का अनुकरण करता हैं। मानिनी ने 'हुं हु ममम' ध्वनियों का उच्चारण किया था अतः द्वितीय 'हुं' पर अनुस्वार न होने से म्लिष्टत्व दोष तथा 'ममम' का रूप अव्यक्त होने से म्लेच्छित दोष होने पर भी यथावत् उच्चारण करने से असाधुत्व पददोष नहीं हुआ। किसी पद के किसी भी एक वर्ण या मात्रा को लुप्त कर देना म्लिष्टता है और किसी पद का स्वरूप अस्पष्ट रहना म्लेच्छितत्व है। यहाँ प्रथम दोष द्वितीय 'हु' से अनुस्वार हटा देने के कारण है तथा द्वितीय दोष 'ममम' का कोई एक पद निश्चित न हो पाने से है।

यद्यपि इन दोषों में गुणत्वाधान अनुकरण के कारण होता है, ऐसा कहा गया है, किन्तु अनुकरण तो मात्र उपलक्षण है। अन्य कारणों से भी अदोषता आती है। रत्नेश्वर के अनुसार—
"यद्यपि चानुकरणादिका एव न गुणाः तथाप्यनुक्रियमाणाद्यभेदोपचारेणोक्तम्।"
रुद्रट ने भी घोषणा की थी कि—

अनुकरणभावमविकलमसमर्थादि स्वरूपतो गच्छन्।
न भवति दुष्टमतादृग्विपरीतक्लिष्टवर्ण च ९॥६।४७॥

भोज ने शब्द तथा अर्थ दोषों के अर्थात् पद, वाक्य और वाक्यार्थ दोषों का वर्णन करने के बाद शब्दाश्रित बाह्यगुणों का तथा अर्थाश्रित आभ्यन्तर गुणों का सोदाहरण लक्षण निर्देश किया। इनके अनुसार एक प्रकार के गुण और भी होते हैं जिनको वैशेषिक गुण कहा जाता है। ये होते तो हैं वस्तुतः दोष ही किन्तु ये दोषों की भांति मुख्यार्थ का बाध न कर पाने के कारण गुण हो जाया करते हैं। भोज के टीकाकार रत्नेश्वर ने इनकी बड़ी रोचक भूमिका दी है—

'ते च दोषा अपि सन्तो गुणीभावमापन्ना उच्यन्ते। तत्रैव कवीनामालापः—
सामाण्णसुन्दरीणं विब्भममुव्वहइ अविणओच्चेअ।
धूमोच्चिअ पज्जलिआणं बहुमओ सुरहिदारूणम्'॥ अर्थात्
(सामान्यसुन्दरीणां विभ्रममुद्वहत्यविनयोच्छ्रायः।
धूमोच्चयः प्रज्ज्वलितानां बहुमतः सुरभिदारूणाम्॥)
भोज ने शृङ्गारप्रकाश के अष्टम प्रकाश में उपर्युक्त गाथा को दिया है।

यह एक शाश्वत सत्य है, जिसे प्रायः सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है। आचार्य भामह ने बहुत पहले ही घोषित किया था कि संनिवेश तथा आश्रय के वैशिष्ट्य से दोष भी गुण हो जाते हैं।

सन्निवेशविशेषात्तु दुरुक्तमपि शोभते।
नीलं पलाशमाबद्धमन्तराले स्रजामिव॥
किञ्चिदाश्रयसौन्दर्याद् धत्ते शोभामसाध्वपि।
कान्ताविलोचनन्यस्तं मलीमसमिवाञ्जनम्॥ १।५४-५५॥

वामन ने काव्यालंकारसूत्र के द्वितीय अधिकरण के द्वितीय अध्याय के १२ वें से १७ वें सूत्रों तक एकार्थ दोष न होने की बात कही है। दण्डी ने भी दोषापवादों का उल्लेख अनेक स्थलों पर किया है। इनके विचारों, लक्षणों तथा उदाहरणों को अनेक स्थानों पर भोज ने अक्षरशः ग्रहण किया है। इनका यथास्थान आगे निर्देश होता रहेगा। रुद्रट ने भी यथास्थान असामर्थ्य, ग्राम्य आदि दोषों की 'अदूषकता' की भी स्थापना की है (काव्यालंकार षष्ठ अध्याय)। परवर्तियों में मम्मट ने 'अनुकरणे तु सर्वेषाम्' (७ मे उल्लास) कह कर अन्य स्थानों पर अनेक दोषों के 'अदोष' होने की चर्चा की है। विश्वनाथ ने भी अपना मत प्रकट किया था कि—"अनुकारे च सर्वेषां दोषाणां नैव दोषता" (सा० द० ७।३१)॥ इसके अतिरिक्त यह भी बतलाया था कि—

अन्येषामपि दोषाणामित्यौचित्यान्मनीषिभिः ।
अदोषता च गुणता ज्ञेया चानुभयात्मता ॥ सा० द० ७।३२ ॥

इन समस्त स्वीकृतियों के बावजूद भी किसी ने नामकरण नहीं किया, कि जो दोष होते भी गुण हो जाया करते हैं, उनको क्या नाम दिया जाये। भोज ने यह काम अत्यन्त सुन्दर ढंग से किया है। जयदेव ने भी ऐसी स्थितियों को जिनमें दोष दोष नहीं रहते उसके गुणकर्तृत्व को 'दोषाङ्कुश' कहा है—

दोषमापतितं स्वान्ते प्रसरन्तं विशृङ्खलम् ॥
निवारयति यस्त्रेधा दोषाङ्कुशमुशन्ति तम् ।
दोषो गुणत्वं तनुते दोषत्वं वा निरस्यति ॥
भवन्तमथवा दोषं नयत्यत्याज्यतामसौ ॥ चन्द्रा. २।४०-४२ ॥

भोज ने पद, वाक्य तथा वाक्यार्थगत दोषों को स्वीकार किया था। प्रत्येक के १६-१६ भेदों को भी माना था। अब उन दोषों को एक-एक करके सिद्ध कर रहे हैं कि वे कैसे दोष नहीं होते।

पदादीति। **पदवाक्यवाक्यार्थदोषाणां गुणत्वापत्तये नित्यं ये भवन्ति, तेऽनुकरणादिषु मध्ये दोषगुणाः स्मृता इति संबन्धः। यद्यपि चानुकरणादिका एव न गुणाः, तथाप्यनुक्रियमाणाद्यभेदोपचारेणोक्तम्। पदादिदोषेष्वन्त्यान्त्यस्यैकस्य नवधा भेदे चतुर्विंशतिप्रकाराः।** यथेति। **येनोपाधिना गुणीभवनमाचार्यैरुपपादितं तत्तदुपाधिविभागप्रदर्शनं करिष्यत इति।** या म्लिष्टेति। **इह द्वये दोषा नित्या अनित्याश्च। तत्रानुकरणमात्रानपवदनीयदोषभावाश्च्युतसंस्काराप्रयुक्तादयो नित्याः। अनुकरणीयानुकरणानपवादकहेतुकाः श्रुतिकटुत्वप्रभृतयस्त्वनित्याः। येषु पददोषेषु म्लिष्टम्लेच्छितप्रभृतीनां यासाधुता निरूपिता, सा गुणत्वमनुकरणे प्रपद्यत इत्यन्वयः। लुप्तैकदेशं म्लिष्टम्। अव्यक्तरूपं म्लेच्छितम्। आदिग्रहणेन ग्रस्तनिरस्तोपध्मातकम्पितादयः। हुं हु इति द्वितीयहुंकारे बिन्दुप्रोञ्छनान्म्लिष्टम्। ममेति। किं मुञ्च मुञ्चेति म्लिष्टमुत ममेति न निश्चीयते।** अनुकरणत्वादगुणत्वमिति। **अर्थविशेषे हि साधुत्वव्यवस्थेति। यच्चाशक्तिजमसाधुरूपम्, तस्यानुकरणे साधुत्वमिष्यत इत्युक्तम्, अनुक्रियमाणं तु स्वरूपपदानुकरणतया पूर्वार्थत्यागेन साध्वेव। तस्यैवानुकरणस्य तत्कालरञ्जकमानवतीममवचनानुकारतया च गुणीकरणसामर्थ्यमिति॥**

(२) अप्रयुक्तत्व दोषगुण

गुणत्वमप्रयुक्तस्य तथानुकरणे भवेत् । ९२ अ ।

यथा—

'दिवं पत्काषिणो यान्ति येऽचीकमत भाषिणः ।
पत्काषिणोऽपि नो यान्ति ये वचन्ति प्रयुञ्जते ॥ १२४ ॥'

अत्राचीकमत वचन्तीत्यादिपदानां कविभिरप्रयुक्तानामप्यनुकरणत्वाद् गुणत्वम् ।

अप्रयुक्तत्व दोष भी अनुकरण करने पर गुणत्व प्राप्त कर लेता है ॥ ९२ अ ॥

जैसे—"पादों को कसने वाले स्वर्ग जाते हैं, जो "अचीकमत" कहते हैं । पादों को कसने वाले भी नहीं जाते हैं, जो 'वचन्ति का प्रयोग करते हैं ॥ १२४ ॥

यहाँ पर 'अचीकमत' 'वचन्ति' आदि पदों का कवियों द्वारा प्रयोग न होने पर भ अनुकरण के कारण गुणत्व आ गया है ।

स्व० भा०—'पत्काषिणः' 'अचीकमत' 'वचन्ति' ये ऐसे पद हैं जिनका कविवर्ग में प्रचलन नहीं है किन्तु किसी व्यक्ति ने इनका प्रयोग किया और कोई दूसरा व्यक्ति उसी का अनुकरण करने लगा । अतः पदों का अनुकरण में ज्यों का त्यों प्रयोग होने के कारण यहां दोष नहीं है ।

'पत्काषिणः' पद "पादमपि कषन्तः' इस अर्थ में 'हिमकाषिहतिषु च' नियम के अनुसार पाद का पत् आदेश कर देने पर बना है । इसी प्रकार √कमि धातु से 'अचीकमथाः' की भांति (द्रष्टव्य १।२ य श्लोक) कामना के अर्थ में विरल रूप से प्रयुक्त हुआ है । 'वचन्ति' भी √वचि से निष्पन्न हैं जिसका प्रचलित रूप यह नहीं है । वस्तुतः यहाँ का अप्रयुक्तत्व दोष अनुकरण के कारण समाप्त हो गया । उक्त उदाहरण का प्रत्येक चरण स्वतन्त्र वाक्यखण्ड है ।

गुणत्वमिति । **पत्काषिण इति पादमपि कषन्तः । 'हिमकाषिहतिषु च' इति पादशब्दस्य पद्भावः । वचेर्वचन्तीत्येव रूपमप्रयुक्तम् । न त्वन्यथापि । 'सत्यं नाम न वच्मि' इत्यादेरनुमतत्वात् । इत्यादिपदानामित्युदाहरणान्तराभिप्रायेण ॥**

(३) कष्टत्व दोषगुण

**यच्छ्रुतेर्विरसं कष्टं तस्य दुर्वचकादिषु ।
गुणत्वमनुमन्यन्ते सानुप्रासस्य सूरयः ॥ ९२ ॥**

यथा—

'त्वाष्ट्रास्त्वाष्ट्रारिराष्ट्रे न भ्राष्ट्रे नादंष्ट्रिणो जनाः ।
धार्तराष्ट्राः सुराष्ट्रे न महाराष्ट्रे च नोष्ट्रिणः ॥ १२५ ॥'

अत्र श्रुतिविरसत्वात् कष्टत्वेऽपि दुर्वचकत्वाद् गुणत्वम् ॥

कर्णकटु होने से जो कष्टत्व दोष होता है अनुप्रास से संयुक्त होने पर दुर्वचक आदि प्रसंगों में उसी को बुद्धिमान् लोग गुण मानते हैं ॥ ९२ ॥

जैसे—राक्षसगण स्वर्ग में नहीं हैं, भाड पर दन्तहीन लोग नहीं हैं, सौराष्ट्र में विशेष प्रकार के हंस नहीं हैं और महाराष्ट्र में ऊँट रखने वाले लोग नहीं हैं ॥ १२५ ॥

यहाँ कर्णकटुता होने से कष्टत्व दोष होने पर भी दुर्वचक होने से गुणता आ गई ।

स्व० भा०—प्रस्तुत उदाहरण के श्लोक में मूर्धन्य व्यञ्जनों का संयोग होने से सुनने में कर्णकटुता का अनुभव होता है । किन्तु सवर्ण वर्णों की अनेकावृत्तियों के कारण यहां अनुप्रास

अवश्य आ गया है। जो वर्ण किसी रस विशेष को पुष्ट करने में बाधक होते हैं, उन्हें दुर्वचक कहा जाता है। कठोर वर्णों का प्रयोग शृङ्गार, करुण आदि में अनुचित माना जाता है। ऐसा होने पर भी अलंकारत्व आ जाने से इन वर्णों का प्रयोग विशेष अखरता नहीं। दुर्वचक वर्णों के विषय में नियम हैं—

शषौ सरेफसंयोगौ टवर्गश्चापि भूयसा। विरोधिनः स्युः शृङ्गारे तेन वर्णा रसच्युताः॥
त एव विनिवेश्यन्ते बीभत्सादौ रसे यदा। तदा तं दीपयन्त्येव तेन वर्णा रसच्युताः॥

यच्छ्रुतेरिति। दुर्वचकयोगा इति व्यावहारिकचतुःषष्ट्यां दुर्वचकप्रयोगोऽनुमतः। तस्यानुप्रासघटकत्वेऽलंकारनिर्वहणक्षमतया कविशक्तिव्यञ्जकस्य गुणीभावः। आदिपदेन रौद्रादिरसानुप्रवेशः। यदाहं—

'शषौ सरेफसंयोगौ टवर्गश्चापि भूयसा।
विरोधिनः स्युः शृङ्गारे तेन वर्णा रसच्युताः॥
त एव विनिवेश्यन्ते बीभत्सादौ रसे यदा।
तदा तं दीपयन्त्येव ते न वर्णा रसच्युताः॥' इति।

त्वाष्ट्रा राक्षसास्त्वष्टुरपत्यं वृत्रस्तस्यारिरिन्द्रस्तस्य राष्ट्रे स्वर्गे न सन्ति। आष्ट्रे चणकादिभर्जनस्थाने न कुण्ठदंष्ट्रा भवन्ति। असितचञ्चुचरणा हैमा धार्तराष्ट्रा न विद्यन्ते। उष्ट्रिण उष्ट्रोपजीविनः॥

(४) अनर्थक दोषगुण

यत्पादपूरणाद्यर्थमनर्थकमुदाहृतम्।
गुणत्वमनुमन्यन्ते तस्यापि यमकादिषु॥ ९३॥

यथा—

'योषितामतितरां नखलूनं गात्रमुज्ज्वलतया न खलूनम्॥ १२६॥'
बभौ मुखेनाप्रतिमेन काचन श्रियाधिका तां प्रति मेनका च न॥ १२७॥'

अत्र खलुशब्दस्य चशब्दस्य च पादपूरणमात्रेऽपि प्रयोजने यमकत्वाद् गुणत्वम्॥

केवल पादपूर्ति के लिए उपयोगी जो निरर्थकत्व दोष से युक्त पद कहा गया है, उसको भी विद्वान् लोग यमक आदि में गुण मानते हैं॥ ९३॥

जैसे—(शिशुपालवध के दशम सर्ग में रत्युत्सव के पूर्व किए गए नखच्छेद आदि का वर्णन करते हुये माघ कहते हैं कि) अपनी गोराई के कारण प्रमदाओं का शरीर अत्यधिक नखक्षतों से युक्त कर दिये जाने पर भी शोभा में तनिक भी कमी न पड़ा। (शिशु, १०।९०)। (इसी प्रकार प्रदोष वर्णन प्रसङ्ग में वर्णन है कि) कोई नायिका अपने अनुपम मुखमण्डल के कारण शोभा से और भी अधिक चमक उठी। उसके सामने तो मैनका भी कुछ नहीं थी। (शिशु० ९।८६)

यहाँ 'खलु' तथा 'च' शब्दों का पादपूरणमात्र उद्देश्य होने पर भी यमक अलङ्कार होने के कारण गुणत्व आ गया है।

स्व० भा०—छन्द में 'नखलूनं' तथा 'न खलूनं' और 'काचन' तथा 'मैनका च न' इन पदों की पुनरावृत्ति के कारण यमक है, यद्यपि परवर्ती 'खलूनं' का 'खलु' तथा 'च न' का 'च' दोनों

पादपूर्ति के लिए ही प्रयुक्त हुये थे। इनके आने से छन्द में एक नया चमत्कार पैदा हो गया। अतः यहाँ दोष नहीं है। उदाहरण के प्रथम दोनों तथा अन्तिम दोनों चरण पृथक् २ श्लोकों के हैं।

यत्पादपूरणेति। द्योतनीयमर्थमन्तरेण प्रयुक्तमव्ययपदमनर्थकमित्युक्तम्। पादपूरणार्थत्वं तु दूषणताबीजम्। आदिग्रहणाद्वद्यपूरणम्। सति तूपयोगे तस्य तद्बीजाभावाद्दोषाभावविरहोऽलंकारारम्भे च गुणत्वम्। तदिदमुक्तम्—यमकादिष्विति। आदिशब्दोऽनुप्रासचित्रादिपरः। वाक्यालंकारार्थत्वमपि शब्दालंकारारम्भकत्वमेव। यदाह—'आर्षापिपुत्रकर्षिकवैदिकादिवाक्यानामलंकारहेतवो वाक्यालंकारार्थाः' इति। तेन—

'उत्फुल्लकमलकेसरपरागगौरद्युते मम हि गौरि।
अभिवाञ्छितं प्रसिध्यतु भगवति युष्मत्प्रसादेन॥' इति।

अत्र हि प्र इत्येतयोर्न वाक्यालंकारप्रयोजकत्वमित्युक्तप्रायम्। योषितामित्यादावतितरां नखलूनं योषितां गात्रमुज्ज्वलतया नोनमित्येव पर्याप्ते द्वितीयपादे तदुभयमपि यमकारम्भकं सत्प्रस्तुतोपयोगितया कविव्युत्पत्तिपुरस्कारप्रवृत्तमपजहाति दोषभावमुपादत्ते च गुणत्वमिति॥

(५) अन्यार्थदोषगुण

यत्तु रूढिच्युतत्वेन प्रोक्तमन्यार्थसंज्ञितम्।
प्रहेलिकादिषु प्रायो गुणत्वं तस्य युज्यते॥ ९४॥

यथा—

'खातयः कनि काले ते स्फातयः स्फार्हवल्गवः।
चन्द्रे साक्षाद्ध्वन्त्यत्र वायवो मम धारिणः॥ १२८॥

अत्र खातय इत्यादीनां घर्घरिकादौ धृङश्चानवस्थाने न रूढिः। गूढार्थे तु प्रहेलिकादौ तन्न दुष्यतीति तेषां दोषगुणत्वम्॥

जो रूढ अर्थ से च्युत हो जाने के कारण सम्भव अन्यार्थ नामक दोष कहा गया था, प्रहेलिका आदि में प्रयोग होने से उसमें गुणत्व हो जाता है॥ ९४॥

जैसे—'हे कन्ये, तुम्हारे आह्लादक चरणों में बँधे घुघुरुओं की ध्वनियाँ का प्रत्यक्ष हो रहा है। (अतः इन प्रखर उद्दीपनों के होने पर तो) मेरे प्राण अब यहाँ रुकने वाले नहीं। अथवा हे कुमारी, तुम्हारे चलने पर तुम्हारे चरणों में से प्रचुर एवं मनोहर शब्द होते हैं, अतः चन्द्रमा के सदृश आह्लादक इन तुम्हारे चरणों में मेरी प्राणवायु स्थित हैं॥ १२८॥

(द्वितीय अर्थ काव्यादर्श ३।१११ के पण्डित रामचन्द्र मिश्र के अनुवाद पर आधृत है)।

यहाँ 'खातयः' आदि का 'घर्घर' आदि अर्थों में तथा √धृङ् धातु का अनवस्थान—न रह पाने के अर्थ में रूढि—परम्परा—नहीं है। रहस्यपूर्ण अर्थ वाली पहेली आदि में वह दोष नहीं रह जाता। अतः यहाँ उसी में गुणत्व है।

स्व० भा०—इसमें 'कनी' का कुमारी, काल का चरण, स्फाति का अत्यन्त फैला हुआ, खाति का 'घर्घर' आदि शब्द, स्फार्ह का मनोहर, वल्गु का ध्वनि इसी प्रकार चन्द्र आदि का आह्लादक अर्थ अप्रसिद्ध है। ये अर्थ रूढ नहीं अपितु यौगिक हैं। अतः दोष होना चाहिये था, किन्तु पहेली में इन्हीं अर्थों की विवक्षा होने से दोष नहीं रहा, क्योंकि पहेली में इसी प्रकार की अस्पष्ट बातों की

ही तो अपेक्षा होती है। दण्डी ने यह छन्द प्रमुषिता नामक पहेली के उदाहरण के (काव्यादर्श ३।१११) रूप में रखा है।

यत्त्विति। रूढिच्युतत्वेन द्वितीयां संज्ञां प्रयोजयति। आकीर्णमन्त्रणाद्युपयोगिनी प्रहेलिका। तथा च—तद्विद्यसंभाषायां विदग्धैरुपन्यासैः स्वार्थाप्रत्यायकत्वलक्षणबीजभावान्न दोषः, गुणस्तु भवति। अनुकरणादिकमादिपदेन गृह्यते। खातयो घर्घरिकाः। कनीति कन्यासंबोधनम्। कालश्चरणः कर्णाटदेशभाषानुसारात्। स्फातयः स्फीताः। स्फार्हो मनोहरः। वल्गुर्ध्वनिः। चन्द्र आह्लादकः। वायवः प्राणाः। धारिणोऽनवस्थिताः। तदयं वाक्यार्थः—हे कनि कन्ये, तवाह्लादकचरणबद्धा यथोक्तविशेषणा घर्घरिकाः साक्षाद्वन्ति श्रोत्रेण प्रत्यक्षीक्रियन्ते। अत्र प्रस्तावे मम प्राणा उद्दीपनप्रकर्षमसहिष्णवो धारिणोऽनवस्थिता इति। व्रणप्ररोहस्थानादौ खात्यादिशब्दानां रूढिर्न तु घर्घरिकादावित्याह—अत्रेति। नामधातुविवक्षया द्विधा व्याख्यातम्॥

(६) अपुष्टार्थदोषगुणता

तुच्छवाच्यमपुष्टार्थमिति यत्प्राक्प्रकाशितम्।
तस्य च्छन्दोऽनुरोधादौ गुणत्वमवधार्यते॥ ९५॥

यथा—

'द्विरष्टवर्षाकृतिमेनमर्थिनामुशन्ति कल्पोपपदं महीरुहम्।
यमिन्द्रशब्दार्थनिषूदनं हरेर्हिरण्यपूर्वं कशिपुं प्रचक्षते॥ १२९॥'

अत्र द्विरष्टवर्षाकृतिमिति कल्पोपपदं महीरुहमिति हिरण्यपूर्वं कशिपुमित्यस्य तुच्छार्थत्वेऽपि च्छन्दोऽनुरोधाद् गुणत्वम्॥

शब्द की अपेक्षा अल्प (तुच्छ) अर्थ होने पर जो अपुष्टार्थ पददोष पहले कहा जा चुका है, उसी की छन्दों में विशेष अपेक्षा होने पर उसमें दोष के स्थान पर गुणत्व आ जाता है॥ ९५॥

जैसे—सोलह (द्विरष्ट) वर्ष के शरीर वाले इस राजा को लोग याचकों का कल्पवृक्ष (कल्प शब्द को उपपद रखने वाला महीरुह = कल्पमहीरुह = कल्पवृक्ष) कहते हैं। जिसको हरि के 'इन्द्र' इस नाम तथा वैभव दोनों का नष्ट कर देनेवाला हिरण्यकशिपु (हिरण्य है पहले जिसके ऐसा कशिपु = हिरण्यकशिपु) कहते हैं॥ १२९॥

यहाँ पर 'द्विरष्टवर्षाकृति' 'कल्पोपपदं महीरुहम्', 'हिरण्यपूर्वं कशिपुम्' इनमें तुच्छार्थता होने पर भी छन्द पूर्ति के लिए इसी रूप की अपेक्षा होने के कारण गुणता है।

स्व० भा०—शब्दों की संख्या अधिक होने पर भी जब अर्थ बहुत कम प्राप्त होता है तब वहाँ तुच्छार्थता कही जाती है। प्रस्तुत छन्द में भी अभीष्ट है केवल सोलह, कल्पवृक्ष, हिरण्यकशिपु रूप अर्थ किन्तु इनके लिये कितने बड़े-बड़े पद प्रयुक्त किए गए हैं। अतः कम अर्थ होने से दोष था, किन्तु विवशता यह है कि इन्हीं रूपों में इन शब्दों का प्रयोग करने पर छन्दपूर्ति होती है। इनका पर्याय रखने पर भी छन्द पूर्ण नहीं हो सकता। अतः यहाँ यह दोष न होकर गुण ही है। उद्धृत किए गए छन्द का उत्तरार्ध शिशुपालवध (१।४२) का है।

तुच्छेति। शब्दपल्लवनस्य प्रकृतरसानुगुणत्वेन दोषत्वप्रसङ्गे क्वचिदनन्यगतिकतया कवेरुत्पाद्यते। तथा हि—भिन्नसर्गान्तैरित्यादिना सर्गाणामौत्सर्गिकैकवृत्तनिर्वाहौचित्ये सत्यथोक्तसंक्षिप्तशब्दाप्रवेशात्पररूपेण तदर्थत्वस्य विवक्षितत्वाच्च शब्दविकासे न दोषः, किं

तु गुण एव। प्रकृतोदाहरणे द्विरष्टवर्षाकृतिमिति कल्पोपपदं महीरुहमिति च निदर्शनं मन्यन्ते। षोडशादिशब्दानामपि वंशस्थप्रवेशत्वादनन्यगतिकत्वाभावात्। हिरण्यपूर्वं कशिपुमिति तु संगच्छते। नहि हिरण्यकशिपुशब्दोऽत्र प्रविशति। प्रदर्शनार्थं तु द्वयमन्यदप्युपात्तम्। एवंविधः शब्दविस्तरो गुणतामासादयतीत्याशयात्। तेनायमर्थः—पल्लवाख्यशब्दगुणे तावत्तुच्छता चमत्कारितया गुणधुराधिरूढैवाविस्तरविविक्तविषयतया क्व विशेषगुणस्य भवतीति जिज्ञासायां तु छन्दोऽनुरोधो विहितः। सोऽपि हि कादाचित्कः करोत्येव दोषभावव्यावृत्तमिति॥

(७) असमर्थदोषगुण

प्रतिपादितमादौ यदसमर्थमवाचकम्।
तस्यापि खलु मन्यन्ते गुणत्वं सीत्कृतादिषु॥ ९६॥

यथा—

'आशु लङ्घितवतीष्टकराग्रे नीविमर्धमुकुलीकृतदृष्ट्या।
रक्तवैणिककराहततन्त्री मण्डलक्वणितचारु चुकूजे॥ १३०॥

अत्र कूजितस्य पक्षिणोऽन्यत्रावाचकत्वेऽपि कामशास्त्रेऽनुमतत्वाद् गुणत्वम्॥

(पददोष विवेचन प्रसंग में) पहले कह दिया गया है कि असमर्थत्व दोष वहाँ होता है जहाँ किसी पद से उसका अवाच्य अर्थ ग्रहण किया जाता है। किन्तु उस असमर्थ दोष को भी सीत्कार आदि (रतिकर्म के समय प्रमदाओं द्वारा 'किये जाने वाले सी, सी आदि) के प्रसङ्गों में गुण माना जाता है॥ ९६॥

जैसे—शीघ्रतापूर्वक पति के हाथ के अग्रभाग (अंगुलियों) के नीवीबन्ध को लांघ जाने पर, (मारे आनन्द के) आंखों को अर्धनिमीलित करके कोई रमणी गाननिपुण वीणावादक द्वारा बजाई गई वीणा के स्वरसमूहों की भांति अपने गले से कुहुक उठी॥ १३०॥

'कूजित' शब्द का अर्थ 'पक्षियों की बोली के अतिरिक्त अन्यत्र स्वीकृत न होने पर भी कामशास्त्र में रतिकाल में आनन्दातिरेक से स्त्रियों के कण्ठ से निकलने वाले शब्द स्वीकृत हैं। अतः यहाँ गुण है।

स्व० भा०—कूजित का अर्थ "किया गया अव्यक्त शब्द" है। इसकी निष्पत्ति "$\sqrt{\text{कूज}}$ अव्यक्ते शब्दे" धातु से है। लोक में यह पक्षियों की आवाज के अर्थ में रूढ है। ऐसा अर्थ रूढ हो जाने पर भी मनुष्यों के ध्वनि के अर्थ में प्रयोग करना अवाचकता है। अतः दोष होना चाहिए, किन्तु कामशास्त्र में विभिन्न रतिबन्धों में रमणियों के मुखों से विभिन्त पशु-पक्षि-ध्वनियों का निकलना भी मान्य है। अतः दोष होने पर भी यहाँ गुणत्व है। यह श्लोक शिशुपालवध (१०।६५) से उद्धृत है।

प्रतिपादितमिति। अस्ति कश्चिदेवं विषयो यत्रासमर्थस्य चारुतया गुणभावः। तथा हि—यद्यपि गणपाठादव्यक्तशब्दः कूजितम्, तथापि लोके पक्षिविषय एव नियतम्, तथा चाभिमतविषये प्रयुक्तं पक्षिविरुताकारमावेदयति। 'हारीतप्रभृति-'इत्यादिना कामशास्त्रकारैः सीत्कारोपदेशनात्। सीत्कारस्य च चतुःषष्टिकलात्वेन प्रवणतयात्यन्तमुपादेयत्वात्। तदाह—'अन्यान्यप्याकृतिग्रहणान्युपलक्षयेत्' इति॥

(८) अप्रतीतदोषगुण

शास्त्रमात्रप्रतीतत्वादप्रतीतं यदुच्यते ।
गुणत्वं तस्य तद्विद्यसंभाषादौ विदुर्बुधाः ॥ ९७ ॥

यथा—

'सर्वकार्यशरीरेषु मुक्ताङ्गस्कन्धपञ्चकम् ।
सौगतानामिवात्मान्यो नास्ति मन्त्रो महीभृताम् ॥ १३१ ॥

अत्राङ्गस्कन्धपञ्चकमित्यस्य शास्त्रमात्रप्रसिद्धस्यापि तद्विद्यसंभाषायां गुणत्वम् ॥

केवल शास्त्रों में ही अर्थ स्पष्ट होने से जिन पदों में अप्रतीतत्व दोष कहा जाता है उसे विद्वान् लोग उन शास्त्रों को जानने वालों के वार्तालाप में ही प्रयुक्त होने पर गुण कहते हैं ॥ ९७ ॥

जैसे—जिस प्रकार बौद्धों के लिये सभी 'भाव' पदार्थों में पञ्चस्कन्ध रूप अङ्गों के अतिरिक्त कोई दूसरी आत्मा नाम की चीज नहीं, उसी प्रकार मन्त्रणा के समय राजाओं के लिए सभी कर्त्तव्यव्यापारों में पाँच अङ्गों के आधार को छोड़कर और कोई रहस्य नहीं है ॥ १३१ ॥

यहाँ छन्द में 'अङ्गस्कन्धपञ्चकम्' इस केवल शास्त्र में ही प्रसिद्ध शब्द का प्रयोग होने पर भी उसे जानने वालों की बातचीत के सन्दर्भ में इसके होने से दोष नहीं रह गया ।

स्व० भा०—वस्तुतः अप्रतीतत्व की गणना दोषों में इसीलिए होती हैं, क्योंकि उसमें ऐसे पदों का प्रयोग होता है जो लोकप्रसिद्ध नहीं होते । यदि वे शास्त्र के ही पारिभाषिक शब्द न रहकर लोक में प्रचलित होते तो दोष होता ही नहीं। दुष्टता इसीलिये होती है क्योंकि उस अर्थ को जानने वाले ही नहीं होते । जब शास्त्रज्ञ लोगों के वार्तालाप में ये ही शब्द आते हैं तब दोष नहीं रह जाता क्योंकि वक्ता और श्रोता दोनों ही विज्ञ होते हैं ।

प्रस्तुत श्लोक में ही 'कार्य', 'अङ्गपञ्चक', 'स्कन्धपंचक', 'आत्मा', 'मन्त्र' आदि पद 'उत्पन्न पदार्थ', 'पुरुष, द्रव्यसम्पत्, देशकालविभाग; विनिपातप्रतीकार, तथा कार्यसिद्धि इन पाँच राज्याङ्गों' 'रूप, संज्ञा, संस्कार, वेदना, विज्ञान', 'रहस्य तथा आत्मतत्व' और 'मन्त्रणा' अर्थों में क्रमशः प्रयुक्त हुये हैं, सामान्य अर्थों में नहीं । विज्ञों द्वारा ही इनका प्रयोग किये जाने से ये दोषाधायक नहीं हुये । ये शब्द बौद्धदर्शन तथा राजनीतिशास्त्र में विशिष्ट अर्थों में प्रयुक्त होते हैं ।

शास्त्रेति । **शास्त्रमात्रप्रसिद्धानामाहत्यप्रतीत्यजननेन विवक्षितवाक्यार्थप्रत्ययपरिस्खलनं खेददायी नानामृदुदुष्टताबीजम् । यदि तु कुतश्चिद्विशेषाज्झटित्येव प्रतीतिं जनयेत्तदा कथं दोषः । अस्ति च प्रतिपत्तिव्युत्पत्त्यतिशयलक्षणो विशेषः । तदिदमुक्तम्—तद्विद्येति । मन्त्रणावसरे औचितीवशात्तत्तत्पदानां गुणत्वमपि निर्वहति । शास्त्रप्रक्रियापेक्षित्वं गाम्भीर्यम् । शास्त्रव्यवहारसंकेतितपदानां गुणत्वमित्यन्यः प्रकारः । यथावद्विनियोगः कार्यस्तस्य प्रकारसाकल्यं शरीरम्, शब्दच्छलात्कायः आत्मा सारभूतः क्षेत्रज्ञश्च । कर्मणामारम्भोपायः पुरुषद्रव्यसंपद्देशकालविभागो विनिपातप्रतीकारः कार्यसिद्धिरिति पञ्चाङ्गानि । रूपं संज्ञा संस्कारो वेदना विज्ञानमिति पञ्च स्कन्धाः ॥**

(९) क्लिष्टत्वदोषगुण

अर्थप्रतीतिकृद्दूरे क्लिष्टं नाम यदुच्यते ।
झटित्यर्थप्रतीतौ तद्गुणत्वमनुगच्छति ॥ ९८ ॥

यथा—

'अथात्मनः शब्दगुणं गुणज्ञः पदं विमानेन विगाहमानः ।
पितुः पदं मध्यममुत्पतन्ती काञ्चीगुणस्थानमनिन्दितायाः ॥ १३२ ॥

अत्रात्मनः पदं शब्दगुणमिति पितुः पदं मध्यममिति चाकाशविषया काञ्चीगुणस्थानं नितम्बविषयमिति सर्वप्रसिद्धेर्झटित्येव प्रतीति करोतीति क्लिष्टस्यास्य गुणत्वम् ॥

बहुत विलम्ब से अर्थ का ज्ञान कराने के कारण जो क्लिष्टत्व नाम का दोष कहा जाता है, वही तत्काल अर्थज्ञान करा देने पर गुण की कोटि में आ जाता है ॥ ९८ ॥

जैसे—"गुणज्ञ (राम-हरि) अपने शब्दगुण वाले स्थान (आकाश) को विमान से पार करते हुये", "जगत्पिता के मध्यमधाम (आकाश) में उड़ती हुई" तथा "शोभनगुणों से युक्त सुन्दरी के करधनीसूत्र बाँधने का स्थान (नितम्ब)" ।

यहाँ "आत्मनः पदं शब्दगुणम्" "पितुः पदं मध्यमम्" ये (दोनों) पद आकाश अर्थ में 'काञ्चीगुणस्थान' नितम्ब के अर्थ में सर्वप्रसिद्ध होने से अर्थ की प्रतीति सद्यः कर देते हैं । अतः क्लिष्ट होने पर भी यहाँ गुणत्व है ।

स्व० भा०—प्रस्तुत उदाहरण श्लोक का पूर्वार्ध रघुवंश (१३।१) का, उत्तरार्ध का प्रथमार्ध-विक्रमोर्वशीयम् (१।१९) का तथा शेषार्ध नायिका के नितम्बवर्णन प्रसङ्ग का है । यहाँ प्रयुक्त 'आत्मनः पद' का अर्थ स्पष्ट न होता यदि छन्द के उत्तरार्ध में हरिः पद की तथा 'शब्दगुण' पद की संनिधि न होती । विष्णु के धाम असंख्य हैं 'शब्दगुण' आकाश की ओर संकेत करता है, अतः इसकी संनिधि से अर्थ प्रकट हो जाता है । जगत्पिता का मध्यम धाम आकाश के नाम से अत्यन्त विख्यात होने से शीघ्र ही अर्थ प्रकट कर देता है, अन्यथा मध्यम धाम के भी अनेक अर्थ हो सकते थे । इसी प्रकार नखशिख वर्णन प्रसङ्ग में चरण से वर्णन प्रारम्भ करने पर नायिका का रशना-दामस्थल नितम्ब अर्थ का प्रत्यायन प्रकरणवशात् तत्काल करा देता है । इन सभी सन्दर्भों में क्लिष्टत्व रहने पर भी दोषता अखरती नहीं है ।

अर्थप्रतीतिकृदिति । **इहापि तदेव दूषणताबीजं झटिति प्रतीतिजनने सति समाधीयते । समाधानोपायश्च पदान्तरसंनिधानमतिप्रसिद्धिः प्रकरणं वा । तथा हि—प्रकृतोदाहरणे उत्तरार्धे हरिरित्यभिधानादात्मनः पदमिति हरेः पदमिति संपन्नम्, अस्य च सामान्यशब्दत्वादाकाशविषया प्रतीतिर्यद्यपि झटिति नोत्पत्तुमर्हति, तथापि शब्दगुणमिति विशेषणेन पदार्थान्तराद्यवच्छिद्य विवक्षिताभिमुखी प्रतीतिरुपजन्यते । पितुः पदमिति । यद्यपि पदमिति सामान्यं तथाप्याकाशस्यैव मध्यमचरणविन्यासस्थानत्वेन प्रसिद्धेर्न तथोचितप्रतीतिव्यवधानम् । काञ्चीगुणस्थानमिति । चरणादारभ्य वर्णनाक्रमे नितम्ब एव काञ्चीनिवेशनस्योचितत्वान्न प्रतीतिव्यवधानम् । तदिदमुदाहरणत्रयप्रयोजनमुदाहरणादेरनेकोऽत्र वाक्यार्थो गवेषणीयः । कथं तर्हि सर्वप्रसिद्धेरिति ब्रवीति । इत्थं शब्दगुणशब्दस्य बहुव्रीहित्वादवश्यं विशेषपर्यवसानाय प्रसिद्धिरनुसरणीया । अवश्यं च वर्णनक्रमेऽपि काञ्चीगुणस्थानमनिन्दिताया इत्यत्र काञ्चीगुणस्थानशब्दस्य नितम्वविशेषपर्यवसानार्थं कवीनामौचित्यप्रसिद्धिरङ्गीकर्तव्येति । ननु चात्मनः पदं शब्दगुणत्वमित्यत्र प्रसादः कस्मान्न भवति । एवमाह न भवतीति । उदाहरणस्यादूषणत्वात्सामान्यशब्दस्य विशेषपर्यवसानम्, अन्यच्च समभि-**

व्याहतपदार्थसंसर्गरूपे वाक्यार्थे स्वच्छसलिल इवाभिमतविशेषप्रतिबिम्बनमित्युपाधिद्वयस्य संकराच्च ॥

(१०) गूढार्थत्व दोषगुण

अप्रसिद्धार्थसंबन्धं यद्गूढार्थमिति स्मृतम् ।
तद्व्याख्यानादिषु प्रायो गुणत्वेन तदिष्यते ॥ ९९ ॥

यथा—

अम्हारिसा वि कइणो कइणो हलिबुढ्ढसालिपमुहा वि ।
मण्डुक्कमक्कडा वि हु होन्ति हरीसप्पसिंहा वि ॥ १३३ ॥'

[अस्मादृशा अपि कवयः कवयो हरिवृद्धशालिप्रमुखा अपि ।
मण्डूकमर्कटा अपि खलु भवन्ति हरिसर्पसिंहा अपि ॥]

अत्र मण्डूकमर्कटसर्पसिंहेष्वप्रसिद्धप्रयोगत्वाद् गूढस्यापि हरिशब्दस्य स्वयं व्याख्यातत्वाद् गुणत्वम् ॥

अप्रसिद्ध अर्थ से शब्द का सम्बन्ध जोड़ देने के कारण जो दोष गूढार्थ नाम से याद किया जाता है, वही अधिकतर शब्द की व्याख्या आदि में गुणरूप में स्वीकार किया जाता है ॥ ९९ ॥

जैसे—(कोई कवि कहता है कि भाई !) हम जैसे लोग भी कवि हैं और हरिवृद्ध, शालि आदि भी कवि ही हैं । जिस प्रकार कि मेढक और बन्दर भी हरि हैं और नाग तथा सिंह भी हरि ही हैं ॥ १३३ ॥

इस छन्द में मेढक, बन्दर, नाग तथा सिंह के अर्थों में (हरि शब्द के विख्यात न होने पर भी) अप्रसिद्ध प्रयोग करने से गूढ होने पर भी स्वयं हरिशब्द की ही व्याख्या होने से गुणत्व ही है ।

अप्रसिद्धार्थसंबन्धमिति । तस्य गुणार्थस्य व्याख्यानं तद्व्याख्यानम् । अत्राप्यतिप्रसिद्ध्याकृष्टस्यानतिप्रसिद्धार्थप्रतीत्यकरणं दुष्टताबीजमभिधानीयम्, तत्तु प्रतीतिपर्यवसानादेव निवर्तते । भवति चाभिधानकोष इव व्याख्याने झटिति प्रत्ययः । अस्मादृशा अपि मन्दप्रतिभानाः कवयः कविशब्दवाच्या हरिवृद्धशालिप्रमुखाश्च लोकोत्तरप्रतिभाशालिनस्तदवयवतां विख्याते चाविख्याते च शब्दाः साधारणा भवन्ति । तद्यथा—हरिशब्द एवेति व्याख्यानम् । ततो दोषत्वाभावः प्रतिवस्तुलक्षणालंकारपर्यवसायितया च प्रकृतार्थानुगुणत्वेन गुणत्वलाभः । तदेतद् व्याचष्टे—स्वयं व्याख्यातत्वाद्दोषाभावो गुणत्वं पुनराभिप्रायिकात्प्रकृतानुगुणभावादिति बोद्धव्यम् ॥

(११) नेयार्थत्व दोषगुण

नेयार्थं यत्स्वसंकेतकल्पनावाच्यं निरूपितम् ।
प्रहेलिकादिषु प्राज्ञैस्तद्गुणत्वेन गण्यते ॥ १०० ॥

यथा—

'मोरु कलावेण वहइ तह णामह सरिणाउ ।
उस्सीसा पाअन्तिगओ अणुणत्तिहिं जणु णाउ ॥ १३४ ॥'

[मयूरः कलापेन वहति तस्य नाम्नः सदृशनामा ।
उच्छीर्षात्पादान्तगतोऽनुनक्तं यथा नौका ॥]

अत्र मयूरबर्हचन्द्रकसंकेतेन कल्पितस्य चन्द्रनाम्नो नेयार्थत्वेऽपि प्रहेलिकात्वाद् गुणत्वम् ॥

जिस नेयार्थ दोष में अभिधेय अर्थ कथनीय होने पर भी समाहित रहता है, वही गुण के रूप में प्रहेलिका आदि में विद्वानों द्वारा गिना जाता है॥ १०० ॥

जैसे—(कोई खण्डिता नायिका नायक का अनुनय करती हुई कहती है कि मैं सारी रात देखती रही कि) मयूर जिसे अपने पंखों में धारण करता है, उससे ही मिलते जुलते नाम वाला (चन्द्रमा) नौका की भांति सिरहाने से पैताने की ओर आ गया अर्थात् चन्द्रमा पूर्व में उदित हुआ और पश्चिम में आ गया—भोर हो गया—लेकिन आप नहीं माने ॥ १३४ ॥

इस छन्द में मयूरपिच्छ के चन्द्रक के संकेत से ज्ञात होने वाले चन्द्रमा का नाम नेय होनेपर भी पहेली होने से गुण हो गया है ।

स्व० भा०—मयूर जिसे अपने पिच्छ में धारण करता है, इस प्रकार के बहुत से पदार्थ हो सकते हैं । किन्तु उसका अभिप्राय चन्द्रक से है, और उससे मिलता जुलता नाम चन्द्रमा है । वहीं सिरहाने से पैताने—पाँव की ओर चला गया—पूर्व से पश्चिम पहुँच गया अर्थात् सबेरा हो गया । यहाँ सबेरा होना तथा चन्द्रगत अर्थ निकालना बहुत कठिन है । अतः दोष है । किन्तु तद्देश्य ही यह होना कि लोगों को अर्थ समझने में कठिनाई हो, इसको गुण की कोटि में ला देता है ।

नेयार्थमिति । **अत्रापि पूर्ववदेव वासना । आकीर्णमन्त्रणादौ विदग्धानां लक्षणादयः प्रहेलिकाविशेषानुन्मीलयन्त उपयुज्यन्ते । तथा हि—मयूरेति । 'जिअनाउ' इति पाठे जितनौक इति स एवार्थः । मयूरो बर्हभारे चन्द्रकं वहति । अनेन संकेतेन चन्द्रनाम लभ्यते । संविष्टस्य शिरोदेश उच्छीर्षम्, चरणदेशः पादान्तः । उच्छीर्षेण प्राची दिग्लक्ष्यते । 'प्राक्शिराः शयीत' इति वचनात् । अर्थात्पादान्तेन प्रतीची । ततश्च 'प्राच्याः प्रतीचिमर्धचन्द्रो गतः' इति प्रातःकालोद्भेदो वाक्यार्थः । 'अणुणेन्ति अजिणणाउ' इति पाठे सुभगमानिनं कान्तमनुनयन्त्या मया ज्ञात इति खण्डितकामिनीखेदोक्तिः । न चैतासां लक्षणानामस्ति किंचित्प्रयोजनमिति नेयार्थत्वप्रसक्तौ प्रहेलिकाभाव एव समाधानहेतुः । ननु चोच्छीर्षपादान्तरपदयोरस्तु, मयूरकलाप इत्यादौ तु कथम् । यमिति हि सर्वनामाभिमतमेव तावदुपस्थापयति । बर्हे बहूनां बहुले कथमेकस्य प्रतीतिरित्यभिधानेऽपि कदाचित्क्लिष्टस्य विशेषगुणः स्यात् । नात्र नेयार्थता, किं तु तेन संकेतेन कल्पितस्य चन्द्रनाम्न इति । तस्य नाम्नः सदृशनामेत्यनेन मुख्यवृत्त्यैव विवक्षितसदृशलाभादिति । अत्रेदं वक्तव्यम्—तस्य नाम्न इत्यनेन चन्द्रकपदमुपस्थापितम्, न च तेन सहास्ति चन्द्रपदस्य सादृश्यमिति । तत्र लक्षणाश्रयणीया । तदिदमुक्तं चन्द्रसंकेतेन कल्पितस्य चन्द्रनाम्न इति । उपलक्षणतया च एकदेशव्याख्यानम् ॥**

(१२) संदिग्धत्व दोषगुण

**यदनिश्चयकृत्प्रोक्तं संदिग्धं तद्गुणी भवेत् ।
भवेद्विशेषावगमो यदि प्रकरणादिभिः ॥ १०१ ॥**

यथा—

'महीभृतः पुत्रवतोऽपि दृष्टिस्तस्मिन्नपत्ये न जगाम तृप्तिम् ।
स शार्ङ्गचक्रासिगदाब्जपाणिर्मेघच्छविः पातु जगन्ति शौरिः ॥ १३५ ॥'

अत्र तस्मिन्नपत्ये इत्यनिश्चितस्याप्यापत्यविशेषस्य संदिग्धत्वेऽपि गौर्यामिति प्रकरणेन गम्यते । मेघच्छविरित्यस्य च नवश्यामादिपदानुपादानेऽपि शौरिसंबद्धत्वान्नवमेघच्छविर्मेघश्यामच्छविरिति वा विशेषो निश्चीयत इति तस्यापि गुणत्वम् ॥

निश्चयात्मक ज्ञान न उत्पन्न करनेवाला जो संदिग्धत्व दोष कहा गया है वही गुण हो जाता है, यदि प्रकरण आदि के द्वारा विशिष्ट अर्थ का ज्ञान हो जाये ॥ १०१ ॥

जैसे—"अनेक पुत्रों के होने पर भी हिमालय महाराज की आंखें उस (पार्वतीरूप) संतान में तृप्त नहीं हो पाती थी ।" और "वह अपने हाथों में धनुष, चक्र, गदा और पद्म लिये रहने वाले, मेघ के सदृश कान्ति वाले शौरि लोकों की रक्षा करें" ॥ १३५ ॥

यहाँ पर 'तस्मिन् अपत्ये' (उस सन्तान में) इसका विशेष सन्तान रूप अर्थ अनिश्चित होने पर भी, सन्देह बने रहने पर भी प्रकरण से ज्ञात होता है कि वह सन्तान 'गौरी' थी । 'मेघच्छविः' पद का वाच्य नवश्यामल आदि पदों का ग्रहण न करने पर भी 'शौरि' पद का सम्बन्ध होने से "नवीन मेघ के सदृश कान्ति वाले", अथवा "मेघ की भाँति नीली देहच्छटा वाले" यह विशिष्ट अर्थ निश्चित होता है । अतः यहाँ संदिग्ध दोष भी गुण हो गया है ।

स्व० भा०—उदाहृत छन्द का पूर्वार्ध कुमारसम्भव (१।२९) से लिया गया है ।

यदिति । संशायकजातीयस्य संदेहजनकत्वं नाम दूषकताबीजम् । तद्यदि कुतश्चिद्विशेषाद्विवक्षितप्रतीतिरप्रत्यूहमुपपद्यते तदा भवत्येव दोषाभावः । विशेषावगमो विशेषदर्शनं तस्यैव संशयविरोधित्वात् । महीभृत इत्यादावपत्यशब्दो यद्यपि गौरीशब्दोऽपि तदितरदत्तपद इति संशायकजातीयो भवति, तथापि तच्छब्दोपस्थापित एव विवक्षितविशेषे पर्यवस्यन्नपजहाति दोषत्वम् । तच्छब्द एव कथं तमर्थमुपनयतीत्यत्र तु प्रकरणमेव जाग्रदवस्थमस्ति । मेघच्छविरित्यत्र तु यद्यपि मेघपदं श्यामाश्यामदत्तपदतया संशायकजातीयम्, तथापि प्रसिद्धपदनीलवर्णार्थगौरीपदसमभिव्याहाराच्छब्दान्तरसंनिधिरपि विशेषे नियमयति तद्वा छविपदं वा विशेषे पर्यवस्यति । अत्र प्रकरणादीनां विशेषस्मृतिहेतुत्वात् । अत एव सूत्रे बहुवचनादिपदानुपादानादनुपात्तास्तदेतदभिसंधाय व्याचष्टे—अत्रेत्यादि । एवं नवमेघच्छविरिति चोक्ते यथा नियमेनार्थप्रतीतिरप्रत्यूहा भवति तथा मेघच्छविरित्युक्त इति । अत एव कविसमयप्रसिद्धविशेषावगमसामग्रीसंपादनेन गुणत्वमिति । कथं पुनरिदं क्लिष्टस्य वैशेषिकं न भवति को वाक्यभूतेन भवति । किं तु संशायकत्वमापादयतः प्रतिभासोऽप्युक्त्युक्त्या निवर्तत इत्यभिमतम् । न चैवंरूपता क्लिष्टवैशेषिके संभवति । एकस्यैव चित्रपदस्य संशयशक्तिरिति न वाक्यार्थगामिता ॥

(१३) विरुद्धत्व दोषगुण

यत्तद्विरुद्धमित्युक्तं विपरीतप्रकल्पनम् ।
तथाभूताभिधानेन गुणत्वं प्रतिपद्यते ॥ १०२ ॥

यथा—

'अभिधाय तदा तदप्रियं शिशुपालोऽनुशयं परं गतः ।
भवतोऽभिमनाः समीहते सरुषः कर्तुमुपेत्य माननाम् ॥ १३६ ॥'

अत्र विपरीतार्थकल्पनं विरुद्धत्वेऽपि संध्यर्थविग्रहार्थयोः स्फुटभिन्नार्थत्वेनाभिधानाद् गुणत्वम् ॥

अभिधेय अर्थ से विपरीत अर्थ की कल्पना कराने वाला जो विरुद्ध नाम का पददोष कहा गया है, वही जब अविरुद्ध अर्थ को भी अभिधा से ही प्रकट करता है तब वही गुण हो जाता है ॥ १०२ ॥

जैसे—शिशुपाल का दूत कृष्ण से कहता है कि—'शिशुपाल आपके उस अर्घ्यदान के समय उन अप्रिय बातों को कहकर अत्यन्त पश्चात्ताप कर रहा है । वह व्याकुल मन से आपके क्रोध को शान्त करने के लिए यहाँ आकर स्वयं आपकी पूजा करना चाहता है' ॥ १३६ ॥

यहाँ पर विपरीत अर्थ की कल्पना करना, विरुद्ध होने पर भी संधिगत अर्थ तथा विग्रहगत अर्थ इन दोनों को प्रकट रूप से पृथक्-पृथक् कथन होने से, गुणत्व ही है ।

स्व० भा०—(सन्धिगत अर्थ ऊपर आ गया है । इसी श्लोक का विग्रह—युद्ध से सम्बद्ध अर्थ निम्नलिखित होगा)--"उस समय केवल उन अपमान के शब्दों को ही कह पाने से उसके मन में अत्यन्त पश्चात्ताप है (कि उसने आपको मारा भी क्यों नहीं ।) उसके हृदय में दीर्घकाल से आपके प्रति रोष भरा है, अतः निडर होकर वह स्वयं क्रुद्ध होकर आपका वध करना चाहता है । (शिशु १६।२) माघ ने शिशुपालवध के १६ वें सर्ग के प्रारम्भ में इसी प्रकार के विरुद्धार्थक १४ श्लोकों की योजना की है ।

यत्तदिति । **एवं वस्तु प्रकृतमभिसंधाय वाक्यरचने तदुपमर्दकवस्त्वन्तरप्रवेशो विरोधः । यत्र द्वे अपि वस्तुनी प्रकृते वस्त्वन्तरमेव वा प्रकृतं तद्यथोक्तरूपाभावे कथं दोषः । तथा हि—अभिधायेत्यादौ दूतवाक्ये संधिविग्रहयोर्मिथो विरोधिनोरपि विवक्षितं स दोषः । सरुषः सक्रोधस्य तव माननां पूजां शिशुपाल इच्छति । अनुशयः पश्चात्तापः । अभिमुखं सोत्कण्ठं मनो यस्य स तथेति संधिपक्षे । विग्रहपक्षे त्वनुशयः क्रोधो भवतः सकाशादभि भयशून्यं मनो यस्येति नित्यसापेक्षत्वात्समासः । सरुषो माननां उपयोगस्तदिह निसृष्टार्थस्योभयोपन्यासो यद्रोचते तद्विधीयतामित्यभिसंधाय रचित इति गुणत्वमित्युभयविवक्षापक्षे व्याख्यानम् । यदा तु शासनहरो दूतस्तदोद्यतेष्वपि शस्त्रेषु यथोक्तवक्तारो दूता भवन्तीति न्यायेन विग्रहार्थमेवाभिमतः विपक्षस्यापि प्ररोचना दूतकर्तव्येति मुखे संधिः पर्यायभूतो युक्त एव । तदिदं व्याख्यानेन स्फुटयति—अत्रेति । संधिरूपोऽर्थः संध्यर्थः, विग्रहरूपोऽर्थो विग्रहार्थः । तयोरभिधानेन स्फुट एव भिन्नोऽर्थः प्रयोजनम् । पक्षद्वयेऽपि यत्प्रयोजनमुक्तं तदभिप्रायेणैतद् व्याख्यानम् ॥**

(१४) अप्रयोजकत्व दोषगुण

**अप्रयोजकमित्युक्तमविशेषविधायकम् ।
स्वरूपमात्रे वक्तव्ये तस्यापि गुणतेष्यते ॥ १०३ ॥**

यथा—

'तेऽप्याकाशमसिश्यामामुत्प्लुत्य परमर्षयः ।
साग्रं वर्षसहस्रं स तपस्तेपे महामनाः ॥ १३७ ॥

अत्रासिश्यामम्इत्याकाशं प्रति, साग्रमित्यनेन च वर्षसहस्रं प्रति विशेषानभिधानेऽपि दूरोत्पतनचिरतपश्चरणयोरुपयोगविवक्षायां गुणत्वम् ॥

(प्रयुक्त विशेषण पद भी) जब विशिष्टता का विधान नहीं कर पाते तब उस दशा में अप्रयोजक दोष कहा गया है। किन्तु स्वरूपमात्र का कथन अभीष्ट होने पर वहाँ भी गुणत्व अपेक्षित होता है ॥ १०३ ॥

जैसे—"वे महर्षि लोग तलवार की भांति नीले-नीले आकाश को भी पार करके" तथा "उस उदारचेता ने बहुत ही समय तक हजारों वर्ष तपस्या की" ॥ १३७ ॥

यहाँ पर 'असिश्याम' पद द्वारा आकाश के लिए तथा 'साग्रम्' इस पद के द्वारा 'वर्षसहस्र' के लिये विशिष्टता न लाये जाने पर भी "खूब दूर उड़ जाना" तथा "चिरकाल तक की तपस्या" इन दोनों का उपयोग निरूपित करने पर गुणत्व है।

स्व० भा०—जब प्रयुक्त पद विशेषता का प्रतिपादन नहीं करते अपितु स्वरूपमात्र स्पष्ट करते हैं तब भी वे दोष न रहकर गुण हो जाते हैं। आचार्य वामन ने 'धनुर्ज्याध्वनौ धनुःश्रुतिरारूढेः प्रतिपत्त्यै" "कर्णावतंसश्रवणकुण्डलशिरःशेखरेषु कर्णादिनिर्देशः संनिधेः" "मुक्ताहारशब्दे मुक्ताशब्दः शुद्धेः" "पुष्पमालाशब्दे पुष्पपदमुत्कर्षस्य" "करिकलभशब्दे करिशब्दस्तादृप्यस्य" "विशेषणस्य च" ३।२।१३-१८॥ इन सूत्रों से अप्रयोजक पदों का विभिन्न सन्दर्भों में गुणत्व सिद्ध किया है।

प्रस्तुत प्रसङ्ग में कुमारसम्भव से उद्धृत पूर्वार्ध तथा श्रीमद्भागवत से उद्धृत उत्तरार्ध में प्रयुक्त 'असिश्याम' तथा 'साग्र' पद 'आकाश' तथा वर्षसहस्र की विशेषता बताने के लिए आवश्यक नहीं क्योंकि आकाश स्वतः नीला होता है और सहस्रपद स्वयं चिरकाल का बोधक है, किन्तु इनके आने से स्वरूप स्पष्ट अवश्य हो गया। जिससे दूरोत्पतन तथा चिरंतन का भाव स्पष्ट होता है।

अप्रयोजकमिति। **तदेव कविभिरुपादीयत इति यदभिप्रेतसंधिमाधत्ते। यत्र वाक्यार्थप्रविष्टमपि न तथाभावमासादयति तदप्रयोजकमित्युक्तम्। तस्य यदि विशेषस्वरूपाभिधाने पर्यवसानेन प्रयोगो न तर्हि दोषः। तथा हि—आकाशमित्यादौ नातिश्यामतारूपं विशेषमाकाशे कांचिदपि विशेषमात्रामुन्मुद्रयति, आकाशस्य सर्वदा तद्रूपानपायात्। एवमसमग्रस्य सहस्रत्वाभावात्साग्रमित्यपि न विशेषाधायकम्। आकाशसहस्रयोस्तु यदेव रूपमावेदनीयमित्यत्रैतावन्मात्राभिप्रायेण नास्ति दूषणम्, तथापि नान्तरीयकयोरभिधाने किं प्रयोजनं येनानयोर्गुणभावसंपत्तिरित्यत आह—दूर इति। अतिदूरे श्यामत्वमधिकं प्रतिभाति। क्षणमात्रमपि न विरतिरासीदिति साग्रपदाभिप्रायोऽत एव नात्र पौनरुक्त्यम्। तर्हि वाक्यार्थे विशेषाधायकत्वमेवानयोरिति कथं दूषणत्वसंभावना। इत्थम्। यस्मिन्ननुपादीयमानेऽपि नाभिमतन्यूनता तत्पदमप्रयोजकम्। अस्ति चात्र द्वयोरपि तज्जातीयतायां दोषत्वप्रसङ्गः। स प्रकृतोपयोगविवक्षायामेव निवर्तते। सर्वथा प्रकृतानुपयोगे दूषणत्वानपायिता। अस्ति चात्रोचित एवोपयोगो यो विवक्षितुमर्हतीत्याह**—विवक्षायामिति ॥

(१६) देश्यदोषगुण

यदव्युत्पत्तिमद्देश्यमिति पूर्वं निरूपितम्।
महाकविनिबद्धं सत्तदप्यत्र गुणी भवेत् ॥ १०४ ॥

यथा—

'षण्डेषूद्दण्डपिण्डीतगरतरलनाः प्रापिरे येन वेला-
मालम्ब्योत्तालतल्लस्फुटितपुटकिनीबन्धवो गन्धवाहाः ॥ १३८ ॥'
'पातालप्रतिमल्लगल्लविवरप्रक्षिप्तसप्तार्णवम् ॥ १३९ ॥'
'किरन्तः कावेरीलडहलहरीशीकरकणान् ॥ १४० ॥'

अत्र तल्लगल्ललडहलहरीप्रभृतीनामव्युत्पत्तिमत्त्वेनोद्देश्यत्वेऽपि महाकविभिरङ्गीकृतत्वाद् गुणत्वम् ॥

व्युत्पत्तिरहित जो देश्य दोष पहले (पद दोष वर्णन के प्रसङ्ग में) निरूपित हो चुका है, वह भी महाकवियों द्वारा प्रयुक्त किये जाने पर काव्य में गुणशाली हो जाता है ॥ १०४ ॥

जैसे—उन भूखण्डों में जिसने सरोवर के तीर का सहारा लिया अर्थात् उस तट पर जाकर बैठे जहाँ पर ऊपर उठे हुए कठोर पिण्डी तगर को भी हिला देने वाले और तरङ्गित हो रहे सरोवर की खिल रही कलियों के हितैषी पवन प्राप्त हो रहे थे ॥ १३८ ॥

"पाताल के प्रतिस्पर्धी कपोल के छिद्रों से सातो समुद्रों को भी तिरस्कृत करने वाले ॥ १३९ ॥ (मा. मा. ५।२२)

कावेरी नदी की मनोहर तरङ्गों के जलकणों को बिखेरता हुआ ॥ १४० ॥

इन उद्धरणों में तल्ल, गल्ल, लडह, लहरी जैसे पद व्युत्पत्ति हीन होने से देश्य हैं किन्तु महाकवियों द्वारा अङ्गीकार किए जाने से इनमें गुणत्व आ गया है।

स्व० भा०—देशी तथा संस्कृत दोनों प्रकार के पदों का एक ही श्लोक में प्रयोग होने से दो प्रकार का आकार हो जाता है। अतः सहृदय को एकरूपता में कुछ व्यवधान-सा प्रतीत होने लगता है। किन्तु जिन स्थलों पर महाकवियों ने इनका प्रयोग किया है वहां पदों को ऐसे संस्कृत पदों के साथ रखा है जो साथ आकर अनुप्रास की सृष्टि करते हैं अथवा माधुर्य का समावेश कर देते हैं अतः सौन्दर्य का आधान करा देने से ये भी गुण ही कहे जाते हैं, दोष नहीं।

यदिति। संदर्भच्छायावैषम्यमत्र कष्टताबीजमिति पूर्वमुक्तं तत्र यदि समानच्छायशब्दमध्यनिवेशनेन प्रतिक्षिप्यते तदा कथं दोषः। तथाभूतानामेव पदानां संदर्भनिर्वाहकतया महाकविनिबद्धमिति। अत एव शब्दगमकतया गुणत्वलाभः। उद्दण्डत्वेन पिण्डीतगराणां कठोरता। तादृशानामपि तरलनेन प्रौढिः। उत्तालेत्याद्यनुप्रासवत्प्रौढपदसजातीयमेव तल्लपदम्। एवं गल्लेत्यादौ बोद्धव्यम्। तदिदमाह—अत्र तल्लगल्लेत्यादि ॥

(१६ क) ग्राम्यदोषगुण

ग्राम्यं घृणावदश्लीलामङ्गलार्थं यदीरितम् ।
तत्संवीतेषु गुप्तेषु लक्षितेषु न दुष्यति ॥ १०५ ॥

तत्र संवीते यथा—

'तस्मै हिमाद्रेः प्रयतां तनूजां यतात्मने योजयितुं यतस्व ।
योषित्सु तद्वीर्यनिषेकभूमिः सैव क्षमेत्यात्मभुवोपदिष्टम् ॥ १४१ ॥'

अत्र तद्वीर्यनिषेकभूमिरित्यश्लीलस्यापि संवीतत्वाद् गुणत्वम् ॥

यदाह—

'संवीतस्य हि लोकेषु न दोषान्वेषणं क्षमम् ।
शिवलिङ्गस्य संस्थाने कस्यासभ्यत्वभावना ॥'

घृणावद्, अश्लील तथा अमङ्गलार्थ (यह तीन प्रकार का) जो ग्राम्यदोष कहा गया था वही संवीत, गुप्त और लक्षित दशाओं में दोष नहीं रह जाता ॥ १०५ ॥

इनमें से संवीत दशा में (दोष नहीं होता, इसका उदाहरण दिया जा रहा है)—

जैसे—"इस जितेन्द्रिय शङ्कर से हिमालय की संयत पुत्री को संयुक्त कराने की चेष्टा करो। नारियों में केवल वही शंकर के वीर्यसिञ्चन को धारण करने में सक्षम क्षेत्र है। इस प्रकार का उपदेश ब्रह्माजी ने उनको दिया ॥ १४१ ॥

यहां 'तद्वीर्यनिषेकभूमि" इस अश्लील पद में भी संवीतता के कारण गुणत्व आ गया है। जैसा कि कहा भी गया है—लोक में संवीत का दोष खोजना ठीक नहीं। अथवा संवीत का दोष नहीं खोजा जा सकता। भला शिवलिङ्ग जैसे प्रयोगों में कौन असभ्यता की सम्भावना करेगा।

स्व० भा०—यहाँ पर जो उदाहरण दिया गया है वह ग्राम्य के परिगणित भेदों के क्रम में न होकर 'अश्लीलामङ्गलघृणातदर्थं ग्राम्यमुच्यते" (स० कं० १।१४ ॥) क्रम में है। अतः यहां सर्वप्रथम अश्लीलता का उदाहरण है। अश्लील भी असभ्यार्थ, असभ्यार्थान्तर तथा असभ्यस्मृति-हेतु तीन प्रकार का होता है। यहां सवीत के उदाहरण में असभ्यार्थ की निर्दुष्टता निरूपित की गई है। इसी प्रकार गुप्त का असभ्यार्थान्तर तथा लक्षित का असभ्यस्मृति हेतु की निर्दुष्टता का प्रतिपादन करते समय निदर्शन उपस्थित करेंगे।

आगे प्रस्तुत किये गए उदाहरणों में भी संवीत, गुप्त और लक्षित का क्रम प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय भेदों के ही साथ रखा गया है। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि एक एक के तीन-तीन भेद नहीं हो सकते, अपितु इसी क्रम में सरलतापूर्वक ये गुणत्वाधान के हेतु दृष्टिगोचर हो जाते हैं, अतः इनके ही उदाहरण क्रमशः दिये गए हैं।

वामन ने भी इनके पूर्व ही 'न गुप्तलक्षितसंवृतानि' (का०सू० २।१।१६) कहकर इन दशाओं में निर्दूषणता का प्रतिपादन किया था। भोज के द्वारा उद्धृत किया गया "संवीतस्य हि लोकेन" आदि कारिका भाग वामन ने भी अपने संवृतनिरूपण के प्रसङ्ग में दिया है।

संवृत का एक अर्थ होता है 'लपेटा हुआ'। अतः यहां अर्थ हुआ लोक की मान्यताओं और स्वीकृतियों में लिपटा हुआ, अर्थात् लोक में जिस शब्द का अर्थ किसी संदर्भ विशेष में जैसा लिया जाता है, वैसा ही ग्रहण करना। जैसे—लिङ्ग-पद-पुरुषजननेन्द्रिय के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है, जो असभ्यार्थ वाचक है, किन्तु शिवलिङ्ग सदृश शब्दों में लोक अश्लीलता अथवा असभ्यता नहीं मानता। ऐसी दशाओं में प्रयुक्त पद दोषाधायक नहीं होते। संवीत का अर्थ स्वीकृत भी है। अतएव वामन ने कहा था "लोकसंवीतं संवृतम्" (का० सू० २।१।१९ ॥)

ग्राम्यमिति। अत्र केचिद्यथासंख्यं व्याचक्षते—घृणावदादीनां त्रयाणां क्रमेण संख्यानगोपनलक्षणानि दोषत्वाभाववीजानीति, तदसत्। घृणावदर्थादिमात्र एवाग्रे प्रतिसंभेदत्रिकमुपादाय संख्यानादित्रिकस्योपदर्शनात्। एतादृशयथासंख्यसूचनायैव लक्षणातिक्रमेण घृणावतः प्रथममुपादानम्। तस्मात्संख्यानमिव संख्यानं लोकानुमतिः। किंचित्पदं दुष्टजातीयमपि लोके नोपादानात्ताद्रूप्यं जहात्येव। प्रायेण लोकानुसारि काव्यदर्शनं भवत्यतः प्रतिस्वं भेदत्रितयसंबन्धादुपपन्नं यथासंख्यं स्यादित्यभिधाय पूर्वक्रमेणोदाहरति—

अत्रेति। एतेन संवीतेष्वित्यादिकं बहुवचनं व्याख्यातम्। यथा शिवलिङ्गस्य संस्थान इत्यत्र यद्यपि मुख्यविधैव शिवलिङ्गपदमश्लील एवार्थे, तथाप्यविगानेनादिप्रयोगयोगित्वान्न व्रीडादानक्षमं तथेहापि तद्वीर्यैति। शिवलिङ्गेत्यत्र भगवत्संबन्धः प्रयोजक इति तु तुल्यमत्रापीत्याह—तदेति। अत्र हि जगदन्तर्यामिणो भगवतस्तद्विरोधितया प्रसिद्धिरुपजीव्या तदुपजीवने व्रीडादायिनी प्रतीतिरनुत्थायिन्येव। अत्रैवाचार्यमतं लिखति—संवीतस्य हीति। कस्यासभ्यत्वेति। भावना सकललोकसाधारणं ज्ञानम्॥

(ख) गुप्ताश्लीलार्थान्तरदोषगुण

गुप्ते यथा—

'सुदुस्त्यजा यद्यपि जन्मभूमिर्गजैरसंबाधमगांबभूवे।
स तेऽनुनेयः सुभगोऽभिमानी भगिन्ययं नः प्रथमाभिसंधिः॥ १४२॥'

अत्र जन्मभूमिसंबाधसुभगभगिनीशब्दानामश्लीलार्थान्तरत्वेऽपि प्रथमार्थप्रभावभावनागुप्तत्वाद् गुणत्वम्॥

यदाह—

'वस्तुमाहात्म्यगुप्तस्य पदार्थस्य विभावनात्।
भगिनीभगवत्यादि नासभ्यत्वेन भाव्यते॥'

गुप्त होने पर (कैसे असभ्यार्थान्तर दोष नहीं होता है इसका निदर्शन "यद्यपि जन्मभूमि को छोड़ना बहुत कठिन है" "हाथी संकटों से मुक्त हो गये, अथवा हाथियों ने उसे संकट मुक्त कर दिया" "उस अभिमानी सुन्दर युवा को तुम्हें मनाना चाहिये", "हे भगिनि, यह हमारा पहला समझौता है।" ॥ १४२ ॥

यहां प्रयुक्त वाक्यांशों में 'जन्मभूमि', 'संबाध', 'सुभग', 'भगिनी' आदि शब्दों का क्रमशः (योनि, गुप्तांग, सुन्दरयोनि, योनिवाली आदि) दूसरा अर्थ होने पर भी प्रथम अर्थ के प्रभाव का असर रहने से द्वितीय अर्थ का भाव छिप जाने से गुणता आ गई है। कहा भी गया है कि—वस्तु की महत्ता से छिप गये अर्थ की भावना न करने से भगिनी भगवती आदि शब्दों का अर्थ असभ्यरूप में नहीं लिया जाता है।

स्व० भा०—वामनने गुप्त की परिभाषा "अप्रसिद्धासभ्यं गुप्तम्" (२।१।१७) दी है। अर्थात् पद का असभ्य अर्थ लोक में प्रसिद्ध नहीं होता अतः वह गुप्त हो जाता है, जो प्रसिद्ध अर्थ है वही सहसा उपस्थित होता है। यहीं पर दूसरे अर्थ लोक में सामान्यतः अभिधेय रूप में स्वीकृत नहीं हैं।

यस्य पदस्य व्युत्पत्तिलभ्यमर्थान्तरं ग्राम्यम्, यस्य वा समभिव्याहारलभ्यम्, तत्र गोपनं समाधानबीजम्। तदुभयं भवति रूढेर्वा बलवत्त्वं जलधरादिष्विव तथा तात्पर्योन्नयनप्रतिबन्धेन विपरीतार्थतात्पर्योन्नयनपर्यवसानं वा। यथोदाहरिष्यमाणे तथा च प्रतीतेरप्रत्यूहे दूषणताबीजाभावस्तत्र प्रथमकक्षापक्षीकरणेनाद्यमुदाहरति। रूढ्युपस्थापितः प्राथमिकोऽर्थस्तस्य भावो झटिति वाक्यार्थज्ञानं तस्य भावना वासना तया गोपनं चमत्कारार्पणमतिरोधानाम्। अमुमेवार्थमाचार्यमतेन स्वहस्तयति—वस्तुमाहात्म्येति। अविभावनादिति। विरुद्धं व्रीडादायितया भावनं तस्याभावात्। तेन क्वचिद्योगोपादानेऽपि तथाभावसंपत्तौ न दोषः। एतदेवोदाहरणेन स्फुटयति—भगिनीति। एतेन भगवतीति पूर्वानुपात्तमुदाहरणं व्याख्यातम्। द्वितीयगोपनमशस्तार्थान्तरे व्यक्तीभविष्यतीति॥

(ग) लक्षितासभ्यस्मृतिहेतु

लक्षिते यथा—

'ब्रह्माण्डकारणं योऽप्सु निदधे बीजमात्मनः ।
उपस्थानं करोम्येष तस्मै शेषाहिशायिने ॥ १४३ ॥'

अत्र ब्रह्माण्डोपस्थानशब्दयोरसभ्यस्मृतिहेतुत्वेऽपि अन्यत्र लक्षितत्वाद् गुणत्वम् ॥

असभ्य अर्थ के (अभिधा से नहीं अपितु) लक्षणा से उपस्थित होने पर निर्दोषता का उदाहरण—

जैसे—जिसने ब्रह्माण्ड—विश्व—की उत्पत्ति के लिए अथवा विश्व के कारणभूत अपने वीर्य को जल में रखा मैं उसी शेषनाग पर सोने वाले विष्णु के लिये अर्चा कर रहा हूं (उसी के लिए उपस्थित हूँ ।) ॥ १४३ ॥

इस श्लोक में 'ब्रह्माण्ड' और 'उपस्थान' इन दोनों शब्दों के असभ्यस्मृति हेतु होने पर भी इनका यह अर्थ लक्षणा से उपस्थित होने के कारण गुणत्व है ।

स्व० भा०—'ब्रह्माण्ड के अण्ड अंश से और उपस्थान से अण्डकोश तथा शिश्न जैसे असभ्य अर्थ की स्मृति हो सकती है, किन्तु ये अर्थ अभिधा से साक्षात् उपस्थित न होकर लक्षणा से उपस्थित होते हैं । अभिधेय अर्थ साक्षात् होता है और लक्ष्य अर्थ 'सान्तर' । अतः लक्षित हो जाने से उनकी दुष्टता दब जाती है ।

वामन ने इसकी परिभाषा दी है—'लाक्षणिकासभ्यान्वितं लक्षितम् ॥' (२।१।१८)

यस्य पदस्यैकदेशो ग्राम्यानुगामी तस्य स्मृतिहेतुता । तत्र कुत्रचिदुक्तिवैचित्र्यादेकदेशो झटिति स्मारकः, क्वचित्तथैव समुदायशक्त्या विपरीतार्थोपस्थापनाज्झटिति स्वार्थं समुदाय एव प्रतिपादयति । आद्यो दूषणम् । द्वितीयस्तु वैजात्याभावाद् गुणः । तदेवं लक्षणं यत्राद्ये ग्राम्यत्वं ततोऽन्यत्रैव बहुधा लक्षणात्तदिदमुक्तम्—अन्यत्र लक्षितत्वादिति ।

(घ) संवीत अशस्तामङ्गलत्वदोषगुण

एवमशस्तादीनामपि गुणत्वम् ।

यथा—

'भद्रे मारि प्रशस्तं वद सदसि मुदा नृत्यकृत्ये मुहूर्तं
मृत्यो रत्नैश्चतुष्कं विरचय रचयारात्रिकं कालरात्रि ।
चामुण्डे मुण्डमालामुपनय विनयस्वायतां भैरवीर्ष्यां-
मेवं देवे भवानीं वदति परिजनव्याहृतिस्त्रायतां वः ॥ १४४ ॥

अत्र मारीकृत्यादीनामशस्तार्थानामपि पदानां समस्तमङ्गलायतनस्य भगवतो विश्वेश्वरस्य संबन्धेनोक्तत्वाद् गुणत्वम् ॥

इसी प्रकार अमङ्गल ग्राम्य के अशस्त आदि भेदों की भी गुणता सिद्ध होती है । जैसे—"हे देवि महामारी, तुम खूब चिल्लाओं, हे कृत्या देवि, तुम भी सभा में आनन्द से एक क्षण नाचो, हे मृत्यु तुम भी रत्नों से वेदी बनाओ, हे कालरात्रि तुम आरती तैयार करो, चामुण्डा, तुम माला लाओ, भैरवी, तुम भी अपनी ईर्ष्या को लाओ अथवा अपनी ईर्ष्या को विनम्र करो" भगवान्

शङ्कर के देवी उमा से बात करने पर इस प्रकार से की गई सेवकों की पुकार आपकी रक्षा करे ॥ १४४ ॥

यहाँ पर मारी, कृत्या आदि अशस्त अर्थ वाले पदों में समस्त मङ्गलों के निधान भगवान् शिव के सम्बन्ध के कारण गुणत्व आ गया है।

स्व० भा०—यहाँ लोक में स्वीकृत सिद्धान्त का कि समस्त अमङ्गलों के रहते भी भगवान् शिव सदा मङ्गल है, निरूपण है अतः संवीत होने से यहां दोष नहीं हुआ।

पुनरपरेण प्रकारेण संव्यानं भवतीत्यप्रशस्ते स्फोरयति। परमेश्वरस्य मङ्गलायतनत्वं तत्संबन्धिमात्रस्यैव मङ्गलीभवननियमेन शास्त्रेतिहासादौ प्रसिद्धत्वात्। तदुक्तम्—'तथापि स्मर्तृणां वरद परमं मङ्गलमसि' इति। अयं च प्रकारोऽप्रशस्तार्थ एव भवति। मार्यादयो मातृविशेषाः। आरात्रिकं नीराजनदीपव्यासङ्गपात्रम्। परिजनपदं संबन्धं पुष्णाति ॥

द्वितीयं गोपनप्रकारमशस्तार्थान्तरं व्यञ्जयति—

(ङ) गुप्त अशस्तार्थान्तरामङ्गल दोष

यथा वा—

'सत्पक्षा मधुरगिरः प्रसाधिताशा मदोद्धतारम्भाः।
निपतन्ति धार्तराष्ट्रा. कालवशान्मेदिनीपृष्ठे ॥ १४५ ॥'

अत्र धार्तराष्ट्राः कालवशान्मेदिनीपृष्ठे निपतन्तीत्यस्यामङ्गलार्थान्तरत्वेऽपि 'हंसानहं धार्तराष्ट्रानिति व्यपदिशामि' इति वक्ष्यमाणवाक्यगुप्तत्वाद् गुणत्वम् ॥

अथवा जैसे—

सुन्दर पंखों वाले, मीठी वाणी युक्त, दिशाओं को सुसज्जित कर रहे, मस्ती से नृत्य करते हुए हंस विशेष समय आ जाने से पृथ्वी तल पर उतर रहे हैं ॥ १४५ ॥

(देखिए तो) ये मीठी बोली बोलने वाले, अपनी कामनाओं को सिद्ध कर रहे, मदपूर्वक कार्य प्रारम्भ करने वाले धृतराष्ट्र के पुत्र (कौरवादि) अपने मृत्युवश सहायकों के साथ धराशायी हो रहे है।

इस छन्द में "धार्तराष्ट्राः कालवशात् मेदिनीपृष्ठे निपतन्ति' इसका अमङ्गलरूप दूसरा अर्थ होने पर भी वह आगे कहे जाने वाले वाक्य—"हंसानहं धार्तराष्ट्रानिति व्यपदिशामि" से छिप जाता है।

स्व० भा०—यह छन्द भट्टनारायण के वेणीसंहार (१।६) का है जिसे सूत्रधार शरद् ऋतु में लौटकर आ रहे हंसों को देखकर कहता है, किन्तु परिपार्श्विक के द्वारा "(ससंभ्रमं) भाव शान्तं पापम्। प्रतिहतममङ्गलम्।" कहे जाने पर सूत्रधार कहता है—'मारिष, शरत्समयवर्णनाशंसया हंसा धार्तराष्ट्रा इति व्यपदिश्यन्ते" इससे दोनों अर्थ स्पष्ट हो जाते हैं।

यथा वेति। **पक्षः पतत्रं परिकरश्च। आशा दिक् प्रत्याशा च। मदः ह्रीवता दर्पश्च। निपात आगमनं शस्त्रादिहतानां मेदिनीसंगतिश्च। रङ्गमङ्गलान्तः स्वस्त्ययनप्रवृत्तस्य सूत्रधारस्य मङ्गलार्थाधिकारवस्तुप्रस्तावनं तावद्बुद्धिपूर्वकमत्र न संभवति हंसानहमित्यादिना तात्पर्यस्य नियमितत्वात्। स्वशक्त्या तु पदार्थान्तरमाभासयन्ति पदानि दोषतया न प्रतिभासते। तत्र वीथ्यङ्गविशेषोपक्षेपस्यामुखशरीरत्वादौचित्यनिवेश एव स्फुटं कारणमित्याशयो बोद्धव्यः। औचित्यविरोधो न सार्वत्रिक इति नातिप्रसङ्गः ॥**

(च) लक्षिताशस्तस्मृतिहेतु दोषगुण

यथा च—

'कोऽभिप्रेतः सुसंस्थानस्तस्या इति न निश्चयः ।
आशापिशाचिकैषा तु कुमारी मां वरिष्यति ॥ १४६ ॥'

अत्राभिप्रेतसुसंस्थानाशापिशाचिका कुमारीति पदानामशस्तस्मृतिहेतूनामपि लोकैरन्यत्र लक्षितत्वाद् गुणत्वम् ॥

और इसी प्रकार

कौन सुघटित शरीर वाला व्यक्ति उसको पसन्द है, यह निश्चित मालूम नहीं। अब तो यह कुमारी आशापिशाची ही मेरा वरण करेगी ॥ १४६ ॥

यहां पर अभिप्रेत, सुसंस्थान, आशापिशाचिका और कुमारी इन पदों द्वारा अमाङ्गलिक (प्रेत, मृत्यु पिशाची, मारी) अर्थ की याद दिलाने से दुष्टता थी, किन्तु लोक में इसका दूसरा अर्थ ही लक्षित होने से यहां गुणत्व है।

कोऽभिप्रेत इत्यादौ पूर्ववदेव वासना ॥

(छ) संवीत घृणावत् दोष गुण

एवं घृणावदर्थादीनामपि गुणत्वम् ।
तत्र घृणावतो यथा—

'पद्मान्यर्कांशुनिष्ठ्यूताः पीत्वा पावकविप्रुषः ।
भूयो वमन्तीव मुखैरुद्गीर्णारुणरेणुभिः ॥ १४७ ॥

अत्र—

'निष्ठ्यूतोद्गीर्णवान्तादि गौणवृत्तिव्यपाश्रयम् ।
अतिसुन्दरमन्यत्तु ग्राम्यकक्षां विगाहते ॥'

(ज) गुप्तघृणावदर्थान्तर

घृणावदर्थान्तरस्य यथा—

'कामिनीगण्डनिस्यन्दबिन्दुरिन्दुर्मतो मम ।
अन्यथा कथमेतस्य जगदुद्द्योतिनी द्युतिः ॥ १४८ ॥'

अत्र रागातिशयहेतुभूतयोः कामिनीकपोलचन्द्रमसोः स्वरूपभावनामाहात्म्येनार्थान्तरभावना गुप्तेति गण्डनिस्यन्दबिन्दुरित्यस्य घृणावदर्थान्तरस्यापि न दोषत्वम् ॥

इसी प्रकार घृणावत् (ग्राम्य) अर्थों की गुणता सिद्ध होती है।

इनमें से घृणावत् की निर्दोषिता का उदाहरण यह है—

पराग से भरे कमलों को देखकर कोई व्यक्ति कहता है कि सूर्य की किरणों से निकले हुए जिन अग्नि के कणों को कमलों ने पिया था उन्हें बाहर निकलते हुये लाल-लाल पराग कणों से भरे मुखों द्वारा मानो उगले दे रहे हो ॥ १४७ ॥

यहां—निष्ठयूत, उद्गीर्ण वान्त आदि गौणीवृत्ति का आश्रय लेने से अत्यन्त सुन्दर हैं, इससे भिन्न तो ग्राम्यता की कोटि में आते हैं।

घृणावदर्थान्तर के भी गुप्त हो जाने से दुष्टता नहीं रहती।

जैसे—कोई नायक चन्द्रमा को देखकर अपने मित्र से कह रहा है कि मेरा तो विचार ऐसा है कि यह चन्द्रमा किसी सुन्दरी के कपोल से टपका हुआ पसीने का बिन्दु है नहीं तो भला इसमें संसार को आह्लादित करने वाली कांति कैसे होती ॥ १४८ ॥

यहां पर अत्यधिक प्रेम का कारणभूत कामिनी के कपोल तथा चन्द्रमा दोनों के रूप का भाव महत्वपूर्ण होने से दूसरे प्रकार के (घृणावत्) अर्थ का भाव गुप्त हो गया। अतः 'गण्ड-निस्यन्दविन्दु' इस पद का घृणावत् दूसरा अर्थ भी दोषपूर्ण न रहा।

स्व० भा०—घृणावत् के प्रसङ्ग में उदाहृत 'पद्मान्यर्कै०' आदि तथा 'निष्ठ्यूत०' आदि श्लोक दण्डी के काव्यादर्श (१।९६, ९५) में अक्षरशः मिलते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि निष्ठ्यूत (थूकना तथा निकलना), वमन्ति (वमन करना तथा निकालना), उद्गीर्ण (उगला हुआ तथा निकल रहा) यह दो-दो अर्थ दे सकते हैं जिनमें प्रथम मुख्यार्थ अमुख्यार्थ के सामने दब गया है। रस में पाठक ऐसा डूब जाता है कि उसका घृणावत् अर्थ स्मरण ही नहीं रह जाता। इसी प्रकार दूसरे प्रसङ्ग में 'गण्ड' पद का भी प्रयोग इतना सुन्दर हुआ है कि उसका घृणाजनक अर्थान्तर प्रतीत ही नहीं होता।

अथापरं संख्यानप्रकारं घृणावदर्थे कथयति—यथेति। **गुणवृत्तिव्यापाराश्रयेष्ववान्तरादिपदेषु प्रथमत एवान्यक्रियादिधर्माणामन्यत्रारोपे समाधिप्रादुर्भावादनुत्थानं दोषाभावत्वद्वारं, ततश्च मुख्य एव स्थाने जुगुप्सादायित्वं पूर्वाचार्यश्लोकेनैव व्याचष्टे**—अत्रेत्यादि। **गुणग्रस्तत्वमभिप्रेत्यातिशयसंपत्तौ प्रकृतौचित्यात्कपोलस्यैव प्रतिभासस्तदिदमुक्तम्**—रागातिशयहेतुभूतयोरिति। **तथा च जगन्नयनानन्दभूतस्य निःशेषिताशेषतमसश्चन्द्रमसो यदिदमभिप्रेतकामिनीकपोललावण्यबिन्दुमात्रतया भानं तदुचितमेवेति ॥**

प्राच्यानामेव वासनामभिसंधाय स्मृतिहेतुमुदाहरति—

(ञ) लक्षितघृणावत्स्मृतिहेतुदोषगुण

घृणावत्स्मृतिहेतुर्यथा—

'विपूयरशनावन्तः पलाशाषाढधारिणः।
ब्रणवर्चस्विनो यान्ति द्विजपोगण्डका इमे ॥ १४९ ॥

अत्र विपूयपलाशब्रह्मवर्चसपोगण्डशब्दानां घृणावत्स्मृतिहेतुत्वेऽप्यन्यत्र लक्षितत्वाददोषत्वम् ॥

घृणावत्स्मृति हेतु भी गुणत्व कोटि में आ जाता है।

जैसे—मूँज की करधनी पहने, ढाक का दण्ड धारण किये, ब्रह्मतेज वाले ये ब्राह्मण बालक जा रहे हैं ॥ १४९ ॥

यहां विपूय, पलाश, ब्रह्मवर्चस और पोगण्डशब्द घृणित की याद के कारण है फिर भी लक्ष्यार्थ दूसरा होने से दोषत्व नहीं रहा।

स्व० भा०—इन पदों के पूय (पीब), पलाश (मांसभक्षी), वर्चस् (विष्ठा), गण्ड (फोड़ा) आदि अर्थ भी होते हैं जिनसे घृणित पदार्थों की याद आ जाती है, किन्तु विवक्षित अर्थ दूसरा ही (मूँज, ढाक, तेज, बालक) होने से दोष नहीं रहा।

यथेति। आषाढो दण्डः। ब्रह्मवर्चस्विन इति। 'ब्रह्महस्तिभ्यां वर्चसः' इति समासान्तस्तत मत्वर्थीय इनिः। पोगण्डो बालः ॥

एवमन्यप्रकारमपि संव्यानादिकं स्वयमुन्नेयमित्याह—

उपसंहार

एवमन्यदपि द्रष्टव्यम् । अत्र च—

किंचिदाश्रयसंबन्धाद्धत्ते शोभामसाध्वपि ।
कान्ताविलोचनन्यस्तं मलीमसमिवाञ्जनम् ॥ १०६ ॥

तद्यथा—

'अन्त्रप्रोतबृहत्कपालनलकक्रूरकणत्कङ्कण-
प्रायप्रेङ्खितभूरिभूषणरवैराघोषयत्यम्बरम् ।
पीतच्छर्दितरक्तकर्दमघनप्राग्भारघोरोल्लसद्
व्यालोलस्तनभारभैरववपुर्दर्पोद्धतं धावति ॥ १५० ॥

अत्राश्रयस्य बीभत्सरसोचितत्वाददोषत्वम् ॥

इसी प्रकार अन्य दोषों को भी देखना चाहिए । यहां तो—(यह कहना है कि)—रमणी के नयनों में लगे काले अञ्जन की भांति कहीं-कहीं आश्रय के सौन्दर्य के कारण भी दोष रमणीयता धारण कर लेते हैं ॥ १०६ ॥

जैसे—निम्नलिखित श्लोक में—अँतड़ियों से बड़े-बड़े कपोलों को छिद्रों से गूँथकर उनकी टक्कर से कंकणों की टक्कर से निकलनेवाले अनेक आभूषणों की ध्वनियों के सदृश घोर ध्वनियों से यह आकाश को गुंजाये दे रही हैं । पीकर उगले हुये रक्त के कीचड़ के सामने की ओर अधिक जम जाने से भीषण लगते हुए, हिल रहे स्तनों के भार से अति भयङ्कर लगने वाले शरीर से मदमत्त होकर यह दौड़ रही है ॥ १५० ॥

यहां आश्रय के बीभत्स रस के उचित होने से दोष नहीं रहा ।

स्व० भा०—यह श्लोक महावीरचरितम् (१।२६) से लिया गया है जो ताड़का के वर्णन से सम्बद्ध है । लक्षण की कारिका भामह के काव्यालङ्कार में (१।५५) अक्षरशः विद्यमान है ।

एवमिति । अनित्योऽयं दोषः । तेन यत्र दोषता नास्ति तत्र विषये रसप्रकाशसामग्र्यामन्तर्भावात्कथं न गुणत्वम् । अन्तर्भावश्च द्विधा—प्रयोगविषयौचित्येन वा, वागनुभावौचित्येन वा । तत्र प्रथमं दर्शयति—किंचिदिति । यथाञ्जनस्य नाञ्जनवल्यादिसंगतत्वेन शतशो भाव्यमानस्याप्युद्दीपनविभावना । भवति तु कान्ताविलोचनचुम्बितयानुसंधीयमानस्य । तथापदस्यापि विषयेऽतद्विषये च प्रयुज्यमानस्य । तदेतद् व्याचष्टे—अत्राश्रयस्येति ।

संनिवेशवशात्किंचिद्विरुद्धमपि शोभते ।
नीलं पलाशमाबद्धमन्तराले स्रजामिव ॥ १०७ ॥

तद्यथा—

'अन्त्रैः कल्पितमङ्गलप्रतिसराः स्रोहस्तरक्तोत्पल-
व्यक्तोत्तंसभृतः पिनद्ध सहसा हृत्पुण्डरीकस्रजः ।
एताः शोणितपङ्ककुङ्कुमजुषः संभूय कान्तैः पिब-
न्त्यस्थिस्नेहसुराः कपालचषकैः प्रीताः पिशाचाङ्गनाः ॥ १५१ ॥'

अत्र शृङ्गारिणो हि जगदपि शृङ्गारमयं पश्यन्तीति बीभत्सरसेऽपि माधवेनान्त्रादिपदानामन्तरालेषु निवेशितानां मङ्गलप्रतिसरादिपदानामदोषः ॥

संनिवेश की विशेषता के कारण फूलों की माला के बीच गूँथ दिये गए हरे-हरे पत्तों की भांति प्रायः दोषपूर्ण उक्ति भी सुन्दर बन जाती है ॥ १०७ ॥

जैसे—श्मशान पर उपस्थित माधव वहां के दृश्य का वर्णन कर रहा है—आंतों से मांगलिक सूत्र बनाये हुए, मृत अङ्गनाओं के हाथरूपी रक्तकमलों का कर्णभूषण धारण की हुई, रक्त का कुङ्कुम लगाए हुई ये पिशाचललनायें सहसा हृदयरूपी कमलों की मालायें पहन-पहन कर बड़ी प्रसन्न हो, अपने प्रियतमों के साथ कपाल के मधुपात्रों में मज्जा की शराब पी रही हैं ॥ १५१ ॥

यहां रसिक लोग समस्त संसार को ही रसमय देखते हैं। इस दृष्टि से बीभत्सरस में भी माधव के द्वारा आंत आदि पदों के बीच जोड़ दिये गये मांगलिकसूत्र आदि पदों में दोष नहीं हुआ।

स्व० भा०—भोज ने उपर्युक्त कारिका को भी भामह के काव्यालङ्कार से (१।५४) अक्षरशः उद्धृत किया है। यहां बीच-बीच में उपमेयों के मधुर सन्निवेश से दोष नहीं रह गया।

द्वितीयमन्तर्भावप्रकारं व्युत्पादयति—संनिवेशवशादिति। **संनिवेशो वागनुभावः। औचित्याकृष्टपदघटना तद्वशत्वं तदाकृष्टत्वमत एव विरोधिसंगततया विजातीययोरप्यौचितीवशेन कान्तिविशेषोन्मीलकत्वात् पत्रपुष्पव्यतिकरजमालासादृश्यं दर्शयति**—नीलमिति। **अन्त्रैरित्यादौ प्रत्युत्पन्नदोषोन्मत्तप्रेताङ्गनावलोकस्य माधवस्यालम्बनोद्दीपनविभावादिप्रकर्षे बीभत्सरसोत्सेकस्तावदुपपन्नः। यस्त्वयमकस्मादेव मङ्गलादिपदानां शृङ्गारानुयायिनामिह निवेशः स कथं दोषभावादपनेतव्यः, कथं वा गुणत्वमासादयितव्यमित्यतो हेतुगर्भं व्याचष्टे**—अत्र शृङ्गारिण इति। **शृङ्गारवासनानिविष्टः शृङ्गारी। तथा च पूर्वं बीभत्सरसान्वयेऽपि प्रकृतशृङ्गारभङ्गो मा भूदित्येतदर्थमेव कविना 'मम हि' इत्यादिना प्रतिज्ञाय 'लीनेव' इत्यादिवासनाद्यत्वमुपपादितम्। अत एव प्रतिपदं रूपकमाविष्टाभिप्रायमेवं शृङ्गारमयं शृङ्गाराङ्गतया रसतापन्नम्। उपपद्यते च तच्चित्तस्य सादृश्यमात्रेण तद्रूपतानुसंधानम्। ततश्च कथं नोद्दीपनता वस्तुसत्त्वस्यानुपयोगित्वात्। अत एव सूत्रितस्य बीभत्सस्य प्रकृतेन बाधात् प्रकृतार्थानुपोष इति ॥**

(चतुर्विंशति दोषों का आकलन)

ननु कथमुद्देशे चतुर्विंशतिधेत्युक्तम्। दोषा हि पूर्वं षोडशैव विभक्ता इत्यत आह—

अश्लीलादेरमी भेदा भिद्यन्ते यत्त्रिधा त्रिधा।
भवन्ति नव तेनैते पूर्वोक्ता दश पञ्च च ॥ १०८ ॥
चतुर्विंशतिरित्येषा प्रोक्ता पदसमाश्रया।
समासात्पूर्वनिर्दिष्टदोषाणां गुणकल्पये ॥ १०९ ॥
इत्येतत्पददोषाणामदोषत्वमुदीरितम् ॥ ११० अ ॥

अश्लील आदि के ये भेद जो कि पुनः तीन-तीन भेदों में विभक्त किए गए हैं, ये सब मिलकर नव होते हैं और इनके पूर्व १५ भेद कहे ही गए हैं। इस प्रकार पद पर आश्रित रहने वाले दोषों की (९ + १५ = २४) चौबीस संख्या कही गई है। संक्षेप में पहले कहे गए दोषों की गुणत्व प्राप्ति के लिए यहां पद दोषों की निर्दोषता बतलाई गई है। (१०८–११० अ)

स्व० भा०—पददोष सोलह ही भोज ने गिनाये थे, किन्तु दोषगुणों को चौबीस कहा है। उसी के विषय में उन्होंने स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया है कि सोलहवें ग्राम्यत्व दोष के पूर्व पन्द्रह दोष हो जाते हैं। ग्राम्यत्व के अश्लील, अमङ्गल तथा घृणावद् ये तीन भेद हो जाते हैं और प्रत्येक के पुनः संवीत, गुप्त और लक्षित। इस प्रकार (३ × ३ = ९) नव भेद हो जाते हैं। अतः (१५ + ९ = २४) सब मिलाकर चौबीस भेद पदाश्रित दोषगुणों के हुये।

अश्लीलादेरिति। **निगदव्याख्यातम्।** चतुर्विंशतिरित्येषेति। **आ दशभ्यः संख्या संख्येये वर्तते, ततः संख्याने संख्येये चाभिधानात् केवलसंख्यानवचनत्वेन गवां विंशतिरितिवत्पदसमाश्रयेत्युपपन्नम्।**

वाक्य दोषों का गुणत्व

इदानीं वाक्यदोषाणां गुणत्वमभिधीयते ॥ ११० ॥

अब वाक्यदोषों की गुणता कही जा रही है ॥ ११० ॥

क्रमप्राप्तवाक्यदोषगुणीभावव्युत्पादनमवतारयति—इदानीमिति ॥

(१) शब्दहीनत्व दोषगुण

तत्र शब्दविहीनस्य विवक्षावशतः क्वचित्।
निसर्गसुन्दरत्वेन गुणत्वं परिकल्प्यते ॥ १११ ॥

यथा—

'आक्षिपन्त्यरविन्दानि मुग्धे तव मुखच्छविम्।
कोशदण्डसमग्राणां किमेषां खलु दुष्करम् ॥ १५२ ॥'

अत्र 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' इति कर्तृकर्मणोः षष्ठीप्रतिषेधे किमेषां दुष्करमित्यपभाषणेऽपि संबन्धमात्रविवक्षातो गुणत्वम्।

यदाह—

'इदं हि शास्त्रमाहात्म्यदर्शनालसचेतसाम्।
अपभाषणवद्भाति न च सौभाग्यमुञ्झति ॥'

वक्ता की बोलने की इच्छामात्र से कहीं कहीं शब्दहीनत्व दोष से संयुक्त स्थानों पर भी स्वाभाविक सौन्दर्य होने के कारण गुणत्व की कल्पना की जाती है ॥ १११ ॥

जैसे—हे सुन्दरि, ये कमल तुम्हारे मुख की शोभा की होड़ करते हैं। भला कोषरूपी खजाना और नालरूपी दण्ड से संयुक्त इन कमलों के लिये कष्टसाध्य क्या है ? ॥ १५२ ॥

यहां पर 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' सूत्र के द्वारा 'कर्तृकर्मणोः कृति' नामक षष्ठी विधायक सूत्र का बाध होने पर इनके लिए दुष्कर क्या है" इसमें अशुद्धि होने पर भी सम्बन्ध मात्र की उक्ति अपेक्षित होने से गुणता आ गई है। कहा भी गया है—'यहां ऐसा लगता कि मानो किसी पदशास्त्र के महत्त्व को देखने में अलसाये चित्त वाले—भाषाशास्त्र के नियमों को देखने का कष्ट न करने वाले—के द्वारा किया गया अशुद्ध प्रयोग हो, किन्तु (सम्बन्ध विवक्षा के कारण) सौन्दर्य न गया हो।"

स्व० भा०—यहां उदाहरण तथा प्रमाण वाक्य काव्यादर्श (२।३६१ तथा ३।१५१) के हैं। इस प्रसंग में भोज का मत है कि 'शब्दहीनता होती अवश्य है, किन्तु वहां दोष नहीं होता जहाँ सौन्दर्य बाध नहीं होता।

पाणिनि के सूत्र 'कतृकर्मणोः कृति' (२।३।६५) का अर्थ है कि कृदन्त पदों के संयोग में कर्ता तथा कर्म में षष्ठी विभक्ति लगती है । इसी प्रकार 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' (२।३।६९) उसका बाधक सूत्र है जिसका अर्थ होता कि कृत् प्रत्ययों में 'लकारों के स्थान पर होने वाले प्रत्ययों में अन्त होने वाले, उ, उक, अव्यय, निष्ठा (क्त, क्तवतु) खलर्थ तथा तृन् प्रत्ययान्त पदों से सम्बन्ध होने पर कर्ता तथा कर्म में षष्ठी विभक्ति न लगे । दुष् उपसर्गपूर्वक कृ धातु से 'ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल्' से 'दुष्कर' पद बना । अतः प्रस्तुत सूत्र के अनुसार इससे सम्बद्ध पद में षष्ठी विभक्ति नहीं लगनी चाहिए किन्तु प्रस्तुत श्लोक में 'एषाम्' षष्ठ्यन्त है। यह नियम विरुद्ध अतः शब्दहीनत्व है, किन्तु छन्द के मनोहर होने के कारण और दोषों पर ध्यान न जाने के कारण यहां दोष नहीं लगता ।

यस्य वस्तुनो नानारूपाणि विजातीयरूपाणि तत्र तद्रूपविवक्षावैचित्र्याच्छब्दवैचित्र्यं संगच्छत इति दोषत्वाभावः। एवं रूपता गमितवतीत्यादौ कदापि नास्तीति दोषरूपतैषा। क्वचित्पुनरस्ति रूपान्तरमित्याह—क्वचिदिति । **भवत्वेवम् । गुणत्वं तु कथमित्यत आह—**निसर्गेति । **नियतरूपविवक्षा हि महाकवीनां न लावण्यमनुसंधाय भवितुमर्हति। तथाहि—आक्षिपन्तीत्यादौ एषां दुष्करमित्यत्र खलर्थयोगे 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' इत्यनेन षष्ठीप्रतिषेधादेषामिति कथं षष्ठीति दुष्टजातीयमादाय शेषरूपविशेषविवक्षा समाधानहेतुः । अस्ति हि षष्ठ्यर्थस्य संबन्धस्य वैरूप्यम्—संबन्धसामान्यं विशेषश्च जन्यजनकभावादिः । अत्र संबन्धविशेषविहितषष्ठीमुपादाय 'न लोक-' इत्यादिना निषेधः । संबन्धसामान्यरूपमुपादाय षष्ठी केन वार्यते । अयमेव संबन्धः शेष इत्युच्यते । एवं तावन्न दोषत्वम् । यथा कोषसमग्राणां राज्ञां विपक्षश्रीहरणमुपदिश्य यत्किमपि संबन्धिमात्रमेव न दुष्करं तथा पद्मानामिति समर्थयामहे । कथमन्यथा दुरापत्वद्वदनश्रीहरणमिति प्रकृतपोषलाभाद् गुणत्वमतिसुलभं तदेतद् व्याचष्टे—**अत्रेति । **ननु संबन्धमात्रविवक्षायां दोषता मा भूत्, गुणत्वं तु कथमिति यथोक्तमभिसंधाय परमतं लिखति—**इदं हीति । **शास्त्रमाहात्म्यं विधिनिषेधयोः परस्परासंकीर्णविषयत्वम् ॥**

(२) क्रमभ्रष्ट दोषगुणत्व

यत्नः संबन्धनिर्ज्ञानहेतुः कोऽपि कृतो यदि ।
क्रमलङ्घनमप्याहुर्न दोषं सूरयो यथा ॥ ११२ ॥

बन्धुत्यागस्तनुत्यागो देशत्याग इति त्रिषु ।
आद्यन्तावायतक्लेशौ मध्यमः क्षणिकज्वरः ॥

आद्यन्तौ मध्यम इति संबन्धनिर्ज्ञानहेतोर्विधानान्न शब्दक्रमलङ्घनं दोषः । वक्तुश्च बन्धुत्यागदेशत्यागयोस्तनुत्यागाद् गरीयस्त्वेनाभिमतत्वादित्यर्थक्रमलङ्घनस्यापि गुणत्वम् ॥

यदि अन्वय बोध के लिए कवि द्वारा प्रयत्न किया गया हो तो विद्वानों ने उसके लिये किए गए क्रमोल्लङ्घन को भी दोष नहीं माना है ॥ ११२ ॥

जैसे—बन्धुओं का परित्याग, शरीर का परित्याग तथा देश का परित्याग इन तीनों प्रकार के त्यागों में प्रथम तथा अन्तिम बहुत ही अधिक कष्टदायी हैं और मध्यम अल्प समय तक ही दुःख देने वाला है ।

आदि अन्त तथा मध्यम इनका सम्बन्ध निर्धारण के लिए इस क्रम में रखने से यहां शब्दक्रम के लङ्घन से होनेवाला दोष नहीं है। वक्ता के लिए बन्धुत्याग तथा देशत्याग दोनों का तनुत्याग की अपेक्षा अधिक महत्व होने से उसके ही विशेषतः मान्य होने से अर्थ के क्रम का लंघन करना भी गुण ही हैं।

स्व० भा०—वस्तुतः क्रमभङ्ग हो जाने पर अभीष्ट अन्वय में बाधा होती है। यह बाधा ही समस्त दोषों कारण है। अतः यदि कभी इस बाधा के होने से ही अभीष्टप्रतीति होती है उस समय तो गुणत्व ही होना चाहिए। प्रस्तुत उदाहरण में प्रथम द्वितीय तथा तृतीय तीन स्थानों पर तीन प्रकार के त्यागों के वाचक पद है। इन्हीं क्रमों में कहीं इनका उल्लेख भी होना चाहिए किन्तु उत्तरार्ध में प्रथम तथा तृतीय का उल्लेख पहले और द्वितीय का सबसे बाद में किया गया है। इस प्रकार तो क्रमभङ्ग हो गया। किन्तु यहां क्रम अभीष्ट होने से शब्दक्रम लङ्घन दोष नहीं हुआ। अर्थ की दृष्टि से भी यहां क्रम लंघन नहीं है, क्योंकि इस दृष्टि से अधिक महत्वशाली बात पहले और कम महत्ववाली बाद में आनी चाहिए। चूंकि प्रथम तथा तृतीय द्वितीय की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण हैं, अतः उनका एक साथ प्रथम निर्देश करना अनुचित न होकर उचित हो गया है।

यहां का लक्षण तथा उदाहरण दोनों ही काव्यादर्श (३।१४६–७) का हैं।

यत्न इति। **क्रमभ्रंशे हि यथाभिमतान्वयप्रतीतिप्रत्यूहो दूषकताबीजम्। तद्यदि कुतश्चिद्विशेषादस्खलितैव प्रतीतिरुपजायते तदा बीजाभावेन तथाभावो निवर्तत एव। स च विशेषः प्रतिपदमनुक्रमितुं न शक्यते इति कोऽपि यत्न इति सामान्येन प्रतिपादितम्। सोऽयं शब्दक्रमलङ्घनापवादः। अर्थक्रमलङ्घने त्वभिप्रायविशेषः। तथा हि—बन्धुत्याग इत्यादौ बन्धुत्यागतनुत्यागदेशत्यागान्क्रमेणोद्दिश्य तथैवानुदेशोऽप्यर्हति न त्वादिममुद्दिश्य ततोऽन्त्यस्ततो मध्य इति उद्देशानुदेशलक्षणशास्त्रक्रमभ्रंशजातीयत्वेऽपि संबन्धज्ञानहेतुयत्नकरणाददूषणत्वं व्यवस्थाप्यते। यत्नश्चायमेव यदादिपदैरुल्लेखः। तानि हि तत्तत्स्थानविशेषगामिन एव प्रतीतिमुपजनयन्ति। अवश्यं चानेन क्रमेणात्र वक्तुमुचितं तनुत्यागस्य विजातीयतावित्तया पृथगेव वक्तुमर्हत्वात्। एवं चानुपपत्तिर्लोके बन्धु यागापेक्षया शरीरत्यागस्यातिकृच्छ्रत्वेन प्रसिद्धिः। अतश्च 'मध्यम आयतक्लेश आद्यन्तौ क्षणिकज्वरौ' इति वचनमुचितमिति आर्थक्रमभ्रंशः कथं न भवति तत्राह—**वक्तुश्चेति। **अभिमतमित्यनेनाभिप्रायविशेषोऽपवादहेतुः—'यथारुचि यथार्थित्वं यथाव्युत्पत्ति भिद्यते। आभासो व्यर्थ एकस्मिन्ननुसंधानसाधितः॥' इति न्यायादुपपन्नमेवैतदिति॥**

(३) विसंधि दोषगुण

विरूपसंधि यत्पूर्वं विसंधि च निरूपितम्।
न च दुर्वचके प्रायः प्रगृह्यादौ च दुष्यति॥ ११३॥

तत्र दुर्वचके विरूपसंधियथा—

'जयन्ति वर्षास्विति भर्गदुर्गयोः सुदुर्वचा दुर्वचकप्रयुक्तयः।
अभेण्नगेड्जे खमपोग्रभोग्ररुग्ध्रुड्भ्रमब्रण्मुख सध्यगेधि नः॥ १५३॥'

अत्रोत्तरार्धस्य विरूपसंधित्वेऽपि दुर्वचकत्वेन कलाविद्धिरादृतत्वाद् गुणत्वम्।

यदाहुः—

'शुकस्त्रीबालमूर्खाणां मुखसंस्कारसिद्धये ।
प्रहासाय च गोष्ठीषु वाच्या दुर्वचकादयः ॥ १५४ ॥'

प्रगृह्यादौ विगतसंधिर्यथा—

'कमले इव लोचने इमे अनुबध्नाति विलासपद्धतिः ।
स इतोऽब्दऋतावृतप्रियो न ऋचस्त्वं न यजूंषि ऊहसे ॥ १५५ ॥'

अत्र विसंधेः प्रगृह्यादिहेतुकत्वाद् गुणत्वम् ।

यदाह—

न संहितां विवक्षामीत्यसंधानं पदेषु यत् ।
तद्विसंधीति निर्दिष्टं न प्रगृह्यादिहेतुकम् ॥ ११४ ॥

असुन्दर रूप में होने से पहले जो विसंधि नामक दोष निरूपित हुआ है वह दुर्वचक प्रसंग तथा प्रगृह्यादि के अवसरों पर दोष नहीं होता है ॥ ११३ ॥

इनमें से दुर्वचक में विरूप संधि का उदाहरण—

वर्षा के दिनों में शिव तथा पार्वती की ये अत्यन्त कठिन कही गई दुर्वचक की प्रयुक्तियां सर्वोत्कृष्ट है ।

शंकर जी पार्वती से कहते हैं कि हे पर्वतराजपुत्री, (नगेऽजे) आकाश तो चन्द्रमा से रहित सा हो गया है (अ = नहीं है भ = नक्षत्रों का ईश = स्वामी = चन्द्रमा) क्योंकि आकाश में, हे जलजमुखी, उग्रकांति वाले सूर्य की किरणों के द्रोही अर्थात् बादल छा गए हैं । इस पर वह कहती हैं कि फिर तो मेरे साथी होओ ॥ ५३ ॥

यहां उत्तरार्ध में विरूप सन्धि होने पर भी दुर्वचक होने के कारण कला के पारखी इसका आदर करते हैं । उनके द्वारा आदर किए जाने से यहां गुणत्व है । इसके विषय में कहा भी गया है कि—शुक, स्त्री, बालक तथा मूर्खों की मुख की वाणी में शुद्धि लाने के लिए और हंसाने के लिए सभाओं में दुर्वचकादि का प्रयोग होना चाहिए ॥ १५४ ॥

प्रगृह्य आदि में संधि नहीं होता है ।

जैसे—दो कमलों की भाँति ये दोनों नेत्र विलास परम्परा को धारण कर रहे हैं । वह वर्ष चला गया 'ऋतु के प्रेमी आप ऋतु में न तो ऋग्वेद का और न यजुर्वेद का ही विवेचन करते हैं' ॥ १५५ ॥

यहां पर सन्धि न होने का कारण प्रगृह्यादि होने से गुणत्व है, दुष्टता नहीं । इसके बारे में कहा गया है कि—यदि कोई व्यक्ति केवल इसीलिए सन्धि का प्रयोग नहीं करता कि मैं संहिता नहीं करना चाहता, तो वैसे स्थानों पर विसन्धि नामक दोष होता है, किन्तु प्रगृह्य आदि सज्ञा के कारण सन्धि न होने पर दोष नहीं होता ॥ ११४ ॥

स्व० भा०—विसन्धि दोष उन दोनो स्थानों पर होता है जहां पर या तो संधि बहुत खराब लगती है, उसका ठीक से उच्चारण असंभव हो जाता है और दूसरे जहां पर संधि ही नहीं की जाती । 'जयति'० आदि वाले श्लोक के उत्तरार्ध में ऐसी संधियां हुई जो दुष्पठ्य है । जो कठिनाई से पढ़े जा सकते हैं उनको दुर्वचक कहते हैं । इनका उपयोग शिक्षा में होता है । अतः शिक्षण के उद्देश्य से इनका प्रयोग होने पर दोष नहीं होता । इसी प्रकार प्रगृह्य प्रकृति भाव आदि भी

ऐसी दशायें हैं जहां संधि अपेक्षित नहीं। जैसे—'कमले इव', 'लोचने इमे' तथा 'इमे अनुबध्नाति' संधि प्रगृह्य होने से नहीं हुई। प्रगृह्य का परिभाषा सूत्र—'ईदूदेद्विवचनं प्रगृह्यम्' है। इसी प्रकार न 'ऋतु' में संधि 'ऋत्यकः' सूत्र से प्रकृति भाव हो जाने के कारण नहीं हुई। यहां दोष नहीं हुआ।

'कमले इव लोचने' वाला उद्धरण वामन के काव्यालंकार सूत्र (२।२।९) में तथा 'न संहिता' वाला काव्यादर्श (३।१५५) में है।

विरूपेति। **विरूपो दुर्वचको विसंधिर्विगतं संहिताकार्यं दुर्वचके कलाविशेषरूपतयानुमते संहिताकार्यनियमः। द्वितीये कुत्रादूषणमित्याह**—प्रगृह्यादाविति। **प्रगृह्यं 'ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्' इत्यादिना यत्र प्रगृह्यसंज्ञा विहिता, आदिग्रहणाद्विनापि प्रगृह्यसंज्ञया यत्र प्रकृतिभावविधानं तथोदाहरिष्यते। यत्र वा वक्तुः खेदादिना विच्छिद्य पाठे विरतिर्भवति। यथा—का एकशिरोरुहेति। तदेवं दुर्वचकप्रगृह्यादि यथासंख्यं विरूपविसंधिविगतसंधानयोरपवादकारणे इत्याह**—अत्रेति। **प्रयुज्यन्त इति प्रयुक्तयो दुर्वचकाश्च ताः प्रयुक्तयश्चेति दुर्वचकप्रयुक्तय इति कर्मधारयः। सुदुर्वचा इति अन्येनोच्चारयितुमशक्याः। स्वयमेव कविः प्रतिज्ञाय उत्तरार्धे दुर्वचकान्याह**—अभेडित्यादि। **हे नगेऽजे पर्वतराजपुत्रि, खमाकाशं भेड् भानां नक्षत्राणामीडीश्वरश्चन्द्रः सोऽविद्यमानो यत्र। तिरोधानादसत्कल्पना चन्द्रमसः। केन पुनस्तिरोधानमित्याकाङ्क्षायां द्वितीयं विशेषणम्**—अपोग्रेति। **अपगतोग्रदीप्तिभं उग्ररुचिरादित्यस्तदीयद्रोहकारिणोऽभ्रपदवाच्या मेघा यत्र। अप्सु रोहतीत्यब्रुट् पद्मं तद्वन्मुखं यस्या इति देवीसंबोधनम्। चेदीदृशं तर्हि सध्रयङ् सहचरो भवास्माकमिति गौर्या उत्तरम्। कलारूपत्वेन विरूपसंधानस्य गुणत्वमित्याह**—कलाविद्भिरादृतत्वादिति। **कमले इवेत्यादावुदाहरणत्वान्नैकश्लोकार्धः। पूर्वार्धे कमले इत्यादित्रितयं प्रगृह्यसंज्ञोदाहरणम्। उत्तरार्धे विनैव प्रगृह्यसंज्ञां प्रकृतिभावविधानं यत्र तत्त्रितयोदाहरणम्। तथाहि**—अब्दऋताविति। **'न ऋच' इति च 'ऋत्यकः' इत्यनेन प्रकृतिभावः। यजूंषि ऊहस इति 'इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च' इत्यनेन। अपरमादिपदग्राह्यं पूर्वमुदाहृतम्। अत्रापि स इति बोद्धव्यम्। तदेतच्छास्त्रानुमतमपि घटनासौष्ठवेन निवेशनीयम्। न त्वन्यथा। उक्तं च पूर्वमेव यत्प्रगृह्यादिहेतुकमपि नासकृत्प्रयोक्तव्यमिति॥**

(४) पुनरुक्त दोषगुण

अनुकम्पाद्यतिशयो यदि कश्चिद्विवक्ष्यते।
न दोषः पुनरुक्तेऽपि प्रत्युतेयमलंक्रिया॥ ११५॥

यथा—

'हन्यते सा वरारोहा स्मरेणाकाण्डवैरिणा।
हन्यते चारुसर्वाङ्गी हन्यते मञ्जुभाषिणी॥ १५६॥'

अत्र हन्यते हन्यत इति शब्दपुनरुक्तं चारुसर्वाङ्गी वरारोहेत्यर्थपुनरुक्तं तदुभयमप्यनुकम्पाद्यतिशयविवक्षायामदोष इति गुणत्वम्॥

यदि किसी के प्रति अतिशय दया आदि का भाव विवक्षित हो तो पुनरुक्ति होने पर भी दोष नहीं होता अपितु वह गुण हो जाता है॥ ११५॥

जैसे—निष्कारण ही वैर साधने वाले कामदेव के द्वारा यह सुघटित शरीर वाली सुन्दरी

मारी जा रही है, (हाय) यह सम्पूर्णाङ्ग सुन्दरी मारी जा रही है, यह मधुरभाषिणी मारी जा रही है ॥ १५६ ॥

यहां 'हन्यते' 'हन्यते' कह कर शाब्दी पुनरुक्ति और 'चारुसर्वाङ्गी' तथा 'वरारोहा' इनके द्वारा (दोनों में अर्थसान्य होने से) आर्थी पुनरुक्ति है। ये दोनों पुनरुक्तियां अत्यधिक दया का भाव प्रदर्शित करने के लिए अपेक्षित होने से दोष नहीं हुई अपितु गुण ही हो गई।

स्व० भा०—घबराहट के क्षणों में एक पद का अनेक बार उच्चारण हो जाना स्वाभाविक है, अतः अनेक बार कहने पर भी दोष नहीं होता। यही पर किसी नायिका की दुरवस्था देखकर कोई व्यक्ति दयार्द्र होकर पुकार उठता है कि 'हाय हाय बेचारी मर गई, मर गई' आदि। स्वाभाविक होने पर अर्थप्रत्यायन में सरलता होती है।

इसी के विषय में भामह ने कहा था कि—

न शब्दपुनरुक्तं तु स्थौल्यादत्रोपवर्ण्यते।
कथमक्षिप्तचित्तः सन्नुक्तमेवाभिधास्यते॥
भयशोकाभ्यसूयासु हर्षविस्मययोरपि।
यथाह गच्छ गच्छेति पुनरुक्तं न तद्विदुः॥ काव्या० ४।१३-१४

भोज के लक्षण तथा उदाहरण दोनों काव्यादर्श (३।१३७-८) के हैं।

अनुकम्पेति। **संभ्रमादौ यावद्बोधमित्यादिना पदद्विरुक्तवादेरनुमतत्वान्न दोषत्वम्। अभिप्रायव्यञ्जननैयत्येन प्रकृतिपोषानुगुणतया गुणत्वम्। तथाहि—हन्यत इत्यादौ हन्यत इति यद्यप्यभिधेयतात्पर्यमिति शब्दपुनरुक्तजातीयं भवति, यद्यपि च वरारोहेत्यभिधाय चारुसर्वाङ्गीत्यभिन्नाभिधेयतात्पर्यं पर्यायरूपत्वादर्थपुनरुक्तजातीयम्, तथापि विरहवेदनादूनायामनुकम्पातिशयादसकृदुपादानमहिरहिर्बुध्यस्वेति लोकानुसारात्। अनुकम्पाभयाद्यस्य हि तादृशी पदद्विरुक्तिरभिप्रायविशेषार्थनिष्पादितया गुणकक्षाधिरोहणच्चमैवेत्याशयवान्व्याचष्टे—तदुभयमपीति॥**

(५) व्याकीर्णत्व दोष

पदानां व्युत्क्रमो यत्र क्रमेण व्युत्क्रमेण वा।
तद्व्याकीर्णं विदुस्तस्य न दोषः क्वापि तद्यथा॥ ११६॥

'जुगुप्सत स्मैनमदुष्टभावं मैवं भवानक्षतसाधुवृत्तः।
इतीव वाचो निगृहीतकण्ठैः प्राणैररुध्यन्त महर्षिसूनोः॥ १५७॥'

अत्र 'मा स्म जुगुप्सत' इति वक्तव्ये 'जुगुप्सत स्मैनमदुष्टभावं मैवम्' इति पदव्यतिक्रमस्य 'व्यस्तेऽपीच्छन्ति केचित्' इति लुङ्लङोर्विशेषलक्षणत्वाद् गुणत्वम्॥

जहां पर अनुलोम अथवा प्रतिलोम क्रम से पदों की निश्चित पूर्वापरता भङ्ग हो जाती है, वहां व्याकीर्णता कही गयी है, किन्तु (विवक्षित—होने से) कहीं कहीं वह भी दोष नहीं होती॥ ११६॥

जैसे—'आपने कभी सदाचार भङ्ग नहीं किया है, अतः शुद्ध भावना वाले इस व्यक्ति से घृणा मत कीजिए।' इतना कहते ही महर्षि पुत्र के गले तक आ गए प्राणों ने बात रोक दी॥ १५७॥

यहां पर 'मा स्म जुगुप्सत' इस ढंग से कहना चाहिए था किन्तु "जुगुप्सत स्मैनमदुष्टभावम् मैवम्" इस प्रकार कहने पर पदों में व्यतिक्रम हो गया है। फिर भी व्यस्त-पृथक्-पृथक् रहने पर भी कुछ लोग यही चाहते हैं' इस नियम के अनुसार लुङ् तथा लङ् का विशेष प्रकार का लक्षण होने से यहां गुणत्व ही हुआ है।

स्व० भा०—प्रस्तुत छन्द में पद यथाक्रम नहीं हैं। 'अनद्यतने लङ्' (६।४।७१) तथा 'लुङ्' (३।२।११०) से भूतार्थ वृत्ति में लुङ् होता है। इनके अनुसार अपनी २ दशाओं में इनका अपना रूप होता है। 'मा' निषेधार्थक का प्रयोग होने पर 'माङि लुङ्' से (३।३।१७५) 'मा' परे रहते यहां लुङ् लकार प्राप्त था, किन्तु 'स्मोत्तरे लङ्' च (३।३।१७६) के अनुसार यदि 'स्म' बाद में आवे तो उसके पूर्व 'मा' का प्रयोग होने पर 'लङ्' होना चाहिए। इस प्रकार यहां नियमतः 'मा' के पश्चात् 'स्म' होना चाहिए न कि 'जुगुप्सत' के बाद। किन्तु 'व्यस्तेऽपीच्छन्ति केचित्' परिभाषा के अनुसार लुङ् तथा लङ् का झगड़ा समाप्त हो जाता है और दोष नहीं रह जाता।

पदानामिति। **एकस्मिन् वाक्ये पदानामुचितसंनिवेशविपर्यासः क्रमभ्रंशः। स द्विधा भवति—पूर्वापरभावनियतानां तादृशक्रमप्रच्यावनेन वा। यथा बहुतृणमित्यन्योऽर्थः, तृणं बह्वित्यन्यः। पूर्वापरनियमशून्यानामिति तादृगुच्चारणविपर्यासेन वा। यथा कपालमनुलिम्पति, दुकूलं परिदधातीत्यत्र क्रमनियमोऽभिमतः। अनुलिम्पति कपालम्, परिदधाति वस्त्रमित्यपि कृतेन तस्यैवार्थस्य लाभात्। यदा तु कपालं परिदधाति दुकूलमनुलिम्पतीति क्रियते तदा भवति संनिधिविपर्यासस्तदेतद्व्याकीर्णसंकीर्णयोस्तुल्यं, तदिदमुक्तम्—** क्रमेण व्युत्क्रमेण वा। **ननु 'स्मोतरे लङ् च' इत्यनेन माशब्दादुत्तरं यत्र स्मशब्दप्रयोगस्तत्र लुङ्लङोर्विधाने पदक्रमनियमः कृतस्तत्कथं स्म ममेति प्रयुक्ते सोऽर्थः प्रत्येतव्य इत्यत आह—**व्यस्त इति। **विशेषेण लक्ष्यत इति विशेषलक्षणं तस्य भावस्तत्त्वम्॥**

(६) सङ्कीर्णत्व दोषगुण

पर्यायेण द्वयोर्यत्र वाक्यं प्रश्नोत्तरादिषु।
संकीर्णं तन्न दोषाय वाकोवाक्यविदो विदुः॥ ११७॥

यथा—

'बाले नाथ विमुञ्च मानिनि रुषं रोषान्मया किं कृतं
खेदोऽस्मासु न मेऽपराध्यति भवान्सर्वेऽपराधा मयि।
तत्किं रोदिषि गद्गदेन वचसा कस्याग्रतो रुद्यते
नन्वेतन्मम का तवास्मि दयिता नास्मीत्यतो रुद्यते॥ १५८॥'

अत्र संकीर्णत्वेऽपि वाकोवाक्यत्वान्न दोषः॥

जहां वक्ता तथा श्रोता दोनों के वाक्य एक दूसरे में घुस जाते हैं वहां संकीर्णता दोष होता है उसे भी प्रश्नोत्तर आदि में वाक्यविधान जानने वाले दोष का कारण नहीं मानते॥ ११७॥

जैसे—कि एक नायक अपनी रुष्ट नायिका को अश्रुसंवलित देखकर पूछता है—"हे प्रिये" "क्या नाथ" "अरी मानिनी, क्रोध छोड़ दे" "रुष्ट होकर मैंने कर ही क्या लिया" "मुझमें खेद उत्पन्न कर दिया" "(अच्छा चलिए) मुझ पर आपका कोई अपराध नहीं है, वस्तुतः सारे दोष तो मुझमें ही है।" "तब फिर गद्गद वाणी से रो क्यों रही हो?" "किसके सामने रो रही हूं?"

"अरे, मेरे ही सामने तो" "आपके सामने रोने वाली मैं हूं ही कौन" "मेरी प्रियतमा हो?" (ओहो) वही तो नहीं हूं अतः रो रही हूं"॥ १५८ ॥

यहाँ संकीर्णत्व होने पर भी वाक्य में वाक्य की स्थिति (स्वाभाविक होने से अभीष्ट होने के कारण) दोष नहीं है।

स्व० भा०—स्पष्ट अर्थावबोध के लिए आवश्यक है कि वाक्य एक दूसरे में घुसे न हों। ऐसी दशा होने पर दोष होता है। किन्तु जिन स्थानों पर ऐसी स्थिति स्वाभाविकता उत्पन्न करती है, अथवा अर्थबोध में कष्ट नहीं होता, वहाँ दोष नहीं होता है। अमरुक के इसी छन्द में क्रम "बाले, मानिनि, रुषं विमुञ्च" तथा "नाथ, रोषान्मया किं कृतम्" होना चाहिए। किन्तु इनके कुछ पद आगे-पीछे मिल गए हैं। फिर भी प्रश्नोत्तर का क्रम चलने से यहाँ दोष नहीं है। यहाँ नायक का 'बाले, सम्बोधन नायिका की मूर्खता, सरलता तथा सखियों की बातों में आने का भाव सूचित करता है, जब कि 'नाथ' पद नायिका के मुख से निकलकर पुरुष के स्वामित्वमय और स्त्री की उपेक्षा का भाव द्योतित करता है। अतः भिन्न वाक्यता होने पर भी परम्पर पदों का संक्रमण इनमें दोष नहीं उत्पन्न करता।

पर्यायेणेति। यत्र वाक्यैकवाक्यतायामवान्तरवाक्येषु परस्परपदार्थप्रवेशेन यथाभिमतसंसर्गप्रतीतिः स्खलिता भवति तत्र संकरो दूषणम्, प्रतीतेरस्खलने तु न दोषः। स्खलनं चानेकवक्तृकपर्यायप्रवृत्तवाक्यावयवमिश्रणेन भवति। तदपि मिश्रणं प्रश्नोत्तररूपमन्यादृशं वा भवतीत्याह—प्रश्नोत्तरादिष्विति। विषयसप्तमीयम्। वाक्ये वाक्यं वाकोवाक्यं पृषोदरादित्वात्साधु। तत्र प्रश्नोत्तरादिरूपं वाकोवाक्यमुदाहरति—बाले इति। अत्र 'बाले विमुञ्च मां प्रति रुषम्' इति प्रथमप्रश्नवाक्यम्। 'नाथ रोषान्मया किं कृतम्' इति तादृशमेवोत्तरवाक्यम्। तत्र बाले इति वाक्यप्रतीकानन्तरमेव नाथेति वाक्यान्तरप्रतीकस्य निर्देशः संकीर्णजातीयतामाकारयितुमुद्यतः प्रश्नोत्तरप्रभावादपोद्यते। संकीर्णयोरपि वाक्ययोः पर्यायनिर्देशे भवत्येव वाकोवाक्यमिति चेत्, न। व्यतिकरस्याभिप्रायविशेषव्यञ्जकतया चमत्कारकारित्वेन विजातीयत्वात्। अत एव गुणत्वम्। तथा हि बाले इति पदं परचित्तानभिज्ञायाः क्षुद्रसहचरीवचसि विश्वासभाजः सोपालम्भं संबोधनमाविष्करोति। एतदाकर्ण्यानन्तरमेवेर्ष्याकषायकामिनीवचनमुचितमिति नाथेति संबोधनं साभिप्रायम्, प्रभुरसि न पुनरस्मासु दत्ताशयो न वा स्वाधीनतासौभाग्यभागिति विवक्षितत्वात्। एवमुत्तरत्र स्वयमुन्नेयम्। उपलक्षणं च द्वयोरिति एकस्यापि वक्तुः प्रहेलिकादौ तद्विद्यविषये तदाभाषणस्योचितत्वात्। विजातीयवाच्यद्वयसंदंशपतितपदे किमिदमनेनान्वीयतेऽनेन वेति संदेहसंकीर्णतासंशयोऽपि संकरमध्यासीन एवेति गुरवः। अयमेति पुत्रो राज्ञः पुरुषोऽपसार्यतामित्यत्र राजपदं संदंशपतितं किं पूर्वेणाथ परेणान्वीयत इति संदिह्यते। राजगोत्रीरादौ द्वयेनान्वयो गोपदस्य निश्चित इति॥

(७) अपदत्व दोषगुण

प्रकृतिस्थादिभेदेन ग्राम्यादिभिरथापि या।
अपदं तस्य चानुज्ञा भाषाचित्रे विधीयते॥ ११८॥

यथा—

'हा तो जो ज्जलदेउ नैव मदनः साक्षादयं भूतले
तत्किं दीसइ सच्चमा हतवपुः कामः किल श्रूयते।

ऐ दूए किअलेउ भूतपतिना गौरीविवाहोत्सवे
ऐसें सच्च जि बोल्लु हस्तकटकः किं दर्पणेनेक्ष्यते ॥ १५६ ॥'

अत्र ग्राम्यः प्रष्टा नगरमागतो राजानं दृष्ट्वा ग्राम्यैः प्रकृतिस्थैरेव वा पदैः प्राकृतेन पृच्छति--'हा तो जो ज्जलदेउ' इति। नागरश्च तमनुजिघृक्षुरुपनागरैः कोमलैर्वा पदैः सवक्रोक्ति प्रत्याचष्टे--'नैव मदनः साक्षादयं भूतले' इति। अथ ग्राम्य आहितप्रतिभः पूर्वपदानुरोधादर्धप्राकृतेनैव ग्राम्योपनागरैः प्रकृतिस्थकोमलैर्वा पदैस्तमुपालभते--'तत्किं दीसइ सच्चमा हतवपुः कामः किल श्रूयते' इति। अथ नागरो ज्ञाततत्प्रावीण्यः पादानुरोधादेव अर्धप्राकृतेन ग्राम्योपनागरनागरैः प्रकृतिस्थकोमलकठोरैर्वा पदैः समाधत्ते—ऐ दूए किअलेउ भूतपतिना गौरीविवाहोत्सवे' इति। अथ ग्राम्यः श्लोकसमाप्तेः पादस्य तदुत्तरस्य चानुरोधाद् ग्राम्याणि प्रकृतिस्थानि वा त्रिचतुराणि पदानि प्राकृतेनोक्त्वा पादार्धं एवं तिष्ठति--'ऐसें सच्च जि बोल्लु' इति। अथ नागरो जितकाशी ग्राम्योपनागरनागरैः प्रकृतिस्थकोमलकठोरैर्वा पदैः श्लोकमुत्तरं च पूरयति--हस्तकटकः किं दर्पणेनेक्ष्यते' इति। तत्र च प्राकृतानां सर्वेषामपि ग्राम्यत्वम्। प्रष्टुः संस्कृतपदेषु वपुरित्युपनागरं शेषाणि ग्राम्याणि प्रतिवक्तुश्च हस्तविवाहगौरीपदानि ग्राम्याणि, भूतपतिनेति नागरम्, शेषाण्युपनागराणि। तदिदमीदृशि प्रमेये तथैवोपक्रमादेतन्न दुष्यति ॥

प्रकृतिस्थ आदि वर्णों द्वारा अथवा ग्राम्य आदि पदों द्वारा भी प्रयुक्त होकर जो दोष उत्पन्न किया जाता है उसे अपदत्वदोष कहते हैं। किन्तु भाषाचित्र के प्रसङ्ग में उसके भी प्रयोग विधान का आदेश है ॥ ११८ ॥

जैसे—"क्या यह जलदेव दिखाई पड़ रहे हैं ?", "नहीं, यह तो पृथ्वी पर आविर्भूत मूर्तिमान् कामदेव ही हैं।" "तो फिर यह दिखाई कैसे पड़ रहे हैं, जब कि यह सत्य बात सुनी जाती है कि कामदेव का शरीर ही नष्ट कर दिया गया था।" "पार्वती के विवाह की प्रसन्न घड़ी में भगवान् शङ्कर ने दूसरा ही कामदेव बनाया था" "क्या आप यह सत्य ही कह रहे हैं ?" (और क्या ?) कहीं हाथ का कंगन दर्पण में देखा जाता है ? अर्थात् इतनी स्पष्ट बात के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता थोड़े ही है।" ॥ १५९ ॥

यहाँ एक ग्रामीण प्रश्नकर्त्ता नगर में आता है और राजा को देखकर ग्राम्य अथवा प्रकृतिस्थ पद का ही प्रयोग करके प्राकृत भाषा में पूछता है "क्या यह जलदेव (इन्द्र) दिखाई पड़ रहे हैं ?" उसे छेड़ने की इच्छा से एक नागर पुरुष उपनागर या कोमल पदों से ही कटाक्षपूर्वक उत्तर देता है—"नहीं, यह तो पृथ्वी पर अवतीर्ण मूर्तिमान कामदेव ही हैं।" फिर ग्रामीण भी कुछ प्रतिभा से भरकर पूर्वपद के अनुसार हो अर्धप्राकृत भाषा के द्वारा ग्राम्य और उपनागर अथवा प्रकृतिस्थ और कोमल पदों से उसे उलाहना देता है "तो फिर भला यह दिखाई कैसे पड़ता है, जब कि ऐसा सुना जाता है कि काम का शरीर नष्ट हो गया था", उसके बाद नगरवासी भी उसकी कुशलता को समझकर छन्द के पाद की आवश्यकता के अनुसार अर्धप्राकृत भाषा द्वारा ग्राम्य, उपनागर और नागर अथवा प्रकृतिस्थ, कोमल और कठोर पदों से समाधान करता है—"यह दूसरा ही कामदेव शंकर ने गौरी के विवाहोत्सव के अवसर पर रचा था।" इसके बाद ग्रामीण

व्यक्ति श्लोक के समाप्त (प्राय) होने से परवर्ती चरण तथा अपने उत्तर के अनुरोध से ग्राम्य अथवा प्रकृतस्थ तीन चार पदों को प्राकृत भाषा में बोलकर अन्तिम चरण के बीच में ही रुक जाता है—"क्या आप यह सच ही कह रहे हैं ?" फिर नागर व्यक्ति जीतने की इच्छा से ग्राम्य, उपनागर तथा नागर अथवा प्रकृतिस्थ कोमल और कठोर पदों से श्लोक तथा उत्तर को पूर्ण करता है। "क्या हाथ का कंगन दर्पण से देखा जाता है ?" इस श्लोक में सभी प्राकृत के पद ग्राम्य हैं। प्रश्नकर्ता के संस्कृतपदों में केवल 'वपुः' पद उपनागर है, शेष ग्राम्य है। प्रतिवक्ता के भी हस्त, विवाह और गौरी पद ग्राम्य हैं, 'भूपतिना' नागर है, शेष उपनागर हैं। अतः यहाँ अभीष्ट इसी प्रकार का होने से वैसा ही विधान भी किये जाने पर, दोष नहीं हुआ।

स्व० भा०—जिस प्रकार अनेक रंगों से लिखित रूप विचित्र होता है, आश्चर्यकारी होता है, जैसे विभिन्न प्रकार के धागों से कपड़ा का चित्र बनाया जाता है, उसी प्रकार अनेक भाषाओं के प्रयोग से भाषाचित्र भी बनता है। भाषा चित्र में एक बात ध्यान देने की है कि जहाँ ऐसी विवक्षा हो वहाँ ग्राम्य, नागर और उपनागर को एक साथ और प्रकृतिस्थ, कोमल तथा कठोर इन पदों को एक साथ प्रयुक्त करना चाहिये, दोनों का संकर करके नहीं। इनका लक्षण अपर पद दोष की व्याख्या में दिया गया है। यहाँ भी वृत्ति में स्पष्टता ही है।

प्रकृतिस्थेति। **'विभिन्न–' इत्यादावपदलक्षणसूत्रे षण्णामिति व्यतिकर एकत्वेन नाभिप्रेतः। अपि तु ग्राम्यादित्रिकस्य वा प्रकृतिस्थादित्रिकस्य वेति विकल्पेनोपन्यासप्रयोजनमनुज्ञासंपत्तिस्तेन दोषताभावगुणीभावौ प्रतिपादितौ। विषयं दर्शयति**—भाषाचित्र इति। **संस्कृतादिव्यतिकरस्यापदत्वेनाभिप्रेतत्वात् संस्कृतादयो ग्राम्यादयः प्रकृतिस्थादयश्च भाषाशब्देनाभिमताः। यथा हि—नानावर्णरिञ्धमालेख्यचित्रं यथा वा भिन्नप्रकारतन्तुनिर्वातः पटश्चित्रपटस्तथा नानाभाषाभिरारब्धं किंचित्काव्यं चित्रमुच्यते। चित्रमाश्चर्यं तत्कारि च चित्रम्। तेन रूपद्वयसंपत्तौ युक्तिपोषः स्यादेवं यथौचित्याकृष्टनानाभाषाव्यतिकरजमेकं संभवतीत्याशङ्क्य संक्षेपात्सर्वं भाषासंकरमेवोदाहरति**—यथेति। **संकरमाचितीं च व्याख्यानेन स्फुटयति**–अत्र ग्राम्य इति। **ग्रामवासी किंचिद् व्युत्पन्नश्च। ग्राम्याश्च नगरवस्तुन्यद्भुतचमत्कारवन्तो जिज्ञासवश्च भवन्तीति जातिः। तत्र राजानं द्रष्टुमिति अद्भुतवस्तुकथनेन चमत्कारः। पृच्छतीति जिज्ञासा बहुमान आदरश्चमत्कारेणैव। यद्वा यान्पृच्छति तेष्वेव बहुमानो धन्यास्ते ये नामगोत्रादिकमेतस्य जानन्तः सततमेनमवलोक्यन्त इत्याशयात्। प्रस्तुतग्राम्यप्रकृतेश्चास्य प्राकृतपदैरेव प्रश्नो योग्यः। तदेतत्सर्वमादर्शयितुं प्रश्नं पृथक्कृत्य दर्शयति**—हा तो इत्यादि। **'हा तो' इति महाराष्ट्रभाषायां प्रश्नकाकुरयं स इत्यर्थे। स इति यो नामैतन्नगरनायकत्वेनास्मद्धामेऽपि बहुशो विख्यातकीर्तिरिति चमत्कारः।** जो जलदेउ इति। **जिज्ञासासामान्यतश्च नगरसंचरिष्णुजनगोचरोऽयंप्रश्नः। अत्र सर्वाण्येव पदानि नातिहीनपात्रे ग्राम्ये प्रकृतिभवान्यपभ्रंशपदानि देशीपदत्वेन सर्वेषां ग्राम्यता। 'हा तो इत्यनेन स्वरकृतगौरवम्। 'जो जलदेउ' इत्येकसंयोगवर्णापादितगौरवं च प्रकृतिस्थं तदत्र प्राकृतग्राम्ययोरौचित्याकृष्टम्। प्रकृतिस्थे तु नौचित्यमुपयुज्यते। अपि तु संदर्भारम्भस्तेन प्रक्रान्त इति विवक्षितम्। अधिकस्य प्रष्टव्यस्याभावादेतत्प्रश्नानन्तरमेवोत्तरावसरः। ततश्च नानौचित्यम्। प्रश्नोत्तरोपन्यासो हि प्रकृत्यैव च नागरका ग्राम्यमतविरोधिनो वक्रोक्तिरसिका भवन्ति। यदि तस्य ग्राम्ये जघन्यबुद्धिः किमित्युत्तरमेष दास्यतीत्यत उक्तम्**—अनुजिघृक्षुरिति। **सबहुमानं पृच्छति। ग्राम्ये यस्य दया तदानीमासीत्। जिज्ञासानिवर्तकज्ञानजननमनुग्रहः। यद्यपि नागरस्य नागराणि पदानि प्रयोक्तुमर्हन्ति, तथापि**

ग्राम्यानुग्रहे कर्तव्ये तद्बोधयोग्यमेवाभिमतं न तु नागरवत्त्वम्। तर्हि ग्राम्यैरेव कुतो न ब्रवीतीत्यपि न वाच्यम्। सहसैव तथाकरणे ग्राम्यमतविरोधः। अपि तूपनागरकरूपभङ्ग-प्रसङ्गात्, ततो मध्यमान्युपनागराणि प्रयोगयोग्यानीत्याह—उपनागरैरिति। स्वभावत एव प्राकृतप्रकृतिस्थानां संस्कृतप्रकृतिस्थानां प्रौढत्वं भवति। तेन यद्यपि ग्राम्यप्रयुक्तजातीया-न्येव संदर्भैकरूपतासिद्ध्यर्थं घटयितुमुचितानि तथाप्यौचितीप्राप्तसंस्कृतपदनिवेशने यदि प्रकृतिस्थत्वमाद्रियेत ततश्छायावैरूप्यं स्यादित्याशयेन कोमलप्रायाण्येव निवेशितानी-त्याह—कोमलैर्वेति। भूयसा व्यपदेशो भवतीति लोकन्यायानुसारात् 'साक्षात्' इत्येकस्य प्रकृतिस्थत्वेऽपि कोमलैरित्युक्तम्। साकाङ्क्षप्रश्ने च किमर्थं लोकोत्तरो 'जो जलदेउ' नान्यः कश्चित्तादृगिति भावो विवक्षितस्तत्र नेत्येवोक्तेनानुग्रहः कृतः स्यादित्यधिकमपि किंचिद्व-क्तुमुचितमित्याह—सवक्रोक्तीति। एतेन नागरकवृत्तिरुपबृंहिता। नैवेत्येवकारेण मनुष्य एवायं न भवति दूरे तद्विशेषरूपो 'जो जलदेउ' इति प्रकाशितम्। साक्षादिति प्रत्यक्षे-णावधार्यमाणः किंचिद्व्युत्पन्नत्वेन ग्राम्यस्योक्तत्वात्। कामव्यावृत्तसाक्षाद्भावलक्षणविरुद्ध-धर्मानुसंधानेन मदनदाहव्यतिकरता संभवतीति लब्धावसरं ग्राम्यानुयोगमवतारयति—अथेति। शिक्षाविशेषस्पर्शिनी बुद्धिः प्रतिभा। मामेकान्ततो नागरकवृत्तपरिचयपराधीनं मा शङ्किष्ठा इत्याशयशौटीर्येण नागरकप्रयुक्तजातीयैरेव पदैः प्रश्नो योग्यो न चैतावतैव सर्वथा प्रकृतित्यागोऽर्हतीत्यतः स्वप्रयोगयोग्यान्यपि प्रयोगमर्हन्ति तत्रार्धं प्रकृतिवैशसे-नार्धं प्राकृतमर्धं ग्राम्यं च प्रश्नवाक्यानुचितमित्याह—पूर्वपदानुरोधादिति। पूर्वं परप्रयुक्तं पदं तर्कितम्। सच्चिमा सत्यः। यावती ग्राम्यस्य व्युत्पत्तिरर्हति तावतीमुपन्यस्यति—श्रूयत इति। ऐतिहासिकमुखादेवमाकर्णितं पुनरद्यापि निर्णयो वर्तत इत्यर्थः। तर्कितमिति प्रकृतिस्थम्। दीसईति कोमलम्। सच्चिमेति प्रकृतिस्थम्। हतवपुरिति कोमलम्। कामः किलेत्यपि तथा। श्रूयत इति प्रकृतिस्थमिति। अनन्तरं नागरिकस्योत्तरा-वसरः। कथं परमार्थवादिन्युत्तरं दातव्यमित्यनुपपत्तावयं समाधानप्रकारो भवति। अस्ति ग्राम्यस्य 'किल श्रूयते' इत्येताभ्यां संदिहानत्वं किंचिद्व्युत्पन्नत्वं चोन्नीतमिति किमप्यली-कमेव बुद्धिकौशलात्तथा प्रतीयमानमभिधाय प्रतारणमुपपद्यते। तन्मात्रपरत्वाच्च सर्वाकार-मधिकाव्युत्पत्तिराहत्य दर्शयितुमर्हतीति तर्कितमित्यादिपदे यावती ग्राम्यस्य व्युत्पत्तिस्ता-वदनुकरणं कियदधिकव्युत्पत्तिपुरस्कारमर्हतीत्याशयवानुत्तरमवतारयति—अथेति। पाद-स्तर्कितमित्यादिग्राम्यप्रयुक्तस्तस्यानुरोधो व्युत्पत्त्यनुसरणम्। पच्छा पश्चात्। ऐ एषः। 'ऐ दूए' इति पाठे दूअं व्याजोऽनेन व्याजेन। भूतपतिः पशुपतिः। ननु न क्वचिदेवं श्रूयते तत्कथं ग्राम्यस्य प्रबोधो भवतीत्याह—गौरीविवाहोत्सव इति। मा श्रूयतामुपपत्त्या तु सिद्धो द्वितीयो यदि कामप्रादुर्भावो न स्यात्कथं गौरीपाणिग्रहे भगवत उत्साह इत्यतस्तेनैव करुणासंतानशान्तात्मना भूयः सृष्टः स्यादित्यर्थः। पच्छेति प्रकृतिस्थम्, ऐ इति कठोरम्, किअलेउ इति कोमलम्, भूतपतिनेति तथा, गौरीविवाहोत्सव इति प्रकृतिस्थम्। 'एँदूएँ' इति पाठे द्वयमपि कठोरम्। तदत्र कठोरनिवेशनं 'व्युत्पत्त्याधिक्यसूचनाय। एतावत्युक्ते परीक्षणव्युत्पत्तिर्न किंचिद्ग्राम्यं प्रतिभाति। न च तस्याद्यापि निःशङ्कता वर्तते। ततो नागरकप्रामाण्यदत्तभरः प्रश्नो घटत इत्याशयवानवतारयति—अथ ग्राम्य इति। प्रकृत्यापन्न एव, तेन यथा प्रथमं 'हा तो' इत्यादिप्रश्ने गतिस्तथात्रापीति ग्राम्यप्रकृतिस्थयोरुपन्यासः। भाषाचित्रेण परस्परसंघर्षादेककाव्यरचनाप्रवृत्तयोर्ग्राम्यस्यापि श्लोकश्लोकसमाप्तिपदारम्भो योग्य एव। यदि चायमेव समस्तं निर्वाहयन्नशेषशङ्कानिवृत्त्युपयुक्तमुत्तरं नागरस्य निवे-शितं स्यादिति तदुत्तरानुरोधेन पादार्ध एव विलम्बोऽप्युचितः। 'ऐसें' एवमित्यत्रार्थे।

काकुगर्भम्। 'सच्च जि बोल्लु' इति जिरवधारणे। सत्यं नैवैतदुक्तम्। यदि सत्यपुरःसरं ब्रूयास्तदा प्रत्येमीत्यर्थः। एवं ग्राम्यताप्रतारणसिद्धौ किमत्र सर्वलोकसाक्षिके वस्तुनि वक्रोक्त्यैव पूर्वव्युत्पत्तिमात्रनिवेशनेनोत्तरं दत्त्वा श्लोकपूरणमेव नागरस्योचितमित्याशयेनोत्तरमवतारयति—अथेति। हस्ते इति प्रकृतिस्थम्, कटकमिति कोमलम्, दर्पणेनेच्यते इत्येते प्रकृतिस्थे, इति प्रकृतिस्थादीनां सुपरिचेयत्वाद्ग्राम्यादीन्येव व्याचष्टे—तत्र चेति। प्रकृतिव्यतिकराव्यतिकरत्वयोरौचित्यापन्नत्वाद्भाषासंकरः शोभावहत्वेन गुण एव भवतीत्युक्तमुपसंहरति—तदिति॥

(८) गर्भितत्वदोष

वाक्यान्तरसगर्भं यद्वाक्यं तद्वाच्यगर्भितम्।
रसान्तरतिरस्कारे तदिष्टं नेष्टमन्यथा॥ ११९॥

यथा—

'दिङ्नातङ्गघटाविभक्तचतुराधाटा मही साध्यते
सिद्धा सा च वदन्त एव हि वयं रोमाञ्चिताः पश्यत।
विप्राय प्रतिपाद्यते किमपरं रामाय तस्मै नमो
यस्मादाविरभूत्कथाद्भुतमिदं तत्रैव चास्तं गतम्॥ १६०॥

अत्र 'यथोक्ता मही साध्यते, सिद्धा सा च विप्राय प्रतिपाद्यते' इति वक्तव्ये, येयं वीराद्भुतरसवशप्रवृत्तेन 'वदन्त एव हि वयं रोमाञ्चिताः पश्यत' इति वाक्येन प्रकृतवाक्योक्तेरसमाप्तावेव 'विप्राय' च इत्यादिपदविच्छित्तिः सा रसान्तरतिरस्कृतिरित्युच्यते। तया चेदं वाक्यान्तरसगर्भमपि वाक्यं न दोषाय भवति॥

जिस वाक्य के भीतर कोई दूसरा वाक्य समाहित रहता है, उसे वाक्यगर्भितत्व दोष कहते हैं। यह तभी होता है जब कि प्रथम वाक्य में विद्यमान रस का भीतर आने वाले वाक्य का रस विरोध करे, ऐसा न होने पर दोष नहीं होगा॥ ११९॥

जैसे—जिसने दिग्गजों की पंक्ति से युक्त चारों दिशाओं की सीमा वाली पृथ्वी को साधना चाहा, और देखिये, यह कहते ही हमारे भीतर रोमाञ्च हो रहा है, कि उसने यथेच्छ रूप से पृथ्वी को सिद्ध भी कर लिया। सिद्ध की हुई पृथ्वी को ब्राह्मणों को प्रदान कर देने वाले उस राम को हम दूसरा क्या करें, उसे तो प्रणाम ही करते हैं। हम उसे प्रणाम करते हैं जिससे यह विचित्र पृथ्वीजय तथा पृथ्वी दान की आश्चर्यमयी कथा प्रारम्भ हुई और उसीमें लीन भी हो गई॥ १६०॥

यहाँ पूर्वप्रतिपादित पृथ्वी साधी जाती है "और वह प्राप्त की गई पृथ्वी ब्राह्मणों को दी भी जा रही है" ऐसा कहना था, किन्तु वीररस में अद्भुत रस का प्रवेश हो जाने से "वदन्त एव हि वयं रोमाञ्चिताः पश्यत" इस वाक्य के द्वारा गृहीत वाक्य की बात बिना समाप्त हुये ही "विप्राय" आदि पद का विच्छेद कर दिया गया। यह विच्छेद ही दूसरे रस का दूसरे रस द्वारा किया गया तिरस्कार कहा जाता है। यह वाक्य यद्यपि दूसरे वाक्य को अपने भीतर समाविष्ट किए हैं, तथापि (दूसरे रस द्वारा बाध न होने के कारण) दोषयुक्त नहीं है।

स्व० भा०—प्रस्तुत श्लोक में वीररस का प्रतिपादन प्रधान वाक्य द्वारा हो रहा था। बीच में आ गए वाक्य द्वारा अद्भुत रस का सन्निवेश कर दिया गया। इन दोनों रसों में विरोध न होकर परिपूरक सम्बन्ध है। विरोध न होने के कारण ही यहाँ दोष नहीं हुआ, अन्यथा करुण या शान्त का समावेश होने पर यहाँ दोष हो जाता। आनन्दवर्धन के अनुसार भी—

विवक्षिते रसे लब्धप्रतिष्ठे तु विरोधिनाम्।
बाध्यानामङ्गभावं वा प्राप्तानामुक्तिरुच्छला ॥ ध्व० ३।२० ॥

वाक्यान्तरेति। **रसान्तरं रसविशेषः प्रकृतरसानुसंहितो रसस्तेन तिरस्कारो दोषभावस्य, तस्मिन् सति तथाकृतं वाक्यमिष्टमेव कवीनामुपादानयोग्यमेव अन्यथा नेष्टं दुष्टमेवेत्यर्थः। तेनायमर्थो भवति—प्रकृतरसतिरोधायकत्वं किल दूषणताबीजं तदतिरोधानेनैव निवर्तते। प्रत्युत द्वितीयपरिच्छेदे वक्ष्यमाणगर्भादिवाक्ययोजनप्रकारसंपत्तावलंकारलाभे गुणत्वं भवति। तथा हि—दिङ्मातङ्गानां घटया विभक्ताः पृथगुद्धिद्य व्यवस्थापिताश्चत्वार आघाटा यस्यां सा, तथा तेन 'सप्तद्वीपा वसुमती साध्यते' इति विवक्षितम्। ये तावद्भरतभगीरथप्रभृतयः प्रथितप्रतापातिशयास्तेषां तद्दूषणपरिनिष्ठितशक्तीनामेकस्यापि समस्तक्षत्त्रवंशोन्मूलनेन नवखण्डमेदिनीसिद्धौ नोत्साहशक्तिः श्रवणगोचरतामयासीदिति लोकोत्तरा परशुरामस्योत्साहशक्तिरावेद्यते। 'सिद्धा सा च' इत्यनेन यावदभिलषितं तावदेव सिद्धमित्यहो विजिगीषुतेति पूर्ववदेवाभिप्रायः। न चेदसौ सिद्धिमभिसंधाय प्रवृत्तः। अनुपदमेव सा संपन्नेति चकारेण द्योत्यते। एवमभिहिते 'विप्राय' इत्यादिकमस्ति वाक्यशेषभूतम्, तद्विच्छिद्यैव मध्यं 'वदन्त एव हि वयं रोमाञ्चिताः' इति वाक्येन सगर्भता, सा न दोषाय। अनेन हि वाक्येन लोकोत्तरवस्तुभावनात्मकविभावसंपत्तौ प्रादुर्भवन् वक्तुमभिमतो रसो व्यज्यते। स च वीरानुसंधानहेतुर्वीराद्भुतयोः समानभूमिकयोरन्योन्यानुगमनेन प्रतिकूलता विरहता। तत्र यथा शृङ्गाररौद्रबीभत्सानामनेकप्रघट्टकेन सूत्रेण संनिपातितैरपि हास्यकरुणभयानकैर्न तिरस्कारः, 'स्वाङ्गमव्यवधायकम्' इति न्यायात्, तथेह वीरस्याद्भुतेनात एवाद्भुतादुद्वेलस्य प्रादुर्भूतपुत्रकाङ्कुरलक्षणानुभावप्रदर्शनम्—'पश्यत' इति। न चात्र दोषोदाहरणे 'मया' इति कारकविभक्तेरुत्थिताकाङ्क्षाया 'रक्षैनम्' इत्यादि स्वरसंबाधस्तथात्र संभवति, 'सिद्धा' इत्येतावत्यपि दर्शिते वाक्यार्थपर्यवसानात्। न च संपूर्णे रसे 'वदन्त एव' इत्यादिकमभिधातुमर्हति। अद्भुतता च पार्थिवानुभावस्य तन्मात्रपूरणापेक्षत्वात्। एवं रसानुभावनातृप्तस्य तत्रैव पुनः पुनरुत्कण्ठायां जिगीषुकरणीयलब्धपात्रप्रतिपत्तिविशेषस्फोरणे 'विप्राय प्रतिपाद्यते' इत्युक्तम्। दानवीरोऽपि वीर एव। अत एवाधिकस्य कर्तव्यस्याभावे किमपरमित्यादिरुपसंहारः। तदेतत्सर्वं व्याचष्टे**—अत्रेति।

(९-१०) भिन्नलिङ्गवचनोपमदोषगुण—

यद्भिन्नलिङ्गमित्युक्तं विभिन्नवचनं च यत्।
उपमादूषणं तन्न यत्रोद्वेगो न धीमताम् ॥ १२० ॥

यथा—

'अन्यदा भूषणं पुंसः शमो लज्जेव योषितः।
पराक्रमः परिभवे वैयात्यं सुरतेष्विव ॥ १६१ ॥'

अत्र 'पुंसो योषित इव' 'शमो लज्जेव' 'पराक्रमो वैयात्यमिव' इति लिङ्ग-

भेदः। 'परिभवे सुरतेष्विव'इति तु लिङ्गभेदो वचनभेदश्च दृश्यते। स चैषामेव परस्परमुपमानोपमेयभावविवक्षायां पर्यायान्तराभावादन्यथाकर्तुं न शक्यत इति सहृदयानुद्वेजकत्वान्न दुष्यतीति दोषस्यापि गुणत्वम्। तदिदं द्वयोरप्येकमुदाहरणम्।

अथ भिन्नलिंगस्यैव यथा—

'यस्य त्रिवर्गशून्यानि दिनान्यायान्ति यान्ति च।
स लोहकारभस्त्रेव श्वसन्नपि न जीवति॥ १६२॥'

अत्र प्राग्वदेव पर्यायान्तराभावात् 'स लोहकारभस्त्रेव' इति लिङ्गभेदस्य न दोषः॥

जो भिन्नलिङ्ग तथा भिन्नवचन नाम के उपमा के दोष कहे गये हैं, वे दोष नहीं रहते यदि सहृदयों में उद्वेग न पैदा करें तो॥ १२०॥

जैसे—अन्य समयों में स्त्रियों की लज्जा के समान पुरुषों का भूषण उनकी शान्ति है, और पराजय या अपमान में रतिकाल के समय स्त्रियों की चपलता की भांति उनका पराक्रम ही उनका अलंकार है॥ १६१॥

यहाँ 'पुंसो योषित इव' (पुरुष का स्त्रिय की भांति) 'शमो लज्जेव' (शान्ति लज्जा की भांति') 'पराक्रमो वैयात्यमिव' (पराक्रम धृष्टता की भांति) इन प्रयोगों में लिङ्गभेद है—उपमेय" तथा उपमान समान लिङ्ग के नहीं हैं। (पराजय में रतिकालों की भांति) 'परिभवे सुरतेष्विव' इसमें लिङ्गभेद तथा वचनभेद दोनों दिखते हैं। यह भाव इनके ही परस्पर उपमान-उपमेय भाव से अभीष्ट होने से तथा दूसरे स्थानापन्नों के सम्भव न होने से परिवर्तित नहीं किया जा सकता। इस प्रकार सहृदयों में उद्वेग न पैदा करने के कारण दोषाधान नहीं होता। अतः दोष भी गुण हो गया है। इस छन्द में दोनों दोषों का एकत्र ही उदाहरण है।

अब केवल भिन्नलिङ्ग का उदाहरण दिया जा रहा है—

जैसे—जिसके दिन बिना पुरुषार्थों की सिद्धि किए ही आते और चले जाते हैं, वह व्यक्ति लोहार की भांथी की भांति श्वास तो ले रहा है किन्तु जी नहीं रहा है॥ १६२॥

यहाँ भी पूर्वछन्द के पदों की भांति दूसरे पर्याय के अभाव में 'स लोहकरभस्त्रेव' में लिङ्गभेद नामक दोष नहीं रहा।

यद्धिन्नेति। दोषप्रकरणानुरोधेन समस्तव्यस्तोदाहरणं बोद्धव्यम्। सहृदयोद्वेजकत्वेन हि दोषता। यत्र तु कथंचित्तथाभावो न भवति, तत्र दोषत्वहानिरुचितैव। तथा हि स्त्रीपुंसयोरेव प्रकृतानुगुणोपमानोपमेयभावविवक्षायामावश्यकं लिङ्गवचनभेदयोरन्यतरदेकस्य पुंस उपमेयत्वेन दारशब्दस्य भिन्नवचनत्वनियमात्कलत्रपदं भिन्नवचनमेव। पर्यायाणामपि लिङ्गभेदो नियतः। न च पुंवचनं किंचित्समानस्वभावमस्ति येनायं प्रकारो निवर्तेत। न चैवंविधोपमामन्तरेण प्रस्तुतवाक्यार्थपोषः। एवमनन्यगतिका भिन्नलिङ्गता भिन्नवचनता वा साहित्यसमयविदामुद्वेगं नोत्पादयति। अत एवालंकारौचितीसंपदा गुणत्वसिद्धिः। एवं शमलज्जयोः पराक्रमवैयात्ययोः परिभवसुरतयोश्च बोद्धव्यमित्याशयवान् व्याचष्टे—अत्रेति। 'रतं, रहः, शयनं, मोहनम्' इति सुरतवाचिनां सर्वेषामेव नपुंसकता न दुष्यतीति सहृदयहृदयानुद्वेजकत्वादिति हेतुर्गुणत्वेत्वाभिप्रायिकः। स च दर्शित एव। अथेति। धर्मार्थकामास्त्रिवर्गः। वह्निविध्मापनचर्मपुटो भस्त्रा सा यथा

वातेन पूर्यते, वातं च मुञ्चति, न तु किंचित्पुरुषार्थमासादयति, तथा त्रिवर्गशून्येऽपि भस्त्रापर्यायस्य समानलिङ्गस्याभावेन सहृदयानामनुद्वेगालंकारसंपत्त्या गुणत्वमुपपन्नमित्याह—अत्र प्राग्वदेवेति। अदोष इत्युपलक्षणम्, गुणश्च भवतीत्यपि बोद्धव्यम् ॥

(केवल भिन्नवचन का उदाहरण)

भिन्नवचनस्यैव यथा—

'प्राज्यप्रभावः प्रभवो धर्मस्यास्तरजस्तमाः।
मुक्तात्मा नः शिवं नेमिरन्येऽपि ददतां जिनाः ॥ १६३ ॥

अत्र 'नेमिरन्येऽपि' इति वचनभेददोषेऽपि 'ददताम्' इति क्रियापदादेर्वचनश्लेषमाहात्म्याद् गुणत्वम्। न चेदं वाच्यमत्रेवादिर्न विद्यत इति नोपमात्वम्। इवस्यापिना समुच्चयार्थेन तुल्यधर्माणां तु 'धर्मस्य प्रभवः' इत्यादिभिर्वचनश्लेषैर्विषयापहारात्। यथा अग्रतो द्योतकलोप उपमायाम्—'कोमलापाटलौ तन्वि पल्लवश्चाधरश्च ते।' नन्वेषोऽपि श्लेषः कस्मान्न भवति। उच्यते—'यत्र द्वयोः सदृशयोरभिधानं स श्लेषः। यत्र सदृशात्सदृशप्रतिपत्तिस्तदुपमानम्, यत्र द्वयोः सादृश्यमभिधीयते प्रतीयते वा सोपमा' इति प्रबन्धेनाग्रतो वक्ष्यामः। उपलक्षणं चैतत्—यदुपमायामेव लिङ्गवचनभेदो न दूषणमिति। तस्य सर्वालंकारसाधारणत्वात्केवलं सादृश्यमलंकार इति दर्शने उपमायामुदाह्रियते ॥

समुचितसिद्धियों वाले, धर्म के आदि कारण, शान्त रजोगुण तथा तमोगुण वाले, मुक्तात्मा नेमि की भांति अन्य जिन गण भी हमें कल्याण प्रदान करें ॥ १६३ ॥

प्रस्तुत श्लोक में 'नेमिरन्येऽपि' इसमें वचन भेद नामक दोष होने पर भी 'ददतां इसक्रिया (विशेषण) आदि के वचन की श्लिष्टता से (दोष के स्थान पर) गुणत्व आ गया है। यहाँ यह नहीं प्रश्न करना चाहिए कि इस श्लोक में (वाचक) इव आदि (पद) नहीं हैं अतः उपमा नहीं होगी। क्योंकि समुच्चयबोधक 'अपि' पद के द्वारा समान धर्मवाले 'धर्मस्य प्रभवः' आदि में वचन श्लेष के द्वारा 'इव' के विषय का अपहरण कर लिया गया है अर्थात् 'इव' का कार्य अपि से हो रहा है। जैसे कि आगे वाचकलुप्ता उपमा में कही गई है—हे कृशाङ्गी पल्लव तथा तुम्हारा अधर कोमल और अरुण हैं।" (अब प्रश्न यह है कि) यहाँ भी श्लेष क्यों नहीं होता? (तो उत्तर) कहा जा रहा है कि—"जहाँ दो सदृश पदार्थों का कथन होता है वहां श्लेष होता है और जहां समान वस्तु से समानता का ज्ञान होता हैं वहां उपमान होता हैं, जहां पर दोनों की सदृशता कही अथवा समझी जाती है वहां उपमा होती है। इस सबको हम विस्तार से आगे (चतुर्थ परिच्छेद में) कहेंगे। अतः सामान्य लक्षण यह हुआ कि केवल उपमा में ही लिङ्ग और वचन का भेद दोष नहीं होता, अपितु औपम्यभाव के सभी अलंकारों में सामान्यरूप से पाये जाने के कारण "केवल सादृश्य ही अलंकार है" ऐसा प्रतीत होने से उपमा का ही उदाहरण दिया गया।

स्व० भा०—जहाँ पर कोई विकल्प नहीं होता वहाँ वही स्थिति मान्य होती है, भले ही वहां दोष हो। इस दशा के दोष को दोष नहीं माना जाता है। दूसरी बात यह है कि श्लेष उपमान तथा उपमा इन सब में सादृश्य होता है, केवल उक्ति वैभिन्न्य के कारण अन्तर है। इसीलिए कुछ आचार्यों के मत से उपमा ही समस्त अलंकारों की जड़ है। यहां उपमा दोष तो केवल उपलक्षण

हैं, जहां कहीं भी उपमेय और उपमान में यह भिन्नता होती है सर्वत्र दोष माना जायगा। शेष विषय वृत्ति में ही स्पष्ट है।

प्राज्येति। आर्हतानां नेमिनामा जिनविशेषोऽन्ये जिना ऋषभनाथप्रभृतयः प्राज्यमुचितं तथाभूतः प्रभावः सिद्धिरूपो यस्य तादृशो नेमिः शिवं ददतां ददातु। 'दद दाने' इति धात्वनुसारात्। कस्मै इत्यपेक्षायां मुक्तात्मा इत्यत्र नः। पक्षे वो युष्मभ्यं शिवं ददतां ददत्विति। धर्मस्य प्रभवमुत्पत्तिनिमित्तं नेमिः। प्रभवः प्रभुता यथावदनुशासनेन जिनाः। रजश्च तमश्च रजस्तमसी ते अस्ते क्षिप्ते येन स तथाभूतो नेमिः। अस्तं रजो यैस्तेऽस्तरजसस्तेषु प्रकृष्टास्तमप्यरजस्तमाः। मुक्तो निरावरण आत्मा आत्मशब्द आत्मवचनः स्वरूपवचनः इति वा बहुव्रीहिस्तादृशो नेमिः। जिनास्तु मुक्तात्मान इति स्पष्टम्। तदिह वचनभेदमन्तरेण वचनश्लेषाभावाद्भिन्नवचनत्वस्यावश्यकत्वेन दोषः। श्लेषलक्षणालंकारघटनया गुणत्वम्। ननु च लिङ्गादिभेद उपमाया दूषणत्वमुक्तम्, इह त्वलंकारान्तर उदाह्रियते, तत्कथं पूर्वापरसमञ्जसत्वम्। न चात्रोपमा संभवति, तत्सामग्र्यसंभवात्। उपमानोपमेयसाधारणधर्मेवादिशब्दाः किल तद्घटकाः। तदत्र त्रितयसंबद्धे त्वपीववद्भाप्रभृतिशब्दानुपादानात्कथमुपमेति शङ्कामुत्थाप्य निरस्यति—न चेति। इवादयो हि शब्दाः सादृश्यद्योतकाः। तथा च क्वचित्प्रसिद्धस्य प्रकृते संबन्धप्रतीतिस्तेभ्यो भवति बिम्बप्रतिबिम्बन्यायाश्रयणात्। एवं च न युगपत्तुल्यरूपसंबन्धः। अपिशब्दस्तु युगपत्तुल्यरूपसंबन्धं बोधयतीति विभिन्नविषयत्वम्। नहीवादिशब्दाभावे सादृश्यमेव न प्रतीयते, लुप्तोपमाप्रपञ्चभङ्गप्रसङ्गात्। अन्यत एव प्रतीतिसिद्धेरुपायान्तरवैयर्थ्यात्। किमितीह नेवादिपदं प्रयुक्तमिति प्रश्नोऽवशिष्यते तत्रेदमुत्तरम्—इवस्येत्यादि। नेमिरन्येऽपीत्यपिशब्देन समुच्चयोऽप्यवसीयते। स च युगपदेकसंबन्धाभिधाने निर्वहति। तेनानेकमुद्दिश्य किंचिदेकसंबन्धाभिधानं समुच्चयाभिधायिनो विषयः। एकमुद्दिश्य प्रसिद्धान्यधर्मविधानं तु यथेवादिरिति विषयविरोधान्न प्रयुज्यत इति। स्यादेतत्—इववद्वायथादिशब्दा यत्परास्तयैवोपमानताप्रतीतिस्तथा चानेनेदं तुल्यमिति साधारणधर्मविधिरूपा कथमुपमेत्यत उक्तम्—तुल्यधर्माणां त्विति। नात्र वचनश्लेषतुल्यधर्मागमः, अपि तु तथा 'व्यवस्थितानामेव शब्दतन्त्रता' इति 'धर्मस्य प्रभवः' वचनश्लेषैस्तथापि विषयोपहत इति। यदि चेवादिमन्तरेण नोपमाप्रतीतिस्तर्हि प्रसिद्धमुपमोदाहरणं भज्येतेत्याह—यथेति। अग्रतश्चतुर्थपरिच्छेदे। अत्राप्युपमामनङ्गीकुर्वतो मतमाशङ्कते—नन्विति। इहापि चकाराभ्यां युगपत्पञ्चवाधरयोरेकधर्मविधानस्य तुल्यत्वादिति देश्याभिप्रायः। उक्तयुक्त्या दूषयति—उच्यत इति। तर्हि प्रकृतोदाहरणे नास्त्येवोपमा, कथं वचनभेदस्य गुणीभाव उदाह्रियत इत्याह—यत्रेति। यद्यप्यभिधीयमानं नास्ति सादृश्यम्, तथापि प्रतीयमानोपमा व्यवह्रियतामित्यर्थः। शब्दमात्रसाम्यं श्लेषसंकीर्णमेवेत्युपेक्षितवान्। ननु यत्रोपमया काव्यव्यपदेशस्तत्र प्रतीयमानमपि सादृश्यमूरीक्रियते। यत्र त्वलंकारस्वभावव्यवस्थापितमेव काव्यं न तत्रापीत्याह—उपलक्षणमिति। प्रतिपत्तिवैरूप्यस्यालंकारान्तरसाधारण्यादुपमातोऽन्यत्रापि लिङ्गवचनभेदो दूषणमेव। तद्यथा 'मुखं पद्ममिव' इति रूपके, 'मुखं पद्मं वा' इति संशये, 'न मुखं पद्ममेव' इत्यपह्नवे। एवमन्येऽपि। अत एव द्वे भिन्नलिङ्गवचने इत्यत्र नोपमाग्रहणम्। यद्येवं कथमुपमायामेव दूषणमुदाह्रियत इत्यत आह—केवलमिति। चिरंतनैर्हि भरतमुनिप्रभृतिभिर्द्वे एव यमकोपमे शब्दानुगतालंकारत्वेनेष्टे। तत्प्रपञ्चनमात्रं तु पुनरन्यैरलंकारकारैः कृतमुपमायाः प्रभूतविषयतया प्राधान्याच्चोदाहृतमतिस्फुटं भवतीति संक्षेपः॥

(११) हीनोपमत्वदोषगुण

यत्रोपमानधर्माः स्युर्नोपमेयेन संमिताः ।
तद्धीनोपममित्याहुस्तत्प्रसिद्धौ न दुष्यति ॥ १२१ ॥

यथा—

'स मारुताकम्पितपीतवासा बिभ्रत्सलीलं शशिभासमब्जम् ।
यदुप्रवीरः प्रगृहीतशार्ङ्गः सेन्द्रायुधो मेघ इवाबभासे ॥ १६४ ॥'

अत्र सेन्द्रायुध इति कार्मुकमात्रस्योपादानं वासःशङ्ख्योस्त्वनुपादानादूनोपमत्वम् । तत्रेन्दुविद्युतोरतिप्रसिद्धत्वाददोषत्वम् ॥

यदाह—

सर्वं सर्वेण सारूप्यं नास्ति भावस्य कस्यचित् ।
यथोपपत्ति कृतिभिरुपमानं प्रयुज्यते ॥
अखण्डमण्डलः केन्दुः क्व कान्ताननमद्युति ।
यत्किंचित्कान्तिसाम्यात्तु शशिनैवोपमीयते ॥'

जहाँ उपमान के धर्म उपमेय के बराबर न हों वहां हीनोपमत्वदोष होता है, किन्तु उन्हीं उपमानों के प्रसिद्ध होने पर दोष नहीं होता ॥ १२१ ॥

जैसे—वायु के द्वारा कँपाये गए वस्त्रों वाले, चन्द्रमा के सदृश चमकते हुए, शब्द को धारण किए हुये, यदुश्रेष्ठ कृष्ण अपनी धनुष के साथ इन्द्रधनुष से युक्त मेघ की भांति सुशोभित हो रहे थे ॥ १६४ ॥

यहां पर 'इन्द्रधनुष के साथ' इतना कहने से केवल धनुष का ही ग्रहण हुआ, वस्त्र तथा शङ्ख का ग्रहण न होने से हीनोपमत्व दोष हुआ । किन्तु चूँकि आकाश में मेघ में भी चन्द्रमा तथा विद्युत् की स्थिति अत्यन्त प्रसिद्ध होने से (उनका स्मृति द्वारा ग्रहण हो जाने से) दोष नहीं हुआ । जैसा कि कहा गया है—किसी भी पदार्थ की किसी भी पदार्थ से पूरी तौर पर सरूपता नहीं होती है । अतः उद्योगी कवि यथाशक्ति समुचित उपमानों का ही प्रयोग करते हैं । कहां तो समस्तकलाओं से समन्वित पूर्णबिम्ब चन्द्रमा और कहां कान्तिहीन कामिनी का मुख । किन्तु उसमें भी थोड़ा-बहुत समानता होने से उसकी तुलना चन्द्रमा से ही की जाती है ।

स्व० भा०—उदाहरण श्लोक में कृष्ण को मेघ के सदृश बताया गया है । यह सादृश्य तब होता जब कि कृष्ण के द्वारा धारण किए गए पीत वस्त्र, शङ्ख, धनुष इन तीनों उपमेयों के लिए पृथक्-पृथक् उपमान भी होते, किन्तु यहाँ उपमान केवल इन्द्रधनुष ही शब्दतः उपात्त है । वस्त्र और शङ्ख के स्थानापन्न पदों का अभाव है, किन्तु यहाँ दुष्टता इसलिए नहीं मानी जायेगी क्योंकि मेघ के साथ पीली विद्युत् और श्वेत चन्द्र दोनों हैं ऐसा भाव लोकविख्यात है । अतः शब्दतः इनका ग्रहण न होने पर भी इन्हें कृष्ण के पीतवसन तथा शुद्ध शङ्ख का उपमान स्वीकार कर लिया गया ।

भोज ने दोनों प्रमाण की कारिकायें भामह (काव्या० २।४३,४४) से उद्धृत किया है । उदाहरण का भी श्लोक वहीं से (२।४१) गृहीत है ।

यत्रोपमानेति । **उपमेयेनोपमेयविशेषणेन संमितास्तुल्यसंख्याः । इन्द्रायुधमिन्द्रधनुरेकमुपमाने उपमेये पीतं वासः शार्ङ्गमब्जः शङ्ख इति त्रीणि विशेषणानि तदिहाधिकविशेषणवि-**

षय इति जिज्ञासासमकालमेवाप्रसिद्धेन्दुबिम्बयोरुपमानयोर्मेघानुसंधानात् स्खलनाभिमुखी प्रतीतिरवलक्ष्यते। ध्वननव्यापारोन्मेषाच्च गुणत्वलाभः। तदुक्तम्—'मुख्या महाकविगिरामलंकृतिभृतामपि। प्रतीयमानच्छायैषा भूषा लज्जेव योषिताम्॥' इति। न चैवं स्तनितादीनामिति कथं प्रतीतिरिति वाच्यम्। प्रतीयमानस्यापि प्रतिपत्तिवैरूप्यसमाधावनौपयिकस्थानाकाङ्क्षितत्वेनादरादित्याह—सर्वं सर्वेणेति। यथोपपत्तिपर्यन्तो यावतोपमानविशेषणत्वेन प्रकृतमुपमेयविशेषणप्रतिबिम्बता नीयते तदतिक्रमेणैकप्रतीत्यनुरोधे कल्पितेनाप्युपमेयविशेषणेनेत्यर्थः। अन्यथा चन्द्रमुखादीनां नोपमा पर्यवस्येतेत्याह—अखण्डेति।

(१२) अधिकोपमदोषगुण—

अमुमेव प्रकारमधिकोपमेये योजयन्नाह—

क्रमेणानेन कृतिभिरेष्टव्यमधिकोपमम्।
विशेषस्तूपमेयाङ्गमनुमानात्प्रतीयते॥ १२२॥

यथा—

'स पीतवासाः प्रगृहीतशार्ङ्गो मनोज्ञभीमं वपुराप कृष्णः।
शतह्रदेन्द्रायुधवान्निशायां संसृज्यमानः शशिनेव मेघः॥ १६५॥

अत्र शशिनो ग्रहणादधिकोपमत्वेऽप्युपमानत्वेनाविवक्षितत्वाद्गुणत्वम्। यदि वोपमाने धर्मोद्घाटनानुमानात् 'शङ्खचक्रगदाधरो विष्णुः' इति प्रसिद्धेः शार्ङ्गमनुमेयम्॥

इसी प्रकार सहृदयों को अधिकोपमत्वदोष खोजना चाहिये। इसमें विशेष बात यह है कि ये उपमेय के अङ्ग अनुमान से प्रतीत होते हैं॥ १२२॥

जैसे—पीताम्बर धारण किए हुये, शार्ङ्ग लिए कृष्ण का शरीर सुन्दर भी लग रहा था और भयङ्कर भी, जिस प्रकार रात में चन्द्रमा से युक्त होता हुआ, विद्युत् और इन्द्रधनुष से युक्त मेघ सुन्दर भी दीखता है और भयङ्कर भी)॥ १६५॥

यहाँ चन्द्रमा के ग्रहण से अधिकोपमत्व होने पर भी उपमान के रूप में विवक्षा न होने से गुणत्व है। अथवा यदि उपमान में धर्म का उद्घाटन करके अनुमान से 'शङ्ख, चक्र और गदा को धारण करने वाले विष्णु हैं' इस प्रकार की प्रसिद्धि होने से 'शार्ङ्ग' का अनुमान करना चाहिए।

स्व० भा०—यह उदाहरण श्लोक भामह के काव्यालङ्कार (२।५८) से उद्धृत है।

क्रमेणेति। यत्रोपमानेऽधिकविशेषणसंज्ञेपस्तद्वाक्यमधिकोपममित्युच्यते तत्र झटिति प्रतिबिम्बभूतोपमेयविशेषणप्रतिसंधानेन दोषः। तदेव तु कथमत उक्तम्—विशेषस्त्विति। उपमेयांशे विशेषविशेषणमुपादाना(?)दुपमानविशेषणात्प्रतीयते। शतह्रदा विद्युत्। उपमानत्वेनाविवक्षितत्वादित्यापाततः। उपमानविशेषणानां यावत्प्रतीति न ग्रहणमिति प्रकाशयितुं पारमार्थिकस्त्वयं सिद्धान्त इत्याह—यदि वेति। उपमानधर्मस्याधिकस्योद्घाटनमभिधानं तस्यानु पश्चान्मानं ज्ञानम्। कथमेतदित्याह—इति प्रसिद्धेरिति॥

(१३) छन्दोभङ्गदोषगुण

यदा तीव्रप्रयत्नेन संयोगादेरगौरवम्।
न च्छन्दोभङ्ग इत्याहुस्तदा दोषाय सूरयः॥ १२३॥

यथा—

'जह ण्हाउं ओइण्णे अब्भन्तमुल्हासिअमंसुअद्धन्तम् ।
तह अ ण्हाआ सि तुमं सच्छे गोलाणईतूहे ॥ १६६ ॥'
[यथा स्नातुमवतीर्णे आर्द्रीभूतमुल्लासितमंशुकार्धान्तम् ।
तथा च स्नाता भवसि त्वं स्वच्छे गोदानदीतीर्थे ॥]

अत्र द्वितीयैकादशत्रयोविंशतिवर्णानां संयोगपरत्वाद्गुरुत्वेऽपि ण्हाल्हादि-संयोगस्य तीव्रप्रयत्नोच्चारणेन पूर्वलघुत्वे न छन्दोभङ्ग इति गुणत्वम् ॥

जब उच्चारण के स्थान और अवयव के उद्रेक से संयुक्ताक्षर आदि से गुरुत्व नहीं होता, तब जो छन्दोभङ्ग होता है विद्वानों ने उसे दोष का कारण नहीं माना है ॥ १२३ ॥

जैसे—कोई सखी नायिका से कह रही है कि गोदावरी नदी के निर्मल घाट पर तुमने इस प्रकार से नहाया कि नहाने के लिए उतरने पर भी तुम्हारा उड़ता हुआ दुपट्टा का आधा भाग ही भीगा है ॥ १६६ ॥

यहाँ पर द्वितीय, एकादश तथा तेईसवें वर्णों के बाद संयुक्ताक्षर आने से उनमें गुरुत्व होने पर भी 'पट्टा', 'ण्हा', 'ल्हा' आदि संयुक्ताक्षरों के जोरदार प्रयत्न से उच्चारण करने के कारण इनके पूर्ववर्तियों के लघु रहने पर भी छन्दोभङ्ग नहीं हुआ अतः गुणत्व है ।

स्व० भा०—छन्दः शास्त्र के नियमों के अनुसार 'स्वर संयोगपूर्वश्च तथा पादान्तगोऽपि वा" अर्थात् दीर्घस्वर तो गुरु होते ही हैं, इनके अतिरिक्त संयुक्ताक्षर का पूर्ववर्ती स्वर तथा पाद के अन्त में आनेवाला स्वर भी विकल्प से गुरु हो जाता है । अतः जहाँ कहीं भी ऐसी स्थिति होगी निःसन्देह स्वर गुरु होगा । अन्यथा छन्दोभङ्ग हो जायगा । और छन्दोभङ्ग होना दोष है । किन्तु जहां पर झटके में संयुक्ताक्षर को ही बल देकर बोला जाय और पूर्ववर्ती स्वर लघु ही रह जाय तो, पाठ में व्यवधान न होने पर वहां दोष नहीं होगा । प्रस्तुत श्लोक में ही वस्तुतः 'ह', 'मु' और 'अ' (२, ११, २२) को गुरु होना चाहिये, किन्तु ण्हा, ल्हा, ण्हा को ही झटके के साथ बोल जाने से पूर्ववर्ती स्वरों को गुरु न करने पर भी न तो विस्वरता आती है और न पढ़ने में ही कठिनाई होती है । अतः दोष नहीं हुआ ।

यदेति । **प्रयतनं प्रयत्नः स्थानकरणव्यापारस्तस्य तीव्रत्वमुद्रेकस्तत एव हि पिण्डाक्षरादीनामकठोरत्वमाभासते । आदिग्रहणादिवहिकारौ सानुस्वारौ च केवलौ पदान्ते वर्तमानौ तत्तद्भाषाऽविषयेऽवसेयौ । क्वचिदेव हि वर्णे तथावभासते न तु सर्वत्र । तदुपलक्षण-'रह वंजणसंजोए' ['रहौ व्यञ्जनसंयोगे'] इत्यादिकं छन्दोविचितौ दर्शितम् । जहेति । स्नातुमवतीर्णे त्वयि अंशुकार्धमुद्भ्रष्टं सदब्भन्तमार्द्रीभूतं यथा चलत्वं स्थितेस्तथावगम्यते न त्वन्तर्जलं जलकेलिस्थानमवतीर्ण इत्यभिप्रायशेषः । कथमन्यथा गोदावरीनद्याः स्वच्छं जलं दृश्यते इति । तूहं तीर्थम् । अत्र द्वितीयैकादशादिस्थानेषु यद्यपि संयोगात्पूर्वभावे गुरुत्वं विद्यते तथापि तीव्रप्रयत्नोच्चारणीयशकारहकारादिसंयोगमहिम्ना मावच्छेदश्रव्यत्वा कलुषीक्रियत इति । एवमन्यदप्युदाहार्यम् । यथा—**

'धवलाइं गलेत्ति धवलेहिं अणअणसामलेहि णिसालआए ।
णखवत्तकुसुमाइं णहअलाओ ओसरइ ॥'

इत्यादि नामधातुभागे स्वरासंधाने च पठितिविच्छेदो न भवतीत्युक्तं स तदुल्लङ्घन मात्रेण समाधीयते शोभां पुष्यतीति ॥

(१४) भग्नयतिदोषगुण

वाक्यमस्थानविरति प्राग्भग्नयतिसंज्ञया ।
समुद्दिष्टं यदधुना गुणत्वं तस्य कल्प्यते ॥ १२४ ॥

यथा—

'शोभां पुष्यत्ययमभिनवः सुन्दरीणां प्रबोधः
किंचिद्भावालसमसरलप्रेक्षितं कामिनीनाम् ।
कार्याकार्याण्ययमविकलान्यागमेनैव पश्य-
न्वश्यामुर्वीं वहति नृप इत्यस्ति चायं प्रयोगः ॥ १६७ ॥'

अत्र पादत्रये चतुर्थस्थाने यतौ कर्तव्यायां पञ्चमस्थाने कृतत्वादपरत्र च पादस्य मध्यभागे निविष्टकेवलस्वरत्वाद् यतिभ्रंशेऽपि स्वरसंधिकृतत्वादविभिन्ननामधातुशरीरत्वाच्च न दोषत्वम् ॥

यदाह—

'स्वरसंध्यकृते प्रायो धातुभेदे तदिष्यते ।
नामभेदे च शेषेषु न दोष इति सूरयः ॥
लुप्ते पदान्ते शेषस्य पदत्वं निश्चितं यथा ।
तथा संधिविकारान्तं पदमेवेति वर्ण्यते ॥'

वाक्य में निश्चित स्थान पर यति न होने से पहले जिस का निर्देश भग्नयति नाम से किया गया है, अब उसी का गुणत्व निरूपित किया जा रहा है ॥ १२४ ॥

जैसे "सुन्दरियों का अभी-अभी जागना विशेष शोभा का आधान कर रहा है" "प्रमदाओं का कटाक्ष कुछ-कुछ भावों से बोझिल है", "यह कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निराकरण निरन्तर शास्त्रों से ही करता हुआ पृथ्वी को धारण करता है, इसी से स्पष्ट इसके लिए 'नृप' शब्द का प्रयोग किया जाता है ॥ १६७ ॥

यहां तीनों चरणों में चौथे स्थान पर यति करनी चाहिए थी, किन्तु उसे पञ्चम स्थान पर करने से तथा अन्यत्र पाद के मध्यभाग में केवल स्वर का ही सन्निवेश करने से यतिभ्रंश होने पर भी स्वरसन्धि करने के कारण तथा संज्ञापदों और क्रियापदों को भग्न न करने से दुष्टता नहीं है। जैसा कि कहा गया है—

प्रायः स्वर सन्धि न करने पर, क्रियापद के कट जाने पर और संज्ञापदों के भी कट जाने पर भग्नयति दोष होता है, शेषों के कटने पर दोष नही होता ऐसा विद्वानों का मत है। जिस प्रकार किसी पद के अन्तिम भाग का लोप हो जाने पर भी शेष का पदत्व निश्चित होता है, उसी प्रकार अन्त में सन्धिविकार रहने पर भी वह पद पद ही रहता है।

स्व० भा०—उदाहरण के प्रथम दो चरण वामन के काव्यालङ्कार सूत्र (२।२।४) में तथा उत्तरार्ध और प्रमाण श्लोक दण्डी के काव्यादर्श (३।१५३-४) में मिलते हैं। वामन ने भी प्रमाण के प्रथम श्लोक से ही मिलता-जुलता मत प्रकट किया है। "तद्धातुनामभागभेदे स्वरसन्ध्यकृते प्रायेण" (२।२।४) वस्तुतः अस्थान पर यति तभी बहुत अधिक खटकती है जब पढ़ते समय संज्ञा अथवा क्रिया पद दो ओर बँट जाते हैं, क्योंकि ऐसी दशा में पूरा क्रियापद स्पष्ट

न होने से और संज्ञाओं के भी स्पष्ट न होने से अर्थावबोध में कठिनाई होती है। ये ही दो तत्त्व वाक्य में प्रधान होते भी हैं। अतः आपत्तिपूर्ण है।

प्रस्तुत उदाहरण श्लोक में मन्दाक्रान्ता छन्द है। लक्षण "मन्दाक्रान्ता मभनतयुगं गद्वयं वेददिग्भिः" के अनुसार चतुर्थ तथा दशम पर यति होनी चाहिए थी किन्तु यहाँ प्रथम चरण में चतुर्थ पर यति रहने से धातुपद विछिन्न होता है, द्वितीय और तृतीय में संज्ञा पद, अत एव यति एक वर्ण आगे खिसक जाती है। इसी से दोष सम्भव था। चतुर्थ पाद में दशम स्थान की यति भी भंग हो जाती है। किन्तु सर्वत्र स्वरसन्धि होने के कारण ही दोष नहीं हुआ।

वाक्यमिति ।.....।
शोभामिति ।.....।

कार्याकार्यौत च नामभागमुल्लङ्घ्य विच्छेदश्रव्यता च परस्य यणादेशेन 'किंचिद्भावा'इति 'नृप' इति च स्वरसंधाने विच्छेदोऽत एव श्रव्यत्वमपि। तदेतद्व्याचष्टे–अत्रेति। 'मन्दाक्रान्ता मभनतयुगं गद्वयं वेददिग्भिः' इति चतुर्थदशमयोर्यतिराम्नाता। पञ्चमस्थान इति। प्रथम-तृतीययोर्द्वितीये तु षष्ठे यतिकरणादिति बोद्धव्यम्। ननु पदच्छेदे स्वरसंधानपठितिविरामः सोल्लेखो लक्ष्यते, न तु चतुष्पादे तथास्तीति कथं श्रव्यत्वमत आह—लुप्त इति। संधौ विकारो यत्वयलोपादिकं कार्यं, तथा च पदान्ते सति पदच्छेद एवायमिकारोऽवतिष्ठत इत्यर्थः॥

(१५) अशरीरत्वदोषगुण

अशरीरं क्रियाहीनं क्रियापेक्षा न यत्र तु।
यत्रास्त्यादेरपेक्षा वा न दोषस्तत्र तद्यथा॥ १२५॥

यथा—

'कियन्मात्रं जलं विप्र जानुदघ्नं नराधिप।
तथापीयमवस्था ते नहि सर्वे भवादृशाः॥ १६८॥'

अत्र त्रिषु पादेषु पदानि क्रियापदं नापेक्षन्ते। सापेक्षं चासमर्थं भवति। चतुर्थे तु नहीत्यादिभिः सन्तीत्यपेक्षते न चैतावतामीषामसामर्थ्यं भवति। यदाह—'यत्रान्यत क्रियापदं नास्ति, तत्रास्ति भवतीति पदं प्रथमपुरुषे प्रयुज्यते' इति॥

क्रियारहित वाक्य में अशरीरत्व दोष कहा जाता है, किन्तु जहाँ पर क्रिया की अपेक्षा नहीं होती, अथवा जहां केवल 'अस्ति' आदि क्रियाओं की ही अपेक्षा होती है, वहाँ पर दोष नहीं होता॥ १२५॥

जैसे—"हे ब्राह्मण, कितना पानी है?" "महाराज, घुटने तक"। "फिर भी आपकी यह दशा है?" "सभी आप जैसे तो नहीं"॥ १६८॥

यहाँ तीन चरणों में क्रियापदों की आवश्यकता नहीं समझी जाती। वस्तुतः असमर्थ वह होता है जिसे कोई अपेक्षा होती है। चतुर्थ पाद में 'न हि' आदि पदों द्वारा 'सन्ति' की आवश्यकता समझी जाती है, किन्तु इतने से ही इनकी असमर्थता नहीं सिद्ध होती है। जैसा कहा गया है कि "जहां अलग से क्रियापद नहीं होता है, वहां 'अस्ति' 'भवति' सदृश क्रियापद प्रथमपुरुष में प्रयुक्त होते हैं।

स्व० भा०—यह छन्द एक प्रश्नोत्तर है। राजा को देखने के लिए कोई ब्राह्मण छद्मवेष में लकड़हारा का रूप बनाकर जा रहा था। एक स्थान पर वह नदी पार करने लगा कि राजा दूसरी ओर दिखाई पड़ गए। उन्हीं के प्रश्नोत्तर रूप में यह छन्द है। इसमें प्रथम या तृतीय पद राजा के और द्वितीय तथा चतुर्थ ब्राह्मण के हैं।

अशरीरमिति। **प्रधानाविमर्शे हि दूषणमित्युक्तं तदुपात्तानामेव पदार्थानां प्रधानगर्भीकरणे तत्प्रतिबन्धेऽवश्यविधेयमन्यं प्रति गुणीभावे वा समाधीयते। अत एव विशेषाद् गुणत्वम्। तथा हि—'कियन्मात्रं' 'जानुदघ्नम्' इत्यनयोः परिमितम्। क्रिया प्रधानगर्भभूता। 'नहि सर्वे भवादृशाः' इत्यत्र तु सत्ताक्रियायाः सकलपदार्थाव्यभिचारात् 'अपेक्ष्यते' इति सिद्धिः। तदिदमाचार्यमतेनाह**—यत्रान्यदिति। **भवन्ती वर्तमाना। तदेतद्वाक्यं क्रियाप्रधानमिति ददर्श 'स प्रधानं विशेष्यमात्रं तु वाक्यार्थे' इति परमार्थः। तेन 'राधा रहःसाक्षिणाम्' इत्यादावावश्यकविधेयसाक्षिभावादिगुणतया राधासंबन्धादीनां वैवक्षिकप्राधान्यानामपि प्रधानत्वविमर्शो न दोष इत्युक्तं भवति॥**

(१६) शैथिल्यदोषगुण

श्लिष्टमस्पृष्टशैथिल्यं शिथिलं तद्विपर्ययः।
गौडीयैरिष्यते तत्तु बन्धप्राशस्त्यगौरवात्॥ १२६॥

यथा—

'लीलाविलोलललना ललितालकलालसाः।
विलुप्तमालतीमाला जलकालानिला ववुः॥ १६९॥'

अत्र शैथिल्यदोषेऽपि बन्धप्राशस्त्येन गौडैरादृतत्वाद् गुणत्वम्॥

जिस वाक्य में शिथिलता छू तक नहीं जाती है उस वाक्य को श्लिष्ट तथा उससे विपरीत को शिथिल कहते हैं। पद रचना में सौष्ठव लाने के लिये महत्त्वशाली होने से गौडीयरीति की कविता करने वालों को यह पसन्द है॥ १२६॥

जैसे—अपनी अठखेलियों से सुन्दरियों को चञ्चल बनाता हुआ, सुन्दर कुन्तलों के प्रति लालसा रखनेवाला अथवा सुन्दर कुन्तलों को लहराता हुआ, मालती के पुष्पों को लुप्त करता हुआ वर्षाकालीन पवन बह रहा था॥ १६९॥

यहां पर शैथिल्य दोष होने पर भी रचना में उत्कृष्टता लाने के कारण गौड़ी रीति के कवियों को प्रिय होने से गुणता है।

स्व० भा०—यहां दिया गया शैथिल्यदोष का लक्षण स्वतन्त्र और स्पष्ट नहीं है। वस्तुतः अल्पप्राण वर्णों का—वर्गों के प्रथम, तृतीय, पञ्चम तथा अन्तस्थों का प्रयोग करने से शिथिलता आ जाती है, वाणी में सुघटन का अभाव हो जाता है। अतः दोष हो जाता है। किन्तु एक कवि-सम्प्रदाय को अभीष्ट होने से इसे दोष नहीं कहना चाहिए।

श्लिष्टमिति। पारुष्यशैथिल्याभ्यां विना कृतं श्लिष्टमित्युक्तं तस्य विपर्ययो विपरीतं वाक्यं शिथिलं भवति। परुषमल्पप्राणाक्षरोत्तरं वेत्यर्थः। एवंविधमपि चैतदनुप्राससौष्ठवात्पदानामेकताप्रतिभासे समाधीयत उद्भटानुप्रासतया च कान्तिप्राधान्ये गौडीयरीतिप्राधान्येन गुणत्वमासादयति तदिदमुक्तम्—बन्धप्राशस्त्यगौरवादिति। **गौडीयैर्गौडीयरीतिगोचरहेतुवाक्प्रकर्षशालिभिः॥** लीलेति। **अत्र दन्त्यवर्णमयत्वेनाल्पप्राणाक्षरोत्तरतायामपि पदैकताप्रतिभासानुप्रासयोरुद्रेकः कान्तिप्रकर्षोऽवसेयः॥**

(१७) विषमदोषगुण

न दोषः क्वापि वैषम्येऽप्यर्थालंकारकारणात् ।
पौरस्त्यैरादृतत्वाच्च शब्दाडम्बरतोऽपि वा ॥ १२७ ॥

यथा—

'चन्दनप्रणयोद्वन्धिर्मन्दो मलयमारुतः ।
स्पर्धते रुद्धमद्धैर्यो वररामाननानिलैः ॥ १७० ॥'

अत्र सत्यपि वैषम्यदोषे शब्दालंकारगुणादर्थालंकारगुणात्पौरस्त्यैरादृतत्वाच्च गुणत्वम् ॥

अर्थालङ्कार के कारण, प्राच्यों के द्वारा आदृत होने से अथवा शब्दाडम्बर के कारण वैषम्य होने पर भी कहीं-कहीं दोष नहीं होता ॥ १२७ ॥

जैसे—(यह वही) चन्दन से होकर आने के कारण सुगन्धित, मन्द-मन्द चलता हुआ मलयाचल का वायु है जिसे रोककर परमसुन्दरियों के मुख की वायु स्पर्धा करती है ॥ १७० ॥

यहां पर शब्द वैषम्य दोष होने पर भी शब्दालङ्कार होने के कारण, अर्थालङ्कार होने के कारण तथा प्राच्यमनीषियों को पसन्द होने के कारण गुण है ।

स्व० भा०—प्रस्तुत श्लोक में 'मलयमारुत' कोमल है, 'वररामामुखानिलैः' भी कोमल ही है, वहीं पर शौर्यप्रकाशन से 'स्पर्धते' में स्फुटत्व है, इसी प्रकार 'रुद्धमद्धैर्य' में भी । अतः विभिन्न प्रकार के गुणों का समावेश होने से समता न होने के कारण वैषम्य दोष है, किन्तु शब्द, अर्थ आदि के अलङ्कारों के आ जाने से सौन्दर्य गायब नहीं हुआ ।

न दोष इति । अर्थालंकारकारणादर्थालंकाररूपम् । यत्र हिशब्दस्यार्थोऽन्यथान्यथारूपं भजते तत्रावश्यं तदनुयायिना पदसंदर्भेण भिन्नरूपेण भाव्यम् । एवमपि छायावैरूप्यं वैरस्यमेवावहतीत्याशङ्क्य 'शब्दाडम्बर' इत्युक्तम् । आडम्बर उद्भटता । तस्याप्येकरीत्यनिर्वाहो दूषणमित्यत्र 'पौरस्त्यैः' इत्युक्तम् । शरावत्याः प्राग्देशभवाः पौरस्त्यास्तदीयहेवाकप्राचुर्यभाज एव हि खण्डरीतयः । चन्दनेति । अत्र यद्यपि मलयानिल एक एव वाक्यार्थस्तथापि चन्दनप्रणयेन प्रवृद्धसौरभे मन्द इत्याभ्यां शृङ्गाराङ्गताप्रतीताबुन्मिश्रः संदर्भः । मलयमारुत इति कोमलः, वररामामुखानिलैरित्यपि तथा, तत्राप्यारभटीप्रकाशने स्पर्धत इति स्फुटम् । एवं रुद्धमद्धैर्य इति । तदेवं समताविपर्यासेऽपि विशेषणानामर्थानां भिन्नभिन्नरसानुप्रवेशे पृथगर्थालंकाराः प्रकाशन्ते । अस्ति चात्र शब्दाडम्बरवशादेव छायारूपाप्रतिभासः । लाटीया च रीतिः ॥

(१८) कठोरतागुणदोष

कठोरमपि बध्नन्ति दीप्तमित्यपरे पुनः ।
तेषां मतेन तस्यापि दूषणं नैव विद्यते ॥ १२८ ॥

यथा—

'न्यक्षेण पक्षः क्षपितः क्षत्रियाणां क्षणादयम् ।'

अत्र कठोरत्वेऽपि दीप्तत्वाद् गुणत्वम् ॥

दूसरे सहृदय कठोरत्व को भी रसदीप्ति मानते हैं। उनके मतानुसार कठोरता में भी कोई दोष नहीं होता ॥ १२८ ॥

जैसे—एक ही क्षण में यह क्षत्रियों का पूरा का पूरा पक्ष ही विनष्ट कर दिया गया। यहां कठोरता होने पर भी भावना का उत्कर्ष होने के कारण गुणत्व है।

स्व० भा०—सुकुमारता न होनेपर कठोरता होती है। ऐसे स्थलों पर प्रस्फुटवर्णों का प्रयोग अधिक होता है। इस प्रकार के वर्णों से भी रसविशेष के पुष्ट होने से पौरस्त्य लोग इसमें भी गुणत्व का ही आधान करते हैं। प्रस्तुत उदाहरण में 'क्षकार' का प्रचुर प्रयोग भावों को उद्दीप्त करता है।

कठोरमिति। **सुकुमारताविपर्यासः कठोरः संदर्भः प्रस्फुटतरवर्णाप्रधानमिति यावत्। सोऽयं दीप्तरसानुप्रवेशादौचित्येन गुणत्वं भजत इति व्यक्तम्। अपरे पौरस्त्याः। न्यक्षेण सामस्त्येन ॥**

(१९) प्रसादहीनत्वगुणदोष

अविद्वदङ्गनाबालप्रसिद्धार्थं प्रसादवत्।
विपर्ययोऽस्याप्रसन्नं चित्रादौ तन्न दुष्यति ॥ १२९ ॥

यथा—

'याश्रिता पावनतया यातनाच्छिदनीचया।
याचनीया धिया मायायामायासं स्तुता श्रिया ॥ १७१ ॥'

अत्राप्रसाददोषेऽपि चित्रत्वाद् गुणत्वम् ॥

अल्पज्ञ, स्त्री तथा बालकों को भी जिसका अर्थ स्पष्ट हो जाता है वह वाक्य प्रसादगुण से युक्त कहा जाता है। उसका उलटा अप्रसन्न—प्रसादगुणहीन—कहा जाता है। पर चित्रादि काव्य में दोष नहीं होता ॥ १२९ ॥

जैसे—पवित्रता के कारण जिसका अवलम्ब लिया जाता है, जो (नरक आदि में) कष्टों का विनाश करती है, श्री के द्वारा भी जिसकी स्तुति की गई, उच्च बुद्धि के द्वारा अविद्या का विस्तार समाप्त करने के लिए उसी की प्रार्थना करनी चाहिए ॥ १७१ ॥

यद्यपि इस छन्द में अप्रसाद दोष है—अर्थ सरलता से प्रकट नहीं होता—तथापि चित्रकाव्य होने के कारण इसमें गुण ही हुआ।

स्व० भा०—इस छन्द से अष्टदलकमलबन्ध बनता है। इसे द्वितीय परिच्छेद के २८४ वें छन्द के प्रसङ्ग में देखना चाहिये।

अविद्वदिति। **विपर्ययः प्रत्यनीकभूतं वाक्यम्। आदिग्रहणाद्यमकश्लेषप्रहेलिकाप्रकरणानि। या देवी पवित्रत्वेनाश्रिता। अनीचया तुङ्गया बुद्ध्या मायायामस्य अविद्याविस्तारस्यायासं ग्लानिं विच्छेदं याचनीया प्रार्थनीया। यतो यातनं नरकानुभवनीयं दुःखं छिनत्ति। श्रियापि स्तुतेति। अष्टदलकमलबन्धोऽयम्। तदिह तथा वरा(?)संनिवेशस्य चमत्कारकारित्वेन प्रसादोऽपि सहृदयश्लाघाविषयो गुणतामध्यास्त इति ॥**

(२०) नेयार्थत्वदोषगुण

अध्याहारादिगम्यार्थं नेयार्थं प्रागुदाहृतम्।
स गम्यते प्रसिद्धश्चेन्न तद्दोषवदिष्यते ॥ १३० ॥

यथा—

'मां भवन्तमनलः पवनो वा वारणो मदकलः परशुर्वा ।
वाहिनीजलभरः कुलिशं वा स्वस्ति तेऽस्तु लतया सह वृक्ष ॥ १७२ ॥'

अत्र दहत्वित्यादीनामध्याहार्यतया नेयत्वेऽप्यतिप्रसिद्ध्या प्रतीयमानत्वाद् गुणत्वम् ॥

अध्याहार आदि के द्वारा जिस वाक्य का अर्थ समझा जाता है, वहाँ, पहले ही, नेयार्थत्वदोष कहा जा चुका है । यदि उसका अर्थ अत्यन्त विख्यात होने से सरलता से समझ में आ जावे तो वह वाक्य दोषयुक्त नहीं कहा जायेगा ॥ १३० ॥

जैसे आपको न तो अग्नि (जलावे), न वायु (झकोरे), न मदमत्त हाथी ही (तोड़े), न नदियों की बाढ़ आपको (डुबोये), न वज्र ही (गिरे) आप पर । हे लता के साथ रहने वाले वृक्ष तुम्हारा कल्याण हो ॥ १७२ ॥

यहाँ पर 'दहतु' आदि का अध्याहार होने से नेयार्थत्व दोष होने पर भी अत्यधिक प्रसिद्ध होने के कारण अर्थ प्रतीत हो जाने से गुणत्व ही है ।

स्व० भा०—वामन ने काव्यालंकारसूत्र में (५।१।१४) यह छन्द "लिङ्गाध्याहारौ" सूत्र के प्रकरण में प्रयुक्त किया है । यहां क्रियाओं का अध्याहार है । वाक्य पूर्ण न होने पर अर्थपूर्ति के लिये अपेक्षित पदों का ग्रहण अध्याहार कहलाता है । यहां क्रियाओं के अभाव में अर्थ पूर्ण न होता अतः नेयार्थत्व दोष है, किन्तु ये अध्याहृत पद इतने विख्यात हैं कि इनके ग्रहण के लिए विशेष प्रयास नहीं करना पड़ता और अर्थावबोध सरलता से हो जाता है ।

अध्याहारेति । असंपूर्णं वाक्यं नेयार्थमित्युक्तं तस्यैवंरूपता झटिति श्रुतार्थापत्तिप्रादुर्भावपरिह्वकसंधानात्समाधीयते । तथा हि—'मा भवन्तमनलः' इत्यादौ वृक्षसमभिव्याहारेण दहनादीनां योग्यतया शीघ्रमेव धाक्षीदित्यादिक्रियान्वयोऽवसीयते । स्वस्तिवचनेन चामङ्गलप्रस्तावनिरासात्तथाभूतक्रियानुपादानं वक्त्रत्वमतया गुण इति ॥

(२१) ग्राम्यदोषगुण

असभ्यार्थं मतं ग्राम्यं तद्ग्राम्योक्त्यैव दुष्यति ।
विदग्धोक्तौ तु तस्याहुर्गुणवत्त्वं मनीषिणः ॥ १३१ ॥

यथा—

'कामं कन्दर्पचाण्डालो मयि वामाक्षि निर्दयः ।
त्वयि निर्मत्सरो दिष्ट्या सोऽयमस्मास्वनुग्रहः ॥ १७३ ॥'

अत्र ग्राम्यत्वेऽपि ग्राम्यार्थस्य विदग्धोक्त्या तिरस्कृतत्वाद् गुणत्वम् ॥

सज्जनों के समाज में जिसका अर्थ प्रशस्त नहीं माना जाता, उस वाक्य को ग्राम्य कहते हैं । इस प्रकार का वाक्य किसी ग्रामीण द्वारा कहे जाने पर दोषपूर्ण होता है । विद्वानों के द्वारा उसी के कहे जाने पर इसमें मनीषियों ने गुणयुक्तता मानी है ॥ १३१ ॥

जैसे—हे सुन्दर नयनों वाली, यह चाण्डाल कामदेव मुझ पर अत्यन्त क्रूर है । हम पर उसकी यही कृपा समझो कि भाग्य से वह तुम से विद्वेष नहीं करता ॥ १७३ ॥

इस छन्द में ग्राम्यता होने पर भी ग्राम्य अर्थ का कथन एक विद्वान् के द्वारा किए जाने से दब गया है । अतः यहां गुणत्व है ।

स्व० भा०—यह श्लोक दण्डी के काव्यादर्श (१।६४) में भी प्राप्त होता है। इसी प्रसंग में दण्डी ने भी यह स्वीकार किया हैं कि एक ही बात का कथन ग्राम्य तथा विदग्ध के करने पर' स्वरूप में बहुत अन्तर आ जाता है। उन्होंने इसी आशय का एक श्लोक दिया है जिसमें एक ग्राम्य के द्वारा कहलाने पर फूहड़पना आ गया हैं—

कन्ये कामयमानं मां न त्वं कामयसे कथम्।
इति ग्राम्योऽयमर्थात्मा वैरस्याय प्रकल्पते॥ १।६३॥

असभ्यार्थमिति। **रसस्यादीप्तिः कान्तिविपर्ययो वचनापराधेन दूषणतामध्यास्ते, स समाधीयतेऽत्र ग्राम्योक्तिपरिहारेणैव। अत एवोक्तिसमर्पितच्छायाविशेषयोगे गुणत्वलाभः। सहृदयसभायां न साधुरसभ्यः। वैदग्ध्यविधुरं ग्राम्यम्॥**

(२२) असमासत्वदोषगुण

ओजः समासभूयस्त्वं तद्दीप्तार्थेषु वध्यते।
विपर्ययोऽस्याः समस्तं तद्दीप्तं चेन्न दोषभाक्॥ १३२॥

यथा—

'यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः पाण्डवीनां चमूनां
यो यः पाञ्चालगोत्रे शिशुरधिकवया गर्भशय्यां गतो वा।
यो यस्तत्कर्मसाक्षी चरति मयि रणे यश्च यश्च प्रतीपः
क्रोधान्धस्तस्य तस्य स्वयमिह जगतामन्तकस्यान्तकोऽहम्॥ १७४॥'
अत्रासमस्तत्वेऽपि प्रौढबन्धत्वाद् गुणत्वम्॥

अत्यधिक समस्त पदों का होना ओज है। वह दीप्त अर्थों में प्रयुक्त होता है। इसके विपरीत असमासत्व दोष है। यदि समस्त पद दीप्त हो तो दोष का भागी नहीं बनता॥ १३२॥

जैसे—पाण्डवों की सेवा में अपने भुज-बल पर घमण्ड करने वाला जो कोई भी शस्त्र धारण करने वाला हो, अथवा पाँचाल के खानदान का कोई भी बच्चा, वयस्क अथवा गर्भ में ही पड़ा हुआ हो, जो जो लोग इस कर्म के साक्षी रहे हैं अथवा मेरे रण में विचरण करने पर जो जो मेरे विरोधी हैं मैं उनको बतला देना चाहता हूँ कि क्रोध से अन्धा मैं स्वयं यहाँ उपस्थित हूँ और उनके लिये तो मैं संसार के काल का भी काल हूँ।

यहाँ समास न होने पर भी बन्ध में प्रौढता होने से गुण ही है।

स्व० भा०—प्रायः देखा जाता है कि जहाँ समस्त पद और परुष या कठोर वर्ण रहते हैं उस श्लोक में ओज का प्राचुर्य होता है। किन्तु ऐसे भी स्थल हैं जहाँ समास न होने पर भी ओज प्रचुर मात्रा में होता है। ऐसे स्थलों पर दोष नहीं होता क्योंकि लक्ष्य तो ओजो-विधान है, न कि समस्तता।

ओज इति। **दीप्तरसानुप्रविष्टार्थप्रतिपादकसंदर्भौचित्येन समासभूयस्त्वमोजः। अस्य विपर्ययो दीप्तेरप्रत्यूहादेव समाधीयते। तदिदमुक्तम्—'दीप्तार्थं वध्यते यत्र तद्दीप्तं चेन्न दुष्यति' इति। सुगममुदाहरणम्। व्यूढः प्रौढः॥**

(२३) अनिर्व्यूढत्वदोषगुण

समस्तमसमस्तं वा न निर्वहति यद्वचः।

तदनिर्व्यूढमस्यापि न दोषः क्वापि तद्यथा ॥ १३३ ॥

यथा—

'प्रसीद चण्डि त्यज मन्युमञ्जसा जनस्तवायं पुरतः कृताञ्जलिः ।
किमर्थमुत्कम्पितपीवरस्तनद्वयं त्वया लुप्तविलासमास्यते ॥ १७५ ॥'

अत्रासमस्तरीत्यनिर्वाहादनिर्व्यूढत्वेऽपि रसान्तरपरिग्रहेण रीत्यन्तरपरिग्रहाद् गुणत्वम् ॥

समास से युक्त अथवा समास से रहित किसी भी प्रकार का ग्रहण करके जिस वाक्य में आदि से अन्त तक निर्वाह नहीं किया जाता, वहाँ अनिर्व्यूढत्व दोष होता है किन्तु उसको भी कहीं कहीं दोष नहीं मानते । जैसे ॥ १३३ ॥

'हे क्रोधने, शीघ्र ही क्रोध छोड़ दो, यह व्यक्ति तुम्हारे सामने हाथ जोड़ता है । भला क्यों तुमने (क्रोध के कारण) काँप रहे विशाल उरोजद्वय पर लेप आदि शृङ्गार विधान नहीं किये ? ॥ १७५ ॥

यहाँ पर समासविहीन रीति ग्रहण की गई किन्तु उसका भी अन्त तक निर्वाह नहीं हो सका अतः अनिर्व्यूढत्व दोष है । किन्तु अनिर्व्यूढता होने पर भी दूसरे रस का ग्रहण करने के कारण उसके लिए समुचित दूसरी रीति का ग्रहण करने पर गुण ही हुआ ।

स्व० भा०—यहाँ पर पहले तो मानिनी को मनाने का शृङ्गार भाव प्रारम्भ कर समासहीन रीति का ग्रहण किया गया था, किन्तु बाद में रोषभाव का वर्णन प्रारम्भ करके तदुचित समासपूर्ण शैली का ग्रहण किया गया । असमस्त शैली का प्रारम्भ करने के बाद अन्त तक उसी का ग्रहण अपेक्षित था । ऐसा न करने से अनिर्व्यूढता आई । किन्तु जिस प्रकार शृङ्गार के लिए समासहीन पदावली अपेक्षित है, उसी प्रकार रौद्र आदि के लिये समासभूयस्त्व अपेक्षित हैं । अतः रीति का निर्वाह न होने पर भी शैली के रसानुगुण होने से दोष खटकता नहीं ।

समस्तमिति । **उपक्रान्तरीतेरनिर्वाहे मधुररसपर्यन्ता प्रतीतिः स्खलतीति दूषणताबीजमुक्तम् । तथाभूतरसानुगुण्यभिचार्यनुप्रवेशव्यञ्जनौचित्यादुपक्रमनिर्वाहः सर्वस्वायमानो गुणतामासादयति । तथा हि—प्रसीदेत्यादौ प्रणयकेलिकुपितकामिनीप्रसादनायां शृङ्गारविरोधिसमासव्यतिकरेण रीतेरप्युक्रमे रोषलक्षणभावानुभावभूः स्तनकम्पवर्णनायां समासोऽनुप्रविष्टः इति व्यक्तः पूर्वरीतेरनिर्वाहः । रसान्तरं प्रकृतविजातीयरससंबद्धो व्यभिचारी भावः ॥**

(२४) अलंकारहीनत्वदोषगुण

अनलंकारमित्याहुरलंकारोज्झितं वचः ।
पूर्वोत्तरानुसंधाने तस्य साधुत्वमिष्यते ॥ १३४ ॥

यथा—

'निशम्य ताः शेषगवीरभिधातुमधोक्षजः ।
शिष्याय बृहतां पत्युः प्रस्तावमदिशद्दृशा ॥ १७६ ॥'

अस्यानलंकारत्वेऽपि पूर्वापरानुसंधानप्रयोजनभूतत्वाद्गुणत्वम् ॥

अलंकार से रहित वाणी को अनलंकार कहा गया है। किन्तु पूर्व तथा उत्तर वाक्यों का समन्वय करने से उससे भी गुणत्व अपेक्षित होता हैं ॥ १३४ ॥

जैसे—अतीन्द्रिय ज्ञान प्राप्त करने वाले श्रीकृष्ण ने शेषावतार बलराम की वाणी सुनकर बृहस्पति के शिष्य उद्धव जी से नेत्रों के संकेत से बोलने का प्रस्ताव किया ॥ १७६ ॥

इस श्लोक में अलंकार न होने पर भी पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध का समन्वय उद्देश्य होने से गुणत्व है।

स्व० भा०—कहीं कहीं किसी वार्तालाप के प्रसङ्ग में पूर्ववर्ती तथा उत्तरवर्त्ती वृत्तान्तों को जोड़ने के लिए बीच में किसी वाक्य का समावेश होता है। इसका उद्देश्य मात्र संयोजन होने से सीधे से बात कह दी जाती है। वहाँ चमत्कार का अभाव होता है। जहाँ कहीं भी ऐसे स्थल होते हैं, वहाँ ऐसे छन्दों का स्वतन्त्र अस्तित्व न होने से दोषभाव नहीं होता यह प्रसंग शिशुपालवध का है, जहाँ कृष्ण के समक्ष बलराम ने अपना मत व्यक्त कर दिया था कि शिशुपाल हन्तव्य है, पुनः कृष्ण के निर्देश से बाद में उद्धव की बातें होंगी। इन दोनों को जोड़ने का काम यह छन्द करता है, अतः इसको गुणदोष पृथक् विवेचनीय नहीं।

अनलंकारमिति। **अनुत्कृष्टाप्रविष्टविशेषणवद्वाक्यं निरलंकारः पूर्वोत्तरवाक्यसंगतिकरणप्रयोजनकतया न दोषः। कथं तथाभूतस्य काव्यत्वमित्यपि न वाच्यम्। अनुगतेन वक्रीभावेन तत्समर्थनात्। व्यक्तमुदाहरणम् ॥**

वाक्यार्थदोषगुण तथा (१) अपार्थदोषगुण

सूत्रकार एव वाक्यार्थदोषगुणीभावविवेचनं संगमयति—

वाक्याश्रयाणां दोषाणां गुणीभावोऽयमीरितः।
अथ वाक्यार्थदोषाणामदोषः कथ्यतेऽधुना ॥ १३५ ॥
समुदायार्थशून्यं यत्तदपार्थं प्रचक्षते।
तन्मत्तोन्मत्तबालानामुक्तेरन्यत्र दुष्यति ॥ १३६ ॥

यथा—

'क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलं भूयोऽपि दृश्येत सा
दोषाणामुपशान्तये श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं मुखम्।
किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियो रेखैव सान्यादृशी
चेतः स्वास्थ्यमुपेहि कः खलु युवा धन्योऽधरं धास्यति ॥ १७७ ॥'

अत्र समुदायार्थशून्यत्वेनापार्थस्याप्युन्मत्तवचनत्वाद् गुणत्वम्।

यह वाक्य पर आश्रित दोषों का—वाक्यदोषों का—गुणभाव प्राप्त करना कह दिया गया। इसके बाद वाक्यार्थ दोषों की दोषहीनता अब कही जा रही है। जो महावाक्य अपने पद समूहों के समवेत अर्थों से हीन हो जाता है उसे अपार्थ दोष से युक्त कहा जाता है। यह शराबी, पागल तथा बच्चों की बातों के अतिरिक्त दूसरी जगहों पर दोष होता है ॥ १३५-३६ ॥

जैसे—"कहां यह अपकर्म और कहां वह निर्मल चन्द्रवंश ? यदि वह फिर दिखाई पड़ जाती। क्रोध में भी कमनीय लगने वाला उसका मुख समस्त दोषों को शान्ति करने वाला सुना गया हैं।" "भला शुद्ध बुद्धिवाले निष्पाप पुण्यात्मा लोग क्या कहेंगे ?" वह तो बनावट ही दूसरे

प्रकार की है। अरे चित्त स्वस्थ होगा। पता नहीं कौन सौभाग्यशाली युवक उसके अधरों का पान करेगा ? ॥ १७७ ॥

यहां समस्त वाक्य समुदायों में एकार्थता न होने के कारण अपार्थत्व दोष में भी एक उन्मत्त का कथन होने से गुणता हुई।

स्व० भा०—इसमें वस्तुतः पद और वाक्य तो सार्थक होते हैं किन्तु सम्मिलित रूप से उनमें महावाक्यता अथवा एकवाक्यता नहीं होती है। इसमें सभी वाक्यों का एक सम्मिलित अर्थ नहीं होता है। किन्तु यह दोष तभी होता है जब कि कोई स्वस्थचित्त वाला व्यक्ति इसका प्रयोग करे। मदहोश, पागल, बच्चे आदि तो ऐसी बातें कहा ही करते हैं जिनका कोई समवेत अर्थ नहीं होता। उनसे ऐसी आशा भी नहीं की जाती है कि वे परस्पर सम्बद्ध वाक्य बोले भी। अतएव अत्यन्त मनोवैज्ञानिक आधार पर इन दोषों का विभाजन किया गया है। यहां का लक्षणवाक्य दण्डीके काव्यादर्श (३।१२८) में अक्षरशः मिलता है। इन्हीं के अनुसार—इदमस्वस्थचित्तानामभिधानमनिन्दितम्। इतरत्र कविः को वा प्रयुञ्जीतैवमादिकम् (३।१३०)। यह उदाहरण का श्लोक विक्रमोर्वशीयम् के चतुर्थ अङ्क का कहा जाता है जिसे उर्वशी के वियोग में विक्षिप्त पुरूरवा कहता है। किन्तु यह श्लोक विक्रमोर्वशीयम् की सभी प्रतियों में नहीं मिलता है।

वाक्याश्रयाणामिति। **सत्तादिवचनान्यनुक्रियमाणानि चमत्कारमर्पयन्ति। अत एव छायालंकारप्रादुर्भावाद् गुणः। अनित्यदोषत्व वा चानुकरणादन्यदपि गुणीभवनबीजमुन्नेयमित्युदाहरणेन व्यञ्जयन्नाह**—कायमिति। अत्र श्रुतिशालिनो नायकस्य वासनापरिपाकवशाद्विप्रलम्भावेशेऽपि प्रथमं प्रादुर्भावः—'क्वाकृत्यं शशलक्ष्मणः क्व नु कुलम्' इति। तदेवं शान्तरसानुयायिनमन्तरमेव बाधित्वा चित्तानुरञ्जकप्रकृतरसाव्यभिचारिणा औत्सुक्यस्य प्रादुर्भावः—'भूयोऽपि दृश्येत सा' इति। एवं 'दोषाणामुपशान्तये श्रुतम्' इत्याद्यौचित्यादीनां पूर्वपूर्वप्रादुर्भूतानामुत्तरोत्तरभाविभिश्चिन्ताप्रभृतिभिरपवादे प्रकृतवासना प्रौढिरवसेया। उन्मत्तवचनत्वादिति। **रसाविष्टचेतसस्तदुरकलिकाप्रायाणां भावानामव्यवस्थायां कीर्तनमुन्मादः ॥**

(२-३) अप्रयोजनत्व तथा व्यर्थत्वदोष

यदप्रयोजनं यच्च गतार्थं व्यर्थमेव यत्।
तस्यापि क्वापि निर्दोषः प्रयोगो दृश्यते यथा ॥ १३७ ॥

यथा—

'गीता विदुरवाक्यानि धर्माः शान्तनवेरिताः।
न श्रुता भारते येन तस्य जन्म निरर्थकम् ॥ १७८ ॥'

अत्र गीताविदुरवाक्यादीनां कथायामप्रयोजकत्वेऽपीतिहासव्याजेन चतुर्वर्गप्रतिपादनस्यारम्भ एव प्रतिज्ञानाद् गुणत्वम्। तदिदमप्रयोजनम् ॥

यदप्रयोजनमिति। **प्रबन्धार्थपोषानाधायकवाक्यप्रयोजनम्। अर्थलाभप्रतिपादकतया कृतकरं व्यर्थम्। एवकारो भिन्नक्रमस्तच्छब्दानन्तरं द्रष्टव्यः। दृश्यत इत्यनेन तत्र तत्र प्रकृतसंगतौ सत्यां दोषाभावोऽवसेय इति दर्शितम्। यद्यपि भगवद्गीतायां मोक्षाधिकारिणामस्त्येव प्रकृतशान्तरसपरिपोषकत्वम्, तथापि तदन्तर्गतानां भूयसामाहत्य नास्ति। भीष्मविदुरवाक्यानां तु धर्माधिकारे प्रकृतानां व्यक्त एव निष्प्रयोजनप्रस्तावः। सोऽयं**

यथा समाधीयते तद्विवृणोति—अत्रेति। इतिहासरूपे प्रबन्धे सत्यपि शान्तस्य वाक्यार्थभावेन बहूनामितिहासानां त्रिवर्गाधिकारित्वाच्चतुर्वर्गप्रतिपादनमेव महर्षेरभिमतम्, धर्मादित्रितयस्य च प्रासङ्गिकतया न पूर्ववदस्यार्थैकताविरोधः। तदिदमुक्तम्—व्याजेनेति। एवं च व्युत्पादयितव्यविषयजिज्ञासोपादाने धर्मार्थप्रवृत्तये वाक्यमिदं सफलतामासादयद् गुण एव भवति॥

एवं गतार्थमपि यथा—

'हृत्कण्ठवक्त्रश्रोत्रेषु कस्य नावस्थितं तव।
श्रीखण्डहारकर्पूरदन्तपत्रप्रभं यशः॥ १७६॥'

अत्रैकेनैवोपमानेन शौक्ल्यप्रतीतौ शेषोपमानपादानां व्यर्थत्वेऽपि यशसः स्मर्यमाणत्वगीयमानत्वस्तूयमानत्वश्रूयमाणत्वैर्हृदयादिषु श्रीखण्डादिवदनस्थानस्य प्रतीयमानत्वाद् गुणत्वम्॥

जो अप्रयोजन तथा अर्थहीन व्यर्थत्व दोष होता है उसका भी कहीं-कहीं दोषरहित प्रयोग देखा जाता है॥ १३७॥

जैसे—जिसने महाभारत ग्रन्थ में गीता, विदुरवाक्य तथा भीष्म द्वारा कहे गए धर्म नहीं सुने उसका जन्म किसी काम का नहीं॥ १७८॥

यहां पर गीता, विदुरवाक्य आदि के कथा में प्रयोजक न होने पर भी इतिहास के बहाने चतुर्वर्ग का प्रतिपादन प्रारम्भ से ही हो जाने से गुणत्व है।

इसी प्रकार से अर्थहीनत्व भी होता है—

जैसे—कोई प्रशंसक कहता है कि हे महाराज, चन्दन, हार, कपूर तथा दन्तपत्र की भांति धवलकीर्ति किसके हृदय, कण्ठ, मुख तथा कान में स्थित नहीं रही॥ १७९॥

यहाँ पर एक ही उपमान के प्रयोग से शुक्लता की प्रतीति होने से शेष उपमानों का ग्रहण निरर्थक होने पर भी स्मरण किए जाने से, गाये जाने से, स्तुति किए जाने से, तथा सुने जाने से वक्षस्थल आदि पर चन्दन आदि की भांति अनुचित स्थान पर स्थित अर्थ के प्रतीत होने से गुणत्व है।

स्व० भा०—वस्तुतः केवल एक श्रीखण्डरूप उपमान के ही रहने पर भी यश की शुद्धता ज्ञात हो जाती है। पुनः अन्य उपमानों का ग्रहण आवश्यक नहीं था। बाद में भी उपमानों का ग्रहण तो पुनरुक्त सा हो जाता है। उचित स्थान न होने पर भी उनको स्थान दिया जाता है, किन्तु जहाँ ऐसे प्रयोग करने पर शोभा की हानि नहीं होती, वहां दोषता नहीं होती। चन्दन, हार, कपूर तथा दन्तपत्र क्रमशः हृदय, कण्ठ, मुख तथा कान में शोभित होते हैं। यदि धवलत्व मात्र अपेक्षित होता तब तो केवल एक ही उपमान का ग्रहण पर्याप्त था किन्तु यश के हृदय से स्मरण किये जाने से, कण्ठ से गाये जाने से, मुख से कहे जाने से तथा कानों से सुने जाने से, इन-इन स्थानों पर सुशोभित होने वाले पदार्थों की भांति वह उत्कृष्ट हो रहा है, अतः गुणत्व आ गया।

एवं गतार्थमपीति। श्रीखण्डेनैवोपमाने यशसः शुद्धत्वमवगतं श्लेषोपमानपदानि केवलकृतकराणीति व्यर्थत्वप्रसङ्गे स्मरणादिविशेषविवक्षया तिरस्क्रियते, यथासंख्यादिभङ्गिसौभाग्येन च गुणीभाव इति॥

(४) एकार्थदोषगुण

अविशेषेण पूर्वोक्तं यदि भूयोऽपि कीर्त्यते ।
तदेकार्थं रसाक्षिप्तचेतसां तन्न दुष्यति ॥ १३८ ॥

यथा—

'असारं संसारं परिमुषितरत्नं त्रिभुवनं
निरालोकं लोकं मरणशरणं बान्धवजनम् ।
अदर्पं कन्दर्पं जननयननिर्माणमफलं
जगज्जीर्णारण्यं कथमसि विधातुं व्यवसितः ॥ १८० ॥

'असारं संसारम्' इत्युक्त्वा 'परिमुषितरत्नं त्रिभुवनं निरालोकं लोकम्' 'जगज्जीर्णारण्यम्' इति यदुक्तम्, तस्य विशेषानभिधायकत्वेऽपि रसाक्षिप्तेन वक्त्राभिहितत्वाद् गुणत्वम् ॥

बिना किसी विशेषता के हीं यदि पहले कहा गया अर्थ फिर से कहा जाता है तो एकार्थत्व दोष होता है, किन्तु वक्ता का चित्त भावावेश में होने पर उसकी वाणी को दूषित नहीं करता ॥ १३८ ॥

जैसे—सम्पूर्ण जगत को निःसार करने के लिए, त्रिलोकी के उत्कृष्ट पदार्थों का अपहरण करने के लिए, लोक को प्रकाशहीन बनाने को सभी हितैषियों की मृत्यु के वश में भेजने को, कामदेव का घमण्ड समाप्त करने को, लोगों के नेत्रों की सृष्टि ही निष्फल करने को, सारे संसार को उजाड़ वन बनाने को कैसे सन्नद्ध हो गए ॥ १८० ॥

'संसार निःसार हो गया' इतना कहने के बाद 'परिमुषितरत्नं त्रिभुवनं, निरालोकं लोकम्' 'जगज्जीर्णारण्यम्' आदि जो कहा गया उसका विशेष अर्थ का अभिधान न करने पर भी भावाविष्ट वक्ता के द्वारा कथन होने से गुणत्व ही है ।

स्व० भा०—यहाँ जितने भी वाक्य हैं, उनके अभिधेय अर्थों में भिन्नता होने पर भी तात्पर्य एक ही है । अतः एकार्थता हुई । उसी बात को फिर से कहने पर कोई नवीनता नहीं आई, अपितु दोष ही हुआ । किन्तु इस प्रकार का कथन यदि किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा होता है जो भावविभोर है तो दोष नहीं होगा, क्योंकि अत्यधिक भावाविष्ट अवस्था में मनुष्य को उक्ति पुनरुक्ति का ख्याल नहीं रहता । स्वाभाविकता के कारण ही यहां दोष का परिहार अभीष्ट है । भामह ने अत्यन्त स्वाभाविक ढंग से कह दिया है कि—

कथमाक्षिप्तचित्तः सन्नुक्तमेवाभिधास्यते । भयशोकाभ्यसूयासु हर्षविस्मययोरपि ।
यथाह गच्छ गच्छेति पुनरुक्तं न तद्विदुः ॥ काव्यालंकार ४।१३–१४ ॥

भोज के लक्षण की प्रथम पंक्ति काव्यादर्श (३।१३५) के सदृश है ।

अविशेषेणेति । **पूर्वोक्तपूर्वोक्ताभिन्नतात्पर्यकमविशेषेण तात्पर्यावृत्तिप्रयोजनमन्तरेण तन्मयीभवनं चेतस आक्षेपः । 'असारं संसारम्' इत्यनेन स्थावरजङ्गमप्रपञ्चस्य निःसारतां प्रतिपाद्य 'जातौ जातौ यदुत्कृष्टं तद्धि रत्नं प्रचक्षते' इति । 'परिमुषितरत्नम्' इत्यत्रापि तावानेव तात्पर्यार्थः । एवं 'निरालोकं लोकं', 'जगज्जीर्णारण्यम्' इत्यत्रापि द्रष्टव्यम् । सुगममन्यत् ॥**

(५) संदिग्धत्वदोषगुण

संशयायैव संदिग्धं यदि जातु प्रयुज्यते ।
स्यादलंकार एवासौ न दोषस्तत्र तद्यथा ॥ १३९ ॥

'कुत्तो लम्भइ पन्थिअ सत्थरअं एत्थ गामणिघरम्मि ।
उण्णअपओहरे पेक्खिऊण जइ वससि ता वससु ॥ १८१ ॥

[कुतो लभ्यते पथिक स्रस्तरकमत्र ग्रामणीगृहे ।
उन्नतपयोधरान्प्रेक्ष्य यदि वससि तदा वस ॥]

अत्र केनापि पथिकयूना प्रावृडारम्भे ग्रामणोवधूः पीनोन्नतस्तनी सत्थरअमिति स्रस्तरकव्याजेन शस्तरतं याचिता । तं प्रत्याचक्षाणेव यथोक्तं ब्रूते—'कुतोऽत्र ग्रामणीगृहे स्रस्तरकः, कुतो वा शस्तं रतम् । उन्नतौ पयोधरौ मम हृदये नभसि वा पयोधरान्दृष्ट्वा यदि वससि तदा वस' इति तदेतस्य गोपनाय दूव्यर्थैरेव पदैः प्रयुक्तमिति संदिग्धस्याप्यस्य गुणत्वम् ॥

यदि अनिश्चय का भाव उत्पन्न करने के लिए ही संदिग्धत्व का प्रयोग हुआ हो तो वहां यह अलंकार ही होगा, दोष नहीं ॥ १३९ ॥

जैसे—अरे पथिक, ग्रामप्रधान के घर में यहाँ बिछौना अथवा आनन्दप्रद रति कहाँ प्राप्त हो सकती है । हाँ, यदि तुम इन उठे हुये मेघों या उरोजों को देखकर रहना चाहो, तो रह जाओ ॥ १८१॥

यहाँ पर ऐसा (दिखाया गया है कि) कोई युवा पथिक वर्षा का प्रारम्भ हो जाने से ग्रामप्रधान की वधू से जिसके उरोज खूब बड़े-बड़े तथा उभरे हुये थे—स्रस्तर आदि—कहकर—बिछौना के बहाने आनन्दप्रद रति की याचना करता है । उसे उत्तर देती हुई वह वधू उपर्युक्त ढंग से कहती है—'इस ग्रामप्रधान के घर में बिछौना कहाँ, अथवा आनन्ददायी रति कहाँ ? मेरे वक्षस्थल पर उठे हुए उरोजों को और आकाश में छाये हुये मेघों को देखकर बसना चाहो तो बस रहो ।" इसी बात को छिपाने के लिए दो अर्थों वाले पदों का प्रयोग किया गया है । अतः सन्दिग्धता होने पर भी गुणशालिता है ।

स्व० भा०—दण्डी ने भोज की लक्षण कारिका सा ही प्रयोग अपने काव्यादर्श में भी किया है । प्रथम पंक्ति के प्रथम चरण में ही किञ्चित् पाठान्तर है । दण्डीमें "ईदृशं संशयायैव यदि जातु प्रयुज्यते ॥" ३।१४१ ॥ पाठ है ।

संशयायैवेति । मिश्रो विरुद्धार्थवाक्यं संशयापादनेन दुष्यतीत्युक्तम् । यदा तु संदेह एव तात्पर्यमवधार्यते तदा स एव रञ्जकतयालंकारतामारोहतीति कत्थनं गुणीभाव इति, तदिदमुक्तम्—स्यादलंकार एवेति । कुतो लभ्यते पथिक स्रस्तरः शस्तरतं चात्र ग्रामणीर्ग्रामप्रधानम् । उन्नतपयोधरान्मेघान् पयोधरौ स्तनौ वा दृष्ट्वा यदि वससि तद्वस । अत्र प्रष्टुः संदेहजनयत्वेन निभृतानुरागप्रकाशनं पथिकविषये प्रतीयते ॥ दूव्यर्थैरिति । तदुक्तम्—'दूव्यर्थैः पदैः पिशुनयेच्च रहस्यवस्तु' इति ॥

(६) अपक्रमत्वदोषगुण

वाक्ये प्रबन्धे चार्थानां पौर्वापर्यविपर्ययः ।
दोषः सोपक्रमो नाम चित्रहेतौ न दुष्यति ॥ १४० ॥

यथा—

'पश्चात्पर्यस्य किरणानुदीर्णं चन्द्रमण्डलम्।
प्रागेव हरिणाक्षीणामुदीर्णो रागसागरः॥ १८२॥

अत्र पौर्वापर्यविपर्ययादपक्रमदोषस्य चन्द्रोदयं प्रति रागोद्दीपनप्रकर्षप्रकाशनत्वाददोषः॥

वाक्य तथा प्रबन्ध में अर्थों के पौर्वापर्य में क्रमहीनता आनेपर जो दोष होता है, उसे अपक्रम कहते हैं, किन्तु कोई विचित्रता लाने के लिए होने पर क्रमहीनता दोष नहीं उत्पन्न करती॥ १४०॥

जैसे—अपनी किरणों को फैलाकर चन्द्रमण्डल तो बाद में निकला, किन्तु इसके निकलने के पहले ही मृगनयनी सुन्दरियों का प्रेमसिन्धु उमड़ पड़ा॥ १८२॥

यहाँ पौर्वापर्य में हीनता होने से अपक्रमत्व दोष हुआ, किन्तु चन्द्रोदय द्वारा प्रेमोद्दीपन की चरमसीमा का प्रकाशन होने से दोषत्व नहीं रहा।

स्व० भा०—यहाँ एक वाक्य में पौर्वापर्यविपर्यय का उदाहरण प्रस्तुत है। प्रबन्धगत का उदाहरण अन्यत्र दर्शनीय है। यथाक्रम किसी काम के चलते रहने पर कोई विशिष्टता नहीं होती। जब कोई बात असामान्य हो जाती है, तभी विचित्रता आती है। चन्द्रोदय हो जाने पर यदि कामिनियों का काम भड़का होता तब तो कोई आश्चर्य न होता, किन्तु यहाँ तो उसके पूर्व ही सब कुछ हो गया। यही विचित्रता है। इस विचित्रता से चमत्कार होने के कारण. यहाँ दोष न होकर गुण ही हुआ।

वाक्य इति। अर्थानां कार्यकारणभूतानां तेषामेव पौर्वापर्यनियमाद्य इति पूर्वार्धेऽध्याहार्यम्। चित्रहेताविति प्रसिद्धरूपविपर्यासेन हेतुवचनद्वारा प्रकृतवाक्यार्थपरिपोषाधानं चित्रहेतुः। पर्यस्य विस्तार्य चन्द्रोदयरागोद्दीपनयोः सत्यपि हेतुहेतुमद्भावेन पौर्वापर्ये प्रथमं रागसागरः पश्चाच्चन्द्रमण्डलमुदीर्णमिति विपर्यासप्रतीतिसमसमयमुद्दीपनविभावनानुसंधानाद् हिमांशोरतिशीघ्रकारिताप्रकाशनात् प्रकृतश्रृङ्गाररसो दीप्यते। एवं कुलकादिरूपं प्रबन्धान्तर्गतवाक्येष्वपि गुणत्वमवसेयम्॥

(७) खिन्नत्वदोषगुण

यस्मिन्नीतेरनिर्वाहः खिन्नं तदभिधीयते।
न दोषस्तस्य तु क्वापि यत्र च्छाया न हीयते॥ १४१॥

यथा—

'अभिनववधूरोषस्वादुः करीषतनूनपा-
दसरलजनाश्लेषक्रूरस्तुषारसमीरणः।
गलितविभवस्याज्ञेवाद्य द्युतिर्मसृणा रवे-
र्विरहिवनितावक्त्रक्लैब्यं बिभर्ति निशाकरः॥ १८३॥'

अत्रोपमानानि सामान्यवचनैः समस्यन्त इति प्रक्रान्तरीतेरनिर्वाहेऽपि समासव्याख्यापरत्वेनैव इवशब्दतद्धितयोः प्रयोगे प्रत्युत च्छायोत्कर्ष इति गुणत्वम्॥

जब किसी वाक्य में प्रारम्भ की हुई परम्परा का निर्वाह नहीं होता है, तब वहाँ खिन्नत्व नामक दोष कहा जाता है। किन्तु जहाँ पर सौन्दर्य कम नहीं होता है वहां वह दोष नहीं होता है ॥ १४१ ॥

जैसे—(इस शरद् में) करसी की आग नवविवाहिता के कोप सी मुहावनी लगती है, ठण्डी वायु तो कुटिलजनों के आलिङ्गन सा कठोर लगती है, सूर्य की किरणें किसी गरीब हो गए व्यक्ति के आदेश की भांति निष्प्रभाव हो गई है, और चन्द्रमा भी विरहिणी नायिका के मुख की मलिनता धारण कर रहा है ॥ १८३ ॥

यहाँ पर "उपमानो का सामान्य वाचक पदों के साथ समास होता है" इस प्रकार प्रारम्भ की गई रीति का निर्वाह न होने पर भी समास के व्याख्यापरक होने से ही 'इव' शब्द तथा तद्धित का प्रयोग (होने पर यहां दोष नहीं हुआ) अपितु सौन्दर्य में वृद्धि ही होने से गुणता आ गई है।

स्व० भा०—उपमा को मम्मट आदि आचार्यों ने लुप्ता भी माना है। लुप्ता के भी समासगा और तद्धितगा दो भेद हैं। यहाँ पर समासगा उपमा का प्रयोग प्रथम, द्वितीय तथा चतुर्थ चरणों मे है जहां कोई वाचक स्पष्ट नहीं है। तृतीय चरण में इसी समासगा रीति का निर्वाह न करके 'इव' वाचक प्रयुक्त हुआ है। अतः यहां तो समासगा का पहले प्रयोग हुआ फिर भङ्ग हुआ और फिर प्रयोग ग्रहण हुआ। अतः दोष है। जहां पर उपमा समासगा होती है वहां उपमान तथा सामान्य—सादृश्य—का वाचकपद दोनों का एक साथ समास कर दिया जाता है। (द्रष्टव्य अष्टाध्यायी २।१।५५ ॥) तद्धित के 'वत्' 'कल्पप्' आदि प्रत्यय तथा वाचक 'इव' आदि तो समास की व्याख्या के रूप में ही आते हैं।

यस्मिन्निति। वाक्यार्थस्य धर्मिणो यदलंकारभङ्ग्या प्रक्रमस्थया निर्वहणाभावः खेदः। स तु पूर्वालंकारविश्रान्तौ प्रतीतेरस्खलने न दोषः। गुणत्वं च तस्य भङ्ग्यन्तरैरपि प्रकृतालंकारे ध्वननात्। तथा हि—'अभिनववधूरोपस्वादु असरलजनाश्लेष इव क्रूरः' इत्युपमानानि सामान्यवचनैः समस्यन्त इति समासद्वयेनोपमामुपक्रम्य मलिनविभवस्याज्ञेवेति समासत्यागाद्विरहिवनितावक्त्रक्लैब्यं बिभर्तीति चान्तरधर्मारोपेण चोपमात्यागात्सत्यपि रीतेरनिर्वाहे उपमायामेव पर्यवसानं समाधानहेतुः। गुणत्वहेतुमाह—व्याख्यापरत्वेनेति। गलितविभावाज्ञामसृणेति समासे कर्तव्ये योऽयमिवशब्दप्रयोगः स इवार्थे पूर्वी समासौ बोधयति। क्लैब्यं बिभर्तीति सामान्यालंकारे कथमन्यधर्ममन्यो वहतीति प्रतिसंधानसमसमयं वक्त्रक्लैब्यमस्येत्यन्तर्गतोपमाप्रकटीभावे उपमासमासपदयोरपि सा प्रतीयते इति सेयं कविचातुरीप्रतीयमानच्छायामेव पुष्णाति। तदिदमुक्तम्—प्रत्युतेति ॥

(८) अतिमात्रत्वदोषगुण

लोकातीत इवार्थे यः सोऽतिमात्र इहेष्यते।
वार्तादौ तेन तुष्यन्ति विदग्धा नेतरे जनाः ॥ १४२ ॥
तच्च वार्ताभिधानेषु वर्णनास्वपि विद्यते।
कान्तं जगति तत्कान्तं लौकिकार्थानुयायि यत् ॥ १४३ ॥
लौकिकार्थमतिक्रम्य प्रस्थानं यत्प्रवर्तते।
तदत्युक्तिरिति प्रोक्तं गौडानां मनसो मुदे ॥ १४४ ॥

यथा—

'देवधिष्ण्यमिवाराध्यमद्य प्रभृति नो गृहम्।
युष्मत्पादरजःपातधौतनिःशेषकल्मषम् ॥ १८४ ॥

अत्रातिमात्राख्ये दोषेऽपि वार्ताभिधानेऽभिधेयस्य कान्तिगुणस्याभ्यनुज्ञानाद् गुणत्वम्।

यथा वा—

'अल्पं निर्मितमाकाशमनालोच्यैव वेधसा।
इदमेवंविधं भावि भवत्याः स्तनजृम्भणम् ॥ १८५ ॥

अत्रातिमात्रत्वेऽपि वर्णनार्थत्वाद् गुणत्वम्। अथानतिमात्रं कीदृक्। उच्यते—

वार्ते तावद्यथा—

'गृहाणि नाम तान्येव तपोराशिर्भवादृशः।
संभावयन्ति यान्येवं पावनैः पादपांसुभिः ॥ १८६ ॥'

अथ वर्णनायां यथा—

'अनयोरनवद्याङ्गि स्तनयोर्जृम्भमाणयोः।
अवकाशो न पर्याप्तस्तव बाहुलतान्तरे ॥ १८७ ॥'

जो वाक्य अर्थ में लोक की मान्यता का अतिक्रमण कर जाता है, उसको काव्य में अतिमात्र कहा जाता है। इससे बातचीत में विद्वान् लोग ही प्रसन्न होते हैं, अन्य लोग नहीं। यह अतिमात्रता वार्तालाप आदि तथा वर्णन के प्रसङ्गों में भी होती है। वस्तुतः एक सुन्दर वस्तु संसार में तभी सुन्दर कही जाती है जब कि वह लोकप्रसिद्ध अर्थों का अनुगमन करती है। लोकस्वीकृत अर्थ का उल्लंघन करके जो परम्परा प्रवृत्त होती है उसे अत्युक्ति कहा जाता है। यह गौड़ों के मनको प्रसन्नता देती है ॥ १४२-१४४ ॥

जैसे—आपकी चरणधूलि के गिरने से इस जनका समस्त कालुष्य धुल गया है। अतः मेरा घर आज से देवागार की भांति पूजनीय हो गया है ॥ १८४ ॥

वहां अतिमात्रत्व दोष होने पर भी बात कहने से अभिधेय कान्ति गुण प्रकट हो जाता है। अतः यहां गुणत्व है।

अथवा

जैसे—सुन्दरि, विधाता ने विना सोचे समझे ही आकाश को इतना छोटा बना दिया, जब कि तुम्हारे उरोजों का विस्तार इस प्रकार से इतना अधिक होने वाला था ॥ १८५ ॥

यहां अतिमात्रत्व होने पर भी वर्णन का उद्देश्य होने से गुणत्व ही है। (अब प्रश्न यह है कि यदि अतिमात्रत्व दोष इस प्रकार का होता है) तो अनतिमात्रत्व या हीनमात्रत्व दोष कैसा होता है—वह कहाँ होगा ? उसी का उत्तर दे रहे हैं। वार्ता—लोकव्यवहार—में अनतिमात्रत्व वहाँ होता है जैसे—

जैसे—वस्तुतः वे ही घर-घर हैं जिनको आप जैसे तपस्या के निधान महापुरुष अपनी पवित्र चरणधूलि से प्रशस्त किया करते हैं ॥ १८६ ॥

फिर प्रशंसा में भी यही बात है, जैसे—हे सर्वाङ्गसुन्दरि, (वस्तुतः) तुम्हारे इन बढ़ रहे

दोनों उरोजों के लिये तुम्हारी दोनों लतासदृश भुजाओं के बीच पर्याप्त जगह नहीं छूटी है। अर्थात् इन बढते हुये उरोजों की अपेक्षा तुम्हारा वक्षस्थल अत्यन्त संकरा है।

स्व० भा०—भोज के उदाहरण के चारो श्लोक काव्यादर्श (१।९०॥, १।९१॥, १।८६॥, १।८७॥) में मिलते हैं। लक्षण कारिकाओं में केवल कुछ पदों की हेरफेर है। जैसे भोज के १।१४२ के लिये—

लोकातीत इवात्यर्थमध्यारोप्य विवक्षितः। योऽर्थस्तेनातितुष्यन्ति विदग्धा नेतरे जनाः॥
इदमत्युक्तिरित्युक्तमेतद् गौडोपलालितम्। प्रस्थानं प्राक्प्रणीतं तु सारमन्यस्य वर्त्मनः॥
काव्यादर्श १।८९,९२॥

लोकातीत इति। **'अनामये प्रियालापे वार्तं वार्ता च कीर्त्यते। वर्णनास्वपि' इत्यादिप-दविवरणं दृश्यते। कान्तमित्यभिसंवन्धः। लौकिकार्थानुयायि यज्जगति लोके कान्तमुच्यते तथाभूतमतिक्रम्य यत्कवीनां प्रस्थानं प्रवर्तते तदपि गौडानां मनसो मुदे प्रोक्तम्। शब्दा-डम्बरात्मकगौडरीतिप्रियाणां विदग्धकामज्ञापकं सद्गुणीभवतीति श्लोकार्थः। धिष्ण्यं गृहम्। ननु प्रियालापवर्णनयोरेवंविधा एव लोके काव्ये च वचनसंदर्भा इति नास्त्यतिमात्रतानति-मात्रतयोर्भेद इति पृच्छति—** अथेति। **सुगममन्यत्॥**

(९) परुषत्वदोषगुण

परुषं निष्ठुरार्थं तु यदतीव विगर्हितम्।
विरुद्धलक्षणाद्यासु तदुक्तिषु न दुष्यति॥ १४५॥

यथा—

'हालाहलं विषं भुङ्क्ष्व सखि मा तत्र विश्वसीः।
यद्वा न दह्यसे काष्ठैः स्वल्पैस्त्वमिति मे मतिः॥ १८८॥'

अत्र पारुष्येऽपि विरुद्धलक्षणयार्थान्तरस्य लक्षितत्वाद् गुणत्वम्॥

अर्थ अत्यधिक कठोर होने के कारण परुषत्व दोष माना जाता है। (सहृदयों ने) उसकी अत्यन्त निन्दा भी की है। वह विपरीतलक्षणा आदि से युक्त उक्तियों में दोष नहीं करता॥१४५॥

जैसे—कोई सखी एक नायिका को किसी से मनफेर लेने के लिये कहती है कि "हे सखि, तुम हलाहल विष भले ही पीलो किन्तु उस (अधम) में विश्वास मत करो। अथवा जहाँ तक मैं समझती हूँ क्या तुम थोड़ी सी लकड़ी से जल नहीं सकतीं?" ॥ १८८॥

यहां पर अर्थ में अत्यन्त कठोरता होने पर भी विरुद्धलक्षणा के द्वारा दूसरे ही अर्थ का प्रत्यायन होने से गुणत्व ही है।

स्व० भा०—किसी से विष खाकर मर जाने के लिये, अथवा थोड़ी सी लकड़ी के साथ जल मरने के लिए स्पष्ट शब्दों में कहने से अधिक कठोरता अर्थ में क्या हो सकती है। किन्तु यह तो अभिधेय अर्थ हुआ। लक्ष्य अर्थ इससे भिन्न हो रहा है यहां तक कि भिन्नता विपरीतता में परिवर्तित हो जाती है। उसका लक्ष्य अर्थ यह हुआ कि नायकविशेष से प्रेम करना, उसका विश्वास रखना हलाहल विष के सदृश अथवा काष्ठ के साथ जलने के सदृश घातक है। अतः उसे प्रेम करना व्यर्थ है। अभिधेय अर्थ देखने से 'विषं भुङ्क्ष्व' आदि पद विधिवाचक लगते हैं किन्तु इनका अर्थ लक्षणा से निषेधवाचक हो जाता है। अतः यहां अर्थ में कठोरता थी अवश्य, किन्तु शान्त हो गई। ध्वनि सम्प्रदाय के आचार्य ऐसे स्थलों में व्यञ्जना नाम की शब्दशक्ति मानते हैं, न कि लक्षणा।

परुषमिति । विरुद्धलक्षणा लौकिकी तस्या हि झटित्यभिधानाविनाभावादपरुषार्थप्रतीतेरभिधानतः पारुष्यं न दोषो लक्षणापरिग्रहेण च गुणत्वम् । तदाहुः— 'अभिधेयाविनाभावप्रतीतिर्लक्षणेति या । सैषा काव्ये दग्धवक्त्रा जीवितं वृत्तिरिष्यते ॥' इति ।

(१०) विरसत्वदोषगुण

अप्रस्तुतरसं प्राहुर्विरसं वस्तु सूरयः ।
अप्राधान्ये तदेष्टव्यं शिष्टैः स्याद्रसवस्तुनोः ॥ १४६ ॥

यथा—

'क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोंऽशुकान्तं
गृह्णन्केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः संभ्रमेण ।
आलिङ्गन्योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साश्रुनेत्रोत्पलाभिः
कामीवार्द्रापराधः स दहतु दुरितं शांभवो वः शराग्निः ॥ १८६ ॥'

अत्र करुणे शृङ्गारस्याप्रकृतत्वेऽपि शंभुप्रभाववर्णनाङ्गभूतत्वेन द्वयोरप्यप्राधान्यादवैरस्येन गुणत्वम् ॥

जिसमें रस न विद्यमान हो उस उक्ति को विद्वानों ने 'विरस' कहा है । यह विरसत्वदोषगुण (रसहीनत्व दशा में नहीं) अपितु एक ही रस और वस्तु के प्रधान न रहने पर भी सहृदयों को मानना चाहिये ॥ १४६ ॥

(त्रिपुरवध के समय निकली) भगवान् शिव की शलाका की वह अग्नि आपके पापों को जला डाले जो रंगे हाथों पकड़ लिये गए कामी की भांति नयनकमलों में आंसू भरे हुई त्रिपुर की युवतियों द्वारा हाथ लगने पर झटक दिया जाता है, वस्त्रों की छोर पकड़ने पर कसकर पीटा जाता है, बाल पकड़ते समय दुतकार दिया जाता है, चरणों पर गिरने पर भय तथा जल्दी के कारण देखा भी नहीं जाता तथा लिपट जाने की चेष्टा करने पर झकझोर दिया जाता है ॥ १८९ ॥

यहां पर करुण में शृङ्गार का समावेश समुचित न होने पर भी शिव के प्रभाव के वर्णन का अङ्ग हो जाने से दोनों रसों के गौण हो जाने से विरसता नहीं हो पाई और गुणत्व हो गया ।

स्व० भा०—शृङ्गार तथा करुण ये दोनों रस परस्पर विरोधी हैं । अतः एक ही श्लोक में दोनों का समावेश करना अनुचित है । किन्तु जब वे दोनों ही अप्रधान रूप से—अङ्गभावसे—किसी अन्य रस के साथ आ जाते हैं तब दोषत्व नहीं होता है । प्रस्तुत प्रसंग में ही त्रिपुर का वध करते ससय करुण प्रसंग उपस्थित था क्योंकि उस समय उसकी युवतियों का रोना स्वाभाविक था । इसके साथ ही जो कामुक का औपम्य निरूपित किया गया है उससे संभोगशृङ्गार की सृष्टि हो रही है । दोष होना चाहिये था, किन्तु यहां शिव का पराक्रम वर्णन अभीष्ट है । करुण और शृङ्गार दोनों ही उसकी प्रधानता में आ जाते हैं । अतः इन विरोधी रसों की गौणता हो जाने पर दोष नहीं रहा ।

अप्रस्तुतेति । अप्राधान्य इत्युपलक्षणं वाध्यत्वेऽपीति च बोद्धव्यम् । रसवस्तुनोः परस्परविरोधिरसव्यञ्जकयोः । यद्वा मिथोविरोधिरसरूपयोरेव वस्तुनः । तदाह—'बाध्यानामङ्गभावं वा प्राप्तानामविमुक्तता' इति ॥

(११) हीनोपमत्वदोषगुण

हीनं यत्रोपमानं स्यादुपमेयं गुणाधिकम् ।
हीनोपमं तदस्याहुः कवयः क्वाप्यदुष्टताम् ॥ १४७ ॥

यथा—

'ततः कुमुदनाथेन कामिनीगण्डपाण्डुना ।
नेत्रानन्देन चन्द्रेण माहेन्द्री दिगलंकृता ॥ १६० ॥'

अत्रोपमानस्य हीनतायामपि रागातिशयहेतुत्वाद् गुणत्वम् ॥

जहां पर उपमान (जाति अथवा प्रमाण में) अपकृष्ट हो और उपमेय गुणों में अधिक हो, उसको हीनोपमत्व दोष कहते हैं । कवियों ने उसको भी कहीं-कहीं निर्दोष कहा है ॥ १४७ ॥

जैसे—उसके बाद कुमुदिनियों के स्वामी, कान्ता के कपोल सदृश दीप्तिमान्, नेत्रों को आनन्द देने वाले चन्द्रमा द्वारा पूर्व दिशा सुशोभित कर दी गई ॥ १९० ॥

यहाँ पर उपमान के अपकृष्ट होने पर भी उसके द्वारा अत्यधिक प्रेम की वृद्धि की जाने से गुण ही हुआ ।

स्व० भा०—सामान्यतः चन्द्रमा उपमान तथा कामिनीकपोल उपमेय के रूप में प्रयुक्त होते हैं । क्योंकि चन्द्रमा कपोल से अतिशयगुणशाली है । किन्तु यहाँ उसे कपोल के सदृश कहा गया है अतः उपमान की हीनता और उपमेय की उत्कृष्टता स्वतः सिद्ध हो गई । यद्यपि यह व्यवहार दोष है, तथापि चन्द्रमा उद्दीपन का कार्य तो करता ही है, उसमें बाधा नहीं पड़ी । अतः दोष न होकर गुणत्व सुरक्षित रह गया ।

हीनमिति । **जातिप्रमाणाभ्यामपकृष्टं हीनं चन्द्रापेक्षया कामिनीकपोलस्यापकर्षे आत्मनस्तुल्यतामुद्दीपनस्य प्रतिपाद्यमानः प्रकृतश्रृङ्गारप्रकर्षमर्पयिष्यतीति गुणत्वम् । एवमधिकोपमेऽपि ॥**

(१२) अधिकौपम्यदोष

यत्रोपमानमुत्कृष्टमुपमेयं निकृष्यते ।
ज्ञेयं तदधिकौपम्यमस्यापि क्वाप्यदोषता ॥ १४८ ॥

यथा—

'कान्त्या चन्द्रमसं धाम्ना सूर्यं धैर्येण चार्णवम् ।
राजन्नुकरोषि त्वं सौभाग्येनापि मन्मथम् ॥ १६१ ॥'

अस्याधिकौपम्येऽपि राज्ञो लोकपालांशत्वेन शिष्टैराहृतत्वाद् गुणत्वम् ॥'

जहां पर उपमान उत्कृष्ट तथा उपमेय निकृष्ट वर्णित हो, उसे अधिकौपम्यदोष समझना चाहिये । इसकी भी कहीं-कहीं निर्दोषता होती है ॥ १४८ ॥

जैसे—हे महाराज, आप कान्ति में चन्द्रमा का, प्रताप में सूर्य का धैर्य में समुद्र का तथा सौन्दर्य में कामदेव का अनुकरण करते हैं ॥ १९१ ॥ (द्रष्टव्य काव्यादर्श २।५०)

इस छन्द में अधिकौपम्य दोष होने पर भी राजा के लोकपालों का अंश होने से सज्जनों को अभिमत होने के कारण गुणत्व है ।

स्व० भा०—उपमान उपमेय की अपेक्षा तो उत्कृष्ट होता ही है, अतः यह स्वतः सिद्ध है कि

उपमेय उपमान की अपेक्षा अवर होगा। यहाँ उपमान की उत्कृष्टता तथा उपमेय की अपकृष्टता बताने का एकमात्र उद्देश्य यह है कि यहां दोनों में साक्षात् औपम्यभाव प्रकट नहीं किया जाता है। यहां राजा को तत्तत् पदार्थों का अनुकरण करते बताया गया है न कि पूर्णतः सदृश। दोष का निराकरण इस तथ्य से हो जाता है कि शास्त्रीय विरोध नहीं उत्पन्न हुआ। राजा को आठ लोकपालों का प्रतिनिधि माना जाता है, अतः यदि उसे उसका अनुकर्त्ता कहा गया तो दोष नहीं हुआ। मनु के अनुसार—

"अष्टाभिर्लोकपालानां मात्राभिर्निर्मितो नृपः"

उपमानस्य वैषम्याद्भवेदसदृशोपमम्।
तस्याभ्यनुज्ञामिच्छन्ति व्यतिरेकोपमादिषु ॥ १४९ ॥

यथा—

'प्रहितः प्रधनाय माधवानहमाकारयितुं महीभुजा।
न परेषु महौजसश्छलादपकुर्वन्ति मलिम्लुचा इव ॥ १९२ ॥'

अस्यासदृशोपमत्वेऽपि व्यतिरेकोपपादकत्वाद् गुणत्वम् ॥

(१३) असदृशोपमत्वदोषगुण

उपमान का अन्वय से सादृश्याभाव होने से असदृशोपमत्व दोष होता है। व्यतिरेक, उपमा आदि में उसकी भी निर्दोषता की कविगण इच्छा करते हैं ॥ १४९ ॥

जैसे—शिशुपाल का दूत कहता है (शिशु० १६।५२) कि तुम्हारे पक्ष के यदुवंशियों को ललकारने के लिए राजा के द्वारा मैं भेजा गया हूँ। पराक्रमी लोग चोरों की भांति कपट के द्वारा शत्रुओं का अहित नहीं करते॥ १९२ ॥

यहां पर उपमा में सादृश्य न होने पर भी व्यतिरेक—आधिक्य का उपपादन—होने से गुणत्व है।

स्व० भा०—कहने का अभिप्राय यह है कि महातेजस्वी तथा मलिम्लुच—चोरकट—का औपम्य समानकोटिक नहीं है, अतः दोष तो हुआ, किन्तु चोर की अपेक्षा महौजस् की उत्कृष्टता का निरूपण होने से यहां गुणत्व ही हुआ, दोष अधिक खटका नहीं। यहां उपमेय की उत्कृष्टता प्रदर्शित होने से व्यतिरेक अलंकार है।

उपमानस्येति। **उपमानेन वैषम्यमन्वयेन सादृश्याभावात्। व्यतिरेकोपमादीत्यादिग्रहणाद् व्यतिरेकदृष्टान्तोक्त्यादिपरिग्रहः ॥**

(१४) अप्रसिद्धोपमत्वदोष

यस्योपमानं लोकेषु न प्रसिद्धं तदिष्यते।
अप्रसिद्धोपमं नाम तत्क्वचिन्नैव दुष्यति ॥ १५० ॥

यथा—

'उद्गर्भहूणरमणीरमणोपमर्दभुग्नोन्नतस्तननिवेशनिभं हिमांशोः।
बिम्बं कठोरबिसकाण्डकडारगौरैर्विष्णोः पदं प्रथममभ्रकरैर्व्यनक्ति ॥१९३॥'

अस्यां अप्रसिद्धोपमत्वेन दूषणत्वेऽपि द्वयोरपि शृङ्गारोद्दीपकत्वसाम्याद् गुणत्वम् ॥

ऊपर की ओर उठे हुये मध्यभागवाले, अथवा गर्भिणी हूणसुन्दरियों के प्रिय द्वारा मसले जाने से झुक कर नीचे हो गये उरोजों के अग्रभाग के घेरे की भांति चन्द्रमा का मण्डल कठोर मृणाल-तन्तुओं की भांति शुद्ध एवं गौर किरणों के अग्रभाग से सर्वप्रथम विष्णुपद—स्वर्गलोक अथवा अन्तरिक्ष को ही प्रकाशित कर रहा है ॥ १९३ ॥

यहाँ उपमाओं के प्रसिद्ध न होने से दोष होने पर भी दोनों में शृङ्गार की उद्दीपकता की समानता होने से गुणत्व है।

स्व० भा०—चन्द्रमा की उपमा गर्भिणी हूण नारी के ढले हुये श्यामाग्रभाग वाले उरोजों के अग्रभाग से दी जा सकती है, किन्तु यह लोकप्रसिद्ध उपमान नहीं है। यहाँ अप्रसिद्धोपमत्वदोष सिद्ध होता है, किन्तु चमकते हुये स्तन और चन्द्रमा दोनों ही उद्दीपक हैं, अतः शृङ्गाररस में सहायक होने से दोष नहीं हुआ। (द्रष्टव्य वामनकाव्या० ४।२।२॥)

यस्योपमानमिति। **लोकप्रसिद्धमेव कविभिरुपमाने कान्तं भवति तेन यत्र लोके प्रसिद्धं तेन सहोपमावर्णने संभवदप्यप्रसिद्धोपमत्वं रसानुप्रवेशेन गुणी भवति। उद्भर्त्स्त्वेन स्तनाग्रश्यामिका तया लाञ्छनानुकरणमभिलषितम् ॥**

(१५) निरलंकारत्वदोषगुण

निरलंकारमित्याहुरलंकारोज्झितं वचः।
अर्थौर्जित्येषु तस्यापि क्वचिन्निर्दोषता मता ॥ १५१ ॥

यथा—

'याच्ञां दैन्यपराभवप्रणयिनीं नेक्ष्वाकवः शिक्षिताः
सेवासंवलितः कदा रघुकुले मौलौ निबद्धोऽञ्जलिः।
सर्वं तद्विहितं तथाप्युदधिना नैवोपरोधः कृतः
पाणिः संप्रति मे हठात्किमपरं स्प्रष्टुं धनुर्वाञ्छति ॥ १९४ ॥
अत्र निरलंकारत्वेऽपि अर्थौर्जित्यादु गुणत्वम् ॥

अलंकारहीन उक्ति को निरलंकार कहते हैं। अर्थ में और्जित्य आदि प्रकट होने पर कहीं-कहीं उसकी भी दोषहीनता मानी गई है ॥ १५१ ॥

जैसे—दीनता तथा पराजय से सम्पर्क रखने वाली याचना तो इक्ष्वाकुवंशवालों को सिखाई ही नहीं गई है, रघुवंशी ने कभी भी दासभाव से पूर्ण अञ्जली सिर पर भला कब बांधी ? हाय, यह सब भी किया गया उस पर भी समुद्र ने बात नहीं मानी, दया नहीं की। अब तो मेरा हाथ विवश होकर बस धनुष को ही छूना चाहता है, अन्य कामों से क्या लाभ ? ॥ १९४ ॥

यहां पर अलंकार न रहने पर भी अर्थ में और्जित्य होने से गुणशालिता है।

निरलंकारमिति। **दैन्यपराभवप्रणयिनीमित्याद्युत्कृष्टपुष्टिविशेषणयोगादस्तिशब्देऽस्पष्टे वक्रतार्थे तु नास्ति वक्रत्वं चालंकार इति। यद्यपि वाक्यार्थो निरलंकार इव भासते, तथापि विशेषतोऽलंकाराध्यवसायेऽपि सामान्येन वक्रता प्रकाशत एव। नहि लौकिकशास्त्रीयवचनार्थवैपरीत्यमिह प्रतीयते। तदिदमुक्तमर्थौर्जित्यादिति ॥**

अस्ति हि वयं याचामह इत्युक्ते याच्ञा च भिक्षाकरानालक्षिता(?)इत्युक्तौ नायकप्रकर्षाभिव्यञ्जको विशेष इत्याह—

(१६) अश्लीलदोषगुण

असभ्यार्थं यदश्लीलं तदर्थान्तरवाचि वा ।
तस्येह दृश्यते भूम्ना प्रयोगो नापि दुष्यति ॥ १५२ ॥

यथा—

'अद्यापि तत्कनककुण्डलघृष्टगण्डमास्यं स्मरामि विपरीतरताभियोगे ।
आन्दोलनश्रमजलस्फुटघर्मबिन्दुमुक्ताफलप्रकरविच्छुरितं प्रियायाः ॥१९५॥'
अत्राश्लीलार्थेऽपि कविभिरविगीतत्वाद् गुणत्वम् ॥

सभ्यता से रहित अर्थ वाला जो अश्लीलत्व अथवा दूसरे अर्थ का वाचक दोष है, काव्य में ऐसा देखा जाता हैं कि प्रायः उसका भी प्रयोग दोषपूर्ण नहीं होता ॥ १५२ ॥

जैसे—विपरीत रतिक्रिया में संलग्न होने पर उसके स्वर्णकुण्डल से रगड़ खाते हुये कपोल वाला और झटापट के परिश्रम से निकली हुई बड़ी-बड़ी मोती के दोनों के समूह की भांति एकत्र हुई पसीने की बूँदों से भरा हुआ प्रियतमा का मुख मुझे आज भी याद है ॥ १९५ ॥

यहां (पुरुषायित रति का वर्णन होने से) अर्थ के अश्लील होने पर भी कवियों द्वारा निन्दनीय न होने से गुणशालिता है।

असभ्यार्थमिति । क्वचित्प्राथमिक एव पदार्थसंसर्गोऽश्लीलः । क्वचित्तु न तस्मिंस्तथाभूतेऽपि संसर्गान्तरमिति यदश्लीलमर्थान्तरवाचि वेत्युक्तम् । कविभिरविगीतत्वादिति । अविपरीताद्विपरीतं रतमुत्कृष्यत इति शास्त्रकारैराम्नानात्तस्य शृङ्गारोद्दीपनतया कविभिरादृतत्वादित्यर्थः ॥

(१७) विरुद्धत्वदोषगुण

देशोऽद्रिवनराष्ट्रादिः कालो रात्रिदिवर्तवः ।
नृत्यगीतप्रभृतयः कलाः कामार्थसंश्रयाः ॥ १५३ ॥
चराचराणां भूतानां प्रवृत्तिर्लोकसंज्ञिता ।
हेतुविद्यात्मको न्यायः सस्मृतिः श्रुतिरागमः ॥ १५४ ॥
तेषु तेष्वयथारूढं यदि किंचित्प्रवर्तते ।
कवेः प्रमादाद् देशादिविरोधीत्येतदुच्यते ॥ १५५ ॥
विरोधः सकलेष्वेव कदाचित्कविकौशलात् ।
उत्क्रम्य दोषगणनां गुणवीथीं विगाहते ॥ १५६ ॥

पर्वत, वन, राष्ट्र आदि देश हैं । रात्रि, दिन, ऋतु (आदि) काल हैं । काम तथा अर्थ पर आश्रित नृत्य, गीत आदि कला हैं । जंगम तथा स्थावर पदार्थों के व्यवहार लोक नाम से ख्यात हैं । तर्कशास्त्र पर आधारित विद्या न्याय है । स्मृति आदि ग्रन्थों के साथ, शैवागम आदि शास्त्र

वेद हैं—श्रुति हैं। इन इन में जो जैसा नहीं होता है वैसा वैसा होता हुआ यदि कुछ कवि की असावधानी से कहा जाता है, वह सब देश आदि का विरोधी दोष कहा जाता है। कभी-कभी कवि की निपुणता से इन सब में विद्यमान विरोध दोषों के रूप को छोड़कर—कूद कर—गुणों की पंक्ति में समाविष्ट हो जाता है॥ १५३-१५६॥

स्व० भा०—ये पंक्तियाँ दण्डी के काव्यादर्श (३।१६२-६४ तथा १७९) में भी हैं।

(१७ क) देशविरुद्धदोषगुण

तत्र देशविरुद्धस्य गुणीभावो यथा—

'तस्य राज्ञः प्रभावेण तदुद्यानानि जज्ञिरे।
आर्द्रांशुकप्रवालानामास्पदं सुरशाखिनाम्॥ १९६॥'

अत्र देशविरुद्धत्वेऽपि तस्य राज्ञः प्रभावेणेति कारणोपन्यासाद् गुणत्वम्॥

इनमें से देशविरुद्धता का गुण होना (प्रदर्शित) है।

जैसे—इस राजा के प्रताप से उसके उपवन भींगे वस्त्रों से संयुक्त प्रवालपूर्ण कल्पवृक्षों के आश्रय हो गए॥ १९६॥

यहां देशविरुद्ध होने पर भी (क्योंकि कल्पवृक्ष स्वर्ग में ही होता है न कि पृथ्वी पर) उस राजा के प्रभाव का प्रदर्शन करने से, कारण का निर्देश होने से, गुणयुक्तता ही रही।

देशोऽद्रीति। आदिपदेन द्वीपादिपरिग्रहः। कामार्थसंश्रयाः, अर्थसंश्रयाः प्रवृत्तयोऽवस्थाविशेषाः। हेतुविद्या आन्वीक्षिकी। अयथारूढं अप्रसिद्धम्॥

(१७ ख) कालविरुद्धदोषगुण

कालविरुद्धस्य यथा—

राज्ञां विनाशपिशुनश्चचार स्वरमारुतः।
चुम्बन्कदम्बकुसुमैः सह सप्तच्छदोद्गमान्॥ १९७॥'

अत्र कालविरुद्धत्वेऽपि राज्ञां विनाशपिशुन इत्यनिष्टसूचकोत्पातरूपत्वाद् गुणत्वम्॥

कालविरुद्धत्व का उदाहरण,

जैसे—(राजा के द्वारा विजयप्रयाण प्रारम्भ करते ही) शत्रु राजाओं के विनाश की सूचना देने वाली कदम्ब के पुष्पों के साथ छितवन के पुष्पों का भी चुम्बन करती हुई प्रचण्ड वायु बहने लगी॥ १९७॥

यहां देश-विरोध होने पर भी (क्योंकि कदम्ब तथा सप्तपर्ण के फूलने का समय एक नहीं है) 'राजाओं के विनाश का सूचक' यह कहकर अनिष्ट के सूचक उत्पात का निरूपण होने से गुणत्व है (क्योंकि "अकाले फलपुष्पाणामुदये देशविद्रवः" के अनुसार उचित है।)

कालविरुद्धस्येति। उपघात उत्पातः॥

(१७ ग) लोकविरुद्धत्वगुण

लोकविरुद्धस्य यथा—

'ऐन्दवादचिषः कामी शिशिरं हव्यवाहनम्।
अबलाविरहक्लेशविह्वलो गणयत्यलम्॥ १९८॥'

अत्र लोकविरुद्धत्वेऽपि कामिभिस्तथा संवेद्यमानत्वाद् गुणत्वम् ॥

लोकविरुद्धत्व की दोषता का गुणरूपत्व (होता है)।

जैसे—प्रेयसी के वियोगजन्य कष्ट से व्याकुल यह कामी तो अग्नि को चन्द्रमा की किरणों से भी शीतल समझता है। अथवा चन्द्रमा की किरणों से निकलने वाली शीतलता को अग्नि समझता है ॥ १९८ ॥

अथवा चन्द्रमा से स्फुलिङ्ग झड़ता हुआ तथा अग्नि को शीतल समझता है।

यहां (चन्द्रमा की किरणों से भी अधिक शीतलता अग्नि में निरूपित करने से अथवा चन्द्रमा की किरणों से प्राप्त शीतलता को भी अग्नि सदृश वर्णित करने से) लोकव्यवहार का विरोध होने पर भी कामियों को इसी प्रकार की अनुभूतियाँ होने से गुण ही है।

स्व० भा०—जयदेव ने भी लिखा है, लाटानुप्रास के उदाहरण में—

यस्य न सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य ।
यस्य च सविधे दयिता दवदहनस्तुहितदीधितिस्तस्य ॥

उदाहरण श्लोक १९६-१९८ के लिए द्रष्टव्य काव्यादर्श (३।१८०, १८१, १८३)

(१७ घ) युक्तिविरुद्धत्वदोषगुण

युक्तिविरुद्धस्य यथा—

'स संकोचश्चन्द्रादिष कुमुदराशेरशरणः
स सूर्यात्कोकानां विरह इह लुप्तप्रतिविधिः ।
गुणेभ्यस्ते खेदप्रशमनकरेभ्योऽपि यदयं
खलानामुद्वेगस्तदिदममृतादेव मरणम् ॥ १९९ ॥'

अत्र युक्तिविरुद्धत्वेऽपि छेकोक्त्या संभाव्यमानोपमया तथाप्रतीतेर्गुणत्वम् ।

युक्तिविरुद्धत्व दोष के गुणीभाव का उदाहरण—

कोई व्यक्ति किसी राजा की प्रशंसा करता हुआ कहता है कि महाराज, समस्त चिन्ताओं को शान्त कर देने वाले आपके गुणों से जो दुष्टों को होनेवाली विह्वलता है, वह तो चन्द्रमा को देखने से हठात् होने वाला कुमुदसमुदायो का संकुचन है, सूर्य के कारण चक्रवाकों को होने वाले अप्रतीकार्य वियोग के सदृश हैं, अमृत से ही मरण है ॥ १९९ ॥

अर्थात् न ये बातें होंगी और न आपके गुणो से किसी को क्लेश होगा।

यहां युक्ति विरोध है (क्योंकि चन्द्रदर्शन से कुमुदिनी संकुचित नहीं होती, सूर्य से चक्रवाक वियुक्त नहीं होते, अमृत से मृत्यु नहीं होती) फिर भी चतुराई पूर्ण कथन के द्वारा हो रही उपमा के कारण युक्ति विरोध न प्रतीत होने से गुणशालिता है।

स संकोच इति। **यदि चन्द्रादिभ्यः कुमुदसंकोचादयो भवेयुस्तदा भवद्गुणेभ्यः खलानामुद्वेग उपमीयेत न तु तथा संभवति तेनायमलौकिकत्वादाश्चर्यमर्पयतीति वाक्यार्थपरिपोषात्तथोपन्यासो गुण एवेति ॥**

(१७ ङ) औचित्यविरुद्धगुणदोष

औचित्यविरुद्धस्य यथा—

'तेनाथ नाथ दुरुदाहरणातपेन
सौम्यापि नाम परुषत्वमभिप्रपन्ना ।

जज्वाल तीक्ष्णविशदाः सहसोद्गिरन्ती
वागर्चिषस्तपनकान्तशिलेव सीता ॥ २०० ॥'

अत्र स्त्रीत्वादौचित्यविरोधेऽपि तत्समयोचितत्वाद् गुणत्वम् ॥

औचित्यविरुद्ध की गुणता ऐसे स्थल पर होती है।

जैसे—हे स्वामिन्, इसके बाद उसकी उस कठोरवाणी की गर्मी से अत्यन्त मृदुल होने पर भी सीता कठोरता को प्राप्त हो गई और एकाएक अत्यन्त उग्रता से भरी हुई बातों की चिनगारी छोड़ती हुई वह सूर्यकान्तमणि की भांति धधक उठी ॥ २०० ॥

यहां स्त्री होने के कारण औचित्य का विरोध होने पर भी उस समय के उचित होने से गुणत्व आ गया है।

स्व० भा०—गर्मी पाकर कोई चीज पिघलती है किन्तु सीता को कठोर होते बताया गया है, साथ ही एक नारी का कठोर होना, जिसका सहज गुण ही कोमलता है, भी अखरने की बात है। किन्तु अपमान के अवसरों पर नारी का दृढ़ और कठोर हो जाना भी स्वाभाविक है, अतः औचित्य का विरोध होते हुये भी नहीं हो पाया।

(१७ च) वचनविरुद्धदोषगुण

वचनविरुद्धस्य यथा—

'परदाराभिलाषो मे कथमार्यस्य युज्यते।
पिबामि तरलं तस्याः कदा नु रदनच्छदम् ॥ २०१ ॥'

अत्र वचनविरोधेऽपि वक्तुस्तथाविधावस्थत्वाद् गुणत्वम् ॥

वचनविरुद्धत्व दोष की गुणत्व-प्राप्ति—

जैसे—मेरे जैसे सज्जन व्यक्ति के लिए पराई स्त्री की इच्छा करना कैसे उचित है? हाय, उसके चञ्चल अधरों को कब पी सकूँगा? ॥ २०१ ॥

यहां पर अपने द्वारा उक्त बात का ही विरोध होने पर भी वक्ता की वही अवस्था होने से गुणत्व है।

स्व० भा०—स्वयं कही हुई बात का स्वयं ही विरोध कर जाना वचन-विरोध है। इसी उदाहरण में पूर्वार्ध में अपनी ही सज्जनता का वर्णन करके उत्तरार्ध में कामुकता प्रकट की गई है। अतः विरोध है, किन्तु एक प्रेमविक्षिप्त के द्वारा यह बात कही गई है, अतः औचित्य है।

यह श्लोक काव्यादर्श (३।१३४) में भी है। वहीं दण्डी ने अपना मत व्यक्त किया है कि—

अस्ति काचिदवस्था सा साभिषङ्गत्वचेतसः।
यस्यां भवेदभिमता विरुद्धार्थापि भारती ॥ ३।१३३ ॥

वचनविरुद्धस्येति। अष्टमी कामावस्था ॥

(१७ छ) धर्मविरोधदोषगुण

धर्मविरोधस्य यथा—

'पञ्चानां पाण्डुपुत्राणां पत्नी पाञ्चालकन्यका।
सतीनामग्रणीस्त्वासीद्दैवो हि विधिरीदृशः ॥ २०२ ॥'

अत्र धर्मविरोधेऽपि दैवो विधिरित्यनेनाभिहितत्वाददोषः ॥

धर्मविरुद्धता होने पर भी (गुणत्व का उदाहरण)—

पांच पाण्डवों की पत्नी होते हुए भी द्रौपदी सतियों में अग्रगण्य थी। दैवी विधान इसी प्रकार का हुआ भी करता है ॥ २०२ ॥

यहां पर धर्मविरोध होने पर भी "दैवी विधि' यह शब्द कहने से दोषत्व नहीं हुआ।

स्व० भा०—वस्तुतः एक से अधिक पतियों को रखने वाली स्त्री सतीं नहीं हो सकती, फिर उनमें अग्रणी होने की तो बात ही क्या। किन्तु यहां यही निर्दिष्ट है। अनौचित्य अथवा विरोध होने पर भी दैवी विधि का उल्लेख कर देने से दुष्टता समाप्त हो गई। एक ऋषि के वचन से द्रौपदी पांच पतियों की पत्नी बनी थी। (द्रष्टव्य काव्यादर्श ३।१८५)

धर्मविरोधस्येति। **दैवो हीति। सिद्धादेशाच्च सतीत्वं पाञ्चालकन्यकायाः। तिरस्कृतमित्यत एव वा पञ्चधा विवक्षित इत्यागमः ॥**

(१७ ज) अर्थशास्त्रविरुद्धदोषगुण

अर्थशास्त्रविरुद्धस्य यथा—

'नीतिरापदि यद्गम्यः परस्तन्मानिनो ह्रिये।
विधुर्विधुंतुदस्येव पूर्णस्तस्योत्सवाय सः ॥ २०३ ॥'

अत्रापन्नः शत्रुरभियातव्य इति नीतिः, तच्च मानिनो ह्रिये भवतीतिविरुद्धमपि उद्धतपुरुषभाषितत्वान्न दुष्यतीति गुणत्वम्।

अर्थशास्त्र विरुद्ध बात भी गुणाधायक कैसे होती है, इसका उदाहरण है—

यह नीति है कि जब शत्रु विपत्ति में हो तभी उसपर आक्रमण किया जाये, किन्तु इससे मानियों को लज्जा होती है जिस प्रकार राहु के लिए पूर्णिमा का चन्द्र आनन्ददायक होता है, उसी प्रकार एक वीर के लिए पूर्णावस्था का शत्रु अच्छा पड़ता है ॥ २०३ ॥

'यहां पर विपत्तिग्रस्त शत्रु पर अभियान करना चाहिए' यह नीति है, और यह मानियों के लिए लज्जास्पद होतां है, इस प्रकार से विरुद्धता होने पर भी एक उद्दण्ड व्यक्ति के द्वारा कहे जाने से यहां दोष नहीं आता, यही इसकी गुणता है।

अर्थशास्त्रेति। **उद्धतपुरुषभाषितत्वादिति। पूर्वपक्षतया सिद्धान्तोपोद्घातत्वादित्यर्थः ॥**

(१७ झ) कामशास्त्रविरुद्धतादोषगुण

कामशास्त्रविरुद्धस्य यथा—

'दोलातिप्रेरणत्रस्तवधूजनमुखोद्गतम्।
कामिनां लयवैषम्याद् गेयं रागमवधयत् ॥ २०४ ॥'

अत्र त्रासतो लयवैषम्येण गेयस्य रागहेतुत्वेऽपि कामिनीमुखोद्गीर्णत्वाद्रागविवर्धनत्वेन गुणत्वम् ॥

झूले के वेग से डोलने के कारण भयभीत कामिनियों के मुख से निकला हुआ गान लय में विषमता होने पर भी कामियों में राग बढ़ा रहा हैं ॥ २०४ ॥

यहां भय के कारण लयहीन गीत के भी रागवृद्धि का कारण बनने पर कामिनियों के मुख से निकलने के कारण राग बढ़ाने से गुणशालिता हैं।

स्व० भा०—बात यह है कि लयहीन गीत आनन्द की वृद्धि नहीं करता, किन्तु गाने वाली हैं युवतियां—प्रेमिकायें—और सुनने वाले हैं प्रेमीगण, अतः आनन्द संगत है और उचित भी है। यही उदाहरण श्लोक काव्यादर्श—(३।१८२) में मिलता है।

कामशास्त्रेति। लयवैषम्यादिति गीतस्य कलाप्रकथनात्तस्य च विषमलयस्यारञ्जकत्वात्कथं रागवर्धनमिति दूषणं दोलागतागतन्रस्तकामिनीगीतप्रभावोक्तेश्चमत्कारित्वात्तिरोधीयत इति गुणभावं च नीयते। भावान्तरालवर्ती कामो लयः॥

(उपसंहार)

इत्थं गुणाश्च दोषाश्च काव्ये दोषगुणाश्च ये।
आख्यातास्ते स्फुटं संप्रत्यलंकारान्प्रचक्ष्महे॥ १५७॥

इस प्रकार काव्य में जो गुण, दोष और दोषगुण होते हैं, वे स्पष्ट कहे जा चुके, अब अलंकार कहे जायेंगे॥ १५७॥

ननु गुणैरेव शब्दार्थयोः सनाथीकरणे किमलंकारविवेचनप्रयासेनेत्यत आह—

युवतेरिव रूपमङ्ग काव्यं स्वदते शुद्धगुणं तदप्यतीव।
विहितप्रणयं निरन्तराभिः सदलंकारविकल्पकल्पनाभिः॥ १५८॥

अरे, युवती के रूप की भांति शुद्ध गुणों से ही युक्त रहने पर भी काव्य सुन्दर लगता है, किन्तु लगातार अथवा खूब मिलते-जुलते सुन्दर अलंकारों की विशिष्ट रचना से वह और भी अधिक रोचक हो जाया करता है॥ १५८॥

युवतेरिति। अङ्गेत्याक्षेपसंबोधने। अलंकारसाहित्यबुद्धिसंगतिः प्रणयः॥

विकल्पो विशेषस्तर्हि किमुत्तरसिद्धौ पूर्वेणेति न्यायेन त्यज्यन्तां गुणा इत्यत आह—

यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यो वपुरिव यौवनबन्धमङ्गनायाः।
अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं नियतमलंकरणानि संश्रयन्ते॥ १५९॥

सुन्दरी के जवानी से गठे हुए शरीर की भांति वाणी यदि गुणों से रहित हो जाती है तो लोगों को प्रिय लगने वाले अलंकार भी निःसन्देह असुन्दरता का आश्रय लेते है—अर्थात् वे स्वयं सौन्दर्य की सृष्टि नहीं कर पाते॥ १५९॥

यदि भवतीति। विवृतमेतत्॥

ते चालंकारा यथास्थानं निवेश्यमाना एव सहृदयरञ्जनक्षमा इति कवीन्शिक्षयति—

दीर्घापाङ्गं नयनयुगलं भूषयत्यङ्गनश्री-
स्तुङ्गाभोगौ प्रभवति कुचावर्चितुं हारयष्टिः।
मध्ये क्षामे वपुषि लभते स्थानकूर्पासलक्ष्मीः
श्रोणीबिम्बे गुरुणि रशनादाम शोभां बिभर्ति॥१६०॥

कज्जल की छटा दीर्घ अपाङ्गों वाले दोनों नेत्रों को सुशोभित करती है। हारलता अत्युन्नत एवं विशाल दोनों कुचों को सजाने में समर्थ होती है। शरीर के मध्य में—कटि में—अत्यन्त पतली कमर में कूर्पास की समुचित शोभा होती है और विस्तृत नितम्बफलकों पर करधनी की माला शोभा धारण करती है॥ १६०॥

इस प्रकार महाराजाधिराज भोजदेव द्वारा लिखित सरस्वतीकण्ठाभरण नामक साहित्यशास्त्र के ग्रन्थ में गुणविवेचन नाम का प्रथम परिच्छेद समाप्त हुआ।

दीर्घेति। **तेन शब्दादिविषयविभागेनालंकारविवेचनं सप्रयोजनमेवेति तात्पर्यार्थः। शेषमतिरोहितम्॥**

इति श्रीमिश्ररत्नेश्वरविरचिते रत्नदर्पण**नाम्नि** सरस्वतीकण्ठाभरण-
विवरणे गुणविवेचनो नाम प्रथमः परिच्छेदः।

द्वितीयः परिच्छेदः

क्षेत्रमध्यं विशालाक्षी यस्याधिवसति प्रिया ।
अविमुक्तप्रतिष्ठाय तस्मै कामदुहे नमः ॥
आद्यं स्फुरतु वाग्देव्याः कण्ठाभरणकौतुकम् ।
मयि ब्रह्ममनोवृत्तौ तन्वाने रत्नदर्पणम् ॥

एवं दोषगुणेषु निर्णीतेष्वलंकाराः प्राप्तावसरास्तत्रालंकारसामान्यलक्षणमाद्यपरिच्छेदे तद्विभागं दर्शयन्परिच्छेदत्रयं संगमयति—

अपनी योजना—'निर्दोषं गुणवत् काव्यमलंकारैरलंकृतम् । रसान्वितं कविः···" के अनुसार भोजराज ने निर्दोषता तथा गुणवत्ता का निरूपण प्रथम परिच्छेद से कर दिया था । अब क्रमप्राप्त अलंकारों का वर्णन तमुचित है । अतः द्वितीय परिच्छेद में शब्दालङ्कार, तृतीय में अर्थालङ्कार तथा चतुर्थ में उभयालंकार का सोदाहरण विवेचन है । प्रधान, बाह्य अथवा उल्लेख में प्रथम होने से शब्दालङ्कारों का ही निरूपण प्रारम्भ किया जा रहा है । उसी का उपक्रम है ।

(त्रिविध अलंकार)

शब्दार्थोभयसंज्ञाभिरलंकारान्कवीश्वराः ।
बाह्यानाभ्यन्तरान्बाह्याभ्यन्तरांश्चानुशासति ॥ १ ॥

शब्द, अर्थ तथा उभय नामों से संयुक्त अलंकारों (शब्दालंकार, अर्थालङ्कार, उभयालंकार या शब्दार्थालङ्कार) को कविश्रेष्ठों ने बाह्य, आभ्यन्तर तथा बाह्याभ्यन्तर कहा है ॥ १ ॥

स्व० भा०—सामान्यतः सभी पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती आचार्यों ने शब्दालंकार तथा अर्थालंकार का ही उल्लेख किया है । मम्मट आदि ने पुनरुक्तवदाभास की गणना उभयालंकार में की है । उन लोगों ने इनकी बाह्यता, आभ्यन्तरता तथा बाह्याभ्यन्तरत्व का निरूपण नहीं किया है । भोज ने सम्भवतः इनकी बाह्यता आदि की प्रेरणा भामह से ही पाई थी । क्योंकि भामह ने कहा था कि दो प्रकार के अलङ्कारवादी है—अर्थालङ्कारवादी और शब्दालङ्कारवादी—

रूपकादिरलङ्कारस्तथान्यैर्बहुधोदितः । न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम् ॥
रूपकादिमलङ्कारं बाह्यमाचक्षते परे । सुपां तिङां च व्युत्पत्तिं वाचां वाञ्छन्त्यलङ्कृतिम् ॥
तदेतदाहुः सौशब्द्यं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी । शब्दाभिधेयालङ्कारभेदादिष्टं द्वयं तु नः ॥१।१३–१५॥

यहां यह स्पष्ट है कि भोज की मान्यता भामह के द्वारा चर्चित द्वितीय मत से भिन्न है क्योंकि इनके अनुसार शब्दालङ्कार बाह्य हैं, न कि अर्थालङ्कार । ऐसा प्रतीत होता है कि भोज ने ये नाम अलङ्कारों की प्रतीतिक्रम के आधार पर रखे, जब कि पूर्ववर्ती आचार्य ने प्राधान्य अथवा गौणता के क्रम से । अतः मतभेद स्वाभाविक है ।

शब्दार्थोभयसंज्ञाभिरिति) इत्थंभूतलक्षणे तृतीया । मध्यमपदलोपी समासः । तेन शब्दालंकारार्थालंकारोभयालंकारसंज्ञाभिरित्यर्थः । गुणप्रस्तावे बाह्यत्वादिकं विवृतं शब्दोऽवच्छेदकतया प्रथमप्रतिसंधेयभावेन च शरीरस्थानीयो बाह्यस्ततस्तदाश्रया अलंकारा अपि बाह्याः । अर्थो विच्छेद्यतया पश्चादनुसंधेयतया चात्मतुल्य आभ्यन्तरस्तेन तदाश्रया अलंकारा अप्याभ्यन्तराः । एतेन बाह्याभ्यन्तरा व्याख्याताः । आश्रयाश्रयिभावश्च यथातथोक्त-

मेव। उभयालंकारेषु योगस्य प्रायिकत्वमाश्रित्य कवीश्वराणामनुशासनमुक्तम्। एतद्विवेचयिष्यते चतुर्थारम्भे॥

(शब्दालंकार)

शब्दालंकारसामान्यलक्षणमाह—

ये व्युत्पत्त्यादिना शब्दमलंकर्तुमिह क्षमाः।
शब्दालंकारसंज्ञास्ते ज्ञेया जात्यादयो बुधैः॥ २॥

काव्य में जो अपनी विशिष्ट उत्पत्ति (स्वरूप आदि) के द्वारा शब्द को अलंकृत करने में समर्थ हैं उन जाति आदि को विद्वान् लोग शब्दालंकार के नाम से जानते हैं।

ये व्युत्पत्तीति। विशिष्टा उत्पत्तिर्व्युत्पत्तिर्लोपागमविकारादिप्रपञ्चः। अत एव हि संस्कृतादिजातयो व्यवतिष्ठन्ते। आदिग्रहणाद् गुरुलघुसंनिवेशादयो गत्याद्यवच्छेदाश्चयोविंशतिरुपात्ताः। बाह्यकङ्कणादिसाम्यादियं संज्ञा प्रवृत्तेत्याह—शब्दालंकारसंज्ञा इति॥

(शब्दालंकार के २४ भेद)

जातिर्गती रीतिवृत्तिच्छायामुद्रोक्तियुक्तयः।
भणितिर्गुम्फना शय्या पठितिर्यमकानि च॥ ३॥
श्लेषानुप्रासचित्राणि वाकोवाक्यं प्रहेलिका।
गूढप्रश्नोत्तराध्येयश्रव्यप्रेक्ष्याभिनीतयः॥ ४॥
चतुर्विंशतिरित्युक्ताः शब्दालंकारजातयः।
अथासां लक्षणं सम्यक्सोदाहरणमुच्यते॥ ५॥

(१) जाति, (२) गति, (३) रीति, (४) वृत्ति, (५) छाया, (६) मुद्रा, (७) उक्ति, (८) युक्ति, (९) भणिति, (१०) गुम्फना, (११) शय्या, (१२) पठिति, (१३) यमक, (१४) श्लेष, (१५) अनुप्रास, ((१६) चित्र, १७) वाकोवाक्य, (१८) प्रहेलिका, (१९) गूढ, (२०) प्रश्नोत्तर, (२१) अध्येय, (२२) श्रव्य, (२३) प्रेक्ष्य, (२४) अभिनीति ये शब्दालङ्कारों के २४ प्रकार कहे गये है। अब उदाहरण सहित इनके लक्षण भलीभांति कहे जाते हैं॥ ३-५॥

स्व० भा०—भोज द्वारा चौबीस शब्दालंकारों का उल्लेख स्वयं में एक आश्चर्य हैं। आचार्य भरत ने केवल एक शब्दालंकार—यमक—ही माना था। भामह ने इसमें अनुप्रास को भी जोड़कर संख्या दो की। वामन भी दो ही पर टिके रहे। आचार्य दण्डी ने माधुर्य गुण के प्रसङ्ग में अनुप्रास तथा यमक का, अर्थालंकारों के बीच में ही अप्रत्याशित रूप से श्लेष का और अन्त में चित्रालंकार का निरूपण किया है। इस प्रकार संख्या में वृद्धि होती है।

श्लेष की उभयनिष्ठता का प्रतिपादन करते हुए, रुद्रट ने कहा था—

वक्रोक्तिरनुप्रासो यमकं श्लेषस्तथा परं चित्रम्।
शब्दस्यालंकाराः श्लेषोऽर्थस्यापि सोऽन्यस्तु॥ २।१३॥

भोज के परवर्तियों ने भी ५-६ अलंकार शब्दाश्रित माने हैं, किन्तु इन्होंने जिस रीति से २४ अलंकारों को एक साथ एकत्रित कर उनको शब्दनिष्ठ घोषित किया, वह अत्यन्त प्रशंसनीय है। वस्तुतः ये सभी शब्दसापेक्ष ही हैं—उसी पर आश्रित हैं।

ते च प्रतिविशेषं वक्ष्यन्ते—

शब्दालंकारजातयः शब्दालंकारसामान्यानि॥

स्वरूपस्थितौ रूपान्तरगवेषणमनुचितम्। अतो जातेः प्राधान्यात्प्रथमं लक्षणमित्याह—

(१) जाति अलंकार

तत्र संस्कृतमित्यादिर्भारती जातिरिष्यते।
सा त्वौचित्यादिभिर्वाचामलंकाराय जायते ॥ ६ ॥

इनमें से संस्कृत आदि वाणी जाति के रूप में अपेक्षित हैं। वह जाति औचित्य आदि के द्वारा वाणी का अलंकार हो जाया करती है ॥ ६ ॥

तत्रेति। संस्कृतमिति भावप्रधानो निर्देशः। भारतीग्रहणं स्पष्टार्थम्। नन्ववश्यं शब्देन संस्कृताद्यन्यतमेन भवितव्यम्। तत्कोऽत्र कवेः शक्तिव्युत्पत्त्योरंशो येनालंकारता स्यादित्यत आह—सेति। औचित्याकृष्ट एवालंकारः। अस्ति च संस्कृतादेरपि तथाभाव इति भावः ॥

यद्यप्यर्थौचिती पूर्वं दर्शयितुमुचिता तथापि प्राधान्यमावेदयितुं पृथक्औचितीमाह—

संस्कृतेनैव केऽप्याहुः प्राकृतेनैव केचन।
साधारण्यादिभिः केचित्केचन म्लेच्छभाषया ॥ ७ ॥

कुछ लोगों ने केवल संस्कृत के द्वारा, कुछ ने केवल प्राकृत के द्वारा, कुछ ने समान रूप से सब के द्वारा और कुछ ने म्लेच्छ भाषा द्वारा हुई काव्यरचना स्वीकार की है ॥ ७ ॥

स्व० भा०—भोज ने इन कारिकाओं में जाति की परिभाषा तथा कवियों की भाषाविषयक मान्यता का उल्लेख किया है। इनके पूर्ववर्ती तथा उत्तरवर्ती आचार्यों ने अलंकार-प्रसङ्ग में जाति शब्द का ग्रहण अवश्य किया हैं किन्तु सर्वत्र अर्थ अपने-अपने प्रकार का हैं। भोज के अर्थ में तो शायद ही किसी ने प्रयोग किया हो। दण्डी ने भाषा के आधार पर अवश्य ही वाङ्मय का विवेचन किया है, किन्तु उन्होंने भी इनको अलंकार के अन्तर्गत नहीं रखा।

तदेतद्वाङ्मयं भूयः संस्कृतं प्राकृतं तथा। अपभ्रंशश्च मिश्रं चेत्याहुरार्याश्चतुर्विधम्॥
संस्कृतं नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः। तद्भवस्तत्समो देशीत्यनेकः प्राकृतमयः॥
काव्या० १।३२-३३ ॥(१)

भोजराज ने इन भाषाजातियों का उल्लेख औचित्य के आधार पर किया था। यह औचित्य कई प्रकार से होता हैं। इनमें से सर्वप्रथम विषयौचित्य का निरूपण कर रहे हैं—

(विषयौचित्य)

विषयौचितीमाह—

न म्लेच्छितव्यं यज्ञादौ स्त्रीषु नाप्राकृतं वदेत्।
संकीर्णं नाभिजातेषु नाप्रबुद्धेषु संस्कृतम् ॥ ८ ॥

---

(१) वाग्भट ने भी चार प्रकार की भाषाओं में काव्यरचना स्वीकार की है। जैसे—
संस्कृतं प्राकृतं तस्यापभ्रंशो भूतभाषितम्। इति भाषाश्चतस्रोऽपि यान्ति काव्यस्य काव्यताम्॥
संस्कृतं स्वर्गिणां भाषा शब्दशास्त्रेषु निश्चिता। प्राकृतं तज्जतत्तुल्यदेश्यादिकमनेकधा॥
अपभ्रंशस्तु तच्छुद्धं तत्तद्देशेषु भाषितम्। यद्भूतैरुच्यते किञ्चित्तद्भौतिकमिति स्मृतम्॥
वाग्भ० २।१-३॥

यज्ञ आदि में म्लेच्छभाषा अथवा अपशब्द का प्रयोग नहीं करना चाहिये। स्त्रियों में प्राकृत के अतिरिक्त अन्य भाषा का प्रयोग नहीं करना चाहिये। शुद्ध जन्मवाले उच्चवर्ग के लोगों में संकीर्ण—मिली-जुली भाषा का प्रयोग नहीं होना चाहिये और जो विद्वान् नहीं हैं उनमें संस्कृत का प्रयोग नहीं होना चाहिए॥ ८॥

न म्लेच्छितव्यमित्यादि। **म्लेच्छनमपशब्दः। प्राकृतं संस्कृतभवनम्। अभिजातः शुद्धान्वयः॥**

(वक्त्रौचित्य)

अथ के संस्कृताद्युचितवक्तार इत्यत आह—

देवाद्याः संस्कृतं प्राहुः प्राकृतं किन्नरादयः।
पैशाचाद्यं पिशाचाद्या मागधं हीनजातयः॥ ९॥

देव आदि संस्कृत बोलते हैं, प्राकृत को किन्नर आदि, पैशाच आदि को पिशाचादि तथा मागधी को निम्नकोटि के लोग॥ ९॥

देवाद्या इति। **आदिग्रहणेन ऋषिभूमिपतिप्रभृतयः॥**

(वाच्यौचित्य)

वाच्यौचितीं दर्शयति—

संस्कृतेनैव कोऽप्यर्थः प्राकृतेनैव वापरः।
शक्यो रचयितुं कश्चिदपभ्रंशेन जायते॥ १०॥

संस्कृत के ही द्वारा कोई विषय और कोई प्राकृत के द्वारा ही तथा कोई अपभ्रंश के ही द्वारा रचा जा सकता है॥ १०॥

संस्कृतेनैवेति। **यथा हि—देवतास्तुत्यादौ संस्कृतं प्रगल्भते न तथा प्राकृतादि। यथा च सूक्ष्मवस्तुस्वरूपोट्टङ्कने प्राकृतस्य सौष्ठवं न तथा संस्कृतादेरित्यादि॥**

पैशाच्या शौरसेन्यान्यो मागध्यान्यो निबध्यते।
द्वित्राभिः कोऽपि भाषाभिः सर्वाभिरपि कश्चन॥ ११॥

पैशाची, शौरसेनी तथा मागधी आदि के द्वारा भी कोई कोई विषय, कोई विषत दो, तीन भाषाओं के द्वारा और कोई सभी भाषाओं के द्वारा भी निबद्ध होता हैं॥ ११॥

पैशाच्येति। **द्वित्राभिः कोऽपि काव्यसमस्याभेदस्यार्थः। सर्वाभिः कश्चन प्रकरणादेरर्थः॥**

विषयौचित्यमेव क्वचिद्विशेषे कान्तिप्रकर्षमर्पयन्तमाह—

नात्यन्तं संस्कृतेनैव नात्यन्तं देशभाषया।
कथां गोष्ठीषु कथयँल्लोके बहुमतो भवेत्॥ १२॥

पूर्णतः संस्कृत के ही द्वारा नहीं और पूर्णतः देशीभाषा के भी माध्यम से नहीं अर्थात् यथावसर विभिन्न भाषाओं का प्रयोग करके समवयस्कों के समुदाय में कथायें कहता हुआ व्यक्ति अत्यधिक सम्मान का भाजन हो सकता है॥ १२॥

नात्यन्तमिति। **समानबुद्धिशीलवयसां विनोदार्थमासनबन्धो गोष्ठी॥**

(देशौचित्य)

देशौचितीमाह—

शृण्वन्ति लटभं लाटाः प्राकृतं संस्कृतद्विषः।

अपभ्रंशेन तुष्यन्ति स्वेन नान्येन गुर्जराः ॥ १३ ॥

लाट देश के रहने वाले लाटी भाषा का प्रयोग करते हैं, संस्कृत द्रोही प्राकृत का अथवा संस्कृत के द्वेषी लाटदेश के लोग प्राकृतभाषा को ही मनोज्ञ समझते हैं, गुर्जर प्रदेश के लोग अपनी अपभ्रंश भाषा से ही सन्तुष्ट होते हैं, दूसरों से नहीं ॥ १३ ॥

शृण्वन्तीति । लटभं मनोज्ञम् । स्वेन गुर्जरजातीयेन ॥

ब्रह्मन्विज्ञापयामि त्वां स्वाधिकाराजिहासया ।
गौडस्त्यजतु वा गाथामन्या वास्तु सरस्वती ॥ १४ ॥

हे महोदय, मैं आपको सूचित करता हूँ कि अपने अधिकार का परित्याग न करने के लिए या तो गौड़ देश के कवि गाथा को—प्राकृत छन्दरचना छोड़—देंगे अथवा वाणी ही दूसरी होगी, अर्थात् गौड़ देश के लोग प्राकृत को किसी दशा में काव्यभाषा नहीं स्वीकार कर सकते ॥ १४ ॥

ब्रह्मन्निति । **ब्रह्मन्नित्यादिना निन्दार्थानुवादेन गौडेषु प्राकृतानौचित्यं राजशेखरेण व्यञ्जितम् ॥**

(समयौचित्य)

समयौचितीं दर्शयति—

केऽभूवन्नाढ्यराजस्य राज्ये प्राकृतभाषिणः ।
काले श्रीसाहसाङ्कस्य के न संस्कृतवादिनः ॥ १५ ॥

आढ्यराज शालिवाहन के शासनकाल में कौन प्राकृतभाषी न थे ? और श्रीसाहसाङ्क विक्रमादित्य के समय में कौन लोग संस्कृतभाषी नहीं थे ॥ १५ ॥

स्व० भा०—इस प्रकार सातवीं कारिका से लेकर पन्द्रहवीं तक विभिन्न औचित्यों का निरूपण हो गया । जब ये भाषायें उचित पात्र, विषय, देश, काल आदि के अनुसार ही प्रयुक्त होती हैं, तो इनमें विशेष छटा आ जाती है और जैसे ही ये विपरीत पड़ते हैं वहां अनौचित्य छा जाता है जिससे अलंकार के स्थान पर दोषत्व की सम्भावना अधिक हो जाती है ।

दण्डी ने इन भाषाओं का मात्र विवरणात्मक परिचय दिया है । उनके अनुसार—

महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः । सागरः सूक्तिरत्नानां सेतुबन्धादि यन्मयम् ॥
शौरसेनी च गौडी च लाटी चान्या च तादृशी । याति प्राकृतमित्येव व्यवहारेषु सन्निधिम् ॥
आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृताः । शास्त्रेषु संस्कृतादन्यदपभ्रंशतयोदितम् ॥
काव्याद० १।३४–३६ ॥

दशरूपककार के मतानुसार भी—

पाठ्यं तु संस्कृतं नृणामनीचानां कृतात्मनाम् । लिङ्गिनीनां महादेव्या मन्त्रिजावेश्ययोः क्वचित् ॥
स्त्रीणां तु प्राकृतं प्रायः सौरसेन्यधमेषु च । पिशाचात्यन्तनीचादौ पैशाचं मागधं तथा ॥
यद्देशं नीचपात्रं यत्तद्देशं तस्य भाषितम् । कार्यतश्चोत्तमादीनां कार्यो भाषाव्यतिक्रमः ॥
दशरू० २।६४–६६ ॥

परवर्तियों में आचार्य विश्वनाथ कविराज ने इन प्राकृतों के प्रयोग से सम्बद्ध अत्यन्त स्पष्ट निर्देश दिया हैं—

पुरुषाणामनीचानां संस्कृतं स्यात्कृतात्मनाम् ॥ १५८ ॥
सौरसेनी प्रयोक्तव्या तादृशीनां च योषिताम् । आसामेव तु गाथासु महाराष्ट्रीं प्रयोजयेत् ॥

अत्रोक्ता मागधी भाषा राजान्तःपुरचारिणाम् । चेटानां राजपुत्राणां श्रेष्ठानां चार्धमागधी ॥
प्राच्यां विदूषकादीनां धूर्तानां स्यादवन्तिजा । योधनागरिकादीनां दाक्षिणात्या हि दीव्यताम् ॥
शबराणां शकादीनां शाबरीं सम्प्रयोजयेत् । बाहलीकभाषोदीच्यानां द्राविडी द्राविडादिषु ॥
आभीरेषु तथाभीरी चाण्डाली पुक्कसादिषु । आभीरी शाबरी चापि काष्ठपात्रोपजीविषु ॥
तथैवाङ्गारकारादौ पैशाची स्यात् पिशाचवाक् । चेटीनामप्यनीचानामपि स्यात् सौरसेनिका ॥
बालानां षण्डकानां च नीचग्रहविचारिणाम् । उन्मत्तानामातुराणां सैव स्यात् संस्कृतं क्वचित् ॥
ऐश्वर्येण प्रमत्तस्य दारिद्र्योपद्रुतस्य च । भिक्षुवल्कधरादीनां प्राकृतं सम्प्रयोजयेत् ॥
संस्कृतं संप्रयोक्तव्यं लिङ्गिनीपूत्तमासु च । देवीमन्त्रिसुतावेश्यास्वपि कैश्चित्तथोदितम् ॥
कार्यंतश्चोत्तमादीनां कार्यो भाषाविपर्ययः । योषित् सखीबालवेश्याकितवाप्सरसां तथा ॥
वैदग्ध्यार्थं प्रदातव्यं संस्कृतं चान्तरान्तरा ॥ ६।१५८-१६९ ॥

केऽभूवन्निति । **आढ्यराजः** शालिवाहनः । **साहसाङ्को** विक्रमादित्यः । **ग्रन्थकृत्पूर्वजतया श्रीपदम ॥**

ता इमाः परस्परसंकीर्णाः षडेव संस्कृतादिभाषा भवन्तीति सामान्यविभागमेतद्विरचनप्रयोजनं चोपसंहरति—

गिरः श्रव्या दिव्याः प्रकृतमधुराः प्राकृतधुराः
सुभव्योऽपभ्रंशः सरसरचनं भूतवचनम् ।
विदग्धानामिष्टे मगधमथुरावासिभणिति-
र्निबद्धा यस्तेषां स इह कविराजो विजयते ॥ १६ ॥

देवों की वाणी संस्कृत श्रवण के योग्य है । प्राकृत भाषायें तो स्वभाव से ही मधुर हैं । अपभ्रंश भी अत्यन्त शानदार है । पैशाची भाषा की रचना रसयुक्त होती हैं । मगध तथा मथुरा-सूरसेन प्रदेश-में रहने वालों की भाषायें मागधी तथा सौरसेनी भी विद्वानों को मान्य हैं । जो इन भाषाओं से रचना करने वाला है वही साहित्य में सर्वश्रेष्ठ है ॥ १६ ॥

गिर इति । **दिव्याः संस्कृताः । भूतवचनं पैशाचम् । मथुरावासिभणितिः शौरसेनी । तेषामिति । तच्च भूतवचनं स चापभ्रंशस्ताश्च दिव्याद्या इति 'नपुंसकमनपुंसकेन' इत्येकशेषः । पात्तिकं बहुवचनम् । प्रतिभार्थप्राणानां जीवद्वर्णनानिपुणो हि कविः, स एव हि सर्वपथीनतादृग्युक्तिसिद्धिसंपन्नः कविराजः, अत एव विजयते सकललोकशास्त्रवचननिर्मातृभ्यः प्रकर्षेण वर्तत इति ॥**

(पोढा जाति)

संस्कृतादिषु यथायोगं शुद्धादिभेदेन जातिः पोढा भिद्यत इत्याह—

शुद्धा साधारणी मिश्रा संकीर्णा नान्यगामिनी ।
अपभ्रष्टेति साचार्यैर्जातिः पोढा निगद्यते ॥ १७ ॥

आचार्यों ने जाति को (१) शुद्धा (२) साधारणी (३) मिश्रा (४) संकीर्णा (५) अनन्यगामिनी (६) अपभ्रष्टा छः प्रकार का कहा है ॥ १७ ॥

शुद्धा साधारणीति । **इह भाषारूपविषयभेदेन भिन्नाः संस्कारा यानधिकृत्य पाणिनिवररुचि-प्रभृतीनामनुशासनानि व्यवतिष्ठन्ते । तद्यत्रैक एव संस्कारः प्रत्यभिज्ञायते सा**

शुद्धा। संस्कारान्तराग्रहणात्। यत्र तु लक्षणसंभेदेन नानासंस्कारसंपातः क्षीरनीरवत्सा साधारणी। रूपसाधारण्यान्नरसिंहवद्भापाभेदव्यवस्थितभागद्वयात्मिका मिश्रा। रूपमिश्रणात्तिलतण्डुलन्यायेन संकीर्णा। विजातीयवस्त्वन्तरव्यतिरेक एव लोके संकीर्णव्यवहारात्। या पुनः प्रकृतिभावेनापि भाषान्तरसंपर्कं न सहते सानन्यगामिनी। संस्कारसंभेदेन वा प्रकृतिभावेन वा नान्यं गच्छति यतोऽपशब्दरूपा सापभ्रष्टा॥

१. (शुद्धा संस्कृत जाति)

तासूत्तमपात्रप्रयोज्या संस्कृतजातिः शुद्धा यथा—

'उन्नमितैकभ्रूलतमाननमस्या पदानि रचयन्त्याः।
कण्टकितेन प्रथयति मय्यनुरागं कपोलेन॥ १॥'

इन छः प्रकारों में उत्तमपात्र के द्वारा प्रयुक्त होने वाली संस्कृत जाति की शुद्धा का उदाहरण इस प्रकार है—

(राजा दुष्यन्त विरहविदग्धा शकुन्तला को प्रणयपत्र लिखते देखकर उसकी दशा का वर्णन कर रहे हैं)—श्लोक की रचना करती हुई इस शकुन्तला का ऊपर उठी हुई भ्रूलता से संयुक्त मुखमण्डल अपने रोमाञ्चित कपोल द्वारा मेरे प्रति इसका प्रेमभाव व्यक्त कर रहा है॥ १॥

तासूत्तमेति। पात्रलक्षणमुत्तमादिभेदश्च पञ्चमे वक्ष्यते। उन्नमितैकेति। पदानि प्रकृतानङ्गलेखोचितानि निर्व्याजप्रेमगर्भाणि। अत एवावापोद्वापप्रतिसंधाननिमग्नमानसायाश्चिन्तानुभावरूपं भ्रूलताविरेचितमिवासीत्। हस्ततलनिहितैककपोलायास्तादृक्पुलकितैककपोलदर्शनादतिमानात्मा शृङ्गारः सुप्रबुद्ध इव तत्कालं नायकस्यापीति मिथोऽनुबन्धलणापूर्वानुरागकक्षामधिरूढा रतिरेव काव्यसर्वस्वायते। अत्र च कस्यचित्पदस्य भाषान्तरसाधारण्येऽपि भूयसामुदाहरणत्वम्। एवमन्यत्रापि॥

(शुद्धा प्राकृत जाति)

मध्यमपात्रप्रयोज्या प्राकृतजातिः शुद्धा यथा—

'तुज्झ ण जाणे हिअअं मम उण मअणो दिआ अ रत्तिं अ।
णिक्किव तवेइ वलिअं तुह जुत्तमनोरहाइं अङ्गाइं॥ २॥'

[तव न जाने हृदयं मम पुनर्मदनो दिवा च रात्रिं च।
निष्कृप तपति बलतित्त्वयि युक्तमनोरथान्यङ्गानि॥]

मध्यम पात्रों द्वारा प्रयुक्त होने पर प्राकृत जाति होती है, उसके शुद्धाभेद का उदाहरण यह है।

(शकुन्तला प्रेमपत्र में लिखती है—मैं तुम्हारी बात नहीं जानती, किन्तु हे निर्दय, कामदेव तो दिन और रात निरन्तर मेरे हृदय को अत्यन्त सन्तप्त कर रहा है। मेरे अङ्ग-प्रत्यङ्ग तो तुम में ही अपनी कामनायें जोड़ बैठे हैं॥ २॥

तुज्झेति। वलिअं बलवत्कृतमभिमुखम्॥

(शुद्धा मागधी जाति)

हीनपात्रप्रयोज्या मागधिका यथा—

'शद माणशमंशभालके कुम्भशहश्श वशाहि शंचिदे।
अणिशं च पिआमि शोणिदे वलिशशदे शमले हुवीअदि॥ ३॥'

[शतं मानुषमांसभारकाः कुम्भसहस्रं वसाभिः संचितम्।
अनिशं च पिबामि शोणितं वर्षशतं समरो भविष्यति॥]

निम्न पात्रों द्वारा प्रयुक्त होने वाली मागधी जाति की शुद्धा का उदाहरण—मनुष्य के मांस से भरे हुए सौ तथा चर्बी से भरे हुये हजारों घड़े मैंने एकत्र कर लिये हैं। मैं निरन्तर रक्त पी रहा हूँ। (अच्छा हो कि) सैकड़ों वर्षों तक युद्ध चलता रहे ॥ ३ ॥

स्व० भा०—यहाँ मांस आदि की प्राप्ति होने से अनवरत युद्ध चलते रहने की कामना पात्र की हीनता द्योतित करती है।

शद माणुशेति। **शतं मानुषमांसभरं कुम्भसहस्रं वसाभिः संचितम्। अनिशं च पिबामि शोणितं वर्षशतं समरो भविष्यति॥' अत्र मांसादिलाभहेतुतया समराशंसनं बीभत्समुन्मुद्रयद्धीनपत्रतां द्रढयति ॥**

नात्युत्तमपात्रप्रयोज्या पैशाची शुद्धा यथा—

'पनमत पनअपकुप्पितगोलीचलनग्गलग्गपडिबिम्बम्।
दससु नहदप्पनेसु एआदसतनुधलं लुद्दम् ॥ ४ ॥'
[प्रणमत प्रणयप्रकुपितगौरीचरणाग्रलग्नप्रतिबिम्बम्।
दशसु नखदर्पणेष्वेकादशतनुधरं रुद्रम् ॥]

(शुद्धा पैशाची जाति)

जो अत्युत्तम पात्र नहीं हैं, उनके द्वारा प्रयोग में लायी जाने वाली शुद्धा पैशाची का उदाहरण—उन एकादश शरीर धारण करने वाले रुद्र को प्रणाम करो जिनका मान की हुई गौरी के चरणों पर गिरने से अग्रभाग में पड़ रहा प्रतिबिम्ब इस प्रकार सुशोभित होता है मानों वह नख-रूपी दस दर्पणों में पड़ी हुई छाया हो। अथवा उन रुद्र को प्रणाम करो जिनके मान की हुई पार्वती को मनाते समय चरणों पर गिरने से उनके दस नखदर्पणों में पड़ते हुए प्रतिबिम्बों से ऐसा लगता है मानों वह (भयभीत होकर एक साथ ही) एकादश शरीरों को धारण करके (दस नखों के १० प्रतिबिम्ब + १ बिम्ब = ११) ही उनके चरणों पर पड़ रहे हों ॥ ४ ॥

स्व० भा०—जो उत्तम से अपकृष्ट तथा मध्यम से उत्कृष्ट हो उसको 'नात्युत्तम' पात्र कहते हैं।

नात्युत्तमेति। **उत्तमादपकृष्टं मध्यमादुत्कृष्टं नात्युत्तमम्। 'प्रणमत प्रणयप्रकुपितगौरीचरणाग्रलग्नप्रतिबिम्बम्। दशसु नखदर्पणेष्वेकादशतनुधरं रुद्रम्॥' एवं नाम देवीकोपे भगवतः प्रणयकातरता येन युगपदिव सर्वाभिरपि मूर्तिभिः प्रणमतीति प्रतीयमानोत्प्रेक्षा॥**

नातिमध्यमपात्रप्रयोज्या शौरसेनी शुद्धा यथा—

'तुं सि मए चूअङ्कुर दिण्णो कामस्स गहिदधणुहस्स।
जुवइमणमोहणसहा पञ्चण्हमहिओ सरो होहि ॥ ५ ॥'
[त्वमसि मया चूताङ्कुर दत्तः कामस्य गृहीतधनुषः।
युवतिमनोमोहनसहः पञ्चाभ्यधिकः शरो भव ॥]

(शौरसेनी शुद्धा जाति)

नाति मध्यमपात्र के द्वारा प्रयोग की जाने वाली शौरसेनी शुद्धा जाति का उदाहरण—

हे आम्रमञ्जरी, धनुष धारण किये हुए कामदेव के लिए हम तुम्हें प्रदान कर रही हैं। तुम उनके युवतियों के मन को मोहने में समर्थ पांचों बाणों में सर्वोत्कृष्ट बनो ॥ ५ ॥

स्व० भा०—हीन पात्र से उत्कृष्ट तथा मध्यम से अपकृष्ट को नातिमध्यम कहते हैं। यहाँ शाकुन्तल में मधुकरिका तथा परभृतिका दो दासियों की मदनपूजा का वृत्तान्त वर्णित है। ये दासियाँ अत्यन्त अपकृष्ट कोटि की नहीं हैं।

नातिमध्यमेति। हीनादुत्कृष्टं मध्यमादपकृष्टं नातिमध्यमम्। तुं सोति। कामस्य। कामायेत्यर्थः। चतुर्थ्याः 'सम्बन्धसामान्यविवक्षायां षष्ठी' इति सूत्रात् षष्ठी॥

नातिहीनपात्रप्रयोज्योऽपभ्रंशः शुद्धो यथा—

'लइ वप्पुल पिअ दुद्धं कत्तो अम्हाणहुं छासि।
पुत्तहुमत्थे हत्थो जइ दहि जम्मेवि जअ आसि॥ ६॥'

[गृहाणानुकम्प्य पिब दुग्धं कुतोऽस्माकं तक्रम्।
पुत्रकमस्तके हस्तो यदि दधि जन्मन्यपि जातमासीत्॥]

प्रायिकं चैतत्। तेन कवेरभिप्रायशक्त्यादिभ्यः सर्वा अपि सर्वप्रयोज्या भवन्ति। ता इमाः शुद्धाः षडेव॥

(अपभ्रंश शुद्धा जाति)

नातिहीन पात्रों के द्वारा प्रयोग में लाये जाने वाले अपभ्रंश की शुद्धा जाति का उदाहरण—लो, कृपाकरके दूध पियो, हमारे दही कहाँ हैं? पुत्र के सिर पर हाथ रखकर (सौगन्ध खा रही हूँ) जन्म भर में भला कहीं दही हुआ है?॥ ६॥

यह एक सामान्य नियम है। अतः कवि के उद्देश्य तथा रचना क्षमता आदि के कारण ये सभी प्रकार सबके प्रयोग के योग्य हो जाया करते हैं। तो यह शुद्धा छः ही हैं।

स्व० भा०—हीन से किञ्चित् उत्कृष्ट तथा मध्यम से अपकृष्ट को नातिहीन कहते हैं। उसके द्वारा अपभ्रंश का प्रयोग किया जाता है।

यह एक सामान्य नियम है। अर्थात् उत्तम, मध्यम, हीन आदि पात्रों को इन्हीं भाषाओं का निर्दिष्ट क्रम में प्रयोग करना चाहिये। कवियों को चाहिए कि जब इन पात्रों से कोई बात करानी हो, तब यथोचित क्रम के ही अनुसार भाषाओं का उपयोग करना चाहिये। किन्तु यदि कवि का उद्देश्य कुछ दूसरा ही है, अथवा उसकी कवित्व शक्ति प्रखर है, तो वह इस क्रम का उल्लङ्घन करके भी रचना कर सकता है। वहाँ दोष नहीं समझा जायेगा। व्यतिक्रम के अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं। भवभूति के 'मालतीमाधव' में सूत्रधार स्वयं ही परिचय कराता हुआ प्रयोजन की भिन्नता का निर्देश करते हुये अपनी भिन्न २ भूमिकाओं में संस्कृत तथा प्राकृत का प्रयोग करता है। कवि शूद्रक अपने 'मृच्छकटिकम्' में अपनी व्युत्पत्ति शक्ति के द्वारा मध्यमपात्र विट से संस्कृत भाषा में बात कराते हैं। इसी प्रकार प्रबन्ध काव्यों में जो संस्कृत में ही होते हैं, विभिन्न स्तर के पात्र भी संस्कृत का ही प्रयोग करते हैं। खण्ड तथा परकथा में जो कि प्राकृत भाषा में होती हैं, उत्तमपात्र भी प्राकृत में ही वार्तालाप करते हैं। 'बृहत्कथा' में जो कि पैशाची भाषा में थी, सभी पात्र उत्कृष्टतापकृष्टता का भाव छोड़कर पैशाची का ही प्रयोग करते हैं। यह सब कवि की प्रतिभा के कारण संभव हो सका। सर्वत्र रोचकता तथा सरसता विद्यमान है।

भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में स्त्री तथा पुरुष की तीन प्रकृतियाँ तथा संकीर्ण इस प्रकार चार प्रकृतियों का उल्लेख किया है—

समासतस्तु प्रकृतिस्त्रिविधा परिकीर्तिता। स्त्रीणां च पुरुषाणां च उत्तमा मध्यमाधमाः॥ २॥
प्रेष्या चैव हि विज्ञेया संकीर्णा प्रकृतावपि॥ १४॥
नपुंसकश्च विज्ञेयः संकीर्णोऽधम एव च। शकाराश्च विटश्चैव ये चान्येऽप्येवमादयः॥ १५॥
अध्याय ३४॥

किन पात्रों को कौन सी भाषा का प्रयोग करना चाहिये, आदि विषयों का उल्लेख इसी परिच्छेद में दशरूपककार तथा विश्वनाथ के भी शब्दों में किया जा चुका है।

आचार्य भरत ने—

अतिभाषार्यभाषा च जातिभाषा तथैव च। तथा योन्यन्तरी चैव भाषा नाट्ये प्रकीर्तिताः ॥१७।२६॥

कहकर इनकी सामान्यता सिद्ध की है और विशेष अवस्थाओं में कहा है—

एषामेव तु सर्वेषां नायकानां प्रयोगतः। कारणव्यपदेशेन प्राकृतं संप्रयोजयेत् ॥ १७।३२ ॥

नातिहीनेति। हीनास्किंचिदुत्कृष्टं मध्यमादपकृष्टं नातिहीनम्। लह वप्पुलेति। लह गृहाण। वप्पुलेत्यनुकम्पासंबोधने। पिव दुग्धम्। कुतोऽस्माकं छासिपदाभिधेयं तक्रम्। पुत्तहुमत्थे इति शपथः, पुत्रस्य मस्तकेनाहं शपे यदि तक्रस्य व्यापकं दधि जन्मन्यपि जातमासीदिति व्यापकानुपलब्धिः प्रयुक्ता ॥

ननु प्राकृतादिपूत्तमादिपात्रव्यतिकरदर्शनात्कथमेषा व्यवस्था घटत इत्यत आह— प्रायिकमिति। **यत्र प्रकृतिनिर्वहणोचितविशेषाभिसंधानेन कविरन्यथा प्रवर्तते। यथा मालत्यां संस्कृतमाश्रित्य 'एषोऽस्मि भोः कार्यवशात्प्रयोगवशाच्च प्राकृतभाषी संवृत्तः' इत्यादि। यत्र वा कवेर्व्युत्पत्तिकृतो भाषाविपर्यासः शक्त्या तिरस्क्रियते। यथा मृच्छकटिके विटस्य मध्यमपात्रस्यापि संस्कृतोक्तिः। यत्र वा प्रबन्धौचितीपरवशाः संस्कृतादिजातयो विपर्यस्यन्ते। यथा सर्गबन्धादौ मध्यमादेरपि संस्कृतमेव, खण्डकथापरकथादौ उत्तमादेरपि प्राकृतमेव, बृहत्कथादौ पैशाचमेव, वस्तुबन्धादावपभ्रंश एवेति, तत्र संधिसंध्यङ्गघटनासौष्ठवेन रसः पुष्यतीति भरतमुनिप्रभृतीनामतिप्रकाश एव पन्थाः ॥**

साधारण्यादयः पुनरनन्ताः। तासु मध्यमपात्रभूमिकास्थोत्तमपात्रप्रयोज्या संस्कृतप्राकृतयोः साधारणी यथा—

'सरले साहसरागं परिहर रम्भोरु मुञ्च संरम्भम्।
विरसं विरहायासं सोढुं तव चित्तमसहं मे ॥ ७ ॥'

(२) साधारणी जाति

साधारणी आदि तो असंख्य हैं। इन असंख्यभेद में मध्यमपात्र की भूमिका में स्थित उत्तमपात्र के द्वारा प्रयोग की हुई संस्कृत तथा प्राकृत इन दोनों की साधारणी जाति का उदाहरण दिया जा रहा है। जैसे (मालतीमाधवम् के षष्ठ अङ्क में मध्यमपात्र लवङ्गिका की भूमिका में स्थित उत्तमपात्र माधव अपनी प्रेयसी से कहता है) हे सरलस्वभाव वाली, (मरणरूप) कठोर कर्म की इच्छा छोड़ो, हे कदलीस्तम्भ सदृश जघनोवाली, मरण का प्रयास छोड़ो। मेरा चित्त तुम्हारी दुःखद विरहवेदना को सहने में असमर्थ है ॥ ७ ॥

स्व० भा०—जहाँ पर एकाधिक भाषाओं के शब्द एक साथ नीरक्षीरवत् मिलकर एक सामान्य अपेक्षित रूप धारण किये रह जाते हैं, वहां साधारणी जाति होती है। इसके शब्द एक श्लोक में मिली हुई सभी भाषाओं के व्याकरण के नियमों से साधे जा सकते हैं। प्रस्तुत प्रसङ्ग में ही माधव उत्तम पुरुष होने के नाते संस्कृत का प्रयोग करता, किन्तु लवङ्गिका की भूमिका में प्राकृत का प्रयोग भी अपेक्षित था। कवि भवभूति ने अपनी निपुणता से वहां ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जो संस्कृत तथा प्राकृत दोनों कहे जा सकते हैं। पाणिनि तथा वररुचि दोनों द्वारा बनाये गये संस्कृत तथा प्राकृत के नियम लग सकते हैं। यहां साधारण्य पद का अर्थ समानता है। यहां संस्कृत तथा प्राकृत के पद नीरक्षीर की भांति एकरूप होते हैं। उनमें दुग्ध का

रङ्ग तथा जल का द्रवत्व दोनों है। रुद्रट आदि आलंकारिकों ने इसे भाषा-श्लेष का नाम दिया है जिनका उदाहरण भट्टिकाव्य जैसे ग्रन्थों में प्रचुर रूप से मिलता है।

साधारणी के भेदों की असंख्यता आधिक्य का बोधक है। संस्कृत, प्राकृत, शौरसेनी, पैशाची, मागधी और अपभ्रंश में संस्कृत से शेष पांचों में एक-एक के साथ साधारण्य करने से पांच भेद होते हैं, प्राकृत से शेष में से एक-एक के साथ साधारण्य करने से चार भेद, शौरसेनी से प्रारम्भ करने पर तीन, पैशाची से दो तथा मागधी से एक, इस प्रकार सब मिलाकर पन्द्रह भेद हुए। इनमें एक तथा द्विविकल्प दोनों का समावेश हो जाता है जिनमें संस्कृत के साथ होने वाले प्रथम तथा प्राकृत आदि के साथ होने वाले द्वितीय कोटि में आते हैं। तीन-तीन भाषाओं का योग होने पर बीस भेद होते है। वैसे—१ सं. प्रा. मा, २. सं प्रा. पै., ३. सं. प्रा. शौ, ४ सं. प्रा. अ. ५. प्रा. मा. पै. ६, प्रा. मा. शौ. ७, प्रा. मा. अ. ८. मा. पै. शौ. ९ मा. पै. अ. १०. पै. शौ. अ, ११. सं. मा. पै. १९. सं. मा. शौ., १३. सं. मा. अ., १४. प्रा. पै. शौ., १५. प्रा. पै. अ. १६. प्रा. शौ. अ. १७. सं पै. शौ., १८. सं. पै. अ., १९, प्रा. शौ. अ., २०. सं. शौ. अ.॥ चार-चार का योग होने पर पन्द्रहभेद पुनः होंगे। जैसे—१-सं. प्रा. मा. पै. २. सं. प्रा. मा. शौ., ३. सं. प्रा. मा. अ., ४. प्रा. मा. पै. शौ, ५. प्रा. मा. पै.अ., ६. मा. पै. शौ. अ., ७. सं. मा. पै. शौ., ८. सं. मा. पै. अ., ९. सं. पै. शौ. अ., १०. प्रा. पै. शौ. अ., ११ सं प्रा शौ. अ., १२. सं. मा.शौ अ., १३. सं. प्रा. पै. शौ, १४. सं प्रा. पै अ, १५ प्रा. मा, शौ. अ.॥ पांच-पांच भाषाओं का योग होने पर छः भेद होगे। जैसे—१. सं प्रा. मा. पै. शौ, २. सं. प्रा. मा. पै, अ., ३. सं. मा. पै. शौ. अ, ४, सं. प्रा० पै० शौ० अ०, ५. सं० प्रा० मा० शौ० अ०, ३. प्रा० मा० पै० शौ० अ॥ इसी प्रकार छः का योग होने पर केवल एक भेद होगा। इद रूपों में सब मिलाकर (५+१०+२०+१५+६+१=५७) सत्तावन भेद हुये। इनका मिश्रा आदि के साथ और भी उपभेद हो सकता है, किन्तु यहाँ मात्र दिशा का दर्शन कराया जा रहा है।

शाधारण्येति। **संस्कृतस्य प्राकृतादिसाधारण्ये पञ्च प्रकाराः, प्राकृतस्य शौरसेन्यादिसाधारणे चत्वारः, शौरसेन्याः पैशाच्यादिसाधारण्ये त्रयः, पैशाच्या मागध्यादिसाधारण्ये द्वौ, मागध्या अपभ्रंशसाधारण्ये एक इति। द्विविकल्पे पञ्चदश प्रभेदाः, त्रिविकल्पे विंशतिः, चतुर्विकल्पे पञ्चदश, पञ्चविकल्पे षट्, षड्विकल्पे एकः, इति सर्वमिलने सप्तपञ्चाशत्प्रकारा साधारणी। एवं मिश्रादावपि लोष्टप्रस्तावक्रमेण बहवो भेदा इति तावदुदाहरणे ग्रन्थगौरवं स्यादिति दिङ्मात्रमुदाहरति**—तास्विति। संभिन्नसंस्कारा भाषाप्रयोगे हि प्रयोक्तृप्रकृतिसंभेदे भवति। न च प्रकृतिसंभेदस्तास्विकः स्वभावसंकरप्रसङ्गात्। अत उक्तं मध्यमपात्रभूमिकास्थेति। भूमिका वर्णिका। मध्यमपात्रप्रकृत्युचितो रागाद्यभिनयस्तत्र तिष्ठति तत्परिग्रहेण त्रिचतुर(?)गवत्सामाजिकानां सम्यङ्मिथ्यासंशयसादृश्यप्रतीतिविलक्षणप्रतिपत्तिपदवीमवतरतीति मध्यमपात्रभूमिकास्थम्, उपलक्षणं चेदम्। उत्तमभूमिकास्थमध्यमप्रयोज्यापीयमेव। एवमुत्तरत्र। तव विरहायासं सोढुं मम चित्तमसहमिति योजना॥

नात्युत्तमभूमिकास्थोत्तमपात्रप्रयोज्या संस्कृतपैशाची साधारणी यथा—

'चम्पककलिकाकोमलकान्तिकलापाथ दीपितानङ्गो।
इच्छति गजपतिगमना चपलायतलोचना लपितुम्॥ ८॥'

एवं संस्कृतापभ्रंशादिसाधारण्यः प्राकृतादिभाषान्तरसाधारण्यश्च दृष्टव्याः॥

नात्युत्तमभूमिका में स्थित उत्तमपात्र के द्वारा प्रयोज्य संस्कृत तथा पैशाची का भी साधारण्य होता है।

जैसे—चम्पा की कली की भांति मनोरम छटाओं से संयुक्त, चमकती हुई, गजराज के सदृश मस्त चाल वाली, चञ्चल और विशाल नयनों वाली कामोन्मत्ता प्रेयसी बोलना चाहती है ॥ ८ ॥

इसी प्रकार संस्कृत तथा अपभ्रंश आदि का साधारण्य और प्राकृत आदि तथा अन्य भाषाओं का भी साधारण्य देखना चाहिए ।

स्व० भा०—यहां श्लोक में संस्कृत तथा पैशाची का साधारण्य हैं । यह श्लोक रुद्रट के काव्यालंकार में भी उद्धृत है, किन्तु वहां पाठान्तर हैं । उसके अनुसार श्लोक यों है—

चम्पककलिकाकोमलकान्तिकपोलाथ दीपितानङ्गी ।
इच्छति गजपतिगमना चपलायतलोचना लपितुम् ॥ ४।१९ ॥

भोज द्वारा उद्धृत श्लोक की अपेक्षा यह पाठ अर्थ की दृष्टि से अधिक मनोरम है । वस्तुतः उत्तमपात्र होने के कारण संस्कृत तथा नात्युत्तमभूमिका होने से पैशाची का प्रयोग होना था, किन्तु कवि ने अपनी प्रतिभा से दोनों का समन्वय एक साथ कर दिया है । रुद्रट ने अपने काव्यालंकार में कई भाषागत साधारण्यों के ऐसे भी उदाहरण दिये हैं जो संस्कृत में भी हैं और उनको प्राकृत आदि जैसा भी पढ़कर पुनः संस्कृत छाया भी दी जा सकती है । (द्रष्टव्य चतुर्थ अध्याय, काव्यालंकार)

नात्युत्तमेति । **अनङ्गस्येयमानङ्गी ॥**

(३) मिश्रा जाति

वक्तृविषयौचित्यादिप्रयोज्या मिश्रा यथा—

'जयति जनताभिवाञ्छितफलप्रदः कल्पपादपो गिरिशः ।
जअइ अ तमञ्झिअन्ती गिरितनया पणइकप्पलआ ॥ ६ ॥'
[जयति च तमालीयमाना गिरितनया प्रणयिकल्पलता ।]
एवं भाषान्तराणामपि मिश्रीभावो द्रष्टव्यः ॥

वक्ता और विषय के औचित्यादि से प्रयुक्त होने पर मिश्रा जाति होती है । उसका उदाहरण ऐसे हैं ।

जैसे—लोगों को अभीष्ट फल देने वाले कल्पवृक्ष भगवान् शङ्कर सर्वोत्कृष्ट हैं और उन्हीं में लीन हो रही—सिमटी हुई-सी, प्रेमियों के लिये कल्पलता भगवती गौरी भी सर्वोत्कृष्ट ही हैं ॥९॥

इसी प्रकार अन्य भाषाओं का भी मिश्रितरूप देखना चाहिए ।

स्व० भा०—यहां पर उदाहृत श्लोक का पूर्वार्ध संस्कृत में तथा उत्तरार्ध प्राकृत में है । अतः दो भाषाओं का मिश्रण हो जाने से यहां मिश्रा जाति है । साधारणी तथा मिश्रा जातियों में अन्तर यही है कि प्रथम में एकाधिक भाषाओं का मिश्रण नीरक्षीरवत् हो जाता है, दोनों का अथवा सबका समन्वय एक ही रूप में हो जाता है । जब कि इसमें भाषायें नृसिंहन्यायवत् आती हैं अर्थात् नृसिंह की भांति पूर्वार्ध दूसरा तथा उत्तरार्ध दूसरा ही होता है । इनकी भाषायें स्पष्ट रूप में पृथक् होती हैं ।

इस प्रकार की परिस्थिति प्रायः उत्तम आदि विभिन्न वक्ताओं द्वारा एक ही समस्या की पूर्ति करते समय, भिन्न-भिन्न भाषाओं द्वारा वर्णनोचित विषय का एक साथ उपक्रम करने पर अथवा अपनी कवित्व-शक्ति के प्रदर्शन के लिए कवि ही अनेक भाषाओं का प्रयोग करने लगता है तभी यह मिश्रता भी अलंकार की कोटि में आ जाती है ।

वक्तृविषयेति । **यदोत्तमादिषु नानावक्तृभिरेका काव्यसमस्या क्रियते, भिन्नभाषोचित-**

वर्णनीयविषयं वा काव्यमेकमुपक्रम्यते, यदा वा शक्तिनिरूपणाय कवेरेव नानाभाषामयं काव्यमारब्धं स्यात्, तदा कथं नालंकारपदवीमध्यास्ते। अत आह—मिश्रेति। तमश्चि-अन्ती तमालीयमाना॥

(४) संकीर्णा जाति

दुर्विदग्धादिपात्रप्रयोज्या संकीर्णा यथा—

'अकटगुमटी चन्द्रज्योत्स्ना कलं किल कोइलो
लवइ अ मुहुर्याम्यो वायुर्निवाअर वाइ अ।
अवि सखि अला रक्ताशोकस्तवापि मनोमुदे
न कज न कजं मानेनाद्य प्रियं प्रतिजाहुदा॥ १०॥'

सोऽयं संस्कृतमहाराष्ट्रापभ्रंशयोगस्तिलतण्डुलवत्संकीर्णा जातिः। एवं प्राकृतापभ्रंशसंकरोऽपि द्रष्टव्यः॥

दुर्विदग्ध आदि पात्रों के द्वारा प्रयुक्त होने वाली संकीर्णा जाति का उदाहरण—अद्भुत सौन्दर्यमयी यह चन्द्रिका है, कोयल भी कर्णप्रिय ध्वनियां कर रही हैं, उस पर भी यह दक्षिण दिशा का निर्बन्धक पवन भी बह रहा हैं। हे सखि, तुम्हारे मन को प्रसन्न करने के लिए ('मनोनुदे' पाठ होने पर मनको प्रेरित अथवा व्याकुल करने के लिए) रक्त अशोक भी आ गया है। आज (ऐसी उद्दीपनों की राशि रहने पर तो) मान नहीं करना चाहिये, अरे मान का क्या प्रयोजन ? अतः हम तो प्रियतमों के पास जा रही हैं॥ १०॥

यहाँ संस्कृत महाराष्ट्री तथा अपभ्रंश भाषाओं का योग लितण्डुलवत् होने से संकीर्ण जाति है। इसी प्रकार प्राकृत और अपभ्रंश का भी संकर देखना चाहिए।

स्व० भा०—जहाँ पर एकाधिक भाषायें परस्पर तिलतण्डुल के समान मिली होती हैं वहाँ संकीर्णा जाति होती है। साधारणी में भाषाओं का मेल नीरक्षीरवत्, मिश्रा में नृसिंहवत् तथा इसमें तिलतण्डुलवत् होता। अर्थात् इसमें न तो सभी भाषाओं का एक ही रूप होता हैं, न मिश्रा की भांति छन्दों के पूर्वार्ध का रूप ही भिन्न होता है, अपितु इसमें तो विभिन्न भाषाओं के पद छन्द में इस ढङ्ग से एक साथ रखे जाते हैं कि स्पष्टतः यह झलक मिल जाती है कि कौन सी भाषा के ये शब्द हैं। कहीं संस्कृत, कहीं प्राकृत, कहीं अपभ्रंश, कहीं शौरसेनी आदि भाषाओं के पद जहाँ तहाँ चमकते रहते हैं।

यहाँ उदाहृत श्लोक में ही 'चन्द्रज्योत्स्ना' 'कलम्', 'याम्यः', 'वायुः' आदि पद संस्कृत के 'अकटगुमटी', 'कोइलो',, 'लवइ' आदि पद महाराष्ट्री देशी के तथा 'न कज न कजं',, 'जाहुदा' आदि अपभ्रंश के पद स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर हो रहे हैं।

इनका इस प्रकार का प्रयोग तब होता है जब कोई नागरभाव को प्राप्त व्यक्ति नागर की भूमिका में रहे, अथवा समस्यापूर्ति आदि के पूर्ववर्णित प्रसङ्ग उपस्थित हो जायें। ये उदाहरण मात्र निदर्शन के रूप में है। इसी प्रकार के प्रयोग और भी हो सकते हैं।

दुर्विदग्धादीति। नागरकभावमवाप्तस्तद्भूमिकामवलम्बमानो दुर्विदग्धः। आदिपदात्पूर्वोक्ताः समस्यादयः। अकटमाश्चर्यम्। गुमटी मनोज्ञा। आस्फालितखड्गस्येव स्फुरणे लवइ इति महाराष्ट्रदेशी। तथा च प्रयोगः—'लवइ अ विज्जूमणोहरी' इत्याराध्याः। अन्ये तु लपतीत्यर्थमाहुः। एवं च कलशब्दः पुष्यतीति। याम्यो दक्षिणः। निवाअर निर्बन्धको वारकशून्यो वा इदावारक इति। अला आगतः। यदिह मानो न क्रियेत ज्योत्स्ना-

दयो मनोमुदमेवाधास्यन्तीति प्ररोचना। यदा तु 'मनोनुदे' इति पाठोऽपिशब्देन नायकसाधारणमुत्कण्ठाकारित्वमुक्तं चन्द्रज्योत्स्नादीनामिति। अतो नकजनकजन्नार्थो नार्थ ईर्ष्यारोषलक्षणेन प्रतिकूलभावावलम्बिना मानेन तस्मात्प्रियमेव प्रतिजाहुदा यामः, यदा-मनन्ति स्वयं वा तत्र गमनमिति॥

(५) अनन्यगामिनी असाधारणी जाति

क्रीडागोष्ठीविनोदाद्यर्थानन्यगामिन्यसाधारणी यथा—

'भीष्मप्रोक्तानि वाक्यानि विद्वद्वक्त्रेषु शेरते।
गोसे तविच्छिरिञ्छोली तल्लं तूहे विवल्लिदा॥ ११॥'

अत्र पूर्वार्धपदानि संस्कृत एव, उत्तरार्धपदानि प्राकृत एव। सेयमसाधारण्यनन्यगामिनी च जातिरुच्यते। भाषान्तराणां पुनरसाधारण्यं नास्ति॥

(साहित्यिक) खिलवाड़, काव्यसमस्या, गोष्ठी आदि में कौतूहल के लिए अथवा समय व्यतीत करने के लिए (इसी प्रकार) अन्य प्रयोजनों की सिद्धि के लिए अनन्यगामिनी साधारणी जाति होती है। उसका उदाहरण है।

जैसे—भीष्म द्वारा कहे गए वाक्य विद्वानों के मुख में अत्यन्त सुशोभित होते हैं जिस प्रकार कि प्रातःकाल पवित्र तालाब में कमलों की परागपंक्ति फैली हुई सुशोभित होती है॥ ११॥

यहां पूर्वार्ध के पद संस्कृत में ही तथा उत्तरार्ध के पद प्राकृत में ही होते हैं। यह साधारणी जाति से भिन्न अनन्यगामिनी जाति कही जाती है। दूसरी भाषाओं में असामान्यता नहीं रहती।

स्व० भा०—यह श्लोक अनन्यगामिनी का उदाहरण है। अनन्यगामिनी में पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध में क्रमशः संस्कृत तथा प्राकृत के ही पद होते हैं, यह प्रतिबन्ध है। इससे दोनों खण्डों की पृथकता तथा स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध होता है। अन्य भाषाओं का प्रयोग होने पर उनके पदों के परस्पर मिल जाने की सम्भावना रहती है। यहां पार्थक्य विवक्षित होता है जिससे दो अत्यन्त भिन्न भाषाओं का मेल होता है। इसको अनन्यगामिनी कहते भी इसीलिए हैं क्योंकि यह संस्कृत तथा प्राकृत से ही क्रमशः पूर्वार्ध और उत्तरार्ध के प्रयोग में रहती है और इसके पद परस्पर मिलते नहीं। इसे असाधारणी इसलिए कहते हैं क्योंकि भाषा के पदों में असमानता होती है। साधारणी जाति में निर्दिष्ट भाषायें अपने व्याकरण के अनुसार होती हैं, उनमें संस्कार सम्भव होता है, किन्तु अनन्यगामिनी के पद उत्तरार्ध में देशी होते हैं। व्याकरणहीन होने से ही व्युत्पत्ति आदि का अभाव होने से इनका देशी नाम चरितार्थ होता है। प्रस्तुत उदाहरण में ही पूर्वार्ध संस्कृत में है और उत्तरार्ध प्राकृत के देशी में। मिश्रा में पौर्वापर्य का क्रम नहीं होता है तथा उनमें अन्य भाषाओं का भी समन्वय सम्भव है।

क्रीडेति। काव्यसमस्या क्रीडा, उक्तपूर्वा गोष्ठी, तत्र विनोदो मनोनुकूलेन समयातिवाहनम्। आदिपदं पूर्ववत्। ननु मा भूत्प्रकृतिभावेन भाषान्तरसंभेदः संस्कारसंपाते तु भविष्यति, तथा च कथं साधारणीतो भिद्यत इत्यत आह—असाधारणी चेति। गोसे प्रभाते, तविच्छिरिञ्छोली कमलरजःपङ्क्तिः। तल्लमल्पसरः। तूहं तीर्थम्। विवल्लिदा प्रसारिता। नात्र पूर्वोत्तरार्धयोरेकमत्यमुदाहरणत्वात्। आराध्यास्तु यथा सरस्तीरे कमलरजःपङ्क्तिः प्रसृता शोभते तथा विद्वद्वक्त्रेषु भीष्मवाक्यानीत्युपमाकल्पनया कथंचिदेकवाक्यतामाहुः। अत्र पूर्वार्धपदानीति। न भीष्मादयोऽनभिधानादिति भाषान्तरस्थानि-

भावस्य प्रतिषेधात्। एवं वाचस्पतिविशिष्टरसवशप्रचेतसपोतादयो द्रष्टव्याः। प्राकृत एवेति। महाराष्ट्रदेशीयत्वाद्देशीपदानां च स्थानिभावासंभवात्। भाषान्तराणां पुनरिति। सिद्धिर्महाराष्ट्रीतः, सिद्धिः शौरसेनीतः, इत्युपक्रम्यानुशासनात्तद्भवरूपतैव स्फुटा। तत्समानां तु साधारण्यमेवेति॥

(६) अपभ्रष्टा जाति

अपभ्रष्टा यथा—

'मुद्धे गहणअं गेण्हउ तं धरि मुद्दं णिए हत्थे।
णिच्छउ सुन्दरि तुह उवरि मम सुरअप्पहा अत्थि॥ १२॥'

[मुग्ध ग्रहणकं गृहाण त्वं धारय मुद्रां निजे हस्ते।
निश्चयः सुन्दरि तवोपरि मम सुरतस्पृहास्ति॥]

सेयमपशब्दप्रयोगतोऽपभ्रष्टाप्यविद्वद्भिः श्रोत्रियाद्यैः प्रयुज्यत इत्यपभ्रष्टा जातिः। अस्या अपि चानुकरणे साधुत्वमिष्यते॥

अपभ्रष्टा का उदाहरण—

हे सुन्दरि, अपना रतमूल्य ले लो। इस अँगूठी को अपने हाथ में धारण करो। हे रूपसी, निश्चित ही तुमसे मेरी रमण की अभिलाषा है॥ १२॥

यहां अपशब्दों का प्रयोग होने से अपभ्रष्ट होने पर भी गँवारों द्वारा, वैदिकों द्वारा (इसी प्रकार) अन्यों के द्वारा भी प्रयोग में लाई जाने वाली अपभ्रष्टा जाति होती है। इसका भी अनुकरण करने पर साधुत्व सिद्ध होता है।

स्व० भा०—अविद्वान् लोग अपनी बुद्धिहीनता के कारण, वैदिक लोक वेदों में जहां तहां ऐसे शब्दों के आने के कारण, बालक लोग अज्ञान आदि के कारण इसी प्रकार अन्य लोग भी अपभ्रष्ट भाषा का प्रयोग करते हैं जिससे अश्लीलत्व आदि दोष आ जाते है। ऐसी दशाओं में होने वाले प्रयोगों को अपभ्रष्ट कहते हैं। उदाहृत श्लोक में ही 'रतमूल्य', 'सुरतस्पृहा' आदि का प्रयोग पदों की अपभ्रष्टता ही सूचित करता है। अतः यहां अपभ्रष्टता भाषा तया कथन रीति दोनों कारणों से है। वस्तुतः दोष होने से ऐसे प्रसङ्गों को अलंकार नहीं कहना चाहिए तथापि अनुकरण की अवस्था में ये दोष नहीं रह जाते।

अपभ्रष्टेति। अत्र तवोपरि सुरतस्पृहास्तीत्यादिकापशब्दबहुलत्वेनापभ्रष्टा स्पष्टैव। सा तु कथमलंकार इत्यत आह—सेयमिति। श्रोत्रियश्छान्दसः। आद्यपदेन बालादयः। सर्व एव हि लौकिकः पदार्थोऽभिनयकक्षामधिरूढः परित्यज्य ग्राम्यमभिमुखीभूतो विभावादिषु कथं नालंकारस्तदिदमुक्तं प्रयोगत इति। न चापशब्दानां दोषत्वमेवेति वाक्यम्। अनुकरणे तु सर्वेषामिति दोषसामान्यावलम्बिना गुणीभावेनास्य विषयीकृतत्वादिति॥

(ख) गति अलंकार

नानावच्छिन्नजातिः काव्यशरीरे निविशत इति तदवच्छेदरूपां गतिमनन्तरं लक्षयति—

पद्यं गद्यं च मिश्रं च काव्यं यत्सा गतिः स्मृता।
अर्थौचित्यादिभिः सापि वाग्लंकार इष्यते॥ १८॥

पद्य, गद्य तथा मिश्र (भेदात्मक जो) काव्य है (उसमें एक पद से दूसरे पद तक होनेवाली

पढ़ाई) को गति के नाम से याद किया जाता है। यह गति भी अर्थौचित्य आदि के द्वारा शब्दालंकार के रूप में अभीष्ट है ॥ १८ ॥

स्व० भा०—छन्द के नियमों से संयुक्त रचना को पद्य तथा छन्द सम्बन्धी यति, मात्रा आदि के नियमों से रहित रचना को गद्य कहते हैं। जहां गद्य तथा पद्य दोनों पूर्व अथवा उत्तर क्रम से, न कि एक ही वाक्य में, आते हैं उसको मिश्र कहते हैं। वर्णनीय विषयों के औचित्य के आधार पर इनका विभाजन होता है। इसको अलंकार इसलिए कहते हैं क्योंकि इसके कारण विषय पर असर पड़ता है।

अन्य आलंकारिकों ने भी इन तीनों भेदों को स्वीकार किया है, किन्तु गतिनाम का अलंकार नहीं माना है। दण्डी ने इसे काव्य का तीन प्रकार का भेद स्वीकार किया है।

गद्यं पद्य च तत् त्रिधैव व्यवस्थितम् ॥ काव्यादर्श १।१४ ॥

पद्यमिति। **पठितेः पदात्पदान्तसंचारो गतिः। सा केनचिदौचित्योपनिपातिना संदर्भपरिमाणेन नियम्यते। ततस्तदप्युपचारेण गतिः। पठितिपरिमाणं च काव्यं समाश्रयत इति तदपि गतिस्तच्च पद्यादिभेदेन त्रिविधमिति संक्षेपः। अत एव गद्यबन्धे तु कैश्चिद्वृत्तमाश्रितं वृत्तं वर्तनमियत्तेति यावदिति। सर्वनामशब्दा हि कदाचिदुद्देश्यस्य लिङ्गमाश्रयन्ते कदाचित्प्रतिनिर्देश्यस्येति काव्ये यत्सा गतिरित्युक्तम्। तत्र पद्यं चतुष्पदीति न लक्षणमुल्लालमात्रादौ द्विपदपञ्चपदादिशरीरे तदभावात्। 'अपादः पदसंतानो गद्यमित्यपि न। अपादत्वं ह्यप्रत्यभिज्ञायमानवृत्तभागत्वं, विवक्षातश्चतुष्पदीव्यतिरिक्तत्वं वा। आद्ये वृत्तिगन्धिपद्यं न स्यात्। द्वितीये त्वतिप्रसङ्गः। तस्माच्छन्दोनियमवती काव्यम्, अतथाभूता तु गद्यमिति विभागः। गद्यपद्यात्मकं काव्यं मिश्रम्। तदस्या गतेरलंकारत्वमुपपादयति—अर्थौचित्यादिभिरिति ॥**

तत्रार्थौचितीमाह—

कश्चिद्गद्येन पद्येन कश्चिन्मिश्रेण शक्यते।
कवितुं कश्चन द्वाभ्यां काव्येऽर्थः कश्चन त्रिभिः ॥ १९ ॥

वामन ने केवल दो प्रकार गद्य तथा पद्य माना था। उनके अनुसार "काव्यं गद्यं पद्यं च" (१।३।१।२) वाग्भट ने विभाजन करते समय परिभाषा भी दे दी है—

छन्दोनिबद्धमच्छन्द इति तद्वाङ्मयं द्विधा।
पद्यमाद्यं तदन्यच्च गद्यं मिश्रं च तद्द्वयम् ॥ वाग्भटालंकार २।४ ॥

कोई गद्य द्वारा, कोई पद्य द्वारा तथा कोई दोनों के मिश्रण से काव्य का विषय बन पाता है। कोई-कोई वर्ण्य विषय तो काव्य में दो-दो के द्वारा और कोई तीनों के द्वारा कवित्वमय बनाया जाता है ॥ १९ ॥

स्व० भा०—भोजराज के मतानुसार कुछ विषय ऐसे हैं जिनका गद्यात्मक वर्णन ही उचित होता है और कुछ का पद्यात्मक ही। कुछ विषय ऐसे अवश्य होते हैं जिनका वर्णन दोनों के मिश्रित रूप से होना अच्छा रहता है अर्थात् कुछ अंश गद्य में हो और कुछ पद्य में। कुछ ऐसे भी हैं जिनका निरूपण गद्य तथा पद्य दोनों से पृथक्-पृथक् भी हो सकता है और कुछ तो ऐसे हैं जिनका निरूपण तीनों प्रकार से हो सकता है। उदाहरणार्थ घनघोर वन का वर्णन गद्य में ही उचित होता है। वह पद्य में उतना सुन्दर वर्णित नहीं हो सकता। बाणभट्ट का विन्ध्याटवीवर्णन इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। इसी प्रकार अत्यन्त सरस प्रसङ्गों में तथा काव्यशास्त्रता के निर्वाह

में पद्य गद्य की अपेक्षा अधिक सक्षम होगा। कथा तथा आख्यायिका गद्य में और चम्पू आदि मिश्र के लिए उचित है।

कश्चिद्वचेनेति। **यथा झटवीवर्णनादौ गद्यं प्रगल्भते तथा न पद्यम्, यथा च काव्यशास्त्रानिर्वहणोचितेऽर्थे पद्यमुत्सहते न तथा गद्यमित्यादि। एवं कथाख्यायिकादौ गद्यमेव, चम्पूप्रभृतौ मिश्रमेवेत्यादिपदोपात्तबन्धौचिती द्रष्टव्या॥**

आस्तां तावदर्थाद्यौचित्यगवेषणं स्वरूपेणैव पद्यादिकं परिस्फुरत्कविप्रतिभाविशेषावेदनेन सहृदयावर्जकमवसीयते। कथमन्यथा क्वचिदेव कस्यचित्सौष्ठवमित्याह—

यादृग्गद्यविधौ बाणः पद्यबन्धेऽपि तादृशः।
गत्यां गत्यामियं देवी विचित्रा हि सरस्वती॥ २०॥

बाण जितने सक्षम गद्यरचना में हैं उतने ही पद्यरचना में भी। ("पद्यबन्धे न तादृश" पाठ होने पर अर्थ होगा—"उतना पद्यरचना में नहीं।") यह देवी सरस्वती तो प्रत्येक गति पद्य, गद्य तथा मिश्र में विचित्र ही प्रकार की होती है। अर्थात् प्रत्येक गतिभेद में वाणी का स्वरूप भिन्न-भिन्न हुआ करता है॥ २०॥

स्व० भा०—यहां कहने का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक गति में स्वरूपभिन्नता होती है। जो कवि एक प्रकार में पूर्ण सफल हैं, वह दूसरे में भी वैसा ही हो ऐसा निश्चित नहीं है। कुछ ही भाग्यशाली प्राक्तन संस्कार समन्वित कवि ऐसी क्षमता से संयुक्त होते हैं जो सभी गतिभेदों में समानरूप से दक्ष हों। किन्तु यह क्षमता बड़ी मुश्किल से कुछ ही कवियों में आ पाती है।

यादृगिति। **गत्यां गत्यामिति। पद्ये गद्ये मिश्रे चेत्यर्थः। विचित्रा अव्यवस्थितसिद्धिका॥**

प्रयोगव्यवस्थामुपपादयति—

यथामति यथाशक्ति यथौचित्यं यथारुचि।
कवेः पात्रस्य चैतस्याः प्रयोग उपपद्यते॥ २१॥

इस गति का प्रयोग कवि तथा पात्र की व्युत्पत्ति, प्रतिभा, औचित्य तथा रुचि के अनुसार होने पर अधिक उत्कृष्ट हो जाता है॥ २१॥

स्व० भा०—गति में उत्कृष्टता तब आती है जब कवि में व्युत्पत्ति प्रचुर होती हैं। कवि की प्रतिभा के कारण भी इसमें निखार आता है। इनके अतिरिक्त पात्र के अनुकूल गति होने पर उत्कृष्टता और भी बढ़ जाती है। कवि तथा पात्र दोनों की रुचि में समता होने पर भी गति उत्कृष्ट हो जाती है। उपर्युक्त छन्द में गति तथा शक्ति कवि के लिये, औचित्य पात्र के लिए तथा रुचि दोनों के लिए प्रयुक्त है।

यथामतीति। **मतिर्व्युत्पत्तिः। युक्तायुक्तविवेक इति यावत्। शक्तिः कवित्वबीजभूतः प्राक्तनः संस्कारः। औचित्यं दर्शितमेव। रुचिर्मनोनुकूलताप्रतिसंधानम्। कवेः पात्रस्येति यथायोगम्। तथा हि शक्तिव्युत्पत्ती कवेरेव। औचित्यं पात्रस्यैव। रुचिरुभयोरपीति॥**

गति के भेद

स चायं संदर्भावच्छेदो गुरुलघुसंनिवेशेनैव शोभत इति तमाश्रित्य विभागमाह—

द्रुता विलम्बिता मध्या साथ द्रुतविलम्बिता।
द्रुतमध्या च विज्ञेया तथा मध्यविलम्बिता॥ २२॥

यह गति द्रुता, विलम्बिता, मध्या, द्रुतविलम्बिता, द्रुतमध्या तथा मध्यविलम्बिता के (रूप में) समझी जानी चाहिये ॥ २२ ॥

द्रुतेति । **आद्यास्तिस्रः शुद्धाः । आसामेव मिथोव्यतिकरेणोत्तरास्तिस्रः संकीर्णाः ॥ कथमेषां व्यवस्थेत्यत आह—**

सा लघूनां गुरूणां च बाहुल्याल्पत्वमिश्रणैः ।
पद्ये गद्ये च मिश्रे च षट्प्रकारोपजायते ॥ २३ ॥

यह गति लघु तथा गुरु के बहुल तथा अल्पमिश्रणों से पद्य, गद्य तथा मिश्र में छः प्रकार की हो जाया करती है ॥ २३ ॥

स्व भा०—यहां गति के प्रकार निरूपित किये गये हैं । गति के भेदोपभेद गुरु तथा लघु वर्णों के सन्निवेश से बनते हैं । तत्काल लघु के बाद गुरु के निवेश का क्रम स्थापित रखने पर गति में तीव्रता आ जाती है जब कि अनेक गुरु तथा लघु भिन्न गति का निर्माण करते हैं ।

इन छः भेदों में प्रथम तीन शुद्ध भेद हैं तथा शेष तीन इन्हीं के संयोग से बने हैं । यहां एक तथ्य और सामने आता है कि गद्य, पद्य आदि गति के भेद नहीं हैं, अपितु इन पर आधारित पढ़ने का क्रम गति है और उसके अनुसार भेदोपभेद का निरूपण होता है ।

सा लघूनामिति । **बाहुल्यमल्पत्वं मिश्रणं च तुल्यवत्प्रतिभानम् । न गद्यादिकमेव गतिः किंतु तदाधारः पठितिसंचार इति व्यनक्ति—पद्ये गद्ये च मिश्रे चेति ॥**

पद्य के भेद

तत्र वृत्तं च जातिं च पद्यमाहुरथो पृथक् ।
समं चार्धसमं चैतद्विषमं च प्रचक्षते ॥ २४ ॥

इसमें अलग से पद्य को वृत्त तथा जाति (दो प्रकार का) कहा गया है । इसे भी सम, अर्धसम तथा विषम (तीन प्रकार का) कहा जाता है ॥ १४ ॥

स्व० भा०—पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि जिस रचना में यति, मात्रा, लय आदि पर ध्यान दिया जाता है जिसमें इनकी अपेक्षा होती है, उसे पद्य कहते हैं । पद्यों में भी कुछ वार्णिक होते हैं और कुछ मात्रिक । जिसमें यति आदि वर्णों के आधार पर होती है, जिसमें किसी कार्य में वर्णों को गिना जाता है, उसे वार्णिक वृत्त कहते हैं । संस्कृत के अधिकांश छन्द स्रग्धरा, इन्द्रवज्रा, आदि वृत्त ही हैं । जिनमें मात्राओं के अनुसार यति आदि होती है उसे मात्रिक या जाति कहते हैं जैसे अनुष्टुप् , आर्या आदि । इनमें भी समवृत्त वे हैं जिनके प्रत्येक चरण में एक ही यति आदि का क्रम लगता है । जैसे स्रग्धरा आदि छन्द । अर्धसम में प्रथम तथा तृतीय और द्वितीय तथा चतुर्थ चरणो में रूपात्मक समानता होती है । जैसे पुष्पिताग्रा छन्द । विषम में चारों चरणों में गति, यति आदि असमान होते हैं जैसे वैतालीय में ।

काव्य का गद्यपद्यात्मक भेद और पुनः उनका उपभेद संस्कृत के आलंकारिकों में बहुत समय से चला आ रहा है । पद्य के विषय में दण्डी ने लिखा था—

"पद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्तं जातिरिति द्विधा" १।१४ ॥

छन्दोमञ्जरी का रचयिता भी दण्डी से प्रभावित लगता है । उनके अनुसार भी—

"पद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्तं जातिरिति द्विधा । वृत्तमक्षरसंख्यातं जातिर्मात्राकृता भवेत् ॥ ११ ॥

दण्डीने पद्य के भेद 'मुक्तक', 'कुलक', कोष', 'संघात' आदि रूपों में किया है—

मुक्तकं कुलकं कोषं सङ्घात इति तादृशः । सर्गबन्धांशरूपत्वादनुक्तः पद्यविस्तरः ॥
काव्या० १।१३ ॥

वामन ने "पद्यमनेकभेदम्" १।३।२६ ॥ कहकर व्याख्या दी है—"पद्यं खल्वनेकेन समार्धसमविषमादिना भेदेन भिन्नं भवति" (वहीं)। इससे स्पष्ट है कि भोज के पूर्व इस प्रकार के विभाजन की परम्परा थी।

आचार्य भामह ने कई आधारों पर होने वाले भेदोपभेदों का निरूपण एक साथ ही किया है। उन्होंने छन्दआत्मकता के आधार पर गद्य तथा पद्य, भाषा के आधार पर संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश, विषय के आधार पर ख्यातवृत्त, कल्पितवस्तु, कलाश्रित तथा शास्त्राश्रित, स्वरूपविधान के आधार पर महाकाव्य, रूपक, आख्यायिका, कथा तथा मुक्तक भेद किये हैं। उन्हीं के शब्दों में—

शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद्द्विधा । संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा ॥
वृत्तं देवादिचरितशंसि चोत्पाद्यवस्तु च । कलाशास्त्राश्रयं चेति चतुर्धा भिद्यते पुनः ॥
सर्गबन्धोऽभिनेयार्थं तथैवाख्यायिकाकथे । अनिबद्धं च काव्यादि तत्पुनः पञ्चधोच्यते ॥

विश्वनाथ ने ध्वनिभेदों का निरूपण करने के पश्चात् पुनः इन्द्रियों की ग्रहणीयता के आधार पर ये भेद किये हैं।

दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम् । दृश्यं श्रोतव्यमात्रं तत्पद्यगद्यमयं द्विधा ॥
छन्दोबद्धपदं पद्यं तेन मुक्तेन मुक्तकम् । द्वाभ्यां तु युग्मकं सांदानितकं त्रिभिरिष्यते ॥
कलापकं चतुर्भिश्च पञ्चभिः कुलकं मतम् । सर्गबन्धो महाकाव्यम्·····॥ सा०द०६।३।१५॥

तत्रेति । **वर्णनियतं छन्दोवृत्तम् । मात्रानियतं जातिः । समप्रस्तावं समम् । प्रथमतृतीययोर्द्वितीयचतुर्थयोश्च तुल्यप्रस्तावमर्धसमम् । उभयबहिरर्धं विषमम् ॥**

गद्य के भेद

गद्यमुत्कलिकाप्रायं पद्यगन्धीति च द्विधा ।
द्विधैव गद्यपद्यादिभेदान्मिश्रमपीष्यते ॥ २५ ॥

गद्य उत्कलिकाप्राय तथा पद्यगन्धी इन दो प्रकारों का है। मिश्र भी गद्यपद्य आदि भेद से दो ही प्रकार का कहा गया है ॥ २५ ॥

स्व० भा०—दण्डी ने गद्य की परिभाषा तथा भेदों का निरूपण यों किया है—

अपादः पदसन्तानो गद्यमाख्यायिका कथा । इति तस्य प्रभेदौ द्वौ····· ॥ काव्यादर्श १।२३॥

वामन के काव्यालंकारसूत्र में 'गद्यं वृत्तगन्धि चूर्णमुत्कलिकाप्रायं च ॥ २२ ॥ तल्लक्षणान्याह—पद्यभागवद्वृत्तगंधि ॥ २३ ॥ पद्यस्य भागा पद्यभागास्तद्वत् वृत्तगन्धि । यथा—पातालतालुतलवासिषु दानवेषु इति । अत्र हि वसन्ततिलकाख्यस्य वृत्तस्य भागः प्रत्यभिज्ञायते । अनाविद्धललितपदं चूर्णम् ॥ २४ ॥ ·····विपरीतमुत्कलिकाप्रायम् ॥ २५ ॥ १।३

आचार्य विश्वनाथ ने गद्य के चार भेदों को स्वीकार किया है।

वृत्तगन्धोज्झितं गद्यं मुक्तकं वृत्तगन्धि च ॥ ६।३३० ।
भवेदुत्कलिकाप्रायं चूर्णकं च चतुर्विधम् । आद्यं समासरहितं वृत्तभागयुतं परम् ॥ ६।३३१ ॥
अन्यदीर्घसमासाढ्यं तुर्यं चाल्पसमासकम् । सा० द० ३३२ ॥

स्पष्ट है कि गद्य के भेद का आधार समास है। वृत्तगन्धि वस्तुतः शुद्धगद्य नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि वह तो छन्द का ही अंश होता है।

भोज ने केवल दो भेदों को स्वीकार करने के बाद शेष भेदों का प्रत्याख्यान भी किया है। इसीलिये अग्रिम कारिका की भूमिका है।

गद्यमिति। उत्कलिका कल्लोलस्तत्प्रायम्। उच्चावचमिव प्रतिभासमानमित्यर्थः। यथा—'सलीलकरकमलतालिकातरलवलयावलीकम्' इति। वृत्तगन्धि प्रतिभातवृत्तैकदेशम्। तदेतदल्पाख्यायामुत्पन्नेन समासान्तेन व्यञ्जितम्। तदयमर्थः—सामान्यतः पद्यादिभेदेन गतिस्त्रिधा। तत्रापि जात्यादिभेदेन षट्प्रकाराः। तेऽपि द्रुतादिभेदेन षट्त्रिंशदिति॥

अन्यभेदनिरास

ननु ललितादयो गद्यभेदाः कैश्चिदलंकारकारैः परिसंख्यातास्ते कस्मान्नोच्यन्त इत्यत आह—

ललितं निष्ठुरं चूर्णमाविद्धं चेति योऽपरः।
विशेषः स तु गद्यस्य रीतिवृत्त्योर्भविष्यति॥ २६॥

लक्षित, निष्ठुर, चूर्ण तथा आविद्ध ये जो गद्य के अन्य विशेष भेद भी स्वीकार किए गये हैं वे (स्वतन्त्र भेद नहीं हैं, क्योंकि इनका अन्तर्भाव) रीति तथा वृत्ति में हो जाता है॥ २६॥

स्व० भा०—भोज गद्य में अन्यभेद नहीं स्वीकार करते। वह शेषों का अन्तर्भाव रीति अथवा वृत्तियों में यथास्थान कर देते हैं। रत्नेश्वर ने इनके अन्तर्भाव का निरूपण किया है—ललितं कैशिक्यादौ, निष्ठुरमारभट्यादौ, चूर्णं वैदर्भादौ आविद्धं गौडीयाप्रभृतौ यथायथमन्तर्भवति इति नोक्तभेदाः परिसंख्यातः इत्यर्थः।

इस प्रकार गति के सब मिलाकर छत्तीस भेद हो जाते हैं। प्रथम तो गद्य, पद्य तथा मिश्र ये तीन भेद हुए। ये भी वृत्त तथा जाति से संयुक्त होते हैं तब छः भेद होते हैं। इन भेदों में से भी प्रत्येक के द्रुता, विलम्बिता, मध्या, द्रुतविलम्बिता, द्रुतमध्या तथा मध्यविलम्बिता ये छः छः भेद होने से सब मिलाकर (६ × ६ = ३६) छत्तीस भेद हुये।

ललितमिति। सुकुमारसंदर्भं ललितम्। यथा—'कमलिनीवनसंचरणव्यतिकरलग्ननलिननालकण्टके वने क्वचिन्निर्भरं पदमादधाति' इति। प्रस्फुटसंदर्भं निष्ठुरम्। यथा—'उत्तम्भितकुटिलकुन्तलकलापः श्मशानवाटमवतरति' इति। अनुल्लिखितसमासं चूर्णम्। यथा—'अभ्यासो हि कर्मणः कौशलमादधाति। न खलु संनिपातमात्रेणोदबिन्दुरपि ग्रावणि निम्नतामादधाति' इति। उद्भटसमासमाविद्धम्। यथा—'कुलिशशिखरखरतरस्वरप्रचयप्रचण्डचपेटपाटितमत्तमातङ्गमदच्छटाच्छुरितचारुकेसरभारभासुरमुखे केसरिणि' इति। रीतिवृत्त्योरिति विषयसप्तमी। तथा ललितं कैशिक्यादौ, निष्ठुरमारभट्यादौ, चूर्णं वैदर्भ्यादौ, आविद्धं गौडीयाप्रभृतौ, यथायथमन्तर्भवतीति नोक्तभेदाः परिसंख्याता इत्यर्थः॥

उक्तप्रकारेषु किंचिदुदाहरति—

तत्र पद्यभेदेषु समवृत्ते द्रुता गतिर्यथा—

'अयि विजहहि दृढोपगूहनं त्यज नवसंगमभीरु वल्लभम्।
अरुणकरद्रुम एष वर्तते वरतनु संप्रबदन्ति कुक्कुटाः॥ १३॥

सेयं समवृत्ते लघुसंयुक्ताक्षरभूयस्त्वाद् द्रुता गतिः॥

इनमें से पद्य के भेदों में से समवृत्त में द्रुतागति का उदाहरण—

अरी ! प्रिय का प्रगाढ़ आलिङ्गन छोड़ दे । अरे नवीन समागम से डरने वाली प्रियतम को छोड़ । अब सूर्य का उदय हो रहा है । सुन्दरि ! मुर्गे बोल रहे हैं ॥ १३ ॥

यहाँ समवृत्त में लघु का बाहुल्य तथा संयुक्ताक्षरों के प्रेम से द्रुतागति है ।

स्व० भा०—प्रस्तुत श्लोक में मालती नामक वृत्त हैं । इसके चारो चरण समान हैं जिनमें १२-१२ वर्ण हैं । इसका लक्षण है—"भवति नजावथ मालती जरौ ।" यहाँ प्रत्येक पाद में ८ लघु तथा ४ गुरु हैं (गुरु वर्णों के आधिक्य से पढ़ने में आरोह अधिक होता है और फलतः समय भी अधिक अपेक्षित होता है । अतः गति द्रुत नहीं हो पाती है । यहाँ पर लघु वर्णों का ही आधिक्य होने से गति में तेजी है ।

तत्रेति । **नवसंगमभीर्विति संबोधनम् । भीरुशब्दादूङ्, तस्मात्संबोधनहस्वे रूपम् । गर्भगृहस्था नालोकयति चेत्तदाह—संप्रवदन्तीति । अत्र प्रतिपादमष्टौ लघवश्चत्वारो गुरव इति लघुबाहुल्ये संयोगाच्चराणामुद्रेके च ताललयवदतिव्यक्त एव द्रुतभावः ॥**

समवृत्ते विलम्बिता यथा—

'प्रणम्य हेतुमीश्वरं मुनिं कणादमन्वतः ।
पदार्थधर्मसंग्रहः प्रवक्ष्यते महोदयः ॥ १४ ॥

सेयं स्थाने स्थाने गुर्वक्षरयोगाद्विलम्बिता गतिः ।

समवृत्त में विलम्बिता का उदाहरण है—

(इस ज्ञान) के कारणभूत, महान् ऐश्वर्यशाली मुनि कणाद को प्रणाम करने के बाद अतिशय उत्कर्ष देनेवाले पदार्थधर्म के संग्रह के विषय में कहता हूं ॥ १४ ॥

यहाँ पर स्थान-स्थान पर गुरु अक्षरों की योजना होने से विलम्बिता गति हुई ।

स्व० भा०—प्रस्तुत उदाहरण में 'प्रमाणिका' नामक समवृत्त है जिसमें ४, ४ पर यति होती है और प्रत्येक पाद में ८-८ वर्ण होते हैं । इसका लक्षण है—"प्रमाणिका जरौ लगौ" । यहां गुरु वर्ण इस क्रम से एक के बाद एक रखे गये हैं कि आरोह के आधिक्य से विलम्ब अधिक हो जाता है । अत एव यहां विलम्बिता गति है ।

प्रणम्येति । **अत्र यद्यपि पादतुष्टये गुरुलघूनां समसंख्यत्वमेव, तथापि संयोगाच्चरैरन्तरान्तरा पठितिदीर्घाभावोन्मेषादारोहप्राधान्ये विलम्बिता । एवं व्युत्क्रमेण समानिकायामपि विलम्बितैव यथा—'मीनजालघटितानि सूर्यरश्मिबोधितानि । मत्तषट्पदाकुलानि पश्य भीरु पङ्कजानि ॥' इति ।**

तदिदमाह—सेयमिति । **तेन विभागसूत्रे गुरुलघुमिश्रणमेवंरूपमपि बोद्धव्यमिति ॥**

तत्रैव मध्या यथा—

'आसीद् दैत्यो हयग्रीवः सुहृद्वेश्मसु यस्य ताः ।
वदन्ति स्म बलं बाह्वोः सितच्छत्रास्मिताः श्रियः ॥ १५ ॥'

सेयं नातिलघ्वक्षरत्वान्मध्या गतिः ॥

इसी वृत्त में ही मध्यागति का उदाहरण है—

हयग्रीव नाम का एक दैत्य था, जिसकी भुजाओं का पराक्रम उसके मित्रों के घरों में श्वेत-छत्र की छटा-सी धवल मुसकान वाली सम्पत्तियाँ ही कहा करती थीं ॥ १५ ॥

प्रस्तुत श्लोक में अत्यधिक लघु अक्षरों के न होने से यहां मध्यागति है ।

स्व० भा०—इस उदाहरण में अनुष्टुप् वृत्त है। उसका लक्षण है—

श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघुपंचमम्। द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः॥

वैसे भी इसमें प्रत्येक चरण में ८-८ वर्ण होते हैं। प्रस्तुत छन्द में अधिक लघु वर्ण नहीं हैं और गुरु वर्णों का भी संनिवेश इस क्रम से है कि यहाँ पढ़ने पर गति न तो अधिक तीव्र ही है और न मन्द ही, अर्थात् मध्यम कोटि की है। इसका अनुभव तो पढ़ने से तथा पूर्व भेदों के उदाहरणों की तुलना से भी होता है।

आसीदिति। **अत्र यद्यपि गुरवो बहवस्तथापि न द्रुतिर्न विलम्बनं पठितेरित्यनुभवसाक्षिकोऽयमर्थस्तदेतदाह**—नातिलघ्वक्षरेति॥

द्रुतविलम्बिता यथा—

'अवतु वः सवितुस्तुरगावली स्फुरितमध्यगतारुणनायका।
समवलङ्घिततुङ्गपयोधरा मरकतैकलतेव नभःश्रियः॥ १६॥'

सेयं द्रुताया विलम्बितायाश्च गतेरन्तरानुप्रवेशाद् द्रुतविलम्बिता गतिः।

द्रुतविलम्बिता का उदाहरण—

बीच में चमकती हुई लालमणि से संयुक्त तथा अत्युन्नत उरोजों का सम्यक् लङ्घन करनेवाली, आकाशलक्ष्मी की मरकत की एकमात्र माला की भांति बीच में स्थित रथवाहक अरुण से चमकती हुई, ऊँचे-ऊँचे बादलों का भी अतिक्रमण कर जाने वाली सूर्य की तुरगावली आपकी रक्षा करे॥ १६॥

द्रुता तथा विलम्बिता दोनों गतियों के इस छन्द के भीतर समाहित हो जाने से द्रुतविलम्बिता गति है।

स्व० भा०—प्रस्तुत उदाहरण में द्रुतविलम्बित छन्द भी है। इसका लक्षण है—'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ।" इसमें प्रत्येक चरण में १२-१२ वर्ण होते हैं। यहां ध्यान देने पर स्पष्ट हो जायेगा कि प्रथमतः लघु वर्णों को एक साथ रख देने से द्रुति आ जाती है और बाद में गुरुवर्णों का सन्निवेश होने से अवरोध उत्पन्न हो जाता है। अतः पढ़ने में द्रुति तथा विलम्ब दोनों का भाव होने से द्रुतविलम्बिता गति है।

अवतु वा इति। **अरुणो गरुडाग्रज शोणश्च। नायको नेता हारमध्यमणिश्च। पयोधरा मेघाः स्तनौ च। तदेतस्मिन् द्रुतविलम्बिताख्ये वृत्ते समाख्यैव रूपं बोधयतीति॥**

द्रुतमध्या यथा—

'अपि तुरगसमीपादुत्पतन्तं मयूरं
न स रुचिरकलापं बाणलक्ष्यीचकार।
सपदि गतमनस्कश्चित्रमाल्यानुकीर्णे
रतिविगलितबन्धे केशपाशे प्रियायाः॥ १७॥'

सेयं द्रुताया मध्यायाश्च गतेरन्तरानुप्रवेशाद् द्रुतमध्या गतिः।

द्रुतमध्या का उदाहरण—

(राजा दशरथ ने) घोड़े के अत्यन्त निकट ही उड़ रहे सुन्दर बर्हों वाले मयूर को अपने शरों का लक्ष्य नहीं बनाया क्योंकि उनके मन में (उसे देखने से) विभिन्न प्रकार की मालाओं से गुथे हुए, मैथुन कर्म के समय ढीले पड़ गये बन्धनोंवाले प्रेयसी के केशकलापों की सहसा याद आ गई॥ १७॥

द्रुत तथा मध्या दोनों गतियों में परस्पर प्रविष्ट हो जाने से प्रस्तुत श्लोक से द्रुतमध्या गति है।

स्व० भा०—प्रस्तुत उदाहरण में मालिनी वृत्त है जिसका लक्षण है—"ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः"। यह १५ वर्णों के पदवाला छन्द है। इस छन्द में प्रथम लघुवर्णों के विन्यास के कारण द्रुतिभाव है। बाद में गुरु तथा लघु का सन्निवेश मध्या की स्थिति उत्पन्न करता है। अतः यहां द्रुतमध्या है।

अपि त्वरगेति। **उत्पन्नाविर्भवद्बर्हगतोज्ज्वलविचित्रकोमलमयूरस्तत्कालमव्याजप्रेमनिर्यन्त्रणकण्ठग्रहविलुलितप्रियाकेशपाशवासनाविकासहेतुः सर्वस्वायमानः कथं बाणलक्ष्यतां सहत इति क्विप्रत्ययेन व्यज्यत इति। अत्र पादचतुष्केऽपि प्रथमं द्रुता पश्चान्मध्या च भागशः प्रत्यभिज्ञायत इत्याह**—सेयमिति॥

मध्यविलम्बिता यथा—

'दुन्दुभयो दिवि दध्वनुसच्चैरुच्चकराः कपयश्च ववल्गुः।
सिद्धनिकायकराञ्जविमुक्तं माल्यमथाङ्गदमूर्ध्नि पपात॥ १८॥'
सेयं मध्याया विलम्बितायाश्च गतेरन्तरानुप्रवेशान्मध्यविलम्बिता गतिः॥

मध्यविलम्बिता वहां होती है जैसे—

आकाश में जोर-जोर से दुन्दुभियाँ बज उठी, हाथ उठा-उठाकर बन्दर भी चिल्लाने लगे, सिद्धसमूहों के करकमलों से छूटी माला अङ्गद के मस्तक पर गिरी॥ १८॥

यह मध्या तथा विलम्बिता गतियों के एक दूसरे में समा जाने से मध्यविलम्बिता गति का उदाहरण है।

स्व० भा०—वहाँ दोधक छन्द है। उसका लक्षण—"दोधकमिच्छति भत्रितयादगौ।" इसके एक चरण में १२ वर्ण होते हैं जिनके प्रथमार्ध में गुरु तथा लघु का कुछ विरल सन्निवेश होने से मध्यता आ जाती है तथा द्वितीयार्ध में प्रायः गुरुवर्ण तथा संयुक्ताक्षर होने से पढ़ने में विलम्ब होता है। अतः लक्षण के अनुसार ही उदाहरण भी है।

समवृत्तों में द्रुता आदि भेदों का निरूपण करने के पश्चात् भोजराज अन्य उदाहरणों तथा लक्षणों के प्रति उदासीनता व्यक्त कर रहे हैं। यद्यपि उनके लक्षण तथा उदाहरण का यहां समुचित स्थान है, और वे काव्य में दृष्टिगोचर भी होते हैं तथापि ग्रन्थ-गौरव से बचने के लिये मात्रिक छन्दों तथा गद्य और मिश्र काव्यों का उदाहरण पाठकों पर छोड़ देते हैं।

(जैसे समवृत्तों में विलम्बिता आदि भेदों के उदाहरण दिये गए हैं) उसी प्रकार अर्ध सम तथा विषम का मात्रिक छन्दों—जातियों में तथा गद्य और मिश्र काव्यों में लघु और गुरु से मिले हुये वर्णों के सन्निवेश को विशेष रूप से अधिकता के आधार पर द्रुत आदि गतियों की खोज करनी चाहिये। (अब आगे केवल दिशानिर्देश के लिये कुछ के उदाहरण दिये जायेंगे।)

दुन्दुभय इति। **अत्रापि प्रतिपादं पूर्वं मध्या ततो विलम्बिता च खण्डशः प्रतिभासत इति दर्शयति**—सेयमिति।

एवमर्धसमावृषमयोर्मात्राच्छन्दःसु गद्यमिश्रयोर्लघुगुरून्मिश्रवर्णविन्यासविशेषभूयस्त्वेन द्रुतादिगतयो गवेषणीयाः॥

एवमिति।

इमामेव व्यवस्थामर्धमध्यमादिष्वप्यतिदिश्यत इति दिङ्मात्रमुदाहरति—

तत्र विषमवृत्तच्छन्दसि द्रुता यथा—

'अथ वासवस्य वचनेन रुचिरवदनस्त्रिलोचनम्।
कलान्तिरहितमभिराधयितुं विधिवत्तपांसि विदधे धनंजयः॥ १९॥'

इनमें से विषमवृत्त छन्द में द्रुता का उदाहरण—

इसके बाद इन्द्र के कहने से प्रसन्नमुख अर्जुन निरलसभाव से नियमपूर्वक भगवान् शङ्कर की आराधना के लिए तपस्या करने लगे॥ १९॥

स्व० भा०—इस छन्द में उद्गता नाम का विषमवृत्त है। उसका लक्षण है—

प्रथमे सजौ यदि सलौ च, नसजगुरुकाण्यनन्तरम्।
यद्यथ भनजलगाः स्युरथो, सजसा जगौ च भवतीयमुद्गता॥

इसके चारों चरणों में असमानता है। अतः विषमता हुई। गणों की अपेक्षा होने से यह वृत्त है और सर्वत्र लघुवर्णों का ही आधिक्य होने से पढ़ने में द्रुति भी है। यह श्लोक किरात (१२।१) का है।

अर्धसमच्छन्दसि विलम्बिता यथा—

'विहितां प्रियया मनःप्रियामथ निश्चित्य गिरं गरीयसीम्।
उपपत्तिमदूर्जिताश्रयं नृपमूचे वचनं वृकोदरः॥ २०॥

अर्धसम छन्द में विलम्बिता का उदाहरण—

अपनी प्रिया द्रौपदी के द्वारा कही गई और मन को प्रिय लगने वाली बातों को महत्त्वपूर्ण समझ कर भीम ने राजा युधिष्ठिर से तर्कयुक्त एवं ओज से भरे हुये वचन कहना शुरु किया॥२०॥

स्व० भा०—यह छन्द किरात (२।१) का है जिसमें वियोगिनी नामक अर्धसम वृत्त है। इसके प्रथम तथा तृतीय और द्वितीय तथा चतुर्थ चरण समान हैं। इसका लक्षण है—'विषमे ससजा गुरुः समे, सभरा लोऽथ गुरुर्वियोगिनी।' इसमें लघुवर्णों का भी सन्निवेश ऐसी रीति से है कि उनको भी पढ़ने पर गति अत्यन्त मन्द ही रहती है। फिर गुरुवर्णों के पढ़ते समय तो कहना ही क्या?

उत्कलिकाप्रायगद्ये द्रुता मध्या च यथा—

'व्यपगतघनपटलममलजलनिधिसदृशमम्बरतलं विलोक्यते।
अञ्जनचूर्णपुञ्जश्यामं शार्वरं तमः स्त्यायते॥ २१॥'

उकलिकाप्रायगद्य में द्रुता तथा मध्या का उदाहरण।

"मेघाडम्बर से हीन आकाशतल निर्मल सिन्धु की भांति दृष्टिगोचर होता है।"

"कज्जल के चूर्ण की राशि की भांति काला काला रात्रि का अन्धकार बढ़ रहा है॥ २१॥

स्व० भा०—जिस प्रकार एक जलाशय में लहरें उठती हैं और उसका जल कहीं ऊँचा कहीं नीचा दृष्टिगोचर होता है उसी प्रकार जिस गद्यखण्ड में लघु और गुरु के सन्निवेश से आरोह तथा अवरोह का क्रम दृष्टिगत हो वहाँ उत्कालिकाप्रायगद्य होता है। यहाँ उद्धरण के प्रथम खण्ड में लगभग २० वर्णों का लघु होना तथा अन्त में कुछ गुरुवर्णों का आना उसमें द्रुति उत्पन्न करता है। द्वितीय खण्ड में लघु तथा गुरुका सन्निवेश इस प्रकार का है कि उसमें न तो

अधिक द्रुति ही है और न तो अधिक विलम्बित्व ही । अतः इन्हें गद्यखण्ड होने से तथा तरंग सी गति होने से उत्कलिकाप्राय मानना उचित ही है।

उत्कलिकाप्रायेति । **उच्चावचभावेन प्रतिभासमानमुत्कलिका । यथा—'सलीलकरकमल-तालिकातरलयावलीकम्' इति । तथैव तदपि प्रकृतोदाहरणमिति व्यक्तम् । 'पाताल-' इत्यादौ वसन्ततिलकाभाग इव, 'हर इव' इत्यादावार्याभाग इति प्रतिभातीति ॥**

पद्यगन्धिगद्ये वृत्तगन्धौ मध्या, जातिगन्धौ द्रुता यथा—

'पातालतालुतलवासिषु दानवेषु ।'
'हर इव जितमन्मथो गुह इवाप्रतिहतशक्तिः ॥ २२ ॥' इति ।

अब पद्यगन्धि गद्य में वृत्तगन्धि की मध्या गति तथा जातिगन्धि की द्रुता गति का उदाहरण है।—जैसे—

"पाताल के मुखभाग में बसने वाले दानवों में "तथा" शंकर की भांति काम को जीतनेवाला और कुमार की भाँति अनवरुद्ध पराक्रम वाला" ॥ २२ ॥

स्व० भा०—यहाँ दिये गये दोनों उद्धरण पद्यगन्धि गद्य के उदाहरण हैं। पद्य वृत्त तथा जाति दो प्रकार का होता है। अतः पद्यगन्धि का उदाहरण देते समय दोनों का ही उदाहरण देना समीचीन भी हैं। यहाँ प्रथम उद्धरण वसन्ततिलका जैसे वार्णिक छन्द का एक चरण सा लगता है। वसन्ततिलका का लक्षण हैं—'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः" और यह लक्षण यहाँ स्पष्ट ही घट जाता है। इसी प्रकार दूसरा भी आर्या-सदृश मात्रिक छन्द अर्थात् जाति का एक अंश सा लगता है, यद्यपि है गद्य ही। अतः यहाँ जातिगन्धता है। आर्या का लक्षण है—

यस्याः पादे प्रथमे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि ।
अष्टादशद्वितीये चतुर्थके पञ्चदश सार्या ॥
।।।। ।।ऽ। ऽ ।। ।ऽ।।।। ऽ ऽ

यहाँ—हर इव जितमन्मथो गुह इवाप्रतिहत शक्तिः = ११ + १३ = २४

यहाँ पूर्वार्ध होने पर ३० तथा उत्तरार्ध होने पर २७ मात्रायें होनी चाहिये थी, किन्तु केवल २४ ही होने से इसकी पूर्वार्धता तथा उत्तरार्धता नहीं सिद्ध होती है। किन्तु संभव है ९ प्रकार की आर्याओं में से किसी एक विशेष प्रकार का हो, अन्यथा तो यह आर्या का भाग न होने पर भी आर्या के भाग सा दीखता ही है अथवा प्रथम और तृतीय चरण एक साथ हो सकता है।

आगे मिश्र भेद का उदाहरण दिया जायेगा। किन्तु मिश्र भी दो प्रकार का होता है एक तो वह जिसके प्रथम भाग में गद्य हो और बाद में पद्य दूसरा भेद तब होता है जब कि पहले पद्य हो बाद में गद्य। यहाँ प्रथम प्रकार का उदाहरण पहले दिया जा रहा है।—

वृत्तगन्धौ मध्या, जातिगन्धाविति । **'तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद्भालवस्य'** (७।१।७४) **इति पुंवद्भावेन नुम्न भवति ॥**

गद्यादौ मिश्रे गद्यपद्ययोर्द्रुतमध्या यथा—

'हन्त, पुण्यवानस्मि, यदहमतर्कितोपनतदर्शनोल्लसितनयनयानया—
अविरलमिव दाम्ना पौण्डरीकेण नद्धः
स्नपित इव च दुग्धस्रोतसां निर्झरेण ।
कवलित इव कृत्स्नश्चक्षुषा स्फारितेन
प्रसभममृतवर्षेणैव सान्द्रेण सिक्तः ॥ २३ ॥'

गद्य से प्रारम्भ होने वाले मिश्र में गद्य तथा पद्य दोनों में द्रुतमध्या का उदाहरण है—(मालती के द्वारा देखे जाने पर माधव स्वगत ही कहता है) अरे, मैं तो बहुत ही पुण्यशाली हूँ, क्योंकि मैं अप्रत्याशितरूप से दर्शन हो जाने से विस्फारित नेत्रों वाली इस मालती के द्वारा देखा क्या गया हूं (बल्कि इसके नेत्रों के मुझ पर पड़ने से मुझे ऐसा लगता है कि) मानों इसके द्वारा श्वेत कमलों की माला से कसकर जकड़ दिया गया होऊँ, मानों दूध की धार के प्रवाह से नहला दिया गया होऊँ, फैले हुये नेत्रों से मानों पूर्णतः निगल लिया गया होऊँ और हठात् सघन अमृतवृष्टि द्वारा भिगो दिया गया होऊँ ॥ २३ ॥

स्व० भा०—गद्य तथा पद्य दोनों को मिलाकर एक वाक्य पूरा होने से यहाँ मिश्र भाव है। गद्यखण्ड में लघु तथा गुरु का विन्यास इस क्रम से हो गया है कि प्रथमार्ध में द्रुति तथा उत्तरार्ध में समभाव-मध्यमता—है अतः वहाँ भी द्रुतमध्यभाव सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार छन्द में भी मालिनी होने के कारण प्रत्येक चरण का प्रथमार्ध लघुवर्णों से संयुक्त होने के कारण द्रुतभाव से युक्त है और उत्तरार्ध संयुक्ताक्षर और गुरु से संयुक्त होने के कारण न अधिक अवरुद्ध ही है और न तो अधिक द्रुत ही अतः मध्यम कोटि का होने से मध्या है।

हन्तेति। **आश्चर्यस्तिमितस्य हन्तेत्येव वागनुभावस्ततोऽभिमानोन्मेषे पुण्यवानस्मीति अनन्तरं लोकोत्तरविभाववर्णनात्त्वरितस्य यदहमित्यादिगद्यपर्यवसान एवाविरलमित्यादिवृत्तमाविरासीदिति। मध्ये विच्छेदकारणानुपपत्तौ गद्यपद्याभ्यामेकवाक्यम् ॥**

पद्यादौ मिश्रे द्रुतविलम्बिता यथा—

'असौ विद्याधारः शिशुरपि विनिर्गत्य भवना-
दिहायातः संप्रत्यविकलशरच्चन्द्रमधुरः।
यदालोकस्थाने भवति पुरमुन्मादतरलैः
कटाक्षैर्नारीणां कुवलयितवातायनमिव ॥ २४ ॥

अत्र बालसुहृदा मकरन्देन सह विद्यामान्वीक्षिकीमधीते। स एष माधवो नाम इति ॥

पद्य से प्रारम्भ होने वाले मिश्रभेद का द्रुतविलम्बित (वहाँ होता हैं) जैसे—

(नगर में आये हुये माधव को देखकर कामन्दकी कहती है कि) यह विद्या का आधार, शरत्कालीन पूर्णचन्द्र की भांति मुखमण्डल वाला माधव बच्चा ही होने पर भी घर से निकल कर यहाँ इस समय आया है। इसे देखने के स्थानों पर खड़ी हुई नारियों के उन्माद से विह्वल कटाक्षों के कारण पूरा नगर ऐसे लगता है मानों उसके गवाक्ष नीले नीले कमलों से भर दिये गये हों। (अर्थात् स्त्रियाँ इसे देखने की उत्कट कामना से दौड़ कर झरोखों से झांकती हैं। उनके कजरारे नयन नीलकमल से सुशोभित होते हैं) ॥ २४ ॥

यहाँ अपने लड़कपन से ही साथ रहने वाले मकरन्द के साथ आन्वीक्षिकी विद्या-न्यायशास्त्र का अध्ययन करते हैं। यही वह माधव हैं।

स्व० भा०—यहाँ शिखरिणी छन्द के बाद गद्यांश आया है। अतः मिश्र का यह द्वितीय प्रकार हुआ। छन्द में प्रथमगति तक तो द्रुतभाव है और आगे ऐसा वर्णों का क्रम है कि विलम्बित हो जाती है। यही दशा गद्यखण्ड में भी 'अत्र से सह' तक द्रुति तथा शेष में अवरोध है। अतएव यहाँ द्रुतविलम्बित भाव है।

असाविति। **दूतीकल्पे कयाचित्प्रच्छन्नप्रार्थनीयया 'आसंभोगमुन्नयेत्' इत्याम्नातम्।**

'हे सुन्दरनयने, यह कामदेवरूपी चाण्डाल मेरे प्रति निष्ठुर है, भाग्य की बात है कि तुमसे वह विद्वेषरहित है।' इस प्रकार का विदग्ध के द्वारा प्रयोज्य अर्थ रसावह है ॥ ६ ॥

नवीन अर्थात् पहले से अप्रयुक्त प्रतिपाद्यविषय, विदग्धोचित वाणी, श्रवण के योग्य रचना-विधि, स्पष्ट रूप से श्रवणीय ध्वनि तथा लोकातीत वस्तु का योग ये रस लाने में समर्थ हैं ॥ ७ ॥

(सारा) वाङ्मय वक्रोक्ति, रसोक्ति तथा स्वभावोक्ति तीन प्रकार का है, इनमें से सब पर अनुग्रह करने वाली रसोक्ति को (विद्वान् जानते हैं।) ॥ ८ ॥

स्व० भा०—इन समस्त विवेचनों से यह प्रकट हो जाता है कि भोज का विचार कितना उदार था। वह एक सरस काव्य की रचना में वर्ण्यविषय, कथन के प्रकार तथा कवि की क्षमता इन सबको महत्व देते हैं। आचार्य दण्डी ने वाङ्मय को केवल दो प्रकार का माना था—

भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्। काव्यादर्श २।३६३

रुद्रट ने भी सरसकाव्य की रचना करने पर ही विलक्षण कीर्ति के प्राप्ति की सम्भावना व्यक्त की है। उनके अनुसार—

ज्वलदुज्ज्वलवाक्प्रसरः सरसं कुर्वन् महाकविः काव्यम्।
स्फुटमाकल्पमनल्पं प्रतनोति यशः परस्यापि ॥ काव्यालंकार १।४

इसके लिये भी कवि को कुछ अपेक्षायें हैं—

मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाभिधेयस्य।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः ॥ वही, १५ ॥

वहीं रुद्रट ने सम्पूर्ण विश्व को काव्य का विषय घोषित किया है—

विस्तरतस्तु किमन्यत्तत इह वाच्यं च वाचकं लोके।
न भवति यत्काव्याङ्गं.....॥ वही, १९ ॥

अन्य किसी विद्वान् ने भी कहा था—

नासौ शब्दो न तद्वाक्यं न स न्यायो न सा कला।
जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारो महान् कवेः ॥

कवि की सामर्थ्य भी विख्यात है कि—

अपारे काव्यसंसारे कविरेको प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तदिदं परिवर्तते ॥

काव्य की सरसता के विषय में रुद्रट का मत है—

यस्मात् तत्कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्।
उद्वेजनमेतेषां शास्त्रवदेवान्यथा हि स्यात् ॥ काव्यालंकार १२।२ ॥

छात्राणां सुखबोधाय श्रीजीवानन्दशर्मणा।
पञ्चमाख्ये परिच्छेदे व्याख्येयं क्रियते मया ॥

रस इति। रसः अभिमानः अहङ्कारः शृङ्गार इति एवं पर्यायः यः अर्थः वस्तुविशेषः, तस्य अन्वयात् सङ्गात् काव्यं कमनीयत्वं रम्यताम् अश्नुते प्राप्नोति ॥ १ ॥

विशिष्टेति। जन्मिनां शरीरिणां सामाजिकानामिति यावत् अन्तरात्मसु अन्तःकरणेषु विशिष्टात् विलक्षणात् अदृष्टात् शुभकर्मजनितभाग्यादित्यर्थः जन्म उत्पत्तिर्यस्य तथाविधः अयं रस इत्यर्थः आत्मनः स्वस्य सम्यग् गुणानां दयादाक्षिण्यादिसदाचाराणाम् उद्भूतेः उत्पत्तेः एकः अद्वितीयः हेतुः कारणं प्रकाशते प्रतिभाति। रसिका हि शिष्टाः सविनय-सम्पन्ना भवन्तीति इरयते ॥ २ ॥

शृङ्गारीति । चेद् यदि कविः काव्ये काव्यरचनायां शृङ्गारी रसवान् भवतीति शेषः, तदा जगत् रसमयम् आनन्दमयमिति भावः जातम् । स एव कविः अशृङ्गारी अरसिकः चेत् यदि भवति सर्वमेव जगत नीरसं निरानन्दमिति भावः भवतीति शेषः ॥ ३ ॥

पश्यतीति । स्त्री पश्यतीतिवाक्ये रसः नहि नैव प्रतिभासते प्रतिभाति, कान्ता विलोकयतीति वाक्ये तु व्यक्तमेव स्पष्टमेव प्रतीयते रसः इति शेषः ॥ ४ ॥

कन्ये इति । हे कन्ये ! त्वं कामयमानं त्वां प्रति कामुकमित्यर्थः मां कथं न कामयसे नाभिलषसि इत्येवं ग्राम्यः अविदग्धप्रयोज्य इति भावः अयम् अर्थात्मा अर्थस्वरूपः वैरस्याय रसप्रातिकूल्यायेत्यर्थः एव कल्पते प्रभवति । तस्मादेवं विधोऽर्थो न प्रयोज्य इति भावः ॥ ५ ॥

काममिति । हे वामाक्षि ? कुटिलनयने ! चारुनयने ! वा । कन्दर्प एव चाण्डालः मयि विषये कामं निर्दयः निष्ठुरः । दिष्ट्या भाग्यम् त्वयि निर्मत्सरः विद्वेषरहितः । त्वां न विलश्नातीति भावः । इत्येवम् अग्राम्यः विदग्धप्रयोज्यः अर्थ रसावहः रसोत्पादहेतुरित्यर्थः ॥ ६ ॥

नव इति । नवः नूतनः केनचिदरचितपूर्व इति यावत अर्थः प्रतिपाद्यवस्तु अग्राम्या विदग्धोचिता सूक्तिः शोभना वाक्, श्रवणयोग्यः बन्धः रचना, स्फुटा सुव्यक्ता श्रुतिः श्रवणयोग्योऽर्थः, अलौकिकस्य लोकातीतस्य अर्थस्य वस्तुनः युक्तिः योगश्च एते रसम् आहर्त्तुम् उद्भावयितुम् ईशते प्रभवन्ति ॥ ७ ॥

वक्रोक्तिरिति । वक्रा कुटिला भावान्तरसंवलितेत्यर्थः उक्तिः वचनं रसस्य शृङ्गारादेरुक्तिः प्रकटनं स्वभावस्य उक्तिश्च एतत् त्रिविधं वाङ्मयं शास्त्रं काव्यमिति यावत । तासु त्रिविधासु मध्ये सर्वानुग्राहिणीं सर्वेषां प्रीणनीं रसोक्तिं प्रतिजानते प्रतिज्ञया निबध्नन्ति विद्वांस इति शेषः ॥ ८ ॥

भावो जन्मानुबन्धोऽथ निष्पत्तिः पुष्टिसङ्करौ ।
हासाभासौ शमः शेषो विशेषः परिपोषवान् ॥ ९ ॥
विप्रलम्भोऽथ सम्भोगस्तच्चेष्टास्तत्परीष्टयः ।
निरुक्तयः प्रकीर्णानि प्रेमाणः प्रेमपुष्टयः ॥ १० ॥
नायिका नायकगुणाः पाकाद्याः प्रेमभक्तयः ।
नानालङ्कारसंसृष्टेः प्रकाराश्च रसोक्तयः ॥ ११ ॥
चतुर्विंशतिरित्युक्ता रसान्वयविभूतयः ।
स्वरूपमासां यो वेद स काव्यं कर्त्तुमर्हति ॥ १२ ॥

(१) भाव, (२) जन्मानुबन्ध, (३) निष्पत्ति, (४) पुष्टि, (५) सङ्कर, (६) हास, (७) आभास, (८) शम, (९) शेष, (१०) विशेष, (११) परिपोष, (१२) विप्रलम्भ, (१३) सम्भोग, (१४) इन दोनों-विप्रलम्भ तथा सम्भोग-की चेष्टायें, (१५) उन दोनों की परीष्टि, (१६) निरुक्ति, (१७) प्रकीर्ण, (१८) प्रेमान्, (१९) प्रेम-पुष्टि, (२०) नायिकानायक के गुण, (२१) पाकादि, (२२) प्रेमभक्ति, (२३) नानालंकार संसृष्टि के प्रकार (२४) रसोक्ति, ये चौबीस रसान्वय की विभूतियाँ हैं जो। इनका स्वरूप जानता है, वह काव्य रचना करने के योग्य है ॥९-१२॥

स्व० भा०—भोज ने यहाँ यह स्पष्ट किया है कि एक कवि को किन-किन पदार्थों का ज्ञान होना चाहिये। कवि के सिर पर बहुत ही अधिक भार होता है।

भाव इति। भावः २ जन्मानुबन्धः ३ निष्पत्तिः ४ पुष्टिः ५ सङ्करः ६ हासः ७ आभासः ८ शमः ९ शेषः १० विशेषः ११ परिपोषः १२ विप्रलम्भः १३ सम्भोग १४ तयोः विप्रलम्भ-सम्भोगयोः चेष्टा १५ तयोः परीष्टयः १६ निरुक्तयः १७ प्रकीर्णानि १८ प्रमाणः १९ प्रम-पुष्टयः २० नायिकानायकगुणाः २१ पाकाद्याः २२ प्रेममक्तयः २३ नानालङ्कारसंसृष्टेः प्रकाराः २४ रसोक्तयः। इति चतुर्विंशतिः रसाश्रया विभूतयः रससम्पदः उक्ताः यः आसां विभूतीनां स्वरूपं वेद जानाति स काव्यं कर्तुम् अर्हति शक्नोति ॥ ९-१२ ॥

आलम्बनविभावेभ्यः स्वेभ्यः स्वेभ्यः समुन्मिषन्।
रसो रत्यादिरूपेण भाव इत्यभिधीयते ॥ १३ ॥
रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चाष्टौ स्थायिभावाः प्रकीर्त्तिताः ॥ १४ ॥
स्तम्भस्तनूरुहोद्भेदो गद्गदः स्वेदवेपथू।
वैवर्ण्यमश्रुप्रलयावित्यष्टौ सात्विका मताः ॥ १५ ॥
स्मृतिर्वितर्कश्चोत्कण्ठा चिन्ता चपलता मतिः।
गर्वः स्नेहो धृतिर्व्रीडाऽवहित्थं मूढता मदः ॥ १६ ॥
हर्षामर्षावसूयेर्ष्या विषादो दैन्यमुग्रता।
त्रासः शङ्का गदो ग्लानिरुन्मादः सम्भ्रमः श्रमः ॥ १७ ॥
निर्वेदो जाड्यमालस्यं निद्रा सुप्तं प्रबुद्धता।
इति भावास्त्रयस्त्रिंशद्विज्ञेया व्यभिचारिणः ॥ १८ ॥

अपने-अपने आलम्बनविभावों—रसोद्गम के हेतुओं से-रति आदि के रूप में समुद्रेक प्राप्त करता हुआ रस 'भाव' कहा जाता है ॥ १३ ॥

(१) रति, (२) हास, (३) शोक, (४) क्रोध, (५) उत्साह, (६) भय, (७) जुगुप्सा, (८) विस्मय ये आठ स्थायीभाव वर्णित किये गये हैं ॥१४॥

(१) स्तम्भ, (२) रोमाञ्च, (३) गद्गदता अर्थात् वाणी की अस्पष्टता, (४) स्वेद, (५) कम्प, (६) विवर्णता, (७) आँसू गिरना, (८) प्रलय अर्थात् मूर्च्छा, ये आठ सात्त्विक भाव कहे गये हैं ॥१५॥

(१) स्मृति, (२) वितर्क, (३) उत्कण्ठा, (४) चिन्ता, (५) चपलता, (६) मति, (७) गर्व, (८) स्नेह, (९) धृति, (१०) व्रीडा, (११) अवहित्था (१२) मूढ़ता, (१३) मद, (१४) हर्ष, (१५) अमर्ष, (१६) असूया, (१७) ईर्ष्या, (१८) विषाद, (१९) दैन्य, (२०) उग्रता, (२१) त्रास, (२२) शङ्का, (२३) मद, (२४) ग्लानि; (२५) उन्माद, (२६) सम्भ्रम, (२७) श्रम, (२८) निर्वेद, (२९) जड़ता, (३०) आलस्य, (३१) निद्रा, (३२) प्रबोध-ये तैंतीस भाव व्यभिचारी समझे जाने चाहिये॥१६-१७॥

स्व० भा०—यहाँ भोज ने भाव, स्थायी भाव, सात्त्विकभाव तथा व्यभिचारी भावों का ज्ञान कराया है, विशेषकर उनका नाम तथा भेद गिनाया है। 'दशरूपक' में भाव का लक्षण है, "सुख-दुःखादिकैर्भावस्तद्भावभावनम्" (४-४)। किन्तु भरत ने यह प्रसङ्ग इस प्रकार लिखा था—"भावा इति कस्मात्, किं भावयन्तीति भावाः? उच्यते—वागङ्गसत्त्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्तीति भावाः। भावम् इति करणसाधनं यथा भावितः वासितः कृत इत्यनर्थान्तरम्।

लोकेपि सिद्धम्, अहो ह्यन्येन गन्धेन रसेन
वा सर्वमेव भावितम्.....। अपि च व्याप्त्यर्थं।

श्लोकाश्चात्र भवन्ति—

विभावैराहृतो योऽर्थस्त्वनुभावेन गम्यते।
वागङ्गसत्त्वाभिनयैः स भाव इति संज्ञितः॥
वागङ्गमुखरागैश्च सत्त्वेनाभिनयेन च।
कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते॥
नानाभिनयसम्बन्धान् भावयन्ति रसानिमान्। ना.शा. सप्तम अध्याय

स्थायीभावों के नामों से सम्बद्ध कारिका भरत के नाट्यशास्त्र (६।१७) से उद्धृत है, किन्तु दशरूपककार ने उनकी गणना इस प्रकार की है—

इत्युत्साहजुगुप्साः क्रोधो हासः स्मयो भयं शोकः।
शममपि केचित् प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य ॥४।३५॥

भोजराज ने जिन तैंतीस संचारीभावों की गणना कई श्लोकों में की है, दशरूपक में उन्हें केवल एक ही श्लोक में गिना दिया गया है—

निर्वेदग्लानिशङ्काश्रमधृतिजडताहर्षदैन्यौग्र्यचिन्ताः
त्रासेर्ष्यामर्षगर्वाः स्मृतिमरणमदाः सुप्तनिद्राविबोधाः।
व्रीडापस्मारमोहाः सुमतिरलसतावेगतर्कावहित्था
व्याध्युन्मादौ विषादौत्सुक्यचपलयुतास्त्रिंशदेते त्रयश्च ॥४।८॥

पण्डितराज जगन्नाथ ने इनके अतिरिक्त भावों को अस्वीकार कर दिया है। वह अन्यों का अन्तर्भाव इन्हीं पूर्वस्वीकृत भेदों में कर देते हैं—"अथ कथमस्य संख्यानियमः, मात्सर्योद्वेग-दम्भेर्ष्या-विवेक-निर्णय-क्लैब्य-क्षमा-कुतुकोत्कण्ठा-विनय-संशय-धार्ष्ट्यादीनामपि तत्र-तत्र लक्ष्येषु दर्शनादिति चेत्, न, उक्तेष्वेव एषामन्तर्भावेण सङ्ख्यान्तरानुपपत्तेः।

असूयातो मात्सर्यस्य, त्रासादुद्वेगस्य, अवहित्थाख्याद् भावाद् दम्भस्य, अमर्षादीर्ष्यायाः, मतेर्वितर्कनिर्णययोः, दैन्यात् क्लैब्यस्य, धृतेः क्षमायाः, औत्सुक्यात् कुतुकोत्कण्ठयोः, लज्जायाः विनयस्य, तर्कात् संशयस्य, चापलाद् धार्ष्ट्यस्य च वस्तुतः सूक्ष्मे भेदेऽपि नान्तरीयकतया तदनतिरिक्तस्य एवाध्यवसायात्"। रसगंगाधर पृ० ३६५।

सात्त्विक भावों की संख्या भरत से लेकर धनिक धनञ्जय तक ने आठ ही माना है। दशरूपक में दो प्राकृत गाथाओं में सभी सात्त्विकभावों का उदाहरण के रूप में समावेश कर दिया गया है। उनकी संस्कृत छाया इस प्रकार है—

वेपते स्वेदवदना रोमाञ्चं गात्रे वपति।
विलोलस्ततो वलयो लघु बाहुवल्ल्यां रणति॥
मुखं श्यामलं भवति क्षणं विमूर्च्छति विदग्धेन।
मुग्धा मुखवल्ली तव प्रेम्णा सापि न धैर्यं करोति ॥४।५ का उदाहरण।

आलम्बनेति। स्वेभ्यः स्वेभ्यः निजेभ्यो निजेभ्यः आलम्बनविभावेभ्यः रसोद्गमहेतुभ्यः

नायिकादिभ्यः रत्यादिरूपेण समुन्मिषन् समुद्रेकं गच्छन् रसः शृङ्गारादिः भाव इति अभिधीयते उच्यते ॥ १३ ॥

रत्यादीनाह । रतिरिति । रत्यादयः अष्टौ स्थायिभावाः काव्यस्य आरम्भात् समाप्ति-पर्य्यन्तं स्थितिशीला इत्यर्थः प्रकीर्त्तिताः कथिताः ॥ १४ ॥

सात्त्विकानाह स्तम्भ इति । स्तम्भः निश्चलत्वं तनूरुहोद्भेदः रोमाञ्चः गद्गदः अस्पष्टा वाक्, स्वेदः घर्म्मः, वेपथुः कम्पः, वैवर्ण्यं वर्णान्यथाभावः, अश्रु नेत्रजलं, प्रलयः मोहः 'प्रलयो नष्टचेष्टतेत्यमरः' । इति अष्टौ सात्त्विका भावाः मताः कथिताः ॥ १५ ॥

व्यभिचारिण आह स्मृतिरित्यादि । स्मृत्यादयः त्रयस्त्रिंशद्भावाः व्यभिचारिणः विज्ञेयाः ॥ १६-१८ ॥

चिरं चित्तेऽवतिष्ठन्ते सम्बध्यन्तेऽनुबन्धिभिः ।
रसत्वं प्रतिपद्यन्ते प्रवृद्धाः स्थायिनोऽत्र ते ॥ १९ ॥
रजस्तमोभ्यामस्पृष्टः मनः सत्त्वमिहोच्यते ।
निर्वृतयेऽस्य तद्योगात् प्रभवन्तीति सात्त्विकाः ॥ २० ॥
विशेषेणाभितः काये स्थायिनं चारयन्ति ये ।
अनुभावादिहेतूंस्तान् वदन्ति व्यभिचारिणः ॥ २१ ॥
जनित्वा ये न जायन्ते तेऽथ वा व्यभिचारिणः ।
स्मृत्यादयो हि प्रेमादौ भवन्ति न भवन्ति च ॥ २२ ॥
रतौ सञ्चारिणः सर्वान् गर्वस्नेहौ धृतिं मतिम् ।
स्थास्नूनेवोद्धतप्रेयःशान्तोदात्तेषु जानते ॥ २३ ॥
संस्कारपाटवादिभ्योऽनुभावं वा निजाश्रये ।
सञ्चारिणं वा जनयन् सात्त्विकं वा स जायते ॥ २४ ॥
उद्दीपनविभावेभ्यः स्मृतिहेतौ पटीयसि ।
अनुबन्धोऽनुभावादेरनुबन्धः स कथ्यते ॥ २५ ॥
विभावस्यानुभावस्य सात्त्विकव्यभिचारिणोः ।
संयोगे तस्य निष्पत्तिमात्रं निष्पत्तिरिष्यते ॥ २६ ॥

इस काव्य में स्थायीभाव परिपुष्ट होकर मन में अधिक समय तक स्थित रहते हैं, पोषकों से पुष्टि प्राप्त करते हैं तथा रसता को प्राप्त करते हैं। इस प्रकरण में रजस् तथा तमस् से असम्बद्ध मन सत्त्व कहा जाता है। इस मन के ही सुख के लिये उनके (स्तम्भ आदि भावों के) योग से उत्पन्न होते हैं इसी कारण अर्थात् सत्त्वोद्रेक के कारण ये सात्त्विक कहे जाते हैं। काव्यशरीर अथवा भावुक के शरीर में जो भाग स्थायी भावों को अतिशय रूप से सभी ओर पूर्णतः प्रसारित कर देते हैं तथा अनुभाव आदि के जो कारण

हैं, उनको व्यभिचारी कहते हैं। अथवा उत्पन्न होकर भी चिरकाल तक स्थित नहीं रहते वे व्यभिचारी हैं क्योंकि स्मृति आदि (व्यभिचारी) प्रेम आदि में उत्पन्न भी होते हैं और नहीं भी उत्पन्न होते हैं। रति में सभी सञ्चारी भाव होते हैं, किन्तु गर्व, स्नेह, धृति तथा मति को उद्धत, प्रेय, शान्त तथा उदात्त (नायकों) में स्थितिशील मानते हैं। वासना के प्रभाव आदि कारणों से अपने आश्रयभूत सहृदयों में हावभाव आदि अनुभाव, स्मृति आदि संचारी अथवा स्तम्भ, स्वेद आदि सात्त्विक भावों की उद्भावना करता हुआ वह रस उत्पन्न होता है। उद्दीपन विभावों के कारण स्मरण के हेतुओं के अतिशय प्रवृद्ध हो जाने पर अनुभाव आदि की प्रतीति जो है, वह अनुबन्ध कही जाती है। (आलम्बन तथा उद्दीपन) विभाव, (हाव भाव आदि) अनुभाव, (स्तम्भ आदि) सात्त्विक (स्मृति आदि) तथा व्यभिचारियों के मेल से रस का उद्भव भर केवल होता है, निष्पत्ति इसी अर्थ में अभीष्ट है ॥ १९-२६ ॥

स्व० भा०—यहाँ भोज ने स्थायीभाव, सात्त्विक भाव, व्यभिचारी भाव, अनुबन्ध तथा निष्पत्ति की परिभाषायें दी हैं। भरत मुनि द्वारा उक्त निम्नलिखित पंक्तियों को देखने से उपर्युक्त कई विषयों का स्पष्टीकरण हो जायेगा।

"तत्राष्टौ भावाः स्थायिनः, त्रयस्त्रिंशद् व्यभिचारिणः, अष्टौ सात्त्विका इति भेदाः। एवमेते काव्यरसाभिव्यक्तिहेतवः एकोनपञ्चाशद् भावाः प्रत्यवगन्तव्याः। एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते।

भवति चात्र श्लोकः—

योऽर्थः हृदयसंवादी तस्य भावो रसोद्भवः।
शरीरं व्याप्यते तेन शुष्कं काष्ठमिवाग्निना ॥

.....स्थायिनि वपुषि गुणीभूता अन्ये भावाः तान् गुणवत्तया आश्रयन्ते। (ते) परिजनभूता व्यभिचारिणो भावाः। को दृष्टान्त इति? यथा नरेन्द्रो बहुजन-परिवारोऽपि सन् स एव नाम लभते, नान्यः सुमहानपि पुरुषः, तथा विभावानुभावव्यभिचारिपरिवृतः स्थायी भावो रसनाम लभते।

भवति चात्र श्लोकः—

यथा नराणां नृपतिः शिष्याणां च यथा गुरुः।
एवं हि सर्वभावानां भावः स्थायी महानिह ॥ ना० शा० अ० ७ ॥

दशरूपककार ने जो स्थायी भाव का लक्षण दिया है, वह अत्यन्त स्पष्ट तथा सुन्दर है—

विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः।
आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः ॥ ४।३४॥

सात्त्विक भावों के विषय में भी भरत ने बड़ी सुन्दर उक्ति की है—

"अत्राह किमन्ये भावाः सत्त्वेन विनाभिनीयन्ते यत एते सात्त्विका इत्युच्यन्ते? अत्रोच्यते, इह सत्त्वं नाम मनः प्रभवम्। तच्च समाहितमनस्त्वाद् उत्पद्यते। मनःसमाधानाच्च सत्त्वनिष्पत्तिर्भवति। तस्य च योऽसौ स्वभावः रोमाञ्चास्रवेवर्ण्यादिको न शक्यतेऽन्यमनसा कर्तुं इति लोकस्वभावानुकरणत्वाच्च नाट्यस्य सत्त्वमीप्सितम्। को दृष्टान्त इति चेत्, अत्रोच्यते इह हि नाट्यधर्मीप्रवृत्ताः सुखदुःखकृता भावाः तथा सत्त्वविशुद्धाः कार्याः यथास्वरूपा भवन्ति।"

सात्त्विकभावों के लक्षण के रूप में दशरूपककार की उक्ति—

"सत्त्वादेव समुत्पत्तेस्तच्च तद्भावभावनम् ॥४।५॥

भरत की पंक्तियों की तुलना में विशेष महत्त्व नहीं रखती। व्यभिचारियों का भोजकृत लक्षण अत्यन्त विचित्र तथा व्यापक है। दशरूपक में भी इनका सामान्य लक्षण स्पष्ट है—

विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः।
स्थायिन्युन्मग्ननिमग्नाः कल्लोला इव वारिधौ ॥४७॥

इन पर भरत का प्रभाव स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर होता है। भरत के अनुसार "व्यभिचारिण इदानीं व्याख्यास्यामः। अत्राह—व्यभिचारिणः कस्मात्? उच्यते वि-अभि इत्येतावुपसर्गौ, चर इति गत्यर्थो धातुः। विविधं आभिमुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः। वागङ्गसत्त्वोपेताः प्रयोगे रसान्नयन्तीति व्यभिचारिणः। अत्राह—कथं नयन्तीति। उच्यते, लोकसिद्धान्त एषः यथा सूर्यो इदं दिनं नक्षत्रं वा नयतीति। न च तेन बाहुभ्यां स्कन्धेन वा नीयते। किन्तु लोकप्रसिद्धमेतत् यथेदं सूर्यो नक्षत्रं दिनं वा नयतीति। एवमेते व्यभिचारिणः इत्यवगन्तव्याः।"

भोज द्वारा स्वीकृत 'निष्पत्ति' की व्याख्या भरत के रससूत्र—'तत्र विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' से विशेष अनुप्राणित है। परवर्ती आचार्यों में लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक अभिनवगुप्त, महिमभट्ट, धनिक-धनञ्जय आदि ने इस सूत्र में प्रयुक्त 'संयोग' तथा 'निष्पत्ति' शब्दों को विशेष अर्थ में लेकर 'रसनिष्पत्ति' सम्बन्धी अनेक मतवादों को जन्म दिया। इनमें से उत्पत्तिवाद, अनुमितिवाद, भुक्तिवाद तथा अभिव्यक्तिवाद विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। मम्मट ने इस सम्बन्ध में केवल चार मतों का तथा पण्डितराज जगन्नाथ ने आठ मतों का संक्षेप अपने शब्दों में क्रमशः 'काव्यप्रकाश' तथा 'रसगंगाधर' में दिया है। इनको परिशिष्ट में दिया जायेगा। यहाँ स्पष्टता के लिये भरत की इससे सम्बद्ध पंक्तियाँ दी जा रही हैं—"को वा दृष्टान्त इति चेत्—उच्यते—यथा नानाव्यञ्जनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः तथा नानाभावोपगमाद्रसनिष्पत्तिः। यथा हि गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनैरोषधीभिश्च षड् रसानिर्वर्त्यन्ते एवं नानाभावोपहिता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति। अत्राह—रस इति कः पदार्थ? उच्यते आस्वाद्यत्वात्। कथमास्वाद्यते रसः? अत्रोच्यते—यथाहि नानाव्यञ्जनसंस्कृतमन्नं भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा हर्षादींश्चाप्यधिगच्छन्ति तथा नानाभावाभिनयव्यञ्जितान् वागङ्गसत्त्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षका हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति।" ना. शा. अध्यायः ६

चिरमिति। अत्र काव्ये ते स्थायिनः रत्यादयः प्रवृद्धाः परिपुष्टाः सन्तः चित्ते मनसि चिरम् आसमाप्तेरिति यावत् अवतिष्ठन्ते स्थितिं कुर्वन्ति अनुबन्धिभिः पोषकैः अनुबध्यन्ते पुष्टिं नीयन्ते तथा रसत्वं प्रतिपद्यन्ते प्राप्नुवन्ति ॥ १९ ॥

रज इति। इह अस्मिन् प्रकरणे रजस्तमोभ्यां रजोगुणतमोगुणाभ्याम् असंपृष्टम् असम्बद्धं मनः सत्त्वम् उच्यते कथ्यते। अस्य मनसः निर्वृतये सुखाय प्रीतिलाभायेत्यर्थः तेषां स्तम्भादीनां योगात् समुद्भवादित्यर्थः प्रभवन्ति जायन्ते इति हेतोः सात्त्विकाः सत्त्वोद्रेकसमुद्भवा इत्यर्थः भवन्तीति शेषः ॥ २० ॥

विशेषेणेति। काये काव्यशरीरे ये भावाः स्थायिनं रत्यादिं विशेषेण अतिशयेनेत्यर्थः अभितः समन्तात् सर्वतोभावेनेत्यर्थः सञ्चारयन्ति प्रसारयन्ति, अनुभावादीनां हावभावादीनाम्। उद्बुद्धं कारणैः स्वैः स्वैर्बहिर्भावं प्रकाशयन्। लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्यनाट्ययोः ॥ कः पुनरसावित्याह। उक्ताः स्त्रीणामलङ्कारा अङ्गजाश्च स्वभावजाः। तद्रूपाः सात्त्विका भावास्तथा चेष्टाः परा अपीति दर्पणकारोक्तानां भावानां हेतून् कारणानि तान् व्यभिचारिणः वदन्ति ॥ २१ ॥

जनित्वेति। अथवा ये जनित्वा उत्पद्य न जायन्ते न चिरं तिष्ठन्तीति भावः ते व्यभिचारिणः। हि यतः स्मृत्यादयः व्यभिचारिणः प्रेमादौ भवन्ति उत्पद्यन्ते तथा न भवन्ति न उत्पद्यन्ते च कदाचित् भवन्ति कदाचित् न भवन्तीत्यर्थः ॥ २२ ॥

रताविति। रतौ सर्वान् स्मृत्यादीन् सञ्चारिणः व्यभिचारिणः किन्तु उद्धताः उत्कटा प्रेयांसः प्रियतमाः ये शान्तोदात्ताः धीरोदात्ताः नायकभेदाः तल्लक्षणमुक्तं दर्पणे। अविकत्थनः

क्षमावानतिगम्भीरो महासत्त्वः । स्थेयान् निगूढमानो धीरोदात्तो दृढव्रतः कथितः । इति । तेषु गर्वस्नेहौ धृतिं मतिम् एतान् सञ्चारिण स्थास्नून् स्थितिशीलान् जानते विदन्ति बुधा इति शेषः ॥ २३ ॥

संस्कारेति । स रसः निजाश्रये स्वाश्रयकाव्ये इत्यर्थः संस्कारो वासना तस्य पाटवादिभ्यः प्रभावादिभ्यो हेतुभ्यः अनुभावं पूर्वोक्तं हावभावादिं वा सञ्चारिणं स्मृत्यादिं वा सात्त्विकं स्तम्भस्वेदादिं वा जनयन् उद्भावयन् जायते उदेति । स इत्यत्र नेति पाठः प्रामादिकः ॥ २४ ॥

उद्दीपनेति । उद्दीपनविभावेभ्यः 'उद्दीपनविभावास्ते रसमुद्दीपयन्ति ये' इत्युक्तलक्षणेभ्यः चन्द्रचन्दनादिभ्यः स्मृतिहेतौ स्मरणकारणे पटीयसि अतिप्रवृद्धे सतीत्यर्थः अनुभावादेः अनुबन्धः अनुगमः जायते इति शेषः। सः अनुबन्धः कथ्यते । केन प्रकारेणानुगमो भवतीत्यर्थः तदुच्यते ॥ २५ ॥

विभावस्येति । विभावस्य आलम्बनोद्दीपनरूपस्य अनुभावस्य हावभावादेः सात्त्विकस्य व्यभिचारिणोः प्रागुक्तयोः संयोगे सम्मेलने तस्य रसस्य निष्पत्तिमात्रम् उद्भवमात्रं भवतीति शेषः । निष्पत्तिः समुद्भव इत्यर्थः इष्यते काम्यते ॥ २६ ॥

विषयाश्रयसंस्कारगुणप्रकृतिपाटवैः ।
दीपनातिशयैश्चास्य प्रकर्षः पुष्टिरुच्यते ॥ २७ ॥
तुल्यकालबलोत्पत्तिहेतौ भावान्तरोदये ।
संसर्गस्तस्य यस्तेन सङ्करः स निगद्यते ॥ २८ ॥
रसान्तरतिरस्कारादन्यद्रागाच्च तस्य यः ।
भवत्यपचयो वृद्धे स्तद्ध्रासं तं प्रचक्षते ॥ २९ ॥
हीनपात्रेषु तिर्य्यक्षु नायकप्रतियोगिषु ।
गौणेष्वेव पदार्थेषु तमाभासं विजानते ॥ ३० ॥
बलवत्सूपजातेषु प्रतिकूलेषु हेतुषु ।
सर्वात्मना समुच्छेदः प्रशमस्तस्य वर्ण्यते ॥ ३१ ॥
आश्रयात् प्रकृतेर्वापि संस्कारस्थैर्य्यतोऽपि वा ।
योऽस्यात्यन्तमविच्छेदः स शेष इति शब्द्यते ॥ ३२ ॥
शृङ्गाराद्या रसा ये च ये च शान्तोद्धतादयः ।
ये च रत्यादिभेदास्तान् विशेषानस्य मन्वते ॥ ३३ ॥
विभावश्चानुभावश्च सञ्चारी चाश्रयश्च यः ।
ये च लीलादयो यूनां परिपोषः स कीर्त्यते ॥ ३४ ॥

आश्रयो यस्य रत्यादिः प्रेमादेरुपजायते ।
विषयो यत्र योषादौ सोऽस्य जन्माधिगच्छति ॥ ३५ ॥

प्रतिपाद्य वस्तुओं के आश्रयभूत (जो नायक आदि हैं) उनके संस्कार-वासना-गुण-धैर्य आदि प्रकृति-स्वभाव, के प्रभाव से तथा उद्दीपन भावों के अतिशय से रस का उत्कर्ष पुष्टि कहा जाता है। समान काल, बल, उत्पत्ति तथा हेतु वाले अन्य भाव का उदय होने पर उस रस का जो संसर्ग है, उसी संसर्ग के कारण वह रस संकर कहा जाता है। किसी भिन्न रस के द्वारा व्यवधान होने से तथा किसी भाव विशेष के उद्रेक से उस मूल रस के उत्कर्ष की हानि जो है, उसे उस रस का ह्रास कहते हैं। नीचनायक आदि में, तिर्यक् योनि के पक्षिसर्पादि में, नायक के प्रतियोगी प्रतिनायक आदि में तथा अप्रधान पात्रों में रस के होने पर उसे आभास के नाम से जानते हैं। प्रबल विरोधी कारणों के उत्पन्न हो जाने पर उस रस के सभी प्रकार की विरति को प्रशम के नाम से वर्णित करते हैं। आश्रय, प्रकृति अर्थात् प्रकरण, संस्कार अर्थात् वासना आदि के स्थायित्व से जो इस रस को सम्यक् प्रवहमानता है वह 'शेष' कहा जाता है। जो शृङ्गार आदि रस हैं, जो शान्त, उद्धत आदि नायक हैं तथा जो रति आदि के भेद हैं उन सबको इस शेष की विशेषता मानते हैं। जो विभाव, अनुभाव, सञ्चारी तथा आश्रय हैं तथा जो युवकों के विलास आदि हैं उन्हें परिपोष कहा जाता है। जिस व्यक्ति का जिस स्त्री आदि में प्रेम आदि का आश्रय रति आदि प्रतिपाद्यवस्तु होता है, वह व्यक्ति इस परिपोष का जन्म जानता है।

स्व० भा०—भोज ने कवियों के लिये सरस काव्य करने के लिये ज्ञातव्य एवं अपेक्षित विषयों का उल्लेख यहाँ किया है। इनका सम्यक् ज्ञान होने से सफल काव्य की रचना सुकर हो जाती है।

विषयेति। विषयाणां प्रतिपाद्यवस्तूनां ये आश्रयाः नायकादयः तेषां संस्कारा वासनाविशेषाः गुणाः धैर्यगाम्भीर्यादयः प्रकृतयः स्वभावाः तासां पाटवानि प्रभावाः तैः दीपनानाम् उद्दीपनभावानाम् अतिशयैः समुद्रेकैश्च अस्य निष्पन्नमात्रस्य रसस्य प्रकर्षः उत्कर्षः पुष्टिः उच्यते कथ्यते ॥ २७ ॥

तुल्येति। तुल्ये कालबले उत्पत्तिहेतू यस्य तथाभूते भावान्तरस्य अन्यस्य भावस्य उदये उद्रेके तस्य रसस्य यः संसर्गः, तेन संसर्गेण स रसः सङ्करः निगद्यते कथ्यते ॥२८॥

रसान्तरेति। रसान्तरेण अपरेण रसेन तिरस्कारात् व्यवधानात् अन्यरागात् अन्यस्य भावविशेषस्य उद्रेकाच्च तस्य मूलस्य रसस्य यः वृद्धे उत्कर्षस्य अपचयः हानिः भवति तं तस्य ह्रासं प्रचक्षते प्रवदन्ति ॥ २९ ॥

हीनेति। हीनपात्रेषु नीचनायकादिषु तिर्यक्षु पक्षिसर्पादिषु नायकप्रतियोगिषु प्रतिनायकेष्वित्यर्थः तथा गौणेषु अप्रधानेषु पदार्थेषु पात्रेष्वित्यर्थः तं रसम् आभासं निकृष्टमितिभावः विजानते विदन्ति ॥ ३० ॥

बलवदिति। बलवत्सु प्रबलेषु प्रतिकूलेषु विरोधिषु हेतुषु कारणेषु उपजातेषु सम्भवत्सु तस्य रसस्य सर्वात्मना सर्वप्रकारेण समुच्छेदः विरतिः प्रशमः वर्ण्यते कथ्यते ॥ ३१ ॥

आश्रयादिति। आश्रयात् आलम्बनात् नायिकादेः वापि अथवा प्रकृतेः प्रकरणात् अपि वा किंवा संस्कारस्य प्रागुक्तस्य स्थैर्यवत : स्थायित्वादित्यर्थः अस्य रसस्य यः अत्यन्तं सम्यक् अविच्छेदः अविरतिः स शेष इति शब्द्यते कथ्यते ॥ ३२ ॥

शृङ्गाराद्या इति। ये च शृङ्गाराद्या रसाः ये च शान्तोद्धतादयः धीरोद्धतादयः, ये च

रत्यादीनां भेदाः विशेषाः तान् सर्वान् अस्य शेषस्य प्रागुक्तस्य विशेषान् मन्वते जानन्ति कवय इति शेषः ॥ ३३ ॥

विभाव इति । यः विभावः आलम्बनोद्दीपनरूपश्च अनुभावश्च हावभावादिरूपः सञ्चारी स्मृत्यादिरूपश्च आश्रयः, ये च, यूनां नायिका-नायकानां लीलादयः, स परिपोषः कीर्त्यते ॥ ३४ ॥

आश्रय इति । यस्य जनस्य यत्र योषादौ नायिकादौ प्रेमादेः आश्रयः रत्यादिः विषयः प्रतिपाद्यवस्तु उपजायते भवति सः जनः अस्य परिपोषस्य जन्म उत्पत्तिम् अधिगच्छति जानाति ॥ ३५ ॥

आलम्बनविभावः स ज्ञानकारणमुच्यते ।
तेनादरादिरूपेण संस्कारस्तेन जायते ॥ ३६ ॥
अन्यतः पटुरभ्यस्त आश्रयादेर्गुणेन सः ।
तत्प्रबोधाय माल्यर्तुचन्दनेन्दूदयादयः ॥ ३७ ॥
उद्दीपनविभावास्ते स तैः स्मरति वाञ्छति ।
द्वेष्टि प्रयततेऽवैति मन्यते वक्ति चेष्टते ॥ ३८ ॥
तेऽनुभावास्तदा ये स्युः स्वेदरोमोद्गमादयः ।
हर्षामर्षादयो ये च ज्ञेयाः सञ्चारिणोऽत्र ते ॥ ३९ ॥
स्मृतीच्छायत्नजन्मानो मनोवाक्कायसंश्रयाः ।
विलासा ये वरस्त्रीणां ज्ञेया लीलादयस्तु ते ॥ ४० ॥
लीला विलासो विच्छित्तिर्विभ्रमः किलकिञ्चितम् ।
मोट्टायितं कुट्टमितं विब्बोको ललितं तथा ॥ ४१ ॥
विहृतं क्रीडितं केलिरिति स्त्रीणां स्वभावजाः ।
हेलाहावादयश्चान्ये ज्ञेया स्त्रीपुंसयोरपि ॥ ४२ ॥
उपसङ्ख्यानमेतेषामनुभावेषु मन्वते ।
पश्चाद्भावानुभूतिभ्यां स्मरणाद्यनुभाववत् ॥ ४३ ॥
स्मृत्यादयोऽनुभावाश्च भावाः सञ्चारिणश्च ये ।
नाट्येऽनुक्रियमाणास्ते नटैरभिनयाः स्मृताः ॥ ४४ ॥

वह आलम्बन विभाव (रसविषय रूप) ज्ञान का कारण कहा जाता है । उन-उन आदर आदि के द्वारा दूसरी जगह से वह संस्कार आश्रय-आलम्बन-आदि के गुणों से अन्य प्रकार से और भी अधिक उज्ज्वल तथा पुनः पुनः आवृत्त हो जाता है । उस संस्कार के उद्रेक के लिये माला ऋतु, चन्द्रोदय आदि प्रसिद्ध उद्दीपन विभाव होते हैं । वह संस्कार अथवा नायक आदि

आश्रय उन उद्दीपन विभावों के कारण स्मरण करता है, अभिलाषा करता है, द्वेष करता है, प्रयास करता है, ज्ञान प्राप्त करता है, मानता है, बोलता है, चेष्टा करता है। जो स्वेद, रोमाञ्च आदि हैं वे उस समय-संस्कार के समय-अनुभाव हो जाते हैं। यहाँ जो हर्ष, अमर्ष आदि हैं वे रस में व्यभिचारी समझे जाने चाहिये। स्मृति, इच्छा तथा यत्न से उत्पन्न होने वाले, मन, वाणी तथा शरीर पर आश्रित रहने वाले नायिकाओं के जो भावविशेष हैं, उन्हें लीला आदि समझना चाहिये। लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिञ्चित, मोट्टायित, कुट्टमित, विब्बोक, ललित, विहृत, क्रीडित तथा केलि, ये स्त्रियों में नैसर्गिक होते हैं।

इसके अतिरिक्त हेला, हाव आदि तथा अन्य, स्त्री तथा पुरुष दोनों के भी समझे जाने चाहिये। बाद में उत्पन्न होने के कारण तथा बाद में ही अनुभूत भी होने के कारण स्मृति आदि अनुभावों की भाँति इनकी भी गणना अनुभावों में समझी जाती है। जो स्मृति आदि अनुभाव हैं तथा जो सञ्चारी भाव हैं, नटों के द्वारा अनुकृत होने पर नाटक में वह अभिनय के रूप में याद किये जाते हैं ॥३६-४४॥

स्व० भा०—भोज ने अत्यन्त संक्षेप में विभाव तथा अनुभाव के लक्षण दिये हैं। भरत के शब्दों में—

"अथ विभाव इति कस्मादुच्यते। विभावो विज्ञानार्थः। विभावः कारणं निमित्तं हेतुरिति पर्यायाः। विभाव्यन्तेऽनेन वागङ्गसत्त्वाभिनया इति विभावः। यथा विभावितं विज्ञातमित्यनर्थान्तरम्। अत्र श्लोकः—

बहवोऽर्था विभाव्यन्ते वागङ्गाभिनयाश्रिताः।
अनेन यस्मात्तेनायं विभाव इति संज्ञितः।

अथानुभाव इति कस्माद् उच्यते। अनुभाव्यतेऽनेन वागङ्गसत्त्वैः कृतोऽभिनय इति। अत्र श्लोकः—

वागङ्गाभिनयेनेह यतस्त्वर्थोऽनुभाव्यते।
वागङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्त्वनुभावस्ततः स्मृतः ॥ ना. शा. अध्याय ७

दशरूपक में भी इनका स्वरूप स्पष्ट ही है—

ज्ञायमानतया तत्र विभावो भावपोषकृत्।
आलम्बनोद्दीपनत्वप्रभेदेन स च द्विधा ॥
अनुभावो विकारस्तु भावसंसूचनात्मकः ।४।२,३॥

भरत (ना. शा. २४।४-५, १२-१३) तथा धनञ्जय (द. रू. २।३०-३३) ने स्त्रियों के कुल मिलाकर वागङ्गस्वभावज बीस अलंकारों को माना है जिनमें सहज केवल दस हैं। उन लोगों ने क्रीडित तथा केलि को इसमें नहीं माना है।

रुद्रट के शब्दों में शृङ्गाराभास का लक्षण इस प्रकार है, जिसे सर्वत्र अनौचित्यपूर्ण प्रयोगों में स्वीकार करना चाहिये।

शृङ्गाराभासः स तु यत्र विरक्तेऽपि जायते रक्तः।
एकस्मिन्नपरोऽसौ नाभाष्येषु प्रयोक्तव्यः ।१४।३६॥

आलम्बनेति। सः आलम्बनविभावः ज्ञानस्य बोधस्य रसविषयस्येति भावः कारणं हेतुः उच्यते। तेन तेन आदरादिरूपेण अन्यतः सः संस्कारः समावेशः आश्रयादेः आलम्बनादेः गुणेन प्रभावेण अन्यतः अन्येन प्रकारेण च पटुः उज्ज्वलः अभ्यस्तः पुनः पुनरावृत्तः जायते भवति। तत्प्रबोधाय तस्य संस्कारस्य प्रबोधाय उद्रेकाय माल्यम् ऋतुः

वसन्तादिः इन्दूदयः चन्द्रोदयः इत्यादयः ते प्रसिद्धाः उद्दीपनविभावाः प्रभवन्तीति शेषः। सः संस्कारः तदाश्रयो नायकादिर्वा तैः उद्दीपनविभावैः स्मरति स्मृतिमनुभवति वाञ्छति अभिलषति, द्वेष्टि, प्रयतते, अवैति अवबुध्यते मन्यते वक्ति चेष्टते ॥ ३६-३८ ॥

ते इति। ये स्वेदरोमोद्गमादयः, घर्मरोमाञ्चादयः ते तदा तस्मिन् काले संस्कारसमये अनुभावाः स्युः भवेयुः। ये च हर्षामर्षादयः, ते अत्र रसे संचारिणः व्यभिचारिणः ज्ञेयाः ॥ ३९ ॥

स्मृतीति। स्मृतिः स्मरणम् इच्छा अभिलाषः यत्नः प्रवृत्तिविशेषः तेभ्यः जन्म उत्पत्तिः येषां तथोक्ताः वरस्त्रीणां नायिकानां मनोवाक्कायसंश्रयाः मानसाः वाचिकाः कायिकाश्च ये विलासा भावविशेषाः ते तु लीलादयः ज्ञेयाः वेदितव्याः ॥ ४० ॥

तानाह लीलेति। लीलादयः द्वादश स्त्रीणां स्वभावजाः नैसर्गिका भवन्तीति शेषः। अन्ये हेलाभावादयः स्त्रीपुंसयोरपि उभयोरेव दम्पत्योः ज्ञेयाः ॥ ४१-४२ ॥

उपसङ्ख्यानमिति। एतेषां हेलादीनाम् अनुभावेषु पश्चाद्भावानुभूतिभ्यां स्मरणाद्यनुभाववत् स्मृत्यादीननुभावानिव उपसङ्ख्यानमुपलक्षणं मन्वते जानन्ति बुधा इति शेषः। यथा स्मृत्यादयः अनुभावाः संचारिणश्च तथा हावादयोऽपि संचारिणः अनुभावाश्च भवन्तीति भावः ॥ ४३ ॥

स्मृत्यादय इति। ये स्मृत्यादयः अनुभावाः संचारिणश्च भावाः ते नाट्ये नटैः कुशीलवैः अनुक्रियमाणाः अभिनयाः स्मृताः उक्ताः ॥ ४४ ॥

भावो यदा रतिर्नाम प्रकर्षमधिगच्छति।
नाधिगच्छति चाभीष्टं विप्रलम्भस्तदोच्यते ॥ ४५ ॥
पूर्वानुरागो मानश्च प्रवासः करुणश्च सः।
पुरुषस्त्रीप्रकाण्डेषु चतुःकाण्डः प्रकाशते ॥ ४६ ॥
प्रागसंकेतयोर्यूनोरभिलाषः प्रवर्त्तते।
सङ्कल्परमणीयोऽनुरागः स प्राच्य उच्यते ॥ ४७ ॥
अहेरिव गतिः प्रेम्णः स्वभावकुटिलेति सः।
अहेतोर्नेति नेत्युक्तेर्हेतोर्वा मान उच्यते ॥ ४८ ॥
देशान्तरादिभिर्यूनोर्व्यवधानं चिराय यत्।
नवेऽनुरागे प्रौढे वा प्रवासः सोऽभिधीयते ॥ ४९ ॥
लोकान्तरगते यूनि वल्लभे वल्लभा यदा।
भृशं दुःखायते दीना करुणः स तदोच्यते ॥ ५० ॥
रतिरेवेष्टसंप्राप्तौ पुष्टः सम्भोग उच्यते।
सोऽपि पूर्वानुरागादेरानन्तर्य्याच्चतुर्विधः ॥ ५१ ॥

न विना विप्रलम्भेन सम्भोगः पुष्टिमश्नुते ।
कषायिते हि वस्त्रादौ भूयान् रागोऽनुषज्यते ॥ ५२ ॥
स्त्रीपुंसयोर्विप्रलम्भे वैचित्र्याकल्पनादयः ।
चेष्टाविशेषाः सम्भोगे चुम्बनालिङ्गनादयः ॥ ५३ ॥

जब रति नाम का भाव अधिक उत्कटता को प्राप्त करता है तथा अपनी चाही वस्तु को नहीं पाता है तब वह विप्रलम्भ कहा जाता है। वह विप्रलम्भ स्त्री तथा पुरुष रूप आधारों में पूर्वानुराग, मान, प्रवास तथा करुण इन चार प्रकारों का होकर प्रकाशित होता है। पहले से एक दूसरे को न पहचानने वाले युवा तथा युवती दोनों का एकाएक जो एक दूसरे के प्रति अनुराग प्रवृत्त होता है तथा वासनाविशेष के कारण रमणीय वह अनुराग पूर्व अर्थात् पूर्वानुराग कहा जाता है। प्रेम की गति साँप की भाँति स्वभाव से वक्र होती है, इसलिये वह विप्रलम्भ बिना कारण के नहीं होता है ऐसी बात नहीं है। अथवा उक्ति को कारण होने से वह मान कहा जाता है।

नवीन अथवा प्रवृद्ध प्रेम होने पर जो युवक तथा युवती दोनों में स्थानभिन्नता के कारण दीर्घकाल तक विच्छेद है, वह प्रवास कहा जाता है। जब युवक के दूसरे लोक में चले जाने पर प्रियतमा बेचारी बहुत दुःख मनाती है तब वह करुण कहा जाता है। रति ही प्रिय की प्राप्ति होने पर अत्यधिक पुष्ट होकर सम्भोग कहा जाता है। वह सम्भोग भी पूर्वानुराग आदि के तत्काल बाद होने से अथवा निकट से सम्बद्ध होने से चार प्रकार का (पूर्वरागानन्तर, मानानन्तर, प्रवासानन्तर तथा करुणानन्तर संभोग)) होता है। संभोग विप्रलम्भ के बिना उत्कर्ष नहीं प्राप्त करता है, क्योंकि वस्त्र आदि के कषाय से रंग दिये जाने पर रंग खूब चढ़ता है। विप्रलम्भ की दशा में स्त्री तथा पुरुष दोनों के चित्त के विकृत होने से विविध सङ्कल्प विशेष उत्पन्न होते हैं। सम्भोग में चुम्बन, आलिंगन आदि चेष्टा विशेष होते हैं।।४५-५३॥

स्व० भा०—शृङ्गार के विषय में रुद्रट ने अपना विचार इस प्रकार दिया है—

व्यवहारः पुंनार्योरन्योन्यं रक्तयोः रतिप्रकृतिः ।
शृङ्गारः स द्वेधा संभोगो विप्रलम्भश्च ॥
संभोगः संगतयोर्वियुक्तयोर्यत्र विप्रलम्भोऽसौ ॥ काव्यालंकार१२।५-६॥
अन्योऽन्यस्य सचित्तावनुभवतो नायकौ यदिह मुदौ ।
आलोकनवचनादि स सर्वः संभोगशृङ्गारः ॥ वही १३।१॥
अथ विप्रलम्भनामा शृङ्गारोऽयं चतुर्विधो भवति ।
प्रथमानुरागमानप्रवासकरुणात्मकत्वेन ॥ वही १४।१॥

उन्होंने मान का लक्षण यह दिया है—

मानः स नायके यं विकारमायाति नायिका सेर्ष्या ।
उद्दिश्य नायिकान्तरसंबन्धसमुभवं दोषम् ॥ वही १४।१५ ॥

प्रवास का भी लक्षण अत्यन्त स्पष्ट तथा व्यापक है—

यास्यति याति गतो यत्परदेशं नायकः प्रवासोऽसौ ।
एष्यत्येत्यायातो यथर्त्ववस्थोऽन्यथा च गृहात् ॥ वही १४।३३॥

वस्तुतः करुण विप्रलम्भ तथा करुण रस में अन्तर यह है कि प्रथम में नायिका या नायक

या तो मर जाता है, या मृतकल्प हो जाता है तथा बाद में उन दोनों का समागम होता है किन्तु करुण रस में दोनों में फिर मिलन नहीं होता।

धनञ्जय ने शृङ्गार को त्रिविध स्वीकार किया है—

अयोगो विप्रयोगश्च संभोगश्चेति स त्रिधा ॥ दशरूपक ४।५०॥

इन्होंने भी मान तथा प्रवास को विप्रयोग कहा है।

करुणविप्रलम्भ तथा करुण का अन्तर धनञ्जय ने स्पष्ट शब्दों में दिया है—

मृते स्वैकत्र यत्रान्यः प्रलपेच्छोक एव सः।
व्याश्रयत्वान्न शृङ्गारः, प्रत्यापन्ने तु नेतरः ॥ वही ४।६७॥

भाव इति। यदा रतिर्नाम भावः प्रकर्षम् औत्कट्यम् अधिगच्छति प्राप्नोति अभीष्टम् प्रियम् नाधिगच्छति न प्राप्नोति च तदा स विप्रलम्भः उच्यते कथ्यते ॥ ४५ ॥

पूर्वेति। स विप्रलम्भः पुरुषस्त्रीप्रकाण्डेषु उत्तमनायिकानायकेषु पूर्वानुरागः मानः प्रवासः करुणश्चेति चतुःकाण्डः चतुर्विध इत्यर्थः सन् प्रकाशते ॥ ४६॥

प्रागिति। प्राक् पूर्वम् असङ्केतयोः सङ्केतरहितयोः यूनोः स्त्रीपुंसयोः सहसा यः अभिलाषः अन्योन्यानुरागः प्रवर्त्तते प्रभवति सङ्कल्पेन वासनाविशेषेण रमणीयः सः अनुरागः प्राच्यः पूर्वं इत्यर्थः पूर्वराग इति यावत् उच्यते कथ्यते ॥ ४७ ॥

अहेरिति। प्रेम्णः प्रणयस्य गतिः प्रसरः अहेरिव सर्पस्येव स्वभावेन कुटिला वक्रा इति हेतोः स विप्रलम्भः अहेतोः हेतुं विना न इति न इति एवं न एवं न इति परस्परस्य विसंवादेन उक्तेर्वा हेतोः मानः उच्यते ॥ ४८ ॥

देशेति। नवे नूतने प्रौढे प्रवृद्धिं गते वा अनुरागे सति देशान्तरादिभिः यूनोर्दम्पत्योः चिराय दीर्घकालमित्यर्थः यद्व्यवधानं विच्छेदः, सः प्रवासः अभिधीयते कथ्यते ॥४९॥

लोकेति। यूनि तरुणे वल्लभे प्रिये लोकान्तरगते मृते सति वल्लभा कान्ता यदा दीना दुःखिनी सती भृशमतिशयेन दुःखायते दुःखमनुभवति तदा सः करुणः उच्यते। अत्र लोकान्तरगते इत्यत्र पुनः प्राप्ये इति वक्तव्यम् अप्राप्ये तु करुण एव रस इति बोध्यम् ॥ ५० ॥

रतिरिति। रतिरनुराग एव इष्टस्य प्रियजनस्य सम्प्राप्तौ सत्यां पुष्टः प्रवृद्धः सम्भोगः उच्यते। सः सम्भोगोऽपि पूर्वानुरागादेः पूर्वरागमानप्रवासकरुणानामित्यर्थः आनन्तर्य्यात् अनन्तरभवत्वात् चतुर्विधः पूर्वरागानन्तरसम्भोगः मानानन्तरसम्भोगः प्रवासानन्तरसम्भोगः करुणानन्तरसम्भोगश्चेत्यर्थः ॥ ५१ ॥

नेति। सम्भोगः विप्रलम्भेन विना पुष्टिम् उत्कर्षं न अश्नुते न प्राप्नोति हि यतः वस्त्रादौ कषायिते कषायेण रक्ते सति भूयान् समुज्ज्वल इत्यर्थः रागः वर्णविशेषः अनुषज्यते वर्द्धते इत्यर्थः ॥ ५२ ॥

स्त्रीति। विप्रलम्भे सति स्त्रीपुंसयोः दम्पत्योः वैचित्र्येण विकृतचित्तत्वेन आकल्पनादयः विविधाः सङ्कल्पविशेषा जायन्ते इति शेषः। सम्भोगे सति चुम्बनालिङ्गनादयः चेष्टाविशेषा भवन्ति ॥ ५३ ॥

विप्रलम्भोऽभियोगाद्यैः सम्भोगे साध्वसादिभिः।
मिथः परीक्षा याः प्रेम्णो निर्दिष्टास्ताः परीष्टयः ॥५४॥
विप्रलम्भादिशब्दानां लोकसिद्धेषु वस्तुषु।

प्रकृत्यादिविभागेन विनिवेशात् निरुक्तयः ॥ ५५ ॥
संश्रुत्य विप्रलम्भार्थान् गृधिवञ्चयोः प्रलम्भने ।
इत्यादिज्ञापकात् ज्ञेयः प्रपूर्वो वञ्चने लभिः ॥ ५६ ॥
अदानञ्च प्रतिश्रुत्य विसंवादनमेव च ।
कालस्य हरणं चाहुः प्रत्यादानञ्च वञ्चनम् ॥ ५७ ॥
पूर्वानुरागपूर्वेषु विप्रलम्भेषु तत्क्रमात् ।
विशेषद्योतकेनेह व्युपसर्गेण सूच्यते ॥ ५८ ॥
प्रतिश्रवो हि पूर्वानुरागे वक्रेक्षितादिभिः ।
अभीष्टालिङ्गनादीनामदानं ह्रीभयादिभिः ॥ ५९ ॥
माने निवारणं तेषां विसंवादनमुच्यते ।
अयथावत् प्रदानं वा व्यलीकस्मरणादिभिः ॥ ६० ॥
प्रवासे कालहरणं व्यक्तमेषां प्रतीयते ।
प्रोष्यागतेष्विहैतानि कान्ताः कान्तेषु युञ्जते ॥ ६१ ॥
प्रत्यादानं पुनस्तेषां करुणे को न मन्यते ।
स्वयं दत्तानि हि विधिस्तानि तत्रापकर्षति ॥ ६२ ॥

विप्रलम्भ दशा में अभियोग—दूती प्रेषण आदि व्यापार-आदि प्रमुख चेष्टाओं के द्वारा तथा सम्भोग में साध्वस आदि-त्रास आदि-के द्वारा प्रेम की परस्पर परीक्षायें होती हैं, वे परीष्टि कहे जाते हैं। विप्रलम्भ आदि शब्दों का लौकिक विषयों में धातु, उपसर्ग आदि के विभाग द्वारा प्रयोग करने से निरुक्ति होती है। गृधि तथा वञ्चि धातुओं के प्रलम्भन अर्थ में ज्ञात होने से 'विप्रलम्भ' के अर्थों को (उनके अनुसार) सुनकर यहाँ 'प्र' (उपसर्ग) पूर्वक लभि धातु का-प्रलम्भ का-वञ्चना के अर्थ में प्रयोग समझना चाहिये। (सम्भोग आदि को) स्वीकार करके उसे न देना, विरुद्ध आचरण करना, कालक्षेप करना तथा उसे पुनः लौटा लेना वञ्चना कहा गया है। पूर्वराग प्रभृति 'विप्रलम्भों' में विशेष अर्थ के द्योतक 'वि' उपसर्ग के द्वारा इस प्रकरण में क्रमशः वह (अदान आदि) ज्ञात कराया जाता है, क्योंकि पूर्वानुराग में कटाक्षपात आदि तथा अभीष्ट आलिङ्गन आदि की प्रतिज्ञा, लज्जा तथा भय आदि के कारण दान नहीं हो पाता-अदानता रहती है। मान में उन चेष्टाओं का अनाचरण, अप्रिय कार्य तथा स्मरण आदि के द्वारा नियमपूर्वक न देने अथवा अनुचित रूप से देने को विसंवादन कहते हैं। इन (चारों) प्रकार के विप्रलम्भों में प्रवास नामक विप्रलम्भ में कालक्षय स्पष्ट ही प्रतीत होता है तथा बाहर गये हुये व्यक्ति के लौट आने पर ही इस प्रसङ्ग में नायक तथा नायिकायें इन आलिङ्गन आदि कर्मों को करते हैं। कौन व्यक्ति है जो करुण-विप्रलम्भ में उन अभीष्ट आलिङ्गन आदि का पुनः ग्रहण नहीं जानता क्योंकि दैव अपने द्वारा दिये गये उन अभीष्ट आलिङ्गन आदि को करुण-रस में अपहृत कर लेता है ॥ ५४-६२ ॥

स्व० भा०—यहाँ भोज ने विप्रलम्भ शब्द की व्युत्पत्तिपूर्वक व्याख्या की है। उन्होंने 'डुलभष् प्राप्तौ' से भ्वादिगणीय 'लभ' धातु, दिवादिगणीय 'गृधु अभिकांक्षायाम्' तथा चुरादिगणीय 'वन्चु प्रलम्भने' इन तीन धातुओं की परस्पर तुलना करके यह दिखलाया है कि 'प्र' उपसर्ग पूर्वक 'लम्भ' धातु से बने 'प्रलम्भ' का अर्थ है वन्चु-वञ्चना करना। इसी में विशिष्ट अर्थों का बोध कराने के लिये 'वि' उपसर्ग लगाकर 'विप्रलम्भ' शब्द बनता है। इस 'वि' का अर्थ अदान, विसंवादन, कालक्षेप तथा प्रत्यादान गृहीत हो सकता है और यह क्रमशः पूर्वराग, मान, प्रवास तथा करुण इन चारों विप्रलम्भ की दशाओं का बोध करा देता है।

विप्रलम्भे इति। विप्रलम्भे अभियोगः दूतीप्रेषणादिव्यापारः आद्यः मुख्यः येषां तथाविधः चेष्टाविशेषैः तथा सम्भोगे साध्वसादिभिः त्रासादिभिः प्रेम्णः प्रणयस्य याः मिथः परस्परं परीक्षाः परिदर्शनानि ताः परीष्टयः निर्दिष्टाः कथिताः ॥ ५४ ॥

विप्रलम्भेति। विप्रलम्भादिशब्दानां प्रागुक्तानां लोकसिद्धेषु लौकिकेषु वस्तुषु विषयेषु प्रकृत्यादिविभागेन प्रकृत्यादीनां धातूपसर्गादीनां विभागेन विवेकेन विनिवेशात् प्रयोगात् निरुक्तयः अर्था उक्ता इति शेषः ॥ ५५ ॥

संश्रुत्येति। गृधिवञ्चयोः गृधिधातोः वञ्चिधातोश्च प्रलम्भने अर्थे इत्यादिज्ञापकात् ज्ञानकारणात् लिङ्गात् विप्रलम्भार्थान् संश्रुत्य श्रवणविषयीकृत्य प्रपूर्वोलभिः लम्भधातुः वञ्चने अर्थे ज्ञेयः वेदितव्यः ॥ ५६ ॥

अदानञ्चेति। प्रतिश्रुत्य कटाक्षावलोकनादिभिः सम्भोगमङ्गीकृत्येत्यर्थः अदानं तदकरणमित्यर्थः विसंवादनं विरुद्धाचरणं कालस्य हरणं क्षेपणं तथा प्रत्यादानं पुनर्ग्रहणम् एतच्चतुर्विधं भावं विप्रलम्भेषु चतुर्षु क्रमेण आहुरिति निष्कर्षः ॥ ५७ ॥

पूर्वेति। पूर्वानुरागपूर्वेषु पूर्वरागप्रभृतिषु विप्रलम्भेषु विशेषद्योतकेन विशिष्टार्थज्ञापकेन व्युपसर्गेण विनाम्नोपसर्गेण इह अस्मिन् प्रकरणे क्रमात् तत् पूर्वोक्तम् अदानादिकं सूच्यते बोध्यते ॥ ५८ ॥

प्रतिश्रव इति। हि यतः पूर्वानुरागे वक्रेक्षितादिभिः कुटिलदर्शनादिभिः अभीष्टालिङ्गनादीनां प्रतिश्रवः अङ्गीकरणं तथा ह्रीभयादिभिः लज्जासाध्वसादिभिः अदानं तदकरणम् ॥ ५९ ॥

माने इति। तेषाम् अभीष्टालिङ्गनादीनां निवारणम् अनाचरणमित्यर्थः व्यलीकस्मरणादिभिः अप्रियकार्यस्मरणादिभिः अयथावत् अनौचित्येनेत्यर्थः प्रदानं वा अभीष्टालिङ्गनादीनामिति भावः विसंवादनम् उच्यते कथ्यते ॥ ६० ॥

प्रवासे इति। एषां चतुर्णां विप्रलम्भानां मध्ये प्रवासे प्रवासाख्ये विप्रलम्भे कालहरणं व्यक्तं स्पष्टं प्रतीयते बुध्यते। प्रोष्य आगतेषु प्रवासात् प्रतिनिवृत्तेषु कान्तेषु कान्ताः इह कामिन्यः प्रकरणे एतानि आलिङ्गनादीनि वा युञ्जते कुर्वन्ति ॥ ६१ ॥

प्रत्यादानमिति। को जनः करुणे करुणाख्ये विप्रलम्भे तेषाम् अभीष्टालिङ्गनादीनां प्रत्यादानं पुनर्ग्रहणं न मन्यते न जानाति? अपि तु सर्व एव मन्यते इत्यर्थः। हि यतः विधिर्दैवं स्वयम् आत्मना दत्तानि तानि अभीष्टालिङ्गनादीनि तत्र करुणे अपकर्षति हरतीत्यर्थः ॥ ६२ ॥

प्रलम्भेत्यत्र यदि वा वञ्चनामात्रवाचिनि।
विना समासे चतुराश्चतुरोऽर्थान् प्रयुञ्जते ॥ ६३ ॥

विविधश्च विरुद्धश्च व्याविद्धश्च क्रमेण सः ।
विनिषिद्धश्च पूर्वानुरागादिषु विषज्यते ॥ ६४ ॥
पूर्वानुरागे विविधं वञ्चनं व्रीडितादिभिः ।
माने विरुद्धं तत् प्राहुः पुनरीर्ष्यायितादिभिः ॥ ६५ ॥
व्याविद्धं दीर्घकालत्वात् प्रवासे तत् प्रतीयते ।
विनिषिद्धन्तु करुणे करुणत्वेन गीयते ॥ ६६ ॥
रागोऽनु सह पश्चाद्वानुरूपोऽनुगतोऽपि वा ।
यूनोरपूर्वः पूर्वानुरागशब्देन शब्द्यते ॥ ६७ ॥
राजते रञ्जतेर्वापि रागः करणभावयोः ।
घञन्यकारके भावे नलोपेन नियम्यते ॥ ६८ ॥
मान्यते प्रेयसा येन यं प्रियत्वेन मन्यते ।
मनुते वा मिमीते वा प्रेममानः स कथ्यते ॥ ६९ ॥
महाभाष्यकृतः कोऽसावनुमान इति स्मृतेः ।
ल्युडन्तोऽपि न पुंलिङ्गो मानशब्दः प्रदुष्यति ॥ ७० ॥
यत्राङ्गना युवानश्च वसन्ति न वसन्ति च ।
स प्रवासः प्रशब्देन प्रतीपार्थेन कथ्यते ॥ ७१ ॥
चिन्तोत्कण्ठादिभिश्चेतो भृशं वासयतीह यः ।
प्रवासयति वा यूनः स प्रवासो निरुच्यते ॥ ७२ ॥
प्रपूर्वको वसिर्ज्ञेयः कारितान्तःप्रमापणे ।
तूष्णीं प्रवासयेदेनमिति वृद्धानुशासनात् ॥ ७३ ॥

वह विप्रलम्भ पूर्वानुराग आदि में क्रमशः विविध, विरुद्ध, व्याविद्ध तथा विनिषिद्ध रूप से प्रयुक्त होता है। पूर्वानुराग में वञ्चन अर्थात् विप्रलम्भ लज्जा आदि रूपों से अनेक प्रकार का—विविध—होता है। मान में उसी को ईर्ष्या आदि के विरुद्ध-प्रतीप-कहा गया है। प्रवास में वही वञ्चना बहुत समय तक रहने से व्याविद्ध अर्थात् विशेष रूप से परिणत प्रतीत होता है तथा करुण में वही नितान्त शोक जनक होने के कारण विनिषिद्ध-विशेषरूप से निषिद्ध रूप में परिणत प्रतीत होता है। पूर्वानुराग शब्द के द्वारा प्रेमी तथा प्रेमिका में विद्यमान 'राग' शब्द 'अनु' उपसर्ग के साथ प्रयुक्त होकर पश्चात्, अनुरूप तथा अनुगत अर्थ की प्रतीति कराते हुए अत्यन्त विचित्र के रूप में प्रकट कराया जाता है। 'राज्' धातु से करण तथा भाव अर्थ में घञ् प्रत्यय लगाकर राग शब्द बनता है अथवा रञ्जधातु से कर्तृभिन्न कारक के अर्थ में अथवा भाव के अर्थ

में घञ् प्रत्यय लगाकर तथा 'नकार' का लोप करके राजपद सिद्ध किया जाता है। जिसके कारण प्रियतम के द्वारा (प्रेयसी) सम्मानित-आदरणीय-की जाती है, तथा जिसको वह प्रीति के विषय के रूप में समझती है, अथवा मापती है वह प्रेममान कहा जाता है। महाभाष्यकार पतञ्जलि के "कोऽसावनुमान इति" इस प्रयोग को स्मरण करने से ल्युट् प्रत्ययान्त होते हुये भी पुल्लिङ्ग में 'मान' शब्द अशुद्ध नहीं होता है। जिसमें स्त्रियाँ तो रहती हैं, किन्तु युवकगण नहीं रहते वह प्रवास, उलटे अर्थ वाले 'प्र' उपसर्ग के साथ रहने पर, कहा जाता है। इस संसार में जो चिन्ता, उत्कण्ठा आदि के द्वारा चित्त को अतिशय वासित-आच्छादित अथवा आकुल कर देता है अथवा तरुणों को दूसरे देश में भिजवा देता है वह प्रवास कहा जाता है। प्रपूर्वक 'वस्' धातु, इस व्यक्ति को जो मौन भाव से स्थित है दूसरे देश में ले जाये, इस पण्डितों के आदेशानुसार जिसमें आन्तर वध कर दिया जाता है, इस अर्थ में समझी जानी चाहिये ॥६३-७३॥

स्व० भा०—यहाँ भोज ने कई बातों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है—१-'अनुराग' शब्द के 'राग' अंश को उन्होंने—राज तथा—रञ्ज दोनों धातुओं से घञ् प्रत्यय लगाकर निष्पन्न किया है। 'राज' धातु से भाव तथा कारण अर्थ में 'भावे ३।३।१८॥ तथा "अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्" ३।३।१९॥ सूत्रों के अनुसार 'रागः' पद की सिद्धि पुनः "चजोः कुघिण्यतोः' ७।३।५२॥ के सहयोग से हुई। भाव अर्थ में इसका अर्थ 'राजृ दीप्तौ' भ्वादिगणीय होने से 'दीप्ति' तथा करण में "दीप्ति की जाती है जिसके द्वारा" इस प्रकार होगा। भ्वादि तथा दिवादि दोनों गणों में स्थित 'रञ्ज् रागे' अर्थ में रञ्ज धातु से 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' सूत्र से भाव तथा कारण अर्थ में घञ् प्रत्यय हुआ। 'घञि च भावकरणयोः' ६।४।२७॥ से इसमें विद्यमान 'ञ्' का लोप हुआ। फिर "चजोः कुघिण्यतोः" ७।३।५२॥ से 'ज्' का ग् हुआ और अन्त में रागः पद बना।

(२) दूसरी बात यह है कि 'मान' शब्द यहाँ पुल्लिंग में प्रयुक्त है जब कि 'भावे ल्युपुन्तः' इस लिङ्गानुशासन के सूत्रानुसार ल्युट्प्रत्ययान्त 'मान' शब्द का प्रयोग नपुंसकलिङ्ग में होना चाहिये। इसका उत्तर वह यह देते हैं कि महाभाष्यकार सदृश विद्वानों ने अपने ग्रन्थ में 'कोऽसाननुमान इति' सदृश पुल्लिंग प्रयोगों को वहाँ किया है। इससे अशुद्धि का प्रश्न नहीं उठता वस्तुतः लिङ्गानुशास में ही पुल्लिंगाधिकार में "मानयानाभिधाननलिनपुलिनोद्यानशयनः सनस्थानचन्दनालानसमानभवनवसनसम्भावनविभावनविमानानि नपुंसके च" सूत्र से इसका प्रयोग पुल्लिंग में भी होता है।

(३) तीसरी बात है प्रवास पद की काव्यात्मक व्याख्या।

प्रलम्भेति। **यदि वा वञ्चनामात्रवाचिनि केवलवञ्चनार्थप्रतिपादके प्रलम्भ इत्यत्र प्रपूर्वकलम्भधातौ चतुराः कवयः विना व्युपसर्गेण समासे कृते चतुरः अर्थान् पूर्वरागमानप्रवासकरुणानित्यर्थः प्रयुञ्जते व्यवहरन्ति ॥ ६३ ॥**

विविधश्चेति। **स विप्रलम्भः पूर्वानुरागादिषु क्रमेण विविधश्च विरुद्धश्च व्याविद्धश्च विनिषिद्धश्च विषज्यते प्रयुज्यते ॥ ६४ ॥**

पूर्वेति। **पूर्वानुरागे वञ्चनं विप्रलम्भः व्रीडितादिभिः लज्जाभयादिभिः विविधं बहुप्रकारम्। माने तत् वञ्चनं पुनरीर्ष्यायितादिभिः विरुद्धं प्रतीपतया परिणतं प्राहुः बुधा इति शेषः। प्रवासे तत वञ्चनं दीर्घकालत्वात् बहुकालवर्त्तित्वात् व्याविद्धं विशेषेण व्याहतत्वेन परिणतं प्रतीयते। करुणे तत् करुणत्वेन नितरां शोकजनकत्वेन विशेषेण निषिद्धं निषिद्धतया परिणतम् ॥ ६५-६६ ॥**

राग इति। **पूर्वानुरागशब्देन यूनोः दम्पत्योः रागः अनुशब्दयोगेन सह पश्चाद्वा अनुरूपो वा अनुगतो वा अतएव अपूर्वः अतीव चमत्कारी सन् शब्द्यते कथ्यते ॥ ६७ ॥**

राग इति । राजतेः राजधातोः करणभावयोः करणे वाच्ये भावे वाच्ये चेत्यर्थः रागः रागशब्द इत्यर्थः घञा घञ्प्रत्ययेन, वापि अथवा रञ्जधातोः अन्यकारके कर्तृभिन्ने कारके भावे च घञा नलोपेन निष्पद्यते साध्यते इत्यर्थः ॥ ६८ ॥

मान्यते इति । येन प्रेममानेन हेतुना प्रेयसा प्रियतमेन मान्यते माननीया क्रियते इत्यर्थः प्रेयसीति शेषः । यं प्रेममानं प्रियत्वेन प्रीतिविषयत्वेन मन्यते मनुते मिमीते वा जानातीत्यर्थः सः प्रेममानः कथ्यते ॥६९॥

ननु कथं मिमाते इति । माधातौ ल्युटि मानशब्दः पुंलिङ्ग इत्याशङ्क्याह महेति । कोऽप्यनुमान इति महाभाष्यकृतः स्मृतेः स्मरणात् महाभाष्ये प्रयोगादित्यर्थः ल्युडन्तोऽपि पुंलिङ्गो मानशब्दः न प्रदुष्यति । न दोषमावहतीत्यर्थः ॥ ७० ॥

यत्रेति । यत्र भङ्गनाः कान्ता वसन्ति तिष्ठन्ति, युवानश्च न वसन्ति न तिष्ठन्ति स प्रवासः प्रतीपार्थेन प्रतिकूलार्थेन प्रशब्देन कथ्यते ॥ ७१ ॥

चिन्तेति । इहास्मिन् संसारे यः चिन्तोत्कण्ठादिभिः चेतः चित्तं भृशमतिशयेन वासयति आच्छादयति आकुलयतीत्यर्थः वा यूनः तरुणान् प्रवासयति देशान्तरं नयतीत्यर्थः सः प्रवासः निरुच्यते कथ्यते ॥ ७२ ॥

प्रपूर्वक इति । प्रपूर्वकः वसिः वसधातुः एनं जनं तूष्णीं मौनभावेन स्थितमिति यावत् दुःखेनेति भावः प्रवासयेत् देशान्तरं नयेत् इति वृद्धानां पण्डितानाम् अनुशासनात् कारितं जनितम् अन्तः प्रमाणम् आन्तरो बन्धः तस्मिन् अर्थे इति शेषः ज्ञेयः बोध्यः ॥ ७३ ॥

अभूतोत्पादनायां कृञ् दृष्टः कुरु घटं यथा ।
दृष्टश्चोच्चारणे चोरङ्कारमाक्रोशतीतिवत् ॥ ७४ ॥
दृष्टोऽवस्थापनेऽश्मानमितः कुरु यथोच्यते ।
अभ्यञ्जनेऽपि च यथा पादौ मे सर्पिषा कुरु ॥ ७५ ॥
मूर्च्छाविलापौ कुरुते कुरुते साहसे मनः ।
करोति दुःखं चित्तेन योऽसौ करुण उच्यते ॥ ७६ ॥
भुजिः पालनकौटिल्याभ्यवहारानुभूतिषु ।
भुनक्ति भुग्नो भुङ्क्तेऽन्नं भुङ्क्ते सुखमितीष्यते ॥ ७७ ॥
समीचीनार्थः संपूर्वात्ततो घञ्प्रत्यये सति ।
भावे वा कारके वापि रूपं सम्भोग इष्यते ॥ ७८ ॥
स पालनार्थः पूर्वानुरागानन्तर उच्यते ।
उत्पन्ना हि रतिस्तस्मिन्नानुकूल्येन पाल्यते ॥ ७९ ॥
स मानानन्तरं प्राप्तः कौटिल्यार्थं विगाहते ।
स्वतोऽपि कुटिलं प्रेम किमु मानान्वये सति ॥ ८० ॥

प्रवासानन्तरे तस्याभ्यवहारार्थतेष्यते ।
तत्र ह्युपोषितैरन्नमिव निर्विश्यते रतिः ॥ ८१ ॥
करुणानन्तरगतोऽनुभावार्थः स कथ्यते ।
विश्रम्भवद्भिरस्मिन् हि सुखमेवानुभूयते ॥ ८२ ॥
यदि वा भोग इत्यस्य संप्रयोगार्थवाचिनः ।
समा समासे चतुरश्चतुरोऽर्थान् प्रचक्षते ॥ ८३ ॥
स संक्षिप्तोऽथ सङ्कीर्णः सम्पूर्णः सम्यगृद्धिमान् ।
अनन्तरोपदिष्टेषु सम्भोगेषूपपद्यते ॥ ८४ ॥

'कृञ्' धातु अनुत्पन्न पदार्थ को उत्पन्न करने के अर्थ में देखा जाता है जैसे 'घड़ा करो-बनाओ में। यह धातु उच्चारण के अर्थ में भी देखा गया है जैसे "यह चोर है" इस प्रकार कहते हुये शोर करता है, में। अवस्थान—किसी वस्तु को कहीं रखने के अर्थ में भी कृञ् धातु का प्रयोग देखा जाता है। जैसे "अश्मानं इतः कुरु" 'पत्थर को यहाँ रखो' सदृश प्रयोगों में कहा जाता है। और लेप—अभ्यञ्जन-के भी अर्थ में (कृञ् का प्रयोग होता है, जैसे "सर्पिषा में पादौ कुरु" "मेरे दोनों पैरों में घी का लेप करो" आदि में) इस प्रकार जो मूर्च्छा तथा विलय को उत्पन्न करता है, साहस-पूर्ण (विषभङ्ग आदि) कर्मों में मन लगाता है, तथा मन से दुःख कराता है वह करुण कहा जाता है। भुज् धातु का पालन कुटिलता, भोजन तथा अनुभूति अर्थों में प्रयोग अभीष्ट है। जैसे (राजा पृथ्वीं) भुनक्ति, (राजा पृथ्वी का) पालन करता है, असौ भुग्नः—यह कुटिल है, अन्नं भुंक्ते—अन्न खाता है—तथा 'भुङ्क्ते सुखम्' सुख भोगता है—सदृश प्रयोगों में अभीष्ट है। हमारा समीचीन अर्थ 'सम्' उपसर्गपूर्वक (भुज् धातु से) घञ् प्रत्यय भाव अथवा कारक अर्थ में लगने पर 'सम्भोगे' इस रूप से इष्ट है। पूर्वानुराग के बाद होने से वह सम्भोग पालन के अर्थ में कहा जाता है क्योंकि इस सम्भोग में उत्पन्न रति अनुकूल रूप से पाली जाती है। वही सम्भोग मान के पश्चात् प्राप्त होने पर कुटिलता के अर्थ को प्राप्त करता है, क्योंकि प्रेम तो स्वभाव से ही कुटिल होता है पुनः मान का साथ हो जाने पर तो क्या कहना। प्रवास के पश्चात् तो उस सम्भोग को भोजनार्थता इष्ट है, क्योंकि उस दशा में (प्रवासियों के द्वारा रति उसी प्रकार आस्वादित की जाती है, जैसे उपवास किये हुये के द्वारा भोजन आस्वादित होता है। करुण के पश्चात् वह सम्भोग अनुभूति के अर्थ में कहा जाता है, क्योंकि इसमें (भावी सङ्गम में) विश्वास रखने वालों के द्वारा सुख ही अनुभव का विषय होता है।

यद्यपि 'सम्' उपसर्ग के प्रयोग से युक्त होकर अर्थों का ज्ञान कराने वाले 'भोग' इस पद के समान रूप से (पूर्वराग आदि) चार अर्थ संक्षेप में प्रकट हो जाते हैं तथापि उन चारों अर्थों को प्रकट किया जा रहा है। वह संक्षिप्त, सङ्कीर्ण, सम्पूर्ण तथा भलीभाँति ऋद्धियुक्त-विस्तृत-अर्थ तत्काल कहे गये सम्भोग में अथवा 'अनन्तर' के साथ कहे गये सम्भोग पदों में भी उपपन्न हो जाता है ॥ ७४-८४ ॥

स्व० भा०—भोज ने इन कारिकाओं में 'करुण' तथा 'सम्भोग' पदों का व्याकरण पर आधारित, काव्यशास्त्र की मान्यताओं के अनुसार तथा कवित्वपूर्ण विवेचन किया है। उन्होंने 'डुकृञ् करणे' धातु से 'करुण' की निष्पत्ति मानी है। इस 'कृञ्' के चार प्रकार के अर्थों में जो

प्रयोग लोक में दृष्टिगोचर होते हैं उनका उल्लेख करते हुये उन्हे इस दशा पर भी घटित किया है। यह 'राग' की ही भाँति भाव तथा करण अर्थ में ही 'भोग' को भी घञन्त पद सिद्ध करते हैं। 'भोग' की सिद्धि जिस 'भुज्' धातु से होती है उसको तुदादिगण में "भुजो कौटिल्ये" तथा रुधादिगण में "भुज पालनाभ्यवहारयोः" अर्थों में पढ़ा गया है। चतुर्थ अनुभव रूप अर्थ भोज ने स्वयं निकाला है।

अभूतेति। कृञ् धातुरिति शेषः अभूतस्य अजातस्य उत्पादनायां जनने अर्थे दृष्टः यथा घटं कुरु। तथा उच्चारणे अर्थे च दृष्टः चोरङ्कारमाक्रोशतीतिवत् अयं चौर इति शब्द-मुच्चार्य्य रौतीत्यर्थः इतिवत् दृष्टः निरूपित इत्यर्थः॥ ७४॥

दृष्ट इति। अवस्थापने अर्थे दृष्टः कृञ् इति पूर्वेणान्वयः यथा अश्मानं शिलाम् इतः अस्मिन् कुरु अवस्थापयेत्यर्थः यथा इति उच्यते कथ्यते। अभ्यञ्जनेऽपि विलेपने अर्थे दृष्ट इति शेषः यथा मे मम पादौ चरणौ सर्पिषा घृतेन कुरु विलेपयेत्यर्थः॥ ७५॥

मूर्च्छेति। यः मूर्च्छाविलापौ कुरुते जनयतीत्यर्थः साहसे सहसा क्रियमाणे विषभक्ष-णोद्बन्धनादाविति भावः मनः कुरुते, चित्तेन मनसा दुःखं करोति असौ करुण उच्यते॥ ७६॥

भुजिरिति। भुजिर्भुजधातुः पालनकौटिल्याभ्यवहारानुभूतिषु इष्यते। पालने यथा भुनक्ति पृथिवीं राजेति शेषः। कौटिल्ये यथा भुग्नः कुटिल इत्यर्थः। अभ्यवहारे वा अन्नं भुङ्क्ते। अनुभूतौ यथा सुखं भुङ्क्ते इति॥ ७७॥

समीचीनार्थ इति। समीचीनार्थः संपूर्वात् ततः तस्मात् भुजिधातोः भावे वाच्ये वा कारके वापि वाच्ये घञ्प्रत्यये सति रूपं सम्भोग इष्यते॥ ७८॥

स इति। पूर्वानुरागानन्तरः पूर्वरागात् अनन्तरभावीत्यर्थः स सम्भोगः पालनार्थ उच्यते। हि यतः तस्मिन् सम्भोगे उत्पन्ना रतिः आनुकूल्येन अनुगतत्वेन पाल्यते॥७९॥

स इति। स सम्भोगः मानात् अनन्तरं प्राप्तः कौटिल्यार्थं वक्रभावं विगाहते अव-लम्बते। यतः प्रेम स्वतोऽपि स्वभावादेव कुटिलं वक्रगामि मानान्वये मानसङ्गे सति किमु? किं वक्तव्यमित्यर्थः॥ ८०॥

प्रवासेति। प्रवासात् अनन्तरं तस्य सम्भोगस्य अभ्यवहारार्थता भोजनार्थता इष्यते। हि यतः तत्र प्रवासादनन्तरदशायाम् उपोषितैः कृतोपवासैः अन्नमिव रतिः निर्विश्यते भुज्यते, निर्वेशोभृतिभोगयोरित्यमरः॥ ८१॥

करुणेति। करुणात् अनन्तरः परभावी स सम्भोगः अनुभावार्थः कथ्यते। हि यतः अस्मिन् करुणे विश्रम्भवद्भिः भाविसङ्गमे विश्वसद्भिरित्यर्थः सुखमेव नतु दुःखमित्येवका-रार्थः। अनुभूयते अनुभवविषयीक्रियते॥ ८२॥

यदि वेति। सम्प्रयोगार्थवाचिनः संव्यवहारार्थबोधकस्य भोग इत्यस्य समासे संक्षेपे चतुरः पूर्वरागादयः समास्तुल्याः, तथापि चतुरः अर्थान् अभिधेयवस्तूनि प्रचक्षते प्रकटय-न्तीत्यर्थः॥ ८३॥

स इति। सः संक्षिप्तः संक्षेपेणोक्तः, संङ्कीर्णः अपुष्ट इत्यर्थः, सम्पूर्णः सम्यगुक्तः अथवा सम्यग् ऋद्धिमान् सविस्तर इति यावत् अनन्तरोपदिष्टेषु प्रागुक्तेषु सम्भोगेषु पूर्वराग-मानप्रवासकरुणानन्तरभाविष्वित्यर्थः, अर्थेषु उपपद्यते युज्यते॥ ८४॥

नवे हि सङ्गमे प्रायो युवानः साध्वसादिभिः।
संक्षिप्तानेव रत्यर्थमुपचारान् प्रयुञ्जते॥ ८५॥

मानस्यानन्तरे तेषां व्यलीकस्मरणादिभिः ।
रोषशेषानुसन्धानात् सङ्करः केन वार्य्यते ॥ ८६ ॥
सम्पूर्णः पूर्णकामानां कामिनां प्रोष्य सङ्गमे ।
उत्कण्ठितानां भूयिष्ठमुपभोगः प्रवर्त्तते ॥ ८७ ॥
प्रत्यागतेऽपि यत्रैषा रतिपुष्टिः प्रिये जने ।
सा किमावर्ण्यते यूनां तत्रैव मृतजीविते ॥ ८८ ॥
पूर्वानुरागपूर्वाणां व्युत्पत्तिभिरुदाहृतम् ।
अनन्तराणां सर्वेषां तत्समासे निरुक्तयः ॥ ८९ ॥
वृत्तिरत्राजहत्स्वार्था जहत्स्वार्थापि वर्त्तताम् ।
प्रधानमनुपस्कृत्य न तदर्थो निवर्त्तते ॥ ९० ॥
प्रथमानन्तरे वृत्तेरजहत्स्वार्थतेष्यते ।
नात्यन्तमजहत्स्वार्था तां मानानन्तरे विदुः ॥ ९१ ॥
प्रवासानन्तरे त्वीषदजहत्स्वार्थतेष्यते ।
करुणार्थस्य गन्धोऽपि नास्त्येव तदनन्तरे ॥ ९२ ॥
अष्टमीचन्द्रकः कुन्दचतुर्थी सुवसन्तकः ।
आन्दोलनचतुर्थ्येकशाल्मली मदनोत्सवः ॥ ९३ ॥
उदकक्ष्वेडिकाऽशोकोत्तंसिका चूतभञ्जिका ।
पुष्पावचायिका चूतलतिका भूतमातृका ॥ ९४ ॥
कादम्बयुद्धानि नवपत्रिका विसखादिका ।
शक्रार्चा कौमुदी यक्षरात्रिरभ्युषखादिका ॥ ९५ ॥
नवेक्षुभक्षिका तोयक्रीडाप्रेक्षादिदर्शनम् ।
द्यूतानि मधुपानञ्च प्रकीर्णानीति जानते ॥ ९६ ॥

क्योंकि नवीन मिलन होने पर युवकगण भय आदि के कारण प्रायः रति के लिये व्यवहारों का संक्षेप में ही प्रयोग करते हैं । (अतः इस प्रकार का संभोग संक्षिप्त है ।) इसी प्रकार मान के बाद में होने वाले संभोग में उन प्रेमी और प्रेमिकाओं के परस्पर किये गये व्यलीक— अप्रीतिकर कर्मों-के स्मरण आदि के कारण भी अवशिष्ट रोष के पुनर्निरीक्षण से संभव सङ्कर रति का अपरिपोष किसके द्वारा रोका जा सकता है । प्रवास के बाद मिलने पर (उत्कण्ठित) प्रेमियों का सफल मनोरथ होने पर प्रचुर उपभोग 'सम्पूर्ण' प्रवृत्त होता है । जहाँ प्रिय जन के लौट आने

पर ही यह सम्पूर्णभाव वाली रति की पुष्टि देखी जाती है, वहाँ प्रिय जन के मर कर जी उठने पर प्रेमियों की वह रतिपुष्टि विस्तार से क्या कही जा सकती है। (अतः यह समृद्धिमान संभोग हुआ।) इस प्रकार पूर्वानुराग है पूर्व में जिनके अर्थात् पूर्वानुराग, मान, प्रवास तथा करुण आदि विप्रलम्भ के भेदों को प्रकृतिप्रत्यय आदि की साधना से कह दिया गया। उनके परवर्तियों का भी सबकी (पूर्वानुरागानन्तर, मानानन्तर आदि) भी संक्षेप से व्युत्पत्तियाँ कह दी गई हैं।

यहाँ अर्थात् अनन्तर संभोगों में अजहत्स्वार्था तथा जहत्स्वार्था (लक्षणा भी) होनी चाहिये किन्तु मुख्य अर्थ का बिना ग्रहण किये लक्षणा का अर्थ निवृत्त नहीं होता। प्रथम के अनन्तर अर्थात् पूर्वराग के बाद वाले संभोग में वृत्ति की अजहत्स्वार्थता—मुख्यार्थ की अपरित्याग रूपता—अभीष्ट है। मान के बाद वाले संभोग में पूर्णतः अजहत्स्वार्था को लोग नहीं जानते हैं। प्रवासानन्तर संभोग में तो ईषत्—जरा सा—अजहत्स्वार्थता अभीष्ट है। करुण के अर्थ का करुणानन्तर संभोग में गन्ध भी-लेश भी नहीं है। (अतः यहाँ जहत्स्वार्था होती है।) अष्टमीचन्द्र कुन्दचतुर्थी, वसन्तक, आन्दोलन चतुर्थी, एकशाल्मली, मदनोत्सव, उदकक्ष्वेडिका, अशोकोत्तंसिका, चूतमञ्जिका, कादम्बयुद्ध, नवपत्रिका विसखादिका, शक्रार्चा, कौमुदी, यक्षरात्रि, अभ्यूषखादिका, नवेक्षुभक्षिका, तोयक्रीडा, प्रेक्षा आदि का दर्शन, द्यूत तथा मधुपान को प्रकीर्ण के रूप में समझा जाता है। (इनका उक्त शृङ्गारों में यथायोग्य प्रयोग होना चाहिये) ॥ ८५-९६ ॥

स्व० भा०—यहाँ पर निरूपित प्रायः सभी विषय स्पष्ट हैं। वृत्तियों के विषय में केवल इतना ही समझ लेना है कि मुकुलभट्ट आदि कुछ दार्शनिक किसी भी पद के साक्षात् संकेतित अर्थ को ही सब कुछ समझते हैं और उससे जो कुछ भी भाव प्रकट होता है उसका कारण शब्दों का अभिधा व्यापार मानते हैं। न्याय-वैशेषिक आदि दार्शनिक सम्प्रदाय वाले इससे भी आगे बढ़ते हैं और वह गौणी, अप्रधान, अमुख्या अथवा लक्षणा नाम की भी शब्दशक्ति स्वीकार करते हैं जिससे मुख्य, प्रधान, वाच्य, अभिधेय अथवा संकेतित अर्थ के अतिरिक्त, इनका बाध करके भी एक विशिष्ट अर्थ शब्दों से निर्गत मानते हैं। इसमें मुख्यार्थ का कहीं आंशिक परित्याग करना पड़ता है, कहीं पूर्णतः। इसी को क्रमशः अजहत्स्वार्था तथा जहत्स्वार्था कहते हैं। काव्यशास्त्र में आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट आदि ने एक तीसरी ही व्यंजनावृत्ति को स्वीकार किया है। जहत्स्वार्था आदि में से कुछ का अन्तर्भाव ये उपादान आदि लक्षणाओं में तथा कुछ का व्यंजना में कर देते हैं।

नवे इति। हि यतः नवे सङ्गमे युवानः कामिनः साध्वसादिभिः भयलज्जादिभिः हेतुभिः रत्यर्थम् उपचारान् व्यवहारान् संक्षिप्तानेव प्रयुञ्जते कुर्वन्ति अतः तादृशः सम्भोगः संक्षिप्त इति भावः ॥ ८५ ॥

मानस्येति। मानस्य अनन्तरे परभाविनि सम्भोगे तेषां यूनां व्यलीकस्मरणादिभिः अन्योन्याप्रीतिकरानुष्ठानस्मृत्यादिभिर्हेतुभिः रोषदोषस्य कोपावेशस्य अनुसन्धानात् बोधनात् सङ्करः अपरिपोष इत्यर्थः रक्षेति भावः केन वार्यते ? न केनापीत्यर्थः तस्मात्तादृशः सम्भोगः सङ्कीर्ण इति भावः ॥ ८६ ॥

सम्पूर्ण इति। प्रोष्य प्रवासानन्तरमित्यर्थः सङ्गमे उत्कण्ठितानां प्रागिति शेषः कामिनां पूर्णकामानां सफलमनोरथानां सतां भूयिष्ठं प्राचुर्येणेत्यर्थः उपभोगः सम्पूर्णः प्रवर्त्तते ॥ ८७ ॥

प्रत्यागते इति। यत्र प्रिये जने प्रत्यागते प्रवासानन्तरं प्रतिनिवृत्ते सति एषा सम्पूर्णेति भावः रतिपुष्टिर्दृश्यते इति शेषः। तत्रैव प्रिये जने मृतजीविते सति यूनां सा

रतिपुष्टिः किम् आवर्ण्यते विस्तरेण कथ्यते ? तस्मात् तादृशः सम्भोगः सम्यक् समृद्धिमानिति भावः ॥ ८८ ॥

पूर्वेति । पूर्वानुरागपूर्वाणां पूर्वरागमानप्रवासकरुणानां विप्रलम्भभेदानां व्युत्पत्तिभिः प्रकृतिप्रत्ययसाधनाभिः उदाहृतं कथितं भावे क्तप्रत्ययः । अनन्तराणां तत्परवर्त्तिनां सर्वेषां सम्भोगानामिति भावः तत्समासे तेषां समासे षष्ठीतत्पुरुषे इति भावः निरुक्तयः व्युत्पत्तयः उक्ता इति शेषः ॥ ८९ ॥

वृत्तिरिति । अत्र एषु अनन्तरेषु सम्भोगेषु अजहत्स्वार्था जहत्स्वार्थापि वृत्तिः लक्षणारूपेत्यर्थः वर्त्ततां तिष्ठतु, किन्तु प्रधानं मुख्यार्थमित्यर्थः अनुपरक्त्य अनुपहत्य तदर्थः लक्षणार्थः न निवर्त्तते नापगच्छति ॥ ९० ॥

प्रथमेति । प्रथमानन्तरे पूर्वरागात् परवर्त्तिनि सम्भोगे इत्यर्थः वृत्तेर्लक्षणायाः न जहत् स्वार्थः यया तस्याः भावः अजहत्स्वार्थता मुख्यार्थात्यागरूपतेत्यर्थः इष्यते । मानानन्तरे मानात् परभाविनि सम्भोगे तां वृत्तिम् अत्यन्तम् अजहत्स्वार्थां न विदुः न जानन्ति ॥ ९१ ॥

प्रवासेति । प्रवासानन्तरे प्रवासात् परभाविनि सम्भोगे तु इषत् अत्यल्पम् अजहत्स्वार्थता इष्यते । करुणार्थस्य तदनन्तरे तत्परभाविनि सम्भोगे गन्धोऽपि लेशोऽपीत्यर्थः नास्ति एव । अतस्तत्र जहत्स्वार्थेति भावः ॥ ९२ ॥

अष्टमीति । अष्टमीचन्द्रकादीनि मधुपानान्तानि चतुर्विंशतिः प्रकीर्णानि प्रागुक्तेषु शृङ्गारेषु यथायथं योज्यानीति भावः ॥ ९३–९६ ॥

नित्यो नैमित्तिकश्चान्यः सामान्योऽन्यो विशेषवान् ।
प्रच्छन्योऽन्यः प्रकाशोऽन्यः कृत्रिमाकृत्रिमावुभौ ॥ ९७ ॥
सहजाहार्य्यनामानौ परौ यौवनजोऽपरः ।
विश्रम्भजश्च प्रेमाणो द्वादशैते महर्द्धयः ॥ ९८ ॥
चक्षुःप्रीतिर्मनःसङ्गः सङ्कल्पोत्पत्तिसन्ततिः ।
प्रलापो जागरः काश्यमरतिर्विषयान्तरे ॥ ९९ ॥
लज्जाविसर्जनं व्याधिरुन्मादो मूर्च्छनं मृतुः ।
मरणञ्चेति विज्ञेयाः क्रमेण प्रेमपुष्टयः ॥ १०० ॥
नायकः प्रतिपूर्वोऽयमुपपूर्वोऽनुनायकः ।
नायिका प्रतिपूर्वाऽसावुपपूर्वानुनायिका ॥ १०१ ॥
नायिकानायकाभासावुभयाभास इत्यपि ।
तिर्य्यक्षु च तदाभासा इति द्वादश नायकाः ॥ १०२ ॥
तेषु सर्वगुणोपेतः कथाव्यापी च नायकः ।
अन्यायवांस्तदुच्छेद्य उद्धतः प्रतिनायकः ॥ १०३ ॥

ततः कैश्चिद् गुणैर्हीनः पूज्यश्चैवोपनायकः ।
समो न्यूनोऽपि वा तस्य कनीयाननुनायकः ॥ १०४ ॥
स्यात् कथाव्यापिनी सर्वगुणयुक्ता च नायिका ।
हेतुरीर्ष्यायितादीनां सपत्नी प्रतिनायिका ॥ १०५ ॥
ततः कैश्चिद्गुणैर्हीना पूज्या चैवोपनायिका ।
समा न्यूनापि वा किञ्चित् कनीयस्यनुनायिका ॥ १०६ ॥
तदाभासास्तथैव स्युर्भेदास्तेषां गुणादिभिः ।
नायकस्तत्र गुणत उत्तमो मध्यमोऽधमः ॥ १०७ ॥
प्राकृतः सात्विकः स स्याद्राजसस्तामसस्तथा ।
साधारणोऽनन्यजानिः स विज्ञेयः परिग्रहात् ॥ १०८ ॥
उद्धतो ललितः शान्तः उदात्तो धैर्य्यवृत्तितः ।
शठो धृष्टोऽनुकूलश्च दक्षिणश्च प्रवृत्तितः ॥ १०९ ॥
गुणतो नायिकापि स्यादुत्तमा मध्यमाधमा ।
मुग्धा मध्या प्रगल्भा च वयसा कौशलेन च ॥ ११० ॥
धीराधीरा च धैर्य्येण स्वान्यदीया परिग्रहात् ।
ऊढानूढोपयमनात् क्रमाज्ज्येष्ठा कनीयसी ॥ १११ ॥
मानर्द्धेरुद्धतोदात्ता शान्ता च ललिता च सा ।
सामान्या च पुनर्भूश्च स्वैरिणी चेति वृत्तितः ॥ ११२ ॥

नित्य नैमित्तिक, सामान्य, विशेष, प्रच्छन्न, प्रकाश, कृत्रिम, अकृत्रिम, ये दोनों, इसके बाद के सहज तथा आहार्य नाम वाले, इसके अतिरिक्त यौवनज, विश्रम्भज ये बारह महाऋद्धियाँ हैं। नेत्रराग, मन की आसक्ति, सङ्कल्प से उत्पन्न विचार प्रलाप, जागरण, कृशता, दूसरे विषयों से अरुचि, निर्लज्जता, व्याधि, उन्माद, मूर्च्छा तथा मरण क्रमशः ये प्रेम की परिपुष्टि हैं। नायक, प्रतिपूर्वक नायक अर्थात् प्रतिनायक, उपपूर्वक नायक अर्थात् उपनायक, अनुनायक, नायिका, प्रतिपूर्वा नायिका अर्थात् प्रतिनायिका, उपपूर्वा नायिका अर्थात् उपनायिका, अनुनायिका, नायिका तथा नायक के आभास अर्थात् नायकाभास और नायिकाभास, उभयाभास अर्थात् नायिकानायकाभास ये भी तथा (पक्षी और साँप आदि) तिर्यक् योनि वालों में इनका आभास होना ये बारह नायक हैं। इनमें से सभी गुणों से संयुक्त तथा पूरी कथा में व्याप्त रहने वाला नायक है। नीतिहीन, उग्रस्वभाव तथा नायक के द्वारा विनाश्य प्रतिनायक होता है। नायक से कुछ ही गुणों में कम, आदर का पात्र उपनायक है। नायक से गुणों में समान, अथवा थोड़ा सा कम, और उससे कनिष्ठ अनुनायक कहा जाता है। आख्यान में आद्योपान्त व्याप्त, सभी

गुणों से युक्त नायिका है। ईर्ष्या आदि का कारण तथा सौत प्रतिनायिका है। नायिका से कुछ ही गुणों में कम तथा पूजनीया उपनायिका है। नायिका से गुणों में समान अथवा थोड़ा सा कम तथा उससे छोटी अनुनायिका होती है। इनके आभास अर्थात् नायिकाभास आदि भेद भी नायकों के आभास आदि के सदृश ही गुण आदि के आधारों पर होते हैं। इनमें से नायक गुण के आधार पर उत्तम, मध्यम तथा अधम होते हैं। वे ही प्राकृत, सात्त्विक, राजस तथा तामस होते हैं। वह नायक विवाह के आधार पर साधारण अर्थात् बहुत सी पत्नियों वाला तथा अनन्य जाति अर्थात् एक ही पत्नीवाला दो प्रकार का है। धीरता के आधार पर नायक उद्धत, ललित, शान्त तथा उदात्त होता है। अपनी प्रवृत्तियों के भेद से वह शठ, धृष्ट, अनुकूल तथा दक्षिण होता है। गुण के आधार पर नायिका भी उत्तमा, मध्यमा तथा अधमा होती है। आयु तथा निपुणता के आधार पर वही मुग्धा, मध्या तथा प्रगल्भा होती है। धैर्य के आधार पर वह धीरा तथा अधीरा होती है और परिग्रह के भेद से स्वकीया तथा परकीया। स्वीकारभेद से वह ऊढ़ा तथा अनूढ़ा है और क्रम के आधार पर ज्येष्ठा तथा कनिष्ठा। मान तथा समृद्धि या मान की समृद्धि के भेद से वह नायिका उद्धता, उदात्ता, शान्ता तथा ललिता होती है। व्यवहारभेद से वही सामान्या, पुनर्भू तथा स्वैरिणी होती है॥ ९७-११२॥

स्व० भा०—नायक-नायिका भेद, काम की दशा आदि का प्रसंग रुद्रट के काव्यालंकार में १२ वें से १४ वें अध्याय तथा दशरूपक के द्वितीय प्रकाश में बिखरा पड़ा है। इनमें कोई विशेष अन्तर नहीं है, अतः उनको उद्धृत नहीं किया जा रहा है। भरत के नाट्यशास्त्र के चौबीसवें अध्याय में स्त्रियों के स्वभावज तथा अयत्नज आदि अलंकार, काम की दश अवस्थायें, अष्ट-नायिका विचार आदि तथा चौंतीसवें अध्याय में प्रकृति आदि के आधार पर नायक तथा नायिका के भेद तथा उनके सहायकों के लक्षण आदि वर्णित हैं। किन्तु जितने अधिक आधारों पर भोज ने इनका विभाजन एक स्थान पर कर दिया है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

नित्य इति। **नित्यादयः विप्रलम्भजान्ताः एते द्वादश प्रेमाणः प्रणयाः महर्द्धयः अति-समृद्धाः॥ ९७-९८॥**

चक्षुः प्रीतिरिति। **चक्षुःप्रीतिः नेत्ररागः इत्यादयः मरणान्ता व्यापाराः क्रमेण प्रेम-पुष्टयः प्रणयपरिपोषाः विज्ञेयाः॥ ९९-१००॥**

नायक इति। **नायकः प्रतिपूर्वः अयं प्रतिनायक इत्यर्थः। उपपूर्वः उपनायक इत्यर्थः, अनुनायक इति चत्वारः। नायिका, प्रतिपूर्वा प्रतिनायिका, असौ नायिका उपपूर्वा उपनायिकेत्यर्थः अनुनायिका एताश्चतस्रः॥ १०१॥**

नायिकेति। **नायिकानायकाभासौ नायिकाभासः नायकाभास उभयाभासः नायिका-नायकाभास इत्यर्थः तिर्यक्षु पक्षिसर्पादिषु च तदाभासा नायिकानायकाभासाः। इत्येवं द्वादश नायकाः उक्ता इति शेषः॥ १०२॥**

तेष्विति। **तेषु द्वादशसु मध्ये सर्वगुणोपेतः त्यागी कृती कुलीन इत्यादि सर्वगुणवान् कथाव्यापी कथाया आख्यानस्य आद्योपान्तस्थायीत्यर्थः नायकः श्रेष्ठो नेता इत्यर्थः यथा रामः। अन्यायवान् नीतिविमुखः उद्धतः उग्रस्वभावः तदुच्छेद्यः तेन नायकेन उच्छेद्यः विनाश्यः प्रतिनायकः। यथा रावणः॥ १०३॥**

तत इति। **कैश्चित् गुणैः ततः नायकात् हीनः रहितः पूज्यश्च माननीयश्च उपनायकः यथा सुग्रीवः। समः गुणैरिति भावः न्यूनः किञ्चित् हीनो वा तस्य नायकस्य कनीयान् कनिष्ठः अनुनायकः। यथा लक्ष्मणः॥ १०४॥**

स्यादिति । कथाव्यापिनी कथाया आद्योपान्तवर्त्तिनी सर्वगुणयुक्ता नायिका स्यात् । ईर्ष्यायितादीनां हेतुः विद्वेषिणीत्यर्थः सपत्नी प्रतिनायिका ॥ १०५ ॥

तत इति । ततः नायिकायाः कैश्चिद् गुणैः हीना रहिता पूज्या च उपनायिका । समा तुल्या किञ्चित् न्यूनापि कनीयसी कनिष्ठा नायिकाया इति शेषः अनुनायिका ॥ १०६ ॥

तदाभासा इति । तथैव नायकवदेवेत्यर्थः तासां नायिकानां आभासाः स्युः भवेयुः । तेषां आभासानां गुणादिभिः भेदाः विशेषाः ज्ञेया इति शेषः । तत्र नायकभेदेषु नायकः गुणतः गुणैरित्यर्थः उत्तमः मध्यमः अधमः ॥ १०७ ॥

प्राकृत इति । स नायकः प्राकृतः सात्त्विकः राजसः तथा तामसः स्यात् । स नायकः परिग्रहात् भार्य्याग्रहणात् साधारणः बहुभार्य्य इति यावत् तथा अनन्यजानिः एकपत्नीक इत्यर्थः विज्ञेयः ॥ १०८ ॥

उद्धत इति । स नायकः धैर्य्यवृत्तितः धीरताया व्यवहारभेदेनेत्यर्थः । उद्धतः दुर्द्धर्ष इति यावत् ललितः सौम्यः शान्तः शान्तिमार्गे स्थित इत्यर्थः उदात्तः उदारगुणवानित्यर्थः । प्रवृत्तितः प्रवृत्तेर्भेदेनेत्यर्थः शठः धृष्टः अनुकूलः दक्षिणश्च भवतीत्यर्थः ॥ १०९ ॥

गुणत इति । नायिकापि गुणतः गुणानुसारेण उत्तमा मध्यमा अधमा अपि स्यात् । तथा वयसा कौशलेन नैपुण्येन च मुग्धा प्रगल्भा च स्यात् ॥ ११० ॥

धीरेति । धैर्य्येण धैर्य्यानुसारेण धीरा अधीरा च । तथा परिग्रहात् परिग्रहभेदेन स्वा स्वीया अन्यदीया परकीया च । उपयमनात् स्वीकरणभेदात् ऊढा कृतोद्वाहा तथा अनूढा अकृतोद्वाहा । तथा क्रमात् ज्येष्ठा कनीयसी कनिष्ठा च ॥ १११ ॥

मानर्द्धेरिति । मानर्द्धेः मानसमृद्धिभेदादित्यर्थः सा नायिका उद्धता उदात्ता शान्ता ललिता च भवतीति शेषः । वृत्तितः व्यवहारभेदात् सामान्या साधारणी पुनर्भूः स्वैरिणी च भवतीति शेषः ॥ ११२ ॥

आजीवतस्तु गणिका रूपाजीवा विलासिनी ।
अवस्थातोऽपराश्चाष्टौ विज्ञेयाः खण्डितादयः ॥ ११३ ॥
निद्राकूणिततास्राक्षो नारीनखविभूषितः ।
प्रातरेति प्रियो यस्याः कुतश्चित् खण्डिता तु सा ॥ ११४ ॥
चाटुकारमपि प्राणनाथं कोपादपास्य या ।
पश्चात् तापमवाप्नोति कलहान्तरिता तु सा ॥ ११५ ॥
दूतीमहरहः प्रेष्य कृत्वा संकेतकं क्वचित् ।
यस्य न मिलितः प्रेयान् विप्रलब्धेति तां विदुः ॥ ११६ ॥
सा तु वासकसज्जा स्यात् सज्जिते वासवेश्मनि ।
प्रियमास्तीर्णपर्य्यङ्के भूषिता या प्रतीक्षते ॥ ११७ ॥
स्वाधीनपतिका सा तु यस्याः पार्श्वं न मुञ्चति ।
प्रियश्चित्ररतक्रीडासुखास्वादनलोलुपः ॥ ११८ ॥

पुष्पेपुपीडिता कान्तं याति या साभिसारिका ।
प्रियो देशान्तरे यस्याः सा तु प्रोषितभर्तृका ॥ ११९ ॥
यस्याः समुचितेप्यह्नि प्रवासी नैति वल्लभः ।
विरहोत्कण्ठिता सा तु द्वात्रिंशदिति नायिकाः ॥ १२० ॥
हीनपात्राणि शेषाणि पीठमर्दो विदूषकः ।
विटचेटौ पताकाश्च सख्यश्चैषां परिग्रहः ॥ १२१ ॥
महाकुलीनतौदार्य्यं महाभाग्यं कृतज्ञता ।
रूपयौवनवैदग्ध्यशीलसौभाग्यसम्पदः ॥ १२२ ॥
मानितोदारवाक्यत्वमदरिद्रानुरागिता ।
द्वादशेति गुणानाहुर्नायकेष्वाभिगामिकान् ॥ १२३ ॥
मृद्वीकानारिकेलाम्रपाकाद्याः पाकभक्तयः ।
नीलीकुसुम्भमञ्जिष्ठारागाद्या रागभक्तयः ॥ १२४ ॥
अन्तर्व्याजबहिर्व्याजनिर्व्याजा व्याजभक्तयः ।
धर्मार्थकामोदर्काश्च प्रेमसम्पर्कभक्तयः ॥ १२५ ॥

जीविकाभेद से वही गणिका, रूपाजीवा तथा विलासिनी हैं। अवस्था के आधार पर खण्डिता आदि दूसरे आठ प्रकार के भेद और समझे जाने चाहिये। नींद के कारण सङ्कुचित तथा लाल-लाल आँखें लिये किसी दूसरी स्त्री के नखक्षत आदि से अलंकृत जिस स्त्री का प्रेमी कहीं से प्रातःकाल आता है वह खण्डिता है। चाटुकारिता करने वाले भी अपने प्रिय को क्रोध के कारण छोड़कर बाद में जो पश्चात्ताप करती है वह कलहान्तरिता है। दूती को प्रतिदिन भेजकर कहीं गुप्त मिलन-स्थल नियुक्त करके भी जिसका प्रिय नहीं मिलता है, उसको लोग विप्रलब्धा जानते हैं। वासकसज्जा वह होगी जो सजेसजाये पलंग से युक्त निवासगृह में बिछी हुई सेज पर सभी अलङ्कारों से युक्त होकर (स्वयं सजधज कर) अपने प्रिय की प्रतीक्षा करती है। स्वाधीनपतिका तो वह है जिसका प्रिय चित्ररत तथा चित्र-विचित्र क्रीडाओं के सुख का लोभी होकर प्रियतमा की बगल से हटता तक नहीं। कामव्यथा से पीड़ित होकर जो स्वयं कान्त के पास जाती है वह अभिसारिका है। जिसका प्रियतम किसी दूसरे देश में है वह तो प्रोषितभर्तृका है। जिसका प्रियतम परदेश गया है और निर्धारित दिन भी पास में नहीं आता है वह विरहोत्कण्ठिता है। इस प्रकार ये बत्तीस प्रकार की नायिकायें हैं। इसके अतिरिक्त पीठमर्द, विदूषक, विट तथा चेट ये नीच पात्र हैं। इनके साथ ही पताका स्थान और सखियाँ इनका भी ग्रहण होना चाहिये। (१) महाकुल में जन्म, (२) उदारता, (३) महाभाग्य, (४) कृतज्ञता, (५) रूप, (६) यौवन, (७) विदग्धता, (८) शील, (९) सौभाग्य की सम्पत्ति, (१०) मानिता, (११) उदारवाक्यता, (१२) अदरिद्रानुरागिता अर्थात् अक्षुण्ण प्रेम इन बारह को नायकों में विद्यमान रहने वाला आभिगामिक—लोगों को प्राप्य प्रयोजन-गुण कहा जाता है।

मृद्वीका, नारिकेल, आम्रपाक आदि को पाकभक्ति, नीली, कुसुम्भ, मञ्जिष्ठाराग आदि रागभक्तियाँ हैं। अन्तर्व्याज, बहिर्व्याज तथा निर्व्याज आदि व्याजभक्तियाँ हैं। धर्म, अर्थ तथा काम से सम्बद्ध प्रेमसम्पर्क भक्तियाँ हैं ॥ ११३-१२५ ॥

स्व० भा०—इन सबके लक्षण स्पष्ट हैं। जो अस्पष्ट हैं, पाक आदि इनमें से कुछ का तो प्रथमादि परिच्छेदों में उल्लेख हो गया है और विस्तृत रूप से आगे आयेंगे।

आजीवत इति। तु किन्तु सा आजीवतः जीविकाभेदेन रूपाजीवा सौन्दर्य्यजीविका विलासिनी विलासरता गणिका वेश्या भवति। अवस्थातः अवस्थाभेदेन अपरा अष्टौ खण्डितादयः विज्ञेयाः ॥ ११३ ॥

निद्रेति। यस्याः प्रियः कान्तः निद्रया कूणिते सङ्कुचिते ताम्रे रक्ते अक्षिणी नेत्रे यस्य तथाभूतः नार्य्याः अपरायाः कान्तायाः नखेन नखक्षतेन विभूषितः अलंकृतः सन् कुतश्चित् कस्मादपि स्थनात् प्रातः एति आगच्छति पार्श्वमिति शेषः सा तु खण्डिता ॥ ११४ ॥

चाटुकारमिति। या चाटुकारं प्रियकारिणमपि प्राणनाथं कान्तं कोपात् मानात् अपास्य विहाय पश्चात्तापम् अवाप्नोति लभते सा तु कलहान्तरिता ॥ ११५ ॥

दूतीमिति। अहरहः प्रतिदिनं पुनः पुनरिति भावः दूतीं प्रेष्य समीपं प्रापय्य क्वचित् प्रदेशे संकेतं कृत्वा स्थितायाः यस्याः नायिकायाः प्रेयान् कान्तः न मिलितः न सङ्गतः तां विप्रलब्धेति विदुः जानन्ति ॥ ११६ ॥

सेति। या भूषिता अलंकृता सती सज्जिते कृतसज्जे आस्तीर्णपर्य्यङ्के वासवेश्मनि वासभवने प्रियं तदागमनमिति भावः प्रतीक्षते, सा तु वासकसज्जा स्यात् ॥ ११७ ॥

स्वाधीनेति। यस्याः प्रियः चित्रा विविधा मनोज्ञा वा या रतक्रीडा सुरतविहारः तस्याः तस्यां वा यत् सुखं तस्य आस्वादने लोलुपः लुब्धः सन् पार्श्वं न मुञ्चति न यजति सा तु स्वाधीनभर्तृका स्वाधीनपतिका ॥ ११८ ॥

पुष्पेति। या पुष्पेषुणा कामेन पीडिता सती कान्तं याति सा अभिसारिका। यस्याः प्रियः कान्तः देशान्तरे स्थित इति शेषः सा तु प्रोषितभर्तृका ॥ ११९ ॥

यस्या इति। यस्याः प्रवासी वल्लभः समुचितेऽपि निर्द्धारितेऽपि अह्नि दिवसे न एति नागच्छति पार्श्वमिति शेषः सा तु विरहोत्कण्ठिता। इति एवं प्रकारेण नायिका १ उत्तमा, २ मध्यमा, ३ अधमा, ४ मुग्धा, ५ मध्या, ६ प्रगल्भा, ७ धीरा, ८ अधीरा, ९ स्वा, १० अन्यदीया, ११ ऊढा, १२ अनूढा, १३ उपेक्षा, १४ कनीयसी, १५ उद्धता, १६ उदात्ता, १७ शान्ता, १८ ललिता, १९ सामान्या, २० पुनर्भूः, २१ स्वैरिणी, २२ गणिका, २३ रूपाजीवा, २४ विलासिनी, २५ खण्डिता, २६ कलहान्तरिता, २७ विप्रलब्धा, २८ वासकसज्जा, २९ स्वाधीनपतिका, ३० अभिसारिका, ३१ प्रोषितभर्तृका, ३२ विरहोत्कण्ठिता इति द्वात्रिंशत् संख्यकाः। १२० ॥

हीनेति। पीठमर्दः नायकस्य प्रधानसहायविशेषः उक्तश्च दर्पणे। दूरानुवर्त्तिनि स्यात् तस्य प्रासङ्गिकेतिवृत्ते तु किञ्चित्तद्गुणहीनः सहाय एवास्य पीठमर्दाख्य इति। विदूषकः नायकनर्मसचिवः उक्तश्च दर्पणे। कुसुमवसन्ताद्यभिधः कमलपुर्वेशभाषाद्यैः। हास्यकरः कलहरतिर्विदूषकः स्यात् स्वकर्म्मज्ञ इति। विटः नायकस्य शृङ्गारसहायविशेषः उक्तश्च दर्पणे। सम्भोगहीनसम्पद् विटस्तु धूर्त्तः कलैकदेशज्ञः। वेशोपचारकुशलो वाग्मी मधुरोऽथ बहुमतो गोष्ठ्यामिति। चेटः अधमसहायविशेषः। एतानि शेषाणि हीनपात्राणि निकृष्टाः नटाः। पताकाः तत्स्थानानीति भावः उक्तश्च दर्पणे। पताकास्थानकं योऽयं सुविचार्य्येह वस्तुनि। यत्रार्थे चिन्तितेऽन्यस्मिन् तल्लिङ्गोऽन्यः प्रयुज्यते। आगन्तुकेन भावेन पताका-

स्थानकन्तु तत् इति। सङ्ग्रश्च एषां उक्तानां प्रधानाप्रधानानां नटानां परिग्रहः ग्रहणमित्यर्थः कीर्त्तनमिति यावत्॥ १२१॥

महेति। महाकुलीनता महाकुले प्रसूतिः औदार्य्यं सदा विनयित्वं औदार्य्यं विनयः सदेति वचनात्। महाभाग्यं भाग्यवत्तातिशयः कृतज्ञता कृतोपकारवेदिता, रूप सुन्दराकृतिः यौवनं वैदग्ध्यम् अभिज्ञता शीलं सच्चरित्रं सौभाग्यं लोकप्रियतां सम्पदः धनानि मानिता उदारं महत् उच्चाशयमिति यावत् वाक्यं यस्य तस्य भावः तथा अदरिद्रानुरागिता अदरिद्रा अक्षुण्णा अनुरागिता लोकरञ्जनत्वम् इत्यर्थः इति द्वादशगुणान् नायकेषु आभिगामिकान् लोकानां अभिगम्यताप्रयोजकानित्यर्थः आहुः कथयन्ति॥ १२२-१२३॥

मृद्वीकेति। मृद्वीकाद्याः पाकभक्तयः। नील्यादयः रागभक्तयः। अन्तर्व्यांजादयः व्याजभक्तयः। धर्मादयः प्रेमसम्पर्कभक्तयः॥ १२४-१२५॥

वाक्यवच्च प्रबन्धेषु रसालङ्कारसङ्करान्।
निवेशयन्त्यनौचित्यपरिहारेण सूरयः॥ १२६॥
चतुर्वृत्त्यङ्गसम्पन्नं चतुरोदात्तनायकम्।
चतुर्वर्गफलं को न प्रबन्धं बान्धवीयति॥ १२७॥
मुखं प्रतिमुखं गर्भोऽवमर्शश्च मनीषिभिः।
स्मृता निर्वहणञ्चेति प्रबन्धे पञ्च सन्धयः॥ १२८॥
अविस्तृतमसङ्क्षिप्तं श्रव्यवृत्तं सुगन्धि च।
भिन्नसर्गान्तवृत्तञ्च काव्यं लोकोऽभिनन्दति॥ १२९॥
पुरोपवनराष्ट्रादिसमुद्राश्रमवर्णनैः।
देशसम्पत्प्रबन्धस्य रसोत्कर्षाय कल्पते॥ १३०॥
ऋतुरात्रिन्दिवार्केन्दूदयास्तमयवर्णनैः।
कालः काव्येषु सम्पन्नो रसपुष्टिं नियच्छति॥ १३१॥
राजकन्याकुमारस्त्रीसेनासेनाङ्गभङ्गिभिः।
पात्राणां वर्णनात् काव्ये रससोतोऽधितिष्ठति॥ १३२॥
उद्यानसलिलक्रीडामधुपानरतोत्सवाः।
विप्रलम्भा विवाहाश्च चेष्टाः काव्ये रसावहाः॥ १३३॥
मन्त्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयादिभिः।
पुष्टिः पुरुषकारस्य रसं काव्येषु वर्षति॥ १३४॥
नावर्णनं नगर्य्यादेर्दोषाय विदुषां मतम्।

यदि शैलर्त्तुराज्यादेर्वर्णनेनैव पुष्यति ॥ १३५ ॥
गुणतः प्रागुपन्यस्य नायकं तेन विद्विषाम् ।
निराकरणमित्येष मार्गः प्रकृतिसुन्दरः ॥ १३६ ॥
वंशवृत्तश्रुतादीनि वर्णयित्वा रिपोरपि ।
तज्जयान्नायकोत्कर्षकथनञ्च धिनोति नः ॥ १३७ ॥

विद्वान् कवि लोग वाक्य की भाँति प्रबन्धों में भी अनौचित्य का परित्याग करते हुए रस, अलङ्कार तथा उनके मेलों—सङ्करों का सन्निवेश करते हैं। (कौशिकी आदि) चार वृत्तियों से युक्त परिच्छेद विभाजन कार्यों में दक्ष तथा उदात्त नायक से सम्पन्न और धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष को अपना लक्ष्य मानने वाले प्रबन्ध को कौन अपना बन्धु नहीं बनायेगा ? प्रबन्ध में मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श तथा निर्वहण ये पाँच सन्धियाँ मनीषियों द्वारा मानी गई हैं। न बहुत बड़ा, न बहुत छोटा, आनन्दपूर्वक श्रवणीय श्लोक अथवा चरित से संयुक्त, सुन्दर गन्ध वाले अर्थात् विख्यात, तथा सर्ग के अन्त में भिन्न श्लोक वाले काव्य का लोक स्वागत करता है। नगर, उपवन, राष्ट्र आदि, समुद्र तथा आश्रम के वर्णनों से प्रबन्ध के देश की सम्पत्ति रसोत्कर्ष के लिये सिद्ध होती है। ऋतु, रात-दिन, सूर्य तथा चन्द्रमा के उदय और अस्त के वर्णनों से सम्पन्न होकर काल काव्यों में रस को पुष्टि प्रदान करता है। राजकुमारी, राजकुमार, स्त्री, सेना, सेना के अङ्गों आदि से सम्बद्ध रचनाओं के कारण काव्य में रस का स्रोत उपस्थित रहता है। उद्यान तथा जलक्रीडा, मधुपान, रतोत्सव, विच्छेद तथा विवाह काव्य में रस लाने वाले अभीष्ट हैं। मन्त्रणा, दूतप्रयाण, युद्ध, नायक के उत्कर्ष आदि के द्वारा पौरुष की पुष्टि काव्य में रस की वर्षा करती है। यदि पर्वत, ऋतु, रात्रि आदि के वर्णन से ही रस की पुष्टि हो जाती है तो पुर आदि का वर्णन न करना दोषावह नहीं होता है, ऐसा विद्वानों का मत है। पहले नायक का गुणों के साथ वर्णन करके पुनः नायक के द्वारा शत्रु के विनाश का वर्णन करना आदि मार्ग स्वभाव से ही मनोरम है। शत्रु के भी वंश की कथा, आचरण, विद्या अथवा कीर्ति आदि का वर्णन करके उनका नायक के द्वारा पराजय होने से नायक के उत्कर्ष का कथन इसे अत्यन्त प्रसन्न करता है ॥ १२६–१३७ ॥

स्व० भा०—प्रबन्ध काव्य के विषय में भामह ने अपना विचार अत्यन्त संक्षेप में—केवल चार कारिकाओं में १।२०–२३॥—प्रस्तुत किया है। इनके पश्चात् दण्डी ने भी संक्षेप में ही भामह की उक्तियों की व्याख्या सी की (द्रष्टव्य काव्यादर्श॥ १।१४–१९ ॥) थी। रुद्रट ने भी अपने काव्यालङ्कार में (१६।५, ७–१९ ॥) इसका विशद विवेचन किया है कि महाकाव्य क्या है। किन्तु आचार्य विश्वनाथ साहित्यदर्पणकार का महाकाव्य का लक्षण सबसे अधिक व्यापक तथा स्पष्ट है।

वाक्यवदिति। सूरयः विद्वांसः कवय इति यावत् प्रबन्धेषु ग्रन्थेषु अनौचित्य परिहारेण यथा अनुचितः प्रयोगो न भवति तथेत्यर्थः रसान् अलङ्कारान् तेषां सङ्करान् समावेशांश्च वाक्यवत् वाक्यमिव निवेशयन्ति प्रयुञ्जते ॥ १२६ ॥

चतुर्वर्गेति। चतस्रः वृत्तयः कौशिक्यादयो रचनाविशेषा यत्र तादृशो योऽङ्कः परिच्छेद-विशेषः तेन सम्पन्नः युक्तः अलंकृत इति भावः तथोक्तं चतुरः कार्यदक्षः उदात्तः महान् नायको नस्य तादृशं चतुर्वर्गः धर्मार्थकाममोक्षरूप इत्यर्थः फलं यस्य तथाविधम् उक्तञ्च

दर्पणे। धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च। करोति कीर्तिं प्रीतिञ्च साधुकाव्यनिषेवणमिति प्रबन्धं काव्यग्रन्थं को जनः न बान्धवीयति बान्धवमिवाचरति? अपि तु सर्वं एव कविर्बान्धवीयतीत्यर्थः ॥ १२७ ॥

मुखमिति। मनीषिभिः विद्वद्भिः प्रबन्धे काव्यसन्दर्भे मुखं प्रतिमुखं गर्भः अवमर्शः निर्वहणञ्च इति पञ्च सन्धयः समावेशविशेषाः स्मृताः उक्ताः। मुखादीनां लक्षणान्युक्तानि दर्पणे। यत्र बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा। प्रारम्भेण समायुक्ता तन्मुखं परिकीर्त्तितम्। फलप्रधानोपायस्य मुखसन्धिनिवेशिनः। लक्ष्यालक्ष्य इवोद्भेदो यत्र प्रतिमुखन्तु तत्। फलप्रधानोपायस्य प्रागुद्भिन्नस्य किञ्चन। गर्भो यत्र समुद्भेदो ह्रासान्वेषणवान् मुहुः। यत्र मुख्यफलोपायः उद्भिन्नो गर्भतोऽधिकः। शापाद्यैः सान्तरायश्च स विमर्श इति स्मृतः बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम्। एकार्थमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तदिति ॥ १२८ ॥

अविस्तृतेति। लोकः अविस्तृतं वृथा विस्ताररहितमित्यर्थः असंक्षिप्तं संक्षेपेण अनुक्तं अन्यानि श्रुतिसुखानि वृत्तानि पद्यानि चरितानि वा यत्र तादृशं सुगन्धि सुसौरभं सुविख्यातमिति यावत् भिन्नं पार्थक्येन निबद्धं सर्गान्तस्य सर्गसमाप्तेः वृत्तं पद्यं यस्मिन् तथाभूतं काव्यम् अभिनन्दति आद्रियते। एतादृशमेव काव्यं कर्त्तव्यमिति भावः एवमुत्तरत्र बोध्यम् ॥ १२९ ॥

पुरेति। प्रबन्धस्य काव्यस्य देशसम्पद् प्रदेशसमृद्धिः पुरस्य नगरस्य उपवनस्य राष्ट्रादीनां समुद्रस्य आश्रमस्य च वर्णनैः कीर्त्तनैः रसोत्कर्षाय रसोद्दीपनाय कल्पते प्रभवति ॥ १३० ॥

ऋत्विति। काव्येषु ऋतवो वसन्तादयः रात्रिन्दिवं रात्रिर्दिनञ्च अर्केन्द्वोः सूर्य्याचन्द्रमसोः उदयास्तमयौ तेषां वर्णनैः सम्पन्नः समृद्धः कालः समयः रसपुष्टिं रसोत्कर्षं नियच्छति प्राप्नोति ॥ १३१ ॥

राजेति। काव्ये राजा कन्या कुमारः स्त्री सेना सेनाङ्गं हस्त्यश्वरथपदातिरूपं हस्त्यश्वरथपादातं सेनाङ्गं स्याच्चतुष्टयमित्यमरः। तेषां भङ्गिभिः रचनाभिः अवस्थाभिर्वा पात्राणां नटानां वर्णनात् रससोतः रसप्रवाहः अधितिष्ठति स्थितिं लभते ॥ १३२ ॥

उद्यानेति। काव्ये उद्यानादयः विप्रलम्भाः विच्छेदरूपाः प्रागुक्ताः विवाहाश्च चेष्टाः व्यापाराः रसम् आवहन्तीति रसावहाः रसोत्पादनहेतवः इत्यर्थः ॥ १३३ ॥

मन्त्रेति। मन्त्रः सन्धिविग्रहादीनां मन्त्रणं दूतस्य सन्देशहरस्य प्रयाणं जेतव्यादीनां सन्निधौ प्रस्थानम् आजिः संग्रामः नायकस्य अभ्युदयः अभ्युन्नतिः एवमादिभिः पुरुषकारस्य पुरुषव्यापारस्य पुष्टिः उत्कर्षः काव्येषु रसं वर्षति विकिरति ॥ १३४ ॥

नावर्णनमिति। यदि शैलानां पर्वतानाम् ऋतूनां वसन्तादीनां राज्यादेः रात्रिदिनप्रभृतेश्च वर्णनेन कीर्त्तनेनैव पुष्यति पोषं गच्छति तदा नगरादेः अवर्णनं दोषाय न भवति इति विदुषां कवीनां मतम् परामर्शः ॥ १३५ ॥

गुणत इति। प्राक् पूर्वं नायकं गुणतः विनयदाक्षिण्यादिभिः गुणैः उपन्यस्य वर्णयित्वा तेन नायकेन विद्विषां शत्रूणां निराकरणं निर्जयः इत्येषः मार्गः पन्थाः प्रकृत्या स्वभावेन सुन्दरः मनोरमः ॥ १३६ ॥

वंशेति। रिपोरपि शत्रोरपि वंशः कुलं वृत्तं चरितं श्रुतादीनि विद्यादीनि इत्यर्थः तानि वर्णयित्वा तस्य रिपोः जयात् पराभवनात् नायकस्य उत्कर्षकथनं नः अस्मान् धिनोति प्रीणयति ॥ १३७ ॥

अथैषां लक्षणोदाहरणानि ।

मनोऽनुकूलेष्वर्थेषु सुखसंवेदनं रतिः ।
असंप्रयोगविषया सैव प्रीतिर्निगद्यते ॥ १३८ ॥

तद्रूपेण रसस्य भावो यथा—

हरस्तु किञ्चित्परिलुप्तधैर्य्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः ।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥ १ ॥

अत्र बिम्बाष्ठत्वादभिमतोऽनुकूले पार्वतीमुखे विलोचनव्यापारानुमितो महेश्वरस्याभिलाषविशेषः सात्विको रत्युत्पादात् सुखानुभवस्योत्पत्तिमात्रमनुमापयति ॥ १३९ ॥

तद्रूपेणैव सात्विकोत्पत्तौ जन्म यथा—

अभूद्वरः कण्टकितप्रकोष्ठः स्विन्नाङ्गुलिः संवृते कुमारी ।
तस्मिन् द्वये तत्क्षणमात्मवृत्तिः समं विभक्तेव मनोभवेन ॥२॥

अत्र स्वेदरोमोद्गमयोः सात्विकयोरुत्पादाद्रसस्य रतिरूपेण आविर्भावोऽवगम्यते ॥ १४० ॥

अब इनके लक्षण तथा उदाहरण (कहे जायेंगे) ।

चित्त को अभिमत वस्तुओं में सुखात्मिका अनुभूति रति है । वही रति कार्यों में अयोग विषय होने पर प्रीति कही जाती है ॥ १३८ ॥

उसके रूप में रस का भाव (वहाँ होता है) जैसे—

(शिव की तपस्या को भङ्ग करने के लिये काम के उद्यत होने पर) चन्द्रमा के उदय काल के प्रारम्भ में सागर की भाँति कुछ-कुछ उद्विग्न होकर बिम्बा के फल के सदृश अधर तथा ओष्ठ वाले उमा के मुख पर शिव ने अपने नयनों को लगाया ॥ १ ॥

यहाँ बिम्बोष्ठत्व आदि के द्वारा मन के अनुकूल पार्वती के मुख पर नेत्रों के व्यापार से अनुमित हो रहा शिव का अभिलाषाविशेष सात्विक भाव रति का उत्पादन होने से सुख के अनुभव की उत्पत्तिमात्र का अनुमान कराता है ।

उसी रूप से ही सात्विक की उत्पत्ति होने पर जन्म का उदाहरण—

उस समय वर की कलाई रोमाञ्चयुक्त हो गई और राजकुमारी की भी अँगुलियाँ पसीने से भींग गईं । उस (विवाह की) घड़ी में कामदेव ने उन दोनों में समान रूप से अपनी उपस्थिति मानों बाँट दी थी ॥ २ ॥

यहाँ स्वेद तथा रोमाञ्च इन दोनों के उद्गम रूप सात्विक भावों की उत्पत्ति से रस का रति के रूप में आविर्भाव ज्ञात होता है ।

अथैषामिति । **अथ इदानीं एषां प्रागुक्तानां रत्यादीनां लक्षणानि उदाहरणानि च आह कविरिति शेषः एवमुत्तरत्र बोध्यम् ।**

रतिं लक्षयति मन इति । **मनसः चित्तस्य अनुकूलेषु अभिमतेषु अर्थेषु विषयेषु सुखस्य**

संवेदनम् अनुभवविशेषः रतिः। सैव रतिः असम्प्रयोगः कार्येषु अयोगः विषयः यस्याः तथाभूता प्रीतिः निगद्यते कथ्यते। तथा च रामादीनां सीताविषयिणी रतिः सामाजिकानां प्रीतिरिति भावः॥

हर इति। हरस्तु चन्द्रोदयस्य आरम्भे अम्बुराशिरिव समुद्र इव किञ्चित् ईषत् परिलुप्तं विनष्टं धैर्यं यस्य तथाभूतः सन् बिम्बफलमिव अधरोष्ठः यस्य ताहशे रक्ताधरोष्ठे इत्यर्थः उमामुखे पार्वतीवदने विलोचनानि नेत्राणि व्यापारयामास निचिक्षेप उमामुखं साभिलाषमद्राक्षीदिति भावः॥ १॥

अभूदिति। वरः जामाता कण्टकितः रोमाञ्चितः प्रकोष्ठः कूर्परादधोवर्त्ती मणिबन्धपर्यन्तो हस्तावयवः यस्य तथाभूतः अभूत्। कुमारी कन्या स्विन्नाः स्वेदजलाप्लुता इत्यर्थः अङ्गुलयः यस्याः ताहशी संवृत्ते जाता। तत्क्षणं पाणिग्रहणसमये इत्यर्थः मनोभवेन कामेन आत्मनो वृत्तिः व्यापारः समावेश इति यावत् तस्मिन् द्वये वधूवरयोरित्यर्थः समं तुल्यं यथा तथा विभक्तेव विभज्य दत्तेव। उभयोरपि तुल्यरूपो मदनावेश आसीदिति भावः। 'रोमाञ्चितस्तु पुरुषः कन्या स्विन्नाङ्गुलिर्भवेदिति' कविसमयप्रसिद्धिरत्र ज्ञेया॥ २॥

जन्मैव संचार्युत्पत्तौ यथा—

तयोरपाङ्गप्रविचारितानि किञ्चिद्व्यवस्थाप्रियसंहृतानि।
ह्रीयन्त्रणामानशिरे मनोज्ञामन्योन्यलोलानि विलोचनानि॥ ३॥

अत्र ह्रीः सञ्चारिभावो जायमानो रसस्य जन्म ज्ञापयति।

संचारी की उत्पत्ति होने पर (रस के) जन्म का उदाहरण—

उन दोनों वर तथा वधू के नेत्रप्रान्त में फैले हुये, जरा-सा एक दूसरे के ऊपर डाल कर लौटा लिये गये, एक दूसरे को देखने से चञ्चल हो गये नयन अतीव मनोहर लज्जा के कष्ट को प्राप्त किये॥ ३॥

यहाँ पर ह्री (लज्जा) नाम का संचारीभाव स्वयं उत्पन्न होता हुआ रस के जन्म का ज्ञान करा रहा है।

तयोरिति। तयोः वधूवरयोः अपाङ्गेषु नेत्रप्रान्तदेशेषु प्रविचारितानि प्रकर्षेण प्रसारितानि किञ्चित् अन्योन्यावलोकनक्षणे इति भावः व्यवस्थितानि व्यापारितानि ततः संहृतानि सङ्कोचितानि अन्योन्यलीलानि परस्परावलोकने सतृष्णानीत्यर्थः विलोचनानि नयनानि मनोज्ञां मनोहारिणीं सुखसम्भिन्नामिति भावः ह्रीयन्त्रणां लज्जाजनितं दुःखमित्यर्थः आनशिरे प्रापुः॥ ३॥

तदेवानुभयोत्पत्तौ जन्म यथा—

ततः सुनन्दावचनावसाने लज्जां तनूकृत्य नरेन्द्रकन्या।
दृष्ट्या प्रसादामलया कुमारं प्रत्यग्रहीत् संवरणस्रजेव॥ ४॥

अत्र दृष्टिलक्षणः शरीरारम्भोऽनुभावो भवन् रसाविर्भावं लक्षयति। अनुभावादेरनेकस्यैकस्य वा पुनरुत्पत्तिरनुबन्धः।

इन दोनों अर्थात् सत्त्व तथा संचारी की उत्पत्ति न होने पर भी रस के जन्म का उदाहरण—

इसके पश्चात् सुनन्दा की बात समाप्त होने पर राजकुमारी ने लज्जा को कम करके स्वयंवर की माला की भांति प्रसन्नता से निर्मल दृष्टि से कुमार को स्वीकार किया ॥ ४ ॥

यहाँ दृष्टि से सूचित शरीर से प्रारम्भ अनुभाव स्वयं होकर रस के आविर्भाव की प्रतीति कराता है ।

ततः इति । ततः अनन्तरं नरेन्द्रकन्या राजनन्दिनी इन्दुमती सुनन्दायाः वचनानाम् अवसाने समाप्तौ लज्जां तनूकृत्य ह्रापयित्वा संवरणस्रजेव स्वयं वरणमालिकयेव प्रसादेन प्रसन्नतया अमला विशदा तया दृष्ट्या कुमारम् अजं प्रत्यग्रहीत् स्वीचकार ॥ ४ ॥

सोऽनेकस्य यथा—

विवृण्वती शैलसुतापि भावमङ्गैः स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः ।
साचीकृता चारुतरेण तस्थौ सुखेन पर्यस्तविलोचनेन ॥ ५ ॥

अत्र देव्याः स्मरारौ पूर्वम् उत्पन्ना रतिः साभिलाषतदवलोकनेन विविक्तवसन्तादिभिरुद्दीप्यमाना रोमाञ्चावहित्थलक्षणाभ्यां सात्विकव्यभिचारिभ्यामनुबध्यते ॥

एक अथवा अनेक अनुभाव आदि की उत्पत्ति सी अनुबन्ध है । अनेक की उत्पत्ति पर ही होने वाले का उदाहरण—

पार्वती भी विकसित हो गये नव कदम्ब पुष्प की भांति (रोमाञ्चित) अङ्गों से (रति नामक) भाव को प्रकट करती हुई अत्यधिक सुन्दर तथा विस्फारित नयनों से युक्त सुख के कारण मुड़ी हुई ही खड़ी रह गई ॥ ५ ॥

यहाँ देवी पार्वती की शङ्कर में पहले से ही उत्पन्न रति उनके अभिलाषा के साथ देखने तथा एकान्त और वसन्त आदि के द्वारा उद्दीप्त होती हुई रोमाञ्च तथा अवहित्था नामक सात्त्विक तथा व्यभिचारियों से अनुबद्ध हो रही है ।

विवृण्वतीति । शैलसुतापि पार्वती अपि स्फुरन्ति विकसन्ति यानि बालकदम्बानि अभिनवकदम्बपुष्पाणि तेभ्यः ईषदूनानि तैः तत् सदृशैरिति यावत् लोमाञ्चितैरिति भावः अङ्गैः भावं रत्याख्यमिति भावः विवृण्वती प्रकटयन्ती सती चारुतरेण अतिमनोहरेण पर्यस्ते तिर्यक् प्रसारिते विलोचने नयने यस्य तादृशेन मुखेन असाचि साचि सम्पाद्यमाना कृता साचीकृता वक्रीकृतेत्यर्थः परावृत्तसुखीति भावः तस्थौ स्थिता ॥ ५ ॥

एकस्यैव पुनःपुनरुत्पत्तिर्यथा—

यान्त्या मुहुर्बलितकन्धरमाननं त-
दावृत्तवृन्तशतपत्रनिभं वहन्त्या ।
दिग्धोऽमृतेन च विषेण च पक्ष्मलाक्ष्या
गाढं निखात इव मे हृदये कटाक्षः ॥ ६ ॥

अत्र मालत्या माधवविषये पूर्वम् उत्पन्ना रतिर्वसन्तावतारतत्सन्निधि-

विशेषप्रदर्शनादिभिरुद्दीप्यमाना पुनः पुनरुत्पन्नेन बलितग्रीवकटाक्षविक्षेपलक्षणेन शरीरारम्भानुभावेनानुबध्यते। अत्रैव माधवस्य मालतीविषये तदहरेव उत्पन्ना रतिस्तैरेव उद्दीपनैः उद्दीप्यमाना हर्षधृतिस्मृतिमतिव्याध्यादिभिः सञ्चारिभावैः वागारम्भेण चानुभावेनानुबध्यते ॥ १४४ ॥

एक की ही बार बार उत्पत्ति होने पर भी रसाविर्भाव का उदाहरण—

जाते समय बारम्बार गर्दन मोड़कर परावृत्त वृन्त वाले कमल की भांति मुख को धारण करने वाली, सघन बरौनियों वाली मालती ने मेरे हृदय में अमृत तथा विष से बुझा हुआ सा कटाक्ष खूब गहरे गड़ा दिया है ॥ ६ ॥

यहाँ मालती की माधव में पहले उत्पन्न हुई रति वसन्त के आने से तथा उसकी उपस्थिति में विशेष प्रदर्शन आदि के द्वारा दीप्त की जाती हुई पुनः पुनः उत्पन्न होने वाले गर्दन को मोड़ने, तथा कटाक्षपात आदि करने आदि शरीर से आरम्भ होने वाले अनुभाव से अनुबद्ध हो जाती है। यहीं पर माधव की भी मालती के प्रति उसी दिन उत्पन्न हुई रति उन्हीं उद्दीपनों से उद्दीप्त होती हुई हर्ष, धृति, स्मृति, मति, व्याधि आदि सञ्चारी भावों के साथ वाणी से प्रारम्भ होने वाले अनुभाव से अनुबद्ध हो जाती है।

यान्त्येति। यान्त्या गच्छन्त्या मुहुः पुनः पुनः वलिता चालिता साचीकृतेति भावः कन्धरा ग्रीवा यस्य तथाभूतम् अतएव आवृत्तं परावृत्तं साचीकृतमिति भावः वृन्तं प्रसवबन्धनं नालमिति भावः यस्य तादृशं यत् शतपत्रं पद्मं तद्विभं तत्सदृशं मुखं वहन्त्या दधत्या पक्ष्मले घनलोमपूर्णे अक्षिणी नेत्रे यस्याः तथाभूतया मालत्या अमृतेन च विषेण च दिग्धः लिप्तः कटाक्षः मे मम हृदये गाढो यथा तथा निखात इव निहित इव ॥ ६ ॥

रतिरूपेणैव रसनिष्पत्तिर्यथा—

तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्गयष्टि-
निक्षेपणाय पदमुद्धृतमर्पयन्ती।
मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः
शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ ॥ ७ ॥

अत जन्मान्तरानुभवसंस्कारात् प्रतिकूलेऽपि शूलिनि शैलात्मजायाः सर्वकालमेवाविच्छिन्ना रतिश्चिरं वियुक्तस्य दुश्चरेण अपि तपसा प्रार्थनीयसङ्गमस्य तस्याकस्मिकदर्शनेन उद्दीप्यमाना सद्यः समुपजायमानसात्त्विकस्वेदस्तम्भवेपथूपलक्षितैः हर्षधृतिस्मृत्यावेगसाध्वसादिभिः व्यभिचारिभिः भावैः पदविक्षेपलक्षणेन च शरीरानुभावेन संसृज्यते। सोऽयं विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगैः रतिरूपेण रसो निष्पद्यते ॥ १४५ ॥

रति के रूप में ही रस की निष्पत्ति का उदाहरण—

उनको देख कर काँपती हुई, रसपूर्ण हो गई शरीर वाली तथा रखने के लिये उठाये गये पाँव को अर्पित करती हुई पर्वतराज हिमालय की पुत्री पार्वती मार्ग में पर्वत के आ जाने से घुमड़ उठी नदी की भांति न तो जा ही सकीं और न रुक ही सकीं ॥ ७ ॥

– यहाँ दूसरे जन्म के अनुभवों के संस्कार के कारण शंकर के प्रतिकूल हो जाने पर भी पार्वती की सभी समय अविच्छिन्न रहने वाली रति दीर्घ काल से वियुक्त तथा कठिन तपस्या के द्वारा भी जिसके मिलन की इच्छा की जा रही है उसी शिव के एकाएक दर्शन से उद्दीप्त होती हुई, तत्काल उत्पन्न हो रहे सात्त्विक भाव स्वेद, स्तम्भ तथा वेपथु के उपलक्षणों से, हर्ष, धृति, स्मृति, आवेग, साध्वस आदि व्यभिचारी भावों से, तथा पदविक्षेप नामक शारीरिक अनुभाव से संसृष्ट होती है। इस प्रकार विभाव, अनुभाव, तथा व्यभिचारी के संयोग से रति के रूप में यह रस निष्पन्न होता है।

तमिति। शैलाधिराजतनया पार्वती तं प्रतिकूलवादिनं ब्रह्मचारिणं हररूपमित्यर्थः वीक्ष्य अवलोक्य वेपथुमती कम्पमाना तथा सरसा रसवती अङ्गयष्टिः तनुलता यस्याः तथाभूता सती निक्षेपणाय उद्धृतं पदं चरणं उद्वहन्ती दधाना अतएव मार्गे पथि योऽचलः पर्वतः तस्य व्यतिकरेण सङ्गेन बाधयेति भावः आकुलिता विपर्यस्तेत्यर्थः सिन्धुरिव नदीव देशे नदविशेषेऽब्धौ सिन्धुर्नां सरिदिति स्त्रियामित्यमरः। न ययौ न तस्थौ गतिं स्थितिञ्च कामपि कर्तुमशक्ता अभूदित्यर्थः॥ ७॥

रतिरूपेणैव रसपुष्टिः यथा––

पीनश्रोणि गभीरनाभि निभृतं मध्ये भृशोच्चस्तनम्
पायाद्वः परिरब्धमब्धिदुहितुः कान्तेन कान्तं वपुः।
स्वावासानुपघातनिर्वृतमनास्तत्कालमीलद्दृशे
यस्मै सोऽच्युतनाभिपद्मवसतिर्वेधाः शिवं ध्यायति॥ ८॥

अत्र सर्वदैव श्रीवत्सलक्ष्मणो लक्ष्मीविषये महाकुलीनतौदार्यस्थिरानुरागितारूपयौवनवैदग्ध्यशीलसौभाग्यमहाभाग्यादिभिः समुत्पन्ना रतिः तदवयवविशेषकामनीयकविभावनेन उद्दीपनविभावातिशयेन उद्दीप्यमाना ब्रह्मणः समक्षमपि आलिङ्गनलक्षणेन शरीरारम्भानुभावेनानुमीयमानां लज्जाप्रणाशलक्षणां प्रेमपुष्टेः अष्टमीमवस्थामध्यास्ते। अत्र चानुक्ता अपि सात्त्विका व्यभिचारिणोऽन्येऽपि चानुभावविशेषाः प्रतीयन्ते। श्रियोऽपि च समग्रात्मगुणसम्पदाश्रये श्रीवत्सलक्ष्मणि तथाभूता तदभ्यधिका वा रतिः प्रवृद्धप्रेमप्रियतमालिङ्गनलक्षणेन उद्दीपनविभावेन उद्दीप्यमाना नयननिमीलनानुमेयां समस्तसात्त्विकानुभावव्यभिचारिहेतुं प्रेमपुष्टेरुत्तरामवस्थामाश्रयति। सोऽयं विषयसौन्दर्यादाश्रयप्रकृतेः संस्कारपाटवादुद्दीपनातिशयाच्च परां कोटिमावहन् रसः पुष्ट इत्युच्यते। अत्रैव ब्रह्मणः श्रियं प्रति मनोहरा मेयं सृष्टिरिति रत्नाकरस्येयमात्मजेति चन्द्रामृतादीनामियं सोदर्येति विष्णोरियं प्रियतमेति कामस्येयं जननी इत्यादिभ्यः आलम्बनेभ्यः समुत्पन्ना प्रीतिः स्वावासानुपघातिना शरीरसन्निवेशेन दृङ्निमीलनजनितया च तदुपघातशङ्कया उद्दीप्यमाना तत्क्षणोपजायमानतया वेगस्मृतिवितर्कोन्मादमोहचिन्तादिभिः व्यभिचारिभावैः तदनुमेयैश्च स्तम्भवेपथु-

प्रभृतिसात्त्विकैः शिवानुध्यानलक्षणेन बुद्ध्यारम्भानुभावेन संसृज्यमाना परं प्रकर्षमारोहतीति प्रतीयते ।

रति के रूप से ही रस की पुष्टि का उदाहरण—

(अर्थ के लिये द्रष्टव्य ३।३६॥)

यहाँ सदा ही श्रीवत्स के चिह्न वाले विष्णु की लक्ष्मी के प्रति महाकुलीनता, उदारता, स्थायी प्रेम, रूप, यौवन, निपुणता, शील, सौभाग्य, महाभाग्य आदि के कारण उत्पन्न रति उनके अङ्गों की विशिष्ट रमणीयता का विभावन करने से तथा अत्यधिक उद्दीपन विभाव के द्वारा उद्दीप्त की जाती हुई, ब्रह्मा के सामने भी आलिंगन रूप शरीर से आरम्भ होने वाले अनुभाव के कारण अनुमित होती हुई लज्जाप्रणाश-ह्रीत्याग-रूप प्रेमपुष्टि की आठवीं दशा को प्राप्त करती है। यहाँ कहे न जाने पर भी सभी सात्त्विक भाव, व्यभिचारी तथा अन्य भी अनुभावविशेष प्रतीत होते हैं। लक्ष्मी की भी अपने समस्त गुणों तथा सम्पत्तियों के आश्रयभूत भगवान् विष्णु के प्रति उस प्रकार की अथवा उससे भी अधिक रति बढ़े हुये अनुराग के साथ प्रियतम के आश्लिङ्गन रूप उद्दीपन विभाव से उद्दीप्त की जाती हुई, नयन के संकोच से अनुमित हो सकने वाली सभी सात्त्विक भाव, अनुभाव तथा व्यभिचारि भावों की कारणभूता प्रेमपुष्टि की उत्तर अवस्था-दशम अवस्था का आश्रय लेती है। अतः यह वर्ण्यवस्तु की सुन्दरता के कारण, आश्रय की प्रकृति के संस्कार की पटुता के कारण, तथा उद्दीपन की अधिकता के कारण चरम सीमा पर आरूढ़ होता हुआ रस 'पुष्ट हो गया है' इस प्रकार कहा जाता है। यहीं पर ब्रह्मा की भी लक्ष्मी के प्रति "यह मेरी रचना अत्यन्त रमणीय है" "रत्नाकर-सिन्धु-की यह पुत्री है" "चन्द्रमा, अमृत आदि की यह सहोदरी है" "विष्णु की यह प्रियतमा है" "काम की यह जननी है" इत्यादि आलम्बनों से उत्पन्न होने वाली प्रीति अपने निवास के अनुपघातक शरीर के सन्निवेश से तथा नेत्रसंकोच से उत्पन्न होने वाली उसके उपघात की शङ्का से उद्दीप्त होने वाली तथा उसी समय उत्पन्न होने के कारण वेग, स्मृति, वितर्क, उन्माद, मोह, चिन्ता आदि व्यभिचारी भावों के द्वारा तथा उनसे अनुमेय स्तम्भ, कम्प आदि सात्त्विक भावों के साथ मङ्गलचिन्तन रूप बुद्धि से आरम्भ होने वाले अनुभावों से संसृष्ट होती हुई चरम उत्कर्ष पर आरूढ़ होती है, ऐसा प्रतीत होता है ॥ ८ ॥

स्व० द०—अब तक के उदाहरणों में रसनिष्पत्ति तथा रसोद्भव के लिये अपेक्षित विभिन्न स्थितियों का साङ्गोपाङ्ग निरूपण हुआ है। कहीं पर भाव, कहीं उद्दीपन, कहीं सात्त्विक भाव, कहीं व्यभिचारी, कहीं सभी, कहीं एक या दो दो आकर रस को उत्पन्न करते हैं। जहाँ सभी होते हैं, वहाँ तो ठीक ही है, किन्तु जहाँ एक या दो ही अपेक्षित तत्त्व होते हैं, वहाँ शेष का अध्याहार कर लिया जाता है। परवर्तियों में आचार्य मम्मट ने केवल विभाव, केवल अनुभाव तथा केवल व्यभिचारियों से युक्त श्लोकों को उदाहृत कर शेष का यथास्थान आक्षेप उचित माना है— "यद्यपि विभावानां, अनुभावानां, औत्सुक्य-व्रीडा-हर्ष-कोपासूयाप्रसादानां च व्यभिचारिणां केवलानामत्रस्थितिः, तथाऽप्येतेषाम् असाधारणत्वमित्यन्यतमवृथाक्षेपकत्वे सति नानैकान्तिकत्व-मिति।" (काव्यप्रकाश ४र्थ उ० पृ० ११५)

पीनेति। **पीनश्रोणि विस्तृतजघनं गभीरनाभि निम्ननाभिस्थलं मध्ये मध्यदेशे कटिदेशे इत्यर्थः निभृतं क्षीणमित्यर्थः भृशोच्चस्तनम् अत्युन्नतस्तनमित्यर्थः कान्तेन नाथेन विष्णुनेत्यर्थः परिरब्धम् आलिङ्गितं कान्तं रम्यम् अब्धिदुहितुः समुद्रकन्यायाः लक्ष्म्या**

यहाँ दूसरे जन्म के अनुभवों के संस्कार के कारण शंकर के प्रतिकूल हो जाने पर भी पार्वती की सभी समय अविच्छिन्न रहने वाली रति दीर्घ काल से वियुक्त तथा कठिन तपस्या के द्वारा भी जिसके मिलन की इच्छा की जा रही है उसी शिव के एकाएक दर्शन से उद्दीप्त होती हुई, तत्काल उत्पन्न हो रहे सात्त्विक भाव स्वेद, रतम्भ तथा वेपथु के उपलक्षणों से, हर्ष, धृति, स्मृति, आवेग, साध्वस आदि व्यभिचारी भावों से, तथा पदविक्षेप नामक शारीरिक अनुभाव से संसृष्ट होती है। इस प्रकार विभाव, अनुभाव, तथा व्यभिचारी के संयोग से रति के रूप में यह रस निष्पन्न होता है।

तमिति। शैलाधिराजतनया पार्वती तं प्रतिकूलवादिनं ब्रह्मचारिणं हररूपमित्यर्थः वीक्ष्य अवलोक्य वेपथुमती कम्पमाना तथा सरसा रसवती अङ्गयष्टिः तनुलता यस्याः तथाभूता सती निक्षेपणाय उद्धृतं पदं चरणं उद्वहन्ती दधाना अतएव मार्गे पथि योऽचलः पर्वतः तस्य व्यतिकरेण सङ्गेन बाधयेति भावः आकुलिना विपर्यस्तेत्यर्थः सिन्धुरिव नदीव देशे नदविशेषेऽब्धौ सिन्धुनां सरिदिति स्त्रियामित्यमरः। न ययौ न तस्थौ गतिं स्थितिञ्च कामपि कर्तुमशक्ता अभूदित्यर्थः॥ ७॥

रतिरूपेणैव रसपुष्टिः यथा—

पीनश्रोणि गभीरनाभि निभृतं मध्ये भृशोच्चस्तनम्
पायाद्वः परिरब्धमब्धिदुहितुः कान्तेन कान्तं वपुः।
स्वावासानुपघातनिर्वृतमनास्तत्कालमीलद्दृशे
यस्मै सोऽच्युतनाभिपद्मवसतिर्वेधाः शिवं ध्यायति॥ ८॥

अत्र सर्वदैव श्रीवत्सलक्ष्मणो लक्ष्मीविषये महाकुलीनतौदार्यस्थिरानुरागितारूपयौवनवैदग्ध्यशीलसौभाग्यमहाभाग्यादिभिः समुत्पन्ना रतिः तदवयवविशेषकामनीयकविभावनेन उद्दीपनविभावातिशयेन उद्दीप्यमाना ब्रह्मणः समक्षमपि आलिङ्गनलक्षणेन शरीरारम्भानुभावेनानुमीयमानां लज्जाप्रणाशलक्षणां प्रेमपुष्टेः अष्टमीमवस्थामध्यास्ते। अत्र चानुक्ता अपि सात्त्विका व्यभिचारिणोऽन्येऽपि चानुभावविशेषाः प्रतीयन्ते। श्रियोऽपि च समग्रात्मगुणसम्पदाश्रये श्रीवत्सलक्ष्मणि तथाभूता तदभ्यधिका वा रतिः प्रवृद्धप्रेमप्रियतमालिङ्गनलक्षणेन उद्दीपनविभावेन उद्दीप्यमाना नयननिमीलनानुमेयां समस्तसात्त्विकानुभावव्यभिचारिहेतुं प्रेमपुष्टेरुत्तरामवस्थामाश्रयति। सोऽयं विषयसौन्दर्यादाश्रयप्रकृतेः संस्कारपाटवादुद्दीपनातिशयाच्च परां कोटिमावहन् रसः पुष्ट इत्युच्यते। अत्रैव ब्रह्मणः श्रियं प्रति मनोहरा ममेयं सृष्टिरिति रत्नाकरस्येयमात्मजेति चन्द्रामृतादीनामियं सोदर्येति विष्णोरियं प्रियतमेति कामस्येयं जननी इत्यादिभ्यः आलम्बनेभ्यः समुत्पन्ना प्रीतिः स्वावासानुपघातिना शरीरसन्निवेशेन दृङ्निमीलनजनितया च तदुपघातशङ्कया उद्दीप्यमाना तत्क्षणोपजायमानतया वेगस्मृतिवितर्कोन्मादमोहचिन्तादिभिः व्यभिचारिभावैः तदनुमेयैश्च स्तम्भवेपथु-

प्रभृतिसात्त्विकैः शिवानुध्यानलक्षणेन बुद्ध्यारम्भानुभावेन संसृज्यमाना परं प्रकर्षमारोहतीति प्रतीयते ।

रति के रूप से ही रस की पुष्टि का उदाहरण—

(अर्थ के लिये द्रष्टव्य ३।३६॥)

यहाँ सदा ही श्रीवत्स के चिह्न वाले विष्णु की लक्ष्मी के प्रति महाकुलीनता, उदारता, स्थायी प्रेम, रूप, यौवन, निपुणता, शील, सौभाग्य, महाभाग्य आदि के कारण उत्पन्न रति उनके अङ्गों की विशिष्ट रमणीयता का विभावन करने से तथा अत्यधिक उद्दीपन विभाव के द्वारा उद्दीप्त की जाती हुई, ब्रह्मा के सामने भी आङ्गिन रूप शरीर से आरम्भ होने वाले अनुभाव के कारण अनुमित होती हुई लज्जाप्रणाश-हीत्याग-रूप प्रेमपुष्टि की आठवीं दशा को प्राप्त करती है। यहाँ कहे न जाने पर भी सभी सात्त्विक भाव, व्यभिचारी तथा अन्य भी अनुभावविशेष प्रतीत होते हैं। लक्ष्मी को भी अपने समस्त गुणों तथा सम्पत्तियों के आश्रयभूत भगवान् विष्णु के प्रति उस प्रकार की अथवा उससे भी अधिक रति बढ़े हुये अनुराग के साथ प्रियतम के आलिङ्गन रूप उद्दीपन विभाव से उद्दीप्त की जाती हुई, नयन के संकोच से अनुमित हो सकने वाली सभी सात्त्विक भाव, अनुभाव तथा व्यभिचारि भावों की कारणभूता प्रेमपुष्टि की उत्तर अवस्था-दशम अवस्था का आश्रय लेती है। अतः यह वर्ण्यवस्तु की सुन्दरता के कारण, आश्रय की प्रकृति के संस्कार की पटुता के कारण, तथा उद्दीपन की अधिकता के कारण चरम सीमा पर आरूढ़ होता हुआ रस 'पुष्ट हो गया है' इस प्रकार कहा जाता है। यहीं पर ब्रह्मा की भी लक्ष्मी के प्रति "यह मेरी रचना अत्यन्त रमणीय है" "रत्नाकर-सिन्धु-की यह पुत्री है" "चन्द्रमा, अमृत आदि की यह सहोदरी है" "विष्णु की यह प्रियतमा है" "काम की यह जननी है" इत्यादि आलम्बनों से उत्पन्न होने वाली प्रीति अपने निवास के अनुपघातक शरीर के सन्निवेश से तथा नेत्रसंकोच से उत्पन्न होने वाली उसके उपघात की शङ्का से उद्दीप्त होने वाली तथा उसी समय उत्पन्न होने के कारण वेग, स्मृति, वितर्क, उन्माद, मोह, चिन्ता आदि व्यभिचारी भावों के द्वारा तथा उनसे अनुमेय स्तम्भ, कम्प आदि सात्त्विक भावों के साथ मङ्गलचिन्तन रूप बुद्धि से आरम्भ होने वाले अनुभावों से संसृष्ट होती हुई चरम उत्कर्ष पर आरूढ़ होती है, ऐसा प्रतीत होता है ॥ ८ ॥

स्व० द०—अब तक के उदाहरणों में रसनिष्पत्ति तथा रसोद्भव के लिये अपेक्षित विभिन्न स्थितियों का साङ्गोपाङ्ग निरूपण हुआ है। कहीं पर भाव, कहीं उद्दीपन, कहीं सात्त्विक भाव, कहीं व्यभिचारी, कहीं सभी, कहीं एक या दो दो आकर रस को उत्पन्न करते हैं। जहाँ सभी होते हैं, वहाँ तो ठीक ही है, किन्तु जहाँ एक या दो ही अपेक्षित तत्त्व होते हैं, वहाँ शेष का अध्याहार कर लिया जाता है। परवर्तियों में आचार्य मम्मट ने केवल विभाव, केवल अनुभाव तथा केवल व्यभिचारियों से युक्त श्लोकों को उदाहृत कर शेष का यथास्थान आक्षेप उचित माना है— "यद्यपि विभावानां, अनुभावानां, औत्सुक्य-व्रीडा-हर्ष-कोपासूयाप्रसादानां च व्यभिचारिणां केवलानामत्रस्थितिः, तथाऽप्येतेषाम् असाधारणत्वमित्यन्यतमवृथाक्षेपकत्वे सति नानैकान्तिकत्व-मिति।" (काव्यप्रकाश ४र्थ उ० पृ० ११५)

पीनेति। पीनश्रोणि विस्तृतजघनं गभीरनाभि निम्ननाभिस्थलं मध्ये मध्यदेशे कटिदेशे इत्यर्थः निभृतं क्षीणमित्यर्थः भृशोच्चस्तनम् अत्युन्नतस्तनमित्यर्थः कान्तेन नाथेन विष्णुनेत्यर्थः परिरब्धम् आलिङ्गितं कान्तं रम्यम् अब्धिदुहितुः समुद्रकन्यायाः लक्ष्म्या

यहाँ दूसरे जन्म के अनुभवों के संस्कार के कारण शंकर के प्रतिकूल हो जाने पर भी पार्वती की सभी समय अविच्छिन्न रहने वाली रति दीर्घ काल से वियुक्त तथा कठिन तपस्या के द्वारा भी जिसके मिलन की इच्छा की जा रही है उसी शिव के एकाएक दर्शन से उद्दीप्त होती हुई, तत्काल उत्पन्न हो रहे सात्त्विक भाव स्वेद, स्तम्भ तथा वेपथु के उपलक्षणों से, हर्ष, धृति, स्मृति, आवेग, साध्वस आदि व्यभिचारी भावों से, तथा पदविक्षेप नामक शारीरिक अनुभाव से संसृष्ट होती है। इस प्रकार विभाव, अनुभाव, तथा व्यभिचारी के संयोग से रति के रूप में यह रस निष्पन्न होता है।

तमिति। **शैलाधिराजतनया पार्वती तं प्रतिकूलवादिनं ब्रह्मचारिणं हररूपमित्यर्थः वीक्ष्य अवलोक्य वेपथुमती कम्पमाना तथा सरसा रसवती अङ्गयष्टिः तनुलता यस्याः तथाभूता सती निक्षेपणाय उद्धृतं पदं चरणं उद्वहन्ती दधाना अतएव मार्गे पथि योऽचलः पर्वतः तस्य व्यतिकरेण सङ्गेन बाधयेति भावः आकुलिता विपर्यस्तेत्यर्थः सिन्धुरिव नदीव देशे नदविशेषेऽब्धौ सिन्धुर्नदे सरिदिति स्त्रियामित्यमरः। न ययौ न तस्थौ गतिं स्थितिञ्च कामपि कर्तुमशक्ता अभूदित्यर्थः॥ ७॥**

रतिरूपेणैव रसपुष्टिः यथा—

पीनश्रोणि गभीरनाभि निभृतं मध्ये भृशोच्चस्तनम्
पायाद्वः परिरब्धमब्धिदुहितुः कान्तेन कान्तं वपुः।
स्वावासानुपघातनिर्वृतमनास्तत्कालमीलद्दृशे
यस्मै सोऽच्युतनाभिपद्मवसतिर्वेधाः शिवं ध्यायति॥ ८॥

अत्र सर्वदैव श्रीवत्सलक्ष्मणो लक्ष्मीविषये महाकुलीनतौदार्यस्थिरानुरागितारूपयौवनवैदग्ध्यशीलसौभाग्यमहाभाग्यादिभिः समुत्पन्ना रतिः तदवयवविशेषकामनीयकविभावनेन उद्दीपनविभावातिशयेन उद्दीप्यमाना ब्रह्मणः समक्षमपि आलिङ्गनलक्षणेन शरीरारम्भानुभावेनानुमीयमानां लज्जाप्रणाशलक्षणां प्रेमपुष्टेः अष्टमीमवस्थामध्यास्ते। अत्र चानुक्ता अपि सात्त्विका व्यभिचारिणोऽन्येऽपि चानुभावविशेषाः प्रतीयन्ते। श्रियोऽपि च समग्रात्मगुणसम्पदाश्रये श्रीवत्सलक्ष्मणि तथाभूता तदभ्यधिका वा रतिः प्रवृद्धप्रेमप्रियतमालिङ्गनलक्षणेन उद्दीपनविभावेन उद्दीप्यमाना नयननिमीलनानुमेयां समस्तसात्त्विकानुभावव्यभिचारिहेतुं प्रेमपुष्टेरुत्तरामवस्थामाश्रयति। सोऽयं विषयसौन्दर्यादाश्रयप्रकृतेः संस्कारपाटवादुद्दीपनातिशयाच्च परां कोटिमावहन् रसः पुष्ट इत्युच्यते। अत्रैव ब्रह्मणः श्रियं प्रति मनोहरा ममेयं सृष्टिरिति रत्नाकरस्येयमात्मजेति चन्द्रामृतादीनामियं सोदर्येति विष्णोरियं प्रियतमेति कामस्येयं जननी इत्यादिभ्यः आलम्बनेभ्यः समुत्पन्ना प्रीतिः स्वावासानुपघातिना शरीरसन्निवेशेन दृङ्निमीलनजनितया च तदुपघातशङ्कया उद्दीप्यमाना तत्क्षणोपजायमानतया वेगस्मृतिवितर्कोन्मादमोहचिन्तादिभिः व्यभिचारिभावैः तदनुमेयैश्च स्तम्भवेपथु-

प्रभृतिसात्त्विकैः शिवानुध्यानलक्षणेन बुद्ध्यारम्भानुभावेन संसृज्यमाना परं प्रकर्षमारोहतीति प्रतीयते ।

रति के रूप से ही रस की पुष्टि का उदाहरण—

(अर्थ के लिये द्रष्टव्य ३।३६॥)

यहाँ सदा ही श्रीवत्स के चिह्न वाले विष्णु की लक्ष्मी के प्रति महाकुलीनता, उदारता, स्थायी प्रेम, रूप, यौवन, निपुणता, शील, सौभाग्य, महाभाग्य आदि के कारण उत्पन्न रति उनके अङ्गों की विशिष्ट रमणीयता का विभावन करने से तथा अत्यधिक उद्दीपन विभाव के द्वारा उद्दीप्त की जाती हुई, ब्रह्मा के सामने भी आलिंगन रूप शरीर से आरम्भ होने वाले अनुभाव के कारण अनुमित होती हुई लज्जाप्रणाश-हीत्याग-रूप प्रेमपुष्टि की आठवीं दशा को प्राप्त करती है। यहाँ कहे न जाने पर भी सभी सात्त्विक भाव, व्यभिचारी तथा अन्य भी अनुभावविशेष प्रतीत होते हैं। लक्ष्मी की भी अपने समस्त गुणों तथा सम्पत्तियों के आश्रयभूत भगवान् विष्णु के प्रति उस प्रकार की अथवा उससे भी अधिक रति बढ़े हुये अनुराग के साथ प्रियतम के आश्लिङ्गन रूप उद्दीपन विभाव से उद्दीप्त की जाती हुई, नयन के संकोच से अनुमित हो सकने वाली सभी सात्त्विक भाव, अनुभाव तथा व्यभिचारि भावों की कारणभूता प्रेमपुष्टि की उत्तर अवस्था-दशम अवस्था का आश्रय लेती है। अतः यह वर्ण्यवस्तु की सुन्दरता के कारण, आश्रय की प्रकृति के संस्कार की पटुता के कारण, तथा उद्दीपन की अधिकता के कारण चरम सीमा पर आरूढ़ होता हुआ रस 'पुष्ट हो गया है' इस प्रकार कहा जाता है। यहीं पर ब्रह्मा की भी लक्ष्मी के प्रति "यह मेरी रचना अत्यन्त रमणीय है" "रत्नाकर-सिन्धु-की यह पुत्री है" "चन्द्रमा, अमृत आदि की यह सहोदरी है" "विष्णु की यह प्रियतमा है" "काम की यह जननी है" इत्यादि आलम्बनों से उत्पन्न होने वाली प्रीति अपने निवास के अनुपघातक शरीर के सन्निवेश से तथा नेत्रसंकोच से उत्पन्न होने वाली उसके उपघात की शङ्का से उद्दीप्त होने वाली तथा उसी समय उत्पन्न होने के कारण वेग, स्मृति, वितर्क, उन्माद, मोह, चिन्ता आदि व्यभिचारी भावों के द्वारा तथा उनसे अनुमेय स्तम्भ, कम्प आदि सात्त्विक भावों के साथ मङ्गलचिन्तन रूप बुद्धि से आरम्भ होने वाले अनुभावों से संसृष्ट होती हुई चरम उत्कर्ष पर आरूढ़ होती है, ऐसा प्रतीत होता है ॥ ८ ॥

स्व० द०—अब तक के उदाहरणों में रसनिष्पत्ति तथा रसोद्भव के लिये अपेक्षित विभिन्न स्थितियों का माङ्गोपाङ्ग निरूपण हुआ है। कहीं पर भाव, कहीं उद्दीपन, कहीं सात्त्विक भाव, कहीं व्यभिचारी, कहीं सभी, कहीं एक या दो दो आकर रस को उत्पन्न करते हैं। जहाँ सभी होते हैं, वहाँ तो ठीक ही है, किन्तु जहाँ एक या दो ही अपेक्षित तत्त्व होते हैं, वहाँ शेष का अध्याहार कर लिया जाता है। परवर्तियों में आचार्य मम्मट ने केवल विभाव, केवल अनुभाव तथा केवल व्यभिचारियों से युक्त श्लोकों को उदाहृत कर शेष का यथास्थान आक्षेप उचित माना है—"यद्यपि विभावानां, अनुभावानां, औत्सुक्य-व्रीडा-हर्ष-कोपासूयाप्रसादानां च व्यभिचारिणां केवलानामत्रस्थितिः, तथाऽप्येतेषाम् असाधारणत्वमित्यन्यतमवृथाक्षेपकत्वे सति नानैकान्तिकत्व-मिति ।" (काव्यप्रकाश ४र्थ उ० पृ० ११५)

पीनेति । पीनश्रोणि विस्तृतजघनं गभीरनाभि निम्ननाभिस्थलं मध्ये मध्यदेशे कटिदेशे इत्यर्थः निभृतं क्षीणमित्यर्थः भृशोच्चस्तनम् अत्युन्नतस्तनमित्यर्थः कान्तेन नाथेन विष्णुनेत्यर्थः परिरब्धम् आलिङ्गितं कान्तं रम्यम् अब्धिदुहितुः समुद्रकन्यायाः लक्ष्म्या

इत्यर्थः वपुः शरीरं वः युष्मान् पायात् रक्षेत्। कथम्भूतमित्याह स्वावासेति। सः प्रसिद्ध इत्यर्थः अच्युतस्य विष्णोः नाभिरेव पद्मं नाभौ पद्मं वा वसतिः वासभूमिर्यस्य तथाभूतः वेधाः ब्रह्मा स्वस्य आवासः आश्रयः तस्य अनुपघातेन आलिङ्गनजनितेन व्याघातेनेति भावः निर्वृतं स्वस्थं मनो यस्य तथाविधः सन् तस्मिन् काले आलिङ्गनसमये इत्यर्थः मीलत्यौ मुकुलिते इत्यर्थः लज्जयेति भावः दृशौ नयने यस्य तथाभूताय यस्मै वपुषे शिवं मङ्गलं ध्यायति चिन्तयति ॥ ८ ॥

रतौ भयादिसङ्करो यथा—

राहोश्चन्द्रकलामिवाननचरीं दैवात् समासाद्य मे
दस्योरस्य कृपाणपातविषयादाच्छिन्दतः प्रेयसीम्।
आतङ्काद्विकलं द्रुतं करुणया विक्षोभितं विस्मयात्
क्रोधेन ज्वलितं मुदा विकसितं चेतः कथं वर्त्तताम् ॥ ९ ॥

अत्र माधवस्य मालत्यां पूर्वमुत्पन्ना रतिस्तदवस्थालोकनादिभिः उद्दीपनविभावैः उद्दीप्यमाना भयशोकविस्मयक्रोधहर्षैरपि रसान्तरैः पृथक् पृथग्विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात् निष्पद्यमानैः सङ्कीर्यमाणा मनोवाग्बुद्धिशरीरारम्भानुभावैः भयाद्यनुरूपैश्च सात्त्विकव्यभिचारिभिः सम्पर्कं परं प्रकर्षमारोहन्ती प्रतीयते। तत्र चेतसो वैकल्यादिपरिभावनं मन आरम्भो, वाक्योच्चारणं वागारम्भः, राहोरिव दस्योश्चन्द्रकलामिव प्रेयसीमित्यादिबुद्ध्यारम्भः, आच्छिन्दत इत्यादि शरीरारम्भः, भयादीनाञ्च पञ्चानामपि यथाक्रमं राहोरिति चन्द्रकलामिवाननचरीमिति दैवात् समासाद्य मे इति दस्योः अस्य कृपाणपातविषयादिति आच्छिन्दतः प्रेयसीमित्यालम्बनविभावाः, तत्स्वरूपपरिभावनान्युद्दीपनविभावाः, विकलं द्रुतं विक्षोभितं ज्वलितं विकसितं चेत इत्यनुभावाः, आतङ्ककरुणाविस्मयक्रोधमुदनुरूपाश्च कम्पाश्रुस्तम्भवैवर्ण्यरोमाञ्चादयः सात्त्विकाः, मोहविषादामर्षोग्रताधृत्यादयो व्यभिचारिणश्च अनुमीयमाना निष्पत्तिहेतवो भवन्ति। सोऽयं तुल्यकालबलोत्पत्तिकारणानां भयादिनिष्पत्तीनां रतौ संसर्गः सङ्कर इत्युच्यते ॥ १४७ ॥

रति में भय आदि के सङ्कर का उदाहरण—
(अर्थ के लिये द्रष्टव्य २।४००)

यहाँ माधव की मालती के प्रति पहले उत्पन्न हुई रति उसकी दशा को देखने आदि उद्दीपन विभावों से उद्दीप्त होती हुई, भय, शोक, विस्मय, क्रोध तथा हर्ष रूप पृथक् पृथक् विभाव, अनुभाव तथा संचारी के संयोग से निष्पन्न हो रहे दूसरे रसों के द्वारा संकीर्ण की जाती हुई, मन, वाणी, बुद्धि तथा शरीर से आरब्ध अनुभावों से तथा भय आदि रूप वाले सात्त्विक और व्यभिचारियों के साथ सम्पर्क होने पर चरम उन्नति पर आरूढ़ होती हुई प्रतीत होती है। यहाँ चित्त की विकलता आदि से परिभावना मानस आरम्भ है, वाक्य का उच्चारण वाक् का आरम्भ है, 'राहु के सदृश

दस्यु के' "चन्द्रकला की भांति प्रेयसी को" आदि में बुद्धि का आरम्भ है तथा "आच्छिन्दतः" इत्यादि शरीरारम्भ है, भय आदि पाँचों को भी क्रमशः "राहोः" "चन्द्रकलामिवाननचरीं" "दैवात् समासाद्य मे" "दस्योः अस्य कृपाणपातविषयात्" "आच्छिन्दतः प्रेयसीम्" ये आलम्बन विभाव हैं। उनके स्वरूपों की सम्यक् भावना करना उद्दीपन विभाव हैं, "विकलं, द्रुतं, विक्षोभितं, ज्वलितं, विकसितं चेतः" ये अनुभाव हैं। आतङ्क, करुणा, विस्मय, क्रोध, मोद के रूप वाले तथा कम्प, अश्रु, स्तम्भ, वैवर्ण्य, रोमाञ्च आदि सात्त्विक भाव हैं, मोह, विषाद, अमर्ष, उग्रता, धृति आदि व्यभिचारी हैं जो अनुभित होते हुये (रस की) यह निष्पत्ति के कारण बनते हैं। उक्त लक्षणों वाला समान काल, बल, उत्पत्ति तथा कारण वाले भय आदि की निष्पत्ति का रति में संसर्ग सङ्कर कहा जाता है ॥ ९ ॥

राहोरिति। राहोः स्वर्भानोः आननचरीं मुखाग्रवर्त्तिनीमित्यर्थः चन्द्रकलामिव दैवात् शुभादृष्टात् समासाद्य सम्प्राप्य शशिरेखामिव अस्य दस्योः तस्करस्य कापालिकस्येति शेषः कृपाणपातः असिप्रहार एव विषयः व्यापारः तस्मात् प्रेयसीं प्रियतमां मालतीमिति शेषः आच्छिन्दतः आच्छिद्य प्रत्याहरत इत्यर्थः मे मम चेतः हृदयम् आतङ्कात् त्रासात् विकलं व्याकुलतां गतमित्यर्थः प्रत्याहरणात् प्रागिति भावः करुणया अनुकम्पया द्रुतं द्रवीभूतं हा कथमेतादृशी कमनीयकान्तिः कामिनी दुरात्मना ईदृशीं दशां नीयते इति बुद्ध्येति भावः। विस्मयात् विक्षोभितम् आलोडितं दुरात्मना अनेन कथमेषा तादृशादन्तःपुरादस्यां रात्रौ समाहृता मया चासादितेति बुद्ध्येति भावः। क्रोधेन ज्वलितं उद्दीपितं दुरात्मनोऽस्य दुर्व्यवहारादिति भावः मुदा आनन्देन विकसितं विकासं गतं प्रत्याहरणादिति भावः कथं कीदृशमित्यर्थः वर्त्ततां कीदृशीमवस्थां लभते इति न जाने इति भावः ॥ ९ ॥

रतिरूपेण रसप्रकर्षस्य ह्रासो यथा—

कोपो यत्र भ्रुकुटिरचना निग्रहो यत्र मौनम्
यत्रान्योन्यस्मितमनुनयो दृष्टिपातः प्रसादः।
तस्य प्रेम्णस्तदिदमधुना वैशसं पश्य जातम्
त्वं पादान्ते लुठसि न च मे मन्युमोक्षः खलायाः ॥ १० ॥

अत्र योषिति रोषाख्यरसान्तरतिरस्कारात् पुरुषे चानुरागात् रतिप्रकर्षस्य ह्रासोऽवगम्यते ॥

रति के रूप में रस के प्रकर्ष के ह्रास का उदाहरण—

जिस प्रेम में भौहों की कुटिलता ही क्रोध है, जहाँ चुप रहना ही प्रहार है, जहाँ एक दूसरे की मुसकान विनती है, निगाहें डालना ही कृपा है, उसी प्रेम का, देखो, अब इसी समय वध हो गया कि तुम तो मेरे चरणों के समीप पड़े लोट रहे हो और मुझ दुष्टा का क्रोध ही नहीं शान्त हो रहा है ॥ १० ॥

यहाँ स्त्री में रोष नामक दूसरे रस से तिरस्कार होने से तथा पुरुष में अनुराग होने से रति के उत्कर्ष का ह्रास प्रतीत होता है।

स्व० द०—पूर्ववर्ती श्लोक में अनेक रसों का समावेश होने से रससङ्कर है, तथा परवर्ती

में रसोत्कर्ष का ह्रास है। सामान्यतः स्त्री में रागाधिक्य तथा पुरुष में अन्य भावों का समावेश विहित है, किन्तु उसी का विपरीत वर्णन हो जाने से रसोत्कर्ष का ह्रास हो गया है।

कोप इति। यत्र प्रेम्णि भ्रुकुटिरचना भ्रूभङ्गिकरणं कोपः क्रोधः। यत्र प्रेम्णि मौनं वाक्संयम इत्यर्थः निग्रहः प्रहार इत्यर्थः। यत्र प्रेम्णि अनुनयः सान्त्वनम् अन्योन्यस्मितं परस्परमृदुहसितमित्यर्थः दृष्टिपातः अवलोकनं प्रसादः प्रसन्नता। तस्य तथाविधस्येति यावत् प्रेम्णः प्रणयस्य अधुना इदानीं तत् इदं वैशसं वधं विपर्यासमिति भावः जातं पश्य अवलोकय त्वं पादान्ते चरणतले इत्यर्थः लुठसि पतित्वा तिष्ठसीति यावत् तथापि खलायाः निष्ठुरायाः तवेदृशीं दशां दृष्ट्वापि निगृह्यत्या इति भावः मम मन्युमोक्षः कोपशान्तिः न च नैवेत्यर्थः। अतिमानिन्या उक्तिरियम् ॥ १० ॥

रतिरूपेण हीनपात्रेषु रसाभासो यथा—

विक्किणइ माहमासम्मि पामरो पावरणं बइल्लेण ॥
दिट्ठिं स मुम्मुरे सामलोए थणए णिअच्छन्ती ॥ ११ ॥

रति रूप से हीनपात्रों में होने के कारण रसाभास का उदाहरण—

माघ के महीने में यह मूर्ख कृषक, निर्धूम भूसी की अग्नि के सदृश (उष्णतादायक) श्यामा स्त्री के स्तनों पर दृष्टि लगाकर (उसी से गर्मी का अनुभव करता हुआ) बैल खरीदने के लिये अपने ओढ़ने को भी बेच दे रहा है ॥ ११ ॥

विक्रीणीते माघमासे पामरः प्रावरणं बलीवर्दैः।
दृष्टिं स मुर्मुरे श्यामलायाः स्तने नियच्छन् ॥

विक्किणइ इति। सः पामरः मूर्खः कृषीवल इति शेषः बलीवर्देन निमित्तभूतेनेति शेषः माघमासे श्यामलायाः श्यामाङ्ग्याः। 'शीते सुखोष्णसर्वाङ्गी ग्रीष्मे च सुखशीतला। नवयौवनसम्पन्ना सा श्यामा परिगीयते' इत्युक्तलक्षणाया इति भावः मुर्मुरे तुषाग्निभूते स्तने दृष्टिं नियच्छन् अर्पयन् प्रावरणं गात्रवस्त्रं विक्रीणीते। श्यामायाः कान्तायाः स्तन एव मे शीतनिवारणोपाय इति विविच्य प्रावरणविनिमयेन बलीवर्दं क्रीतवानित्यर्थः ॥११॥

तिर्यक्षु यथा—

पाअडिअं सोहग्गं तंबाएउ विसहगोट्ठमज्झम्मि।
दुट्ठविसहस्स सिङ्गे अच्छिउडं कंडुअंतीए ॥ १२ ॥

तिर्यक् योनि वालों में (रति निरूपण से रसाभास का उदाहरण)—

देखो, गोष्ठ में दुष्ट बैल की सींग में अपनी पलकों को रगड़ कर यह गाय अपना सौभाग्य प्रकट कर रही है ॥ १२ ॥

प्रकटितं सौभाग्यं ताम्रया वृषभगोष्ठमध्ये।
दुष्टवृषभस्य शृङ्गे अक्षिपुटं कण्डूयन्त्या ॥

पाअडिअ इति। ताम्रया ताम्रवर्णया गवेति शेषः वृषभगोष्ठमध्ये वृषसमूहमध्ये दुष्टवृषभस्य दुष्टस्य दुर्दान्तस्य स्वमनोरथपूरणक्षमस्येति भावः शृङ्गे अक्षिपुटं नेत्रपुटं कण्डूयन्त्या कण्डूयितं कुर्वत्या सौभाग्यं प्रियवल्लभ्यं प्रकटितम् आविष्कृतम् ॥ १२ ॥

नायकप्रतियोगिषु यथा—

पुलअं जणअंति दहकंधरस्स राहवसरा सरीरम्मि ।
जणअसुआफंसपहग्घा विअ करअला अड्ढविमुक्का ॥ १३ ॥

नायक के विरोधियों में (रति प्रदर्शन से रसाभास का) उदाहरण—

राम के जनकपुत्री सीता के स्पर्श से जले हुये बीच में ही छोड़ दिये गये बाण सीता के करतल की भांति रावण के शरीर में रोमाञ्च पैदा कर रहे हैं ॥ १३ ॥

पुलकं जनयन्ति दशकन्धरस्य राघवशराः शरीरे ।
जनकसुतास्पर्शप्रदग्धा इव करतला अर्द्धविमुक्ताः ॥

पुलअमिति । राघवस्य रामस्य शराः जनकसुतायाः स्पर्शेन स्वकर्त्तृकेनेति भावः प्रदग्धाः प्रज्वलिताः अर्द्धविमुक्ता अर्द्धावच्छेदेन परित्यक्ताः परपुरुषस्पृष्टा एते परित्याज्या इति बुद्ध्येति भावः करतला इव दशकन्धरस्य रावणस्य शरीरे पुलकं रोमाञ्चं जनयन्ति उत्पादयन्ति ॥ १३ ॥

गौणेषु यथा—

उव्वहइ णवतिणंकुररोमञ्चपसाहिआइं अङ्गाइं ।
पाउसलच्छीए पओहरेहिं पडिवेल्लिओ विंझो ॥ १४ ॥

त एते चत्वारोऽपि रसाभासा उच्यन्ते ॥

गौण (पदार्थों में रति-प्रदर्शन से रसाभास का) उदाहरण—

वर्षा की लक्ष्मी के पयोधरों से आलिङ्गित अथवा उत्तेजित विन्ध्य पर्वत नवतृणाङ्कुर रूप रोमाञ्चों से समन्वित अङ्गों को धारण कर रहा है ॥ १४ ॥

ये चारो ही रसाभास कहे जाते हैं ।

उद्वहति नवतृणाङ्कुररोमाञ्चप्रसाधितान्यङ्गानि ।
प्रावृड् लक्ष्म्याः पयोधरैः परिवेल्लितो विन्ध्यः ॥

उव्वहइ इति । प्रावृट्लक्ष्म्या वर्षाश्रिया पयोधरैः मेघैः स्तनैरितिध्वनिः परिवेल्लितः समालिङ्गितः विन्ध्यः तदाख्यः पर्वतः नवाः अभिनवोद्भिन्नाः । तृणाङ्कुरा एव रोमाञ्चाः तैः प्रसाधितानि अलङ्कृतानि अङ्गानि उद्वहति धत्ते ॥ १४ ॥

रतावेव लज्जारोषरूपरसान्तरयोः प्रशमो यथा—

दृष्टे लोचनवन्मनाङ्मुकुलितं पार्श्वस्थिते वक्त्रवन्
न्यग्भूतं बहिरासितं पुलकवत् स्पर्शं समातन्वति ।
नीवीबन्धवदागतं शिथिलतामाभाषमाणे ततो
मानेनापगतं ह्रियेव सुदृशः पादस्पृशि प्रेयसि ॥ १५ ॥

अत्र बलवद्भ्यां प्रियप्रेमानुनयाभ्यां ह्रीरोषयोः उपशमः क्रियते ।

रति में ही लज्जा तथा रोष रूपी दूसरे रसों के प्रशम का उदाहरण—

प्रियतम के दिखलाई पड़ जाने पर सुन्दर नयनों वाली प्रियतमा का मान नेत्रों की भांति संकुचित हो गया, पास में खड़े होने पर मुख की भांति घूम गया, स्पर्श करने पर रोमाञ्च की भांति बाहर हो गया, उसके बोलने पर वह कमर पर बाँधी जानेवाली वस्त्रग्रन्थि की भांति शिथिलता को प्राप्त हो गया, तथा उसके चरणों पर गिरने पर लज्जा की भांति वह मान चला गया ॥ १५ ॥

यहाँ प्रिय के अत्यन्त बलवान् प्रेम तथा अनुनयों के द्वारा लज्जा तथा रोष का उपशम किया जा रहा है।

दृष्टे इति। प्रेयसि प्रियतमे दृष्टे सति सुदृशः सुलोचनायाः कान्तायाः मानेन लोचनवत् नयनेनेव मनाक् ईषत् मुकुलितं सङ्कुचितमिति यावत् पार्श्वस्थिते पार्श्ववर्त्तिनि सति वक्त्रवत् वदनेनेव न्यग्भूतं परावृत्तमित्यर्थः। स्पर्शे समानन्वति कुर्वति सति पुलकवत् पुलकेनेव बहिरासितं बहिः स्थितम् नतु मनसीति भावः। आभाषमाणे आलपति सति नीवीबन्धवत् वसनग्रन्थिनेव शिथिलतां शैथिल्यम् आगतं प्राप्तम्। पाठोऽयं प्रामादिकः शिथिलता आगतेति विशुद्धः पाठः सतु छन्दोभङ्गदोषान्नात्र स्थानमाप्नोतीति चिन्त्यम्। पादस्पृशि चरणनिपतिते सति ह्रियेव लज्जयेव मानेन अपगतं निवृत्तम् ॥ १५ ॥

रतावेव रोषरूपरसस्य शेषो यथा—

एष्यत्युत्सुकमागते विवलितं सम्भाषिणि स्फारितम्
संश्लिष्यत्यरुणं गृहीतवसने कोपाञ्चितभ्रूलतम्।
मानिन्याश्चरणानतिव्यतिकरे वाष्पाम्बुपूर्णेक्षणं
चक्षुर्जातमहो प्रपञ्चचतुरं जातागसि प्रेयसि ॥ १६ ॥

अत्र कस्याश्चिद्बलवता प्रेम्णा उन्मूलितस्यापि मानस्य शेषोऽनुवर्त्तते। त एते भावादयो दशापि रसप्रकारा हासादिष्वपि प्रायशो दृश्यन्ते। ग्रन्थगौरवभयान्न क्वचिदुदाह्रियन्ते।

रति में ही रोष रूप रस के शेष होने का उदाहरण—

बड़े आश्चर्य की बात है कि उस मानिनी सुन्दरी के नयन अपराधी प्रियतम आयेंगे यह जान कर उत्कण्ठित हो गये, उसके आ जाने पर थोड़ा चञ्चल हो गये, वार्तालाप करने पर फैल गये, आलिङ्गन करते समय लाल हो गये, कपड़े खींचने पर क्रोध से भौंहों की वक्रता से समन्वित हो गये और उसके चरणों पर गिरने का प्रयास करते समय अश्रुजल से भर गये। अतः वे निःसन्देह विभिन्न भावों की रचना में निपुण हैं ॥ १६ ॥

यहाँ किसी सुन्दरी के बलवान् प्रेम के द्वारा उखाड़ दिये जाने पर भी मान का शेष भाव रह जाता है। इस प्रकार ये भाव आदि दसों ही रस के प्रकार हास आदि में भी अधिकतर देखे जाते हैं। ग्रन्थ बहुत बड़ा न हो जाये इस भय से कहीं कहीं इनको नहीं उदाहृत किया जायेगा।

स्व० प०—भोज उपर्युक्त दसों दशाओं में भी रस की निष्पत्ति मानते हैं। पूर्ववत् सब में यथोचित रूप से अनुक्त तत्त्वों का अध्याहार कर लिया जाता है। इनके मत से सभी रस हैं, चाहे भाव हो, चाहे संचारी आदि।

एष्यतीति। अहो आश्चर्यं मानिन्याः मानवत्याः कान्तायाः चक्षुः जातागसि कृतापराधे इत्यर्थः प्रेयसि प्रियतमे एष्यति आगमिष्यति सति उत्सुकं तदागमनार्थमुत्कण्ठितमित्यर्थः। आगते उपस्थिते सति विचलितं मनाक् मुकुलितमिति यावत् सम्भाषिणि आलपति सति स्फारितं विस्तारितम्। संश्लिष्यति समालिङ्गति सति अरुणं रक्तम्। गृहीतवसने वसनाकर्षिणि इत्यर्थः सति कोपेन अञ्चिते वक्रीकृते इति भावः भ्रुवौ लते इव यस्य तथाभूतम्। चरणयोरानतौ प्रणिपाते व्यतिकरः प्रयासः यस्य तथाविधे सति वाष्पाम्बुना अश्रुवारिणा पूर्णे ईक्षणे दर्शनव्यापारौ यस्य तथाभूतम् अतएव प्रपञ्चे विविधविलासे इति भावः चतुरं सुदक्षं जातम्॥ १६॥

तत्र,

व्यङ्ग्यक्रीडादिभिश्चेतोविकासो हास उच्यते॥ १३९ अ॥

तद्रूपेण रसस्य भावो यथा—

कनककलसस्वच्छे राधापयोधरमण्डले
नवजलधरश्यामामात्मद्युतिं प्रतिबिम्बिताम्।
असितसिचयप्रान्तभ्रान्त्या मुहुर्मुहुरुत्क्षिपन्
जयति जनितव्रीडाहासः प्रियाहसितो हरिः॥ १७॥

अत्र राधया व्यङ्ग्यतस्य हरेस्तु व्रीडातो हासस्य सत्तामात्रं प्रतीयते।

इनमें से—

विकलाङ्ग की क्रीडा लज्जा-आदि के द्वारा चित्त का विकास हास कहा जाता है॥ १३९ (अ)।

इस रूप से रसके "भाव" का उदाहरण—

(अर्थ के लिये द्रष्टव्य ३।११०॥)

यहाँ राधा की क्रीडा से व्यङ्ग्यित हरि के हास की सत्ता मात्र प्रतीत होती है।

इदानीं हासं लक्षयति। तत्रेति। तत्र तेषु स्थायिभावेषु मध्ये व्यङ्गं विकृताङ्गं व्रीडा लज्जा आदिपदेन परिहासादीनां ग्रहणम्। तत्तद्भावविशेषैः चेतसः मनसः विकासः हास उच्यते कथ्यते॥ १५५॥

कनकेति। कनककलस इव स्वर्णकुम्भ इव स्वच्छं निर्मलं तस्मिन् राधायाः पयोधरमण्डले स्तनमण्डले नवजलधरश्यामां नवमेघश्यामवर्णां प्रतिबिम्बितां प्रतिफलिताम् आत्मनः स्वस्य द्युतिं प्रभाम् असितः कृष्णवर्णः सिचयस्य उत्तरासङ्गस्य प्रान्तः पर्यन्तभागः तस्य भ्रान्त्या भ्रमेण मुहुः मुहुः पुनः पुनः उत्क्षिपन् अपसारयन् अपसारितं कुर्वन्निति यावत् प्रियया राधया हसितः भ्रान्तोऽयं किं करोतीति बुद्ध्येति भावः अतएव जनितः उत्पादितः प्रियाहासेनेति भावः व्रीडया हासः यस्य तथाभूतः हरिः कृष्णः जयति सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते इत्यर्थः॥ १७॥

शोकश्चित्तस्य वैधुर्यमभीष्टविरहादिभिः॥ १३९॥

रति में ही लज्जा तथा रोष रूपी दूसरे रसों के प्रशम का उदाहरण—

प्रियतम के दिखलाई पड़ जाने पर सुन्दर नयनों वाली प्रियतमा का मान नेत्रों की भांति संकुचित हो गया, पास में खड़े होने पर मुख की भांति घूम गया, स्पर्श करने पर रोमाञ्च की भांति बाहर हो गया, उसके बोलने पर वह कमर पर बाँधी जानेवाली वस्त्रग्रन्थि की भांति शिथिलता को प्राप्त हो गया, तथा उसके चरणों पर गिरने पर लज्जा की भांति वह मान चला गया ॥ १५ ॥

यहाँ प्रिय के अत्यन्त बलवान् प्रेम तथा अनुनयों के द्वारा लज्जा तथा रोष का उपशम किया जा रहा है।

दृष्टे इति। प्रेयसि प्रियतमे दृष्टे सति सुदृशः सुलोचनायाः कान्तायाः मानेन लोचनवत् नयनेनेव मनाक् ईषत् मुकुलितं सङ्कुचितमिति यावत् पार्श्वस्थिते पार्श्ववर्त्तिनि सति वक्त्रवत् वदनेनेव न्यग्भूतं परावृत्तमित्यर्थः। स्पर्शं समानन्वति कुर्वति सति पुलकवत् पुलकेनेव बहिरासितं बहिः स्थितम् नतु मनसीति भावः। आभाषमाणे आलपति सति नीवीबन्धवत् वसनग्रन्थिनेव शिथिलतां शैथिल्यम् आगतं प्राप्तम्। पाठोऽयं प्रामादिकः शिथिलता आगतेति विशुद्धः पाठः सतु छन्दोभङ्गदोषान्नात्र स्थानमाप्नोतीति चिन्त्यम्। पादस्पृशि चरणनिपतिते सति ह्रियेव लज्जयेव मानेन अपगतं निवृत्तम् ॥ १५ ॥

रतावेव रोषरूपरसस्य शेषो यथा—

एष्यत्युत्सुकमागते विवलितं सम्भाषिणि स्फारितम्
संश्लिष्यत्यरुणं गृहीतवसने कोपाञ्चितभ्रूलतम्।
मानिन्याश्चरणानतिव्यतिकरे वाष्पाम्बुपूर्णेक्षणं
चक्षुर्जातमहो प्रपञ्चचतुरं जातागसि प्रेयसि ॥ १६ ॥

अत्र कस्याश्चिद्बलवता प्रेम्णा उन्मूलितस्यापि मानस्य शेषोऽनुवर्त्तते। त एते भावादयो दशापि रसप्रकारा हासादिष्वपि प्रायशो दृश्यन्ते। ग्रन्थगौरवभयान्न क्वचिदुदाह्रियन्ते।

रति में ही रोष रूप रस के शेष होने का उदाहरण—

बड़े आश्चर्य की बात है कि उस मानिनी सुन्दरी के नयन अपराधी प्रियतम आयेंगे यह जान कर उत्कण्ठित हो गये, उसके आ जाने पर थोड़ा चञ्चल हो गये, वार्तालाप करने पर फैल गये, आलिङ्गन करते समय लाल हो गये, कपड़े खींचने पर क्रोध से भौहों की वक्रता से समन्वित हो गये और उसके चरणों पर गिरने का प्रयास करते समय अश्रुजल से भर गये। अतः वे निःसन्देह विभिन्न भावों की रचना में निपुण हैं ॥ १६ ॥

यहाँ किसी सुन्दरी के बलवान् प्रेम के द्वारा उखाड़ दिये जाने पर भी मान का शेष भाव रह जाता है। इस प्रकार ये भाव आदि दसो ही रस के प्रकार हास आदि में भी अधिकतर देखे जाते हैं। ग्रन्थ बहुत बड़ा न हो जाये इस भय से कहीं कहीं इनको नहीं उदाहृत किया जायेगा।

स्व० प०—भोज उपर्युक्त दसों दशाओं में भी रस की निष्पत्ति मानते हैं। पूर्ववत् सब में यथोचित रूप से अनुक्त तत्त्वों का अध्याहार कर लिया जाता है। इनके मत से सभी रस हैं, चाहे भाव हो, चाहे संचारी आदि।

एष्यतीति। अहो आश्चर्यं मानिन्याः मानवत्याः कान्तायाः चक्षुः जातागसि कृतापराधे इत्यर्थः प्रेयसि प्रियतमे एष्यति आगमिष्यति सति उत्सुकं तदागमनार्थमुत्कण्ठितमित्यर्थः। आगते उपस्थिते सति विचलितं मनाक् मुकुलितमिति यावत् सम्भाषिणि आलपति सति स्फारितं विस्तारितम्। संश्लिष्यति समालिङ्गति सति अरुणं रक्तम्। गृहीतवसने वसनाकर्षिणि इत्यर्थः सति कोपेन अञ्चिते वक्रीकृते इति भावः भ्रुवौ लते इव यस्य तथाभूतम्। चरणयोरानतौ प्रणिपाते व्यतिकरः प्रयासः यस्य तथाविधे सति वाष्पाम्बुना अश्रुवारिणा पूर्णे ईक्षणे दर्शनव्यापारौ यस्य तथाभूतम् अतएव प्रपञ्चे विविधविलासे इति भावः चतुरं सुदक्षं जातम्॥ १६॥

तत्र,

व्यङ्ग्यक्रीडादिभिश्चेतोविकासो हास उच्यते॥ १३९ अ॥

तद्रूपेण रसस्य भावो यथा—

कनककलसस्वच्छे राधापयोधरमण्डले
नवजलधरश्यामामात्मद्युतिं प्रतिबिम्बिताम्।
असितसिचयप्रान्तभ्रान्त्या मुहुर्मुहुरुत्क्षिपन्
जयति जनितव्रीडाहासः प्रियाहसितो हरिः॥ १७॥

अत्र राधया व्यङ्ग्यतस्य हरेस्तु व्रीडातो हासस्य सत्तामात्रं प्रतीयते।

इनमें से—

विकलाङ्ग की क्रीडा लज्जा-आदि के द्वारा चित्त का विकास हास कहा जाता है॥ १३९ (अ)।

इस रूप से रसके "भाव" का उदाहरण—

(अर्थ के लिये द्रष्टव्य ३।११०॥)

यहाँ राधा की क्रीडा से व्यङ्ग्यित हरि के हास की सत्ता मात्र प्रतीत होती है।

इदानीं हासं लक्षयति। तत्रेति। तत्र तेषु स्थायिभावेषु मध्ये व्यङ्गं विकृताङ्गं व्रीडा लज्जा आदिपदेन परिहासादीनां ग्रहणम्। तत्तद्भावविशेषैः चेतसः मनसः विकासः हास उच्यते कथ्यते॥ १५५॥

कनकेति। कनककलस इव स्वर्णकुम्भ इव स्वच्छं निर्मलं तस्मिन् राधायाः पयोधरमण्डले स्तनमण्डले नवजलधरश्यामां नवमेघश्यामवर्णां प्रतिबिम्बितां प्रतिफलिताम् आत्मनः स्वस्य द्युतिं प्रभाम् असितः कृष्णवर्णः सिचयस्य उत्तरासङ्गस्य प्रान्तः पर्यन्तभागः तस्य भ्रान्त्या भ्रमेण मुहुः मुहुः पुनः पुनः उत्क्षिपन् अपसारयन् अपसारितं कुर्वन्निति यावत् प्रियया राधया हसितः भ्रान्तोऽयं किं करोतीति बुद्ध्येति भावः अतएव जनितः उत्पादितः प्रियाहासेनेति भावः व्रीडया हासः यस्य तथाभूतः हरिः कृष्णः जयति सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते इत्यर्थः॥ १७॥

शोकश्चित्तस्य वैधुर्यमभीष्टविरहादिभिः॥ १३९॥

तद्रूपेण रसस्य निष्पत्तिर्यथा--

हृदयान्नापयातोऽसि दिक्षु सर्वासु दृश्यसे।
वत्स ! राम ! गतोऽसीति सन्तापादनुमीयसे ॥ १८ ॥

अत्र दशरथस्य रामवियोगादुत्पन्नस्तद्गुणस्मरणादिभिरुद्दीपितश्चिन्तासन्तापादिर्वागारम्भेण चानुषज्यमानः शोकरूपेण रसो निष्पद्यते।

प्रियजन के वियोग आदि से मन की कातरता शोक है ॥ १३९ ॥

उस रूप से रस की निष्पत्ति का उदाहरण—

हृदय से तुम गये नहीं, सभी दिशाओं में दिखाई पड़ते हो। हे पुत्र, राम, तुम चले गये हो, यह केवल संताप से प्रतीत होता है ॥ १८ ॥

यहाँ दशरथ की राम के वियोग से उत्पन्न, उनके गुणों के स्मरण आदि से उद्दीपित, चिन्ता, सन्ताप आदि वाणी के आरम्भ से अनुषक्त होकर शोक के रूप में रस निष्पन्न होता है।

शोकं लक्षयति शोक इति। **अभीष्टस्य प्रियजनस्य विरहादिभिः चित्तस्य मनसः वैधुर्यं कातर्यं शोकः ॥ १३९ ॥**

हृदयादिति। हे वत्स राम ! हृदयात् न अपयातः बहिर्गतः न असि न भवसि सर्वासु दिक्षु दृश्यसे अवलोक्यसे। किन्तु सन्तापात् मनसो वैधुर्यात् गतः असि इति अनुमीयसे अनुमानविषयीभवसि ॥ १८ ॥

प्रतिकूलेषु तैक्ष्ण्यस्य प्रबोधः क्रोध उच्यते ॥ १४० अ ॥

तद्रूपेण रसस्य निष्पत्तिर्यथा--

मय्येवमस्मरणदारुणचित्तवृत्तौ
वृत्तं रहः प्रणयमप्रतिपद्यमाने।
भेदाद् भ्रुवोः कुटिलयोरतिलोहिताक्ष्या
भग्नं शरासनमिवातिरुषा स्मरस्य ॥ १९ ॥

अत्र यद्यपि विभावानुभावसञ्चारिसंयोगलक्षणया रसनिष्पत्तेरधिकमतिरुषातिलोहिताक्ष्येति प्रकर्षनिमित्तमतिशब्दोपादानं विद्यते तथाप्युत्तमनायिकाश्रयः प्रियविषये न रोषः प्रकर्षमासादयति ॥

उलटी घटनाओं के घटित हो जाने पर अथवा अपने से प्रतिकूल विषयों पर तीक्ष्णता का लगना क्रोध कहा जाता है ॥ १४० (अ) ॥

उसके रूप में रस की निष्पत्ति का उदाहरण—

मेरे इस प्रकार से याद न आने के कारण कठोर मनोवृत्ति का हो जाने से एकान्त में हुये प्रेम में विश्वास न करने पर अत्यन्त क्रोध से उस अत्यन्त लाल-लाल आँखों वाली शकुन्तला की कुटिल भौंहों में भङ्गिमा आने से ऐसा लगता था मानो कामदेव की धनुष् ही टूट गई हो ॥ १९ ॥

यहाँ यद्यपि विभाव, अनुभाव तथा संचारी के संयोग का रूप होने से रसनिष्पत्ति के प्रकर्ष का कारण "अधिकमतिरुषातिलोहिताक्ष्या" में 'अति' शब्द का ग्रहण विद्यमान है, फिर भी उत्तम नायिका पर आश्रित रोष प्रिय के विषय में होने से प्रकर्ष नहीं कर पाता है।

क्रोधं लक्षयति प्रतिकूलेष्विति । प्रतिकूलेषु विरोधिषु तैक्ष्ण्यस्य तीक्ष्णभावस्य उग्रतायाः प्रबोधः ज्ञानं क्रोधः उच्यते ॥ १४०(अ) ॥

मयीति । अतिलोहिताक्ष्या कोपात् अतिरक्तचक्षुषा प्रिययेति शेषः अस्मरणेन स्मरणाभावेन दारुणा निष्ठुरा चित्तवृत्तिः मनोवृत्तिर्यस्य तथाभूते अतएव एवं प्रकारेण मयि वृत्तं जातं रहः प्रणयं विजनप्रेम अप्रतिपद्यमाने अस्वीकुर्वति सति कुटिलयोः भ्रुवोर्भेदात् अतिरुषा अतिकोपेन स्मरस्य कामस्य शरासनं कार्मुकं भग्नमिव खण्डितमिव ॥ १९ ॥

कार्यारम्भेषु संरम्भः स्थेयानुत्साह इष्यते ॥ १४० ॥

तद्रूपेण रसस्य जन्म यथा—

मूर्ध्ना जाम्बवतोऽभिवाद्य चरणावापृच्छ्य सेनापती-
नाश्वास्याश्रुमुखान् मुहुः प्रियसखीन् प्रेष्यान् समादिश्य च ।
आरम्भं जगृहे महेन्द्रशिखरादम्भोनिधेर्लङ्घने
रंहस्वी रघुनाथपादरजसामुच्चैः स्मरन् मारुतिः ॥२०॥

अत्र अभिवादनप्रश्नाश्वासनसमादेशनाद्रिशिखरारोहणेष्टदेवतास्मरणानां पूर्वरङ्गपर्यवसायित्वेनानुद्दीपनविभावत्वादनुत्साहानुभावत्वाच्च नायमनुबन्धो निष्पत्तिः प्रकर्षो वा भवति ॥

कार्य के प्रारंभ में स्थिरतर उद्योग 'उत्साह' नाम से अभीष्ट है ॥ १४० ॥

उस रूप से रस के जन्म का उदाहरण—

अत्यधिक वेग वाले हनुमान् जाम्बवान् के चरणों में प्रणाम करके, सेनापति से पूँछ-पाँछ करके, वाष्पपूरित मुखों वाले प्रिय मित्रों को बार-बार आश्वासन देकर, सेवकों को आज्ञा देकर, राम के चरण की रज का अत्यन्त भक्ति से युक्त होकर याद करते हुये महेन्द्राचल के शिखर से समुद्र के लंघन का आरंभ करने लगे ॥ २० ॥

यहाँ अभिवादन, प्रश्न, आश्वासन, समादेशन, पर्वत के शिखर पर चढ़ना तथा इष्ट देवता के स्मरण का पूर्वरङ्ग में पर्यवसान हो जाने से उद्दीपन विभाव न होने से तथा उत्साह के अनुभावों के भी न होने से यह अनुबन्ध न तो निष्पत्ति है और न तो प्रकर्ष ।

उत्साहं लक्षयति कार्येति । कार्याणाम् आरम्भाः तेषु स्थेयान् स्थिरतरः संरम्भः समुद्योगः उत्साह इष्यते ॥ १४० ॥

मूर्ध्नेति । रंहस्वी अतिवेगवान् मारुतिः पवनतनयः मूर्ध्ना शिरसा जाम्बवतः चरणौ अभिवाद्य प्रणम्य सेनापतीन् अङ्गदादीन् आपृच्छ्य साधु याम इति सम्भाष्य अश्रुमुखान् वाष्पाविलवदनान् प्रियसखीन् प्रियबन्धून् मुहुः पुनः पुनः आश्वास्य प्रेष्यान् भृत्यान् समादिश्य एवमेवं कुरुतेति आज्ञाप्य रघुनाथस्य रामस्य पादरजसां चरणरेणूनाम् उच्चैः भक्त्यतिशयेनेति भावः स्मरन् महेन्द्रस्य तदाख्यपर्वतस्य शिखरात् अम्भोनिधेः समुद्रस्य लङ्घने आरम्भं जगृहे समुद्रं लङ्घितुमुपचक्रमे इत्यर्थः ॥ २० ॥

भयं चित्तस्य वैक्लव्यं रौद्रादिजनितं विदुः ॥ १४१(अ) ॥

तद्रूपेण रसस्यानुबन्धो यथा—

मन्त्रान् मृत्युजितो जपद्भिरसकृद्ध्यायद्भिरिष्टान् सुरान्
शुष्यत्तालुभिराकुलाकुलपदैर्निर्वाग्भिरुत्कम्पिभिः ।
अध्वन्यैरिह जीवितेशमहिषव्याधूम्रधूमाविला
लङ्घ्यन्ते करिमांसघस्मररणत्कौलेयकाः पल्लयः ॥ २१ ॥

अत्र यद्यपि पल्लीनामालम्बनत्वं तद्विशेषणयोः उद्दीपनत्वं मन्त्रजपादेरनुभावत्वं तालुशोषादीना व्यभिचारित्वमिति विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगोऽस्ति तथापि मन्त्रजपेष्टदेवतानुध्यानयोर्लङ्घनोपायपरत्वान्न भयरूपेण रसस्य निष्पत्तिः । अध्वन्यानां हि तन्निष्पत्तौ अल्पसत्त्वतया स्तम्भमोहमूर्च्छामरणादिभिः उपायप्रयोगो न घटते ॥

रुद्रता आदि के द्वारा चित्त में उत्पन्न की गई विकलता आदि भय समझा जाता है ॥१४१(अ)॥

उसी रूप से रस का अनुबन्ध—जैसे—

मृत्यु को जीत लेने वाले मन्त्रों को जपते हुये, अपने इष्ट देवताओं का बार-बार ध्यान करते हुये, सूख रहो तालु वाले, अस्पष्ट शब्दों वाले, चुप तथा काँप रहे पथिकों के द्वारा यहाँ यमराज के भैंसे की भांति मलिन धूम से काली कर दी गई तथा हाथी के मांस को खाने में लगे हुये कुत्तों से युक्त पल्लियाँ पार की जा रही हैं ॥ २१ ॥

यहाँ पर यद्यपि पल्लियों की आलम्बनता, उसके दोनों विशेषणों की उद्दीपनता, मन्त्र जप आदि की अनुभावता तथा तालुशोष आदि की व्यभिचारिता होने से विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारियों का संयोग है, तथापि मन्त्रजप तथा इष्ट-देवता के ध्यान का लङ्घन के उपायपरक होने से भयरूप में रस की निष्पत्ति नहीं होती हैं । उसकी निष्पत्ति के प्रति पथिकों के अल्पसत्त्व होने से स्तम्भ, मोह, मूर्च्छा, मरण आदि के साथ उपाय का प्रयोग भी नहीं घटित होता है ।

स्व० द०—यहाँ भोज के कहने का तात्पर्य यह है कि जहाँ रसनिष्पत्ति के लिये सभी अपेक्षित तत्त्व रहते भी हैं, यदि वहाँ उसके चरम उद्रेक में तनिक भी कमी रह जाती है या कोई ऐसी वस्तु दिख जाती है जिससे पूर्ण रसबोध में कमी आ जाती है तो वहाँ भी पूर्ण रस की निष्पत्ति नहीं होती है अपितु मात्र भाव की स्थिति रह जाती है । उपर्युक्त उदाहरण में ही मन्त्र जप तथा इष्ट का ध्यान करने से भय को पार कर जाने की आशा से पूर्ण भय की निष्पत्ति नहीं हो पाती । जिसे किसी भी अनर्थ से बच जाने की आशा है वह किञ्चित् ही भयभीत होता है, पूर्णतः नहीं ।

भयं लक्षयति भयमिति । **रौद्रादिजनितं तीक्ष्णतादिभिर्हेतुभिः जनितम् उत्पादितं वैक्लव्यं व्याकुलत्वं चित्तस्येति शेषः भयम् ॥ १४१(अ) ॥**

मन्त्रानिति । **अध्वनि अध्वना वा गच्छन्तीति अध्वन्याः पथिकाः तैः मृत्युं जयन्तीति मृत्युजितः तान् मृत्युनिवारणसमर्थानित्यर्थः मन्त्रान् संहिताविशेषान् जपद्भिः उच्चारयद्भिः असकृत् पुनः पुनः इष्टान् सुरान् देवान् ध्यायद्भिः स्मरद्भिः शुष्यन्ति तालूनि येषां तथाभूतैः आकुलानि आकुलानि अस्पष्टोच्चरितानीति भावः पदानि सुप्तिङन्तरूपाणि वाक्यानीत्यर्थः येषां तैः निर्वाग्भिः वाक्यरहितैः उत्कम्पिभिः उच्चैः कम्पमानैश्च सद्भिः इह अस्मिन् प्रदेशे करिणां हस्तिनां शवरगणहतानामिति भावः मांसानि तेषां घस्मराः**

भक्षणपरा इत्यर्थः कौलेयकाः कुक्कुराः यासु ताः जीवितेशस्य यमस्य महिषः वाहनभूतः तद्वत् व्याधूम्राः मलिना इत्यर्थः ये धूमाः तैः आविलाः कलुषाः पल्वलयः लङ्घ्यन्ते अतिक्रम्यन्ते ॥

जुगुप्सा गर्हणार्थानां दोषसन्दर्शनादिभिः ॥ १४१ ॥

तद्रूपेण रसस्यानुगमो यथा—

रे हस्त ! दक्षिण ! मृतस्य शिशोर्द्विजस्य
जीवातवे विसृज शूद्रमुनौ कृपाणम् ।
रामस्य गात्रमसि निर्भरगर्भखिन्न-
सीताप्रवासनपटोः करुणा कुतस्ते ? ॥ २२ ॥

अत्र यद्यपि द्विजशिशोर्जीवनाय मुनिरपि शूद्रो वध्य इति न रामस्यात्मकर्मनिन्दा तथापि अनपकारिणं जिघांसतो घृणा प्रवर्त्तत इति सीतापरित्यागविषयत्वेनैवात्र जुगुप्सानुगमो ग्रहीतव्यः । शम्बूकविषये पुनरस्या जन्ममात्रमेवेति ।

दोष दर्शन आदि के कारण वस्तुओं की निन्दा करना जुगुप्सा है ॥ १४१ ॥

उस रूप से रस के अनुगम का उदाहरण—

हे मेरी दक्षिण भुजा, ब्राह्मण के मृत बालक की जीवनप्राप्ति के लिये इस शूद्र तपस्वी (शम्बूक) पर कटार छोड़ । तुम तो पूर्ण गर्भ को धारण करने वाली सीता को भी निर्वासित कर देने में निपुण राम के अङ्ग हो, तुझ में भला करुणा कहाँ से आई ॥ २२ ॥

यहाँ यद्यपि 'ब्राह्मण बालक को जीवित करने के लिये मुनि होने पर भी शूद्र वध्य है' इसलिये राम की अपने कर्म की निन्दा नहीं है, तथापि अपकार न करने वाले को मारने वाले के प्रति घृणा प्रवृत्त हो जाती है इसलिये सीता को परित्याग रूप विषय के होने से ही यहाँ जुगुप्सा का ज्ञान ग्रहण करना चाहिये । शम्बूक के विषय में इस जुगुप्सा का जन्ममात्र होता है ।

जुगुप्सां लक्षयति । अर्थानां विषयाणां दोषसन्दर्शनादिभिः गर्हणा कुत्सनं जुगुप्सा॥१४१॥

रे इति । रे दक्षिण ! हस्त ! मृतस्य द्विजस्य ब्राह्मणस्य शिशोः जीवातवे जीवनायेत्यर्थः जीवनौषधाय वा जीवातुर्जीवनौषधमित्यमरः । शूद्रमुनौ शूद्रतापसे कृपाणं खड्गं विसृज प्रहरेत्यर्थः ननु अकस्मात् कथमीदृशं गर्हितं कार्यं कृपावान् अहं करोमीत्याशङ्क्याह । रामस्येति । त्वं दुर्वहेण वोढुमशक्येन गर्भेण खिन्ना आर्त्ता या सीता तस्याः प्रवासने निर्वासने पटुः दक्षः तस्य नितरां गर्हितमाचरत इति भावः रामस्य गात्रम् असि भवसि, ते तव करुणा दया कुतः ? नैव कस्मिन्नित्यर्थः ॥ २२ ॥

विस्मयश्चित्तविस्तारः पदार्थातिशयादिभिः ॥ १४२(अ) ॥

तद्रूपेण रसस्य जन्म यथा—

कृष्णेनाद्य गतेन रन्तुमधुना मृद्भक्षिता स्वेच्छया
सत्यं कृष्ण ! क एवमाह मुसली मिथ्याम्ब ! पश्याननम् ।
व्यादेहीति विदारिते तु वदने दृष्ट्वा समस्तं जगत्
माता यस्य जगाम विस्मयवशं पायात् स वः केशवः ॥ २३ ॥

अत्र शिशोर्मुखे जगद्दर्शनमालम्बनविभावः। तत्सामग्र्यशैशवाद्यालोकनमुद्दीपनविभावः। विस्मयवशं जगामेत्यनेनानुपात्ता अपि सञ्चारिणोऽनुभावाश्च गृह्यन्ते ॥ १६८ ॥

पदार्थ की अलौकिकता आदि के कारण चित्त का विकास विशेष विस्मय है। (१४२ अ)

उसी के रूप से रस की निष्पत्ति का उदाहरण —

"हे माँ, आज खेलने के लिये जाने पर कृष्ण ने खूब मनमाने रूप में मिट्टी खाई है।" "सच है, रे कृष्ण ?" "किसने ऐसा कहा ?" 'बलराम ने"—"माँ, वह झूठा है, मेरा मुँह देख लो।" "(अच्छा) मुँह फैलाओ" ऐसा कहने पर कृष्ण के मुख फैलाने पर उनके मुख में ही सम्पूर्ण संसार को देख कर जिसकी माता यशोदा अत्यन्त आश्चर्य में पड़ गई, वह कृष्ण आप लोगों की रक्षा करें ॥ २३ ॥

यहाँ शिशु के मुँह में जगत् का दर्शन आलम्बन विभाव है। अतः उन सबसे पूर्ण शैशव आदि को देखना उद्दीपन विभाव है। 'विस्मय के वशीभूत हो गई' इससे शब्दशः उक्त न होने पर भी सञ्चारियों तथा अनुभावों का ग्रहण हो जाता है।

स्व० द०—यहाँ तक भोज ने रति से लेकर विस्मय तक आठ स्थायीभावों का उल्लेख किया है। स्थान-स्थान पर इनके केवल भाव ही, न कि पूर्ण निष्पन्न रस की अवस्था में रह जाने का कारण भी दिया है। यहाँ (१४२ अ) में विस्मय को चित्त का विस्तार कहा गया है। इसी प्रकार अन्य रसों में भी चार प्रकार की चित्त की अवस्था देखी जाती है। शेष उन्हीं प्रधान चारों से उत्पन्न होते हैं, अतः उनका भी अन्तर्भाव उन्हीं में हो जाता है। दशरूपककार के अनुसार—

विकासविस्तार-क्षोभविक्षोभैः स चतुर्विधः ॥ ४३ ॥
शृङ्गार-वीर-बीभत्स-रौद्रेषु मनसः क्रमात्।
हास्यादद्भुतभयोत्कर्षकरुणानां त एव हि ॥ ४४ ॥
यतस्तज्जन्यता तेषामत एवावधारणम् ॥ ४५ ॥ (दशरूपक ४ र्थ प्रकाश)
शृङ्गाराद्धि भवेद् हास्यो रौद्राच्च करुणो रसः।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानकः ॥

इनकी अन्तिम पंक्तियाँ नाट्यशास्त्र (६।३९) से ली गई है। भरत का भी मत है कि—'तेषामुत्पत्तिहेतवश्चत्वारो रसाः। तद्यथा शृङ्गारो रौद्रो वीरो बीभत्स इति।" ना० शा० पृ० ८१ (षष्ठ अध्याय)।

विस्मयं लक्षयति। **विस्मय इति। पदार्थस्य वस्तुनः अतिशयादिभिः अलौकिकत्वादिभिर्हेतुभिः चित्तस्य विस्तारः विकासविशेष इत्यर्थः विस्मयः ॥ १४२(अ) ॥**

कृष्णेनेति। **अद्य कृष्णेन रन्तुं क्रीडितुं गतेन अधुना स्वेच्छया निजेच्छया मृत् मृत्तिका भक्षिता इति बलदेवेनोक्ते यशोदा प्राह सत्यमिति रे कृष्ण! सत्यं? त्वया मृद्भक्षितेति शेषः इति यशोदया उक्ते कृष्ण आह क इति कः एवम् आह ब्रवीति मया मृद्भक्षितेति। तथोक्ते यशोदा आह मुषली तु मुषली बलरामः एवमाहेति शेषः। तथोक्ते कृष्ण आह मिथ्येति हे अम्ब! मातः! मिथ्या अलीकमेतत् मुषलिवचनमिति शेषः। आननं मुखं मे इति शेषः पश्य अवलोकय। तथोक्ते यशोदा आह व्यादेहीति व्यादेहि विस्तारय मुखमिति शेषः इति उक्ते विदारिते विस्तारिते कृष्णेनेति शेषः वदने यस्य माता यशोदा**

समस्तं जगत् दृष्ट्वा विस्मयवशं जगाम प्राप, स केशवः कृष्णः वः युष्मान् पायात् रक्षतु ॥ २३ ॥

स्तम्भश्चेष्टाप्रतीघातो भयरागामयादिभिः ॥ १४२ ॥

तद्रूपेण रसस्य पुष्टिर्यथा—

तो ताणं हदच्छाअं णिच्चललोअणसिहं पउत्थपदावम् ।
आलेक्खपदीवाणं ब्ब णिअं पअदि चटुलत्तणं पि विअलिअम् ॥ २४ ॥

अयञ्च पुष्टोऽपि सात्त्विकत्वात् सदैवान्यानुयायीति नानुभावादिभिरनुबध्यते ॥ १७० ॥

(१ स्तम्भ)

भय, राग, रोग आदि के कारण शरीर व्यापार का न होना स्तम्भ है ॥ १४२ ॥

उसके रूप में रस की पुष्टि का उदाहरण—

(अर्थ तथा छाया के लिये द्रष्टव्य ४।५६) ॥ २४ ॥

यह पुष्ट होते हुये भी सात्त्विक भाव होने से हमेशा दूसरों का ही अनुयायी रहेगा, अतः अनुभाव आदि से अनुबद्ध नहीं होता ।

स्तम्भं लक्षयति । भयं त्रासः रागो हर्षविशेषः आमयो रोगः आदिः येषां तैः हेतुभिः चेष्टायाः शरीरव्यापारस्य प्रतीघातः राहित्यमिति यावत् स्तम्भः ॥ १४२ ॥

तो ताणमिति । चतुर्थपरिच्छेदे ४।५६ पत्रे प्राग् व्याख्यातः ॥ २४ ॥

हर्षाद्भुतभयादिभ्यो रोमाञ्चो रोमविक्रिया ॥ १४३ अ ॥

तद्रूपेण रसस्य जन्म यथा—

करिमरिअजालगज्जिदजलदासणिपडिरवो एसो ।
पइणो धणुरवकङ्खिणि ! रोमञ्चं किं मुहा वहसि ॥ २५ ॥

अस्यापि सात्त्विकत्वादन्यानुबन्धादयो न जायन्ते ।

(२) रोमाञ्च

हर्ष, आश्चर्य, भय आदि के कारण उद्भूत रोमविकार रोमाञ्च है ॥ १४३ अ ॥

उस रूप से रस का जन्म – जैसे—

हे वन्दिनी, (जो तुम सुन रही हो) वह तो असमय में गर्जन कर रहे मेघ के वज्रपात की प्रतिध्वनि है । हे प्रिय के धनुष् की टङ्कार को सुनने की इच्छुक, तू व्यर्थ ही क्यों रोमाञ्च धारण कर रही है ॥ २५ ॥

इसके भी सात्त्विक भाव होने से दूसरों के अनुबन्ध आदि नहीं होते ।

रोमाञ्चं लक्षयति । हर्षेति । हर्षः आनन्दः अद्भुत चमत्कारः भयं त्रासः तदेवमादिभ्यः हेतुभ्यः रोम्णां विक्रिया विकारविशेषः रोमाञ्चः ॥ १४३अ ॥

किर्मीरितजालगर्जितजलदाशनिप्रतिरव एषः ।
पत्युर्धनूरवकाङ्क्षिणि ! रोमाञ्चं किं मुधा वहसि ॥

करिमेति । किर्मीरितं चित्रितं शक्रधनुषेति भावः जालं संहतिर्यस्य तथाभूतः गर्जितः गर्जन्नित्यर्थः वर्त्तमाने क्तप्रत्ययः यो जलदः मेघः तस्य अशनिः तदुत्थितं वज्रमित्यर्थः तस्य

प्रतिरवः प्रतिध्वनिः एषः । पत्युः स्वामिनः रामस्येति भावः धनुषः कार्मुकस्य रवं नादं टङ्कारमिति यावत् काङ्क्षति मन्यते इति यावत् तथोक्ता तत्सम्बुद्धौ हे सीते ! इति शेषः मुधा निरर्थकं रोमाञ्चं किं कथं वहसि धारयसि ? नायं तव पत्युर्धनुर्निनादः अपि तु वक्त्रनिर्घोष एषः तत् पत्युः स्मरणेन सात्त्विकरोमाञ्चधारणं तव वृथेति निष्कर्षः । अशोकवनवर्त्तिनीं सीतां प्रति कस्याश्चित् परिचारिण्या निशाचर्या उक्तिरियम् ॥ २५ ॥

मदप्रमदपीडादेर्वैस्वर्यं गद्गदं विदुः ॥ १४३ ॥

तद्रूपेण रसस्य निष्पत्तिं यथा--

पि पि प्रिय ! स स स्वयं मु मु मुखासवं देहि मे
त त त्यज दु दु द्रुतं भ भ भ भाजनं काञ्चनम् ।
इति स्खलितजल्पितं मदवशात् कुरङ्गीदृशः
प्रगे हसितहेतवे सहचरीभिरध्यैयत ॥ २६ ॥

अयमपि सात्त्विकत्वात् निष्पन्नो नान्यैरनुबध्यते ।

(३) गद्गद

मद्यपान, प्रहर्ष, पीडा आदि के कारण स्वर-परिवर्तन हो जाना 'गद्गद' जाना गया है । (१४३)

उसके रूप में रस की निष्पत्ति का उदाहरण—

(अर्थ हेतु द्रष्टव्य २।४२) ॥ २६ ॥

यहाँ भी सात्त्विकता के कारण निष्पन्न है रस, वह अन्यों से अनुबद्ध नहीं होगा ।

गद्गदं लक्षयति । मदेति । मदः मद्यपानं प्रमदः हर्षः पीडा व्याधिः आदिर्यस्य तस्मात् कारणात् वैस्वर्यं स्वरस्य अन्यथात्वं स्खलनमित्यर्थः गद्गदं विदुः जानन्ति ॥ १४३ ॥

पिपीति । हे प्रिय ! नाथ ! स त्वं स्वयं मे मह्यं मुखासवं गण्डूषमद्यं देहि, द्रुतं शीघ्रं काञ्चनं भाजनं सौवर्णं पात्रं त्यज इतीत्थं मदवशात् मद्यपानजनितात् विकारादित्यर्थः कुरङ्गीदृशः मृगाक्ष्याः स्खलितजल्पितं स्खलनवत् वचनं प्रगे प्रातःकाले सहचरीभिः सङ्गिनीभिः हसितहेतवे हास्याय अध्यैयत अस्मर्यत । अधीक् न स्मरणे इत्यस्य लङो रूपम् । अत्र प्रिय इति वक्तव्ये पि पि प्रियेति स इति वक्तव्ये स स इति मुखासवमिति वक्तव्ये मु मु मुखासवमिति त्यजेति वक्तव्ये त त त्यजेति द्रुतमिति वक्तव्ये दु दु द्रुतमिति भाजनमिति वक्तव्ये भ भ भ भाजनमिति च स्खलनम् ॥ २६ ॥

वपुर्जलोद्गमः स्वेदो रतिघर्मश्रमादिभिः ॥ १४४अ ॥

तद्रूपेण रसस्य जन्म यथा--

हिमव्यपायाद्विशदाधराणामापाण्डरीभूतमुखच्छवीनाम् ।
स्वेदोद्गमः किम्पुरुषाङ्गनानां चक्रे पदं पत्रविशेषकेषु ॥ २७ ॥

अत्रापि पूर्ववदन्यानुषङ्गो न भवति ॥ १७६ ॥

(४) स्वेद

मैथुन, धूप, परिश्रम आदि के कारण शरीर से जल निकलना स्वेद है ॥ १४४अ ॥

उसके रूप में रस का जन्म—जैसे—

शिशिर के बीत जाने से स्वच्छ अधरों वाली तथा चमक उठी मुख की कान्ति वाली किन्नरियों की पत्ररचनाओं में घर्म जल की उत्पत्ति ने स्थान बना लिया ॥ २७ ॥

यहाँ भी पहले की भांति दूसरों का अनुबन्ध नहीं होता ॥ १४४ अ ॥

स्वेदं लक्षयति । वपुरिति । रतिः सुरतं घर्मः निदाघः श्रमः शारीरव्यापारः एवमादिभिः हेतुभिः वपुषः शरीरात् जलोद्गमः कृदभिहितो भावो द्रव्यवत् प्रकाशते इति न्यायात् उद्गतं जलमित्यर्थः स्वेदः ॥ १४४अ ॥

हिमेति । हिमस्य शिशिरस्य व्यपायात् विगमात् विशदः स्वच्छः विकस्वर इत्यर्थः अधरो यासां तथोक्तानाम् अपाण्डरीभूता हिमजनितकालुष्यापगमेन विकासिनीत्यर्थः मुखच्छविर्वदनद्युतिः यासां तथाभूतानां किम्पुरुषाङ्गनानां किन्नरीणां पत्रविशेषकेषु पत्ररचनाविशेषेषु स्वेदोद्गमः घर्म सलिलोदयः पदं स्थानं चक्रे कृतवान् ॥ २७ ॥

रागरोषभयादिभ्यः कम्पो गात्रस्य वेपथुः ॥ १४४ ॥

तद्रूपेण रसस्य जन्म यथा—

मा गर्वमुद्वह कपोलतले चकास्ति
कान्तस्वहस्तलिखिता मम मञ्जरीति ।
अन्यापि किं न सखि ! भाजनमीदृशीनाम् ?
वैरी न चेद्भवति वेपथुरन्तरायः ॥ २८ ॥

अयमपि प्राग्वदेव नान्यैरनुगम्यते ।

(५) वेपथु

राग, रोष, भय आदि के कारण शरीर का कांपना वेपथु है ॥ १४४ ॥

उस रूप से रस का जन्म—जैसे—

(अर्थ के लिये द्रष्टव्य १।१०५) ॥ २८ ॥

यह भी पहले की भांति ही दूसरों से अनुगत नहीं होता ।

कम्पं लक्षयति रागेति । रागः अनुरागातिशयः रोषः कोपः भयं त्रासः एवमादिभ्यः हेतुभ्यः गात्रस्य शरीरस्य वेपथुः स्पन्दनातिशयः कम्पः ॥ १४४ ॥

मेति । हे सखि ! मम कपोलतले गण्डदेशे कान्तस्य प्रियस्य स्वहस्तेन लिखिता मञ्जरी रचनाविशेषः चकास्ति राजते इति हेतोः गर्वम् अहङ्कारं मा उद्वह न कुरु । अन्या अपरा नारीति शेषः अपि ईदृशीनां सौभाग्यव्यञ्जनीनां मञ्जरीणामिति भावः किं भाजनम् ? पात्रं न ? अपि तु भाजनमेव भवतीति शेषः चेद् यदि वैरी शत्रुभूतो वेपथुः कम्पः प्रियकरस्पर्शजसत्त्वोदयात् जनित इति भावः अन्तरायः विघ्नः न भवति प्रियकरस्पर्शेन सत्त्वोदयात् मादृशामङ्गकम्पात् ईदृशीनां मञ्जरीणां रचनाव्याघातः तव तु सत्त्वोदविरह इति भावः ॥ २८ ॥

विषादमदरोषादेर्वर्णान्यत्वं विवर्णता ॥ १४५ अ ॥

तद्रूपेण रसस्य निष्पत्तिर्यथा--

सहि ! साहस्सं तेण समं अहंपि किं णिग्गआ पहाअम्मि ।
अणव्विअ दीसइ जेण दप्पणे कावि सा सुमुही ॥ २९ ॥

अयमपि नान्यैरनुबध्यते ॥ १४५ अ ॥

(६) विवर्णता

दुःख, मद्यपान, क्रोध आदि के कारण रंग का बदल जाना विवर्णता है ॥ १४५ अ ॥

उस रूप से भी रस की निष्पत्ति का उदाहरण—

अरी सखि, (यह भी मेरा) साहस कर्म (ही तो है), भला मैं कैसे उसके साथ गृह से बाहर निकल गई । उसी के कारण प्रातःकाल वह सुवदना दर्पण में कुछ दूसरी ही दिखाई पड़ने लगी ॥ २९ ॥

यह भी दूसरों से अनुगत नहीं होता ।

विवर्णतां लक्षयति । **विषादेति । विषादो दुःखं मदः मद्यपानं रोषः कोपः एवमादेर्हेतोर्वर्णस्य अन्यत्वम् अन्यथाभावः विवर्णता ॥ १४५ अ ॥**

सखि ! साहस्यं तेन सममहमपि किं निर्गता प्रभाते ।
अन्यैव दृश्यते येन दर्पणे कापि सा सुमुखी ॥

सहीति । **हे सखि ! साहस्यम् अविमृष्यकारित्वमित्यर्थः अस्माकमिति भावः यतः अहमपि विवेकमती अपीति भावः तेन शठेन कान्तेनेति भावः समं सह किं कथं निर्गता गृहादिति शेषः गृहात् निर्गमनमनुचितमासीदिति भावः । येन हेतुना प्रभाते प्रातःकाले दर्पणे आदर्शे सा सुमुखी अन्यैव कापि दृश्यते । अत्र सुमुख्याः पत्युरपरनारीसङ्गदर्शनात् विषादेन वर्णान्यत्वम् ॥ २९ ॥**

अश्रु नेत्रोद्गतं वारि दुःखशोकप्रहर्षजम् ॥ १४५ ॥

तद्रूपेण रसस्यानुबन्धो यथा--

उत्पक्ष्मणोर्नयनयोरुपरुद्धवृत्ति
वाष्पं कुरु स्थिरतया शिथिलानुबन्धम् ।
अस्मिन्नलक्षितनतोन्नतभूमिभागे
मार्गे पदानि खलु ते विषमीभवन्ति ॥ ३० ॥

अत्र वाष्पशब्देन लोचनाश्रयमश्रु उच्यते, न कण्ठाद्याश्रयो दुःखावेगो यथा । 'विललाप स वाष्पगद्गदम्' 'मुहुर्लग्नः कण्ठे तरलयति वाष्पः स्तनतटी'मित्यादि च ।

(७) अश्रु

दुःख, शोक अथवा आनन्द के कारण उत्पन्न होने वाला नेत्रों से निकला जल 'अश्रु' है ॥ १४५ ॥

उस रूप से रस का अनुबन्ध (होता है), जैसे—

धैर्य धारण करके, ऊपर उठी हुई बरौनियों वाले दोनों नेत्रों के दर्शन व्यापार को रोकने वाले बाष्प-आँसुओं का प्रवाह बन्द करो। इस अदृष्ट नीचे-ऊँचे पृथ्वीतल वाले मार्ग पर तुम्हारे पाँव ठीक से नहीं पड़ रहे हैं ॥ ३० ॥

यहाँ 'बाष्प' शब्द से आँखों में स्थित रहने वाला आँसू कहा गया है, कण्ठ आदि में स्थित रहने वाला दुःख का उभार नहीं। जैसे—'वह आँसुओं से रुधे गले से रोता रहा' अथवा 'गले में लगा हुआ आँसू बार-बार स्तन-तटों को तरल किये दे रहा है' आदि में है।

अश्रु लक्षयति। अश्रु इति। दुःखशोकप्रहर्षजं शोकजं प्रहर्षजं नेत्रोद्गतं नयनोत्थं वारि जलम् अश्रु ॥ १४५ ॥

उत्पक्ष्मणोरिति। उत्पक्ष्मणोः ऊर्ध्वलोम्नोः नयनयोः नेत्रयोः उपरुद्धा व्याहता वृत्तिर्व्यापारः येन तथाभूतं दर्शनव्यापारव्याघातकमित्यर्थः बाष्पम् अश्रुवारि भाविस्वजनवियोगजनितमिति भावः स्थिरतया धैर्येण शिथिलः स्थगित इत्यर्थः अनुबन्धः प्रसरः यस्य तथाभूतं कुरु मा रुदिहीति भावः। खलु यतः ते तव पदानि अलक्षितः बाष्पविरोधात् अदृष्ट इत्यर्थः नतोन्नतः भूमिभागः यस्मिन् तथाभूते अस्मिन् मार्गे पथि विषमीभवन्ति स्खलितानि भवन्तीत्यर्थः ॥ ३० ॥

विललापेति। सः अजः बाष्पेण कण्ठाश्रयदुःखावेगेन गद्गदम् अस्पष्टोच्चरितम् अर्द्धस्फुटं वा यथा तथा विललाप परिदेवितवान्। विलापः परिदेवनमित्यर्थः ॥

मुहुरिति। मुहुः पुनः पुनः कण्ठे लग्नः कण्ठावरोधीत्यर्थः बाष्पः स्तननटीं स्तनदेशं तरलयति कम्पयति।

प्रलयस्तीव्रदुःखादेरिन्द्रियास्तमयो मतः ॥१४६ अ॥

तद्रूपेण रसस्य निष्पत्तिं यथा—

तीव्राभिषङ्गप्रभवेण वृत्तिं मोहेन संस्तम्भयतेन्द्रियाणाम्।
अज्ञातभर्तृव्यसना मुहूर्त्तं कृतोपकारेव रतिर्बभूव ॥ ३१ ॥

अत्र मोहशब्देन मूर्च्छा उच्यते, न वक्ष्यमाणलक्षणो मोहः ॥

(८) प्रलय

अत्यन्त उग्र दुःख आदि के कारण इन्द्रियों की व्यापार-शून्यता 'प्रलय' कहा गया है॥१४५॥

उसके रूप में रसनिष्पत्ति का उदाहरण—

अत्यन्त दारुण भर्तृविनाश से उत्पन्न तथा इन्द्रियों की वृत्ति को स्तब्ध कर देनेवाली मूर्च्छा के कारण एक क्षण के लिये रति को पतिमरण रूप दुःख की प्रतीति ही न हो सकी। इस प्रकार एक क्षण के लिये उसे लगा मानो मूर्च्छा ने उसका उपकार कर दिया हो ॥ ३१ ॥

यहाँ मोह शब्द से मूर्च्छा कही जा रही है, न कि वह मोह (नाम का संचारी भाव) जिसका आगे वर्णन किया जायेगा।

स्व० भा०—यहाँ आठों सात्त्विक भावों का निरूपण किया गया है। इनके उदाहरणों से स्पष्ट है कि इनके पृथक् निरूपण से भी रसानुभूति होती है। आगे संचारियों में से प्रत्येक का लक्षण सहित उदाहरण दिया जा रहा है।

प्रलयं लक्षयति। तीव्रम् अत्यन्तं यत् दुःखं तदादेः हेतोः इन्द्रियाणां हस्तपदादीनाम् अङ्गानाम् अस्तमयः व्यापारशून्यत्वं प्रलयः मोह इति यावत् मतः प्रलयो नष्टचेष्टेत्यमरः ॥ १४६ अ ॥

तीव्रेति। रतिः कामपत्नी तीव्रः, दारुणः अभिषङ्गः पराभवः भर्तृविनाशरूपः प्रभवत्यस्मादिति प्रभवो हेतुर्यस्य तथाभूतेन 'अभिषङ्गः पराभव' इत्यमरः। इन्द्रियाणां हस्तपदादीनाम् अङ्गानां वृत्तिं व्यापारं क्रियामिति यावत् संस्तम्भयता स्थगयता मोहेन चैतन्यविगमेन मुहूर्त्तम अल्पकालं न ज्ञातं भर्तुः व्यसनं विपद् विनाश इत्यर्थः यया तथाभूता अतएव कृतः उपकारो यस्याः तादृशीव उपकृतेवेत्यर्थः बभूव आसीत् ॥ ३१ ॥

स्मृतिः पूर्वानुभूतार्थविषयं ज्ञानमुच्यते ॥ १४६ ॥

तद्रूपेण रसस्यानुबन्धो यथा—

इतः प्रत्यादेशात् स्वजनमनुगन्तुं व्यवसिता
स्थिता तिष्ठेत्युच्चैर्वदति गुरुशिष्ये गुरुसमे।
पुनर्दृष्टिं वाष्पप्रकरकलुषामर्पितवती
मयि क्रूरे यत् तत् सविषमिव शल्यं दहति माम् ॥ ३२ ॥

अत्र सविशेषा स्मृतिरिच्छया वागारम्भेण चानुबध्यते तिष्ठेत्यादयः पुनरस्या रत्यादिनिष्पत्तिष्वेव द्रष्टव्याः। रत्यादयो हि स्मृतिमूलत्वात् तत्प्रकर्षापकर्षावनुवर्त्तन्ते ॥ १४६ ॥

(१) स्मृति

पहले अनुभव में आयी वस्तुओं से सम्बद्ध ज्ञान 'स्मृति' कही जाती है।

उसके रूप में रस के अनुबन्ध का उदाहरण—

यहाँ से लौटा दी जाने के कारण जब वह अपने लोगों के पीछे-पीछे चलने लगी, उस समय गुरु के तुल्य गुरुशिष्य के द्वारा 'रुको' यह जोर से कही जाने पर खड़ी हो गई और जो उसने अश्रुबिन्दुओं से भरी हुई निगाहों को मुझ निर्दय पर डाला था वह आज भी मुझे विषदग्ध बाण कोण की भांति जलाये जा रही है ॥ ३२ ॥

यहाँ विशेष प्रकार की स्मृति इच्छा तथा वागारम्भ से अनुबद्ध है, और "रुको" आदि इसमें प्रयुक्त पद रति आदि की निष्पत्ति में ही देखने योग्य है। स्मृतिमूलक होने से रति आदि उसके प्रकर्ष तथा अपकर्ष में अनुवृत्त होते हैं।

स्मृतिं लक्षयति। पूर्वम् अनुभूतः विदितः अर्थः वस्तु विषयो यस्य तथाभूतं ज्ञानं स्मृतिः स्मरणमुच्यते ॥ १४६ ॥

इत इति। प्रत्यादेशात् निराकरणात् 'प्रत्यादेशो निराकृति'रित्यमरः। इतः मत्सकाशादित्यर्थः स्वजनं बन्धुजनं गुरुशिष्यमिति यावत् अनुगन्तुम् अनुयातुं व्यवसिता उद्यता गुरुसमे पितृतुल्ये गुरुशिष्ये तिष्ठ इति उच्चैः वदति सति स्थिता दण्डायमानेति यावत् सती क्रूरे निष्ठूरे मयि पुनः वाष्पप्रकरेण अश्रुनिचयेन कलुषाम् आविलां दृष्टिं यत् अर्पितवती निहितवती तत् सविषं विषाक्तं शल्यमिव मां दहति ज्वलयति ॥ ३२ ॥

ऊहो वितर्क इत्युक्तः पदार्थेषु यथामति ॥ १४७ अ ॥

तद्रूपेण रसस्य निष्पत्तिर्यथा—

चित्ते निवेश्य परिकल्पितसत्त्वयोगान्
रूपोच्चयेन घटिता मनसा कृता नु ।
स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे
धातुर्विभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्याः ॥ ३३ ॥

सोऽयमसत्यः सत्यो वा स्मृतिज्ञानचिन्तनादिद्वारेण निश्चयान्तो निष्पन्न इत्युच्यते ॥ १४८ अ ॥

(२) ऊह

वस्तुओं में अपनी बुद्धि के अनुसार विभिन्न प्रकार की आशङ्कायें करना ऊह है । (१४७ अ)

उस रूप से रस की निष्पत्ति का उदाहरण—

(अर्थ के लिये द्रष्टव्य ॥ ३।१२२ ॥) ॥ ३३ ॥

यह सत्य है अथवा असत्य यह स्मृति, ज्ञान, चिन्तन आदि के द्वारा अन्त में निश्चयात्मक रूप से उपपन्न कहा जाता है ।

ऊहं लक्षयति । ऊह इति । पदार्थेषु वस्तुषु यथामति यथाज्ञानं वितर्कः आन्दोलनम् ऊह इति उक्तः कथितः ॥ १४७ अ ॥

चित्ते इति । धातुः ब्रह्मणः विभुत्वं सृष्टिसामर्थ्यं तस्याः शकुन्तलायाः वपुः अङ्गञ्च अनुचिन्त्य समालोच्य सा शकुन्तला चित्ते हृदये परिकल्पिताः कल्पनया रचितानि यानि सत्त्वानि सामग्र्यः उपादानवस्तूनीत्यर्थः तेषां योगान् समवायान् निवेश्य विधाय रूपोच्चयेन रूपराशिना घटिता अथवा मनसा केवलेनेति शेषः कृता नु निर्मिता किम् ? अतएव मे मम सकाशे इत्यर्थः अपरा विलक्षणेत्यर्थः स्त्रीरत्नसृष्टिः प्रतिभाति ॥ ३३ ॥

उत्कण्ठेष्टानवाप्तौ योऽभिलाषः स्यात्तदाप्तये ॥ १४७ ॥

तद्रूपेण रसस्य निष्पत्तिर्ह्रासो यथा—

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया
वाष्पस्तम्भितकण्ठवृत्ति वचनं चिन्ताजडं दर्शनम् ।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः ॥ ३४ ॥

अत्र त्रिभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात् प्रीतिरिवोत्कण्ठापि तदनुषङ्गिणी निष्पन्ना उत्तरार्द्धप्रतिपाद्येन तथाविधेनैव विस्मयादिना अभिभूयमाना ह्रास इति उच्यते । प्रकर्षश्चास्य ममारण्यौकस इत्यनेन निवार्यते ॥ १४७ ॥

(३) उत्कण्ठा

अभीष्ट की प्राप्ति न होने पर उसकी प्राप्ति के लिये जो अभिलाषा है, उसे उत्कण्ठा समझना चाहिये ॥ १४७ ॥

उस रूप में रस की निष्पत्ति तथा हास का उदाहरण—

'आज शकुन्तला जायेगी" इससे मेरा हृदय उत्कण्ठा से व्याकुल हो गया है। शब्द आँसुओं से रुँधे हुये गले में अटक गये हैं, आँखें चिन्ता के कारण पथरा गई हैं। जब प्रेम के कारण मेरे जैसे वनवासी में इस प्रकार की विकलता है, तब भला पुत्री के वियोग से उत्पन्न नवीन दुःखों से गृहस्थ कैसे पीडित न होंगे ॥ ३४ ॥

यहाँ विभाव, अनुभाव तथा संचारी के संयोग से प्रीति की भांति उत्कण्ठा भी उसके साथ निष्पन्न हो जाती है, किन्तु उत्तरार्ध में प्रतिपादित उसी प्रकार से ही विस्मय आदि के द्वारा अभिभूत होकर 'हास' कही जाती है। इसका प्रकर्ष `ममारण्यौकसः"—मुझ वनवासी की'—इस उक्ति से निवृत्त हो जाता है।

उत्कण्ठां लक्षयति। उत्कण्ठेति। इष्टस्य प्रियवस्तुनः अनवाप्तौ अप्राप्तौ तस्य इष्टस्य आप्तये लाभाय यः अभिलाषः सा उत्कण्ठा स्यात् ॥ १४७ ॥

यास्यतीति। अद्य शकुन्तला यास्यति गमिष्यति पतिगृहमिति शेषः इति हेतोः हृदयं चित्तम् उत्कण्ठया उद्वेगेन संस्पृष्टम् आकुलितमित्यर्थः वचनं वाक्यं बाष्पेण दुःखावेग-विशेषेण स्तम्भिता निरुद्धा कण्ठस्य वृत्तिर्व्यापारः वर्णोच्चारणक्रियेति यावत् यस्य तथाभूतं दर्शनं दृष्टिव्यापारः चिन्तया शुभाशुभयोर्भावनयेत्यर्थः जडं मन्थरं बाह्यावबोधशून्य-मित्यर्थः अरण्यौकसः वनवासिनः तापसस्येति भावः मम स्नेहात् वात्सल्यात् ईदृशम् एवम्प्रकारम् इदं वैक्लव्यं व्याकुलत्वं तावत्। गृहिणः गृहस्थाः नवैः अपूर्वैः तनयाविश्लेष-दुःखैः दुहितृवियोगक्लेशैः कथं नु कथमिव पीड्यन्ते अभिभूयन्ते ?, अतीव पीड्यन्ते इति भावः ॥ ३४ ॥

प्रयत्नपूर्विकार्थेषु स्मृतिश्चिन्तेति कथ्यते ॥ १४८ अ ॥

तद्रूपेण रसस्य प्रकर्षो यथा—

चिन्तानीअदइअसमागमम्मि किदमस्मु आइ भरिऊण।
सुस्मं कलहाअन्ती सहीहि रुस्मा ण ओहसिआ ॥ ३५ ॥

अत्र सखीरोदनेन शून्यकलहः शून्यकलहेन साक्षात्कारः साक्षात्कारेण चिन्ता चिन्तया तु मूलभूता रतिः प्रकृष्यते ॥ १४८ अ ॥

(४) चिन्ता

वस्तुओं के विषय में प्रयास के साथ की गई स्मृति चिन्ता कही जाती है ॥ १४८ अ ॥

इस रूप से रस के प्रकर्ष का उदाहरण—

चिन्तन से आनीत प्रियतम का समागम होने पर उस पर किये गये अपने क्रोध के कारणों को याद कर-कर के व्यर्थ ही कलह करने वाली पर अन्य सखियाँ उसके लिये रोती ही है, उसका उपहास नहीं करतीं ॥ ३५ ॥

यहाँ सखी के रोने से शून्य कलह, शून्य कलह से साक्षात्कार, साक्षात्कार से चिन्ता तथा चिन्ता से सब की मूलभूत रति का प्रकर्ष होता है।

चिन्तां लक्षयति। प्रयत्नेति। अर्थेषु वस्तुषु प्रयत्नपूर्विका प्रयत्नवतीत्यर्थः स्मृतिः भावनेति यावत् चिन्ता इति कथ्यते ॥ १४८ अ ॥

चिन्तानीतदयितसमागमे कृतमन्युना भरिता।
शून्यं कलहायन्ती सखीभिः रुदिता न आहसिता ॥

चिन्तेति। चिन्तया आनीतः जनितः दयितेन प्रियेण समागमः यस्याः तथाभूता कृतेन मन्युना कोपेन मानेनेति यावत् भरिता आपूरिता अतएव शून्यं कलहायन्ती कलहं कुर्वाणा प्रियेणेति भावः सखीभिः रुदिता हा किमेतद् वृत्तं प्रियवियोगेन अस्या इति रुदिता क्रन्दिता न आहसिता उन्मत्तेयमिति न उपहसितेत्यर्थः ॥ ३५ ॥

आत्मप्रकाशनपरा चेष्टा चपलतोच्यते ॥ १४८ ॥

तद्रूपेण रसस्य जन्म यथा—

कश्चित् कराभ्यामुपगूढनालमालोलपत्राभिहतद्विरेफम्।
रजोभिरन्तः परिवेषबन्धि लीलारविन्दं भ्रमयाञ्चकार ॥ ३६ ॥

अत्र लीलारविन्दभ्रमणचेष्टया कश्चिदिन्दुमत्यै तिष्ठते ॥ १४८ ॥

(५) चपलता

अपने भावों को प्रकट करने के उद्देश्य से की गई चेष्टायें 'चपलता' कही जाती है ॥ १४८ ॥

उस रूप से रस के जन्म का उदाहरण—

कोई राजपुत्र अपने दोनों हाथों से गृहीत नाल वाले, हिलते हुये दलों से भ्रमरों को मारते हुये, पराग कणों के द्वारा भीतर गोलाई में लिप्त, विलासकमल को घुमाने लगा ॥ ३६ ॥

यहाँ कोई इन्दुमती की प्राप्ति के लिये लीलाकमल को घुमाने की चेष्टा से युक्त हो बैठा है।

चपलतां लक्षयति। आत्मेति। आत्मनः स्वचित्तस्येति भावः प्रकाशनं तस्मिन् परा चेष्टा व्यापारः क्रियाविशेष इत्यर्थः चपलता उच्यते ॥ १४८ ॥

कश्चिदिति। कश्चित् राजा राजपुत्रो वा कराभ्यां हस्ताभ्यां उपगूढं गृहीतं नालं यस्य तथोक्तम् आलोलैः चपलैः कम्पमानैरित्यर्थः भ्रामणवेगादिति भावः पत्रैः दलैः अभिहताः ताडिता द्विरेफा यस्य तथाविधं रजोभिः परागैः अन्तरभ्यन्तरे परिवेषं परिधिं बध्नातीति तथाभूतं लीलारविन्दं विलासपद्मं भ्रमयाञ्चकार घूर्णयामास। यथा इदं पद्मं मया लीलया कराभ्यां भ्राम्यते तथा त्वया अहं लीलया विहरिष्यामीति स्वाभिप्रायप्रकाशनात् चापल्यमिति ॥ ३६ ॥

शास्त्रोक्तार्थानुसन्धानादर्थनिर्द्धारणं मतिः ॥ १४९ अ ॥

तद्रूपेण रसस्यानुबन्धो यथा—

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः।
सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ॥ ३७ ॥

अत्र पूर्वार्द्धोक्तार्थनिर्धारणरूपा मतिः उत्तरार्द्धेन अनुबध्यते ॥१४९ अ॥

(६) मति

शास्त्र में निरूपित अर्थ के अन्वेषण से विषय को निर्धारित करना मति है ॥ १४९ म ॥

उस रूप से रस के अनुबन्ध का उदाहरण—

चूँकि मेरा परिशोधित मन इसमें अभिलाषा कर रहा है, अतः निःसन्देह यह क्षत्रिय के ग्रहण योग्य है, क्योंकि संदिग्ध स्थलों पर सज्जनों के अन्तःकरण की वृत्तियाँ ही प्रमाण हुआ करती हैं ॥ ३७ ॥

यहाँ पूर्वार्ध में कहे गये अर्थ को निर्धारित करना 'मति' है जो उत्तरार्ध से अनुबद्ध है।

मतिं लक्षयति। शास्त्रेति। शास्त्रेषु उक्तानां कथितानां अर्थानाम् अनुसन्धानात् अवबोधनात् अर्थस्य वस्तुनः निर्द्धारणं निर्णयः मतिः ॥ १४९ अ ॥

असंशयमिति। यत् यतः मे मम आर्यं साधु पापाशयरहितमिति भावः मनः अस्यां शकुन्तलायाम् अभिलाषि समुत्सुकमित्यर्थः तस्मात् इयम् असंशयं निश्चितमित्यर्थः क्षत्रस्य क्षत्रियजातेरित्यर्थः परिग्रहे स्वीकारे क्षमा योग्या अर्थान्तरेण तमेवार्थं द्रढयति सतामिति। सतां साधूनां अन्तःकरणप्रवृत्तयः मनसोऽभिलाषाः सन्देहपदेषु संशयस्थानेषु वस्तुषु विषयेषु प्रमाणं हि निर्णयहेतुरेवेत्यर्थः ॥ ३७ ॥

गर्वोऽन्येषामवज्ञानमात्मसम्भावनादिभिः ॥ १४९ ॥

तद्रूपेण रसस्य पुष्टिर्यथा—

धृतायुधो यावदहं तावदन्यैः किमायुधैः ?
यद्वा न सिद्धमस्त्रेण मम तत् केन सेत्स्यति ॥ ३८ ॥

अत्र कर्णस्यात्मसम्भावनया अश्वत्थामनि अवज्ञानं प्रकृष्यते ॥ १४९ ॥

(७) गर्व

अपने गौरव आदि के द्वारा दूसरे लोगों का तिरस्कार करना 'गर्व' है ॥ १४९ ॥

जब तक मैं शस्त्र धारण किये हुये हूँ, तब तक दूसरों के अन्य शस्त्रों को धारण करने से क्या लाभ ? अथवा जो मेरे अस्त्रों से सिद्ध नहीं हुआ, वह किसके द्वारा सिद्ध किया जा सकेगा ? ॥ ३८ ॥

यहाँ कर्ण की अपनी प्रशंसा से अश्वत्थामा के प्रति अवज्ञा का प्रकर्ष प्रदर्शित हो रहा है।

गर्वं लक्षयति। आत्मनः स्वस्य सम्भावनादिभिः गौरवादिभिः अन्येषां जनानाम् अवज्ञानम् अवमाननं गर्वः ॥ १४९ ॥

धृतायुध इति। अहं यावत् धृतं गृहीतं आयुधम् अस्त्रं येन तथाभूतः अस्त्रधारीत्यर्थः तावत् अन्यैः अपरैः आयुधैः लक्षणया आयुधधारिभिरित्यर्थः किम् ? न किमपि प्रयोजनमित्यर्थः। मम अस्त्रेण यत् न सिद्धं न निष्पन्नं केन कस्यास्त्रेणेति यावत् तत्कार्यमिति यावत् सेत्स्यति निष्पत्स्यते ? न कस्याप्यस्त्रेणेत्यर्थः ॥ ३८ ॥

अहेतुरनिर्वर्त्या च स्नेहश्चित्तार्द्रता मता ॥ १५० अ ॥

तद्रूपेण रसस्य निष्पत्तिर्यथा—

अनेन कस्यापि कुलाङ्कुरेण स्पृष्टेषु गात्रेषु सुखं ममैतत्।
कां निर्वृतिं चेतसि तस्य कुर्याद् यस्यायमङ्गात् कृतिनः प्ररूढः ॥३९॥

अत्र दुष्यन्तस्य सत्त्वदमनदर्शनादुत्पन्नस्तदङ्गस्पर्शसुखादिभिरुद्दीपितः स्पृहामतिवितर्कवागारम्भैः संसृज्यमानः स्नेहो निष्पद्यते ॥ १५० अ ॥

(८) स्नेह

बिना किसी अज्ञात कारण के ही, अथवा स्वतः प्रवृत्त होने वाला मन का द्रवित होना स्नेह माना गया है।

उसके रूप से रस की निष्पत्ति का उदाहरण—

न जाने किसके कुल के अङ्कुरभूत इस बालक के द्वारा स्पर्श किये गये मेरे अङ्गों में इस प्रकार का आनन्द है। भला यह उस व्यक्ति के हृदय में कितनी खुशी पैदा करता होगा जिस भाग्यशाली के अङ्गों से यह पैदा हुआ है ॥ ३९ ॥

यहाँ दुष्यन्त का सत्त्वदमन (सर्वदमन) के दर्शन से उत्पन्न, उसके अङ्ग के स्पर्श के सुख आदि के द्वारा उद्दीप्त, स्पृहा, मति, वितर्क आदि वाचिक आरम्भों से संसृष्ट होता हुआ स्नेह निष्पन्न हो रहा है।

स्नेहं लक्षयति । अहेतुरिति । अहेतुः अज्ञातबाह्यकारणेत्यर्थः अनिर्वर्त्या अनिवारणीया स्वतः प्रवर्त्तिनीति भावः चित्तस्य मनसः आर्द्रता द्रवीभावः स्नेहः मता उद्देश्यप्राधान्यात् स्त्रीत्वम् ॥ १९९ ॥

अनेनेति । कस्यापि कुलाङ्कुरेण वंशप्ररोहेण अनेन शिशुनेति शेषः गात्रेषु अङ्गेषु स्पृष्टस्य मम एतत् सुखं भवतीति शेषः यस्य कृतिनः पुण्यवत इत्यर्थः अङ्गात् अयं शिशुः प्ररूढः उत्पन्नः तस्य चेतसि कां निर्वृतिम् आनन्दं कुर्यात् अङ्गेषु स्पृष्टोऽयमिति शेषः ॥३९॥

अभीष्टार्थस्य सम्प्राप्तौ स्पृहापर्याप्तता धृतिः ॥ १५० ॥

तद्रूपेण रसप्रकर्षो यथा—

नीतो विक्रमबाहुरात्मसमतां प्राप्तेयमुर्वीतले;
सारं सागरिका ससागरमहीप्राप्त्येकहेतुः प्रिया ।
देवी प्रीतिमुपागता च भगिनी लाभाज्जिताः कोशलाः
किं नास्ति त्वयि सत्यमात्यवृषभे यस्मिन् करोमि स्पृहाम् ॥४०॥

अत्र वत्सराजस्य सर्वात्मना मनोरथसिद्धयो धृतेः प्रकर्षमावहन्ति ॥ १५० ॥

(९) धृति

वाञ्छित वस्तु की उपलब्धि हो जाने पर इच्छा की पूर्णता 'धृति' है ॥ १५० अ ॥

उस रूप से रस के प्रकर्ष का उदाहरण—

विक्रमबाहु नामक राजा अपने समान अर्थात् मित्र बना लिया गया, इस पृथ्वी तल पर सार भूत तथा सागर सहित पृथ्वी की प्राप्ति की एकमात्र कारण स्वरूपिणी यह प्रियतमा सागरिका मिल गई। अपनी बहन रत्नावली (सागरिका) की प्राप्ति से महारानी (वासवदत्ता) प्रसन्न हो गईं, कोसल जनपद वश में कर लिया गया। अतः मन्त्रिप्रवर तुम्हारे रहने पर, वह भला कौनसी वस्तु है जिस पर अब इच्छा करूँ ? ॥ ४० ॥

यहाँ वत्सराज की सभी प्रकार की कामनाओं की सिद्धियाँ धृति की प्रकृष्टता धारण करती हैं।

धृतिं लक्षयति। अभीष्टस्य वाञ्छितस्य अर्थस्य विषयस्य सम्प्राप्तौ अधिगमे स्पृहायाः आकाङ्क्षायाः पर्याप्तता पूर्णता धृतिः ॥ १५० ॥

नीत इति। विक्रमबाहुः तदाख्यो नृपतिः आत्मनः स्वस्य समतां तुल्यतां नीतः प्रापितः प्रतिपन्नोऽपि मिश्रीकृत इति भावः। उर्वीतले भूतले सारं रत्नभूतेति भावः ससागरायाः मह्याः पृथिव्याः प्राप्तेः लाभस्य एकहेतुः अद्वितीयकारणं प्रिया इयं सागरिका सागरमप्रोद्धृतत्वात् तदाख्या रत्नावलीत्यर्थः प्राप्ता अधिगता। देवी प्रधानमहिषी वासवदत्ता भगिन्याः रत्नावल्या लाभात् प्रीतिम् उपागता प्राप्ता च तथा कोशलाः कोशलाख्यराज्यानि जिताः वशीकृताः अतः अमात्यवृषभे मन्त्रिप्रवरे त्वयि सति विद्यमाने यस्मिन् वस्तुनीति शेषः स्पृहाम् आकाङ्क्षां करोमि तत् किं न अस्ति? न सिध्यति? अपि तु सर्वमेव सिध्यतीत्यर्थः ॥ ४० ॥

चेतोनिमीलनं व्रीडा न्यङ्करागस्तवादिभिः ॥ १५१ अ ॥

तद्रूपेण रसप्रकर्षात्कोपशोकाभ्यां सङ्करो यथा—

अक्षुद्रारिकृताभिमन्युनिधनात् संक्रान्ततीव्रक्रुधः
पार्थस्याकृतशात्रवप्रतिकृतेरन्तःशुचा मुह्यतः।
कीर्णा वाष्पकणैः पतन्ति धनुषि व्रीडाजडा दृष्टयो
हा वत्सेति गिरः स्फुरन्ति न पुनर्निर्यान्ति कण्ठाद् बहिः ॥ ४१ ॥

अत्र अर्जुनस्य अन्यायेन अभिमन्युवधादुद्भूतौ दीप्तावेव क्रोधशोकौ उद्भूतविप्रतीकारोत्थया तथाविधयैव व्रीडया सङ्कीर्येते। तथाहि क्रोधशोकयोरनुभावभूता दृष्टयो वाचश्च व्रीडाजडा इति विशेषणानि सम्बध्यन्ते ॥ १५१ अ ॥

(१०) व्रीडा

क्रोध, प्रेम, गुणकीर्तन आदि के कारण मन का संकुचित होना व्रीडा है ॥ १५१ अ ॥

उस रूप से रस का प्रकर्ष होने से कोप तथा शोक के सङ्कर का उदाहरण—

बड़े-बड़े शत्रुओं के द्वारा किये गये अभिमन्यु के वध से अत्यधिक उत्पन्न क्रोध वाले, शत्रुओं के समूह का प्रतिकार न कर पाने वाले, तथा शोक के कारण किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये अर्जुन की अश्रुकणों से भरी हुई, लज्जा के कारण जड़ हो गई निगाहें धनुष पर पड़ती हैं, "हाय पुत्र!" इस प्रकार की वाणी स्फुरित तो होती हैं, किन्तु कण्ठ से बाहर नहीं जा पाती हैं ॥ ४१ ॥

वहाँ अर्जुन के, अन्याय पूर्वक किये गये अभिमन्यु के वध से उत्पन्न दीप्त से क्रोध और शोक उत्पन्न अप्रतीकार से उत्पन्न उस प्रकार की ही व्रीडा से संकीर्ण किये जा रहे हैं। जैसे कि— "क्रोध तथा शोक की अनुभावभूत दृष्टियाँ तथा शब्दावलियाँ व्रीडा से जड़ हो गईं" इन विशेषणों से सम्बद्ध हो रही है।

व्रीडां लक्षयति चेत इति। न्यङ्कः क्रोधः रागः प्रेम स्तवः स्तोत्रं गुणकीर्त्तनमित्यर्थः पूर्वमादिभिः हेतुभिः चेतसः मनसः निमीलनम् अस्फुरणम् अप्रतिभत्वमिति यावत् व्रीडा लज्जेत्यर्थः ॥ १५१ अ ॥

अक्षुद्रेति । अक्षुद्रैः महद्भिः अरिभिः शत्रुभिः कर्णादिभिः कृतम् अभिमन्योः स्वतनयस्य निधनं वधः तस्मात् संक्रान्ता सञ्जाता तीव्रा घोरा क्रुधः यस्य तथोक्तस्य न कृता शात्रवाणां शत्रुसमूहानां प्रतिकृतिः प्रतीकारः निर्यातनमित्यर्थः येन तथाविधस्य अतएव अन्तः मनसि शुचा शोकेन मुह्यतः इतिकर्त्तव्यतामनधिगतस्येत्यर्थः पार्थस्य अर्जुनस्य बाष्पकणैः अश्रुबिन्दुभिः कीर्णाः आपूरिताः व्रीडया लज्जया जडा मन्थराः दृष्टयः धनुषि पतन्ति । हा वत्स ! इति गिरः वाचः स्फुरन्ति कण्ठात् निर्गन्तुं प्रवर्त्तन्ते पुनः किन्तु कण्ठात् बहिः न निर्यान्ति न निर्गच्छन्ति ॥ ४१ ॥

अवहित्थं तु लज्जादेर्हर्षाद्याकारगोपनम् ॥ १५१ ॥

तद्रूपेण रसस्यानुबन्धो यथा—

एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी ।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती ॥ ४२ ॥

अत्र

प्रणम्य शितकण्ठाय विबुधास्तदनन्तरम् ।
चरणौ रञ्जयन्त्वस्याश्चूडामणिमरीचिभिः ॥ ४३ ॥

इत्यादेर्मुनिवाक्यादुद्भूतप्रहर्षाकारो गुरुसन्निधौ लज्जितया लीलाकमलपत्रगणनेन गौर्या गोप्यते ॥ १५१ ॥

(११) अवहित्था

लज्जा आदि के कारण प्रसन्नता आदि के क्षण की आकृति को छिपाना अवहित्था है ॥१५१॥

इस रूप से रस के अनुबन्ध का उदाहरण—

देवर्षि नारद के ऐसा कहने पर पिता हिमालय के पास खड़ी हुई पार्वती मुख नीचा करके खेलने के कमलों के दलों को गिनने लगी थी ॥ ४२ ॥

यहाँ—'शिव को प्रणाम करके उसके बाद देवतागण इस पार्वती के दोनों चरणों को मस्तक पर धारण की गई मणियों की किरणों से सुशोभित करें' ॥ ४३ ॥

इत्यादि मुनि नारद के वचनों से उत्पन्न अतिशय हर्ष की आकृति को अपने बड़ों की उपस्थिति में लजा गई गौरी लीला-कमल के पत्तों की गिनती करके छिपा रही है ।

अवहित्थं लक्षयति । अवहित्थमिति । लज्जादेः हेतोः हर्षादीनाम् आकारस्य गोपनम् अवहित्थम् ॥ १५१ ॥

एवमिति । देवर्षौ अङ्गिरसि एवम् इत्थं वादिनि वदति सतीत्यर्थः पितुर्जनकस्य हिमाद्रेः पार्श्वे स्थितेति शेषः पार्वती गौरी अधोमुखी लज्जावशात् अवनतवदना सती लीलाकमलपत्राणि क्रीडापद्मदलानि गणयामास पद्मपत्रगणनाव्याजेन देवर्षिवाक्यमशृण्वतीव तस्थाविति भावः ॥ ४२ ॥

सुखदुःखादिजनितो मोहश्चित्तस्य मूढता ॥ १५२ अ ॥

तद्रूपेण रसस्य निष्पत्तिर्यथा—

कान्ते तल्पमुपागते विगलिता नीवी स्वयं बन्धनाद्
वासश्च श्लथमेखलागुणधृतं किञ्चिन्नितम्बे स्थितम् ।

एतावत् सखि ! वेद्मि साम्प्रतमहं तस्याङ्गसङ्गे पुनः
कोऽसौ कास्मि रतञ्च किमिति स्वल्पापि मे न स्मृतिः ॥ ४४ ॥
अत्र स्थायिनी रति र्मोहनिष्पत्त्या प्रकृष्यते ॥ १५२ अ ॥

(१२) मूढ़ता

सुख, दुःख आदि के द्वारा उत्पन्न की गयी चित्त की अक्रियाशीलता 'मूढ़ता' है ॥ १५२ अ ॥

उस रूप से रस की निष्पत्ति का उदाहरण—

प्रिय के शय्या पर आते ही अधोवस्त्र की गाँठ स्वयं शिथिल हो गई, वस्त्र भी किसी तरह ढीलीढाली करधनी के सूत्र में उलझ कर नितम्बों पर कुछ-कुछ रुका रहा। हे सखि, इस समय मुझे केवल इतना मालूम है, किन्तु उसके शरीर का स्पर्श होने पर वह कौन है ? मैं कौन हूँ ? रमण क्या है ? आदि की तो मुझे तनिक भी याद नहीं ॥ ४४ ॥

यहाँ स्थायी रति मोह की—मूढ़ता की—निष्पत्ति से प्रकृष्ट हो रही है।

मूढतां लक्षयति । **सुखेति । सुखदुःखादिना जनितः समुद्भूतः चित्तस्य मोहः अप्रतिभत्वमित्यर्थः मूढता ॥ १५२ अ.॥**

कान्ते इति । कान्ते प्रियं तल्पं शय्यां तल्पं शय्याट्टदारेष्वित्यमरः । उपागते प्राप्ते सति नीवी परिहितवसनग्रन्थिः बन्धनात् स्वयं विगलिता विश्लथीभावं गतेत्यर्थः । वासः वसनं श्लथेन मेखलागुणेन काञ्चीदाम्ना धृतम् अवलम्बितम् सत् नितम्बे किञ्चित् अल्पं यथा तथा स्थितम् । हे सखि ! साम्प्रतम् अधुना अहम् एतावत् एतन्मात्रं वेद्मि जानामि, पुनः किन्तु तस्य कान्तस्य अङ्गसङ्गे आलिङ्गनादाविति भावः असौ कान्तः कः ? अस्मि अहं का ? रतं रमणञ्च किं कथं ? किम्प्रकारञ्चेति स्वल्पापि स्तोकापि स्मृतिः स्मरणं मे मम न अस्तीति शेषः ॥ ४४ ॥

सम्मोहानन्दसम्भेदो मदिरादिकृतो मदः ॥ १५२ ॥

तद्रूपेण रसस्य निष्पत्ति र्यथा—

घूर्णमाननयनं स्खलत्कथं स्वेदबिन्दुमदकारणस्मितम् ।
आननेन ननु तावदीश्वरश्चक्षुषा चिरमुमामुखं पपौ ॥ ४५ ॥

अत्र नयनघूर्णनाकारेण स्मितादयः सम्मोहानन्दसम्भेदा उद्भवन्तो मदं निष्पादयन्ति ॥ १५२ ॥

(१३) मद

मद्यपान आदि के द्वारा किया गया मोह तथा आनन्द का समाविष्ट रूप मद है ॥ १५२ ॥

उस रूप से रस की निष्पत्ति का उदाहरण—

भगवान् शिव घूर रहे नयनों वाले, लड़खड़ा रही वाणी से युक्त, पसीने की बूँदों से भरे हुये, निष्प्रयोजन ही हँस रहे उमा के मुख को बहुत देर तक नयनों से ही पीते रहे, न कि मुख से ॥ ४५ ॥

यहाँ नयन-घूर्णन रूप आकार के साथ स्मित आदि सम्मोह तथा आनन्द से मिलकर उत्पन्न होते हुये मद को निष्पन्न करते हैं ।

मदं लक्षयति । **सम्मोहेति ॥ मदिरादिकृतः मद्यपानादिजनितः सम्मोहानन्दयोः सम्भेदः सम्मेलनं समावेश इत्यर्थः मदः ॥ १५२ ॥**

घूर्णमानेति। ईश्वरो हरः घूर्णमाने नयने यस्य यत्र वा तत् स्खलन्तौ अस्पष्टं निःसरन्तौ कथा वाक्यं यस्मात् तथोक्तं स्वेदबिन्दुमत् घर्मसलिलाक्तमित्यर्थः तथा अकारणस्मितम् अहेतुकहासं मद्यपानादिति भावः उमायाः पार्वत्याः मुखम् आननेन मुखेन नतु तावत् चक्षुषा चिरं पपौ तृष्णातिशयेनातिमात्रं ददर्शेत्यर्थः॥ ४५ ॥

मनः प्रसादो हर्षः स्यादिष्टावाप्तिस्तवादिभिः ॥१५३ अ ॥

तद्रूपेण रसस्य प्रकर्षो यथा—

जातस्य ते पितुरपीन्द्रजितो निहन्तु-
र्वत्सस्य वत्स! कति नाम दिनान्यमूनि।
तस्याप्यपत्यमधितिष्ठति वीरधर्मं
दिष्ट्या गतं दशरथस्य कुलं प्रतिष्ठाम् ॥ ४६ ॥

अत्र दशरथसुहृदः सुमन्त्रसारथेः प्रभुकुलप्रतिष्ठामाशंसतस्तत्सूनुमिन्द्रजितो हन्तारं पश्यतो मनोरथावाप्तया हर्षो निष्पन्नस्तदपत्येऽपि वीरधर्ममाचरिष्णौ प्रकृष्टो दिष्ट्येत्यव्ययेन सूच्यते ॥ १५३ अ ॥

(१४) हर्ष

अभीष्ट की प्राप्ति, प्रशंसा वर्णन आदि के द्वारा चित्त की प्रसन्नता 'हर्ष' है ॥ १५३ अ ॥

उसी रूप से रस के प्रकर्ष का उदाहरण—

हे पुत्र चन्द्रकेतु, मेघनाद को मार डालने वाले तुम्हारे पिता लक्ष्मण को ही पैदा हुये अभी कितने दिन हुये? उसके भी पुत्र के रूप में तुम वीरधर्मा हो, तब तो भाग्य से दशरथ का कुल प्रतिष्ठा को प्राप्त हो गया ॥ ४६ ॥

यहाँ दशरथ के मित्र सुमन्त्र नामक सारथी का अपने स्वामी के कुल की प्रतिष्ठा का कथन करना, उनके भी पुत्र को इन्द्रजित् का वधकर्ता देखना आदि मनोरथों के लाभ से, हर्ष निष्पन्न होता है, उसके भी पुत्र को वीरों के धर्मों का आचरण करने का इच्छुक होने पर प्रकृष्टता का भाव 'दिष्ट्या' इस अव्यय से सूचित होता है।

हर्षं लक्षयति। मन इति। इष्टस्य प्रियस्य वस्तुनः अवाप्तौ प्राप्तौ स्तवादिना तद्गुणकीर्त्तनादिनेत्यर्थः मनसः चित्तस्य प्रसादः प्रसन्नता हर्षः॥ १५३ अ ॥

जातस्येति। हे वत्स! चन्द्रकेतो! वत्सस्य इन्द्रजितोऽपि निहन्तुः संहारिणः अपि शब्देन का कथा अन्येषां वीराणामिति व्यज्यते। ते तव पितुः लक्ष्मणस्य जातस्य उत्पन्नस्य अमूनि दिनानि कति नाम? तव पिता लक्ष्मणोऽपि शिशुरेवेति भावः तस्यापि शिशोरपि लक्ष्मणस्य अपत्यं पुत्रः भवानिति भावः वीरधर्मं वीराचारम् अधितिष्ठति आश्रयति वीरवद् व्यवहरतीत्यर्थः। दिष्ट्या भाग्येन दशरथस्य कुलं वंशः प्रतिष्ठां सुख्यातिं गतं प्राप्तं महावीरप्रसूतिर्दशरथकुलमिति भावः ॥ ४६ ॥

क्रोधः कृतापराधेषु स्थिरोऽमर्षत्वमश्नुते ॥ १५३ ॥

तद्रूपेण रसस्य प्रकर्षो यथा—

लाक्षागृहानलविषान्नसभाप्रवेशैः
प्राणेषु वित्तनिचयेषु च नः प्रहृत्य।

आकृष्टपाण्डववधूपरिधानकेशाः
स्वस्था भवन्ति मयि जीवति धार्त्तराष्ट्राः ॥ ४७ ॥

अत्र भीमसेनस्य धार्त्तराष्ट्रेषु स्वस्था इति नाम्नोऽप्यसहनाल्लाक्षागृहाद्यपकारजन्मामर्षः प्रतीयते ॥ १५३ ॥

(१५) अमर्ष

अपराधी के प्रति स्थायी क्रोध अमर्ष का रूप प्राप्त करता है ॥ १५३ ॥

इस रूप से रस के प्रकर्ष का उदाहरण—

लाक्षागृह में अग्निदाह, विषाक्त अन्न तथा समाप्रवेश आदि कृत्यों से हमारे प्राणों तथा धनराशियों पर प्रहार करके, पाण्डवों की पत्नी द्रौपदी के वस्त्र तथा केशों को खींचने वाले ये धृतराष्ट्र के पुत्र मेरे (भीम) जीवित रहते स्वस्थ रहें ? ॥ ४७ ॥

यहाँ भीमसेन का धृतराष्ट्र के पुत्रों के प्रति 'स्वस्थ' यह शब्द भी न सह पाने से लाक्षागृह आदि में किये गये अपकारों से उत्पन्न 'अमर्ष' प्रतीत होता है ।

अमर्षं लक्षयति । क्रोध इति । कृतापराधेषु अपराधिषु स्थिरः क्रोधः अमर्षत्वम् अश्नुते प्राप्नोति ॥ १५३ ॥

लाक्षेति । धृतराष्ट्रस्य अपत्यानि धार्त्तराष्ट्राः दुर्योधनादयः लाक्षागृहे अनलः अग्निः अग्निदाहप्रयास इति भावः विषान्नं विषाक्तान्नप्रयोग इत्यर्थः सभायां द्यूतपरिषदीत्यर्थः प्रवेशः प्रवर्त्तनम् अस्माकमिति भावः तैः करणैः प्राणेषु वित्तनिचयेषु धनसञ्चयेषु च विषयेषु नः अस्मान् प्रहृत्य विमथ्येत्यर्थः ततः आकृष्टाः पाण्डववध्वाः द्रौपद्याः परिधानं वसनं केशाश्च यैः तथाभूताः सन्तः मयि वृकोदरे इति भावः जीवति सति स्वस्थाः सुखिनः भवन्ति ? नैव भवन्तीत्यर्थः । स्वस्थाः स्वर्गस्था मृता इत्यर्थः भवन्तीति च व्यज्यते ॥ ४७ ॥

असूयाऽन्यगुणर्द्धीनामौद्धत्यादसहिष्णुता ॥ १५४ अ ॥

तद्रूपेण रसस्य जन्म यथा—

वन्द्यास्ते न विचारणीयचरितास्तिष्ठन्तु हुं वर्त्तते
सुन्दस्त्रीनिधनेऽप्यखण्डयशसो लोके महान्तो हि ते ।
यानि त्रीणि कुतोमुखान्यपि पदान्यासन् खरायोधने
यद्वा कौशलमिन्द्रसूनुदमने तत्राऽप्यभिज्ञो जनः ॥ ४८ ॥

अत्र यद्यपि सोल्लुण्ठदोषकीर्त्तनादिभिर्जुगुप्सा निष्पद्यते तथापि न तया स्वनिष्पत्तिहेतुरसूया सङ्कीर्त्यते ॥ १५४ अ ॥

(१६) असूया

अपने उग्र स्वभाव के कारण दूसरों के गुणों तथा सम्पत्तियों को न सह पाना असूया है ॥ १५४ अ ॥

वे राम पूज्य हों, ये अविचारणीय चरित्र वाले हों, किन्तु हों, ताड़का को मारने में, के बाद

भी वे संसार में अक्षय कीर्ति वाले महापुरुष बने हुये हैं ? खर से लड़ते समय उनके जो तीन कदम किसी दूसरी ओर हो गये थे अर्थात् वह पराङ्मुख हो गये थे, अथवा इन्द्र पुत्र बाली को मारते समय भी उन्होंने जो बहादुरी दिखलाई थी उसके भी विषय में यह व्यक्ति खूब जानता है ॥ ४८ ॥

यहाँ यद्यपि उल्लुण्ठन के साथ दोषों का उद्घाटन करने से जुगुप्सा उत्पन्न होती है, तथापि उस असूया के द्वारा भी अपनी उत्पत्ति के हेतु सकीर्ण नहीं किये जा रहे हैं।

असूयां लक्षयति। असूयेति। औद्धत्यात् उत्कटस्वभावत्वात् अन्येषां गुणानां विद्याविनयादीनाम् ऋद्धीनां सम्पत्तीनाम् असहिष्णुता असहनम् असूया ॥ १५४ अ ॥

वन्द्या इति। ते रामपादा इति भावः। वन्द्याः पूज्याः मान्या इति पाठान्तरम् अतएव न विचारणीयं न आलोचनीयं चरितं येषां तथोक्ताः तिष्ठन्तु वर्द्धन्ताम्। हुम् वर्त्तते तेषां चरितं विचारणीयमिति भावः। हि यतः ते सुन्दस्य स्त्री ताडका तस्या निधनेऽपि स्त्रीवधेऽपीति भावः अखण्डं यशः येषां तथाभूताः सन्तः लोके जगति महान्तः महाप्रभावा इत्यर्थः खरस्य जनस्थानवासिनः राक्षसाधिपस्येति भावः आयोधने युद्धे यानि त्रीणि पदानि कुतः कस्यां दिशीति यावत् मुख येषां तानि परावृत्तान्यपीति भावः। आसन् अभूवन्। खरेण सह संग्रामे पदन्यासेन पराङ्मुखतां गतास्ते इति भावः। तथा इन्द्रसूनोः वानराधिपतेः वालिन इत्यर्थः निधने वधे यदा कौशलं पाटवम् अलक्षितावस्थानेन शरप्रहार इति भावः तत्रापि जनः लोकः अभिज्ञः विशेषज्ञ इत्यर्थः सोल्लुण्ठनं वचनमिदम्। अत्र लवस्य रामगुणासहनात् असूया ॥ ४८ ॥

ईर्ष्यामाहुः समानेषु मानदानाद्यमर्षणम् ॥ १५४ ॥

तद्रूपेण रसस्य प्रकर्षो यथा—

हुं णिल्लज्ज ! समोसरतं विअ अणुणेसु जाई दे एअम्।
पाआङ्गुट्ठालत्तएण तिलअं विणिम्मिअम् ॥ ४९ ॥

अत्र कस्याश्चित् प्रेयसि सपत्नीं प्रसादयितुं गते तन्माननमसृष्यमाणायाः समुत्पन्नेर्ष्यां प्रियानुनयादिभिर्भृशायमानतया निष्पन्नालक्तकतिलकानुमेयैः तत्पादपतनादिभिः उद्दीप्ता हुङ्काराक्षेपभर्त्सनप्रतिभेदाविनाभूतैर्भ्रूभङ्गताडनाङ्गक्षेपवेपथुस्वेदगद्गदादिभिः संसृज्यमाना प्रकृष्यते ॥

(१७) ईर्ष्या

अपने समान स्तर के लोगों में मान, दान आदि न सह पाने को ईर्ष्या कहते हैं ॥ १५४ ॥

इस रूप से रस के प्रकर्ष का उदाहरण—

अरे निर्लज्ज, जा भाग और उसी की प्रार्थना कर जिसने अपने पैर के अँगूठे के आलते से तुम्हारा यह तिलक किया है ॥ ४९ ॥

यहाँ किसी सुन्दरी की, प्रियतम के किसी सौत को प्रसन्न करने के लिये चले जाने पर चरम रूप से उत्पन्न हुई ईर्ष्या आलते के तिलक से अनुमित हो जाने वाले उसके पैरों पर गिरने आदि

की क्रियाओं से उद्दीप्त हुई तथा हुङ्कार, आक्षेप, भर्त्सना आदि भेदों से संयुक्त भ्रूभङ्ग, ताडन, अङ्गविक्षेप, वेपथु, स्वेद, गद्गद आदि के द्वारा सृष्ट की जाती हुई प्रकृष्ट बनाई जाती है।

ईर्ष्यां लक्षयति। **ईर्ष्यामिति। समानेषु जनेषु मानदानादीनाम् असहनम् ईर्ष्याम् आहुः कथयन्ति ॥ १५४ ॥**

हुं निर्लज्ज ! समपसर तामेवानुनयस्व यया ते इदम्।
पादाङ्गुष्ठालक्तकेन तिलकं विनिर्मितम् ॥

हुमिति आक्षेपसूचकमव्ययम्। निर्लज्ज ! गतत्रप ! त्वमपसर मत्सकाशात् गच्छ। तामेव कान्तां अनुनयस्व। कामित्याह ययेति। **यया कान्तया पादाङ्गुष्ठालक्तकेन चरणाङ्गुष्ठलाक्षारागेण ते तव इदं तिलकं विनिर्मितं रचितं यस्याः चरणे पतित्वा अनुनीतवानसीति भावः। खण्डितायां नायिकायाः उक्तिः ॥ ४९ ॥**

विषादश्चेतसो ग्लानिरुपायाभावनाशयोः ॥ १५५ अ ॥

तद्रूपेण रसस्य प्रकर्षो यथा--

व्यर्थं यत्र कपीन्द्रसख्यमपि मे वीर्यं हरीणां वृथा
प्रज्ञा जाम्बवतोऽपि यत्र न गतिः पुत्रस्य वायोरपि।
मार्गं यत्र न विश्वकर्मतनयः कर्त्तुं नलोऽपि क्षमः
सौमित्रेरपि पत्रिणामविषयस्तत्र प्रिये क्वासि मे ? ॥ ५० ॥

अत्र सीतासमागमविषये रामस्य दृष्टावदानसुग्रीवसख्यादेः उपायस्य अभावात् विषादः प्रकृष्यते ॥ १५५ अ ॥

(१८) विषाद

उपाय के अभाव अथवा नाश से चित्त में अप्रसन्नता आना विषाद है ॥ १५५ (अ) ॥

उस रूप से रस के प्रकर्ष का उदाहरण—

जहाँ पर वानरराज सुग्रीव से मेरी की गई मित्रता भी बेकार है और बन्दरों का पौरुष भी व्यर्थ है, जहाँ जाम्बवान् की बुद्धि भी (सार्थक) नहीं, और जहाँ वायुपुत्र हनुमान् की भी पहुँच नहीं है, जहाँ विश्वकर्मा का पुत्र नल भी मार्ग बनाने में समर्थ नहीं, जो लक्ष्मण के बाणों का भी विषय नहीं है, हे प्रेयसी सीते, वह कौन-सी जगह है, जहाँ तुम हो ॥ ५० ॥

यहाँ सीता की प्राप्ति के विषय में राम की दृष्टि में जिनका पराक्रम देखा जा चुका है उन सुग्रीव आदि के मैत्री आदि उपायों के अभाव से विषाद प्रकृष्ट लिया जा रहा है।

विषादं लक्षयति। **विषाद इति। उपायस्य अभावनाशयोः सतोः चेतसः चित्तस्य ग्लानिः अप्रसाद इत्यर्थः विषादः ॥ १५५ अ ॥**

व्यर्थमिति। हे मे मम प्रिये जानकि ! यत्र मे मम कपीन्द्रेण वानरराजेन सुग्रीवेणेत्यर्थः सख्यं मित्रत्वम् अपि व्यर्थं निष्फलं सख्या वानरराजेनापि यत्र न अधिगम्यते इति भावः। यत्र हरीणां वानराणां वीर्यं बलं वृथा निष्फलम् अकिञ्चित्करत्वादिति भावः। यत्र जाम्बवतोऽपि ऋक्षराजस्यापि प्रज्ञा बुद्धिः मन्त्रणाविषयिणीति भावः न प्रसरतीति शेषः

यत्र वायोः पुत्रस्यापि पवततनयस्यापि हनुमत इत्यर्थः गतिर्गमनं न सम्भवतीति शेष यत्र विश्वकर्मणः तनयः पुत्रः नलोऽपि मार्गं पन्थानं कर्त्तुं न क्षमः न शक्तः सौमित्रे-र्लक्ष्मणस्यापि पत्रिणां शराणाम् अविषये अगोचरे तत्र क्व कुत्र स्थाने असि ? वर्त्तसे ? कृतसीतापरित्यागस्य रामस्य उक्तिः ॥ ५० ॥

सत्त्वत्यागादनुत्कर्षो वाक्यादेर्दैन्यमुच्यते ॥ १५५ ॥

तद्रूपेण रसस्यानुबन्धो यथा—

अस्मान् साधु विचिन्त्य संयमधनानुच्चैः कुलं चात्मन-
स्त्वय्यस्याः कथमप्यबान्धवकृतां भावप्रवृत्तिञ्च ताम् ।
सामान्यप्रतिपत्तिपूर्वकमियं दारेषु दृश्या त्वया
भाग्याधीनमतःपरं न खलु तद्वाच्यं वधूबन्धुभिः ॥ ५१ ॥

अत्र स्नेहप्रभवं पादत्रयोक्तमर्थिता दैन्यं तुरीयपादोपक्षिप्तया वाचा दैन्यान्तरेणानुबध्यते ॥ १५५ ॥

(१९) दैन्य

(अपने) प्रभाव का त्याग करके वाक्य आदि का उत्कर्षाभाव प्रकट करना 'दैन्य' कहा जाता है ॥ १५५ ॥

उस रूप से रस के अनुबन्ध का उदाहरण—

हमको भलीभांति संयम का धनी सोच कर और अपने ऊँचे कुल को सोच कर, अपने प्रति किसी प्रकार से बिना किसी भाई-बन्धु के द्वारा कराई गई उस प्रकार की इसकी सहज प्रेम-भावनाओं को भी देखकर आप अपनी पत्नियों में इसे समान भाव से देखना। इसके आगे की बातें तो भाग्य के अधीन हैं, उसे वधू के भाई बन्धुओं को नहीं कहना चाहिये ॥ ५१ ॥

यहाँ स्नेह के कारण उत्पन्न तीन पादों में कही गई याचना दैन्य है जो चतुर्थ पाद में उपक्षिप्त दैन्य भाव से रहित वाणी से अनुबद्ध हो रहा है।

दैन्यं लक्षयति। सत्त्वेति। सत्त्वस्य प्रभावस्य त्यागात् वाक्यादेः अनुत्कर्षः उत्कर्षाभावः लाघवप्रयोजक इति भावः दैन्यम् उच्यते कथ्यते ॥ १५५ ॥

अस्मानिति। अस्मान् वनस्थानिति भावः संयमः बाह्याभ्यन्तरनियमनरूपप्रशान्तिरेव धनं येषां तान् नास्ति अन्यत् किञ्चन धनं येन यौतकितेन त्वं पुरस्क्रियसे इति यदा एनां मत्सुतां प्रति त्वया अयुक्तं न व्यवहर्त्तव्यं तथात्वे अस्मत्कोपेन तव हानिर्भाविनीति च भावः। आत्मनः स्वस्य कुलं वंशः उच्चैः उन्नतं महदिति यावत्। एनां प्रति विरूपव्यवहारे कुलं कलङ्कितं स्यादिति भावः। त्वयि अस्याः मत्सुतायाः अबान्धवकृतां बन्धुजनैः अघटितामित्यर्थः स्वतः कृतामिति भावः कथमपि केनापि अचिन्तनीयेन प्रकारेण हेतुना वा जातां तां भावप्रवृत्तिं प्रणयप्रसरञ्च स्नेहप्रवृत्तिमिति पाठान्तरं साधु सम्यक् यथा तथा विचिन्त्य विज्ञाय दारेषु स्त्रीषु मध्ये इयं मत्सुता सामान्यप्रतिपत्तिपूर्वकं साधारणज्ञाने-

नेत्यर्थः दृश्या अवेक्षणीया। अतः परम् अस्मादन्या विशेषप्रतिपत्तिरिति भावः भाग्याधीनं दैवायत्तं भाग्यवतीनां हि विशेषप्रतिपत्तिर्भवतीति भावः। वधूबन्धुभिः वध्वाः पित्रादिभिः तत् विशेषप्रतिपत्तिरूपं वस्तु इति भावः न खलु वाच्यं नैव प्रार्थयितव्यमित्यर्थः। दैवाधीनमतः परं न खलु तत् स्त्रीबन्धुभिर्याच्यते इति पाठान्तरम्। सा इयं दारेषु विषये अन्यप्रतिपत्तिपूर्वकम् अन्या अपरा प्रतिपत्तिः ज्ञानं तत्पूर्वकं मा दृश्या न द्रष्टव्या इयं स्वीया कान्ता नान्येति अवेक्षणीयेति भावः। इति केचिद् व्याचक्षते ॥ ५१ ॥

विदुर्वोग्दण्डपारुष्यमुग्रतामपकारिषु ॥ १५६ अ ॥

तद्रूपेण रसस्य प्रकर्षो यथा—

प्रणयिसखीसलीलपरिहासरसाधिगतै-
लंलितशिरीषपुष्पहननैरपि ताम्यति यत्।
वपुषि वधाय तत्र तव शस्त्रमुपक्षिपतः
पततु शिरस्यकाण्डयमदण्ड इवैष भुजः ॥ ५२ ॥

अत्र माधवस्य प्रकृष्टापकारिणि अघोरघण्टे विषये प्रकृष्टमेव वाक्-पारुष्यं दण्डपारुष्यञ्च जायते ॥ २२४ ॥

(२०) उग्रता

शत्रुओं के प्रति वाणी अथवा दण्ड से कर्कशता प्रकट करने को उग्रता समझते हैं ॥१५६(अ)॥

उस रूप से रस के प्रकर्ष का उदाहरण—

जो शरीर प्रणयवती सखियों के सविलास परिहास से सरसतापूर्वक प्राप्त कोमल शिरीष पुष्पों के भी प्रहार से क्लान्त हो जाया करता था, मार डालने के लिये उसी शरीर पर शस्त्र का प्रयोग करने वाले तुम्हारे ही मस्तक पर एकाएक आ पड़े हुये मृत्युदण्ड की भांति यह मेरा भुजदण्ड पड़े ॥ ५२ ॥

यहाँ माधव की प्रकृष्ट अपकारी अघोर घाट रूप विषय पर प्रकृष्ट कोटि की ही वाणी की कठोरता तथा दण्ड की भी कठोरता उत्पन्न हो रही है।

उग्रतां लक्षयति। विदुरिति। अपकारिषु शत्रुषु वाचा दण्डेन वा पारुष्यं कार्कश्यम् उग्रतां विदुः जानन्ति ॥ १५६ अ ॥

प्रणयीति। यत् वपुः प्रणयिनीनां प्रणयवतीनां सखीनां सहचरीणां सलीलः सविलासः यः परिहासरसः परिहासरागः तेन अधिगतानि प्राप्तानि तैः ललितानि सुन्दराणि सुकोमलानीति यावत् शिरीषपुष्पाणि तैः हननानि प्रहाराः तैरपि ताम्यति क्लान्तिं गच्छति, वधाय तव वपुषि अङ्गे शस्त्रम् उपक्षिपतः प्रयुञ्जानस्य तव शिरसि एषः अकाण्डयमदण्ड इव सहसा पतितो मृत्युदण्ड इव भुजः बाहुः दृढमुष्टिरिति भावः पततु ॥ ५२ ॥

त्रासश्चित्तचमत्कार आकस्मिकभयादिभिः ॥ १५६ ॥

तद्रूपेण रसस्य जन्म यथा--

परिस्फुरन्मीनविघट्टितोरवः सुराङ्गनास्त्रासविलोलदृष्टयः ।
उपाययुः कम्पितपाणिपल्लवाः सखीजनस्यापि विलोकनीयताम् ॥५३॥

अत्र लोलदृष्टिता करावधूननञ्च स्त्रीणां स्वभावभीरुत्वविलासित्वाभ्यामपि भवतीति त्रासाविर्भावेऽप्यसमर्थमिति नानुबन्धो भवतीति॥ ५३ ॥

(२१) त्रास

एकाएक उत्पन्न हो गये भय आदि के कारण चित्त में विस्मय हो जाना त्रास है ॥ १५६ ॥

उसी के रूप में रस का जन्म—जैसे—

अप्सरायें चञ्चल मछलियों के जाँघों से टकरा जाने के कारण भय से युक्त हो गईं। उनकी आँखें चञ्चल हो उठीं। अपने पल्लव के सदृश हाथों को झटकारने लगीं। ऐसी दशा में वे अपने प्रियजनों के लिये दर्शनीयता प्राप्त कर उठीं॥ ५३ ॥

यहाँ दृष्टि में चञ्चलता आना तथा हाथों को फटकारना स्त्रियों में स्वाभाविक भीरुता तथा विलास दोनों के कारण होता है, इसलिये त्रास का आविर्भाव होने पर भी असमर्थता के कारण अनुबद्ध नहीं होता।

त्रासं लक्षयति। **त्रास इति। आकस्मिकभयादिभिः सहसोत्पन्नभयादिभिः हेतुभिः चित्तस्य चमत्कारः विस्मयः त्रासः ॥ १५६ ॥**

परिस्फुरदिति। **सुराङ्गनाः अप्सरसः जलविहारिण्य इति भावः परिस्फुरद्भिः सञ्चरद्भिः मीनैः मत्स्यैः विघट्टिता दष्टाः आहता वा ऊरवः यासां ताः अतएव त्रासेन किमेतदिति भयेन विलोला चञ्चला दृष्टिर्यासां तथोक्ताः तथा कम्पिताः चालिताः पाणयः पल्लवा इव याभिः तथाविधाः सत्यः सखीजनस्यापि किमुत कामिजनस्येति अपिकारार्थः। विलोकनीयतां दर्शनीयतां मनोहारित्वमिति भावः उपाययुः प्रापुः ॥ १२६ ॥**

अनिष्टाभ्यागमोत्प्रेक्षां शङ्कामाचक्षते बुधाः ॥ १५७ अ॥

तद्रूपेण रसस्य प्रकर्षो यथा--

सहसा मा साहिज्जउ पिआगमो तीअ विरहकिसिआए ।
अच्चन्तपहरिसेण वि जा अमुआ सा मुआज्जेव ॥ ५४ ॥

अत्र विरहिण्याः कार्श्यातिशयमुद्वीक्ष्यमाणायाः कस्याश्चिद्वयस्यायाः स्नेहातिशय्यात् "प्रेम पश्यति भयान्यपदेऽपीति" प्रियागमहर्षातिशयभावेऽप्यसहिष्णुतया तन्मरणशङ्का प्रकृष्यते ॥ ५४ ॥

(२२) शङ्का

अनिच्छित वस्तु के प्राप्ति की संभावना को बुद्धिमान् लोग 'शङ्का' कहते हैं ॥ १५७ (अ) ॥

उस रूप से रस के प्रकर्ष का उदाहरण—

इस विरह से अतिशय पीडिता नायिका को एकाएक प्रिय के आगमन का समाचार मत

सुनाना। कहीं ऐसा न हो कि जो अभी तक किसी प्रकार नहीं मरी वह अत्यन्त प्रसन्नता के कारण कहीं मर ही जाये ॥ ५४ ॥

यहाँ विरहिणी की अत्यधिक दुर्बलता को देखने वाली किसी सखी की प्रगाढ़ प्रेम के कारण "अस्थान में भी प्रेम भय को देखता है" इस उक्ति के अनुसार प्रिय के आने से अतीव प्रसन्नता होने पर भी सहनशीलता न होने के कारण उसके मरण की शङ्का प्रकृष्ट की जा रही है।

शङ्कां लक्षयति। **अनिष्टेति। बुधाः कवयः अनिष्टस्य अभ्यागमे उपस्थितौ उत्प्रेक्षां सम्भावनां शङ्काम् आचक्षते कथयन्ति ॥ १५७ अ ॥**

सहसा मा श्रावय प्रियागमं तस्यै विरहक्लेशितायै।
अत्यन्तप्रहर्षेणापि याऽमृता सा मृतैव स्यात्॥

सहसेति। **अस्यै विरहक्लेशितायै सहसा प्रियागमं कान्तागमनं मा श्रावय न श्रावय। या अमृता विरहक्लेशातिशयेनेति भावः सापि अत्यन्तप्रहर्षेणापि मृता एव स्यादिति शेषः ॥ ५४ ॥**

विरहादेर्मनस्तापः शरीरान्तकरो गदः ॥ १५७ ॥

तद्रूपेण रसस्य जन्म यथा—

स्थितमुरसि विशालं पद्मिनीपत्रमेतत्
कथयति न तथान्तर्मन्मथोत्थामवस्थाम्।
अतिशयपरितापग्लापिताभ्यां यथा ऽस्याः
स्तनयुगपरिणाहं मण्डलाभ्यां ब्रवीति ॥ ५५ ॥

अत्र सागरिकायाः स्तननिहितसरोजिनीदलम्लापनेन वपुःसन्तापो निष्पद्यते ॥

(२३) ताप

विरह आदि के कारण शरीर का ध्वंस कर देने वाला रोग मन का ताप है ॥ १५७ ॥

उसके रूप में रस का जन्म—जैसे—

यह वक्षस्थल पर रखा हुआ विशाल कमलिनी का पत्ता इस नायिका के अन्तः कामजनित अवस्था को उस प्रकार नहीं व्यक्त कर रहा है जिस प्रकार की अभिव्यक्ति अत्यधिक परिताप से म्लान कर दिये गये गोलाकार आकार से दोनों स्तनों की विशालता कर रही है ॥ ५५ ॥

यहाँ सागरिका के स्तनों पर रखे गये कमलिनी के पत्तों की म्लानता से शरीर का सन्ताप निष्पन्न हो रहा है।

तापं लक्षयति। **विरहादेरिति। विरहादेः हेतोः शरीरान्तकरः शरीरध्वंसकरः गदः रोगः मनसः तापः ॥ १५७ ॥**

स्थितमिति। **एतत् उरसि वक्षसि स्थितं विशालं बृहत् पद्मिनीपत्रम् अस्याः नायिकायाः अन्तर्मन्मथोत्थाम् अन्तःकामजनिताम् अवस्थां तथा न कथयति यथा अतिशयेन परितापेन ग्लापिताभ्यां म्लानिं नीताभ्यां मण्डलाभ्यां गोलाकारस्वायतनाभ्यां स्तनयुगस्य स्तनद्वयस्य परिणाहः विशालता तां ब्रवीति सूचयतीति यावत्॥ ५५ ॥**

बलस्यापचयो ग्लानिराधिव्याधिप्रकर्षभूः ॥ १५८ अ ॥

तद्रूपेण रसस्यानुबन्धो यथा—

किसलयमिव मुग्धं बन्धनाद्विप्रलूनम्
हृदयकुसुमशोषी दारुणो दीर्घशोकः ।
ग्लपयति परिपाण्डु क्षाममस्याः शरीरम्
शरदिज इव घर्मः केतकीगर्भपत्रम् ॥ ५६ ॥

अत्र प्रकृष्टशोकानुबन्धिनी ग्लानिः वैवर्ण्यक्षामताभ्यामनुबध्यते ॥

(२४) ग्लानि

मानसिक तथा शारीरिक पीडाओं के आधिक्य से होनेवाला बल का क्षय ग्लानि है १५८(अ)

उस रूप से रस के अनुबन्ध का उदाहरण—

हृदय सुमन को सुखा देने वाला कठोर एवं दीर्घकालीन शोक वृन्त से काट दिये गये मनोहर किसलय की भांति इस जानकी के पूर्णतः पीले पड़ गये क्षीण शरीर को उसी प्रकार ग्लपित किये दे रहा है जिस प्रकार शरत्काल की धूप केतकी के गर्भपत्र को ग्लपित कर देती है ।। ५६ ॥

यहाँ अतिशय शोक के अनुबद्ध ग्लानि विवर्णता तथा क्षामता के द्वारा अनुबद्ध हो रही है ।

ग्लानिं लक्षयति । **बलस्येति । आधिः मानसी व्यथा 'पुंस्याधिर्मानसी व्यथेत्यमरः' । व्याधिः रोगः तयोः प्रकर्षात् अतिरेकाद् भवतीति तथोक्तः बलस्य सामर्थ्यस्य अपचयः क्षयः ग्लानिः ॥ १५८ अ ॥**

किसलयमिति । **हृदयमेव कुसुमं शोषयतीति तथोक्तः दारुणः तीव्रः दीर्घशोकः महत् दुःखं प्रियविच्छेदजमिति भावः बन्धनात् वृन्तात् विप्रलूनं विच्छिन्नं मुग्धं सुन्दरं सुकोमलमिति भावः किसलयमिव नवपल्लवमिव अस्याः नायिकायाः परिपाण्डु पाण्डुतां गतं शरीरं शरदि जायते इति शरदिजः शरत्कालभव इत्यर्थः घर्मः सौरतापः केतक्याः गर्भपत्रमिव अभ्यन्तरदलमिव ग्लपयति ग्लानिं नयति शोषयतीत्यर्थः ॥ ५६ ॥**

उत्कण्ठाहर्षशोकादेरुन्मादश्चित्तविप्लवः ॥ १५८ ॥

तद्रूपेण रसस्य निष्पत्तिं यथा—

क्वाकार्य्य ! क्व कलाकरस्य च कुलं ? भूयोऽपि दृश्येत सा ?
दोषाणामुपशान्तये श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं मुखम् ।
किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियो ? रेखैव साऽन्यादृशी
चेतः स्वास्थ्यमुपैहि कः खलु युवा धन्योऽधरं धास्यति ? ॥५७॥

अत्र विरहिणः पुरुरवसः उत्कण्ठादिभिः प्रेमप्रकर्षादसत्प्रलापरूप उन्मादो निष्पद्यते ॥

(२५) उन्माद

उत्कण्ठा, हर्ष, शोक आदि के कारण चित्त की विकृति उन्माद है ॥ १५८ ॥

उस रूप से रस की निष्पत्ति का उदाहरण—

(अर्थ के लिये द्रष्टव्य १।१७७) ॥ ५७ ॥

यहाँ विरही पुरूरवा का उत्कण्ठा आदि के द्वारा प्रेम का प्रकर्ष होने से मिथ्या प्रलाप रूप उन्माद व्यक्त हो रहा है।

उन्मादं लक्षयति। उत्कण्ठेति। उत्कण्ठा औत्सुक्यं हर्षः आनन्दः शोकः एवमादेः हेतोः चित्तस्य मनसः विप्लवः विकृतिः उन्मादः ॥ १५८ ॥

काकार्यमिति। अकार्यम् उर्वशीप्रेमनिबन्धनं चित्तवैकल्यरूपमिति भावः क्व? कलंकरस्य चन्द्रमसः कुलञ्च क्व? अहं चन्द्रवंशीयो नृपतिः मम तावदुर्वश्यामनुरागेण तद्विरहे ईदृशं चित्तवैकल्यं न युज्यते इति भावः। विवेकबुद्धिरियम्। सा उर्वशी भूयोऽपि पुनरपि दृश्येत? दर्शनविषयीक्रियेत। विवेकध्वंसात् पुनरुत्कण्ठेयम्। दोषाणाम् इन्द्रियचापल्यरूपाणाम् उपशान्तये दमनाय श्रुतं शास्त्रज्ञानं मया दोषशान्त्यर्थं शास्त्राणि अधीतानि तत् कथमयमावेग इति पुनर्विवेकबुद्धिः। अहो आश्चर्यं कोपेऽपि मुखं वदनम् उर्वश्या इति शेषः कान्तं रम्यं शान्तमित्यपपाठः। पुनर्विवेकनाशादुत्कण्ठा। अपकल्मषाः अपापाः कृतधियः शिक्षितमतयः साधव इति भावः किं वक्ष्यन्ति कथयिष्यन्ति ममैतादृशं वैक्लव्यं द्रष्टेति भावः। पुनर्विवेकबुद्धिः सा उर्वशी स्वप्नेऽपि दुर्लभा दुष्प्रापा स्वप्नेऽपि तां न पश्यामीति भावः रेखैव सान्यादृशीति पाठे सा उर्वशी अन्यादृशी अन्यप्रकारा लोकविलक्षणेति यावत् रेखैव सृष्टिरेवेत्यर्थः। पुनरुत्कण्ठा। हे चेतः! हृदय! स्वास्थ्यं प्राकृतं भावं सुस्थतामित्यर्थः उपैहि प्राप्नुहि। पुनर्विवेकबुद्धिः। को धन्यो भाग्यवान् सुकृतीति यावत् युवा खलु निश्चितम् अधरम् उर्वश्या इति शेषः धास्यति पास्यति धेट्पाने इत्यस्य रूपम्। पुनरुत्कण्ठा। क्व कलाकरस्य च कुलमित्यत्र शशलक्ष्मणः क्व च कुलमिति पाठान्तरम्। पुरूरवस उक्तिरियं ययातेरिति मूलपाठः प्रामादिकः इति चिन्त्यम् ॥ ५७ ॥

आदरातिशयाच्चेतस्यावेगः सम्भ्रमो मतः ॥ १५९ अ ॥

तद्रूपेण रसस्य सङ्करो यथा—

अलमलमतिमात्रं साहसेनामुना ते
त्वरितमयि! विमुञ्च त्वं लतापाशमेनम्।
चलितमिव निरोद्धुं जीवितं जीवितेशे!
क्षणमिह मम कण्ठे बाहुपाशं निधेहि ॥ ५८ ॥

अत्र रतिजन्मा सम्भ्रमातिशयो रतिजन्मनैव रतिप्रकर्षेण सङ्कीर्यते ॥

(२६) सम्भ्रम

अतिशय आदर के कारण मन में होने वाली उद्विग्नता 'संभ्रम' माना गया है ॥ १५९ (अ) ॥

उस रूप से रस के संकर का उदाहरण—

तुम यह घोर साहसिक कर्म मत करो, मत करो। अयि सुन्दरि, इस लता के बन्धन को शीघ्र ही तुम खोल दो। हे प्राणेश्वरि, इस चले से जा रहे प्राण को रोकने के लिये इस घड़ी मेरे कण्ठ में भुजबन्धन डाल दो ॥ ५८ ॥

यहाँ रति से उत्पन्न अत्यधिक संभ्रम रति से ही उत्पन्न मति की प्रकृष्टता से संकीर्ण किया जा रहा है।

सम्भ्रमं लक्षयति। आदरेति आदरातिशयात् चेतसि मनसि आवेगः उत्कण्ठा विशेष इत्यर्थः सम्भ्रमः मतः कथितः ॥ १५९ अ ॥

अलमिति। असुना ते तव साहसेन अविमृष्यकारिताजनितेन उद्बन्धनप्रयासेनेति भावः अतिमात्रम् अतिशयेन अलम् अलम् व्यर्थं व्यर्थं विफलमेतत् साहसं मा कुर्वित्यर्थः अयीति कोमलामन्त्रणे अयि प्रिये इति भावः त्वम् एनं लतापाशं वल्लीरज्जुं त्वरितं सत्वरं विमुञ्च परित्यज। हे जीवितेशे प्राणेश्वरि! चलितमिव निर्गन्तुं प्रवृत्तमिवेत्यर्थः जीवितं मदीयमिति शेषः। तदप्राप्ताविति भावः निरोद्धुम् अवरुद्धं कर्तुम् इह अस्मिन् मम कण्ठे क्षणं बाहुपाशं भुजरज्जुं निधेहि अर्पय ॥ ५८ ॥

मनःशरीरयोः खेदः क्रियातिशयतः श्रमः ॥ १५९ ॥

तद्रूपेण रससङ्करो यथा—

स्खलयति वचनं ते संश्रयत्यङ्गमङ्गम्
जनयति मुखचन्द्रोद्भासिनः स्वेदबिन्दून्।
मुकुलयति च नेत्रे सर्वथा सुभ्रु! खेद-
स्त्वयि विलसति तुल्यं वल्लभालोकनेन ॥ ५९ ॥

अत्र मालत्या पुष्पावचयजन्मा श्रमो माधवावलोकनजा च रतिः स्वेदगद्गदाङ्गसादनयनमुकुलनैस्तुल्यधर्मिणो मिथः सङ्कीर्येते ॥

(२७) श्रम

अतिशय कार्य करने के कारण मन और शरीर की खिन्नता श्रम है ॥ १५९ ॥

उस रूप से रससङ्कर का उदाहरण—

हे सुन्दरि, खेद तुम्हारे भीतर अपने प्रिय माधव के दर्शन की भांति विलसित हो रहा है, क्योंकि इससे तुम्हारी वाणी लड़खड़ा रही है। यह अङ्ग-अङ्ग का आश्रय ले रहा है, तुम्हारे मुख चन्द्र को चमका देने वाले स्वेद बिन्दुओं को उत्पन्न कर रहा है तथा दोनों नेत्रों को पूर्णतः संकुचित किये दे रहा है ॥ ५९ ॥

यहाँ पुष्प चयन से होने वाला मालती का श्रम, माधव को देखने से उत्पन्न होने वाली रति दोनों सधर्मी स्वेद, गद्गद, अङ्ग-शैथिल्य तथा नयन संकोच के साथ परस्पर संकीर्ण हो रहे हैं।

श्रमं लक्षयति। मन इति क्रियातिशयतः चेष्टातिरेकात् मनःशरीरयोः चित्तदेहयोः खेदः क्लान्तिः श्रमः ॥ १५९ ॥

स्खलयतीति। हे सुभ्रु! सुन्दरि! खेदः श्रमः पुष्पावचयनजन्मेति भावः तवेति शेषः वल्लभस्य प्रियस्य माधवस्येत्यर्थः अवलोकनेन दर्शनेन तुल्यं समं यथा तथा त्वयि विलसति विस्फुरति खेदवल्लभालोकनयोः एककार्यकारित्वादिति भावः तथाहि खेदः प्रियावलोकनञ्च ते तव वचनं स्खलयति स्खलितं करोति वैरूप्यमापादयतीति भावः अङ्गम् अङ्गं प्रत्यङ्गं संश्रयति, मुखचन्द्रम् उद्भासयन्तीति तथाविधान्

स्वेदबिन्दून् घर्मजलकणान् जनयति, नेत्रे नयने सर्वथा सर्वैः प्रकारैः मुकुलयति च निमीलयति च ॥ ५९ ॥

चित्तस्य खेदो निर्वेदस्तत्त्वज्ञानोदयादिभिः ॥ १६० अ ॥

तद्रूपेण रसस्थ शेषो यथा--

जरामरणदौर्गत्यव्याधयस्तावदासताम् ।
मन्ये जन्मैव धीराणां भूयो भूयस्त्रपाकरम् ॥ ६० ॥

अत्र मोक्षायोत्सहमानस्य कस्यचिन्निर्वेदागमो गम्यते ॥

(२८) निर्वेद

तत्त्वज्ञान के उदय आदि के कारण चित्त की खिन्नता निर्वेद है ॥ १६० अ ॥

उस रूप से रस की शेषता का उदाहरण—

वृद्धावस्था, मृत्यु, दुर्गति तथा रोग रहे तो रहे—मैं तो समझता हूँ कि धीर पुरुषों के लिये बार-बार जन्म लेना ही लज्जा का विषय है ॥ ६० ॥

यहाँ मोक्ष के लिये उत्साहित हो रहे किसी व्यक्ति में निर्वेद का आगमन व्यक्त हो रहा है ।

निर्वेदं लक्षयति । **चित्तस्येति । तत्त्वज्ञानस्य उदयादिभिः जननादिभिः हेतुभिः चित्तस्य मनसः खेदः वीतरागत्वमित्यर्थः निर्वेदः ॥ १६० अ ॥**

जरेति । **जरा वार्द्धक्यं मरणं मृत्युः दौर्गत्यं दारिद्र्यं व्याधिः रोगः एते तावत् आसतां तिष्ठन्तु एतेषां धीरजनत्रपाकरत्वं किं वक्तव्यमिति भावः । धीराणां मनस्विनां भूयो भूयः पुनः पुनः जन्मैव उत्पत्तिरेव त्रपाकरं लज्जाकरं मन्ये ॥ ६० ॥**

क्रियास्वपाटवं जाड्यं चिन्तोत्कण्ठाभयादिभिः ॥ १६० ॥

तद्रूपेण रसस्य निष्पत्तिर्यथा--

शिथिलशिथिलं न्यस्य स्वैरं धनुःशिखरे शिरो
नयनसलिलैः कुर्वन् मौर्वीं लतामपरामिव ।
अहह ! विकलः श्रुत्वा श्रुत्वा घनस्तनितध्वनिम्
किमपि किमपि ध्यायन्नार्य्यो न याति न तिष्ठति ॥ ६१ ॥

अत्र विरहिणो रामस्य क्रियास्वपाटवं निष्पद्यते ॥

(२९) जड़ता

चिन्ता, उत्कण्ठा, भय आदि के कारण कार्य में निपुणता का अभाव जड़ता है ॥ १६० ॥

उसी रूप से रस की निष्पत्ति का उदाहरण—

आर्य राम अतिशिथिल तथा अवहेलना के साथ धनुष के एक किनारे पर अपने मस्तक को रख कर आँसुओं से एक दूसरी ही प्रकार की लता के सदृश प्रत्यञ्चा को बनाते हुये, बड़े खेद की बात है कि मेघों की गर्जना को सुन-सुन कर व्याकुल होते हुये, न जाने क्या-क्या सोचते हुये न तो कहीं जाना ही चाहते हैं और न रुकना ही ॥ ६१ ॥

यहाँ विरही राम की कामों में अपटुता प्रकट हो रही है।

जाड्यं लक्षयति क्रियास्विति। चिन्ता उत्कण्ठा भयम् एवमादिभिः हेतुभिः क्रियासु चेष्टासु अपाटवम् असामर्थ्यमित्यर्थः जाड्यम् ॥ १६० ॥

शिथिलेति। आर्यः रामः शिथिलशिथिलम् अतिश्लथं स्वैरं सावहेलञ्च यथा तथा धनुषः कार्मुकस्य शिखरे कोटौ अग्रभागे इत्यर्थः शिरः मस्तकं न्यस्य निधाय नयनसलिलैः अश्रुभिः अपराम् अन्यविधां लतामिव मौर्वीं ज्यां कुर्वन् रचयन् अहहेति खेदे घनानां मेघानां स्तनितं गर्जितमेव ध्वनिं श्रुत्वा श्रुत्वा आकर्ण्याकर्ण्य विकलः नितरां व्याकुलः सन् अतीवोद्दीपकत्वाद् घनगर्जितस्येति भावः किमपि किमपि अनिर्वचनीयरूपमिति भावः ध्यायन् चिन्तयन् न याति न गच्छति न गन्तुं पारयति न तिष्ठति न स्थातुं शक्नोतीत्यर्थः ॥ ६१ ॥

क्रियाविद्वेष आलस्यं सुखसंविन्मदादिभिः ॥ १६१ अ ॥

तद्रूपेण रसस्य निष्पत्ति र्यथा—

घरिणिघणत्थणपेक्खणसुहे णिपडिअस्स होन्ति पहिअस्स।
अवसउणङ्गारअवारविट्ठिदिअसा सुहवेन्ति ॥ ६२ ॥
अत्र रतिसुखानुभवाज्जिगमिषोरपि अगच्छतः आलस्यं निष्पद्यते ॥

(३०) आलस्य

सुख के अनुभव, मद आदि के कारण कार्य से अरुचि हो जाना आलस्य है ॥ १६१ अ ॥

इसी रूप से रस की निष्पत्ति का उदाहरण—

गृहिणी के स्थूल स्तन के दर्शन जनित सुख केलि में निमग्न, शीघ्र ही भविष्य में विदेश जाने वाले पथिक के पक्ष में अपशकुन सूचक मङ्गलवार तथा भद्रादोष से युक्त दिन (यात्रा के विरोधी होने से) सुखदायक प्रतीत होते हैं ॥ ६२ ॥

यहाँ रति सुख का अनुभव होने से जाने की इच्छा होने पर भी न जाने वाले का आलस्य व्यक्त हो रहा है।

आलस्यं लक्षयति। क्रियेति। सुखस्य संवित् संवेदनम् अनुभव इत्यर्थः मदः मद्यपान-जनितविकारविशेषः एवमादिभिः हेतुभिः क्रियासु कार्येषु विद्वेषः विरागः आलस्यम् १६१ अ

घरिणीति। गृहिणीघनस्तनप्रेक्षणसुखे निपतितस्य भविष्यत्पथिकस्य।

अपशकुनाङ्गारकवारविष्टिदिवसाः सुखयन्ति ॥ ६२ ॥

गृहिणीति। गृहिण्याः घनयोः निविडयोः कठिनयोरित्यर्थः स्तनयोः प्रेक्षणसुखे दर्शनानन्दे निपतितस्य निमग्नस्य भविष्यन् भावी पथिकः तस्य प्रवासोद्यतस्येति भावः अपशकुनाः अशुभशंसिन इत्यर्थः अङ्गारकवाराः कुजवाराः 'अङ्गारकः कुजो भौम' इत्यमरः। उपलक्षणमेतत्। यात्रायाम् अनिषिद्धदिवसविषये उक्तञ्च ज्योतिषे। शुक्रेन्दुबुधजीवानां वाराः सर्वत्र शोभनाः। भानुभूसुतमन्दानां शुभकर्मसु केष्वपीति। विष्टिदिवसा विष्टिभद्रादिनानि उक्तञ्च ज्योतिषे। शुक्ले पूर्वार्द्धोऽष्टमी पञ्चदशैर्भद्रैकादश्यां चतुर्थ्यां परार्द्धे। कृष्णेऽन्त्यार्द्धे स्यात् तृतीयादशम्योः पूर्वे भागे सप्तमी शम्भुतिथ्योः। स्वर्गे भद्रा

शुभं कार्यं पाताले धनागमः। मर्त्यलोके यदा भद्रा सर्वकार्यविनाशिनीति। सुखयन्ति सुखं जनयन्ति। अयात्रिके दिने प्रवासगमनस्य निषिद्धत्वात् प्रवासे अगमनमेवास्य सुखकरमिति भावः ॥ ६२ ॥

निद्रा व्यापारवैमुख्यमिन्द्रियाणां श्रमादिभिः ॥ १६१ ॥

तद्रूपेण रसस्यानुबन्धो यथा--

णिद्दालसघुण्णितं संवलिताद्धतारआलोआ।
कामस्सवि दुव्विसहा दिट्ठिणिवादा ससिमुहीए ॥ ६३ ॥

अत्र रतिश्रमजागरादिजनितनिद्रालसदृष्टिनिपातास्तारकाघूर्णनास्रचलनादिभिरनुबध्यन्ते ॥

(३१) निद्रा

श्रम आदि के कारण इन्द्रियों का क्रियाशीलता से मुख मोड़ना निद्रा है ॥ १६१ ॥

उस रूप से रस के अनुबन्ध का उदाहरण—

इस चन्द्रमुखी की निद्रा से अलसाई, घूर रही, तिरछी घूम रही तथा अर्ध दिखलाई पड़ रही नेत्र पुतलियों वाली निगाहों का पड़ना तो काम के लिये भी अत्यन्त असह्य है ॥ ६३ ॥

यहाँ रति, श्रम, जागरण आदि से उत्पन्न निद्रा के कारण अलसाई हुई निगाहों का पड़ना नेत्र पुतलियों के घूर्णन, तिर्यक्पात आदि से अनुबद्ध हैं।

निद्रां लक्षयति। निद्रेति। श्रमादिभिः हेतुभिः इन्द्रियाणां चक्षुरादीनां पञ्चानां हस्तपदादीनाञ्च ज्ञानकर्माङ्गानां व्यापारवैमुख्यं चेष्टाराहित्यं निद्रा स्वापः मेध्यामनसंयोगविशेष इति यावत् ॥ १६१ ॥

निद्रालसघूर्णितं संवलितार्द्धतारकालोकाः।
कामस्यापि दुर्विषहा दृष्टिनिपाताः शशिमुख्याः ॥ ६३ ॥

निद्रेति। शशिमुख्याः चन्द्रवदनायाः कान्ताया इति शेषः निद्रया उक्तरूपया अलसा व्यापारविमुखा घूर्णिता स्वतःभ्रान्ता संवलितार्द्धा सङ्कुचितार्द्धा या तारका कनीनिका तस्या आलोकः प्रभा प्रसर इति भावः येषु तथाविधाः दृष्टिनिपाताः दर्शनव्यापाराः अवलोकनविशेषा इति यावत् कामस्यापि मदनस्यापि किमुतापरेषां कामिनामित्यपि शब्दार्थः दुर्विषहाः सोढुमशक्या इत्यर्थः अतीव कामोद्दीपका इति ॥ ६३ ॥

निद्रादिजनितं सुप्तं बाह्येन्द्रियनिमीलनम् ॥ १६२ अ ॥

तद्रूपेण रसप्रकर्षो यथा--

आसुअइ दिण्णपडिवक्खवेअणं पसिढिलेहिं अंगेहिम्।
णिब्बत्तिअसुरदरसाणुबन्धसुहणिब्भरं सोण्हा ॥ ६४ ॥

अत्र निर्भरपदेनैव प्रकर्षः प्रतिपाद्यते ॥

(३२) सुप्त

निद्रा आदि के कारण इन्द्रिय आदि का संकुचित हो जाना सुप्त है ॥ १६२ अ ॥

उस रूप से रस के प्रकर्ष का उदाहरण—

अपने शिथिल शरीर के अवयवों से अपनी शत्रुभूता सपत्नियों को वेदना प्रदान करती हुई, सम्पन्न किये गये मैथुन जनित आनन्द की परम्परा से प्राप्त अतिशय सुख से भरी हुई पुत्रवधू खूब सो रही है ॥ ६४ ॥

यहाँ निर्भर पद से ही प्रकर्ष का प्रतिपादन होता है ।

सुप्तं लक्षयति । निद्रादीति । निद्रादिभिः जनितं उत्पादितं बाह्यानां बहिस्थितानां न तु अन्तरिन्द्रियाणां तदानीं तद्व्यापारस्थितेरिति भावः इन्द्रियाणां चक्षुरादीनां निमीलनं व्यापारविगम इत्यर्थः सुप्तम् । निद्रासुप्तयोः कारणकार्यरूपत्वात् परस्परभेदः ॥ १६२ अ ॥

आस्वपिति दत्तप्रतिपक्षवेदनं प्रशिथिलैरङ्गैः ।
निर्वर्त्तित-सुरतरसानुबन्ध-सुखनिर्भरं स्नुषा ॥ ६४ ॥

आसुअइ इति । स्नुषा पुत्रवधूः प्रशिथिलैः प्रकर्षेण शैथिल्यं गतैः अलसवलितैरिति यावत् अङ्गैः अवयवैः दत्ता जनिता प्रतिपक्षस्य शत्रोः सपत्न्या इति भावः वेदना कान्तेन अहं रमितेति ज्ञापना व्यथा वा यस्मिन् तत् तथा निर्वर्त्तितेन नितरां सम्पादितेन सुरत-रसानुबन्धेन निधुवनविलासपरम्परया यत् सुखं निरतिशयानन्दः तेन निर्भरम् अत्यन्तं यथा तथा आस्वपिति सम्यक् निद्राति ॥ ६४ ॥

निद्रापगमहेतुभ्यः प्रबोधश्चेतनागमः ॥ १६२ ॥

तद्रूपेण रसस्यानुबन्धो यथा—

प्रत्यग्रोन्मेषजिह्मा क्षणमनभिमुखो रत्नदीपप्रभाणाम्
आत्मव्यापारगुर्वी जनितजललवा जृम्भणैः साङ्गभङ्गैः ।
नागाङ्कं मोक्तुमिच्छोः शयनमुरुफणाचक्रवालोपधानम्
निद्राच्छेदाभिताम्रा चिरमवतु हरेर्दृष्टिराकेकरा वः ॥ ६५ ॥

अत्र दृष्टेः प्रत्यग्रोन्मेषजिह्मतादिभिः प्रबोधो न अद्यापि निष्पद्यत इति प्रतीयते ॥

(३३) प्रबोध

निद्रा को दूर करने वाले कारणों से चेतना का लौट आना प्रबोध है ॥ १६२ ॥

उस रूप से रस के अनुबन्ध का उदाहरण—

फणों के मण्डल रूप तकिया वाली, विशाल, शेषनाग की गोदरूप शय्या को छोड़ने के लिये इच्छुक विष्णु की सद्यः खुलने के कारण किञ्चित् वक्र, क्षण भर के लिये रत्नों से निकलने वाली प्रभा के सामने ठहरती हुई, अंगड़ाई के साथ जँभाइयों को लेने से उत्पन्न अश्रुबिन्दुवाली, अतः अपने व्यापार में अलस, निद्रा के भङ्ग होने के कारण किञ्चित् रक्तवर्ण वाली, अध खुली दृष्टि आपकी चिरकाल तक रक्षा करे ॥ ६५ ॥

यहाँ दृष्टि के अभिनव उन्मेष के कारण कुटिलता आदि लक्षणों के कारण "अभी भी प्रबोध पूरा नहीं हुआ" ऐसा प्रतीत होता है।

स्व० द०—यहाँ तक भोजराज ने संचारियों का पृथक्-पृथक् विवेचन करके यह स्पष्ट कर दिया कि इनकी अभिव्यक्ति से भी आनन्द लाभ होता है, किन्तु यह पूर्ण रसत्व की कोटि पर नहीं पहुँच पाता। अकेले किसी भी संचारी का वर्णन प्रकृष्ट आनन्द नहीं दे सकता, उसे प्रकर्ष के लिये अन्यों की भी आवश्यकता पड़ती है। कहीं कहीं यह अन्य भावों के साथ संसृष्ट होकर, संकरभाव से आकर, अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं कर पाते। कहीं-कहीं तो अन्य संचारियों की एक परम्परा ही बन जाती है। इससे भी एक संचारी विशेष गौण हो जाता है।

प्रबोधं लक्षयति निद्रेति। **निद्रायाः स्वापस्य अवगमः विरामः तस्य हेतवः कारणानि कालातिक्रमादय इति भावः तेभ्यः हेतुभ्यः चेतनायाः चैतन्यस्य आगमः उपस्थितिः प्रबोधः जागरणमित्यर्थः ॥ १६२ ॥**

प्रत्यग्रेति। **प्रत्यग्रेण अभिनवेन उन्मेषेण उन्मीलनेन जिह्मा सम्यक् सङ्कोचाविगमात् वक्रा क्षणं प्रत्यग्रोन्मेषक्षणे इत्यर्थः रत्नानि नागशिरोमणय एव दीपाः तेषां प्रभा आलोकाः तासाम् अनभिमुखी आभिमुख्ये स्थातुमक्षमेत्यर्थः आत्मनः व्यापारेण दीर्घकालिकनिद्रा-रूपेणेति भावः गुर्वी भारवती अङ्गानां हस्तपदादीनां भङ्गः प्रसारणादिव्यापारः तेन सह वर्त्तमानानि तैः जृम्भणैः मुखव्यादानादिविकृतिविशेषैः जनितः उत्पादितः जललवः अश्रुबिन्दुः यस्यां तथोक्ता निद्राच्छेदेन निद्राविरामेण अभिताम्रा अभितो रक्ता आकेकरा ईषत् कुटिला उरु महत फणानां चक्रवालं मण्डलं तदेव उपधानं शिरोरक्षणसाधनं शय्याङ्गविशेष इति भावः यस्मिन् तथोक्तं नागाङ्कम् अनन्तनागोत्सङ्गं नागाङ्गमिति पाठे अनन्तनागकलेवरं शयनं शय्यां मोक्तुं विहातुम् इच्छोः अभिलषतः हरेः नारायणस्य प्रलयानन्तरं प्रबुद्धस्येति भावः दृष्टिः अवलोकनं वः युष्मान् चिरं सततम् अवतु रक्षतु ॥ ६५ ॥**

उक्ता भावादिभेदेन तेऽमी रत्यादयो रसाः।
अथैतेष्वेव केषाञ्चिद्विशेषानभिदध्महे ॥ १६३ ॥

तत्र,

शृङ्गारवीरकरुणा रौद्राद्भुतभयानकाः।
बीभत्सहास्यप्रेयांसः शान्तोदात्तोद्धता रसाः ॥ १६४ ॥

(रस संख्या)

भाव आदि के भेद से ये रति आदि रस कहे गये। अब इन्हीं कुछ में से विशेषों को हम कह रहे हैं ॥ १६३ ॥ यहाँ—

(१) शृङ्गार (२) वीर (३) करुण (४) रौद्र (५) अद्भुत (६) भयानक (७) बीभत्स (८) हास्य (९) प्रेयान् (१०) शान्त (११) उदात्त (१२) उद्धत रस हैं ॥ १६४ ॥

स्व० द०—यहाँ भोज ने बारह रसों का उल्लेख किया है। यह संख्या तथा ये नाम दोनों ही परम्परा से कुछ भिन्न पड़ते हैं। आचार्य भरत ने महात्मा दुहिण का मत उद्धृत किया था और स्वयं भी माना था कि—

शृङ्गारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानकाः ।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ॥
एते ह्यष्टौ रसाः प्रोक्ताः दुर्हिणेन महात्मना ॥ ना० शा० ६।१ -६ ॥

नाट्यशास्त्र की कुछ प्रतियों में अन्य रसों की भांति 'शान्त' का भी उल्लेख है और कुछ में उसे प्रक्षिप्त समझ कर नहीं जोड़ा गया है। किन्तु भरत-सा ही मत धनञ्जय ने दशरूपक में व्यक्त किया है—उन्होंने सर्वप्रथम शान्त के स्थायी भाव को ही अस्वीकार कर दिया था—

शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य ॥ द० रू० ४।३५ ॥

आचार्य आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट आदि ने पुनः शान्त की स्थापना की। अन्ततः मम्मट का यह वाक्य एक प्रकार से सिद्धान्त बन गया—

'निर्वेदःस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः ॥' काव्यप्रकाश ४।३५

आचार्यों के मतानुसार सर्वप्रथम शान्तरस की स्थापना नाट्यशास्त्र के टीकाकार उद्भट ने अपने 'काव्यालंकारसंग्रह' नामक ग्रन्थ में की थी।

रुद्रट ने अपने 'काव्यालंकार' में इन रसों को स्वीकार किया है—

शृङ्गारवीरकरुणा बीभत्सभयानकाद्भुता हास्यः ।
रौद्रः शान्तः प्रेयानिति मन्तव्या रसाः सर्वे ॥ १२।३ ॥

वहीं उन्होंने मधुर रस की भी ओर संकेत किया है—

रसनाद्रसत्वमेषां मधुरादीनामिवोक्तमाचार्यैः ॥ वही १२।४ ॥

बाद में रूपगोस्वामी ने अपने 'भक्तिरसामृतसिन्धु' तथा 'उज्ज्वलनीलमणि' में भक्ति को भी रस माना है। वह अन्य देवताओं के प्रति भाव को तो 'भाव' ही मानते हैं, किन्तु कृष्णविषयक रति को भक्ति। इनकी इसी मान्यता के आधार पर वैष्णवों में मधुरभाव की विशेष महत्ता निरूपित हुई।

कुछ आचार्य जिनमें साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ कविराज प्रसिद्ध हैं, वात्सल्य को स्वतन्त्र रस स्वीकार करते है। किन्तु इनके स्वतन्त्र स्थायी भाव न होने से, इन्हें स्वतन्त्र रस के रूप में आचार्य स्वीकार नहीं करते। 'दशरूपक' में ही इनका अन्तर्भाव प्रारम्भ हो गया है—

प्रीतिभक्त्यादयो भावा मृगयाक्षादयो रसाः ।
हर्षोत्साहादिषु स्पष्टमन्तर्भावान्न कीर्तिताः ॥ ४।८३ ॥

पण्डितराज जगन्नाथ ने अपने रसगंगाधर के प्रथम आनन में ही भक्ति की रसरूपता को अस्वीकार कर दिया है।

आश्चर्य है कि भोज ने न तो भक्ति का ही रस रूप में विवेचन किया है और न स्थायी भावों के प्रकरण में पहले ही भरत आदि को मान्य आठ भावों के अतिरिक्त अन्य स्थायी भावों को ही स्वीकार किया है। शेष निरूपण यथावसर होते रहेंगे।

उक्ता इति। ते प्रसिद्धाः अमी उल्लिखिताः रत्यादयः आस्वादविशेषाः भावादिभेदेन उक्ताः कथिताः। अथ इदानीम् एतेषु रत्यादिभावेषु एव मध्ये केषाञ्चित् भावानामिति शेषः विशेषान् विलक्षणप्रकारान् अभिदधमहे कथयामः ॥ १६३-४ ॥

रतिर्निसर्गसंसर्गौपम्याध्यात्माभियोगजा ।
सम्प्रयोगाभिमानोत्था विषयोत्था च कथ्यते ॥ १६५ ॥
प्रीतिरप्येवमेव स्यान्नत्वस्यां साम्प्रयोगिकी ।
आभ्यासिकी तु तत्स्थाने तदुदाहृतयो यथा ॥ १६६ ॥

(१) रति और शृङ्गार

रति नैसर्गिकी, सांसर्गिकी, औपम्यवती, आध्यात्मिकी, आभियोगिकी, साम्प्रयोगिकी, आभिमानकी और वैषयिकी (आठ प्रकार की) होती है। प्रीति भी इसी प्रकार की हो, किन्तु इसमें साम्प्रयोगिकी नहीं होती है। इसमें उसके स्थान पर आभ्यासिकी होती है। उनके उदाहरण इस प्रकार हैं ॥ १६५-६ ॥

स्व० द०—यहाँ भोज ने रति को आठ प्रकार का बतलाया है। इन प्रकारों को ही प्रीति के भी साथ सम्बद्ध किया है। साम्प्रयोगिकी के स्थान पर आभ्यासिकी को मानने का कारण आगे उसी के विवेचन के समय स्पष्ट किया जायेगा।

मृतेति प्रेत्य सङ्क्रन्तुं यया मे मरणं मतम् ।
सैवावन्ती मया लब्धा कथमत्रैव जन्मनि ॥ ६६ ॥

अत्र स्थायिनो विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात् रसनिष्पत्तिरिति रतिरेव शृङ्गाररूपेण निष्पद्यते। अत्रावन्त्या वासवदत्ताया आलम्बनविभावभूतायाः सकाशात् उत्पन्नो वत्सेश्वरस्य रतिस्थायिभावस्तस्याः पुनर्जीवनादिभिः उद्दीपनविभावैः उद्दीप्यमानो मृतेत्यादिना वागारम्भानुभावेन अनुमीयमानैर्हर्षधृतिप्रभृतिभिः सुखात्मभिः व्यभिचारिभिः संसृज्यमानः करुणानन्तरसम्भोगशृङ्गाराख्यां लभते ॥ ६६ ॥

'वह मर गई' ऐसा समझ कर मैंने भी मर कर जिसके साथ जाने के लिये मरने की धारणा की थी, वही आवन्ती (वासवदत्ता) मुझे यहीं इसी जन्म में कैसे प्राप्त हो गई ? ॥ ६६ ॥

इस प्रकरण में 'स्थायी के विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी संयोग से रस की निष्पत्ति होती है" इस मान्यता के अनुसार रति ही शृङ्गार के रूप में निष्पन्न होती है। यहाँ आवन्ती वासवदत्ता के जो आलम्बन विभाव के स्थान पर है, पास से उत्पन्न हुआ, वत्सराज का रति नामक स्थायी भाव, उसके फिर से जी उठने आदि क्रियारूप उद्दीपन विभावों से उद्दीप्त होता हुआ, 'मृता' आदि वाचिक अनुभाव से तथा अनुमित हो रहे हर्ष, धृति आदि सुख संवेदनात्मक व्यभिचारियों से मिलता हुआ किन्तु करुण रस से अव्यवहित होता हुआ अथवा करुण के पश्चात् होने वाली संभोग शृङ्गार की संज्ञा को प्राप्त करता है।

रतिरिति। रतिः निसर्गसंसर्गौपम्याध्यात्माभियोगजा तथा सम्प्रयोगाभिमानोत्था विषयोत्था च नैसर्गिकी, सांसर्गिकी औपम्यवती अध्यात्मशालिनी आभियोगिकी साम्प्रयोगिकी आभिमानिकी वैषयिकी चेति अष्टधा कथ्यते इत्यर्थः। प्रीतिरपि एवमेव रतिवदेव स्यात् भवेत् अस्यां प्रीत्यान्तु साम्प्रयोगिकी प्रीतिरिति यावत् न भवतीति शेषः

तत्स्थाने तस्याः साम्प्रयोगिक्याः स्थाने तु आभ्यासिकी प्रीतिरिति शेषः भवति। तदुदाहृतयः तेषां शृङ्गारादीनाम् उदाहृतयः उदाहरणानि यथा यादृशानि तथा उच्यन्ते इति शेषः ॥ १६५-६ ॥

मृतेति। मृता पञ्चत्वं गता इति हेतोः प्रेत्य मृत्वा यया कान्तया सुभ्रुवा मे मम मरणं मतम् इष्टं कथमत्रैव जन्मनि सैव आवन्ती अवन्तिदेशसमुद्भवा कान्ता वासवदत्तेति भावः मया लब्धा प्राप्ता ॥ ६६ ॥

अत्र स्थायिन इत्यादि। स्थायिनः चिरं स्थितस्य न तु विच्छिन्नस्येति भावः रतिभावादेरिति भावः। आलम्बनविभावभूतायाः आलम्बनं नायिकादिस्तदालम्ब्य रसोद्गमादिस्युक्त लक्षणायाः ॥

अजित्वा सार्णवामुर्वीमनिष्ट्वा विविधैर्मखैः।
अदत्त्वा चार्थमर्थिभ्यो भवेयं पार्थिवः कथम् ॥ ६७ ॥

अत्र वसुधाविजयादेरालम्बनविभावादुत्पन्नः स्थाय्युत्साहभावः स्थैर्यधैर्यादिभिः उद्दीप्यमानः समुत्पन्नेषु वागारम्भानुमीयमानेषु स्मृतिमतिवितर्कादिषु निष्पन्नो वीररससंज्ञया व्यवह्रियते ॥

(२) वीररस

सागरपर्यन्त पृथ्वी को जीते विना, अनेक प्रकार के यज्ञों को विना किये, और याचकों को धन प्रदान किये बिना राजा कैसे हो सकते हैं ॥ ६७ ॥

यहाँ पृथ्वी-जय आदि आलम्बन विभाव से उत्पन्न उत्साह नामक स्थायी भाव, स्थैर्य, धैर्य आदि उद्दीपन विभावों से उद्दीप्त होकर उत्पन्न हो गये वाचिक कृत्यों से अनुमित स्मृति, मति, वितर्क आदि में व्यक्त होकर वीर रस के नाम से व्यवहृत होता है।

स्व० द०—वीररस के विषय में रुद्रट का कथन है कि—

नयविनयबलपराक्रमगाम्भीर्यौदार्यशौटीर्यैः।
युक्तोऽनुरक्तलोको निर्व्यूढभरो महारम्भः ॥ काव्यालंकार १५।२ ॥

अजित्वेति। सार्णवां ससागराम् उर्वीं पृथ्वीम् अजित्वा अवशीकृत्येत्यर्थः विविधैः बहुप्रकारैः मखैः यज्ञैः अश्वमेधादिभिः अनिष्ट्वा देवान् अनभ्यर्च्येत्यर्थः तथा अर्थिभ्यः याचकेभ्यः अर्थं धनं तेषामभिलषितमिति भावः अदत्त्वा अवितीर्य कथं केन रूपेण पार्थिवः राजा भवेयम् ? राजकर्त्तव्यानाम् उक्तानामकरणे राजत्वं विफलमिति भावः ॥ ६७ ॥

यस्याः कुसुमशय्यापि कोमलाङ्ग्या रुजाकरी।
साऽधिशेते कथं देवी हुताशनवतीं चिताम् ॥ ६८ ॥

अत्र चालम्बनविभावभूतदेवीमरणादुत्पन्नः शोकस्थायिभावश्चितानिवेशनहुताशनाङ्गज्वालादिभिः उद्दीपनविभावैः उद्दीप्यमानो वागारम्भानुमेयैः निर्वेदग्लानिवैवर्ण्यादिभिः व्यभिचारिभिः संसृज्यमानः करुण इति ज्ञायते ॥

(३) करुण रस

जिस कोमलाङ्गी के लिये फूलों की सेज भी कष्ट कर होती थी, वही देवी आज इस अग्नि से दीप्त चिता पर कैसे सो रही है ॥ ६८ ॥

यहाँ आलम्बन विभाव देवी के मरण से शोक नामक स्थायी भाव उत्पन्न हुआ है, चिता पर रखना तथा अग्नि से अङ्गों का जलना आदि उद्दीपन विभावों से उद्दीप्त होता है, और वाचिक क्रियाओं से अनुमित हो रहे निर्वेद, ग्लानि, विवर्णता आदि संचारियों से मिल कर करुण रस प्रतीत होता है।

स्व० द०—इसके विषय में रुद्रट के मत इस प्रकार हैं—

करुणः शोकप्रकृतिः शोकश्च भवेद्विपत्तितः प्राप्तेः ।
इष्टस्यानिष्टस्य च विधिविहतो नायकस्तत्र ॥
अच्छिन्ननयनसलिलप्रलापवैवर्ण्यमोहनिर्वेदाः ।
क्षितिचेष्टनपरिदेवनविधिनिन्दाश्चेति करुणे स्युः ॥ काव्यालंकार १५।३-४

यस्या इति यस्याः कोमलाङ्ग्याः सुकुमारावयवायाः कामिन्या इति शेषः कुसुमशय्यापि पुष्पशयनमपि रुजाकरी सन्तापविधायिनी, सा देवी कथं केन प्रकारेण हुताशनवतीं ज्वलन्तीमित्यर्थः चिताम् अधिशेते ॥ ६८ ॥

निगृह्य केशेष्वाकृष्टा कृष्णा येन ममाग्रतः ।
सोऽयं दुःशासनः पापो लब्धः किं जीवति क्षणम् ? ॥ ६९ ॥

अत्र दुःशासनालम्बनविभावाय क्रुध्यतो भीमसेनस्य पूर्वमुत्पन्नः क्रोधस्थायिभावः तदवाप्तेः स्मर्यमाणसमक्षकृतद्रौपदीनिग्रहकेशाकर्षणादिभिः उद्दीपनविभावैः उद्दीप्यमानः समुत्पन्नेषु वागारम्भानुभावेषु अनुमीयमानेषु असूयावेपथुश्रमादिषु दुःखात्मकेषु व्यभिचारिषु निष्पद्यमानो रौद्र इति निष्पद्यते ॥ २५६ ॥

(४) रौद्ररस

मेरे सामने ही जिसने केश पकड़ कर द्रौपदी को खींचा था, वही यह पापी दुःशासन मिल गया है, अब क्या यह एक भी क्षण जीवित है ? ॥ ६९ ॥

यहाँ दुःशासन रूप आलम्बन पर क्रुद्ध हो रहे भीमसेन का पूर्व उत्पन्न क्रोध ही स्थायिभाव है। वह दुःशासन के मिलने से याद आ रही सामने ही द्रौपदी को पकड़ना, खींचना आदि क्रिया-रूप उद्दीपन विभावों से उद्दीप्त होता हुआ, उत्पन्न हुये वाचिक कृत्यों से अनुमित असूया, आवेग, वेपथु, श्रम आदि दुःखात्मक व्यभिचारियों में निष्पन्न हो रहा रौद्र रस व्यक्त होता है।

स्व० द०—धनञ्जय ने अपने दशरूपक में रौद्र का स्पष्टीकरण इन शब्दों में किया है—

क्रोधो मत्सरवैरिवैकृतमयैः पोषोऽस्य रौद्रोऽनुजः,
क्षोभःस्वाधरदंशकम्पभ्रुकुटिस्वेदास्यरागैर्युतः ।
शस्त्रोल्लासविकत्थनांसधरणीघातप्रतिज्ञाग्रहैः
अत्रामर्षमदौ स्मृतिश्चपलतासूयौग्र्यवेगादयः ॥ ४।७४ ॥

निगृह्येति । **येन मम अग्रतः समक्षं कृष्णा द्रौपदी निगृह्य निग्रहं कृत्वा बलमाश्रित्येति भावः केशेषु आकृष्टा आकृष्य सभां नीतेत्यर्थः सोऽयं पापः दुराचारः दुःशासनः लब्धः प्राप्तः मयेति शेषः किं क्षणं जीवति ? नैव क्षणमपि जीवतीत्यर्थः ॥ ६९ ॥**

अंशुकानि प्रवालानि पुष्पं हारादिभूषणम् ।
फलं मधूनि हर्म्याणि शाखा नन्दनशाखिनाम् ॥ ७० ॥

अत्र शाखिनां प्रवालपुष्पफलशाखासम्पन्नं निजं रूपम् । नन्दनशाखिनां पुनः प्रवालादिस्थाने अंशुकहारमधुमन्दिराणि तदेतदाश्चर्यमतश्चैतेभ्य आलम्बनविभावेभ्यः कस्यचिद् देवभूयंगतस्य* समुत्पन्नो विस्मयस्थायिभावः तदीयावयवदर्शनादिभिः उद्दीपनविभावैः उद्दीप्यमानः समुत्पन्नेषु वागारम्भानुमेयेषु हर्षरोमोद्गममस्वेदगद्गदादिषु व्यभिचारिषु निष्पद्यमानोऽद्भुत इत्युच्यते ॥

(५) अद्भुतरस

स्वर्ग के वृक्षों के पल्लव ये वस्त्र हैं, ये हार आदि अलंकार पुष्प हैं, मधु (आदि) फल हैं तथा (धनिकों के) सुन्दर भवन शाखायें हैं ॥ ७० ॥

यहाँ वृक्षों का पत्र, पुष्प, फल तथा शाखा से संयुक्त अपना रूप है । किन्तु नन्दन वन के वृक्षों के प्रवाल आदि के स्थान पर अंशुक, हार, मधु तथा मन्दिर हैं, यही आश्चर्य की बात है । अतः इन आलम्बन विभावों के कारण देवत्व को प्राप्त किसी व्यक्ति का विस्मय नाम का स्थायी भाव उत्पन्न होता है । उसके अङ्गों के दर्शन आदि उद्दीपन विभावों से उद्दीप्त होता हुआ (वह विस्मय) उत्पन्न हुये वाचिक कर्मों से अनुमित हो रहे हर्ष, स्वेद, रोमाञ्च, गद्गद आदि व्यभिचारियों में निष्पन्न हो रहा अद्भुत रस कहा जाता है ।

स्व० द०—भरत के शब्दों में—

कर्मातिशयनिर्वृत्तो विस्मयो हर्षसम्भवः ।
सिद्धिस्थाने त्वसौ साध्यो प्रहर्षपुलकादिभिः ॥ ना० शा० ७।२७ ॥

अंशुकानीति । **नन्दनशाखिनां नन्दनं देवोद्यानं तत्र ये शाखिनः वृक्षा तेषां प्रवालानि पल्लवाः अंशुकानि वसनानि पुष्पं हारादि भूषणम् अलङ्कारः फलं मधूनि मधुमयानीत्यर्थः शाखाः विटपाः हर्म्याणि धनिजननिवासाः ॥**

देवभूयङ्गतस्य देवत्वं प्राप्तस्य ॥

इदं मघोनः कुलिशं धारासन्निहितानलम् ।
स्मरणं यस्य दैत्यस्त्रीगर्भपाताय कल्पते ॥ ७१ ॥

अत्र महेन्द्रकुलिशात् धारासन्निहितानलादालम्बनविभावात् स्मर्यमाणादपि दैत्यस्त्रीणामुत्पन्नो भयस्थायिभावः तद्विदीर्णदानवमरणस्मरणादिभिः उद्दीपनविभावैः उद्दीप्यमानः स्वगर्भपातादिभिः अनुभावैः तदनुमितैश्च स्वेदस्तम्भवेपथुप्रभृतिभिः व्यभिचारिभिः संसृज्यमानो भयानकरसरूपेण निष्पन्नः केनचिदाख्यायमानोऽपि भयानक इति आख्यायते॥२५८॥

(६) भयानक

सभी ओर की धारों में विद्यमान अग्नि वाला यह इन्द्र का वज्र है जिसके स्मरण मात्र से दैत्यों की स्त्रियों का गर्भपात हो जाया करता है ॥ ७१ ॥

यहाँ इन्द्र के 'धारासन्निहितानल' वज्र रूप आलम्बन विभाव के केवल याद भर आने से दैत्यों की स्त्रियों का उत्पन्न स्थायी भाव, उसके द्वारा विदीर्ण किये जाने से दानवों के मरण के स्मरण आदि उद्दीपन विभावों से उद्दीप्त होकर तथा अपने गर्भपात आदि अनुभावों से तथा उनके कारण अनुमित स्वेद, स्तम्भ, वेपथु आदि व्यभिचारियों से मिल कर भयानक रस के रूप में निष्पन्न होता हुआ किसी के द्वारा कहा जाने पर भी भयानक ही कहा जाता है।

स्व० द०—भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में भयानक से सम्बद्ध यह श्लोक भी उद्धृत किया है—

गुरुराजापराधेन रौद्राणां चापि दर्शनात्।
श्रवणादपि घोराणां भयं मोहेन जायते ॥ ७।२२ ॥[1]

इदमिति। **मघोनः इन्द्रस्य इदं परिदृश्यमानं कुलिशं वज्रं धारासु सर्वतः प्रान्तभागेषु सन्निहितः संस्थितः अनलः अग्निः यस्य तथाभूतम् यस्य कुलिशस्य स्मरणं दैत्यस्त्रीणां दितिजरमणीनां गर्भपाताय गर्भस्रावाय कल्पते प्रभवति ॥ २५८ ॥**

पायं पायं तवारीणां शोणितं करसम्पुटैः।
कौणपाः सह नृत्यन्ति कबन्धैरन्त्रभूषणाः ॥ ७२ ॥

अत्र आलम्बनविभावभूतेभ्यः कौणपेभ्यः कस्यचिद् रिपुविजयाशंसिनः पुंसः उत्पन्नो जुगुप्सास्थायिभावः शिरश्छेदविगलद्रुधिरधारापरिप्लुतप्रनर्त्तितकबन्धकौणपान्त्रभूषणशोणितपानादिभिः उद्दीपनविभावैः उद्दीप्यमानः समुत्पन्नेषु वागारम्भानुमेयेषु भयावेशशङ्काऽवहित्थादिषु व्यभिचारिषु निष्पन्नो बीभत्स इति निगद्यते ॥

(७) बीभत्स रस

आपके शत्रुओं का रक्त अपनी अञ्जलि से पी-पी कर राक्षसगण आँतों का आभूषण पहने धड़ों के साथ नाच रहे हैं ॥ ७२ ॥

यहाँ आलम्बन विभाव के रूप में आये राक्षसों से किसी शत्रु विजय की प्रशंसा करने वाले मनुष्य का उत्पन्न जुगुप्सा नाम का स्थायी भाव, शिर काट देने से बह रही रक्त की धारा से

---

१. रौद्र रस के विषय में शेष पीछे द्रष्टव्य—

भरत ने कहा है कि यह रस राक्षस, दानव आदि के द्वारा सरलतापूर्वक निष्पन्न हो जाता है—"अथ रौद्रो नाम क्रोधस्थायिभावात्मकः रक्षोदानवोद्धतमनुष्यप्रभवः संग्रामहेतुकः।...अत्राह यदभिहितं राक्षसदानवादीनां रौद्रो रसः, किमन्येषां नास्तीत्युच्यते। अस्त्यन्येषामपि रौद्रः। किञ्चाधिकारोऽत्र गृह्यते। ते हि स्वभावत एव रौद्राः। कस्मात्—बहुबाहवो बहुमुखाः प्रोद्धतविकीर्णपिङ्गलशिरोजाः रक्तोदवृत्तविलोचना भीमासितरूपिणश्चैव। यच्च किञ्चित् समारभन्ते स्वभावचेष्टितं वागङ्गादिकं वा तत्सर्वं रौद्रमेवेति। शृङ्गारश्च तैः प्रायशः प्रसभं सेव्यते। तेषां चानुकारिणो ये पुरुषास्तेषामपि संग्रामसंप्रहारकृतो रौद्ररसोऽनुमन्तव्यः।" ना० शा० ६ अध्याय पृ० ८४–८८

लथपथ नाच रहे कबन्धों, राक्षसों, आँतों के आभूषण, रक्तपान आदि उद्दीपन विभावों से उद्दीप्त होकर उत्पन्न हुये वाचिक कृत्यों से प्रतीत किये जाने वाले भय, आवेश, शङ्का, अवहित्था आदि व्यभिचारियों के होने पर निष्पन्न होने वाला रस बीभत्स कहा जाता है।

स्व० द०—बीभत्स के विषय में भरत के ये शब्द दर्शनीय हैं—

अनभिमतदर्शनेन च रसगन्धस्पर्शशब्ददोषैश्च ।
उद्वेजनैश्च बहुभिर्बीभत्सरसः समुद्भवति ॥ ना० शा० ६।७३ ॥

पायमिति। कौणपाः राक्षसाः 'राक्षसः कौणपः क्रव्यादित्यमरः' तव अरीणां शत्रूणां शोणितं रक्तं करसम्पुटैः अञ्जलिभिरित्यर्थः पायं पायं पुनः पुनः पीत्वा अन्त्राणि उदरवर्त्तिन्यः नाड्यः भूषणानि हारादयः येषां तैः कबन्धैः अशिरःकलेवरैः 'कबन्धोऽस्त्री क्रियायुक्तमपमूर्द्धकलेवर'मित्यमरः। सह नृत्यन्ति नृत्यं कुर्वन्ति ॥ ७२ ॥

इदमम्लायमानाया लग्नं स्तनतटे तव ।
छाद्यतामुत्तरीयेण नवं नखपदं सखि ! ॥ ७३ ॥

अत्र काञ्चित् सखीं पूर्वं भर्त्तरि प्रगृहीतमानां तेनैव नवनखपदाङ्कित-स्तनीम् आलम्बनविभावभूताम् उपलभमानायाः कस्याश्चित् सख्या उत्पन्नो हासस्थायिभावः तदीयमानपरिग्रहस्मरणादिभिः उद्दीपनविभावैः उद्दीप्यमानः समुत्पन्नेषु वागारम्भानुमितेषु शङ्कावहित्थगद्गदादिव्यभिचारिषु निष्पाद्यमानो हास्यशब्देन अभिधीयते ॥

(८) हास्यरस

(गुरुजनों की उपस्थिति में भी) ग्लानि का अनुभव न कर रही हे सखि, अपने स्तन-तटों पर लगे हुये इस नवीन नखक्षत को उत्तरीय से ढक तो लो ॥ ७३ ॥

यहाँ किसी सखी को जो पहले अपने पति से मान कर बैठी थी उसी के द्वारा स्तनों पर नखक्षत से चिह्नित हो गई। उसी को आलम्बन बना कर किसी सखी का हास नामक स्थायी भाव उत्पन्न होता है, उसके मानग्रहण आदि के स्मृति आदि उद्दीपन विभावों से उद्दीप्त होता है, वही उत्पन्न हुये वाचिक कृत्यों से अनुमित हो रहे शङ्का, अवहित्था, गद्गद आदि व्यभिचारियों के होने पर निष्पन्न हो रहा भाव हास्य शब्द से अभिहित होता है।

स्व० द०—धनञ्जय ने अत्यन्त संक्षेप में हास्य का निरूपण किया है—

विकृताकृतिवाग्वेषैरात्मनोऽथ परस्य वा ।
हासः स्यात्परिपोषोऽस्य हास्यस्त्रिप्रकृतिः स्मृतः ॥ दशरूपक ४।५७ ॥

इदमिति। हे सखि ! अम्लायमानायाः गुरुजनादिदर्शनेनापि अलज्जमानाया इति भावः तव स्तनतटे लग्नं स्थितं इदं नवं सद्यः सम्भोगजातमिति भावः नखपदं प्रियतमनखाघातचिह्नम् उत्तरीयेन उत्तरासङ्गेन वसनेन छाद्यतां गोप्यताम् ॥ ७३ ॥

यदेव रोचते मह्यं तदेव कुरुते प्रिया ।
इति वेति न जानाति यत् प्रियं तत् करोति सा ॥ ७४ ॥

अत्र वत्सलप्रकृतेर्धीरतया ललितनायकस्य प्रियानुभावादुत्पन्नः स्नेह-स्थायिभावो विषयसौकुमार्यात्मप्रकृत्यादिभिः उद्दीपनविभावैः उद्दीप्य-मानः समुपजायमानैः मोहमतिधृतिस्मृत्यादिभिः व्यभिचारिभावैः अनु-भावैश्च प्रशंसादिभि. ससृज्यमानो निष्पन्नः प्रेयानिति प्रतीयते। रतिप्रीत्यो-रपि चायमेव मूलप्रकृतिः इष्यते ॥

(९) प्रेयान् रस

जो कुछ भी मुझे पसन्द है मेरी प्रेयसी वही करती है। वह ऐसा नहीं जानती कि मेरा प्रिय क्या है, किन्तु जो प्रिय समझती है वह करती है ॥ ७४ ॥

यहाँ वत्सल प्रकृति वाले ललित नायक की धीरता के कारण प्रिया रूप आलम्बन विभाव से उत्पन्न स्नेह स्थायी भाव विषय की सुकुमारता तथा अपनी प्रकृति आदि उद्दीपन विभावों से दीप्त होता हुआ उत्पन्न हो रहे मोह, धृति, स्मृति आदि व्यभिचारी भाव तथा अनुभावों से मिला कर बना हुआ प्रेयान् नाम का रस प्रतीत होता है। रति और प्रीति दोनों की भी यही मूल प्रकृति अभीष्ट है।

स्व० द०—भरत, धनञ्जय आदि ने 'प्रेयान्' को रस नहीं माना है। केवल रुद्रट ही प्राचीन आलंकारिकों में ऐसे हैं जो इसको मानते हैं। उनके अनुसार सारी अपेक्षित बातें ये हैं—

स्नेहप्रकृतिः प्रेयान् संगतशीलार्यनायको भवति।
स्नेहस्तु साहचर्यात् प्रकृतेरुपचारसंबन्धात् ॥
निर्व्याजमनोवृत्तिः सनर्मसद्भावपेशलालापाः।
अन्योन्यं प्रति सुहृदोर्व्यवहारोऽयं मतस्तत्र ॥
प्रस्यन्दिप्रमदाश्रुः सुस्निग्धस्फारलोचनालोकः।
आर्द्रान्तःकरणतया स्नेहपदे भवति सर्वत्र ॥ काव्यालंकार १५।१७-१९ ॥

यदेवेति। मह्यं यदेव रोचते स्वदते प्रिया तदेव कुरुते। इति वा इति प्रियमिति शेषः न जानाति नावबुध्यते किन्तु यत्प्रियं ममेति शेषः सा प्रिया तत् करोति। वेत्तीति पाठः प्रामादिक इति बोध्यम् ॥

अहेतुः पक्षपातो यस्तस्य नास्ति प्रतिक्रिया।
स हि स्नेहात्मकस्तन्तुरन्तर्ममाणि सीव्यति ॥१६७॥

सर्वाः सम्पत्तयस्तस्य सन्तुष्टं यस्य मानसम्।
उपानद्गूढपादस्य ननु चर्मावृतैव भूः ॥ ७५ ॥

अत्र कस्यचिदुपशान्तप्रकृतेः धीरप्रशान्तनायकस्य यथोपनतमनोऽनु-कूलदारादिसम्पत्तेः आलम्बनविभावभूतायाः समुत्पन्नो धृतिस्थायिभावो वस्तुतत्त्वालोचनादिभिः उद्दीपनविभावैः उद्दीप्यमानः समुपजायमानस्मृति-मत्यादिभिः व्यभिचारिभावैः वागारम्भादिभिः अनुषज्यमानो निष्पन्नः शान्त इति गीयते ॥ अन्ये पुनः अस्य शमं प्रकृतिम् आमनन्ति। स तु धृतेरेव विशेषो भवति ॥

(१७) शान्त रस

जो निष्कारण होने वाला प्रेम है उसका प्रतिकार नहीं है। वही एक स्नेहमय सूत्र है जो (दोनों के) भीतरी हृदयों को परस्पर सी देता है ॥ १६७ ॥

जिसका मस्तिष्क संतुष्ट है, उसकी तो सभी ही सम्पत्तियाँ हैं। जूते से ढके हुये चरणों वाले के लिये तो समस्त पृथ्वी ही मानो चमड़े से ढकी है ॥

यहाँ किसी शान्त प्रकृति वाले धीरशान्त नायक की आलम्बन विभाव भूत विधिवत् मन के अनुसार काम करनेवाले स्त्री आदि तथा सम्पत्ति से धृति नामक स्थायी भाव उत्पन्न होता है, वस्तुओं के तत्त्वों की आलोचना आदि उद्दीपन विभावों से उद्दीप्त होती है। वही उत्पन्न हो रही स्मृति आदि व्यभिचारी भावों तथा वाचिक कृत्यों के प्रारम्भ से अनुपक्त होकर व्यक्त हो रहा रस 'शान्त' नाम से गाया जाता है। दूसरे लोग इसका मूल 'शम' को मानते हैं, किन्तु वह तो धृति का ही एक विशिष्ट रूप है।

स्व० द०—रुद्रट ने शान्तरस का स्थायीभाव 'शान्त'—शम-को ही माना है। उनके मतानुसार—

सम्यग्ज्ञानप्रकृतिः शान्तो विगतेच्छनायको भवति।
सम्यग्ज्ञानं विषये तमसो रागस्य चापगमात् ॥
जन्मजरामरणादित्रासो वैरस्यवासनाविषये।
सुखदुःखयोरनिच्छाद्वेषाविति तत्र जायन्ते ॥
काव्यालंकार १५।१५-१६ ॥

इस 'शम' को आनन्दवर्धन, अभिनव, मम्मट आदि ने 'निर्वेद' कहा है अर्थात् शान्त के स्थायी के स्थान पर 'निर्वेद' को माना है। धनञ्जय ने अवश्य ही इसे 'शम' नाम से ही स्मरण किया है—

"शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य।" दशरूपक ४।३५ ॥

रतिप्रीत्योरिति। अयमेव प्रेयानेव मूलप्रकृतिः आदिकारणम् इष्यते। यत् यतः इत्थं एवम्प्रकारम् आहुः कथयन्ति बुधा इति शेषः। अहेतुरिति यः अहेतुः हेतुं विनोत्पन्न इत्यर्थः पक्षपातः स्नेहः, तस्य प्रतिक्रिया प्रतीकारः परिहारकारणमित्यर्थः नास्ति नासौ परिहर्त्तुं शक्यते इत्यर्थः। हि यतः सः स्नेहात्मकः स्नेहमयः तन्तुः सूत्रम् अन्तर्मर्माणि उभयोः अन्तरिन्द्रियाणि इत्यर्थः सीव्यति बध्नाति दृढं संयोजयतीत्यर्थः ॥ १६७ ॥

सर्वा इति। यस्य मानसं सन्तुष्टं सुतृप्तं तस्य सर्वाः सम्पत्तयः सम्पदः सुखोपाया इत्यर्थः हस्तगता इति भावः भवन्तीति शेषः। ननु तथाहि उपानद्भ्यां चर्मपादुकाभ्यां गूढौ आवृतौ पादौ यस्य तथाविधस्य जनस्य सम्बन्धिनी भू पृथिवी चर्मावृतैव चर्माच्छादितैव। तस्य भूस्पर्शाभावादित्यर्थः ॥ ७६ ॥

साधारण्यान्निरातङ्कः कन्यामन्योऽपि याचते।
किम्पुनर्जगतां जेता प्रपौत्रः परमेष्ठिनः ॥ ७६ ॥

अत्र रामस्य उदात्तप्रकृतेर्निसर्गत एव तत्त्वाभिनिवेशिनीमतिर्नाकृत्यविषये प्रवर्त्तते। न च प्रवृत्ता उपरमति। सा च सीतेयं मम स्वीकारयोग्ये-

त्येवं रूपेण प्रवृत्ता रावणप्रार्थना-लक्ष्मणप्रोत्साहनाभ्यामुद्दीप्यमाना समुपजायमानचिन्तावितर्कव्रीडाऽवहित्थस्मृत्यादिभिः कालोचितोत्तरानुमीयमानैश्च विवेकचातुर्यौदार्यधैर्यादिभिः संसृज्यमाना उदात्तरसरूपेण निष्पद्यते ॥

(११)

सामान्यजन सुलभ होने के कारण कोई भी व्यक्ति निर्भय रूप से कन्या की कामना करता है, फिर भला ब्रह्मा का प्रपौत्र समस्त लोकों का विजेता 'रावण' क्यों न चाहे ॥ ७६ ॥

यहाँ उदात्त स्वभाव वाले राम की स्वभावतः तत्त्व में सन्निविष्ट रहने वाली मति अकरणीय कर्म में नहीं प्रवृत्त होती है, और जहाँ प्रवृत्त हो जाती है वहाँ रुकती नहीं (यही प्रतिपादित है ।) यह मति "यह सीता मेरे ग्रहण करने के योग्य है" इस रूप में उत्पन्न होती है, रावण की प्रार्थना तथा लक्ष्मण के प्रोत्साहन से उद्दीप्त होती है तथा उत्पन्न हो रही चिन्ता, वितर्क, व्रीडा, अवहित्था, स्मृति आदि तथा समय के अनुसार बाद में अनुमित हो रहे विवेक, चातुर्य, औदार्य, धैर्य आदि के साथ मिलकर उदात्त रस के रूप में निष्पन्न होती है ।

साधारण्यादिति । **अन्योऽपि सामान्यजनोऽपि साधारण्यात् साधारणजनानां लब्धुं योग्यत्वात् निरातङ्कः निर्भयः कन्यां कुमारीम् अनूढामित्यर्थः याचते प्रार्थयते, जगतां भुवनानां जेता विजयी परमेष्ठिनः ब्रह्मणः प्रपौत्रः रावणः किं पुनः ? किं वक्तव्य इत्यर्थः विश्वविजेतृत्वेन महावीरो ब्रह्मकुलोत्पन्नत्वेन महाकुलीनश्चेति असाधारण्येऽयमवश्यमेवास्याः कन्यायाः परिणयनयोग्य इत्यत्र किं वक्तव्यमस्तीति भावः । ब्रह्मणः पुत्रः पुलस्त्यः तस्य पुत्रः विश्रवाः तस्य पुत्रो रावण इति परमेष्ठिप्रपौत्रत्वमस्येत्यनुसन्धेयम् ॥**

अपकर्त्ताऽहमस्मीति मा ते मनसि भूद्भयम् ।
विमुखेषु न मे खड्गः प्रहर्त्तुं जातु वाञ्छति ॥ ७७ ॥

अत्र मयाऽस्यापकारः कृत इति यत्ते चेतसि भयं तन्मा भूत् । न मम खड्गः पराङ्मुखेषु कदाचिदपि प्रहर्त्तुमुत्सहत इति सर्वदैव रूढाहङ्कारः प्रतीयते । सोऽयङ्गर्वप्रकृतिरुद्धतो नाम रसः । केचित् पुनः ।

आस्थामालम्ब्य नीतेषु वशं क्षुद्रेष्वरातिषु ।
व्यक्तिमायाति महतां माहात्म्यमनुकम्पया ॥ ७८ ॥

इत्येवमूर्जस्वीत्युदात्तपक्षे निक्षिपन्तः पूर्वोक्तमेव गर्वप्रकर्षोदाहरणम् । धृतायुधो यावदहमित्यादि उद्धतनिष्पत्तौ वर्णयन्ति ॥

(१२) उद्धत रस

तुम्हारे मन में यह शङ्का नहीं होनी चाहिये कि मैं तुम्हारा अपहरण करने वाला हूँ । रणविमुख लोगों पर मेरी तलवार प्रहार करना नहीं चाहती ॥ ७८ ॥

यहाँ पर "मैंने इसका अपकार किया है" इस प्रकार का जो भय मन में है, उसे निकाल दो । पराङ्मुख लोगों पर मेरी तलवार कभी भी प्रहार करने के लिये उत्साहित नहीं होती ।"

इस प्रकार का सर्वदा ही रूढ़ रहने वाला अहंकार प्रतीत होता है। अतः यह गर्वमूलक उद्धत नाम का रस है। किन्तु कुछ लोग—

प्रयत्न का आश्रय लेकर वश में आये हुये क्षुद्र शत्रुओं पर दया करने वाला महान् लोगों के महत्त्व को स्पष्ट ही प्राप्त कर लेता है ॥ ७८ ॥

इस प्रकार से यहाँ जो ऊर्जस्वी है उसे उदात्त के पक्ष में डालते हुये पूर्वकथित गर्वप्रकर्ष के उदाहरण 'धृतायुधो यावदहम्'—जब तक मैं शस्त्र धारण किये हूँ—इत्यादि को उद्धत की निष्पत्ति में ही वर्णन करते हैं।

स्व० द० —'ऊर्जस्वी' को भोज उदात्त में ही समाविष्ट कर देते हैं। अब आगे उन विशिष्ट रसों के विभिन्न भेदों का उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

अपकर्त्तेति। अहम् अपकर्त्ता अहितकारी अस्मि इति बुद्ध्येति शेषः ते तव मनसि भयं मत्त इति शेषः माभूत न भवतु। मे मम खड्गः असिः विमुखेषु पराङ्मुखेषु भीतेष्वित्यर्थः प्रहर्त्तुं प्रहारं कर्त्तुं जातु कदाचित् न वाञ्छति नेच्छति ॥

अत्रेति। रूढाहङ्कारः प्रकटाहङ्कारः।

आस्थामिति। आस्थां यत्नं प्रयासमित्यर्थः आलम्ब्य आश्रित्य वशम् अधीनतां नीतेषु क्षुद्रेषु हीनेषु अरातिषु शत्रुषु अनुकम्पया कृपया महतां महात्म्यं व्यक्तिं प्रकटताम् आयाति प्राप्नोति ॥

रतिविशेषेषु नैसर्गिकी यथा—

इयं महेन्द्रप्रभृतीनधिश्रियश्चतुर्दिगीशानवमत्य मानिनी।
अरूपहार्यं मदनस्य निग्रहात् पिनाकपाणिं पतिमाप्तुमिच्छति ॥७९॥
अत्र जन्मान्तरवासनया निसर्गत इयं भवति ॥

(१) नैसर्गिकी रति का उदाहरण—

यह दृढ़प्रतिज्ञ पार्वती अधिक समृद्ध चारों दिशाओं के स्वामियों, इन्द्र आदि का तिरस्कार करके काम को जला देने के कारण रूप द्वारा वश में न किये जा सकने वाले भगवान् शिव को पति रूप में प्राप्त करना चाहती है ॥ ७९ ॥

यहाँ दूसरे जन्म के संस्कार के कारण यह स्वभाव से होता है। ऐसा प्रदर्शित किया गया है।

रतिविशेषेषु इति। नैसर्गिकी स्वाभाविकीत्यर्थः।

इयमिति। इयं मानिनी मनस्विनी अधिश्रियः अधिकसमृद्धान् चतसृणां दिशाम् अधीशान् इन्द्रयमवरुणकुबेरानित्यर्थः अवमत्य अवज्ञाय मदनस्य कामस्य निग्रहात् दहनादित्यर्थः। अरूपहार्यं रूपेण सौन्दर्येण हर्त्तुमशक्यं पिनाकम् अजगवं धनुः पाणौ यस्य तथाविधं हरमित्यर्थः पतिं भर्त्तारम् आप्तुं लब्धुम् इच्छति। अत्रेति जन्मान्तरवासनया पूर्वजननसंस्कारेण निसर्गतः स्वभावतः इयं रतिरिति शेषः ॥

सांसर्गिकी यथा—

भित्वा सद्यः किसलयपुटान् देवदारुद्रुमाणां
ये तत्क्षीरस्रुतिसुरभयो दक्षिणेन प्रवृत्ताः।

आलिङ्ग्यन्ते गुणवति ! मया ते तुषाराद्रिवाताः
पूर्वं स्पृष्टं यदि किल भवेदङ्गमेभिस्तवेति ॥ ८० ॥

अत्र शैत्यसौरभ्यादिभिर्विरहिणां उद्वेजनीया अपि वायवः प्रियतमाङ्ग-संसर्गसम्भावनया समालिङ्ग्यन्त इति संसर्गादियं रतिर्भवति ॥

(२) सांसर्गिकी रति का उदाहरण—

हे गुणशालिनि, जो हिमालय की हवायें तत्काल देवदारु वृक्षों के पत्रपुटों को अलग-अलग करके उनके दूध के प्रवाह की सुगन्ध से युक्त दक्षिण की ओर से आने पर मैं तभी उनका आलिङ्गन करता हूँ जब कि समझ जाता हूँ कि इन्होंने तुम्हारे अङ्गों का सम्पर्क प्राप्त कर लिया है ॥ ८० ॥

यहाँ शीतलता, सुगन्धि आदि के द्वारा विरही जनों को उद्वेजित करने वाली भी हवायें प्रियतम के अङ्ग स्पर्श की संभावना से आलिङ्गित की जाती हैं । अतः यह संसर्गतः रति होती है ।

सांसर्गिकी संसर्गजाता ।

भित्वेति । **हे गुणवति ! सौन्दर्यादिगुणशालिनि ! ये तुषाराद्रिवाताः हिमाद्रिवायवः सद्यः तत्क्षणं देवदारुद्रुमाणां देवदारुतरूणां किसलयपुटान् पल्लवसंश्लेषान् भित्त्वा विश्लिष्य पृथक्कृत्येत्यर्थः तेषां क्षीराणि निर्यासाः तेषां स्रुतिभिः स्रावैः सुरभयः सुगन्धाः सन्तः दक्षिणेन दक्षिणदिग्भागेनेत्यर्थः प्रवृत्ताः प्रसृताः ते तुषाराद्रिवाताः मया यदि किल सम्भावनायाम् एभिः वातैः तव अङ्गं पूर्वं प्राक् स्पृष्टं भवेत् इति बुद्ध्येति भावः आलिङ्ग्यन्ते आश्लिष्यन्ते ॥ ८० ॥**

औपमानिकी यथा—

अपि जनकसुतायास्तच्च तच्चानुरूपं
स्फुटमिह शिशुयुग्मे नैपुणोन्नेयमस्ति ।
ननु पुनरिव तन्मे गोचरीभूतमक्ष्णोः
अभिनवशतपत्रश्रीमदास्यं प्रियायाः ? ॥ ८१ ॥
सेयं सीताविषयिणी रतिः तदुपमानदर्शनेन रामं रमयते ॥

(३) औपमानिकी

औपमानिकी का उदाहरण—

इन दोनों बच्चों में स्पष्ट रूप से जानकी के उन-उन अंगों की समानता कुशलता पूर्वक उन्नमित की जा सकती है । मुझे तो ऐसा लगता है कि मेरी प्रेयसी का नव-कमल की शोभा से सम्पन्न मुख फिर से मेरी निगाहों के सामने आ गया है ॥ ८२ ॥

यहाँ सीताविषयक-रति उसका औपम्य देखने से राम को आनन्दित कर रही है ।

अपीति । **इहास्मिन् शिशुयुग्मे बालकयुगले जनकसुतायाः सीतायाः तच्च तच्च अनुरूपं सौसादृश्यमिति यावत् अपि नैपुणेन विशेषपर्यवेक्षणेन उन्नेयं लक्षणीयं स्फुटं स्पष्टम् अस्ति । प्रियायाः जानक्याः अभिनवं यत् शतपत्रं कमलं तस्येव श्रीर्विद्यतेऽस्येति तथाभूतं**

सद्यः प्रफुल्लपद्मनिभमित्यर्थः तत् आस्यं वदनं पुनरिव मे मम अक्ष्णोः चक्षुषोः गोचरं विषयं ननु किम् ? ॥

आध्यात्मिकी यथा--

कामं प्रत्यादिष्टं स्मरामि न परिग्रहं मुनेस्तनयाम् ।
बलवत्तु दूयमानं प्रत्याययतीव मे चेतः ॥ ८२ ॥

अत्र सेयं दुर्वाससः शापाद्विस्मृतविवाहादिवृत्तान्तस्य दुष्यन्तस्य शकुन्तलायां रतिरध्यात्मं भवति ॥

(४) आध्यात्मिकी रति

आध्यात्मिकी रति का उदाहरण—

मुझे मुनि कण्व की पुत्री शकुन्तला के विवाह की तनिक भी याद नहीं, इसलिये वह यथेच्छ रूप से लौटा दी गई। किन्तु अत्यधिक खिन्न हो रहा मेरा मन उसमें विश्वास-सा करा रहा है ॥ ८२ ॥

यहाँ यह दुर्वासा के शाप से विवाह आदि के वृत्तान्त को भुला देने वाले दुष्यन्त की शकुन्तला के प्रति रति अध्यात्म है ।

काममिति । मुनेः कण्वस्य तनयां दुहितरं शकुन्तलां परिग्रहं स्वेन परिणीतामिति यावत् न स्मरामि न जानामीत्यर्थः अतः कामं यथेच्छतः प्रत्यादिष्टा निराकृता न गृहीतेत्यर्थः 'प्रत्यादेशो निराकृतिरित्यमरः' । प्रत्यादिष्टामिति पाठे प्रत्यादिष्टां मुनेस्तनयां परिग्रहं न स्मरामीत्यन्वयः । प्रत्यादिष्टमिति पाठे भावप्रयोगः । तु किन्तु बलवत् अतीव दूयमानं तप्यमानं निराकरणादिति भावः मे मम चेतः चित्तं प्रत्याययतीव परिग्रहत्वेन विश्वासयतीवेत्यर्थः । अत्र रतिरध्यात्मं भवति अध्यात्मम् आत्मानमधिकृत्येत्यध्यात्मम् अव्ययीभावसमासः ॥

आभियोगिकी यथा--

अलसवलितमुग्धस्निग्धनिष्पन्दमन्दैः
अधिकविकसदन्तर्विस्मयस्मेरतारैः ।
हृदयमशरणं मे पक्ष्मलाक्ष्याः कटाक्षैः
अपहृतमपविद्धं पीतमुन्मूलितञ्च ॥ ८३ ॥

सेयमनुरागातिशयसूचकमालतीकटाक्षाभियोगे माधवस्य रतिरेवोत्पद्यते ॥

(५) आभियोगिकी

आभियोगिकी का उदाहरण—

उस बड़े-बड़े नेत्र लोमों वाली मालती के अलसाये, वक्रिम, मनोज्ञ, स्नेहपूर्ण तथा मन्द-मन्द चलते हुये, आश्चर्य के कारण भीतर ही भीतर अधिक फैल गई नेत्र पुतलियों से युक्त कटाक्षों द्वारा मेरा बेचारा हृदय चुरा लिया गया, पटक दिया गया, पी लिया गया तथा जड़ समेत उखाड़ दिया गया है ॥ ८३ ॥

यहाँ पर यह अतिशय अनुराग के सूचक मालती के कटाक्षों का अभियोग होने पर माधव की रति ही उत्पन्न हो रही है।

अलसेति। **पक्ष्मले शोभनघनरोमराजिशोभिते इत्यर्थः अक्ष्णी नयने यस्याः तथाभूतायाः मालत्या इति शेषः अलसं मन्थरं यथा तथा वलिताः चलिताः मुग्धाः सुन्दराः मनोज्ञा इत्यर्थः स्निग्धाः स्नेहमया इत्यर्थः निष्पन्दाः अचञ्चलाः मन्दाः अल्पाः तैः अधिकं यथा तथा विकसन् प्रसरन् मद्दर्शनेनेति भावः अन्तर्विस्मयः अपूर्वोऽयं युवेति आभ्यन्तरिकचमत्कारबुद्धिरिति यावत् तेन स्मेरा विकसन्ती तारा कनीनिका येषु तैः कटाक्षैः अपाङ्गावलोकनैः मे मम अशरणम् निरुपायं हृदयं चित्तम् अपहृतं चोरितम् अपविद्धं पातितं पीतं पानीयवत् भक्षितम् उन्मूलितम् उत्पाटितञ्च ॥**

साम्प्रयोगिकी यथा--

उन्नमय्य सकचग्रहमास्यं चुम्बति प्रियतमे हठवृत्त्या।
हुं हुं मुञ्च मम मेति च मन्दं जल्पितं जयति मानधनायाः ॥८४॥

अत्र तर्जनार्थमोक्षार्थवारणार्थानां मन्दं मन्दं प्रयोगान्मानवत्या संप्रयोगे रत्युत्पत्तिः प्रतीयते ॥

(६) साम्प्रयोगिकी

साम्प्रयोगिकी का उदाहरण—
(अर्थ हेतु द्रष्टव्य १।१२३)

यहाँ तर्जना के लिये, छोड़ने के लिये तथा निवारण के लिये मन्द-मन्द प्रयोग होने से मानवती की सम्प्रयोग से रति की उत्पत्ति प्रतीत होती है।

स्व० द०—मात्र लगाव होना, दूर-दूर का सम्बन्ध होना आभियोगिक है, और शारीरिक सम्बन्ध अथवा कार्य का सम्पादन साम्प्रयोगिक है।

उन्नमय्येति। **प्रियतमे प्रेयसि हठवृत्त्या सहसेत्यर्थः सकचग्रहं केशग्रहणपुरःसरमित्यर्थः आस्यं वदनम् उन्नमय्य उत्तोल्य चुम्बति सति मानधनायाः मानिन्याः कान्तायाः हुम् हुम् मुञ्च त्यज्य मम मा वदनं चुम्बेति भावः इति मन्दं मृदु जल्पितं भाषितं जयति सर्वोत्कर्षेण शोभते इत्यर्थः।**

अत्र तर्जनार्थेति। **तर्जनार्थो हुम् हुम् शब्दः, मोक्षार्थो मुञ्चेतिशब्दः वारणार्थो माशब्दः ॥ २७१ ॥**

आभिमानिकी यथा--

इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्त्तिर्नयनयोः
असावस्याः स्पर्शो वपुषि बहुलश्चन्दनरसः।
अयं बाहुः कण्ठे शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः
किमस्या न प्रेयो ? यदि परमसह्यस्तु विरहः ॥ ८५ ॥

अत्र रुचिविशेषोऽभिमानस्तत एवंप्राया रतयो भवन्ति ॥

(७) आभिमानिकी रति

आभिमानिकी रति का उदाहरण—

यह हमारे घर में लक्ष्मी है, यह मेरे दोनों नयनों के लिये अमृतवर्तिका है। इसका यह स्पर्श मेरे शरीर में प्रगाढ़ चन्दन लेप की भांति (शान्ति तथा शीतलता) दायक है। मेरे गले में पड़ी हुई इसकी ये बाहें अत्यन्त शीतल मुक्ता की माला है। इसका भला ऐसा क्या है जो अत्यन्त प्रिय नहीं, यदि इसकी कोई भी अत्यन्त असह्य वस्तु है, तो हैं इसकी विरह ॥ ८५ ॥

यहाँ रुचिविशेष ही अभिमान है। उसी से इस प्रकार की रतियाँ हुआ करती हैं।

इयमिति। **इयं जानकी गेहे भवने लक्ष्मीः मूर्त्तिमती श्रीरित्यर्थः। इयं नयनयोः चक्षुषोः अमृतवर्त्तिः सुधातूलिका नितरां नेत्रानन्दकरीत्यर्थः। अस्याः जानक्याः असौ अनुभूयमान इति भावः स्पर्शः वपुषि शरीरे बहुलः प्रभूतः चन्दनरसः चन्दनद्रवः। अयं कण्ठे बाहुः भुजः शिशिरः शीतलः मसृणः अपरुषः मौक्तिकसरः मुक्तादाम। अस्याः जानक्याः किं प्रेयः प्रीत्यतिशयकरं न ? अपि तु सर्वमेव प्रेय इत्यर्थः। तु किन्तु यदि विरहः विच्छेदः भवेदिति शेषः स परं केवलम् अत्यन्तं वा असह्यः सोढुमशक्य इत्यर्थः अतीव अप्रीतिकर इति भावः ॥**

वैषयिकीषु शब्दे यथा—

विलासमसृणोल्लसन्मुसललोलदोःकन्दली
परस्परपरिस्खलद्वलयनिःस्वनोद्दन्तुराः ।
हरन्ति कलहुङ्कृतिप्रसभकम्पितोरःस्थली-
लुठद्गमकसङ्कुलाः कलमकण्डिनीगीतयः ॥ ८६ ॥

(८) वैषयिकी रति

विषय (भोग्यवस्तुओं) से सम्बद्ध रति के भेदों में शब्द का उदाहरण—

विभ्रम विशेष से संयुक्त ऊपर उठते तथा गिरते हुये मूसल से युक्त चञ्चल कर-कन्द के साथ गिर रहे कंगन की झनकार से उद्दीप्त, मनोरम हुङ्कारों के साथ हठात् उरोजों को कम्पित कर देने के साथ नीचे गिरने से उठी हुई गमक से संयुक्त धान कूटने वाली स्त्रियों की गीतियाँ चित्त को हर लेती हैं ॥ ८६ ॥

वैषयिकीति। **विषयाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः तत्सम्बन्धात् वैषयिकी रतिर्भवति। तत्र शब्दादिक्रमेणोदाहरणानि यथा ॥**

विलासेति। **विलासेन विभ्रमविशेषेण मसृणं मृदु यथा तथा उल्लसता पतनोत्पतनवतेत्यर्थः मुषलेन कण्डनसाधनाङ्गविशेषेण तच्चालनेनेति भावः लोले चञ्चले ये दोः कन्दल्यौ भुजलते तयोः परस्परम् अन्योन्यं परिस्खलतां श्लथीभवतां वलयानां निस्वनेन झणत्कारेण उद्दन्तुराः उत्तुङ्गाः उत्तराला इत्यर्थः कला मधुरास्फुटा या हुङ्कृतिः हुमहुम इत्याकारः शब्द इत्यर्थः तया प्रसभं बलवत् यथा तथा कम्पिता या उरःस्थली वक्षस्थलमित्यर्थः तत्र लुठता गमकेन हारविशेषेण तदीयरणनेनेति भावः सङ्कुला व्याप्ताः वर्द्धिता इति भावः कलमकण्डिनीनां धान्यकण्डनकारिणीनां गीतयः गानानि हरन्ति प्रीणयन्ति इत्यर्थः ॥**

स्पर्शे यथा—

बध्नन्नङ्गेषु रोमाञ्चं कुर्वन् मनसि निर्वृतिम् ।
नेत्रे निमीलयन्नेष प्रियास्पर्शः प्रवर्त्तते ॥ ८७ ॥

स्पर्श का उदाहरण—

अवयवों में रोमाञ्च करता हुआ, मन में आह्लाद उत्पन्न करता हुआ तथा आंखों को संकुचित किये दे रहा मेरी प्रियतमा का स्पर्श हो रहा है ॥ ८७ ॥

बध्नन्निति । अनुभवगोचर इति भावः प्रियायाः स्पर्शः अङ्गेषु शरीरेषु रोमाञ्चं बध्नन् जनयन् मनसि निर्वृतिं सुखातिशयं कुर्वन् अर्पयन्नित्यर्थः नेत्रे नयने निमीलयन् आनन्दातिशयात् सङ्कोचयन् प्रवर्त्तते प्रकर्षेण विलसतीत्यर्थः ॥

रूपे यथा—

ता राघवं दृष्टिभिरापिबन्त्यः नार्यो न जग्मु र्विषयान्तराणि ।
तथा हि शेषेन्द्रियवृत्तिरासां सर्वात्मना चक्षुरिव प्रविष्टा ? ॥ ८८ ॥

रूप का उदाहरण—

अपने नयनों से राम के रूप का पान करती हुई वे स्त्रियाँ दूसरे विषयों पर नहीं गईं । ऐसा लगता है जैसे अन्य इन्द्रियों की ग्रहणशक्तियाँ पूर्णतः इनकी निगाहों में ही समा गई हों ॥ ८८ ॥

ता इति । ताः नार्यः पुरसुन्दर्यः दृष्टिभिः नयनैः रघोरपत्यं राघवः तं रघुनन्दनमित्यर्थः आपिबन्त्यः सातिशयं पश्यन्त्य इत्यर्थः विषयान्तराणि बाह्यानि वस्तूनीत्यर्थः न जग्मुः नावबुध्यन्त । तथाहि तमेवार्थं जानीहि आसां नारीणां शेषेन्द्रियवृत्तिः शेषाणां चक्षुर्व्यतिरिक्तानाम् इन्द्रियाणां श्रोत्रादीनामित्यर्थः वृत्तिर्व्यापारः चक्षुरिव नयनमिव प्रविष्टा अधिष्ठिता नोचेत् कथं तेषां व्यापाराभाव इति भावः ॥

रसे यथा—

कस्य नो कुरुते तन्वि ! पिपासाकुलितं मनः ।
अयं ते विद्रुमच्छायो मरुमार्ग इवाधरः ? ॥ ८९ ॥

रस का उदाहरण—

हे सुन्दरि, विशिष्ट वृक्ष की छाया से युक्त मरुस्थल के मार्ग की भांति मूँगे के सदृश कान्ति वाला तुम्हारा यह अधर किसके मन को पान करने के लिये विकल नहीं कर देता ॥ ८९ ॥

कस्येति । हे तन्वि ! कृशाङ्गि ! ते तव अयं विद्रुमच्छायः प्रवालकान्तिः अधरः मरुमार्गः मरुदेशीयः पन्था इव कस्य जनस्य मनः पिपासया आकुलितं नो कुरुते ? अपि तु सर्वस्यैव कुरुते इत्यर्थः तवाधररसपानं सर्वेषामेव कामिनां वाञ्छनीयमिति भावः ॥

गन्धे यथा—

रन्धणकम्मणि उणिए मालुरसुरत्तपाडलसुअन्धं ।
मुहमारुअं पिअन्तो धूमाइ सिही ण पज्जलइ ॥ ९० ॥

गन्ध का उदाहरण—

पाक कर्म में निपुण सुन्दरी के श्रीफल तथा लालगुलाब की गन्ध से भरपूर (अथवा हे पाक कर्म में निपुण सुन्दरि, तू नाराज मत हो वस्तुतः लालगुलाब की सुगन्ध से भरपूर) तुम्हारे मुख की हवा को पीता हुआ अग्नि धुआँ रहा है जलता नहीं ॥ ९० ॥

स्व० द०—शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध भोग के विषय हैं। इन विषयों का निरूपण होने से उक्त रति को वैषयिकी कहा गया है। प्रथम में मूसल की गमक, चूड़ियों की खनक तथा सुन्दरियों के मुँह से निकलने वाली 'हुँ-हुँ' की ध्वनि ये सब शब्द युक्तता का, प्रियतम के छू देने मात्र से रोमाञ्च, परमानन्द तथा अक्षिसंकोच स्पर्श का, अन्य विषयों को छोड़ कर केवल नयनों से निहारने के कारण रूप का, मन को प्यास से बेचैन कर देना रस का, तथा रक्त गुलाब की सुगन्धि के कारण अग्नि का प्रज्वलित न होना गन्ध का परिचायक है। गन्ध वाले उदाहरण के पूर्वार्ध का पाठान्तर भी है जो छाया के साथ नीचे दिया जा रहा है—

[रन्धणकम्मणिउणिए मा जूरसु स्तपाडलसुअन्धम्।
रन्धनकर्मनिपुणिके मा क्रुध्यस्व रक्तपाटलसुगन्धम्] ॥ गाथा सप्तशती १।१४

रन्धनकर्मनिपुणाया मालूरसुरक्तपाटलसुगन्धम्।
मुखमारुतं पिबन् धूमायते शिखी न प्रज्वलति ॥

रन्धनेति। **रन्धनकर्मणि पाकव्यापारे निपुणा दक्षा विचक्षणेति यावत् काचित् महिलेति शेषः तस्याः मालूरं श्रीफलं तथा सुरक्तं सुविकसितं यत् पाटलं पाटलपुष्पमित्यर्थः गोलापपुष्पमिति प्रसिद्धं तद्वत् सुगन्धं मुखमारुतं वदनसौरभमित्यर्थः पिबन् आस्वादयन्निति भावः शिखी अग्निः धूमायते धूममुद्गिरति न प्रज्वलति। धूमोद्गारे पुनः पुनः फूत्कारदानात् सुखसौरभप्राप्तिरिति भावः धूमायसे शिखी न प्रज्वलसीति पाठान्तरम् ॥ २७७ ॥**

प्रीतिविशेषेषु नैसर्गिकी यथा—

आलक्ष्यदन्तमुकुलाननिमित्तहासैः
अव्यक्तवर्णरमणीयवचःप्रवृत्तीन्।
अङ्कागतान् प्रणयिनस्तनयान् वहन्तो
धन्यास्तदङ्गरजसा मलिनीभवन्ति ॥ ९१ ॥

अत्र यदा रतिर्जायते तदा पुत्रेषु स्निह्यति पुत्ररूपेण वा जायत इति जन्मान्तरवासनारूपो निसर्गः सङ्गच्छते ॥

(२) प्रीतिविशेष

प्रीतिविशेष में नैसर्गिकी का उदाहरण—

बिना किसी कारण के भी हँसने से दन्त कोरक जिनके दिखाई पड़ते हैं, तथा अस्पष्ट शब्दों के होने पर भी जिनके वाक्यों का निकलना अत्यन्त रम्य है ऐसे गोद में आये हुये प्रिय बच्चों को उठाने से उनके शरीर की धूलि से जो मलिन हो जाया करते हैं, वे जन महाभाग्यशाली है ॥९१॥

यहाँ जब रति उत्पन्न होती है तभी पुत्रों में स्नेह होता है अथवा व्यक्ति पुत्र रूप में उत्पन्न होता है, इस नियम के अनुसार दूसरे जन्म की वासना के रूप में अवशिष्ट स्वभाव-प्रकृति-प्रतीत होता है।

आलक्ष्येति। **अनिमित्तहासैः निमित्तं विना हसितैः आलक्ष्याणि स्पष्टदृश्यानि दन्तमुकुलानि दशनकोरकाः येषां तान् अव्यक्तैः अस्पष्टैः वर्णैः रमणीया मनोहारिण्यः वचसां वाक्यानां प्रवृत्तयः प्रसराः येषां तान् अङ्कागतान् क्रोडवर्त्तिनः प्रणयिनः प्रेमपूर्णान् तनयान् पुत्रान् वहन्तः धारयन्तः धन्याः पुण्यवन्तः जनाः तेषां तनयानाम् अङ्गरजसा गात्ररेणुना अमलिना मलिना भवन्तीति मलिनीभवन्ति अङ्कागतप्रणयिन इति पाठस्तु समीचीनः अङ्के क्रोडे आगतम् आगमनं प्रणयन्ति प्रार्थयन्ते इति तथोक्तानित्यर्थः॥**

सांसर्गिकी यथा--

विश्वम्भरा भगवती भवतीमसूत
राजा प्रजापतिसमो जनकः पिता ते।
तेषां वधूस्त्वमसि नन्दिनि ! पार्थिवानां
येषां कुलेषु सविता च गुरुर्वयञ्च॥ ९२॥

अत्र विश्वम्भरादिसंसर्गात् सीतायां वशिष्ठमिश्राः स्निह्यन्ति॥

(२) सांसर्गिकी

सांसर्गिकी का उदाहरण—

भगवती पृथ्वी ने तुमको उत्पन्न किया है (तुम्हारी माता पृथ्वी देवी हैं), प्रजापति के सदृश प्रतापी राजा जनक तुम्हारे पिता हैं। हे सुभगे, (सीते), तुम उन राजाओं के (कुल की) वधू हो जिनके कुल के गुरु सूर्य तथा हम हैं॥ ९२॥

यहाँ पृथ्वी आदि के सम्बन्ध के कारण पूज्य वशिष्ठ का सीता से स्नेह है।

विश्वम्भरेति। **भगवती देवी विश्वं बिभर्त्तीति विश्वम्भरा पृथ्वी भवतीं त्वाम् असूत प्रसूतवती, प्रजापतेः परमेष्ठिनः समः सदृशः राजा जनकः ते तव पिता। हे नन्दिनि ! पुत्रि ! आनन्दयित्रि ! वा येषां कुलेषु वंशेषु सविता च सूर्यश्च गुरुः आदिपुरुषः, वयञ्च गुरव इति शेषः तेषां पार्थिवानां राज्ञां त्वं वधूः असि भवसि॥**

औपमानिकी यथा--

कुवलयदलस्निग्धश्यामः शिखण्डकमण्डनो
वटुपरिषदं पुण्यश्रीकः श्रियैव सभाजयन्।
पुनरपि शिशुर्भूत्वा वत्सः स मे रघुनन्दनो
झटिति कुरुते दृष्टः कोऽयं दृशोरमृताञ्जनम्॥ ९३॥

अत्र रामौपम्याल्लवे जनकः प्रीयते॥

(३) औपमानिकी

औपमानिकी का उदाहरण—

नीलकमल के सदृश चिकना तथा श्यामल, काकपक्ष से सुशोभित, पावन शोभा वाला यह

कोई बालक अपनी शोभा से इस बालमण्डली को अलंकृत करता हुआ दिखाई पड़ कर नेत्रों को अमृताञ्जन-सा सुखी करता हुआ ऐसा लग रहा है मानो मेरा राम ही फिर से बालक होकर उपस्थित हो ॥ ९३ ॥

यहाँ राम के सादृश्य के कारण लव में जनक प्रसन्नता का अनुभव करते हैं।

कुवलयेति। कुवलयदलवत् नीलोत्पलपत्रवत् स्निग्धः श्यामः स्नेहवर्षी श्यामलः शिखण्डकः काकपक्षः 'बालास्तु शिखा प्रोक्ता काकपक्षः शिखण्डक'इत्यमरः। मण्डनं भूषणं यस्य तथोक्तः शिखण्डकेनातितरां शोभमान इत्यर्थः। पुण्या पावनी श्रीः शोभा कान्तिर्वा यस्य तथाभूतः श्रियैव देहप्रभयैव वटूनां माणवकानां परिषदं समूहं दलमित्यर्थः। सभाजयन् अलङ्कुर्वन् कोऽयं पुनरपि स मे मम वत्सः रघुनन्दनः रामः शिशुर्भूत्वा दृष्ट इव इवशब्दोऽत्राध्याहार्यः। झटिति सहसा दर्शनमात्रेणैवेति भावः। दृशोः नयनयोः अमृताञ्जनं सुधाकज्जलं कुरुते नितरां नयनानन्दं जनयतीत्यर्थः ॥ ९३ ॥

आध्यात्मिकी यथा—

परितस्तं पृथासूनुः स्नेहेन परितस्तरे।
अविज्ञातेऽपि बन्धौ हि बलात् प्रह्लादते मनः ॥ ९४ ॥

अत्र अविज्ञातोऽपि वासवः स्वसूनुम् अर्जुनं दृष्टः प्रीणयति ॥

(४) आध्यात्मिकी प्रीति

आध्यात्मिकी प्रीति का उदाहरण—

कुन्तीपुत्र अर्जुन उन इन्द्र के सामने प्रेम से व्याप्त हो गये, क्योंकि रक्त सम्बन्ध वाले व्यक्ति के पूर्वतः ज्ञात न होने पर भी—पहचान न पाने पर भी—मन बरबस प्रसन्न हो उठा करता है ॥ ९४ ॥

यहाँ ज्ञात न होने पर भी इन्द्र दिखलाई पड़ने पर अपने पुत्र अर्जुन को आनन्दित करते हैं।

परित इति। पृथायाः कुन्त्याः सूनुरर्जुनः तमिन्द्रं परितः इन्द्रसमक्षमित्यर्थः। स्नेहेन प्रेम्णा परितस्तरे परिव्याप्तः स्नेहाकुलोऽभूदित्यर्थः। हि यतः बन्धौ रक्तसम्बन्धादिना मित्रभूते जने अविज्ञातेऽपि सोऽयं सम्बन्धीत्येवमविदितेऽपि मनश्चित्तं बलात् वेगेन सहसेत्यर्थः प्रह्लादते आनन्दमनुभवतीत्यर्थः ॥ ९४ ॥

आभियोगिकी यथा—

दुःखैकबन्धुरयमृक्षहरीश्वरो मे
पौलस्त्य [एष समरेषु पुरः प्रहर्त्ता।
इत्यादृतेन कथितौ रघुनन्दनेन
व्युत्क्रम्य लक्ष्मणमुभौ भरतौ ववन्दे ॥ ९५ ॥

अत्र सीतान्वेषणादेरभियोगाद् रामस्य सुग्रीवविभीषणयोः प्रीतिरुत्पद्यते ॥

(५) आभियोगिकी प्रीति

आभियोगिकी का उदाहरण—

यह हैं मेरे दुःख में एकमात्र सहायक भालुओं तथा बन्दरों के स्वामी सुग्रीव, यह हैं युद्ध में आगे बढ़-बढ़ कर प्रहार करने वाले पुलस्त्य कुल के विभीषण। इस प्रकार आदर के साथ राम के द्वारा कहने पर भरत ने लक्ष्मण को छोड़ कर पहले उन्हीं दोनों सुग्रीव तथा विभीषण की ही वन्दना की ॥ ९५ ॥

यहाँ सीता की खोज आदि सम्बन्धों के कारण राम की सुग्रीव तथा विभीषण के प्रति प्रीति उत्पन्न हो रही है।

दुःखेति। अयं पुरोवर्त्तीति हस्तनिर्देशः। ऋक्षाणां भल्लूकानां हरीणां वानराणाञ्च ईश्वरः अधिपतिः सुग्रीव इत्यर्थः। मे मम दुःखेषु विपत्सु एकः अद्वितीयः बन्धुः सखा एषः सम्मुखवर्त्ती पुलस्त्यस्य अपत्यं पुमान् पौलस्त्यः विभीषण इत्यर्थः। समरेषु संग्रामेषु पुरः अग्रतः प्रहर्त्ता सेनापतिरिति भावः। इत्येवं आदृतेन आदरवता रघुनन्दनेन रामेण कथितौ निर्दिष्टौ उभौ सुग्रीवविभीषणौ भरतः लक्ष्मणं व्युत्क्रम्य परित्यज्य प्राग्नभिवन्द्येति भावः ववन्दे प्रणनाम ॥ ९५ ॥

साम्प्रयोगिकीस्थाने आभ्यासिकी यथा—

इति विस्मृतान्यकरणीयमात्मनः सचिवावलम्बितधुरं नराधिपम्।
परिवृद्धरागमनुबद्धसेवया मृगया जहार चतुरेव कामिनी ॥९६॥

(६) आभ्यासिकी प्रीति

साम्प्रयोगिकी के स्थान पर आभ्यासिकी का उदाहरण—

इस प्रकार चतुर नायिका की भांति मृगया ने अपने अन्य कृत्यों को भूले हुए, मन्त्रियों के द्वारा सँभाली गई राज्यधुरा वाले, बढ़े हुये अनुराग से युक्त राजा को अनेक बार सेवनों के कारण अपने वश में कर लिया ॥ ९६ ॥

इतीति। मृगया चतुरा निपुणा वशीकरणपटुरित्यर्थः। कामिनीव कान्तेव इत्येवम् आत्मनः स्वस्य विस्मृतानि अन्यानि करणीयानि कार्याणि येन तथोक्तं, सचिवैः अमात्यैः अवलम्बिता गृहीता धूः राज्यचिन्ताः राज्यभारो वा यस्य तथाविधं, धूः स्त्री स्याद्भार-चिन्तयोरित्यमरः। अनुबद्धा क्रमिकीत्यर्थः निरन्तरेति यावत् या सेवा परिचर्या तया परिवृद्धः वृद्धिं गतः रागः आसक्तिविशेषः यस्य तथाभूतं नराधिपं राजानं जहार आचकर्ष वशीचकारेत्यर्थः ॥ ९६ ॥

अत्र,

शब्दादिभ्यो बहिर्भूता या कर्माभ्यासलक्षणा।
प्रीतिः साऽभ्यासिकी ज्ञेया मृगयादिषु कर्मसु ॥ १६८ ॥

इति लक्षणं घटते ॥

यहाँ, शब्द आदि (वैषयिक पदार्थों) से पृथक्भूता जो किसी कर्म के अनेक बार किये जाने

से सम्पन्न होती है वह आखेट आदि कर्मों में होने वाली प्रीति आभ्यासिकी समझी जानी चाहिये ॥ १६८ ॥

यह लक्षण घटित होता है—

शब्दादिभ्य इति । शब्दादिभ्यः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धेभ्य इत्यर्थः बहिर्भूता विश्लिष्टा कर्मणः अभ्यासः अभ्रेडनं लक्षणं यस्याः तथाभूता या प्रीतिः सा मृगयादिषु कर्मसु व्यापारेषु आभ्यासिकी ज्ञेया वेदितव्या ॥ १६८ ॥

आभिमानिकी यथा—

दत्तेन्द्राभयदक्षिणैर्भगवतो वैवस्वतादामनोः
दृप्तानां दहनाय दीपितनिजक्षात्रप्रतापाग्निभिः ।
आदित्यैर्यदि विग्रहो नृपतिभिर्धन्यं ममैतत्ततो
दीप्तास्त्रस्फुरदुग्रदीधितिभरैर्नीराजितज्यं धनुः ॥ ९७ ॥

अत्राभिमतप्रतिद्वन्द्विलाभात् लवानुपदो कुशस्तुष्यति ॥

(७) आभिमानकी प्रीति

आभिमानिकी का उदाहरण—

सूर्यपुत्र भगवान् मनु से लेकर इन्द्र को भी अभय का वरदान देने वाले, गर्वोन्मत्त राक्षसों को विनष्ट करने के लिये अपने क्षत्रियोचित प्रताप की ज्वाला को प्रज्वलित करने वाले सूर्यवंशी राजाओं के साथ यदि मेरा युद्ध होता है तब तो प्रचण्ड रूप से चमक उठे अस्त्रों की तीव्र किरण समूहों से उद्भासित प्रत्यञ्चा वाली मेरी धनुष सफल हो जाये ॥ ९७ ॥

यहाँ मन के अनुकूल शत्रु की प्राप्ति से लव के साथ चलने वाले कुश संतुष्ट होते हैं ।

दत्तेति । भगवतः अशेषशक्तिसम्पन्नात् देवरूपादिति भावः विवस्वतः सूर्यस्यापत्यं पुमान् वैवस्वतः तस्मात् मनोः आ तस्मादारभ्येत्यर्थः, अभिविधावाङ् योगे पञ्चमी । दत्ता इन्द्राय अभयदक्षिणा यैः तथोक्तैः इन्द्रसहकारिभिरिति भावः । दृप्तानां दर्पशालिनाम् असुराणां राज्ञां वा दहनाय भस्मीकरणाय विनाशायेति यावत् दीपिता निजाः स्वकीयाः क्षत्रप्रतापाः क्षात्रतेजांस्येव अग्नयः यैः तथाभूतैः आदित्यैः आदित्यः सूर्यः तस्यापत्यानि पुमांसः तैः सूर्यवंशीयैरित्यर्थः नृपतिभिः राजभिः यदि विग्रहः संग्रामः भवेत् ममेति शेषः । ततः तदा मम एतत् दीप्तानां ज्वलताम् अस्त्राणां स्फुरन्त्यः उल्लसन्त्यः उग्राः तीक्ष्णाः या दीधितयः किरणाः तासां भरैः अतिशयैः नीराजिता उद्भासिता ज्या मौर्वी यस्य तथाभूतं धनुः कार्मुकं धन्यं सफलमिति यावत् भवेदिति शेषः ॥ ९७ ॥

वैषयिकीषु शब्दे यथा—

लावण्यैः क्षणदाविरामममधुराः किञ्चिद्विनिद्रालसं
श्रोत्रैः सव्रणमुग्धचारणवधूदन्तच्छदावासिनः ।
पीयन्ते मृदुवक्त्रपीतमरुतः पौराणगीतिक्रम-
व्यालोलाङ्गुलिरुद्धमुक्तसुषिरश्रेणीधरा वेणवः ॥ ९८ ॥

(८) वैषयिकी प्रीति

वैषयिकी में शब्द होने पर उदाहरण—

सिन्धुदेश वाले लोगों के द्वारा रात्रि के अवसान में मधुर लगने वाली, (प्रियतम के दन्त-क्षति के कारण) घायल एवं आकर्षक वन्दीजनों की वधूटियों के अधरों पर रहने वाली कोमल मुख की वायु को पी रही, पुराने अर्थात् बार-बार गाये गये गान में क्रमशः चञ्चल अँगुलियों के द्वारा बन्द कर ली गई तथा छोड़ दी गई छिद्रावलियों को धारण करने वाली बाँसुरियाँ अथवा उनकी ध्वनियाँ अपने कानों से कुछ-कुछ ही निद्रा दूर होने से आलस्य के साथ सुनी जा रही हैं ॥ ९८ ॥

लावण्यैरिति । लावण्यैः सिन्धुदेशीयैः क्षणम् उत्सवं ददातीति क्षणदा रात्रिः, तस्या विरामे अवसाने मधुराः मनोहराः सव्रणाः कान्तदन्तक्षतजनितव्रणचिह्निता इत्यर्थः । मुग्धानां सुन्दरीणां मुग्धः सुन्दरमूढयोरिति शेषः चारणवधूनां नटीनामित्यर्थः । ये दन्तच्छदाः अधराः तेषु आवसन्तीति तथोक्ताः मृदुना कोमलेन अल्पेनेति भावः । वक्त्रेण वदनेन मुखच्छिद्रेणेति यावत्, पीताः कवलिताः मरुतः वाताः यैः तथाविधाः पौराणी पुरातनी एकरूपत्वेन नित्यगीयमानेति भावः । या गीतिः प्राभातिकीति भावः, तस्याः क्रमेण नियमेन व्याकोलाभिः पेलाभिः अङ्गुलिभिः रुद्धाः बद्धाः तथा मुक्ताः त्यक्तरोधा इत्यर्थः । याः सुषिरश्रेण्यः रन्ध्रनिचयाः तासां धरन्तीति धराः पचाद्यच्प्रत्ययः । तद्वन्त इत्यर्थः वेणवः वाद्यभेदाः लक्षणया तन्निस्वना इति भावः किञ्चित् ईषत् असम्यगित्यर्थः विगता या निद्रा तया अलसं मन्दं यथा तथा श्रोत्रैः श्रवणेन्द्रियैः पीयन्ते सादरम् आकर्ण्यन्ते इति यावत् ॥ ९८ ॥

स्पर्शे यथा—

प्रशान्तधर्माभिभवः शनैर्विवान् विलासिनीभ्यः परिमृष्टपङ्कजः ।
ददौ भुजालम्बमिवात्तशीकरः तरङ्गमालान्तरगोचरोऽनिलः ॥ ९९ ॥

स्पर्श का उदाहरण—

धूप जनित क्लेश को शान्त करने वाले धीरे धीरे बह रहे कमलों का स्पर्श करके आते हुये लहरावलियों के भीतर प्रतीत होनेवाले अतएव जलकणों से भरे हुये पवन ने सुन्दरियों को मानो भुजाओं का सहारा दे दिया ॥ ९९ ॥

प्रशान्तेति । प्रशान्तः प्रकर्षेण शान्तिं नीतः घर्माभिभवः ग्रीष्मजनितक्लेश इत्यर्थः येन तथोक्तः, परिमृष्टानि स्पृष्टानि पङ्कजानि पद्मानि येन तथाविधः एतेन सौगन्ध्यसम्पत्तिः सूचिता । शनैः मन्दं यथा तथा विवान् प्रवहन् एतेन मान्द्योक्तिः । तरङ्गाणाम् ऊर्मीणां मालाः श्रेणयः तासाम् अन्तरम् अभ्यन्तरं गोचरः विषयः यस्य तथाभूतः अतएव आत्ताः गृहीताः शीकराः अम्बुकणाः येन तथाविधः 'शीकरोऽम्बुकणः स्मृत' इत्यमरः । एतेन शैत्यं सूच्यते । अनिलः वायुः विलासिनीभ्यः कामिनीभ्यः निदाघक्लान्ताभ्य इति भावः । भुजालम्बमिव हस्तावलम्बनमिव ददौ दत्तवान् यथा कश्चित् कूपरूपविपत्पतितान् हस्तेन उद्धरति तथा निदाघरूपविपत्पतिताः विलासिनीः शान्तिं निनायेति भावः ॥ ९९ ॥

रूपे यथा—

अयमभिनवमेघश्यामलोत्तुङ्गसानुः
मदमुदितमयूरीबद्धविश्रब्धनृत्यः ।
शकुनिशबलनीडानोकहस्निग्धवर्ष्मा
वितरति बृहदश्मा पर्वतः प्रीतिमक्ष्णोः ॥ १०० ॥

रूप का उदाहरण—

नवीन मेघों के कारण श्यामल ऊँची चोटियों वाला, मस्ती से मुखरित हो उठी मयूरी की छोड़ी गई ध्वनियों से भरा हुआ, पक्षियों के चित्रविचित्र घोंसलों से युक्त वृक्षों के कारण सुन्दर शरीर वाला यह बड़े पत्थरों से भरा हुआ पर्वत नेत्रों को आनन्द प्रदान कर रहा है ॥ १०० ॥

अयमिति । अभिनवैः नवोदितैः मेघैः जलधरैः श्यामलाः श्यामवर्णाः उत्तुङ्गाः उन्नताः सानवः प्रस्थदेशाः यस्य तथोक्तः 'स्तुः प्रस्थः सानुरस्त्रियामित्यमरः' । मदेन उल्लासेन मेघदर्शनादिति भावः मुदिताः प्रहृष्टाः या मयूर्य्यः, ताभिः बद्धम् आरब्धं विश्रब्धं निःशङ्कं यथा तथा नृत्यं यत्र तथाविधः, शकुनिभिः पक्षिभिः शबलाः चित्रा विविधवर्णा इत्यर्थः । नीलाः श्यामलाः ये अनोकहाः वृक्षाः तैः स्निग्धं शीतलं वर्ष्म शरीरं यस्य तथाभूतः । तथा बृहन्तः विपुलाः अश्मानः प्रस्तराः यत्र तथाभूतः अयं पर्वतः अक्ष्णोः चक्षुषोः प्रीतिं वितरति ददाति ॥ १०० ॥

रसे यथा—

इक्षुदण्डस्य मण्डस्य दध्नः पिष्टघृतस्य च ।
वाराहस्य च मांसस्य सोऽयं गच्छति फाल्गुनः ॥ १०१ ॥

रस का उदाहरण—

ईख के दण्ड का, माड़ का, दही का, घी से पीसे गये पदार्थों तथा सुअर के मांस का जो समय हैं, वही यह फागुन का महीना बीता जा रहा है ॥ १०१ ॥

इक्षुदण्डस्येति । इक्षुदण्डस्य इक्षुकाण्डस्य मण्डस्य ओदनात् विक्लिन्नात् प्राक् निर्गलित्य-मानरसविशेषस्य दध्नः प्रसिद्धस्य पिष्टघृतस्य घृतभृष्टपिष्टकस्येत्यर्थः तथा वराहस्य इदं वाराहं शौकरं तस्य मांसस्य उपयोगीति शेषः सोऽयं फाल्गुनः फल्गुनीनक्षत्रयुक्ता पौर्णमासी यत्र मासे स मासः फाल्गुनः गच्छति अतिक्रामति । फाल्गुने इक्षुदण्डादयोऽतीव व्यवह्रियन्ते इति भावः ॥ १०१ ॥

गन्धे यथा—

कपोलकण्डूः करिभिर्विनेतुं विघट्टितानां सरलद्रुमाणाम् ।
यत्र स्रुतक्षीरतया प्रसूतः सानूनि गन्धः सुरभीकरोति ॥ १०२ ॥

गन्ध का उदाहरण—

अपने गालों की खुजली मिटाने के लिये हाथियों के द्वारा रगड़े गये साल के वृक्षों से दूध बहने के कारण उत्पन्न हुआ गन्ध शिखरों को जहाँ सुगन्धित करता है ॥ १०२ ॥

कपोलेति । यत्र हिमाद्रौ करिभिः हस्तिभिः कपोलकण्डूः गण्डकण्डूतीः विनेतुं निरसितुं विघट्टितानां विशेषेण घर्षितानां सरलद्रुमाणां देवदारुवृक्षाणां स्रुतानि निःसृतानि क्षीराणि निर्यासा येभ्यः येषां वा तेषां भावः तत्ता तया प्रसूतः उद्गतः गन्धः सौरभं सानूनि प्रस्थदेशान् तटानित्यर्थः सुरभीकरोति सुगन्धीकरोति ॥ १०२ ॥

उपलक्षणञ्चैतत् । तेन उत्साहस्य युद्धदानदयावीरादयः, क्रोधस्य भीममन्युत्रासादयः, हासस्य स्मितहसितविहसितादयः, प्रसुप्तप्रलयमत्यादीनां स्वप्नमरणशमादयो भेदा जायन्ते । तत्र यद्यपि 'अजित्वा सार्णवामुर्वीम्' इत्यनेन युद्धवीरः, 'अनिष्ट्वा विविधैर्मखैः' इत्यनेन दानवीरः, 'अदत्त्वा चार्थमर्थिभ्यः' इत्यनेन दयावीरश्च उत्साहरूपेण रसनिष्पत्तौ वर्त्तते तथापि एकशोऽप्येतद् रसनिष्पत्तिरस्तीति प्रदर्श्यन्ते ॥

यह तो केवल निदर्शन है । इसी से उत्साह के युद्ध, दान, दया, वीर आदि, क्रोध के भीम, मन्यु, त्रास आदि, हास के स्मित, हसित, विहसित आदि, प्रसुप्त, प्रलय, मति आदि के स्वप्न, मरण, शम आदि भेद होते हैं । इनमें भी यद्यपि 'अजित्वा सार्णवामुर्वीम्' इससे युद्धवीर, 'अनिष्ट्वा विविधैर्मखैः' इससे दानवीर, 'अदत्त्वा चार्थमर्थिभ्यः' इससे दयावीर भी उत्साह के रूप में रसनिष्पत्ति में विद्यमान हैं, फिर भी एक-एक करके भी रसनिष्पत्ति होती है । इसलिये सभी प्रदर्शित किये जा रहे हैं ।

स्व० द०—भोज ने अब तक रति तथा प्रीति के विभिन्न भेदों का उदाहरण दिया । ये भेद इनके स्वयं विचरित हैं । उत्साह की बात को लेकर वह कहते हैं कि वीर रस का उदाहरण देते समय जिस श्लोक का उल्लेख किया गया है यद्यपि उसमें उत्साह की दया, दान, युद्ध वीरता तीनों ही उपस्थित हैं, तथापि उनकी निष्पत्ति पृथक् पृथक् भी संभव होने से उनके उदाहरण दे रहे हैं ।

भरत ने सर्वप्रथम—

दानवीरं धर्मवीरं युद्धवीरं तथैव च ।
रसं वीरमपि प्राहुस्तज्ज्ञास्त्रिविधिमेव हि ॥ ना. शा. ६।७९ ॥

कहा; फिर रुद्रट (काव्यालंकार १५।१), दशरूपककार (४।७२) आदि ने भी उसी बात को स्वीकार किया । इनका लक्षण इनके नाम से ही स्पष्ट है ।

उपलक्षणञ्चैतत् । स्वप्रतिपादकत्वे सति स्वेतरप्रतिपादकत्वमुपलक्षणम् । तथाहि यथा शृङ्गारस्थायिनो रतिभावस्य बहवः प्रकारा उक्तास्तथा वीरादिस्थायिनाम् उत्साहादीनामपि बहवो भेदा इति भावः । तथापि एकश इति । एकशः पृथग्रूपेणेति भावः ॥

तेषु युद्धवीरो यथा—

एतां पश्य पुरस्तटीमिह किल क्रीडाकिरातो हरः
कोदण्डेन किरीटिना सरभसं चूडान्तरे ताडितः ।
इत्याकर्ण्य कथाऽद्भुतं हिमनिधावद्रौ सुभद्रापतेः
मन्दं मन्दमकारि येन निजयोर्दोर्दण्डयोर्मण्डलम् ॥ १०३ ॥

(१) युद्धवीर

उनमें युद्धवीर का उदाहरण—

इस सामने की स्थली को देखो, यहीं पहले छल से किरात का रूप धारण करने वाले शिव के मस्तक पर अर्जुन ने वेग से प्रहार किया था। हिमालय पर सुभद्रा के पति अर्जुन की इस प्रकार की अद्भुत कथा को सुनकर जिस (शंकर) ने भी धीरे-धीरे अपनी दोनों भुजाओं को मण्डलाकार आयोजित कर सहलाया था। १०३ ॥

स्व० द०—यहाँ वीरता की स्पर्धा का भाव है।

एतामिति। पुरः अग्रतः एतां तटीं पर्वतैकदेशं पश्य अवलोकय, इह अस्यां किरीटिना अर्जुनेन क्रीडाकिरातः क्रीडार्थम् अर्जुनविप्रलम्भार्थमिति भावः किरातवेशधर इत्यर्थः हरः शम्भुः कोदण्डेन धनुषा चूडान्तरे शिरोभागे सरभसं सवेगं यथा तथा ताडितः प्रहृतः किल प्रसिद्धौ। पुरा पाण्डवः किरीटी हरं घोरेण तपसा प्रीणयामास स तु हरः प्रथमं तदीयोत्कटवीर्यप्रदर्शनार्थं स्वयं किरातराजरूपी छलेन तं प्रकोपयामास। स तु किरीटी तपसा तथा शीर्णकायोऽपि स्वं तेजः प्रकटयन् तेन किरातराजेन समं युयुधे। ततश्चातीव सन्तुष्टस्तेन तस्य धैर्येण तस्मै स्वाभिमतं वरं दत्तवानिति पौराणिकी वार्त्ता। हिमनिधौ अद्रौ हिमाद्रावित्यर्थः इत्येवं सुभद्रापतेः अर्जुनस्य कथाद्भुतम् अद्भुतां विक्रमकथामित्यर्थः आकर्ण्य श्रुत्वा येन निजयोः दोर्दण्डयोः बाहुदण्डयोः मण्डनम् अलङ्करणं मन्दं मन्दम् अकारि कृतं नाहं तथा वीर इति दुःखादिति भावः ॥ १०३ ॥

दानवीरो यथा—

दधिक्षीरघृताम्भोधिव्यञ्जनस्पृहणीयया ।
महादानोत्सवे यस्य हन्त कारायितं भुवा ॥ १०४ ॥

(२) दानवीर

दानवीर का उदाहरण—

(यह वह महाराज हैं) जिनके महादान के आनन्दोत्सव में बड़े आनन्द अथवा खेद की बात है दधि, क्षीर तथा घृत के समुद्रों से युक्त होने के कारण आदरणीय पृथ्वी कारा के सदृश हो गई ॥ १०४ ॥

दधीति। दधिक्षीरघृतानाम् अम्बुधयः समुद्राः दधिसमुद्रः क्षीरसमुद्रः घृतसमुद्रश्चेत्यर्थः तेषां व्यञ्जनेन प्रकटनेन स्पृहणीया प्रार्थनीया आदरणीयेति भावः यत्र तादृशाः सागराः सन्ति सा सर्वैरेव आदरणीया भवतीति भावः। किन्तु तथाभूतया भुवा पृथिव्या यस्य महादानोत्सवे महादानरूपानन्दव्यापारे कारायितं कारा बन्धनागारः तद्वत् आचरितं हन्तेति खेदे हर्षे च। अयं भावः। यथा कारायां न कोऽपि स्थातुमिच्छति नैव तामाद्रियते तथा अयं दानवीरः अवलीलया तादृशीं स्पृहणीयां निर्जितां महीं कारावत् अथिभ्यः त्यजतीति ॥ १०४ ॥

दयावीरो यथा—

स त्वं मदीयेन शरीरवृत्तिं देहेन निर्वर्त्तयितुं यतस्व ।
दिनावसानोत्सुकबालवत्सा विमुच्यतां धेनुरियं महर्षेः ॥ १०५ ॥

क्रोधस्य यद्यपि भीमादयो विशेषाश्चतुर्विंशतिः सम्भवन्ति तथापि ललितालालितोभयभेदेन रूपेण क्रमेण सर्वसंग्रहात् तत्र त्रय एव प्रकाराः प्रदर्श्यन्ते ॥

दयावीर का उदाहरण—

तुम मेरी ही देह से अपनी जीविका सम्पन्न करने का यत्न करो। दिन की समाप्ति के समय व्याकुल बच्चे वाली इस महर्षि की गाय को छोड़ दो। १०५॥

यद्यपि क्रोध के भी भीम आदि चौबीस प्रकार के भेद संभव हैं, तथापि ललित, अललित तथा उभय रूप से ही क्रमशः सबका संग्रह हो जाने से इनके तीन ही भेद प्रदर्शित किये जा रहे हैं।

स्व० द०—ऊपर प्रथम में पौरुषाधिक्य, द्वितीय में दानाधिक्य तथा दयाधिक्य का निरूपण होने से उन उन नामों वाले लक्षणों से युक्त उत्साह है। भोज की दानवीरता भरत की धर्मवीरता है।

स इति। **सः अङ्गागतसत्त्ववृत्तिः त्वं मम अयं मदीयः तेन देहेन कायेन शरीरवृत्तिं शरीररक्षणसाधनीं जीविकां निर्वर्त्तयितुं सम्पादयितुं यतस्व चेष्टस्व। दिनस्य अवसानेन अत्ययेन उत्सुकः उत्कण्ठितः बालः शिशुः वत्सः यस्याः तथाभूता महर्षेः वशिष्ठस्य इयं धेनुः विमुच्यतां त्यज्यताम्॥ १०५॥**

तेषु स्त्रीणां ललितः कोपभावो यथा—

भ्रूभेदिभिः प्रकम्पोष्ठैः ललिताङ्गुलितर्जनैः।
यत्र कोपैः कृताः स्त्रीणां सम्प्रसादार्थिनः प्रियाः॥ १०६॥

इनमें से स्त्रियों के ललित नामक कोप भाव का उदाहरण—

जहाँ नगरों में भ्रूभङ्गों, ओष्ठ के स्फुरणों तथा सुन्दर अँगुलियों के तर्जनों से युक्त क्रोध कृत्यों के द्वारा स्त्रियों के प्रियतम प्रसन्नता के आकांक्षी बना दिये गये॥ १०६॥

स्व० द०—भोज ने क्रोध के भीम अथवा भाम आदि चौबी भेदों का उल्लेख किया है। भरत रुद्रट, धनञ्जय के ग्रन्थों में इनका नाम भी नहीं मिलता है।

भ्रूभेदिभिरिति। **यत्र नगर्यां भ्रूभेदिभिः भ्रूभङ्गवद्भिः प्रकम्पः प्रकर्षेण कम्पमानः स्फुरन्नित्यर्थः ओष्ठः येषु तथोक्तैः सकम्पोष्ठैरिति पाठान्तरं ललितानि मनोज्ञानि 'ललितं त्रिषु सुन्दरमिति' त्रिकाण्डशेषः। अङ्गुलिभिः तर्जनानि येषु तैः स्त्रीणां कोपैः प्रणयजनितैरिति भावः प्रियाः कान्ताः सम्प्रसादं सम्यगनुग्रहम् अर्थयन्ते इति तथाभूताः कृताः॥ १०६॥**

प्रियापराधजन्मा दुःखोत्पीडो मन्युर्यथा—

धणुसो गुणवल्लरिविरइअकस्मावअंसदुप्पेछे।
वाहगरुइ णिसम्मइ वाहीए बहुमुहे दिट्ठी॥ १०७॥

ननु इयमीर्ष्या कस्मात् न भवति? नात्र मानदानामर्षणमात्रविवक्षा अपि तु तज्जनितो दुःखातिशय इति।

प्रिय के अपराध से उत्पन्न दुःखराशि मन्यु है, उसका उदाहरण—

धनुष की प्रत्यञ्चा से बनाये गये कर्णभूषण के कारण दुष्प्रेक्ष्य, हलवाहे की वधू के मुख पर उसकी निगाहें वाष्प से भरी हुई दृष्टिगोचर होती हैं ॥ १०७ ॥

भला यह ईर्ष्या क्यों नहीं होती ? उत्तर है कि यहाँ मान-दान-अमर्ष की विवक्षा नहीं है अपितु उससे उत्पन्न दुःख का आधिक्य है । (अतः ईर्ष्या नहीं हुई ।)

धनुषो गुणवल्लरिविरचितकर्णावतंसदुःप्रेक्ष्ये ।
वाष्पगुर्वी निशम्यते वाहीकवधूमुखे दृष्टिः ॥

धनुष इति । धनुषोऽर्पणेति संस्कृतपाठः प्रामादिकः धनुषो गुणेति पाठो युज्यते । अयमर्थः । धनुषः कार्मुकस्य भ्रूरूपस्येति ध्वन्यते गुणः मौर्वी स इव या वल्लरी मञ्जरी तया विरचितेन कर्णावतंसेन कर्णभूषणेन दुष्प्रेक्ष्यं दुर्दर्शं तस्मिन् धनुर्गुणदर्शनं भयहेतुरिति भावः वाहीकस्य कस्यचित् वहनकारिणः कृषीवलस्येति भावः या वधूः कान्ता तस्या मुखं तस्मिन् वाष्पगुर्वी अश्रुपूर्णेत्यर्थः दृष्टिः निशम्यते दृश्यते ॥ १०७ ॥

प्रियादिषु व्याजनिन्दोत्प्रासो यथा—

पहवन्ति व्विअ पुरिसा महिलाणं किं खु सुहअ ! विदिओसि ।
अणुराअलुलिआए को दोसो अहिजाईए ॥ १०८ ॥

हासस्य यद्यपि उपहासादयो भेदाः सम्भवन्ति तथापि विहसितेन तेषां संग्रहादिति न्यूनाधिकमिति त्रयस्तद्भेदा उदाह्रियन्ते ॥ १०८ ॥

प्रियतम आदि के प्रति व्याजनिन्दा के उत्प्रास होने का उदाहरण—

हे प्रिय, पुरुष स्त्रियों के प्रभु होते हैं क्या यह आपको मालूम है ? वस्तुतः अनुराग से समन्वित सुन्दरी का क्या दोष हो गया ॥ १०८ ॥

हास के उपभेदों का निरूपण

हास के यद्यपि उपहास आदि भेद संभव हैं फिर भी विहसित के द्वारा उनका संग्रह हो जाने से न्यून-अधिक भेद से उसके तीन ही भेदों के उदाहरण दिये जा रहे हैं—

स्व० द०—यहाँ व्याजनिन्दा का उल्लेख है । किसी महिला पर व्यर्थ का प्रभुत्व प्रदर्शित करने वाले प्रिय से कोई नायिका कहती है कि वस्तुतः प्रेम ही वह तत्त्व है जिसके कारण पुरुष महिलाओं पर अपना प्रभुत्व प्रदर्शित करते हैं । यदि वह नहीं है तो क्यों अपना अधिकार जमा रहे हो ?

प्रभवन्त्येव पुरुषा महिलानां किं खलु सुभग ! विदितोऽसि ।
अनुराग लुलितायाः को दोषोऽभिजातः ॥ १०८ ॥

प्रभवन्तीति । **हे सुभग ! प्रिय ! पुरुषाः पुमांसः महिलानां कामिनीनां प्रभवन्त्येव प्रभवः भवन्त्येव इति किं विदितोऽसि ज्ञातोऽसि ? अनुरागेण प्रेम्णा लुलितायाः वशं गतायाः इत्यर्थः नार्य्य इति शेषः कः दोषः अभिजातः उत्पन्नः ? न कोऽपि दोष इत्यर्थः केवलं प्रेमैव महिलायाः कान्तप्रभुत्वे हेतुर्नोचेत् कुतः प्रभुत्वमिति व्याजेन निन्दोत्प्रासः ॥ १०८ ॥**

तत्रेषद्धसितं स्मितं यथा—

पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यात् मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम् ।
ततोऽनुकुर्य्याद्विशदस्य तस्यास्ताम्रौष्ठपर्य्यस्तरुचः स्मितस्य ॥१०९॥

इनमें थोड़ा सा हँसना स्मित है। उसका उदाहरण—

यदि फूल नवकोपलों से उपहित हो जाये अथवा मोती के दाने प्रकट रूप से मूगे पर रख दिये जाय तभी उस पार्वती के लाल-लाल ओष्ठों पर अपनी कान्ति बिखेर रही विशद मुसकान की तुलना की जा सकती है ॥ १०९ ॥

पुष्पमिति। यदि पुष्पं कुसुमं प्रवालेन नवकिसलयेन उपहितं युक्तं प्रवालोपरिस्थितमिति यावत् स्यात् वा अथवा मुक्ताफलं मौक्तिकं स्फुटे विकासं गते विद्रुमे प्रवालाख्यरत्नभेदे तिष्ठतीति यथोक्तं स्यादिति पूर्वेणान्वयः। ततस्तदा तस्याः पार्वत्याः ताम्रे रक्ते ओष्ठे पर्यस्ता पतिता रुक् कान्तिर्यस्य तथाभूतस्य स्मितस्य मन्दहसितस्य अनुकुर्य्यात् समीकुर्य्यादित्यर्थः कर्मणि षष्ठी। तादृशं पुष्पं मुक्ताफलं वेति कर्त्तृपदम् ॥ १०९ ॥

दृष्टदशनकान्ति हसितं यथा—

तिमिरनिरुद्धभीमरजनीमुखचन्द्रिकया
गणपतिताण्डवाभिनयदर्शनदीपिकया ।
अभिभवसि त्वमद्य शशिनः श्रियमुत्कटया
दशनमयूखमञ्जरितया हसितप्रभया ॥ ११० ॥

जिसमें दान्तों की चमक दिखाई पड़ती है वह हसित है। जैसे—

(किसी वेश्या से उसका उपनायक कहता है कि) हे कान्ते, अन्धकारच्छन्न भयंकर रात्रि के प्रारम्भ में फैल रही चन्द्रप्रभा के सदृश लग रही, पुरुष समूह के स्वामी अपने विशेष प्रेमी अथवा गणेश के ताण्डव नृत्य को देखने के लिये ली गई दीपिका के सदृश चमक वाली, दाँतों के किरण समूहों से समन्वित हँसने की शोभा द्वारा तो तुम चन्द्रमा की शोभा को परास्त कर दे रही हो ॥ ११० ॥

तिमिरेति। हे कान्ते! इत्यध्याहार्य्यं त्वं तिमिरेण अन्धकारेण निरुद्धा अतएव भीमा भयङ्करी या रजनी रात्रिः तस्या मुखे चन्द्रिका ज्योत्स्ना तया तत्स्वरूपयेत्यर्थः, गणः पुरुषाणां समूह एव पतिः कान्तः गणेशश्च तस्य ताण्डवाभिनयः नृत्याभिनयः तस्य दर्शने दीपिका तया तत्स्वरूपयेत्यर्थः उत्कटया महत्या दशनानां दन्तानां मयूखैः किरणैः मञ्जरिता सञ्जातमञ्जरीका मञ्जरीव आभासमानेत्यर्थः तथाभूतया हसितप्रभया हासश्रिया अद्य शशिनः चन्द्रस्य श्रियं कान्तिम् अभिभवसि तिरस्करोषि। कामपि गणिकां प्रति तदुपनायकस्योक्तिरियम् ॥ ११० ॥

तदेव सविशेषं विहसितं यथा—

च्युतामिन्दोर्लेखां रतिकलहभग्नञ्च वलयं
द्वयं चक्रीकृत्य प्रहसितमुखी शैलतनया ।

अवोचद् यं पश्येत्यवतु स शिवः सा च गिरिजा
स च क्रीडाचन्द्रो दशनकिरणापूरिततनुः ॥ १११ ॥

विशिष्टता से युक्त वही (अर्थात् हसित ही) विहसित है, जैसे—

गिरी हुई चन्द्रकला तथा रतिकलह में टूटे हुये कंगन दोनों को एक साथ चन्द्राकार जुटाकर हँसते हुये मुख वाली पर्वत पुत्री पार्वती ने जिसको कहा कि "देखो" वह शिव, वही पार्वती और दन्तच्छटा से प्रकाशित शरीर वाला खेल का चन्द्रमा रक्षा करे ॥ १११ ॥

स्व० द०—भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में (६।५१-६१) षड्विध हास्य का विवेचन किया है। दशरूपक में अत्यन्त संक्षेप में उनकी लक्षण के साथ गणना है—

स्मितमिह विकासिनयनम्, किञ्चिल्लक्ष्यद्विजं तु हसितं स्यात् ।
मधुरस्वरं विहसितम् सशिरःकम्पमिदमुपहसितम् ॥
अपहसितं साम्राक्षम्, विकृताङ्गम् भवत्यतिहसितम् ।
द्वे द्वे हसिते चैषा ज्येष्ठे मध्येऽधमे क्रमशः ॥ ४।७६-७७ ॥

च्युतामिति। शैलतनया पार्वती च्युतां शिरसः भ्रष्टां रतिकलहेनेति भावः इन्दोश्चन्द्रस्य लेखां हरशिरश्चन्द्रकलामित्यर्थः, रतिकलहेन भग्नं दलितं वलयञ्च स्वकरस्थितमिति भावः स्वयं चक्रीकृत्य अर्द्धचन्द्रार्द्धवलययोजनात् वर्त्तुलीकृत्य पश्य अवलोकय पूर्णचन्द्रमिति शेषः इति यम् अवोचत् उक्तवती, स शिवः, सा गिरिजा पार्वती च तथा दशनकिरणैः उभयोः पार्वतीपरमेश्वरयोरिति भावः आपूरिता परिपुष्टा तनुरवयवः यस्य तथाभूतः स क्रीडाचन्द्रश्च क्रीडनार्थं पूर्वोक्तोभययोजनात् कृत्रिमचन्द्रश्चेत्यर्थः अवतु रक्षतु अस्मान् युष्मान् वेति शेषः ॥ १११ ॥

सुप्तविशेषः स्वप्नो यथा—

जाने कोपपराङ्मुखी प्रियतमा स्वप्नेऽद्य दृष्टा मया
मा मा संस्पृश पाणिनेति रुदती गन्तुं प्रवृत्ता पुरः ।
नो यावत्परिरभ्य चाटुकशतैराश्वासयामि क्षणं
भ्रातस्तावदहं शठेन विधिना निद्रादरिद्रीकृतः ॥ ११२ ॥

(स्वप्न)

विशेष प्रकार की सुप्ति स्वप्न है, जैसे—

(हे भाई) स्वप्न में मुझे लगा कि क्रोध के कारण विमुख रहने वाली मेरी प्रेयसी आज दिख गई। "मुझे मत छुओ, मत छुओ" यह हाथ से संकेत करने के साथ रोती हुई आगे जाने के लिये प्रवृत्त हो गई। आलिङ्गन करके जब तक मैं सैकड़ों चापलूसियों द्वारा अपनी उस प्रेयसी को प्रसन्न भी नहीं कर पाया था, कि तब तक इस दुष्ट विधाता के द्वारा निद्रा से दरिद्र कर दिया गया ॥ ११२ ॥

जाने इति। हे भ्रातः ! जाने अनुभवामीत्यर्थः। अद्य स्वप्ने निद्रावस्थायां मया कोपेन पराङ्मुखी विमुखी प्रियतमा कान्ता दृष्टा अवलोकिता। सा पाणिना करेण मा न संस्पृश इति उक्तेति शेषः रुदती क्रन्दन्ती पुरः अग्रतः गन्तुं प्रचलितुं प्रवृत्ता उद्यता। अहं यावत् परिरभ्य आलिङ्गय क्षणं चाटुकशतैः प्रियवचनसमूहैरित्यर्थः आश्वासयामि प्रसादयामि

तावत् शठेन धूर्त्तेन वञ्चकेनेत्यर्थः विधिना दैवेन निद्रादरिद्रीकृतः विनिद्रः कृत इत्यर्थः। सखायं प्रति प्रोषितस्योक्तिः ॥ ११२ ॥

मूर्च्छाविशेषो मरणं यथा--

क्षणमात्रसखीं सुजातयोः स्तनयोस्तामवलोक्य विह्वला।
निमिमील नरेन्द्रसुन्दरी हृतचन्द्रा तमसेव शर्वरी ॥११३॥

विशेष प्रकार की मूर्च्छा मरण है—जैसे—

दोनों सुन्दर स्तनों की एक क्षण की सखी उस माला को देख कर व्याकुल हुई वह राजा की सुन्दरी इन्दुमती राहु के द्वारा जिसका चन्द्रमा हर लिया गया है, उस रात्रि की भाँति समाप्त हो गई ॥ ११३ ॥

क्षणेति। नरेन्द्रस्य नरपतेः सुन्दरी इन्दुमती सुजातयोः सुन्दरयोः स्तनयोः क्षणमात्रसखीं पतनमात्रसङ्गिनीं तां मालाम् अवलोक्य दृष्ट्वा विह्वला विवशा सती तमसा राहुणा 'तमस्तु राहुः स्वर्भानु'रित्यमरः। हृतः तिरोहित इत्यर्थः चन्द्रो यस्याः तथाभूता शर्वरीव रात्रिरिव निमिमील निमीलनं चकार ममारेत्यर्थः ॥ ११३ ॥

मतिविशेषः शमो यथा--

यदासीदज्ञानं स्मरतिमिरसंस्कारजनितं
तदा दृष्टं नारीमयमिदमशेषं जगदपि।
इदानीमस्माकं पटुतरविवेकाञ्जनजुषां
समीभूता दृष्टिस्त्रिभुवनमपि ब्रह्म मनुते ॥ ११४ ॥

विशेष प्रकार की मति शम है। जैसे—

जब तक कामदेव रूपी अंधकार के संस्कार से उत्पन्न अज्ञान था, तब तक यह सम्पूर्ण संसार ही नारीमय दिखा, किन्तु इस समय विशिष्ट विवेक रूपी अञ्जन से युक्त हमारी दृष्टि समान हो गई हैं और तीनों लोकों को भी ब्रह्म मानती है ॥ ११४ ॥

स्व० द०—ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट है कि विशेष प्रकार की सुषुप्ति ही स्वप्न है, चेतना का लोप मरण है और बुद्धि निखार का एक प्रकार 'शम' है।

रुद्रट के मतानुसार भी त्रिविध हास्य तीन प्रकार के पात्रों के आधार पर होता है—

नमनकपोलविलासी किंचिल्लक्ष्यद्विजोऽप्यसौ महताम्।
मध्यानां विवृतास्य सशब्दवाष्पश्च नीचानाम् ॥ काव्यालंकार १५।१२।

इसके पश्चात् भोजराज पहले संकेतित सुप्त, प्रलय, मति आदि के स्वप्न, मरण, शम आदि भेदों का उदाहरण देंगे।

यदेति। यदा स्मरः काम एव तिमिरं तमः तस्य संस्कारेण आवेशेन जनितम् उत्पादितम् अज्ञानं मोह इति यावत् आसीत् अस्माकमिति शेषः तदा इदम् अशेषं समस्तं जगत् नारीमयं कान्तामयं दृष्टम् अवलोकितम्। इदानीम् अधुना पटुतरः समुज्ज्वलतरः यो विवेकः सदसज्ज्ञानमित्यर्थः स एव अञ्जनं कज्जलं तज्जुषां तत्सेविनां

तादृशविवेकवतामित्यर्थः अस्माकं दृष्टिः समीभूता समतां प्राप्ता असारताज्ञानेन सर्वं लोष्टकाञ्चनादिकं सममित्येवं दर्शनमिति भावः त्रिभुवनमपि त्रिलोकीतलगतं सर्वमेव वस्तु इत्यर्थः ब्रह्म मनुते अवधारयति 'सर्वं ब्रह्ममयं जगदिति' श्रुतेरिति भावः ॥ ११४ ॥

एवमन्येऽपि विज्ञेयाः रसा भावादिसंश्रया ।
विशेषः प्राप्तकालोऽथ परिपोषो निगद्यते ॥ १६९ ॥

तत्राश्रयस्त्रिधा पुमान् स्त्री तिर्य्यगादयः ।

परिपोष

इसी प्रकार से दूसरे भी भाव आदि पर आश्रित रस समझे जाने चाहिये । समयोचित विलक्षण परिपोष का कथन हो रहा है ॥ १६९ ॥

इनमें से आश्रय तीन प्रकार का है—पुरुष, स्त्री, तिर्यक् आदि ।

एवमिति । अन्येऽपि शृङ्गारवीरादिव्यतिरिक्ता अपि भावादिसंश्रयाः भावाद्यवलम्बना रसा विज्ञेयाः वेदितव्याः । अथेदानीं प्राप्तकालः समयोचित इति यावत् विशेषः विलक्षण इत्यर्थः परिपोषः पुष्टिः स्फुरणमिति यावत् रसानामिति शेषः निगद्यते कथ्यते । परिपोष इत्यत्र परिशेष इति पाठान्तरम् ।

तत्रेति । तत्र परिपोषे परिपोषस्येत्यर्थः आश्रयः अवलम्बनम् ॥ १६९ ॥

तेषु पुमान् यथा—

आश्चर्य्यमुत्पलदृशो वदनामलेन्दु-
सान्निध्यतो मम मुहुर्जडिमानमेत्य ।
जाड्येन चन्द्रमणिनेव महीधरस्य
सन्धार्य्यते द्रवमयो मनसा विकारः ॥ ११५ ॥

इनमें से पुरुष (आश्रय) का उदाहरण—

(मित्र के प्रति किसी कामी की उक्ति है । वह कहता है कि—) बड़े आश्चर्य की बात है कि नीलकमल के सदृश नयनों वाली सुन्दरी के निर्मल चन्द्रसदृश मुख के सन्निधान के कारण बारबार जड़ता प्राप्त करके पुनः शीतल चन्द्रकान्तमणि की संन्निधि से पर्वत की भाँति मेरे मन के द्वारा भी द्रवमय विकार धारण किया जा रहा है ॥ ११५ ॥

स्व० द०—यहाँ आश्रय है एक कामी पुरुष जो आत्मदशा का वर्णन कर रहा है ।

आश्चर्य्यमिति । मम मनसा चित्तेन उत्पले नीलपद्मे इव दृशौ यस्याः तथाभूतायाः कान्ताया इति शेषः वदनम् अमलः निर्मल इन्दुश्चन्द्र इव वदनामलेन्दुः तस्य सान्निध्यतः सन्निधावस्थानादित्यर्थः मुहुः पौनःपुन्येन जडिमानं जाड्यं शैत्यातिशयमित्यर्थः पुनः पुनर्वदनचन्द्रदर्शनजनितेनानन्देनेति भावः एत्य प्राप्य जाड्येन चन्द्रमयूखस्पर्शजनितेन शैत्येनेति यावत् हेतुना महीधरस्य पर्वतस्य चन्द्रमणिनेव चन्द्रकान्तोपलेनेवेत्यर्थः द्रवमयः रसमय इत्यर्थः विकारः विकृतिभावः सन्धार्य्यते गृह्यते । सखायं प्रति कस्यचित् कामिनः उक्तिः ॥ ११५ ॥

स्त्री यथा—

तेनाथ नाथदुरुदाहरणातपेन
सौम्यापि नाम परुषत्वमभिप्रपन्ना ।
जज्वाल तीक्ष्णविशदाः सहसोद्गिरन्ती
वागर्च्चिषस्तपनकान्तशिलेव सीता ॥ ११६ ॥

स्त्री के आश्रय होने पर उदाहरण—
(अर्थ के लिये द्रष्टव्य—१।२००)

तेनेति । अथानन्तरं सीता जानकी सौम्यापि शान्तप्रकृतिरपि तेन पूर्वोक्तेन नाथस्य पत्युः रामस्य दुरुदाहरणेन दुर्वचसेत्यर्थः परुषत्वं तीक्ष्णत्वं अभिप्रपन्ना प्राप्ता कुपितेति यावत् तपनकान्तशिलेव सूर्य्यकान्तदृषदिव सहसा तत्क्षणमित्यर्थः तीक्ष्णाः कठिनाः विशदाः स्पष्टाश्च ताः वाचः अर्च्चिष इव ज्वाला इव वागर्च्चिषः उद्गिरन्ती उद्वमन्ती प्रकटयन्तीति यावत् सती जज्वाल भृशं सन्तापमवापेत्यर्थः ॥ ११६ ॥

तिर्य्यगादिषु यथा—

उत्कूजति श्वसिति मुह्यति याति तीरं
तीरात् तरुं तरुतलात् पुनरेव वापीम् ।
वाप्यां न रज्यति न चात्ति मृणालखण्डं
चक्रः क्षपासु विरहे खलु चक्रवाक्याः ॥ ११७ ॥

विषयस्त्रिधा चेतनस्तिर्य्यगचेतनश्च ।

तिर्यक् आदि के आश्रय होने पर उदाहरण—

चक्रवाक पक्षी रात्रियों में चक्रवाकी के वियोग में जोर-जोर से चिल्लाता है, दीर्घ उसासें भरता है, मूर्च्छित हो जाता है, तालाब के तट पर जाता है, तट से वृक्ष की ओर जाता है और वृक्ष से पुनः तडाग में जाता है। वापी में भी वह सुख नहीं पाता और न विसतन्तु को खाता ही है ॥ ११७ ॥

विषय तीन प्रकार का है—चेतन, तिर्यक् तथा अचेतन ।

स्व० द०—आश्रय के पश्चात् अब रस के विषयों का निरूपण हो रहा है ।

उत्कूजतीति । चक्रः चक्रवाकः पक्षिविशेषः क्षपासु रजनीषु चक्रवाक्याः स्वभार्य्यायाः विरहे उत्कूजति उच्चैः रौति, श्वसिति दीर्घनिश्वासं त्यजति, मुह्यति मोहं प्राप्नोति, तीरं तटं जलाशयस्येति भावः याति तत्र प्रिया गतेति भ्रान्त्येति भावः एवम् उत्तरत्र । तीरात् तरुं याति, तरुतलात् पुनरेव वापीं सरसीं यातीति पूर्वेणान्वयः । वाप्यां सरसि न रज्यति न तुष्यति, मृणालखण्डं न च अत्ति न च खादति । खल्विति कविसमयप्रसिद्धिसूचकम् ॥ ११७ ॥

तेषु चेतनो यथा—

इयं सा लोलाक्षी त्रिभुवनललामैकवसतिः
स चायं दुष्टात्मा स्वसुरपकृतं येन मम तत् ।

इतस्तीव्रः कामो गुरुरयमितः क्रोधदहनः
कृतो वेषश्चायं कथमिदमिति भ्राम्यति मनः ॥ ११८ ॥

रस का विषय

इनमें से चेतन का उदाहरण—

यह है वह चञ्चलनयना जो त्रैलोक्य के सौन्दर्य का एकमात्र निधान है, यह है वह पापी जिसने मेरी बहन का उस प्रकार अपकार किया। इधर प्रचण्ड काम है और इधर है यह महती क्रोधाग्नि। वेष यह बनाया गया है। अब यह कार्य कैसे हो, यही सोचकर मन चकरा रहा है ॥ ११८ ॥

स्व० द०—यहाँ की यह उक्ति रावण की है।

इयमिति। सा यदर्थं मया सततं चिन्त्यते यदर्थञ्च मम सर्वनाशो जात इति भावः इयं पुरो वर्त्तमानेति हस्तनिर्देशः लोलाक्षी चपलनयना जानकीति शेषः। अयञ्च द्वारस्थितश्चेति भावः सः मम सर्वनाशक इति भावः दुष्टात्मा दुराचारः राम इति शेषः। येन रामेण मम स्वसुः भगिन्याः शूर्पणखाया इत्यर्थः तत् नासाकर्णच्छेदनरूपमिति भावः अपकृतं अनिष्टमाचरितम्। इतः अस्यां जानक्यां तीव्रः दुष्परिहर इति भावः कामः भोगासक्तिरिति यावत्। इतः अस्मिन् रामे अयं गुरु महान् क्रोधदहनः कोपाग्निः। अयञ्च वेषः जानकी-प्राणनाशार्थमुत्कटः परिच्छद इति यावत् कृतः धृतः। इदं जानकीहननं कथं केन प्रकारेण क्रियते इति शेषः इति हेतोः मनः भ्राम्यति दोलायमानं तिष्ठतीत्यर्थः रावणस्योक्तिरियम् ॥ ११८ ॥

तिर्य्यग् यथा—

आयाते दयिते मरुस्थलभुवां सञ्चिन्त्य दुर्लङ्घतां
गेहिन्या परितोषवाष्पतरलामासज्य दृष्टिं मयि।
दत्त्वा पीलुशमीकरीरकवलान् स्वेनाञ्चलेनादरात्
उन्मृष्टं करभस्य केसरसटाभाराग्रलग्नं रजः ॥ ११९ ॥

तिर्यक् का उदाहरण—

प्रियतम के परदेश से लौट आने पर मरुस्थल की भूमि को पार करने की कठिनाइयों को सोचकर गृहिणी ने संतोष से आये हुये अश्रुबिन्दुओं से चञ्चल निगाहों को मुझ पर लगा कर उसने ऊँट को पीलु, शमी तथा करीर के ग्रास दिये और बड़ी भावभक्ति के साथ अपने अञ्चल से ही उसकी गर्दन की रोमराजियों के अग्रभाग में लगी हुई धूलि को पोंछ दिया ॥ ११९ ॥

आयाते इति। दयिते कान्ते मयि आयाते आगते सति मरुदेशप्रवासादिति भावः गेहिन्या मम प्रिययेत्यर्थः मरुस्थलभुवां मरुभूमिप्रदेशानां दुर्लङ्घतां लङ्घितुमशक्यतां सञ्चिन्त्य भावयित्वा परितोषेण सन्तोषेण वाष्पाणि अश्रूणि तैः तरलां चञ्चलां दृष्टिम् आसज्य आसक्तीकृत्येत्यर्थः मयीति शेषः पीलुशमीकरीरकवलान् तत्तद्दुष्प्रभक्ष्याणि द्रव्याणीत्यर्थः दत्त्वा मद्वाहकाय उष्ट्रायेति भावः आदरात् अतीव मे उपकृतमनेन दुर्लङ्घय-मरुदेशात् प्रियतमानयनेनेति यत्नातिशयात् स्वेन निजेन अञ्चलेन वसनप्रान्तेन करभस्य

उष्ट्रस्य केसराणां गात्रलोम्नां सटानां जटानाञ्च अग्रेषु लग्नं संसक्तं रजः धूलिः उन्मृष्टम् अपनीतम् ॥ ११९ ॥

अचेतनो यथा—

क्षिप्तं पुरो न जगृहे मुहुरिक्षुकाण्डं
नापेक्षते स्म निकटोपगतां करेणुम् ।
सस्मार वारणपतिः परिमीलिताक्षं
इच्छाविहारवनवासमहोत्सवान्तम् ॥ १२० ॥

ज्ञानं त्रिधा दृष्टं श्रुतम् अनुमानञ्च ।

अचेतन का उदाहरण—

सामने फेके गये ईख के टुकड़े को उसने ग्रहण नहीं किया, पास में आई हुई हस्तिनी की ओर भी उसने नहीं देखा, वह गजराज तो बस अपनी आँखों को बन्द किये हुये वनवास कालीन स्वेच्छापूर्वक विहार के महान् उत्सव की समाप्ति के विषय में सोचता रहा ।। १२० ।।

ज्ञान तीन प्रकार का है दृष्ट, श्रुत तथा अनुमान ।

स्व० द०—अन्तिम श्लोक में गजराज का निरूपण होने से ऐसी भ्रान्ति होती है कि यहाँ भी तिर्यक् का ही उदाहरण मानना चाहिये, किन्तु वस्तुतः प्रतिपाद्य हाथी नहीं उसकी स्वाधीनता की समाप्ति और तद्विषयक चिन्तन है जो बेजान है ।

क्षिप्तमिति । **वारणपतिः गजराजः नवधृत इति भावः मुहुः पुनः पुनः पुरः अग्रतः क्षिप्तं दत्तम् इक्षुकाण्डम् इक्षुदण्डं न जगृहे न गृह्णाति स्म । निकटे उपगताम् उपस्थितां करेणुं हस्तिनीं न अपेक्षते स्म नावलोकयति स्म । केवलं परिमीलिते मुद्रिते अक्षिणी यत्र तद् यथा तथा इच्छया विहारो यत्र तथाभूतः यो वनवासः स एव महोत्सवः तस्य अन्तः रम्यता तं सस्मार स्मरति स्म । स्वाधीनतैव सर्वेषां प्रीतये इति भावः ॥ १२० ॥**

तेषु दृष्टं यथा—

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति ।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनम् ॥ १२१ ॥

ज्ञाननिरूपण

इनमें से दृष्ट का उदाहरण—

सेवार से संसक्त रहने पर भी कमल रमणीय होता है, मैला होने पर भी चिह्न चन्द्रमा की शोभा का विस्तार करता है । यह तन्वी शकुन्तला इस वल्कल वस्त्र के द्वारा भी अधिक मनोहर प्रतीत होती हैं क्योंकि मनोहर स्वरूप वालों के लिये क्या आभूषण सा नहीं हो जाता ? ॥१२१॥

सरसिजमिति । **शैवलेन जलनील्या 'जलनीली-तु शैवालं शैवलमि'त्यमरः । अनुविद्धम् उपहितमपि सरसिजं पद्मं रम्यं मनोहरम् । हिमांशोः चन्द्रस्य लक्ष्म कलङ्करेखा मलिन-मपि श्यामलमपि लक्ष्मीं श्रियं तनोति विस्तारयति । तथा इयं पुरोदृश्यमाना तन्वी**

कृशाङ्गी शकुन्तलेति शेषः वल्कलेनापि चीरपरिधानेनापि अधिकं यथा तथा मनोज्ञा मनोहारिणी। हि तथाहि मधुराणां रम्याणाम् आकृतीनाम् अवयवानां किमिव वस्त्विति शेषः मण्डनं न ? भूषणं न ? अपितु सर्वमेव वस्तु रम्यमङ्गं भूषयतीति भावः ॥ १२१ ॥

श्रुतं यथा--

किं रूपं स्फुटमेव सा शशिमुखी धत्ते तदत्यद्भुतं
मामुत्साहयितुं परापकरणे चित्तं किमस्मत् स्वसुः।
इत्यन्तर्विकसद्वितर्कविधुरं चेतस्तथा वर्त्तते
स्वल्पोऽप्येष मम प्रयाति पुरतः पन्था यथा दीर्घताम् ॥१२२॥

श्रुत का उदाहरण—

वह चन्द्रमुखी सीता क्या सच ही उस प्रकार का अद्भुत रूप धारण करती है अथवा कहीं दूसरे का अपकार करने के लिये मेरी बहन (शूर्पणखा) का चित्त मुझे उत्साहित करने के लिये तो नहीं है ? इस प्रकार भीतर ही भीतर उठ रहे विभिन्न तर्कों के कारण विह्वल मेरा चित्त इस प्रकार का हो गया है कि मेरे लिये यह थोड़ा सा ही होने पर भी (पञ्चवटी का) मार्ग मेरे सामने बढ़ता ही चला जा रहा है ॥ १२२ ॥

किमिति। सा शशिमुखी चन्द्रवदना सीता तत् यथा शूर्पणखया अभिहितं यदिति भावः अत्यद्भुतम् अत्याश्चर्य्यं रूपं सौन्दर्य्यं स्फुटमेव सत्यमेव धत्ते धारयति किम् ? परस्य अपकरणे अनिष्टविधाने माम् उत्साहयितुम् उत्तेजयितुम् अस्मत्स्वसुः अस्मद्-भगिन्याः शूर्पणखायाः चित्तं मनः किम् ? इत्येवम् अन्तर्विकसता मनसि स्फुरता वितर्केण सन्देहेन विधुरं व्याकुलम् आन्दोलितमिति यावत् चेतः चित्तं मदीयमिति शेषः तथा वर्त्तते तद्रूपेण तिष्ठति यथा स्वल्पोऽपि अत्यल्पोऽपि एषः पन्थाः पञ्चवटीप्रमाणमार्ग इति यावत् मम पुरतः अग्रतः दीर्घतां विपुलतां प्रयाति गच्छति। रावणस्य शूर्पणखावाक्यात् सीतां हर्त्तुं प्रस्थितस्य अध्वनि वितर्कोक्तिरियम् ॥ १२२ ॥

अनुमानं यथा--

शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरति च बाहुः कुतः फलमिहाऽस्य ?
अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र ॥ १२३ ॥

अनुमान का उदाहरण—

यह शान्त तपोवन है, किन्तु भुजा फड़क रही है। यहाँ इस भुजा के फड़कने का फल (स्त्रीप्राप्ति) कहाँ ? अथवा होनी के द्वार तो सर्वत्र होते हैं ॥ १२३ ॥

स्व० द०—इन तीन उद्धरणों से प्रतीत होता है कि भोज और किसी प्रकार का ज्ञान भेद नहीं मानते। प्रथम की सारी वस्तुयें स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष हैं। रूपसी शकुन्तला स्वयं भी दृष्टि-गोचर। दूसरे में बहन की कही बातों को सुनने से वितर्क आदि का अभ्युदय है, अतः श्रुति पर आधारित है। यहाँ श्रुति का अर्थ न तो आप्तवचन है न वेद शास्त्र। केवल सुनी सुनाई बात ही इसका विषय है। यहाँ के अनुमान में भी विवेचना करने पर अनेक हेत्वाभास मिलेंगे। अतः वह भी निर्दुष्ट नहीं है। इससे सिद्ध है कि साहित्य का अनुमान आदि अर्थ में न्यूनाधिक समान होने पर भी दर्शनशास्त्र का ही नहीं है।

संस्कार निरूपण

संस्कारस्त्रिधा आदृतः पटुरभ्यस्तश्चेति

संस्कार तीन प्रकार का होता है—आदृत, पटु तथा अभ्यस्त ।

शान्तमिति । इदम् आश्रमपदं तपोवनविभागः शान्तं शान्तिरसपूर्णं, नात्र कामादीनामवकाशोऽस्तीति भावः । बाहुश्च दक्षिणः इति शेषः स्फुरति स्पन्दते । पुंसां दक्षिणबाहुस्फुरणस्य स्त्रीलाभसूचकत्वमुक्तं निमित्तज्ञैरिति । अस्य बाहुस्फुरणस्य फलं स्त्रीलाभरूपमिति भावः इह अस्मिन् शान्ते आश्रमपदे कुतः ? कथम् ?। अथवा पक्षान्तरे सर्वत्र सर्वस्मिन्नेव स्थाने भवितव्यानाम् अवश्यम्भाविनां विषयाणां द्वाराणि पन्थानः भवन्ति । अविलम्बभाविनां विषयाणां यस्मिन् कस्मिन्नपि स्थाने सूचनं सम्भवतीति भावः ॥ १२३ ॥

तत्र आश्रयगुणेनादरादुत्पन्न आदृतो यथा—

कन्यारत्नमयोनिजन्म भवतामास्ते वयश्चार्थिनो
रत्नं यत् क्वचिदस्ति तत्परिणमत्यस्मासु शक्रादपि ।
कन्यायाश्च परार्थतैव हि मता तस्याः प्रदानादहं
बन्धुर्वो भविता पुलस्त्यपुलहप्रष्ठाश्च सम्बन्धिनः ॥ १२४ ॥

इनमें से आश्रय के गुण के कारण आदर से उत्पन्न संस्कार आदृत है । जैसे—(जनक से रावण कह रहा है कि—) आपके पास योनि से न उत्पन्न होने वाली रत्नभूता कन्या है और हम उसके याचक हैं । जो कोई भी रत्न कहीं है, वह इन्द्र की भी तुलना में परिणामतः हमारे ही पास आता है । (इसके अतिरिक्त भी आखिर) कन्या दूसरों को देने के लिये ही तो मानी गई है । उसको मुझे देने से मैं आपका मित्र बन जाऊँगा और पुलस्त्य तथा पुलह रूप अग्रज आपके सम्बन्धी हो जायेंगे ॥ १२४ ॥

कन्येति । नास्ति योनितः जन्म यस्य तत् अयोनिजन्म कन्यारत्नं रत्नभूता कन्येत्यर्थः भवतां युष्माकम् आस्ते तिष्ठति । वयञ्च अर्थिनः तत् कन्यारत्नाकाङ्क्षिण इत्यर्थः । क्वचित् कुत्रापि स्थाने यत् रत्नम् अस्ति विद्यते, तत् रत्नं शक्रादपि इन्द्रमपेक्ष्यापि अस्मासु परिणमति अस्मद्भोग्याय भवति इन्द्रोऽपि न तस्याधिकारी अपिकारात् अन्येषां कथा दूरे तिष्ठत्विति गम्यते । कन्या गृहे एव रक्ष्यत न कस्मैचिदपि दीयते तत्कथं तवेदृशी प्रार्थनेत्यत्राह कन्याया इति । हि यतः कन्यायाः परार्थता परप्रतिपादनीयतेत्यर्थः एव मता निरूपिता धीरैरिति शेषः ननु स्वगृहरक्षणीयतेति एवकारार्थः । तस्याः कन्यायाः प्रदानात् अहं विश्वविजेता रावण इत्यात्मनिर्देशः वः युष्माकं बन्धुः सखा भविता भावी तृच्प्रत्ययः । पुलस्त्यपुलहप्रष्ठाः पुलस्त्यपुलहौ प्रष्ठौ अग्रगौ येषां ते ब्रह्मपुत्रा इत्यर्थः सम्बन्धिनः पौत्रस्य मम विवाहसम्बन्धात् बन्धवः भविष्यन्तीति निष्कर्षः । जनकं प्रति रावणस्योक्तिः ॥ १२४ ॥

विषयगुणेन पटुप्रत्ययादुत्पन्नः पटुर्यथा—

उत्पत्तिर्दैवयजनाद् ब्रह्मवादी नृपः पिता ।
सुप्रसन्नोज्ज्वला मूर्त्तिरस्याः स्नेहं करोति मे ॥ १२५ ॥

विषय के गुण के कारण पटु प्रत्यय से उत्पन्न पटु का उदाहरण—

इसका जन्म देवताओं के यज्ञ क्षेत्र से हुआ। इसके पिता ब्रह्मवादी राजा जनक हैं। अतः इसकी यह उज्ज्वल मूर्ति अत्यन्त प्रसन्नता के कारण मुझ में स्नेह उत्पन्न किये दे रही है ॥ १२५ ॥

विषयगुणेनेति। **विषयाणां कारणभूतानां वस्तूनां गुणेन प्रभावेण पटुप्रत्ययात उत्कृष्ट-विश्वासात् पटुः उज्ज्वलः शृङ्गाररस इति शेषः।**

उत्पत्तिरिति। **अस्याः कन्यायाः देवयजनात् देवानां यज्ञक्षेत्रात् उत्पत्तिः उद्भवः एतेन अतिविशुद्धता गम्यते। ब्रह्मवादी ब्रह्मतत्त्वज्ञः नृपः जनकः पिता पालक इति यावत् एतेन विद्यादिगुणवत्तातिशयी गम्यते। तथा सुप्रसन्ना सम्यक् प्रसादगुणसम्पन्ना उज्ज्वला रुचिरा च मूर्त्तिः अवयवः मे मम स्नेहं प्रणयं करोति जनयति ॥ १२५ ॥**

ज्ञानपौनःपुन्येनाभ्यासप्रत्ययादुत्पन्नोऽभ्यस्तः।

स यथा—

भूयो भूयः सविधनगरीरथ्यया पर्य्यटन्तं
दृष्ट्वा दृष्ट्वा भवनवलभीतुङ्गवातायनस्था।
साक्षात् कामं नवमिव रतिर्मालती माधवं यत्
गाढोत्कण्ठालुलितलुलितैरङ्गकैस्ताम्यतीति ॥ १२६ ॥

अत्र यद्यपि विषयगुणात् पटुः आश्रयगुणाच्च आदृतोऽपि प्रत्ययः पटु-मादृतं संस्कारं प्रसूयते तथापि अभ्यासात् पटीयानादृततमश्च जायमानोऽ-भ्यस्त इत्युच्यते ॥ १२६ ॥

उद्दीपनविभाव के तत्त्व

ज्ञात वस्तु के बार-बार अभ्यास के विधान से उत्पन्न होने वाला ज्ञान अभ्यास है। उसका उदाहरण—

गृह के सर्वोच्च कक्ष में ऊँचे वातायन के पास बैठी हुई रति की भाँति सुन्दर मालती ने बार-बार साक्षात् नये कामदेव की भाँति निकटवर्ती नगर के मार्ग से घूमते हुये माधव को जो बार-बार देखा उससे उत्पन्न उग्र अभिलाषा के कारण चञ्चल-चञ्चल शरीर के अवयवों से अत्यन्त कृश होती जा रही है ॥ १२६ ॥

यहाँ यद्यपि विषय के गुण से पटु तथा आश्रय के गुण से आदृत भी प्रत्यय पटु तथा आदृत संस्कार को उत्पन्न करता है, फिर भी अभ्यास अर्थात् बार-बार के कर्मविधान से बहुत अधिक पटु तथा सबसे अधिक आदृत उत्पन्न होकर 'अभ्यस्त' कहा जाता है।

स्व० द०—यहाँ भोज ने 'अभ्यास' का उक्त दोनों संस्कारों से भेद स्पष्ट किया। वस्तुतः अभ्यास भी पटु और आदृत के सदृश ही विषय तथा आश्रय के गुणों से निष्पन्न होता है, अतः उनसे पृथक् नहीं प्रतीत होता, तथापि दोनों में अन्तर यह है कि अनेक बार उक्त विधानों के होने से पटु तथा आदृत दोनों में विशेष निखार आ जाता है। यही अभ्यास है। अतः यह उक्त दोनों से भिन्न सिद्ध हो जाता है।

भूय इति। **भवनस्य गृहस्य या वलभी शिरोगृहविशेषः तस्याः तुङ्गम् उन्नतं यद् वातायनं गवाक्षः तत्र तिष्ठतीति तथोक्ता मालती रतिः कामपत्नी साक्षात् मूर्त्तिमन्तं नवं**

नूतनं हरकोपानलदहनात् परम् उत्पन्नमिति भावः सविधे समीपे गृहस्येति भावः या नगरीरथ्या नगरीमार्गः तया पर्य्यटन्तं गमनागमनं कुर्वन्तं माधवं भूयोभूयः पुनः पुनः दृष्ट्वा दृष्ट्वा सतृष्णं दृष्ट्वेत्यर्थः गाढोत्कण्ठया अतीव औत्सुक्येन लुलितलुलितैः अतितरां चलितैरित्यर्थः अङ्गकैः कोमलैः अङ्गैः यत् ताम्यति सन्तापमनुभवतीति ॥ १२६ ॥

उद्दीपनविभावेषु माल्यवस्त्रविभूषणादयो माल्यादयः ।

तेषु माल्यं यथा--

अशोकनिर्भर्त्सितपद्मरागं आकृष्टहेमद्युति कर्णिकारम् ।
मुक्ताकलापीकृतसिन्धुवारं वसन्तपुष्पाभरणं वहन्ती ॥ १२७ ॥

उद्दीपन विभावों (के प्रसंग) में कहे गये माल्यादि का अर्थ है माल्य, वस्त्र, आभूषण आदि ।

इनमें से माल्य का उदाहरण—

अशोक के पुष्पों से पद्मराग को तिरस्कृत करने वाले, सोने की कान्ति खींच लेने वाले कनेर के फूल, तथा मोती की माला के स्थान पर सिन्धुवार के जो पुष्प थे, उन्हीं वसन्त के फूलों का अलंकार वह धारण कर रही थी ॥ १२७ ॥

अशोकेति । अशोकेन तत्कुसुमेनेत्यर्थः निर्भर्त्सितः तिरस्कृतः पद्मरागो यत्र तथोक्तम् आकृष्टा आहृता हेम्नः काञ्चनस्य द्युतिः येन तादृशं कर्णिकारं तदाख्यकुसुमं यस्मिन् तथाभूतं तथा मुक्ताकलापः मौक्तिकस्रक् अमुक्ताकलापः मुक्ताकलापः कृतः सिन्धुवारेण तदाख्यकुसुमेन यस्मिन् तथाविधं वसन्तपुष्पमेव आभरणम् अलङ्कारं वहन्ती धारयन्ती ॥ १२७ ॥

वस्त्रं यथा--

आवर्जिता किञ्चिदिव स्तनाभ्यां वासो वसाना तरुणार्करागम् ।
सुजातपुष्पस्तबकावनम्रा सञ्चारिणी पल्लविनी लतेव ॥ १२८ ॥

वस्त्र का उदाहरण—

दोनों स्तनों के कारण कुछ-कुछ झुकी हुई सी तथा तरुण सूर्य की कान्ति के सदृश चमकते हुये वस्त्रों को पहने हुई वह पार्वती निकले हुये फूलों के गुच्छों से कुछ-कुछ झुकी हुई चलने फिरने वाली लता के सदृश लग रही थी ॥ १२८ ॥

आवर्जितेति । स्तनाभ्यां पयोधराभ्यां किञ्चिदिव ईषदिव आवर्जिता आनमिता तरुणः नवोदित इत्यर्थः अथवा माध्याह्निकः अर्कः सूर्य्यः तस्य राग इव रागो लौहित्यं यस्य तादृशं वासः वसनं दधाना धारयन्ती अतएव सुजातैः सुष्ठु विकसितैरित्यर्थः सञ्जातेति पाठे सञ्जातैः समुत्पन्नैः पुष्पाणां स्तवकैः गुच्छैः अवनम्रा अवनता पल्लविनी नवकिसलयवती सञ्चारिणी चलन्ती लतेव वल्लीव ॥ १२८ ॥

विभूषणं यथा--

कण्ठस्य तस्याः स्तनबन्धुरस्य मुक्ताकलापस्य च निस्तलस्य ।
अन्योन्यशोभाजननात् बभूव साधारणो भूषणभूष्यभावः ॥ १२९ ॥

अलंकार का उदाहरण—

(श्लोकार्थ के लिये द्रष्टव्य ३।७२) ॥ १२९ ॥

कण्ठस्येति। तस्याः पार्वत्याः स्तनाभ्यां बन्धुरस्य नताननस्य 'बन्धुरन्तून्नतानततमि'त्यमरः। कण्ठस्य गलदेशस्य, निस्तलस्य वर्त्तुलस्येत्यर्थः मुक्ताकलापस्य मौक्तिकदाम्नश्च अन्योन्यशोभाजननात् परम्परालङ्करणादित्यर्थः। भूष्यते अनेनेति भूषणम् अलङ्कारः भूष्यते अलङ्क्रियते इति भूष्यः अलङ्कार्य्यः तयोर्भावः साधारणः समान इत्यर्थः बभूव। तादृशः कण्ठः मुक्तादाम अलङ्कृतवान् तादृशं मुक्तादाम च कण्ठमलङ्कृतवानित्यनयोर्भूष्यभूषणत्वं सामान्यमासीदित्यर्थः ॥ १२९ ॥

ऋतुवयोमदादयो ऋत्वादयः।

तेषु ऋतुर्यथा—

इदमसुलभवस्तुप्रार्थनादुर्निवारं
प्रथममपि मनो मे पञ्चबाणः क्षिणोति।
किमुत मलयवातोन्मूलितापाण्डुपत्रैः
उपवनसहकारैर्दर्शितेष्वङ्कुरेषु ॥ १३० ॥

ऋतु, आयु, मद आदि ऋत्वादि कहे जाते हैं।

इनमें से ऋतु का उदाहरण—

कामदेव दुर्लभ (कन्या रूप) वस्तु की अभिलाषा से निवृत्त करने में अशक्य मेरे मन को पहले से ही पीड़ित कर रहा है, फिर दक्षिण पवन से गिराये जा रहे हैं पीले पत्ते जिनके उन उपवन के आम्रवृक्षों द्वारा अङ्कुरों को प्रकट करने पर क्या होगा ? ॥ १३० ॥

इदमिति। पञ्चबाणः कामः असुलभं दुर्लभं वस्तु तादृशं कन्यारत्नमिति भावः तस्य प्रार्थनायाः अभिलाषात् दुर्निवारं वारयितुमशक्यमित्यर्थः मे मम मनः प्रथममपि प्रागेवेत्यर्थः वसन्तोदयादिति भावः क्षिणोति पीडयति। मलयवातेन दक्षिणपवनेनेत्यर्थः उन्मूलितानि पातितानीत्यर्थः आपाण्डूनि पक्वानीत्यर्थः पत्राणि येषां तैः उपवनसहकारैः उद्यानाम्रतरुभिः दर्शितेषु प्रकटितेष्विति यावत् अङ्कुरेषु प्ररोहेषु किमुत ? वसन्तोदयात् सहकारमञ्जरीषु विकसितासु कामस्य नितरामुद्दीपकत्वात् चित्तं मे भृशमुत्कलितमिति किं वक्तव्यमिति निष्कर्षः ॥ १३० ॥

वयो यथा—

मा मूमुहत् खलु भवन्तमनन्यजन्मा
मा ते मलीमसविकारघना मतिर्भूत्।
इत्यादि नन्विह निरर्थकमेव यस्मात्
कामश्च जृम्भितगुणो नवयौवनञ्च ॥ १३१ ॥

आयु का उदाहरण—

'स्वयंभू काम आपको मोहित न करे, आपकी बुद्धि कालुष्य विकारों से आच्छन्न न हो' इत्यादि बातें यहाँ कहना व्यर्थ ही होगा, क्योंकि इस समय तो कामदेव अपनी धनुष की प्रत्यञ्चा की टङ्कार कर रहा है और अवस्था भी जवानी की है ॥ १३१ ॥

मेति। अनन्यजन्मा आत्मभूः काम इत्यर्थः भवन्तं त्वां मा मूमुहत् खलु नैव मोहमा-

पादयस्वित्यर्थः, ते तव मतिः बुद्धिः मलीमसेन मलदूषितेन 'मलीमसन्तु मलिनं कच्चरं मलदूषितमि'त्यमरः। विकारेण प्रकृत्यन्यथाभावेनेत्यर्थः घना पूर्णेत्यर्थः मा भूत् न भवतु। ननु भोः इत्यादि उपदेशवचनमिति भावः। इह अस्मिन् माधवे समये वा निरर्थकं निष्फलमेव यस्मात् यतः कामः मदनः जृम्भितः संहितः गुणः मौर्वी स्वधनुषीति भावः येन तथाभूतश्च नवं नूतनं यौवनं तारुण्यञ्च माधवस्येति भावः। नवे यौवने हि कामस्य प्रथमवेगस्य असंवरणीयत्वात् नायमुपदेशावसर इति भावः॥ १३१॥

मदो यथा—

तत्क्षणं विपरिवर्त्तितह्रियोः नेष्यतोः शयनमिद्धरागयोः।
सा बभूव वशवर्त्तिनी तयोः शूलिनः सुवदना मदस्य च॥१३२॥

मद का उदाहरण—

(अर्थहेतु द्रष्टव्य ४।१४३)॥ १३२॥

तत्क्षणमिति। सा सुवदना सुमुखी गौरी तत्क्षणं सङ्गमसमये इत्यर्थः विशेषेण परिवर्त्तिता क्षयं नीतेत्यर्थः ह्रीर्लज्जा याभ्यां तथाभूतयोः शयनं शय्यातलं नेष्यतोः प्रापयिष्यतोः इद्धः प्रदीप्तः रागः कामावेश इत्यर्थः याभ्यां तथाविधयोः तयोः शूलिनः हरस्य मदस्य मद्यरसस्य चेत्यर्थः उभयोः वशवर्त्तिनी वशंगता बभूव। सुरापानेन विलासिनो हरस्य तात्कालिकविलासवचनेन च गौरी लज्जात्यागेन कामवशवर्त्तिनी अभूदिति निष्कर्षः॥ १३२॥

चन्दनस्नानधूपादयश्चन्दनादयः।

तेषु चन्दनं यथा—

चन्दनं विषधराश्रयः शशी वारुणी च विषमोदरावुभौ।
तापयन्ति विरहे किमुच्यते मारयन्ति न यदेतदद्भुतम्॥ १३३॥

(यहाँ चर्चित) चन्दन, स्नान, धूप आदि ही चन्दनादि हैं।

इनमें चन्दन का उदाहरण—

चन्दन साँपों का आश्रय है, चन्द्रमा तथा मदिरा दोनों ऐसे हैं जिनका उदर अत्यन्त विषम है। ऐसी दशा में यह क्यों कहते हैं कि ये संताप देते हैं, अरे ये मार नहीं डालते हैं यही आश्चर्य की बात है॥ १३३॥

चन्दनमिति। विरहे चन्दनं मलयजरसः विषधराश्रयः मलयपवन इत्यर्थः। शशी चन्द्रः वारुणी मदिरा च तथा विषमं दारुणम् उदरं ययोः तौ उभौ शशिः वारुणी च एतानि द्रव्याणि तापयन्ति व्यथयन्ति इति किमुच्यते? किं कथ्यते? मारयन्तीति न यत्, एतदद्भुतमाश्चर्य्यम्॥ १३३॥

स्नानं यथा—

काअम्बलोअणाणं उद्दंसुअपअडोरुजहणाणं।
अवरुण्हमञ्जरीणं किदे कामो वहइ चावं॥ १३४॥

स्नान का उदाहरण—

खञ्जन के सदृश नयनों वाली, उड़ते हुये वस्त्रों के कारण खुल गये जाँघों वाली, एकत्र किये हुये फूलों वाली विलासिनियों के लिये कामदेव धनुष धारण करता है॥ १३४॥

कादम्बलोचनानामुदंशुकप्रकटजघनानाम् ।
अवरुग्णमञ्जरीणां कृते कामो वहति चापम् ॥

कादम्बेति । कामः मदनः कादम्बः खञ्जनाख्यः पक्षिविशेषः तद्वत लोचने नेत्रे यासां तथोक्तानाम् उदंशुकेन उड्डीनवसनेन हेतुना प्रकटं दृश्यमित्यर्थः जघनं कटिपुरोभागः यासां तथाभूतानाम् अवरुग्णः स्वविलासार्थम् उच्चिताः मञ्जर्य्यः पुष्पाणामिति भावः याभिः तथाभूतानां विलासवतीनामिति भावः कृते निमित्तं चापं धनुः वहति धत्ते तादृशी-र्विलासिनीर्दृष्ट्वा तरुणाः कामवशंवदा भवन्तीति भावः ॥ १३४ ॥

स्व० द०—स्नान प्रकरण में यहाँ दिया गया श्लोक उपयुक्त नहीं लगता, क्योंकि इसमें सद्यः स्नाता का स्वरूप नहीं है। गाथासप्तशती (५।७३) तथा निर्णय सागर से निकली सरस्वतीकण्ठाभरण की प्रति में यह गाथा इस रूप में मिलती है उसकी छाया भी नीचे ही दी जा रही है—

आअम्बलोअणाणं ओलंसुअपाअडोरुजहणाणं ।
अवरण्हमज्जिरीणं कए ण कामो धणुं वहइ ॥
[आताम्रलोचनानामार्द्रांशुकप्रकटोरुघनानाम् ।
अपराह्णमज्जनशीलानां कृते न कामो धनुर्वहति ॥]

धूपो यथा—

स्नानार्द्रमुक्तेष्वनुधूपवासं विन्यस्तसायन्तनमल्लिकेषु ।
कामो वसन्तात्ययमन्दवीर्य्यः केशेषु लेभे बलमङ्गनानाम् ॥१३५॥

धूप का उदाहरण

वसन्त बीत जाने से क्षीण पराक्रम वाले कामदेव ने स्नान से भीग जाने के कारण खोल दिये गये तथा उनको धूपित करने के बाद सायंकाल में मल्लिका पुष्पों को जिनमें लगा दिया गया है, कामिनियों के उन्हीं केशों में बल प्राप्त किया ॥ १३५ ॥

स्नानेति । वसन्तस्य ऋतोः अत्ययेन अवसानेन मन्दं क्षीणं वीर्य्यं तेजः यस्य तथाविधः कामः स्नानेन आर्द्राः अतएव मुक्ताः बन्धनात् स्खलिताः तेषु अनुधूपवासं धूपस्य वासः सौरभं धूपवासः धूपवासादनु अनुधूपवासं धूपवासनानन्तरमित्यर्थः विन्यस्ताः सायन्तन्यः सन्ध्याकालीनाः मल्लिका येषु तादृशेषु अङ्गनानां नारीणां केशेषु बलं सामर्थ्यं लेभे प्राप । ग्रीष्मे नारीणां तथाविधः केशपाशः कामोद्दीपक इति भावः ॥ १३५ ॥

चन्द्रोदयो घनध्वनिरुपकारस्मरणमित्याद्याश्चन्द्रोदयादयः ।।

तेषु चन्द्रोदयो यथा—

विलिम्पत्येतस्मिन्मलयरजसार्द्रेण महसा
दिशां चक्रञ्चन्द्रे सुकृतमथ तस्या मृगदृशः ।
दृशोर्बाष्पः पाणौ वदनमसवः कण्ठकुहरे
हृदि त्वं ह्रीः पृष्ठे वचसि च गुणा एव भवतः ॥ १३६ ॥

चन्द्रोदय, मेघगर्जन, उपकार का स्मरण आदि ही चन्द्रोदय आदि हैं।

इनमें से चन्द्रोदय का उदाहरण—

इस चन्द्रमा के चन्दन के लेप की भाँति शीतलकिरणों से दिङ्मंडल को व्याप्त करने पर इससे उस मृगनयनी के दोनों नेत्रों में आँसू आ गये, मुँह हाथों पर आ गया, प्राण कण्ठकूप में आ गये, हृदय में तुम आ गये, लज्जा पीठ पर हो गई और वाणी में आपके ही गुण आ गये ॥ १३६ ॥

चन्द्र इति। एतस्मिन् चन्द्रे मलयजरजसार्द्रेण चन्दनद्रवशीतलेन महसा तेजसा मयूखेनेत्यर्थः दिशां चक्रं दिङ्मण्डलं वक्त्रमिति पाठे दिङ्मुखं विलिम्पति व्याप्नुवति सति अथेदानीं तस्या मृगदृशः दृशोर्नेत्रयोः वाष्पः, सुकृतः सुष्ठु कृतः लिङ्गव्यत्ययेन अन्वयः। पाणौ करे वदनं मुखं सुष्ठु कृतम्। कण्ठकुहरे गलरन्ध्रे असवः प्राणाः सुकृता इति लिङ्गवचनव्यत्ययेन अन्वयः। हृदि मनसि त्वं सुकृतः लिङ्गव्यत्ययेन अन्वयः। ह्रीः लज्जा पृष्ठे सुकृता पश्चात् कृता इत्यर्थः लिङ्गव्यत्ययेन अन्वयः। निर्लज्जा जातेति भावः। वचसि वाक्ये भवतः तव गुणा एव सुकृताः सुष्ठु कृताश्च। प्रोषितं प्रति दूत्या उक्तिः ॥ १३६ ॥

घनध्वनिर्यथा—

अज्ज मए तेण विणा अणुभूदसुहाइं अणिसं सरन्तीए।
अहिणवमेहाणं रवो णिसामिओ वज्झपडहो ब्ब ॥ १३७ ॥

मेघगर्जन का उदाहरण—

आज उसके न रहने पर जब मैं उसके साथ पहले अनुभव किये गये सुखों का स्मरण कर रही थी, तब उठे हुये नवीन मेघों का गर्जन मुझे वधकालीन नगाड़े की ध्वनि के सदृश सुनाई पड़ा ॥ १३७ ॥

अद्य मया तेन विनाऽनुभूतसुखानि अनिशं स्मरन्त्या।
अभिनवमेघानां रवो निशामितो वध्यपटह इव ॥

अद्येति। अद्य अस्मिन् दिने वर्षादिने इत्यर्थः तेन कान्तेनेति भावः विना तद्विरहेणेत्यर्थः अनिशं सततम् अनुभूतानि आस्वादितानि सुखानि स्मरन्त्या स्मृतिपथं नयन्त्येत्यर्थः अभिनवमेघानां नूतनजलधराणां रवः ध्वनिः अभिनवमोहनरव इति पाठान्तरं वध्यस्य पटह इव वाद्यविशेषरव इवेत्यर्थः निशामितः आकर्णितः ॥ १३८ ॥

उपकारस्मरणं यथा—

तन्मे मनः क्षिपति यत् सरसप्रहारम्
आलोक्य मामगणितस्खलदुत्तरीया।
त्रस्तैकहायनकुरङ्गविलोलदृष्टि-
राश्लिष्टवत्यमृतसंवलितैरिवाङ्गैः ॥ १३८ ॥

उपकारस्मरण का उदाहरण—

(प्रवास से लौटे हुये) मुझे देखकर अपने गिरते हुये दुपट्टे का बिना ख्याल किये भय से

चकित एकवर्षीय हरिण के सदृश चञ्चल नयनों वाली मेरी प्रेयसी ने जो सानन्द ताडनपूर्वक अपने सुधासिक्त से अङ्गों से मेरा आलिङ्गन किया था, वही अब मुझे कष्टदायक हो रहा है ॥१३८॥

स्व० द०—प्रियतम के द्वारा प्रियतमा को अथवा प्रियतमा के द्वारा प्रियतम को रति सुख में परस्पर सहयोग देना उपकार है।

अब तक विभिन्न प्रकार के उन उद्दीपनों का निरूपण किया गया है जिनका गणपाठ सा प्रथम पद का ही उल्लेख करके अनेक का ज्ञान पूर्व प्रसङ्गों में करा दिया गया है। अब आगे विभिन्न अनुभावों और संचारियों का भी सोदाहरण विवेचन होगा।

तदिति। **मां प्रवासादागतमिति भावः आलोक्य दृष्ट्वा अगणितम् अलक्षितं स्खलत् उत्तरीयम् उत्तरासङ्गः यया तथाविधा त्रस्तः भयचकितः एकहायनः एकवर्षीयः यः कुरङ्गः हरिणः तस्येव विलोला चपला दृष्टिः यस्याः तथोक्ता सा मत्कान्तेति भावः सरसः सानन्द इति यावत् प्रहारस्ताडनं यत्र तद् यथा तथा अमृतसंवलितैरिव सुधासिक्तैरिव अङ्गैः अवयवैः यत् आश्लिष्टवती आलिङ्गितवती, तत् मे मम मनः क्षिपति व्यथयति। सखायं प्रति प्रोषितस्य उक्तिः ॥ १३८ ॥**

अनुभावे स्मरतिर्यथा—

खणमेत्तंपि ण फिट्टइ अणुदिअहं दिण्णगरुअसन्तावा।
पच्छण्णपावसङ्के व्व सामला मज्झहिअआ हि ॥ १३९ ॥

अनुभाव

अनुभाव में स्मृति का उदाहरण—

अपने मित्र से कोई कह रहा है कि मुझ में ही अपना चित्त लगायी हुई, पाप की आशंका को मद में छिपायी हुई, मलिन पड़ गई, काम के द्वारा प्रतिदिन संतापित की गई भी वह एक क्षण के लिये भी अपने सन्ताप को प्रकट नहीं होने देती ॥ १३९ ॥

स्मरतिः स्मृतिरित्यर्थः निपातनात् साधुः।

क्षणमात्रमपि न स्फुटति अनुदिवसं दत्तगुरुसन्तापा।
प्रच्छन्नपापशङ्केव श्यामला अस्मद्धृदया हि ॥

खणेति। **अस्मासु हृदयं यस्याः सा मदेकचित्तेति यावत् प्रच्छन्ना गूढा पापात् स्वकृतादिति भावः शङ्का यस्याः तादृशीव तथाभूता नारी वेत्यर्थः श्यामला मलिनीभूतेत्यर्थः तथा अनुदिवसं प्रत्यहं दत्तः कामेनेति भावः गुरुर्महान् सन्तापो यस्यै तथाभूता मद्विरहेण भृशं कामसन्तप्तेत्यर्थः तथापि क्षणमात्रमपि न स्फुटति न प्रकाशयति स्वसन्तापानिति भावः। सखायं प्रति कस्यचित् विरहिण उक्तिः ॥ १३९ ॥**

वाञ्छतिर्यथा—

एअमेअ अकिदपुण्णा अप्पत्तमणोरहा विपज्जिस्सम्।
जणवादो वि हि जादो तेण समं हलिअउत्तेण ॥ १४० ॥

वाञ्छा का उदाहरण—

मैं ऐसी अभागिनी हूँ कि (रति रूप) मनोरथ की प्राप्ति भी नहीं हुयी और उस हलवाले

के लड़के के साथ सम्बन्ध होने की लोक में चर्चा भी फैल गई। इसीलिये मैं मरे जाऊँगी ॥ १४० ॥

वाञ्छतिर्वाञ्छेत्यर्थः पूर्ववत् निपातनात् साधुः एवमुत्तरत्र द्रष्टव्यम्।

एवमेवाकृतपुण्या अप्राप्तमनोरथा विपत्स्ये।
जनवादोऽपि हि जातस्तेन समं हलिकपुत्रेण॥

एवमिति। **तेन हली लाङ्गलमस्यास्तीति हली ततः स्वार्थे कन्प्रत्ययः हलिकः कृषीवल इत्यर्थः तस्य पुत्रः तेन समं सह जनवादः लोकप्रवादः हि यतः जातः भूतः। एवमेव एवमवस्थायामेवेत्यर्थः तेन मत्प्रणयस्य अस्पष्टतायामेवेति भावः। न कृतं पुण्यं सुकृतं यया तथाभूता अतएव न प्राप्तः मनोरथः अभिलाषः तत्सङ्गमेन इति भावः यया तादृशी अहं विपत्स्ये प्राणान् त्यक्ष्यामि इत्यर्थः। कस्याश्चित् कृषकपुत्रं प्रति जातानुरागायाः निकृष्टरति-प्रकटनभिया अग्रत एव मरणाभिलाषोक्तिः ॥ १४० ॥**

द्वेष्टिर्यथा—

गोत्तक्खलणं सुणिअ पिअदमे अज्ज यादि छणदिअहे।
वज्झमहिसस्स मालेव्व मंडणं से पडिहाइ॥ १४१ ॥

द्वेष का उदाहरण—

नाम का व्यत्यय सुनकर आज खुशी के दिन भी प्रियतम के चल देने पर नायिका के आभूषण मारणीय भैंसे के (गले में बँधी) माला सी प्रतीत हो रहे हैं ॥ १४१ ॥

गोत्रस्खलनं श्रुत्वा प्रियतमे अद्य याति उत्सवदिवसे।
वध्यमहिषस्य मालेव मण्डनमस्य प्रतिभाति॥

गोत्रेति। **गोत्रस्य नाम्नः स्खलनं व्यत्ययमित्यर्थः। 'गोत्रं नाम्न्यचले कुले' इत्यमरः। पतिमागतं दृष्ट्वा उपपतेर्नाम्ना सम्बोधिते इति भावः प्रियतमे पत्यौ अद्य अस्मिन् उत्सव-दिवसे वसन्तदिने इति भावः याति गच्छति कोपादिति भावः सति अस्याः जारगामिन्याः कामिन्या इति भावः भूषणम् अङ्गरागादिरलङ्कारश्च वध्यमहिषस्य मालेव प्रतिभाति प्रतिभासते। स्वस्य जारसङ्गतिप्रकटनात् क्रुद्धेन पत्या अस्या अत्याहितं करणीयमिति भावः ॥ १४१ ॥**

प्रयतते यथा—

अनुगच्छन्[1] मुनितनयां सहसा विनयेन वारितप्रसरः।
स्वस्थानादचलन्नपि गत्वेव पुनः प्रतिनिवृत्तः॥ १४२ ॥

प्रयत्न करने का उदाहरण—

मुनिपुत्री शकुन्तला का पीछा करते हुये मैं एकाएक विनय के द्वारा आगे बढ़ने से रोक दिया गया। इस प्रकार अपने स्थान से बिना गये भी मैं मानों जाकर लौट आया ॥ १४२ ॥

अनुगच्छन्निति। मुनितनयां शकुन्तलाम् अनुगच्छन् अनुयातुमुद्यन्नित्यर्थः सहसा

---

१. अनुयास्यन्नित्यपि पाठो दृश्यते।

उपस्थितेनेति भावः। विनयेन शिष्टाचारेण वारितः निवर्त्तितः प्रसरः अनुगमनरूप इति यावत् यस्य तथाभूतः अतएव स्वस्थानात् निजासनस्थानात् अचलन्नपि अगच्छन्नपि गत्वेव पुनः प्रतिनिवृत्तः प्रत्यागतः अस्मीति शेषः ॥ १४२ ॥

अवैतिर्यथा--

चन्दसरिसं मुहं से सरिसो अमिअस्स मुहरसो तिस्सा।
सकचग्गहरहसुज्जलचुम्बणं कस्स सरिसं मे ॥ १४३ ॥

समझने का उदाहरण—

(अर्थं द्रष्टव्य ४।२)

चन्द्रसदृशं मुखमस्याः सदृशोऽमृतस्य मुखरसस्तस्याः।
सकचग्रहरभसोज्ज्वलचुम्बनं कस्याः सदृशं स्यादिति ॥ १४३ ॥

चन्द्रेति। अस्याः कान्तायाः मुखं चन्द्रस्य सदृशं तुल्यम्। तस्याः अस्या इत्यर्थः मुखस्य रसः अमृतस्य सदृशः तुल्यः। सकचग्रहं केशग्रहणपुरःसरं रभसेन वेगेन उज्ज्वलम् उत्कटमिति भावः चुम्बनं कस्याः नायिकायाः सदृशं तुल्यं स्यात्? न कस्या अपीत्यर्थः। अनन्यसदृशस्तस्याः प्रणय इति भावः ॥ १४३ ॥

मन्यते यथा--

परिवट्टं दिआणिसं सहे! मंडलिअकुसुमाऊहं व्व अणंगं।
विरहम्मि मण्णइ हरीणहे अणत्थे पड़िउत्थिअं मिअंकं ॥१४४॥

मानने का उदाहरण—

(एक दूती किसी प्रोषित से कह रही है कि) हे मित्र, तुम्हारी विरह में उसको कामदेव दिन-रात अपनी धनुष को मण्डलाकार किये हुये अर्थात् प्रत्यञ्चा चढ़ाकर प्रहार के लिये उसे खींचे हुये प्रतीत होता है, और चन्द्रमा ऐसा लगता है मानों अनर्थकारी सिंह के तीव्र नाखूनों के पड़ने पर पुनः (मृगचिह्न रहित होकर) बाहर निकल आया हो (तथा उसे पूर्ण सन्ताप दे रहा है)॥ १४४ ॥

परिवृत्तं दिवानिशं सखे! मण्डलितकुसुमायुधमिवानङ्गम्।
विरहे मन्यते हरिनखे अनर्थे पतितोत्थितं मृगाङ्कम् ॥

परिवृत्तमिति। हे सखे! विरहे तवेति शेषः अनङ्गं कामं दिवानिशम् अहोरात्रं मण्डलितं चक्रीकृतं कुसुमायुधं कुसुमकार्मुकं येन तथाभूतमिव परिवृत्तं सञ्जातं तथा हरिनखे सिंहनखरे अनर्थे आपदि मृगस्वीकारार्थमुद्यतस्य सिंहस्य दारुणे नखरे इत्यर्थः। पतितः पश्चादुत्थितः कलङ्करूपमृगे सिंहेन कवलिते इति भावः तं अकलङ्कम् उदितं चन्द्रमिति यावत् मन्यते अवधारयति। कामस्य रात्रावेव मण्डलितकार्मुकत्वं तां प्रति तु अहोरात्रं चन्द्रस्तु मृगाङ्कत्वेन सकलङ्कः उदेति तां प्रति तु निष्कलङ्कतया अतीवोद्दीपक इति त्वद्विरहे सा भृशमुत्ताम्यतीति निष्कर्षः। प्रोषितं प्रति दूत्या उक्तिरियम् ॥ १४४ ॥

वक्तियथा--

आलाओ मा दिज्जउ लोअविरुद्धो त्ति णाम काऊण ।
सम्मुहापडिए कोवेरिएवि दिट्ठिं ण पाडेइ ॥ १४५ ॥

बात करने का उदाहरण—

"(सबके समक्ष अपने पति से) बातचीत नहीं करनी चाहिये क्योंकि यह लोकमर्यादा के विपरीत है" यह सोचकर (अपराध करके आने से) क्रोध के पात्र प्रिय के आने पर भी वह उस पर अपनी निगाह तक नहीं डालती ॥ १४५ ॥

आलापो मा दीयतां लोकविरुद्ध इति नाम कृत्वा ।
सन्मुखापतिते कोपार्हेऽपि दृष्टिं न पातयति ॥

आलापो इति । लोकविरुद्धः सदाचारगर्हित इत्यर्थः आलापः स्वामिना सह प्रकाश-संलाप इति यावत् इति नाम कृत्वा इति प्रसिद्धिमवलम्ब्येत्यर्थः । कोपार्हेऽपि-दण्डार्हेऽपीति यावत् सन्मुखापतिते सन्मुखमागते स्वामिनीति भावः दृष्टिं न पातयति न ददाति ॥१४५॥

चेष्टते यथा--

अज्ज मए गंतव्वं घणांधआरम्मि तस्स सुहअस्स ।
अज्जा णिमीलिअच्छी पदपडिवाडिं घरे कुणइ ॥ १४६ ॥

चेष्टा करने का उदाहरण—

'निविड' अन्धकार होने पर भी आज मुझे अपने प्रिय के पास अभिसार करना ही है ।' यह सोचकर नायिका अपनी आँखें मूँदकर पैर रखने का अभ्यास घर में ही कर रही है ॥१४६॥

अद्य मया गन्तव्यं घनान्धकारेऽपि तस्य सुभगस्य ।
चार्य्या निमीलिताक्षी पदपरिपाटीं गृहे करोतु ॥

अद्येति । अद्य घनान्धकारे निविड़ान्धकारेऽपि तस्य सुभगस्य सौभाग्यवतः कान्तस्य स मदर्थं न प्रयास्यति अहन्तु तस्य कृते एतादृशं प्रयासं करोमीति तस्य सुभगत्वमिति भावः । तत्समीपे इत्यर्थः मया गन्तव्यम् यातव्यम् । श्वश्रूरित्यर्थः निमीलिताक्षी निद्रया मुद्रितनयना सती गृहे पदानां पदविक्षेपाणां मदीयानामिति भावः परिपाटीम् आनुपूर्विक-गणनामिति यावत् करोतु । गृहस्थिता निद्रावशवर्त्तिनी वृद्धा श्वश्रूः मम वल्लभार्थं गमना-गमनेषु पदविक्षेपान् गणयतु इति निष्कर्षः ॥ १४६ ॥

स्व० द०—इस श्लोक का उपर्युक्त अर्थ ही संगत लगता है । पण्डित जीवानन्द विद्यासागर जी का सम्मत अर्थ कि 'गृहस्थिता निद्रावशवर्त्तिनी वृद्धा श्वश्रूः मम वल्लभार्थं गमनागमनेषु पदविक्षेपान् गणयतु इति निष्कर्षः' अपेक्षाकृत अवर लगता है ।

अभी तक अनुभावों का निरूपण हो चुका । सारे भाव नाम से ही स्पष्ट हो जाते हैं, अतः अलग से उदाहरण के साथ लक्षणों की संगति आदि नहीं दिखलाई पड़ी ।

सञ्चारिषु स्वेदरोमाञ्चवेपथवो यथा--

दिट्ठे जं पुलइज्जसि रहघरं पिअम्मि समासण्णे ।
तुह संभासणप्फस्सणादिकारिणि किंत्ति णिज्जिहसि ॥ १४७ ॥

संचारी में, स्वेद, रोमाञ्च तथा कम्प का उदाहरण—

जिसके केवल दिखाई पड़ जाने से तू इस प्रकार रोमाञ्चित हो रही है, उसी प्रियतम के एकान्तगृह में आकर बातचीत करने, स्पर्श आदि करने पर इतना अधिक लजाती क्यों है ?।

दृष्टे यत्पुलकयसि रहोगृहं प्रिये समासन्ने।
तव सम्भाषणस्पर्शनादिकारिणि किमिति निर्जिहेषि ॥

दृष्टे इति। यत् यतः दृष्टे अवलोकिते प्रिये पुलकयसि रोमाञ्चिता भवसीत्यर्थः ततः रहोगृहं विजनगृहं समासन्ने समापतिते प्रिये तव सम्भाषणस्पर्शनादिकारिणि सति किमिति कथं निर्जिहेषि लज्जसे ? इत्यर्थः ॥ १४७ ॥

अश्रु यथा—

णअणब्भंतरघोलंतवाहभरमंथराए दिट्ठीए।
पुणरुत्तपेच्छणीए बालअ ! किं जं ण भणिओसि ॥ १४८ ॥

अश्रु का उदाहरण—

अरे निरे बालक ! (अबोध) जिसके भीतर आँसुओं ने आकर मन्दता ला दी है उस बार-बार दर्शनीय मनोहर दृष्टि के द्वारा कौन सी ऐसी बात शेष रह गई जो कह नहीं दी गई। अथवा उक्त दृष्टि से भी यदि तुम सब कुछ नहीं जान पाये तो क्या कहा जाये ॥ १४८ ॥

नयनाभ्यन्तरघूर्णद्बाष्पभरमन्थरया दृष्ट्या।
पुनरुक्तप्रेक्षणीयया बालक ! किं यन्न भणितोऽसि ॥

नयनेति। हे बालक ! निर्बोध इति भावः। नयनयोः अभ्यन्तरे घूर्णता सञ्चरता बाष्पभरेण अश्रुचयेन मन्थरा जडा आकुलेत्यर्थः तया पुनरुक्तप्रेक्षणीयया अतिशयेन दर्शनीययेत्यर्थः मनोहारिण्येति भावः दृष्ट्या अवलोकनेन यत् न भणितः न स्वाभिप्रायमावेदितः असि तत् किम् ? तादृशनयनावलोकनेनापि तदभिप्रायस्त्वया न विदितः ? ततः बालकत्वं न गतं तवेति भावः ॥ १४८ ॥

हर्षो यथा—

सव्वस्सिं वि णट्ठे तहविहु हिअअस्स णिब्बुदिज्जेव।
जं तेण णअरडाहे हत्थाहत्थिं कुंडो गहीओ ॥ १४९ ॥

हर्ष का उदाहरण—

कोई नायिका अपनी सखी से कहती है कि नगर में आग लग जाने पर सब कुछ नष्ट हो जाने पर भी हृदय में परम प्रसन्नता ही रही, क्योंकि उस प्रिय ने (आग बुझाने के लिये जलपूर्ण) कुम्भ मुझसे हाथोहाथ ग्रहण किये ॥ १४९ ॥

(हिन्दी में भी इसी भाव का एक अच्छा बरवै छन्द है—

आगि लागि घर जरिगा, भल सुख कीन्ह।
पिउ के हाथ घयलवा, भरि भरि दीन्ह ॥)

सर्वस्मिन्नपि नष्टे तथापि खलु हृदयस्य निर्वृतिरेव ।
यत्तेन नगरदाहे हस्ताहस्ति कुण्डो गृहीतः ॥

सर्वस्मिन्निति । तथा सर्वस्मिन् अपि नष्टे नाशं गतेऽपि हृदयस्य चित्तस्य तवेति शेषः निर्वृतिरेव शान्तिरेव । यत् यतः तेन जनेनेति शेषः नगरदाहे नगरभस्मीकरणे कुण्डः होमीयाग्निस्थालीविशेषः हस्ताहस्ति गृहीतः । अथवा कुण्डः मानविशेष इत्यर्थः । अग्निहोत्रिणः अग्निकुण्ड एव सारवस्तु, सर्वनाशेऽपि तद्रक्षणे तस्य निर्वृतिः ॥ १४९ ॥

अमर्षो यथा--

कुदो संपडइ मं पिअसहि ! पिअसंगमो पदोसेवि ।
जं जअइ गहीदकरणिअरसिरी चंदचंडालो ॥ १५० ॥

अमर्ष का उदाहरण—

हे प्रिय सखि, संध्याकाल में भी प्रिय का समागम कहाँ होता है ? यह चण्डाल चन्द्रमा उस समय अपनी किरण समूह के साथ अत्यन्त चमकने लगता है ॥ १५० ॥

कुतः सम्पतति मां प्रियसखि ! प्रियसङ्गमः प्रदोषेऽपि ।
यज्जयति गृहीतकरनिकरश्रीश्चन्द्रचण्डालः ॥

कुत इति । हे प्रियसखि ! प्रदोषेऽपि रजनीमुखेऽपि रजन्यामपि वा प्रियसङ्गमः कुतः कस्मात् मां सम्पतति ? सम्प्राप्नोति ? न कथमपि मे प्रियसङ्गमः स्यादित्यर्थः । यत् यतः गृहीता करनिकराणां किरणनिचयानां श्रीः शोभा येन तादृशः सम्पूर्णमण्डल इति भावः चन्द्र एव चण्डालः पापपुरुष इति यावत् जयति प्रखरतां गच्छतीति भावः मत्प्रियसङ्गमे समापतिते अयं शीतकिरणः सन् माम् न आह्लादयतीति तस्मात् नाद्य मे प्रियसङ्गम इति भावः ॥ १५० ॥

लीलादिषु प्रियजनचेष्टानुकृतिर्यथा,

जंजंकरेसि जं जं जप्पसि जं जं णिअच्छेसि ।
तं तमणु सिक्खदाए दीहो दिहओ ण संपडइ ॥ १५१ ॥

लीला आदि में अपने प्रिय व्यक्ति की चेष्टाओं के अनुकरण का उदाहरण—

(एक नायिका अपनी सखी से कहती है कि-) तुम जो-जो करती हो, जो-जो कहती हो, जो-जो निर्देश देती हो यह सीखकर (रात में प्रियतम के साथ करना चाहती हूँ,) किन्तु यह लम्बा दिन व्यतीत ही नहीं होता ॥ १५१ ॥

अथवा हे प्रिय, तुम जो-जो करते हो, जो-जो कहते हो, तथा जैसा निर्देश देते हो उसका अनुसरण करने पर दिन दूभर नहीं हो पाता अर्थात् तुम्हारा अनुकरण करते-करते दिन बीत जाता है ।

यद्यत्करोषि यद्यज्जल्पसि यद्यन्नियच्छसि ।
तत्तदनुशिक्षिताया दीर्घो दिवसो न सम्पतति ॥

यद्यदिति । यत् यत् करोषि यत् यत् जल्पसि आलपसि यत् यत् नियच्छसि नियमं करोषि, उपदिशसीत्यर्थः तत् अनुशिक्षिताया उपदिष्टायाः ममेति दीर्घः दिवसः न सम्पतति

नातिक्रामतीत्यर्थः, दिवसापगमे कान्तं प्रति तत्तद् व्यवहरिष्यामि, किन्तु दिवसो नापगच्छतीति भृशमाकुलितायाः नायिकायाः सखीं प्रत्युक्तिरियम् ॥ १५१ ॥

नेत्रभ्रूवक्त्रकर्मणां विशेषेण लसनं विलासो यथा,

सभ्रूविलासमथ सोऽयमितीरयित्वा
सप्रत्यभिज्ञमिव मामवलोक्य तस्याः ।
अन्योन्यभावचतुरेण सखीजनेन
मुक्तास्तदा स्मितसुधामधुराः कटाक्षाः ॥ १५२ ॥

नेत्र, भौंह, तथा मुख की क्रियाओं का विशेष रूप से सुशोभित होना विलास है, जैसे—

भौंहों को मटका कर 'यही वह है' इस प्रकार कहती हुई, और जाने पहचाने की भाँति मुझे देखती हुई उस मालती की एक दूसरे के भावों को जानने वाली सखियों के द्वारा उस समय मुसकान रूपी अमृत से युक्त होने के कारण मधुर कटाक्ष मुझ पर चलाये गये ॥ १५२ ॥

तत्रेति । लसनं क्रियाविशेषः ।

सभ्रूविलासमिति । अथान्तरं तस्याः मालत्याः अन्योऽन्यभावे परस्परविलासे चतुरः विचक्षणः तेन सखीजनेन सङ्गिनीवर्गेण सभ्रूविलासं भ्रूविलाससहितं यथा तथा सोऽयं युवेति शेषः इति ईरयित्वा कथयित्वा प्रत्यभिज्ञा परिचयविशेषः तया सह वर्त्तमानं तदिव सप्रत्यभिज्ञमिव माम् अवलोक्य दृष्ट्वा तदा तस्मिन् काले स्मितं मृदु हसितमेव सुधा अमृतं तथा मधुराः मनोहराः कटाक्षाः अपाङ्गदर्शनविशेषाः मुक्ताः मयि निक्षिप्ताः इत्यर्थः ॥ १५२ ॥

विभूषणादीनामनादरविन्यासो विच्छित्तिः, यथा—

अङ्गानि चन्दनरजः परिधूसराणि
ताम्बूलरागसुभगोऽधरपल्लवश्च ।
अच्छाञ्जने च नयने वसनं तनीयः
कान्तासु भूषणमिदं विभवश्च शेषः ॥ १५३ ॥

अलङ्कार आदि का अनादर के साथ विन्यास होना विच्छित्ति है, जैसे—

अङ्ग चन्दन के कणों से पूर्णतः धूसरित हों, पल्लव के सदृश अधर ताम्बूल की लाली से सुन्दर हों, दोनों नेत्र निर्मल अञ्जन से युक्त हों, वस्त्र जरा झीने हों, यही तो सुन्दरियों के आभूषण हैं, शेष तो केवल वैभव के प्रदर्शन हैं ॥ १५३ ॥

अङ्गानीति । अङ्गानि अवयवाः चन्दनरजसा परिधूसराणि सर्वतो धूसरवर्णानि । अधरः पल्लव इव अधरपल्लवः ताम्बूलस्य रागेण लौहित्येन सुभगः रम्य इत्यर्थः । नयने नेत्रे अच्छं निर्मलम् अञ्जनं ययोः तादृशे । वसनं परिधानवस्त्रं तनीयः अतीव सूक्ष्मम् । कान्तासु नारीषु इदम् भूषणम् उक्तप्रकारोऽलङ्कारः विभवस्य विभुतायाः शेषः चरमोत्कर्षः इति भावः ॥ १५३ ॥

विभूषणादीनामस्थानविन्यासो विभ्रमः यथा--

चकार काचित् सितचन्दनाङ्के
काञ्चीकलापं स्तनभारपृष्ठे ।
प्रियं प्रति प्रेषितचित्तवृत्तिः
नितम्बविम्बे च बभार हारम् ॥ १५४ ॥

अलङ्कारों का अनुचित स्थानों पर पहनना विभ्रम है, जैसे—

अपने प्रियतम में ही मन लगाये हुई किसी सुन्दरी ने श्वेतचन्दन से लिप्त बृहद् स्तनों पर मेखला को पहन लिया और नितम्बफलकों पर हार को धारण कर लिया ॥ १५४ ॥

चकारेति । प्रियं कान्तं प्रति प्रेषिता नियोजिता चित्तवृत्तिर्मनोवृत्तिर्यया तथाभूता प्रियं मनसा स्मरन्तीति यावत् काचित् कामिनी सितचन्दनाङ्के श्वेतचन्दनलेपिते इति यावत् स्तनयोरुपरीत्यर्थः काञ्चीकलापो मेखलादाम इत्यर्थः चकार । नितम्बविम्बे नितम्बमण्डले हारं बभार च धारयामास च । प्रियचिन्तायामुन्मनस्कतया अलङ्काराणां यथास्थानभ्रम इति भावः ॥ १५४ ॥

स्मितरुदितहसितादीनां हर्षात् एकीकरणं किलकिञ्चितं यथा--

पाणिपल्लवविधूननमन्तःसीत्कृतानि घनरोमविभेदाः ।
योषितां रहसि गद्गदवाचामस्त्रतामुपययुर्मदनस्य ॥ १५५ ॥

मुसकान, रोदन, हँसना आदि का प्रसन्नता के कारण एक हो जाना किलकिञ्चित है, जैसे—

अवरुद्ध कण्ठ वाली रमणियों का पल्लव सदृश हाथों को झटकारना, भीतर ही भीतर सी-सी करना तथा सघन रूप से रोमाञ्चित हो जाना एकान्त में कामदेव के हथियार बन गये ॥ १५६ ॥

पाणीति । योषितां नारीणां रहसि विजने गद्गदा असम्यगुच्चारिता वाक् यासां तथाभूतानां सतीना पाणिः गुणः पल्लव इव तस्य विधूननं कम्पनम्, अन्तःसीत्कृतानि सीत्कारान् घनानां रोम्णां विभेदाः लोमाञ्चा इत्यर्थः मदनस्य कामस्य अस्त्रताम् उपययुः प्रापुः कामोद्दीपका जाता इति भावः ॥ १५५ ॥

इष्टजनकथायां तद्भावभावनोत्थितविकारो मोट्टायितं यथा--

तव मा कथासु परिघट्टयति श्रवणं यदङ्गुलिमुखेन मुहुः ।
घनतां ध्रुवं नयति तेन भवद्गुणपूगपूरितमतृप्ततया ॥१५६॥

अपने प्रियजन की कथा में उसके भावों की भावना से उत्पन्न विकार मोट्टायित है, जैसे—

कोई दूती नायक से कहती है कि जब तुम्हारी वार्ता चलती है तब तुम्हारी प्रियतमा जो बार-बार अपने कान में अँगुली के अग्रभाग को डालकर खुजलाती है उससे ऐसा लगता है, मानों आपके गुणों की अत्यन्त अतृप्त रहने के कारण उन्हें उनमें ठूँस-ठूँस कर भर रही है ॥ १५६ ॥

तवेति । सा तव कान्तेत्यर्थः तव कथासु वार्त्तासु अङ्गुलिमुखेन अङ्गुल्यग्रेण यत् श्रवणं कर्णकुहरं परिघट्टयति कण्डूयते इत्यर्थः, ध्रुवमुत्प्रेक्षे तेन परिघट्टनेन भवतो गुणानां पूगैः समूहैः पूरितं श्रवणम् अतृप्ततया पुनः पुनराकर्णनोत्सुकतया घनतां सान्द्रतां नयति प्रापयति । यथा कश्चित् कस्यचित् द्रव्यपात्रस्य अधिकपूरणार्थं लगुडादिभिः सुदृढं पूरयति तद्वत् कण्डूयनच्छलेन अङ्गुलिमुखेन तव गुणरूपं वस्तु श्रवणेन्द्रिये अधिकं यथा तथा पूरयतीति भावः ॥ १५६ ॥

केशस्तनाधरादिग्रहणाद् दुःखेऽपि सुखबुद्धिचेष्टा कुट्टमितं, यथा—

ह्रीभरादवनतं परिरम्भे रागवानवटुजेष्ववकृष्य ।
अर्पितोष्ठदलमाननपद्मं योषितो मुकुलिताक्षमधासीत् ॥१५७॥

केश, स्तन, अधर आदि पकड़ने पर कष्ट होने पर भी सुखात्मक अनुभव का प्रयास करना कुट्टमित है, जैसे—

प्रेमासक्त नायक ने आलिङ्गन करने पर प्रेयसी के मुखकमल को लज्जा के कारण झुका हुआ देखा । उसने उसके कण्ठ के पीछे पड़े हुये केशों को खींचकर कुछ-कुछ बन्द किये हुये नयनों से संयुक्त नायिका के मुख-कमल का अपना अधर रखकर चुम्बन किया ॥ १५७ ॥

ह्रीति । नायकः रागवान् प्रेमातिशयवान् सन् परिरम्भे आलिङ्गने ह्रीभरात् लज्जातिशयात् अवनतं मुखं दृष्ट्वेति शेषः । योषितः कान्तायाः अवटुजेषु ग्रीवापश्चाद्भागवर्त्तिषु केशेष्विति भावः अवकृष्य आकृष्य अर्पितः दत्तः ओष्ठदलः अधरपत्रं यस्मिन् तत् तथा मुकुलिते निमीलिते अक्षिणी नेत्रे यस्मिन् तथाभूतम् आननपद्मं मुखपङ्कजम् अधासीत् पपौ चुचुम्बेत्यर्थः । धेट्पाने इत्यस्य लुङिरूपम् ॥ १५७ ॥

अभीष्टप्राप्तौ अभिमानगर्वसम्भावनाऽनादरकृतो विकारो विव्वोको यथा—

निर्विभुज्य दशनच्छदं ततो वाचि भर्त्तुरवधीरणापरा ।
शैलराजतनया समीपगाम् आललाप विजयामहेतुकम् ॥ १५८ ॥

अपनी मनचाही वस्तु के मिल जाने पर अभिमान, गर्व आदि की संभावना से अनादर के साथ होनेवाला विकार विव्वोक है । जैसे—

उसके पश्चात् उमा ने अपने होठों को टेढ़ा करके अपने पति शिव की बातों पर ध्यान नहीं दिया । वह तो अपने ही निकटवर्तिनी विजया से अप्रासंगिक बातें करने लगी ॥ १५८ ॥

निर्विभुज्येति । ततः तदनन्तरं शैलराजतनया गौरी दशनच्छदम् अधरं निर्विभुज्य निर्भुग्नं कृत्वा कुटिलीकृत्येति यावत् भर्त्तुः हरस्य वचसि वाक्ये अवधीरणापरा अवज्ञां कुर्वती भर्त्तृवचनमश्रृण्वतीति यावत् सती समीपगाम् अन्तिकवर्त्तिनीं विजयां तदाख्यां सखीम् अहेतुकं हेतुव्यतिरिक्तं यथा तथा-हेतुं विनेत्यर्थः आललाप आलपितवतीत्यर्थः॥ १५८॥

सुकुमारतया करचरणाङ्गन्यासो ललितं यथा—

गुरुतरकलनूपुरानुरावं सुललितनर्त्तितवामपादपद्मा ।
इतरदनतिलोलमादधाना पदमथ मन्मथमन्थरं जगाम ॥ १५९ ॥

अत्यन्त कोमलता के साथ हाथ, पाँव तथा अंगों को रखना ललित है, जैसे—

कोई दूसरी नायिका बड़े-बड़े घुँघुरुओं से कर्णप्रिय ध्वनि निकालती हुयी, अत्यन्त सुन्दरता के साथ अपने बायें चरणकमल को नचाती हुई, कुछ-कुछ चञ्चल चरणों को रखती हुई कामाकुलता के कारण धीरे-धीरे चल पड़ी ॥ १५९ ॥

गुर्विति । अथानन्तरं काचित् गुरुतरः विपुलतर इत्यर्थः कलः मधुरास्फुटः नूपुरस्य चरणालङ्कारभेदस्य अनुरावः पश्चाद्रवः यत्र तद् यथा तथा सुललितम् अतिसुन्दरं यथा तथा नर्त्तितं वामं सव्यं पादपद्मं चरणकमलं यथा तथोक्ता तथा इतरद् अन्यद् दक्षिणमित्यर्थः पदं चरणम् अनतिलोलं नातिचपलं यथा तथा दधाना धारयन्ती सती मन्मथेन कामेन मन्थरं मन्दं यथा तथा जगाम ययौ ॥ १५९ ॥

वक्तव्यसमयेऽपि वचसा अनभिभाष्य क्रियानुष्ठानं विहृतं यथा—

पत्युः शिरश्चन्द्रकलामनेन स्पृशेति सख्या परिहासपूर्वम् ।
सा रञ्जयित्वा चरणौ कृताशीर्माल्येन तां निर्वचनं जघान ॥१६०॥

कहने के उपयुक्त समय पर भी वाणी से कुछ न कहकर केवल कुछ क्रिया करने लगना 'विहृत' है—जैसे—

"इस चरण से तुम अपने पति शङ्कर के मस्तक की चन्द्रलेखा का स्पर्श करो" इस प्रकार से सखी के द्वारा मज़ाक में कहने पर पार्वती ने अपने दोनों चरणों में आलता लगवाने के बाद आशीर्वाद लेकर उसे बिना कुछ कहे ही माला से मारा ॥ १६० ॥

पत्युरिति । सा पार्वती अनेन चरणेन पत्युः हरस्य शिरश्चन्द्रकलां मस्तकस्थितां चन्द्ररेखां स्पृश प्रहरेति यावत् इत्येवं सख्या प्रसाधिकयेति शेषः चरणौ रञ्जयित्वा अलक्तकादिना अलङ्कृत्य कृतः आशीर्वादः यस्याः तथाभूता सती माल्येन पुष्पदाम्ना तां सखीं निर्वचनम् अवचनं यथा तथा किमपि न कथयित्वेति भावः जघान प्रजहार ॥१६०॥

बाल्यकौमारयौवनसाधारणो विहारविशेषः क्रीडितं यथा—

मन्दाकिनीसैकतवेदिकाभिः सा कन्दुकैः कृत्रिमपुत्रकैश्च ।
रेमे मुहुर्मध्यगता सखीनां क्रीडारसं निर्विशतीव बाल्ये ॥ १६१ ॥

बाल्यावस्था, कुमारावस्था तथा युवावस्था में सामान्य रूप से किया जाने वाला खिलवाड़-विशेष क्रीडित है । जैसे—

वह पार्वती बाल्यकाल में अपनी सखियों के बीच में बार-बार गंगा की बालू की वेदी आदि बनाकर, गेंद खेल कर, गुड्डा-गुड्डी बनाकर क्रीड़ा के रस में प्रवेश करती हुई सी, आनन्द लेती रही ॥ १६१ ॥

मन्दाकिनीति । सा पार्वती सखीनां सङ्गिनीनां मध्यगता मध्यवर्त्तिनी सती बाल्ये शैशवक्रीडारसं खेलनास्वादं निर्विशतीव उपभुञ्जानेव मुहुः पुनः पुनः मन्दाकिन्याः स्वर्गङ्गायाः सैकतवेदिकाः ताभिः कन्दुकैः क्रीडनकैः गोलवस्तुविशेषैः सपुत्रकैः क्रीडनपुत्तलिकाभिरित्यर्थः मुहुः पुनः पुनः रेमे चिक्रीड ॥ १६१ ॥

क्रीडितमेव प्रियतमविषये केलिर्यथा--

व्यपोहितुं लोचनतो मुखानिलैरपारयन्तं किल पुष्पजं रजः ।
पयोधरेणोरसि काचिदुन्मनाः प्रियं जघानोन्नतपीवरस्तनी ।१६२॥

अपने प्रियतम के प्रति की गई क्रीडा ही केलि है । जैसे—

अपने मुख से फूँक-फूँक कर आँख में पड़े हुये पराग को निकाल पाने में असमर्थ होने पर किसी ऊँचे और बड़े-बड़े उरोजों वाली नायिका ने अपने प्रियतम को उन्मन होकर स्तनों से वक्षस्थल पर मारा ॥ १६२ ॥

व्यपोहितुमिति । **उन्नतौ उत्तुङ्गौ पीवरौ स्थूलौ स्तनौ यस्याः तथोक्ता काचिद् रमणी उन्मनाः विरक्तमनाः सती मुखानिलैः वदनवायुभिः लोचनतः स्वात् लोचनात् पुष्पजं रजः परागं व्यपोहितुं निरसितुम् अपारयन्तम् अशक्नुवानं प्रियं कान्तं पयोधरेण स्तनेन उरसि वक्षसि जघान किल आहतवती खलु ॥ १६२ ॥**

हेलादिषु रागतः सहसा प्रवृत्तिहेतुः चित्तोल्लासो हेला ।
सा स्त्रियां यथा--

राजइ पिअपरिरंभणपसारिअं सुरदमंदिरदुआरं ।
हेलाहलहलिअं थोरत्थणहरे भुजलआजुअलं ॥ १६३ ॥

हेला आदि में प्रेम के कारण एकाएक कार्य में प्रवृत्त कराने का कारणभूत चित्त का उल्लास 'हेला' है । वह जब स्त्री में होती है, तब का उदाहरण—

प्रियतम के आलिङ्गन के लिये फैलाया हुआ, संभोग मन्दिर का द्वारभूत, काँपता हुआ, दोर्घ भुजयुगल विशाल उरोजों पर सुशोभित होता है ॥ १६३ ॥

**राजते प्रियपरिरम्भणप्रसारितं सुरतमन्दिरद्वारम् ।
हेलाहलहलायमानं स्थूलस्तनभरे भुजलतायुगलम् ॥**

राजते इति । **प्रियस्य परिरम्भणाय आलिङ्गनाय प्रसारितं विस्तारितम् अतएव सुरतमन्दिरस्य द्वारं द्वारभूतमित्यर्थः भुजलतायुगलं बाहुवल्लीद्वयं भुजलताकमलमिति पाठान्तरम् । हेलया विलासविशेषेण हलहलायमानं कम्पमानम् सत् स्थूले स्तनभरे राजते शोभते ॥ १६३ ॥**

सैव पुरुषे यथा--

उत्तिष्ठन्त्या रतान्ते भरमुरगपतौ पाणिनैकेन कृत्वा
धृत्वा चान्येन वासो विलुलितकबरीभारमंसे वहन्त्या ।
भूयस्तत्कालकान्तिद्विगुणितसुरतप्रीतिना शौरिणा वः
शय्यामालिङ्ग्य नीतं वपुरलसलसद्बाहु लक्ष्म्याः पुनातु ॥१६४॥

पुरुष में होने वाली हेला का उदाहरण—
(अर्थ के लिये द्रष्टव्य २।३३) ॥ १६४ ॥

उत्तिष्ठन्त्या इति । **एकेन पाणिना भुजेन उरगपतौ शेषनागे भरम् अवलम्बनं कृत्वा रतान्ते सम्भोगावसाने उत्तिष्ठन्त्या उत्पतन्त्याः अन्येन पाणिना वासः वसनं धृत्वा विलु-**

लितः विस्रस्तः कबरीभारः केशपाशनिचयः यस्मिन् तद् यथा तथा अंसे स्कन्धे वहन्त्याः धारयन्त्याः लक्ष्म्याः पुनः तत्काले तस्मिन् समये या कान्तिः श्रीः तया द्विगुणिता द्विरावृत्ता वर्द्धितेत्यर्थः सुरते प्रीतिः आसक्तिर्यस्य तथाभूतेन शौरिणा नारायणेन आलिङ्ग्य आश्लिष्य शय्यां नीतं पातितम् अतएव अलसं मन्दं तथा यथा लसन्तौ स्फुरन्तौ बाहू यस्य तथाभूतं वपुः शरीरं वः युष्मान् पातु रक्षतु ॥ १६४ ॥

हेलैव सवचनविन्यासो हावः ।

स स्त्रियां यथा—

जइ ण छिवसि पुप्फवइं पुरदो ता कीस वारिओ ठासि ।
छित्तोसि चुलुचुल ! धाविऊण एदेहिं मए हत्थेहिं ॥ १६५ ॥

हेला जब शब्दप्रयोग के साथ होती है तब वही हाव होती है ।

उसके स्त्री में होने का उदाहरण—

यदि तू रजस्वला का स्पर्श नहीं करता है तो वर्जित होकर सामने खड़ा क्यों है ? हे चञ्चल, दौड़ कर मेरे इन हाथों से तुम छू लिये गये हो ॥ १६५ ॥

यदि न स्पृशसि पुष्पवतीं पुरतस्तत्किमिति वारितस्तिष्ठसि ।
स्पृष्टोऽसि चञ्चल ! धावित्वा एतैः मया हस्तैः ॥

जइ इति । यदीति । यदि पुष्पवतीम् ऋतुमतीमित्यर्थः न स्पृशसि न गच्छसीत्यर्थः तदा वारितः मा मां स्पृश पुष्पवतीमिति निषिद्धः सन् पुरतः समक्षं किमिति कथं तिष्ठसि ? अत्र स्थातुमनुचितमिति भावः । किन्तु हे चञ्चल ! मया एतैः हस्तैः धावित्वा स्पृष्टोऽसि । तस्मात् स्पर्शदोषः तव जात एव तत् किं मां त्यक्त्वा गच्छसीति भङ्ग्यन्तरेणोक्तम् ॥१६५॥

स एव पुरुषे यथा—

लोओ झूरइ झूरउ अवअणिज्जं होइ होउ तं णाम ।
एहि णिमज्जमु पास्से पुप्फवइ ! ण एइ मे णिद्दा ॥ १६६ ॥

उसी के पुरुष में होने का उदाहरण—

यदि लोक निन्दा करता है तो करे, यदि यह अवद्य है तो मज़े से हो । अरी रजस्वले ! आ, पास में बैठ, मुझे नींद नहीं आ रही है ॥ १६६ ॥

लोको निन्दति निन्दतु अवचनीयं भवति भवतु तत् नाम ।
एहि निमज्ज पार्श्वे पुष्पवति ! न एति मे निद्रा ॥

लोक इति । लोकः जनः निन्दति गर्हयते पुष्पवतीस्पर्शादिति भावः निन्दतु निन्दां करोतु अवचनीयम् अपवादः अकीर्त्तिरित्यर्थः भवति, तत् अवचनीयं भवतु नाम सम्भावनायाम् । एहि आगच्छ पार्श्वे निमज्ज शेष्व, हे पुष्पवति ! मे मम निद्रा न एति नागच्छति त्वत्सङ्गमोत्सुकत्वादिति भावः ॥ १६६ ॥

आदिग्रहणाद् भावादयो गृह्यन्ते ।

तेषु भावः स्त्रियां यथा—

तावच्चिअ रइसमए महिलाणं विभ्रमा विराअंति ।
जाव ण कुवलअदलसच्छाहाइं मउलंति णअणाइं ॥ १६७ ॥

(हेलादि में) 'आदि' पद का ग्रहण होने से भाव आदि का ग्रहण होता है।
उनमें स्त्री में भाव का उदाहरण—

भोग काल में तब तक ही रमणियों के विलास अवशिष्ट रहते हैं जब तक कि उनकी नीलकमल के सदृश छटा वाली आँखे निमीलित नहीं हो जातीं ॥ १६७ ॥

तावदेव रतिसमये महिलानां विभ्रमा विराजन्ते।
यावन्न कुवलयदलसच्छायानि मुकुलयन्ति नयनानि ॥

तावदिति। **रतिसमये सम्भोगकाले महिलानां कामिनीनां विभ्रमाः विलासभावाः तावद् एव विराजन्ते शोभन्ते, यावत् तासां कुवलयदलसच्छायानि नीलोत्पलदल-सदृशानि नयनानि न मुकुलयन्ति न निद्रावशं गच्छन्तीत्यर्थः निद्रामुकुलतायां न केऽपि विभ्रमाः सन्तीति भावः ॥ १६७ ॥**

व्याजः पुंसो यथा—

अलिअपसुप्त ! विणिमीलिअच्छ ! देसु सुहअ ! मज्झं ओआसं।
गण्डपरिचुंबणपुलइआंग ! ण उण चिराइस्सं ॥ १६८ ॥

पुरुष के व्याज का उदाहरण—

हे सोने का बहाना बनाये हुये, आँखों को बन्द करनेवाले प्रिय, मुझे भी अवसर दो। कपोलों को चूमने से हे पुलकित अङ्गों वाले, अब फिर कभी देरी नहीं करूँगी ॥ १६८ ॥

अलीकप्रसुप्त ! विनिमीलिताक्ष ! देहि सुभग ! मे अवकाशम्।
गण्डपरिचुम्बनपुलकिताङ्ग ! न पुनरपि चिरयिष्ये ॥

अलीकेति। **हे अलीकप्रसुप्त ! विनिमीलिताक्ष ! अथवा अलीकेन कपटेन प्रसुप्तेन निद्रया विनिमीलिते अक्षिणी नेत्रे यस्य तत्सम्बुद्धौ। हे सुभग ! मे मह्यम् अवकाशं स्थानं देहि। गण्डस्य कपोलस्य परिचुम्बनेन पुलकितं लोमाञ्चितम् अङ्गं यस्य तत्सम्बुद्धौ हे नाथ ! पुनः नाहं चिरयिष्ये नैव विलम्बं करिष्यामीत्यर्थः ॥ १६८ ॥**

विश्रम्भभाषणं स्त्रियां यथा—

जाओ सो वि विलच्छो मए वि हसिऊग गाढमुवऊढो।
पढमोपसरिअस्स णिअसणस्स गंठिं विमग्गंतो ॥ १६९ ॥

स्त्रियों में विश्रम्भ-भाषण का उदाहरण—

(आलिंगन के) पूर्व ही खुल गई वस्त्र की गाँठ को खोजता हुआ मेरा वह प्रिय भी लज्जित हो गया और मैंने भी हँस कर उसका प्रगाढ आलिंगन कर लिया ॥ १६९ ॥

जातः सोऽपि विलक्षो मयापि हसित्वा गाढमुपगूढः।
प्रथममपसरितस्य निवसनस्य ग्रन्थिं विमार्गयन् ॥

जात इति। **मया हसित्वा गाढमुपगूढः आलिङ्गितः सोऽपि मत्कान्तोऽपीत्यर्थः प्रथमं प्राक् आलिङ्गनात् प्राक् अपसरितस्य स्वतः स्खलितस्य कामावेशातिरेकादिति भावः निवसनस्य परिधानवसनस्य ग्रन्थिं विमार्गयन् अन्विच्छन् विलक्षः लज्जितः जातः अभूत्। सखीं प्रति स्वैरविहारिण्या उक्तिः ॥ १६९ ॥**

चाटु स्त्रीपुंसयोर्यथा,--

एक्कं पहरुच्चाटं हत्थं मुहमारुएण वीअंतो ।
सोवि हसन्तीए मए गहीदो दुवीएण कंठम्मि ॥ १७० ॥

स्त्री-पुरुष दोनों में चाटु का उदाहरण—

प्रहार करने से चोट खा गये मेरे एक हाथ को मेरा प्रियतम अपने मुख की वायु से फूँकने लगा और मैंने भी हँस कर अपने दूसरे हाथ से कण्ठ प्रदेश में (आलिंगन करने के लिये) उसे पकड़ लिया गया ॥ १७० ॥

एकं प्रहारोच्चाटं हस्तं मुखमारुतेन वीजयन् ।
सोऽपि हसन्त्या मया गृहीतो द्वितीयेन कण्ठे ॥

एकमिति । प्रहारेण ताडनेन उच्चाटं व्यथितमिति यावत् हस्तं मदीयमिति शेषः मुखमारुतेन वदनवायुना वीजयन् व्यथाशान्त्यर्थमिति भावः सोऽपि मत्कान्तोऽपि हसन्त्या हासं कुर्वत्या मत्कृतप्रहारमपि अगणयित्वा प्रहारजातव्यथं मदीयमेव हस्तं वीजनेन अनुरागातिशयदर्शनात् मानत्यागादिति भावः मया द्वितीयेन अन्येन कण्ठे गृहीतः आलिङ्गितः ॥ १७० ॥

प्रेमाभिसन्धानम् पुंसो यथा--

केलीगोत्तक्खलणे वरस्स पप्फुल्लाइं हिणत्ति ।
वहुवासअवासघरे वहुए वाप्फाद्दिदा दिट्ठी ॥ १७१ ॥

पुरुष के प्रेमाभिसंधान का उदाहरण—

प्रेम पूर्वक नाम लेने में व्यत्यय हो जाने से बहुत-सी स्त्रियों से भरे हुये घर में नवोढ़ा की आँसू से भरी हुई आँखें वर की प्रसन्नता को नष्ट किये दे रही हैं ॥ १७१ ॥

केलिगोत्रस्खलने वरस्य प्रफुल्लतां हिनस्ति ।
बहुवासकवासगृहे वध्वा वाष्पार्द्रिता दृष्टिः ॥

केलीति । वह्वीनां नारीणामिति भावः वास एव वासकम् अवस्थानं यत्र तादृशे वासगृहे वासकमन्दिरे वरस्य केलिः नर्मोक्तिरिति यावत् तत्र यत् गोत्रस्खलनं नामव्यत्ययः परनारीनामोच्चारणमिति यावत् तत्र सति वध्वाः नवोढाया इति यावत् वाष्पार्द्रिता पत्युर्गोत्रस्खलनादिति भावः अश्रुसिक्ता दृष्टिः वरस्य जामातुः प्रफुल्लतां हर्षविकसित्वं हिनस्ति नाशयतीत्यर्थः ॥ १७१ ॥

परिहासः स्त्रिया यथा--

अइ दिअर ! किं ण पेच्छसि आआसे ? किं मुहा पलोएसि ।
जाआए बाहुमूलम्मि अद्धचंदाणं पड़िवाड़िम् ॥ १७२ ॥

स्त्री के द्वारा किये गये परिहास का उदाहरण—

अरे देवर, आकाश में क्या नहीं देखते ? रमणी के भुजमूल में अर्धचन्द्रावलियों को व्यर्थ में क्या देख रहे हो ? अर्थात् अर्धचन्द्र के दर्शन में कालातिपात न करके सुरत में लग जाओ ॥ १७२ ॥

अयि देवर ! किं न प्रेक्षसे अकाशे ? किं मुधा विलोकयसि ।
जायाया बाहुमूले अर्द्धचन्द्राणां परिपाटीम् ? ॥

अइ इति । अयीति कोमलामन्त्रणे । हे देवर ! आकाशे किं न प्रेक्षसे न पश्यसि ? अर्द्धचन्द्राणां परिपाटीमिति भावः अपि तु पश्यस्येवेत्यर्थः तर्हि जायायाः कान्तायाः बाहुमूले अर्द्धचन्द्राणाम् अर्द्धचन्द्राकारान् अलङ्कारविशेषानित्यर्थः मुधा वृथा किं कथं विलोकयसि ? पश्यसि ? अर्द्धचन्द्रविलोकने समयातिपातमकृत्वा सुरतव्यापारमाचरेति भङ्ग्या उक्तम् ॥ १७२ ॥

कुतूहलं पुंसो यथा—

असमत्तमंडणा वज घरं भत्तुणो सकोदुहलस्स ।
वदिकांतहलहलस्स पुत्ति ! चित्ते ण लगिस्ससि ॥ १७३ ॥

पुरुष के कौतूहल का वर्णन, जैसे—

(कोई वेश्या अपनी पुत्री से कह रही है कि) हे बेटी, अपने शृङ्गार को विना पूरा किये भी तू अपने उत्कण्ठित प्रियतम के घर जा । कहीं ऐसा न हो कि कौतूहल समाप्त हो जाने पर तू उसके हृदय में न सट सके ॥ १७३ ॥

असमाप्तमण्डना व्रज गृहं भर्त्तुः सकौतूहलस्य ।
व्यतिक्रान्तहलहलस्य पुत्रि ! चित्ते न लगिष्यसि ॥

असमाप्तेति । हे पुत्रि ! असमाप्तं समाप्तिं न प्राप्तं मण्डनम् अलङ्करणं यस्याः तथाभूता सती सकौतूहलस्य सोत्सुकस्य भर्त्तुः गृहं व्रज शीघ्रं गच्छ इति यावत् कान्तमनोरथपूरणस्य चिरायितत्वे विरक्तया चरमामोदस्य नावसर इति भावः । अतः व्यतिक्रान्तं विगतं हलहलम् औत्सुक्यं यस्य तथाभूतस्य विगतकामावेशस्य कान्तस्येति शेषः चित्ते मनसि न लगिष्यसि न लग्ना भविष्यसि न प्रणयिनी भविष्यसीति भावः तस्मात् त्वया कान्तसङ्गमे असमाप्तमण्डनत्वादिना न चिरायितव्यमिति भावः । उपमातुरुक्तिः ॥ १७३ ॥

चकितं स्त्रिया यथा—

णवलइआ पाकारे तुट्ठाए किदं किम्पि हलिअसोण्हाए ।
जं अज्जवि जुवइजणो घरे घरे सिक्खिदुं भमइ ॥ १७४ ॥

स्त्री के चकित का उदाहरण—

हलवाहे की पुत्रवधू ने प्रसन्न होकर अपनी घर की भीति पर एक नई वेल किसी प्रकार बनाई थी । उसे सीखने के लिये आज भी प्रत्येक घर में युवतियाँ विचरण कर रही हैं ॥ १७४ ॥

नवलतिका प्राकारे तुष्टया कृता किमपि हलिकस्नुषया ।
यदद्यापि युवतिजनो गृहे गृहे शिक्षितुं भ्रमति ॥

नवेति । हलिकस्य हलवाहिनः कृषीवलस्येति यावत् स्नुषा पुत्रवधूः तया तुष्टया सहर्षया नवलतिका नवा वल्ली प्राकारे गृहभित्ताविव्यर्थः किमपि कृता विरचिता । यद् लताविरचनामित्यर्थः शिक्षितुं गृहे गृहे प्रतिगृहं युवतिजतः तरुणीजनः भ्रमति विचरति ॥ १७४ ॥

हेला हावश्च भावश्च व्याजो विश्रम्भभाषणम् ।
चाटु प्रेमाभिसन्धानं परिहासः कुतूहलम् ॥१६८॥
चकितं चेति निर्दिष्टाश्चेष्टाः काश्चिद्विलासिनाम् ।
शेषाणां विप्रलम्भादौ रूपमाविर्भविष्यति ॥१६९॥

इस प्रकार हेला, हाव, भाव, व्याज, विश्रम्भभाषण, चाटु, प्रेमाभिसन्धान, परिहास, कुतूहल और चकित—ये विलासियों की कुछ चेष्टायें वर्णित की गई हैं। शेष (चेष्टाओं) का स्वरूप विप्रलम्भ आदि के प्रसङ्ग में प्रकट होगा।

स्व० द०—ये प्रधानतः स्त्रियों की तथा दो-एक पुरुषों की ललित चेष्टायें हैं। इनसे प्रेम में अभिवृद्धि होती है। इनका विशद विवेचन इसी परिच्छेद में पहले सामान्यरूप से आये हुए प्रसंग के सन्दर्भ में किया जा चुका है।

हेलेति। हेलादयः दश काश्चित् विलासिनां चेष्टाः विलसनव्यापाराः निर्दिष्टाः कथिताः। शेषाणां भावानां विप्रलम्भादौ वक्ष्यमाणरूपे रूपं लक्षणमित्यर्थः आविर्भविष्यति प्रकटीभविष्यतीत्यर्थः ॥ १६८–१६९ ॥

विप्रलम्भशृङ्गार

तत्र नायकयोः प्रागसङ्गतयोः सङ्गतयोश्च सङ्गतवियुक्तयोर्वा मिथोदर्शनश्रवणाभ्याम् उपस्थिताभिमानजन्मा परस्परानुरागोऽन्यतरानुरागो वा अभिलषणीयालिङ्गनादीनाम् अनवाप्तौ सत्यां समुपजायमानैः तैः तैः उत्कण्ठादिभिः व्यभिचारिभावैः मनोवाग्बुद्धिशरीरारम्भजन्मभिश्च अनुभावैः अनुबद्धः प्राप्तप्राप्यप्रकर्षावस्थो विप्रलम्भशृङ्गाराख्यां लभते। स चतुर्द्धा-पूर्वानुरागो मानः प्रवासः करुणश्च ॥

वहाँ पहले न मिले हुये, मिले हुये अथवा मिलकर वियुक्त हो गये नायक तथा नायिका दोनों के परस्पर देखने तथा सुनने के कारण वर्तमान अभिमान से उत्पन्न परस्पर अथवा एक का दूसरे के साथ प्रेमभाव अभीष्ट आलिङ्गन आदि की प्राप्ति न होने पर, उत्पन्न होने वाले उन-उन उत्कण्ठा आदि व्यभिचारीभावों के द्वारा, मन, वाणी, बुद्धि तथा शरीर से आरम्भ होकर जन्म लेनेवाले अनुभावों से अनुबद्ध, अपेक्षित प्रकर्ष की अवस्था को प्राप्त करके विप्रलम्भ शृङ्गार की संज्ञा प्राप्त करता है। वह चार प्रकार का है, १—पूर्वानुराग, मान, प्रवास तथा करुण।

स्व० द०—इन विषयों का भी विवेचन इसी परिच्छेद में विप्रलम्भ शब्द की व्युत्पत्ति के प्रसंग में किया जा चुका है। आगे मात्र अनुवाद तथा यथावश्यक तुलनात्मक सामग्री दी गई है।

तत्रेति। असङ्गतयोः अमिलितयोः सङ्गतयोः मिलितयोः। सङ्गतवियुक्तयोः आदौ सङ्गतौ पश्चात् वियुक्तौ तयोः। मिथोदर्शनश्रवणाभ्यां परस्परावलोकनगुणाकर्णनाभ्याम् उपस्थिताभिमानजन्मा उपस्थितं यत् अभिमानं ममायं ममेयं वेति अहङ्कारः तस्मात् जन्म उत्पत्तिर्यस्य तथाभूतः परस्परानुरागो वा अन्योन्यप्रणय एव। अभिलषणीयानाम्

आकाङ्क्षणीयानाम् आलिङ्गनादीनाम् अनवाप्तौ अप्राप्तौ। समुपजायमानैः। अनुबद्धः संवलितः। प्राप्तेति। प्राप्ता प्राप्या प्रकर्षावस्था येन तथाभूतः॥

तेषु प्रागसङ्गतयोः पूर्वानुरागः पुरुषप्रकाण्डे यथा—

दूरं मुक्तालतया बिससितया विप्रलभ्यमानो मे।
हंस इव दर्शिताशो मानसजन्मा त्वया नीतः॥ १७५॥

अत्र पुण्डरीकस्य महाश्वेतायां प्रागसङ्गतायां समुत्पन्नः संकल्परमणीयोऽभिलाषः तदनाप्तौ उक्तप्रकारेण प्रकृष्यमाणः त्वया मे मानसजन्मा दूरं नीत इति उत्तरकामावस्थया प्रकाश्यते॥ १७५॥

विप्रलम्भ के उन भेदों में से पहले न मिले हुये नायक तथा नायिका के पूर्वानुराग का पुरुष के विषय में होने का उदाहरण—

जिस प्रकार कोई पुरुष बिसतन्तुओं के सदृश श्वेत मोती के दानों से आशा दिलाकर मानसरोवर में उत्पन्न हंस को बहुत दूर तक अपनी दिशा में ले जाये, उसी प्रकार हे महाश्वेता, मृणालसूत्र की भाँति निर्मल अपनी मोती की माला से ठग कर आशा दिलाकर मेरे कामदेव को तुमने बहुत दूर ला दिया है, बहुत आगे बढ़ा दिया है॥ १७५॥

यहाँ पहले न मिली हुई महाश्वेता के प्रति पुण्डरीक की उत्पन्न, विचार में अत्यन्त मनोज्ञ लगने वाली अभिलाषा है जो अभीष्ट की प्राप्ति न होने पर कहे गये प्रकार से प्रकर्ष को पहुँचाई जाती हुई "तुम्हारे द्वारा मेरा कामदेव बहुत आगे बढ़ा दिया गया है" इस उत्तरकालीन अवस्था से प्रकाशित होती है।

तेषु पूर्वानुरागादिषु। पुरुषप्रकाण्डे पुरुषविषये इत्यर्थः।

दूरमिति। बिससितया मृणालशुभ्रया मुक्तालतया मौक्तिकहारेण मुक्ताहारविनिमयेनेति भावः विप्रलभ्यमानः प्रलोभ्यमानः मे मम मानसजन्मा काम इत्यर्थः दर्शिताशः मृणालप्रदर्शनात् दत्ताश इत्यर्थः हंस इव त्वया दूरं वृद्धिं दूरदेशञ्च नीतः प्रापितः॥१७५॥

स एव स्त्रीप्रकाण्डे यथा—

दुल्लहजणाणुराओ लज्जा गरुई परवसो अप्पा।
पिअसहि! विसमं पेम्म मरणं सरणं णवरि एक्कम्॥

अत्रापि प्राग्वदेव सागरिकाया वत्सराजे अनुरागः प्रकृष्यमाणो मरणं शरणम् इति उत्तरया एव कामावस्थया कथ्यते॥ १७६॥

उसी के स्त्री के विषय में होने का उदाहरण—

बड़ी कठिनाई से मिल पानेवाले व्यक्ति के प्रति प्रेम है, लाज भी बहुत अधिक है। स्वयं भी परतन्त्र हैं। प्रेम बड़ा विषम हुआ करता है। ऐसी दशा में तो हे प्रिय सखी, अब बस केवल एक मरण ही आश्रय है॥ १७६॥

यहाँ भी पहले की ही भांति सागरिका का वत्सराज के प्रति प्रेम है, वह उत्कर्ष प्राप्त करत हुआ "मरणं शरणं" में परवर्ती कामावस्था के द्वारा ही कहा जा रहा है।

दुर्लभजनानुरागी लज्जा गुर्वी परवश आत्मा।
प्रियसखि! विषमं प्रेम मरणं शरणं केवलमेकम्॥

दुर्लभेति। दुर्लभे दुष्प्रापे जने अनुरागः प्रणयः ननु चेष्टया स लब्धुं शक्यत इत्यत्राह लज्जेति। लज्जा गुर्वी महती लज्जया स न प्रकाश्यते इति भावः आत्मा परवशः पराधीनः स्वाधीनतया लज्जात्यागेनापि तत्प्राप्तये यत्नः क्रियते किन्तु पराधीनत्वात् तन्न शक्यते इति भावः। हे प्रियसखि! प्रेम अनुरागः विषमं दारुणं दुर्वारमिति भावः। अतः केवलम् एकम् एकमात्रं मरणं मृत्युः शरणमाश्रयः प्रतीकार इति यावत्॥ १७७॥

सङ्गतयोः मानः, स निर्हेतुर्यथा--

अत्थ क्क रुसणं अलिअवअणणिब्बन्धे पसीद खणेण।
उम्मच्छरसन्तावो पुत्तअ! पअवी सिणेहस्स॥ १७७॥

अत्र प्रेमगतेः स्वभावकौटिल्यात् हेतुमन्तरेण उपजायमानो निर्हेतुरुच्यते॥

मिले हुए नायक तथा नायिका दोनों में विना किसी कारण के ही होनेवाले मान नामक विप्रलम्भ का उदाहरण—

"अरे झूठी बातों पर यहाँ रोष के लिये अवसर ही क्या है? शीघ्र प्रसन्न होओ। हे बेटे, बढ़े हुये द्वेष से उत्पन्न क्रोध तो प्रेम का मार्ग है"॥ १७७॥

यहाँ, प्रेम की गति के सहज रूप से कुटिल होने के कारण विना कारण के भी उसके उत्पन्न होने से वह निर्हेतु है।

स्व० द०—उपर्युक्त गाथा की अपेक्षा इसी के पूर्वार्ध का पाठान्तर अधिक सुन्दर अर्थ का प्रत्यायन कराता है। वहाँ पूरी उक्ति ही किसी उपमाता की है।—

अत्थक्करूसणं खणपसिज्जणं अलिअवअणणिब्बन्धो।
उम्मच्छरसंताओ उत्तअपदवी सिणेहस्य॥
[अकस्माद् रोषणं क्षणप्रसादनमलीकवचननिर्बन्धः]
अत्र क्व रोषोऽलीकवचननिर्बन्धे प्रसीद क्षणेन।
उन्मत्सरसन्तापः पुत्रक! पदवी स्नेहस्य॥

अत्रेति। हे पुत्रक! अत्र अस्मिन् अलीकवचननिर्बन्धे त्वया मदन्यः काम्यते इत्येवं मृषावादस्य निर्बन्धे साग्रहवचने इत्यर्थः रोषः कोपः क्व? न कोपः कार्य्य इति भावः। क्षणेन अल्पेनैव कालेन प्रसीद प्रसन्नतां भज उद्गतः उत्थित इत्यर्थः मत्सरः द्वेषः तेन सन्तापः कियन्तं कालं दुःखभोग इत्यर्थः स्नेहस्य प्रेम्णः पदवी पन्थाः। 'न विना विप्रलम्भेण सम्भोगः पुष्टिमश्नुते' इतिवत् मानेनापि विना सम्भोगस्य पुष्टेरभावात् स्वत एव निर्हेतुर्मानः प्रसरतीति नात्र त्वया वैमनस्यमवलम्बितव्यमिति भावः। उपमातुरुक्तिः॥ १७७॥

स एव सहेतुः यथा--

पडिउत्थिआ ण जप्पइ गहीआ विप्फुरइ चुंबिआ रुसइ।
तुण्हि भुआ णवबहुआ किदा वराकेण दइएण॥१७८॥

यद्यपि आलिङ्गनादेर्मेति न इत्यादिभिः प्रतिषेधो न विद्यते तथापि तदर्थोऽस्ति एवेति मानलक्षणं घटते ।। १७८ ।।

उसी के सहेतु होने का उदाहरण—

बेचारे प्रिय के द्वारा उठकर स्वागत करने अथवा पूँछने पर भी नायिका बात नहीं करती, पकड़ने पर छुड़ा कर भागना चाहती है, चुम्बन लेने पर क्रुद्ध हो जाती है। इस प्रकार वह नवोढा एकदम चुपचाप बनी रहती है ॥ १७८ ॥

यहाँ यद्यपि आलिङ्गन आदि का 'मा', 'न' आदि निषेधात्मक पदों के प्रयोग द्वारा प्रतिषेध नहीं है तथापि (चेष्टाओं द्वारा) उसका भाव तो है ही, इस प्रकार यहाँ मान का लक्षण घटित होता है।

प्रत्युत्थिता न जल्पति गृहीता विस्फुरति चुम्बिता रुष्यति ।
तूष्णींभूता नववधूः कृता वराकेण दयितेन ॥

प्रत्युत्थितेति । **वराकेण निर्दोषेण सरलभावापन्नेनेति यावत् दयितेन प्रियेण नववधूः नवोढा कान्ता प्रत्युत्थिता उपस्थितमात्रेण उत्थाय सम्बद्धिता सती न जल्पति न भाषते । धृता सती विस्फुरति पलायनार्थं चेष्टते, चुम्बिता सती रुष्यति अतएव रोषात् तूष्णींम्भूता मौनावलम्बिनी कृता ॥ १७८ ॥**

सङ्गतवियुक्तयोः प्रवासः । स नवानुरागो यथा--

प्रियमाधवे ! किमसि मय्यवत्सला ननु सोऽहमेव यमनन्दयत्पुरा ।
अयमागृहीतकमनीयकङ्कणस्तवमूर्त्तिमानिव महोत्सवः करः ॥१७९॥

अत्र विवाहान्तरमेव मालत्याः कपालकुण्डलया अपहारात् माधवमालत्योः अयं नवानुरागः प्रवास उच्यते ।। १७९ ।।

मिलकर वियुक्त होनेवालों में प्रवास होता है। नये अनुराग से युक्त प्रवास का उदाहरण—

हे माधव को प्रेम करने वाली मालती ! मुझ पर तू कैसे प्रेम रहित हो गई, निश्चित ही मैं वही हूँ जिसे पहले इस मनोज्ञ कंगन को-वैवाहिकसूत्र को-धारण करने वाले साक्षात् महान् आनन्द की भांति तुम्हारे हाथ ने आनन्दित किया था ॥ १७९ ॥

यहाँ विवाह के पश्चात् ही कपालकुण्डला के द्वारा मालती का अपहरण हो जाने से मालती और माधव का यह सब अनुराग प्रवास कहा जाता है।

प्रियेति । **प्रियः माधवो यस्याः सा प्रियमाधवा तत्सम्बुद्धौ हे प्रियमाधवे ! माधवानुरागिणि ! मयि माधवे इति भावः अवत्सला अस्नेहा किं कथम् असि ? भवसि ? ननु भोः ! अयम् आगृहीतं धृतं कमनीयं मनोज्ञं कङ्कणं वैवाहिकहस्तभूषणं येन तथाभूतः अतएव मूर्त्तिमान् शरीरबद्धः महोत्सव इव तव करः पाणिः पुरा प्राक् यं समनन्दयत् आनन्दयामास अहं स माधव एवेत्यर्थः ॥ १७९ ॥**

स एव प्रौढ़ानुरागो यथा--

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलायां
आत्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्त्तुम् ।

अस्रैस्तावन् मुहुरुपचितैः दृष्टिरालिप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्गमं नौ कृतान्तः ॥१८०।

अत्र प्राचीनप्रणयकोपप्रसादनादिभिः अनुरागस्य प्रौढिः अवगम्यते ॥१८०॥

प्रयास में ही प्रौढ़ अनुराग का उदाहरण—

पत्थर पर गेरू आदि धातुओं के रंग से प्रेम में क्रुद्ध हो गई तुमको चित्रित करके जब तक मैं अपने को तुम्हारे चरणों पर डालने की इच्छा करता हूँ, तब तक बार बार आँसुओं से मेरी आँख डबडबा जाती है। यह निष्ठुर दैव उसमें भी हम दोनों का मिलन नहीं बर्दाश्त कर सकता ॥ १८१ ॥

यहाँ पुराने प्रणयकोप से प्रसन्न करने आदि की क्रियाओं के कारण प्रेम की प्रौढ़ता प्रतीत होती है।

त्वामिति। हे प्रिये इति अध्याहार्य्यम्। प्रणयेन प्रेम्णा कुपितां मानवतीमिति भावः त्वां धातुरागैः गैरिकादिद्रवैः शिलायाम् आलिख्य चित्रीकृत्येत्यर्थः यावत् आत्मानं स्वस्वरूपं ते तव आलेख्यगताया इति भावः चरणपतितं मानभञ्जनार्थं पदानतं कर्त्तुम् इच्छामि अभिलषामि, तावत् मुहुः पुनः पुनः उपचितैः उद्गतैः दुःखादिति भावः अस्रैः नेत्रवारिभिः मे मम दृष्टिः आलुप्यते आवियते, कथमित्याह क्रूर इति। क्रूरः दारुणः कृतान्तः दैवं 'कृतान्तो यमदैवयो'रित्यमरः। तस्मिन्नपि आलेख्येऽपि नौ आवयोः सङ्गमं मेलनं न सहते न क्षमते ॥ १८० ॥

सङ्गतयोरेव अन्यतरव्यपाये करुणः ॥

स स्त्रीव्यपाये पुरुषस्य यथा—

ध्रुवमस्मि शठः शुचिस्मिते ! कलितः कैतववत्सलस्त्वया ।
परलोकमसन्निवृत्तये यदनामन्त्र्य गताऽसि मामितः ॥

अत्र इन्दुमतीव्यपायात् अजस्य दुःखातिशयः करुण उच्यते ॥१८१॥

मिले हुये प्रेमियों में से एक का नाश हो जाने पर करुण होता है।

स्त्री के विनाश पर पुरुष के करुण का उदाहरण—

हे पवित्र मुसकान वाली, अपने कपट प्रेम के कारण निश्चित ही मैं तुम्हारे द्वारा शठ समझ लिया गया हूँ। इसीलिये तुम बिना मुझसे कुछ कहे सुने स्वर्गलोक को फिर कभी न लौटने के लिये चली गई हो ॥ १८१ ॥

यहाँ इन्दुमती के विनाश से अज का अत्यधिक दुःख करुण कहा जाता है।

अन्यतरव्यपाये उभयोः नायकनायिकयोः एकस्य नाशे इत्यर्थः।

ध्रुवमिति। हे शुचिस्मिते ! विशुद्धमन्दहासिनि ! त्वया अस्मि अहं कैतववत्सलः कपटप्रेमिकः अतएव शठः धूर्त्तः ध्रुवं निश्चितं विदितः ज्ञातः। यत् यतः मम शठता-निश्चयादित्यर्थः माम् अनामन्त्र्य अनापृच्छ्य असन्निवृत्तये अपुनरागमनाय इतः अस्मात् लोकात् परलोकं स्वर्गं गतासि प्रस्थितासि ॥ १८१ ॥

स एव पुरुषव्यपाये स्त्रिया यथा--

हृदये वससीति मत्प्रियं यदवोचस्तदवैमि कैतवम् ।
उपचारपदं न चेदिदं त्वमनङ्गः कथमक्षता रतिः ? ॥१८२॥

अत्र अनङ्गविषये रतेः शोकप्रकर्षात् करुण इति आख्यायते ।

पुरुष के मरण पर स्त्री के करुण (विलाप) का ही उदाहरण—

मुझे प्रसन्न करने के लिये तुमने जो कहा था कि "तुम मेरे हृदय में बसती हो" मैं उसे केवल धूर्तता समझती हूँ। यदि यह केवल औपचारिक चर्चा न होती तो तुम निःशरीर हो जाते और रति को तनिक भी क्षति न पहुँचती ॥ १८२ ॥

यहाँ काम के प्रति रति के शोक के चरमसीमा पर पहुँच जाने पर करुण कहा जाता है ।

हृदय इति । हे प्रिय ! इति अध्याहार्य्यम् । त्वं मे मम हृदये अन्तरिन्द्रिये वससि तिष्ठसि इति यत् मम प्रियं प्रीतिकरं वचः अवोचः कथितवानसि, तत् कैतवं कपटम् अलीकमित्यर्थः अवैमि अवगच्छामि, चेति यदि इदम् उपचारपदम् आरोपितवाक्यं न स्यादिति शेषः तदा त्वम् अनङ्गः अशरीरः दग्धावयव इत्यर्थः, रतिः अहमित्यर्थः तव हृद्गतेति भावः कथं अक्षता अविनष्टा अदग्धेति यावत् आश्रयदहने आश्रितस्य दाहोऽवश्यम्भावीति भावः ॥ १८२ ॥

हीनपात्रादिषु च एतदाभासा भवन्ति ॥

तत्र हीनपात्रेषु पुंसि प्रेमानुरागो यथा--

कअलीगब्भसरिच्छे ऊरू दट्ठूण हलिअसोण्हाए ।
उल्लसइ णहरञ्जणचटुलस्स चित्तं सेउल्लिअकरस्स ॥ १८३ ॥

आभास

हीन पात्र आदि में इनके आभास होते हैं ।

वहाँ हीन पात्रों (के निरूपण के प्रसङ्ग में) पुरुष में प्रेमानुराग का उदाहरण—

हलवाहे की पुत्रवधू के केले के स्तम्भ की भांति दोनों जघनो को देख कर नाखून को रंगने की इच्छा वाले तथा पसीने से भीग गये हाथों वाले (नापित) का दिल उछल रहा है ॥ १८३ ॥

स्व० भा०—निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित प्रति में उत्तरार्द्ध में पाठान्तर है । वह स्पष्ट भी अधिक है । यद्यपि छाया के विषय में विवाद हो सकता है ।—

उल्लइ णहरंजणं चंदिलस्स सेडलिअ करस्स ॥
[आर्द्रीभवति नखरंजनं नापितस्य स्वेदार्दितकरस्य ॥]
कदलीगर्भसदृक्षे ऊरू दृष्ट्वा हलिकस्नुषायाः ।
उल्लसति नखरञ्जनकाङ्क्षिणश्चित्तं स्वेदार्द्रितकरस्य ॥

कदलीति । हलिकस्य कर्षकस्य स्नुषायाः पुत्रवध्वाः कदलीगर्भसदृक्षे रम्भास्तम्भसदृशे

ऊरू दृष्ट्वा नखरञ्जनकारिणः नखाग्रकर्त्तनपुरःसरं तद्रञ्जनकारिणः नापितस्येति शेषः स्वेदेन सत्त्वोदयजनितेन धर्मेण आर्द्रितः सिक्तः करः पाणिः यस्य तथाभूतस्य सतः चित्तम् उल्लसति कामावेशेन विस्फुरति इति शेषः ॥ १८३ ॥

अत्रैव स्त्रियां मानो यथा—

पढमघरिणीए समए तुह पिंडेहिम् आदरं कुणंतम्मि ।
णवबहुआए इसरोसं संव्वच्चिअ वच्छआ मुक्का ॥ १८४ ॥

इसी संदर्भ में स्त्री में मान का उदाहरण—

प्रथम स्त्री के समय से अन्न-भोजन देकर तुम्हारा आदर करने पर नवविवाहिता स्त्री के द्वारा थोड़ा सा क्रोध को रोककर बच्चे छोड़ दिये गये ॥ १८४ ॥

प्रथमगृहिण्यां समये तव पिण्डैरादरं कुर्वन्त्याम् ।
नववध्वा ईषद्रोषं संवृत्य वत्सा मुक्ताः ॥

प्रथमेति । प्रथमगृहिण्यां समये मध्याह्नकाले पिण्डैः अन्नैः तव आदरं कुर्वन्त्यां सादरं त्वाम् अन्नं भोजयन्त्यामित्यर्थः नववध्वा नूतनमूढया भार्य्ययेत्यर्थः ईषद्रोषं संवृत्य अप्रकटय्येत्यर्थः वत्साः शिशवः मुक्ता त्यक्ताः भर्त्तारं विरक्तीकर्त्तुमिति भावः ॥ १८४ ॥

तिर्य्यक्षु पक्षिणि प्रवासो यथा—

आपृच्छामि व्यथयति मनो दुर्बला वासरश्रीः
एह्यालिङ्ग क्षपय रजनीमेकिका चक्रवाकि !
नान्यासक्तो न खलु कुपितो नानुरागच्युतो वा
दैवाधीनः सपदि भवतीमस्वतन्त्रस्त्यजामि ॥ १८५ ॥

तिर्यक् योनि के पक्षियों में भी प्रवास का उदाहरण—

हे प्रिये चक्रवाकी, मैं तुमसे विदा लेता हूँ, दिन की छटा क्षीण होती जा रही है, अतः मन को खिन्नता हो रही है। आओ, आलिङ्गन करो और अकेली ही इस रात्रि को बिताओ। तुम निश्चिन्त रहो क्योंकि न तो मैं किसी दूसरे में अनुरक्त हूँ, न तुम पर क्रुद्ध हूँ, न तुमसे मेरा प्रेम ही समाप्त हुआ है। भाग्य के वश में होकर, पराधीनता के कारण ही मैं एकाएक तुम्हारा परित्याग कर रहा हूँ ॥ १८५ ॥

आपृच्छामीति । हे चक्रवाकि ! आपृच्छामि तां सम्बोधयामि, वासरस्य दिवसस्य श्रीः कान्तिः दुर्बला क्षीणा अवसितप्रायेत्यर्थः अतः मे मम मनः व्यथयति व्याकुलयति तव भाविनो विच्छेदस्य स्मरणादिति भावः । एहि आगच्छ, आलिङ्ग, एकिका एकाकिनी सती रजनीं रात्रिं क्षपय यापय । अहं न अन्यस्याम् नार्य्याम् आसक्तः अनुरक्तः, न खलु नैव कुपितः त्वां प्रति नैव क्रुद्धः, वा पक्षान्तरे न अनुरागात् स्वत्प्रणयात् च्युतः भ्रष्टः, किन्तु दैवस्य अधीनः वशगः अत एव अस्वतन्त्रः अहम इत्यर्थः सपदि सहसा भवतीं त्वां त्यजामि ॥ १८५ ॥

अत्रैव करिणीकरुणो यथा--

नान्तर्वर्त्तयति ध्वनत्सु जलदेष्वामन्द्रमुद्गर्जितं
नासन्नात् सरसः करोति कवलानावर्जितैः शैवलैः ।
दानज्यानिविषण्णमूकमधुपव्यासङ्गदीनाननो
नूनं प्राणसमावियोगविधुरः स्तम्बेरमस्ताम्यति ॥१८६॥

इसी प्रसङ्ग में करिणी से संबद्ध करुण का उदाहरण—

मेघों के गरजने पर यह रह रहकर गम्भीर गर्जनायें नहीं करता है, समीपवर्ती सरोवर से लाये गये सेवार से अपना कवल नहीं बनाता है, मदवारि के सूख जाने से दुःख के कारण चुप हो गये भ्रमरों के कष्ट से व्यथित मुख वाला, अपने प्राणों के सदृश प्रिय प्रियतमा के वियोग से शोकाकुल होकर बेचारा हाथी दुःखी हो रहा है ॥ १८६ ॥

स्व० द०—यहाँ विप्रलम्भ शृङ्गार तथा उसके आभास की चर्चा की गई है। इन पर इसी परिच्छेद के प्रारंभ में विशद विचार किया जा चुका है। यहाँ नापित, हालिकस्नुषा, आभीर कुलांगना आदि हीन पात्रों, चक्रवाक, हाथी आदि पक्षी तथा पशुओं का निरूपण होने से शृङ्गाराभास है।

आचार्य रुद्रट ने केवल हीन पात्रों तथा पशु-पक्षी आदि तिर्यक् योनि के प्राणियों में ही शृङ्गार चेष्टाओं का निरूपण करने पर नहीं अपितु दोनों में से किसी एक के भी प्रेम न करने पर दूसरे की आसक्ति के प्रदर्शन में भी शृङ्गाराभास माना है। उनके अनुसार—

शृङ्गाराभासः स तु यत्र विरक्तेऽपि जायते रक्तः ।
एकस्मिन्नपरोऽसौ नाभाष्येषु प्रयोक्तव्यः ॥ काव्यालङ्कार (१४।३६)

नान्तरिति। **स्तम्बेरमः हस्ती जलदेषु मेघेषु ध्वनत्सु गर्जत्सु आमन्द्रम् ईषद्गम्भीरम् उद्गर्जितम् उच्चैर्गर्जनं न अन्तर्वर्त्तयति न अन्तरावर्त्तयति। तथा आसन्नात् सन्निहितात् सरसः सरोवरात् आवर्जितैः आहृतैः शैवलैः जलनीलीभिः कवलान् ग्रासान् न करोति। नूनमुत्प्रेक्षते 'मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादयः। उत्प्रेक्षावाचकाः शब्दा इव शब्दोऽपि तादृशः इत्युक्तेः। प्राणसमायाः कान्तायाः वियोगेन विच्छेदेन विधुरः कातरः अतएव दानस्य मदवारिणः ज्यानिः अपगमः उल्लासाभावादिति भावः तया हेतुना विषण्णाः विषादं गता अतएव मूका निःशब्दा ये मधुपाः भ्रमराः तेषां व्यासङ्गेन सङ्गत्या दीनं दुःखितं विषण्णमित्यर्थः मधुपानां दुःखदर्शनादिति भावः आननं यस्य तथाभूतः सन् ताम्यति कष्टं प्राप्नोति ॥ १८६ ॥**

सम्भोग प्रकरण

अथ सम्भोगः। तत्र नायकयोः प्राणसङ्गतयोः सङ्गतिवियुक्तयोर्वा मिथः समागमे प्रागुत्पन्नः तदानीन्तनो वा रत्याख्यः स्थायिभावः अभिलषणीयालिङ्गनादीनाम् अवाप्तौ सत्यां समुपजायमानैः हर्षधृतिस्मृतिप्रभृतिभिः व्यभिचारिभावैः संसृज्यमानः ऋतूद्यानोपगमनजलक्रीडापर्वतोपदेशप्रसाधनगृहमधुपानेन्दूदयादिभिः उद्दीप्यमानः सविभ्रमभ्रूकटाक्षविक्षेपालापसम्भ्र-

मस्मितादिभिः अनुभावैः अभिव्यज्यमान ईप्सितमासादयन् जिहासितं वा आजिहानः प्राप्तप्राप्यप्रकर्षारम्भः सम्भोगशृङ्गाराख्यां लभते। स चतुर्द्धा प्रथमानुरागानन्तरः, मानानन्तरः, प्रवासानन्तरः करुणानन्तर इति ॥

अब सम्भोग (का प्रकरण) प्रारंभ किया जा रहा है। यहाँ नायक तथा नायिका का जो पहले नहीं मिल पाये हैं अथवा मिलकर बिछुड़ गये हैं, परस्पर मिलन हो जाने पर पहले से ही उत्पन्न अथवा उसी घड़ी उत्पन्न हो गया रति नामक स्थायीभाव चाहे जा रहे आलिङ्गन आदि की उपलब्धि पर उत्पन्न हो रहे हर्ष, धृति, स्मृति, मति आदि व्यभिचारियों से संसृष्ट होता हुआ, ऋतु, उद्यानगमन, जलक्रीडा, पर्वत के भाग, प्रसाधनगृह, मधुपान, चन्द्रोदय आदि से उद्दीप्त होता हुआ, विभ्रम के साथ भ्रूकटाक्ष का विक्षेप, आलाप, सम्भ्रम, स्मित आदि अनुभावों से अभिव्यक्त किया जाता हुआ अभीष्ट को प्राप्त तथा त्याज्य का त्याग कराता हुआ उपलब्ध तथा उपलभ्य के प्रकर्ष से प्रारम्भ होकर संभोग शृङ्गार का नाम प्राप्त करता है। वह चार प्रकार का है—(१) प्रथमानुरागानन्तर (२) मानानन्तर (३) प्रवासानन्तर तथा (४) करुणानन्तर।

स्व० द०—उक्त पंक्तियों में भोज ने संभोग शृङ्गार के समस्त आवश्यक तत्त्वों का उल्लेख कर दिया है। भरत के नाट्यशास्त्र में भी प्रतिपादन लगभग इसी ढंग से किया गया है। उनके शब्दों में—

"तत्र शृङ्गारो नाम रतिस्थायिभावप्रभवः उज्ज्वलवेषात्मकः"·····तस्य द्वे अधिष्ठाने सम्भोगो विप्रलंभश्च। तत्र सम्भोगस्तावत् ऋतुमाल्यानुलेपनालङ्कारेष्टजनविषयवरभवनोपभोगोपवनगमनानुभवनश्रवणदर्शनक्रीडालीलादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। तस्य नयनचातुर्यभ्रूविक्षेपकटाक्षसञ्चारललितमधुराङ्गहारवाक्यादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः। व्यभिचारिणस्त्रासालस्यौग्र्यजुगुप्सावर्जाः। विप्रलम्भकृतस्तु निर्वेदग्लानिशङ्कासूयाश्रमचिन्तौत्सुक्यनिद्रासुप्तस्वप्नविबोधव्याध्युन्मादापस्मारजाड्यमोहमरणादिभिरनुभावैरभिनेतव्यः। अत्राह—यद्ययं रतिप्रभवः शृङ्गारः कथमस्य करुणाश्रयिणो भावा भवन्ति। अत्रोच्यते—पूर्वमेवाभिहितं सम्भोगविप्रलम्भकृतः शृङ्गारः इति। ·····करुणस्तु शापक्लेशविनिपतनेष्टजनविप्रयोगवधबन्धनसमुत्थो निरपेक्षभाव औत्सुक्यचिन्तासमुत्थः सापेक्षभावो विप्रलम्भकृतः। एवमन्यः करुणः अन्यश्च विप्रलम्भः।" ना० शा० पृ० ८४-८५ षष्ठ अध्याय।

भरत के वाक्यों से विप्रलम्भ तथा करुण का अन्तर भी स्पष्ट हो जाता है।

अथ सम्भोग इत्यादि। **संसृज्यमानः सङ्गम्यमानः। अभिव्यज्यमानः व्यक्तीक्रियमाणः। आसादयन् प्रापयन्। जिहासितं हातुमिष्टं त्यक्तुमिष्टमित्यर्थः आजिहानः आत्यजन्॥**

तेषु प्रथमानुरागानन्तरो यथा—

पाणिग्गहणे एअ पव्वतिए ण्हादं सहीहिं सोहग्गम्।
पशुपइणा वासुइकंकणम्मि ओसारिए दूरम्॥ १८७॥

इनमें से प्रथमानुरागानन्तर का उदाहरण—

विवाह के समय ही शिव के द्वारा वासुकी के ही बने हुये कङ्कण को दूर हटा देने से सखियों ने पार्वती का सौभाग्य जान लिया॥ १८७॥

पाणिग्रहण एव पार्वत्या ज्ञातं सखीभिः सौभाग्यम् ।
पशुपतिना वासुकिकङ्कणे अपसारिते दूरम् ॥

पाणीति । पार्वत्या गौर्याः पाणिग्रहणे पाणिग्रहणसमये एव पशुपतिना वासुकिः नागराज एव कङ्कणः वलयाकारालङ्कारविशेषः तस्मिन् दूरम् अपसारिते अपनीते सति मुग्धायाः पार्वत्या भीतिशङ्केति भावः सखीभिः सौभाग्यं पार्वत्याः प्रियवाल्लभ्यं ज्ञातं विदितम् ॥ १८७ ॥

मानानन्तरो यथा--

उव्वहइ दइअगहिआहरोट्ठखिज्जन्तरोसपडिराअम् ।
पाणीसरंतमइरं चसअं विअ णि अंमुहं बाला ॥ १८८ ॥

मानानन्तर का उदाहरण—

प्रियतम के द्वारा हाथों से अधरोष्ठों को पकड़ लेने से समाप्त हो रहे रोष के विलास वाले, हाथ पर ही उड़िली पड़ रही मदिरा वाले प्याले के सदृश अपने मुख को मुग्धा नायिका धारण कर रही है ॥ १८८ ॥

उद्वहति दयितगृहीताधरौष्ठक्षीयमाणरोषप्रतिरागम् ।
पाण्यवसरन्मदिरं चषकमिव निजमुखं बाला ॥

उद्वहतीति । बाला मुग्धा कान्ता दयितेन प्रियेण गृहीतः पाणिना धृतः अधरोष्ठः तेन क्षीयमाणः अपगच्छन् रोषस्य प्रणयकोपस्य प्रतिरागः स्फुरणादिरूपो विलासो यत्र तादृशं पाणौ भुजे अवसरन्ती पतन्ती मदिरा यस्य तथाभूतं चषकमिव पानपात्रमिव निजं मुखम् उद्वहति धत्ते ॥ १८८ ॥

प्रवासानन्तरो यथा--

मंगलवलअं जीअणं विअ रक्खिअं जं पोसिदवहुआए ।
पत्तपिअदंसणससिणहबाहुलदिआए तं भिण्णम् ॥ १८९ ॥

प्रवासानन्तर का उदाहरण—

प्रोषितभर्तृका नायिका ने जिस मङ्गलवलय को अपने प्राणों की भांति सुरक्षित रखा था, वही प्रियतम के दर्शन के कारण अतिशय स्नेह से संयुक्त भुजलता के द्वारा तोड़ दिया गया ॥ १८९ ॥

मङ्गलवलयं जीवनमिव रक्षितं यत् प्रोषितवध्वा ।
प्राप्तप्रियदर्शनसस्नेहबाहुलतिकया तद्भिन्नम् ॥

प्रोषितस्य वध्वा नार्य्या यत् मङ्गलवलयं जीवनमिव प्रियस्येति भावः रक्षितं तत् प्राप्तेन प्रियस्य प्रवासादागतस्येति भावः दर्शनेन सस्नेहा स्नेहवती या बाहुलतिका भुजलता तया भिन्नं सादरं गृहीतमित्यर्थः ॥ १८९ ॥

करुणानन्तरो यथा--

ण मुद्धम्मि मए विपिणे दिट्ठो पिअदमो जिअंतीए ।
इह लज्जा अ परिहासो तिस्से हिअए ण संमाइ ॥ १९० ॥

तेऽमी चत्वारोऽपि सम्भोगाः चतुर्भिरेव विप्रलम्भैः प्रकर्षमापद्यन्ते ॥ १९० ॥

करुणानन्तर का उदाहरण—

'मैं अबोध नहीं हूँ, मैंने जीवित ही प्रियतम को वन में देखा है।' इस उक्ति से उसके हृदय में लज्जा तथा परिहास समा ही नहीं रहा है ॥ १९० ॥

ये चारो संभोग चारो ही विप्रलम्भों से प्रकृष्टता को प्राप्त होते हैं।

स्व० द०—ऊपर के चारो उदाहरणों में विप्रलम्भ के भेदों का समावेश है। उनके कारण रति में विशेष पुष्टता आती है। चतुर्थ की छाया निर्णयसागर वाली प्रति में निम्नलिखित है—

"न मृतास्मि मृतेऽपि प्रिये दृष्टः पुनः प्रियतमो जीवन्त्या।
इति लज्जा च प्रहर्षस्तस्या हृदये न संमाति ॥"

किन्तु इस छाया के अर्थ की अपेक्षा पूर्व वाली का अर्थ अधिक सुन्दर तथा सङ्गत है।

न मुग्धास्मि मया विपिने दृष्टः प्रियतमो जीवन्।
इह लज्जा च परिहासस्तस्या हृदये न सम्माति ॥

अहं न मुग्धास्मि बालिका नाहमित्यर्थः मद्वचनमसत्यं भ्रान्तं वा न मन्यतामिति भावः। मया विपने अरण्ये जीवन् प्रियतमः तस्या इति शेषः दृष्टः अवलोकितः। इह अस्मिन् वचने कथिते इति शेषः तस्याः हृदये लज्जा च परिहासश्च न सम्माति न पर्य्याप्नोतीत्यर्थः। सा हि एतद्वचनेन प्रियतमजीवनस्य सत्यताप्रतीतेः लज्जावती मृतस्य जीवनमसम्भवमिति बुद्ध्या च परिहासः सख्या कृत इति अवबुद्धवती चासीदिति भावः। कस्याश्चित् प्रतिवासिनीं काञ्चित् प्रत्युक्तिरियम् ॥ १९० ॥

तेषु प्रथमानुरागेण यथा--

इन्दुर्यत्र न निन्द्यते न मधुरं दूतीवचः श्रूयते
नालापा निपतन्ति वाष्पकलुषा नोपैति कार्श्यं वपुः।
स्वाधीनामनुकूलिनीं निजवधूमालिङ्ग्य यत्सुप्यते
तत्किं प्रेम गृहाश्रमव्रतमिदं कष्टं समाचर्य्यते ॥१९१॥

इनमें से प्रथमानुराग के द्वारा (प्रकर्षप्राप्ति का) उदाहरण—

जिस प्रेम में चन्द्रमा की निन्दा नहीं की जाती, न मीठी-मीठी दूती की वाणी सुनने को मिलती है, न आँखों में आँसू भर कर बातें निकाली जाती हैं, और न शरीर ही कृशता को प्राप्त होता है। इस प्रकार अपने वश में रहनेवाली अनुरक्त अपनी वधू का आलिङ्गन करके जो शयन किया जाता है, उस प्रेम का क्या कहना? यह गृहस्थाश्रम रूप व्रत का आचरण दुर्लभ है ॥ १९१ ॥

इन्दुरिति। यत्र प्रेम्णि इन्दुश्चन्द्रः न निन्द्यते न तिरष्क्रियते विरहे असह्यतयेति भावः, मधुरं नानाभङ्गियुतमिति भावः दूत्याः प्रियाप्रेषिताया इति भावः वचः वचनं न श्रूयते नाकर्ण्यते प्रवासाभावादिति भावः। वाष्पकलुषा अश्रुभिराविलाः आलापाः वचनानि न निपतन्ति न प्रसरन्ति, तथा वपुः शरीरं कार्श्यं तनुतां न उपैति न प्राप्नोति विरहादिति भावः। यत यत्रेत्यर्थः अव्ययमेतत् स्वाधीनां स्ववशाम् अनुकूलिनीम् अनुरक्तां निजवधूम् आलिङ्ग्य उत्सङ्गे कृत्वा सुप्यते निद्रायते तत् प्रेम किम्? अनिर्वचनीयमित्यर्थः इदम्, इत्थं गृहाश्रमवतं गार्हस्थधर्मनियमः कष्टं समाचर्य्यते अनुष्ठीयते लभ्यते इत्यर्थः ईदृक् गार्हस्थधर्मपालनमतिदुर्लभमिति भावः ॥ १९१ ॥

मानेन यथा--

रइविग्गहम्मि कुण्ठीकिदाओ धाराओ पेम्मखग्गस्स।
अणम्माइं एअ सिज्जन्ति माणसाइं णात्थ मिहुणाणम् ॥१९२॥

मान के द्वारा (प्रकर्षप्राप्ति) का उदाहरण—

प्रेम कलह में प्रेम रूपी तलवार की धारें कुण्ठित हो जाया करती हैं क्यों कि इसमें नायकों तथा नायिकाओं के मानस बिना झुके हुये सिद्ध नहीं होते ॥ १९२ ॥

रतिविग्रहे कुण्ठीकृता धाराः प्रेमखड्गस्य।
अनम्राण्येव सिध्यन्ति मानसानि नात्र मिथुनानाम् ॥

रतिविग्रहे। प्रणयकलहे प्रेमखड्गस्य प्रणयरूपस्य असेः धाराः कुण्ठीकृताः क्षीयतां गता इत्यर्थः। यतः मिथुनानां स्त्रीपुरुषाणां मानसानि अनम्राणि अनतानि एव अत्र रतिविग्रहे च सिध्यन्ति स्वत एव परस्परं नतानि एव सिध्यन्तीत्यर्थः ॥ १९२ ॥

प्रवासेन यथा--

शापान्तो मे भुजगशयनादुत्थिते शार्ङ्गपाणौ
मासानेतान् गमय चतुरो लोचने मीलयित्वा।
पश्चादावां विरहगुणितं तं तमात्माभिलाषं
निर्वेक्ष्यावः परिणतशरच्चन्द्रिकासु क्षपासु ॥ १९३ ॥

प्रवास के कारण प्रकर्ष का उदाहरण—

विष्णु के शेषशय्या से उठते ही मेरे शाप की समाप्ति है, अतः आँखें मूँद कर इन चार महीनों को बिता लो। इसके बाद हम दोनों अपनी उन-उन कामनाओं को जो विरह के कारण बढ़ गई हैं अथवा विरह में एक-एक करके गिनी गई हैं, पूर्णचन्द्र से युक्त शरत्काल की चाँदनी रातों में देखेंगे ॥ १९३ ॥

शापान्त इति। शार्ङ्गपाणौ नारायणे भुजगशयनात् अनन्तशय्यायाः उत्थिते कार्तिकपौर्णमास्यामिति भावः मे मम शापस्य अन्तः अवसानं भवितेति शेषः। अतः एतान् चतुरः मासान् आषाढादीन् इत्यर्थः लोचने नयने मीलयित्वा निमील्य गमय अतिवाहय। पश्चात् शापावसानात् परम् आवां त्वम् अहञ्चेत्यर्थः परिणताः पूर्णतां गताः शरच्चन्द्रिकाः

शारदीयाः चन्द्ररश्मयः यासु तथाभूतासु क्षपासु रात्रिषु विरहे गुणितं संख्यातम् एवमेव करिष्यामीत्येवं रूपमित्यर्थः तं तं आत्मनः अभिलाषं मनोरथं निर्वेचयावः भोचयावहे। 'निर्वेशो मृतिभोगयोरि'त्यमरः ॥ १९३ ॥

करुणेन यथा--

न मर्त्यलोकस्त्रिदिवात् प्रहीयते म्रियेत नाग्रे यदि वल्लभो जनः।
निवृत्तमेव त्रिदिवप्रयोजनं मृतः स चेज्जीवत एव जीवति ॥१९४॥

करुण के कारण (रस प्रकर्ष) का उदाहरण—

(अर्थ के लिये द्रष्टव्य ३।१८४)

नेति। यदि वल्लभो जनः प्रियजनः अग्रे न म्रियेत न पञ्चतां प्राप्नुयात् तदा मर्त्यलोकः पृथिवीत्यर्थः त्रिदिवात् स्वर्गात् न प्रहीयते न प्रहीनो भवति पृथिवी स्वर्गतुल्यतया प्रतिभासते इति भावः। चेत् यदि मृतः पञ्चतां गतः स प्रियजनः जीवत एव जीवितस्य जनस्य एव जीवति तदा त्रिदिवस्य स्वर्गस्य प्रयोजनम् उपयोगः आकाङ्क्षेति यावत् निवृत्तं गतमेव। मरणानन्तरजीवनं प्रियजनस्य स्वर्गादपि सुखकरमिति भावः ॥ १९४ ॥

तिर्य्यगादिषु च एतदाभासा भवन्ति ॥

तेषु सरीसृपमृगयोः यथा--

मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्त्तमानः।
शृङ्गेण च स्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः ॥१९५॥

तिर्यक् आदि में इनके आभास होते हैं।

इनमें से सरीसृप तथा मृग में (इनके निरूपण से आभास का) उदाहरण—

अपनी प्रेयसी का अनुकरण करते हुये भ्रमर ने एक ही पुष्प की प्याली में पराग का पान किया। काले मृग ने भी स्पर्श के आनन्द से आँखें मूँदे हुई मृगी को सींग से खुजला दिया ॥१९५॥

मधुवति। द्विरेफो भ्रमरः स्वां निजां प्रियां भ्रमरीमित्यर्थः अनुवर्त्तमानः अनुसरन् कुसुममेव एकं पात्रं तस्मिन् पुष्परसं पपौ पीतवान्। कृष्णसारः मृगविशेषः स्पर्शेन प्रियाङ्गस्येति भावः निमीलिते आनन्दातिशयात् मुकुलिते अक्षिणी यस्याः तथाभूतां मृगीं हरिणीम् अकण्डूयत कण्डूयितवान् ॥ १९५ ॥

पशुपक्षिणोः यथा--

ददौ सरःपङ्कजरेणुगन्धि गजाय गण्डूषजलं करेणुः।
अर्द्धोपभुक्तेन बिसेन जायां सम्भावयामास रथाङ्गनामा ॥१९६॥

पशु तथा पक्षियों में भी (निरूपण से रसाभास का) उदाहरण—

हरितनी ने हाथी को सरोवर के कमल के पराग से सुगन्धित कुल्ले का जल हाथी को दिया। चक्रवाक ने आधी खाई हुई विसतन्तु से अपनी प्रियतमा चक्रवाकी का स्वागत किया ॥ १९६ ॥

ददाविति । करेणुः हस्तिनी गजाय प्रियतमायेति भावः सरसः सरोवरस्य पङ्कजरेणुगन्धि पद्मरजःसुरभि गण्डूषजलं स्वपीतावशिष्टं जलमित्यर्थः ददौ दत्तवती । सर इत्यत्र रसादिति पाठे रसात् रागादित्यर्थः । रथाङ्गनामा चक्रवाकः अर्द्धोपभुक्तेन अर्द्धजग्धेन बिसेन मृणालेन जायां चक्रवाकीं सम्भावयामास प्रीणयामास ॥ १९६ ॥

किन्नरेषु यथा—

गीतान्तरेषु श्रमवारिलेशैरीषत्समुच्छ्वासितपत्रलेखम् ।
पुष्पासवाघूर्णितनेत्रशोभि प्रियामुखं किम्पुरुषश्चुचुम्बे ॥ १९७ ॥

किन्नरों का उदाहरण—

गीतों के बीच-बीच में परिश्रम के कारण छा गये स्वेद-बिन्दुओं से कुछ कुछ छूट गये पत्र-लेखा वाले, पुष्परस के पान से घूम रहे नयनों से सुशोभित अपनी प्रियतमा के मुख को किंपुरुष ने चूम लिया ॥ १९७ ॥

स्व० द०—जिन चेष्टाओं को मनुष्यों में प्रदर्शित करना चाहिये, उनको यदि मानवेतर पशु, पक्षी, वृक्ष, सरीसृप आदि में दिखला दिया जाये तब वहाँ रस न होकर रसाभास होता है । वस्तुतः मानव-मानव की चेष्टाओं और प्रवृत्तियों को देख अथवा सुनकर उनसे साक्षात् रूप से अत्यन्त प्रभावित हो सकता है, क्योंकि यहाँ उसे उनको ज्यों का त्यों ग्रहण कर लेना होता है । इससे तादात्म्यभाव सरलता से ही निष्पन्न हो जाता है । इनके अतिरिक्त किसी में भी किसी प्रकार की चेष्टाओं को देखने से रस का पूर्ण परिपाक नहीं हो पाता है । वहाँ दूसरी योनि को अपनी भावनाओं के अनुकूल आरोपित करने में व्यवधान हो जाता है । इस व्यवहितत्व के कारण ही वह रस न होकर रसाभास होता है ।

गीतान्तरेषु इति । किम्पुरुषः किन्नराख्यो देवयोनिविशेषः गीतान्तरेषु सङ्गीताभ्यन्तरेषु श्रमेण सङ्गीतकरणजनितेनेति भावः ये वारिलेशाः स्वेदबिन्दवः तैः ईषत् किञ्चित् समुच्छ्वासिता विलुप्ता पत्रलेखा पत्ररचना यस्मिन् तथोक्तं पुष्पासवेन कुसुममधुना तत्पानेनेति भावः आघूर्णिताभ्यां नेत्राभ्यां शोभते इति तथाभूतं प्रियायाः किन्नर्य्या मुखं चुचुम्बे चुम्बितवान् ॥ १९७ ॥

तरुषु यथा—

पर्य्याप्तपुष्पस्तवकस्तनीभ्यः स्फुरत्प्रवालोष्ठमनोहराभ्यः ।
लतावधूभ्यस्तरवोऽप्यवापुः विनम्रशाखाभुजबन्धनानि ॥ १९८ ॥

वृक्षों में (रतिनिरूपण का) उदाहरण—

अत्यन्त खिले हुये पुष्पगुच्छ रूपी स्तनों वाली, फड़क रहे पल्लव रूप ओष्ठों से मनोहर लग रही, लता रूपी वधुओं से वृक्षों ने भी झुकी हुई शाखा रूपी भुजाओं का बन्धन प्राप्त किया ॥ १९८ ॥

पर्य्याप्तेति । तरवोऽपि अचेतना वृक्षा अपि का कथा सचेतनानामित्यपि कारेण द्योत्यते । पर्य्याप्ताः सम्यक् प्रस्फुटाः ये पुष्पाणां स्तवकाः ते एव स्तना यासां ताभ्यः स्फुरद्भि

राजद्भिः प्रवालैः नवपल्लवैरेव ओष्ठैः मनोहराभ्यः मनोहारिणीभ्यः लता एव वध्वः ताभ्यो वल्लीनारीभ्यः विनम्राः शाखा एव भुजाः बाहवः तै बन्धनानि आलिङ्गनानीति भावः अवापुः लेभिरे ॥ १९८ ॥

विप्रलम्भचेष्टासु प्रथमानुरागे स्त्रिया यथा--

पेच्छइ अलद्धलच्छं दीहं णीससई सुण्णअं हसइ।
जह जप्पइ अप्फुडन्तं तह से हिअए ट्ठिअं किम्पि ॥ १९९ ॥

विप्रलंभ की चेष्टाओं में प्रथमानुराग के विषय में स्त्री की (चेष्टाओं का) उदाहरण—

वह सुन्दरी जो बिना लक्ष्य के ही देखती है, लम्बी-लम्बी साँसे लेती है, झूठ-मूठ की हँसती है, और अस्पष्ट रूप से बातें करती है, इससे यह प्रतीत होता है कि इसके हृदय में कुछ बात है ॥ १९९ ॥

पश्यति अलब्धलक्ष्यं दीर्घं निःश्वसिति शून्यकं हसति।
यथा जल्पति अस्फुटं तथास्या हृदये स्थितं किमपि ॥

पश्यतीति। इयं अलब्धं लक्ष्यं यस्मिन् तत् यथा तथा लक्ष्यं विनेत्यर्थः यथा पश्यति अवलोकयति। दीर्घम् आयतं यथा तथा निःश्वसिति निश्वासं त्यजति। शून्यकम् अहेतुकमिति भावः यथा हसति, तथा अस्फुटम् अस्पष्टं यथा तथा जल्पति आलपति तथा अस्या हृदये स्थितं किमपि वस्तु इति तर्कयामीति शेषः ॥ १९९ ॥

पुंसो यथा—

सो तुह किदे सुंदरि! तह च्छीणो सुमहिमओ हलिअऊत्तो।
जह मे मच्छरिणी अवि दिव्वजाआ पडिवण्णा ॥२००॥

पुरुष की (चेष्टाओं का) उदाहरण—

हे सुन्दरी, वह हलवाहे का लड़का जो अत्यन्त महानुभाव था, तुम्हारी विरह मे इतना दुबला हो गया है कि देवाङ्गनायें भी उसके लिये विद्वेषिणी अर्थात् विरक्ति योग्य हो गई हैं ॥ २०० ॥

स्व० द०—निर्णयसागर की प्रति में उक्त गाथा के उत्तरार्द्ध की छाया इस प्रकार दी गई है, जिसका अर्थ अधिक चामत्कारिक है—

(यथास्व मत्सरिण्यापि दौत्यं जायया प्रतिपन्नम् ।)

इसकी छाया गाथासप्तशती (४।५२) में इस प्रकार है—

स तव कृते सुन्दरि! तथा क्षीणो सुमहिमा हलिकपुत्रः।
यथास्य मत्सरिणी अपि दिव्यजाया प्रतिपन्ना ॥

हे सुन्दरि! सः सुष्ठु महिमा यस्य तथाभूतः महानुभाव इत्यर्थः हलिकस्य पुत्रः तव कृते तन्निमित्तं तथा क्षीणः कार्श्यं गत इत्यर्थः यथा दिव्यजाया अपि सुरसुन्दरी अपि अस्य मत्सरिणी विद्वेषिणी विरागार्हेति भावः प्रतिपन्ना प्रतिबभौ इत्यर्थः ॥ २०० ॥

माने स्त्रिया यथा--

कणुज्जुआ वराई सा अज्ज तए किदावराहेण ।
जम्भाइआ रुक्खपलोअइआइं दिअहेण सिक्खविआ ॥ २०१ ॥

मान में स्त्री की (चेष्टाओं का) उदाहरण—

इस समय अपराध करके तुमने सरकण्डे सी सीधी, सरल स्वभाव वाली बेचारी सुन्दरी को एक ही दिन में उदासीनता, रुदन तथा जम्हाई की शिक्षा दे दी है ॥ २०१ ॥

काण्डर्जुका वराकी अद्य त्वया सा कृतापराधेन ।
अलसायितरुदितविजृम्भितानि दिवसेन शिक्षिता ॥

कणुज्जुआ इति ॥ २०१ ॥

पुंसो यथा--

अविभाविअ रअणिमुहं तस्स असच्चरिअविमलचंदुज्जोअम् ।
जाअं पिआविरहे वड्ढंताणुसआ मूढलक्खहिअअम् ॥ २०२ ॥

पुरुष की (चेष्टाओं) का उदाहरण—

विशुद्धरूप से चल रहे निर्मल चन्द्रमा की किरणों से धवल संध्याकाल का बिना निरूपण किये ही उसका हृदय प्रियतमा के विरोध करने पर अथवा प्रिया के वियोग में बढ़ रहे पश्चाताप के कारण किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया है ॥ २०२ ॥

स्व० द०—इसकी छाया निर्णयसागर की प्रति में इस प्रकार दी गई है—

अविभावितरजनीमुखं तस्य च सच्चरितविमलचन्द्रोद्द्योतम् ।
जातं प्रियाविरोधे वर्धमानानुशयमूढलक्ष्यं हृदयम् ॥

अविभाविअ इति ॥ २०२ ॥

प्रवासे स्त्रिया यथा--

पिअसम्भरणपओट्ठन्तवाहधाराणिवादभीआए ।
दिज्जवंकग्गीवाइ दीवहो पहिअजाआए ॥ २०३ ॥

प्रवास में स्त्री की चेष्टाओं का उदाहरण—

प्रिय जन की याद आने पर छलक उठी आँसुओं की धारा के दीपक पर गिरने के भय से पथिक की पत्नी गर्दन को मोड़कर दीपक जलाती है ॥ २०३ ॥

[**स्व० द०**—इस गाथा की छाया इस प्रकार है—

प्रियसंस्मरणप्रलुठद्बाष्पधारानिपातभीतया ।
दीयते वक्रग्रीवया दीपकः पथिकजायया ॥

पिअ इति ॥ २०३ ॥

पुंसो यथा--

मज्झण्हपत्थिदस्स वि गीम्हे पहिअस्स हरइ सन्तावम् ।
हिअअट्ठिअजाआमुहमिअंकजोण्हजलप्पवाहो ॥ २०४ ॥

पुरुष की (चेष्टाओं का) उदाहरण—

ग्रीष्म ऋतु की दोपहरी में भी चल पड़े पथिक के सन्ताप को हृदय में विद्यमान प्रियतमा के मुखचन्द्र का ज्योत्स्ना रूपी जलप्रवाह अपहृत कर लेता है ॥ २०४ ॥

मध्याह्नप्रस्थितस्यापि ग्रीष्मे पथिकस्य हरति सन्तापम् ।
हृदयस्थितजायामुखमृगाङ्कज्योत्स्नाजलप्रवाहः ॥

मध्याह्नेति । ग्रीष्मे निदाघे मध्याह्ने मध्यन्दिने प्रस्थितस्यापि चलितस्यापि पथिकस्य हृदये स्थिताया जायायाः कान्तायाः मुखमेव मृगाङ्कः चन्द्रः तस्य ज्योत्स्ना कान्तिरेव जलप्रवाहः जलधारा सन्तापं हरति प्रियामुखानुध्यानेन अन्यमनस्कतया ग्रीष्मसन्तापो नानुभूयते इति भावः ॥ २०४ ॥

करुणे स्त्रिया यथा—

णवरिअपसारिअंगीरअभरिऊम्पहपइणवेणीवन्धा ।
पडिआ उरसंदाणिअमहिअलचक्कलइ अत्थणीजणअसुआ ॥२०५॥

करुण में स्त्री की चेष्टाओं का उदाहरण—

इसके पश्चात् अङ्गों को फैलाई हुई, धूल से भरे हुए उन्मार्ग पर चलने से शिथिल केशों के बन्धनवाली, वक्षस्थल पर आबद्ध, पृथ्वीतल के चक्रवाकों को स्तन बनाये हुये जानकी गिर पड़ी ।

[**स्व० द०**—इसकी छाया दूसरी प्रतियों में यह है—

अनन्तरं च प्रसारिताङ्गी रजोभरितोत्पथप्रकीर्णवेणीबन्धा ।
पतितोरःसंदानित-महीतलचक्रीकृतस्तनी जनकसुता ॥ २०५ ॥]

णवरिअ इति ॥ २०५ ॥

पुंसो यथा—

अहोमुहो चिठ्ठइ जाआसुण्णे घरे हलिअउत्तो ।
उक्खित्तणिहाणाइं व रमणट्ठाणाणि पेक्खन्तो ॥ २०६ ॥

पुरुष की (चेष्टाओं) का उदाहरण—

पत्नी से रहित घर में हलवाहे का बेटा मुँह नीचे किये बैठा है और अपने केलि के स्थानों को इस प्रकार देख रहा है मानो वहाँ से कोई बहुत बड़ी सम्पत्ति खोद ली गई हो ॥ २०६ ॥

स्व० द०—यहाँ विप्रलम्भ की अवस्था में स्त्री तथा पुरुष की चेष्टाओं का निरूपण हो चुका है । अब आगे उन्हीं की विभिन्न चेष्टाओं का भी उदाहरण दिया जा रहा है ।

अधोमुखस्तिष्ठति जायाशून्ये गृहे हलिकपुत्रः ।
उत्खातनिधानानीव रमणस्थानानि पश्यन् ॥

अध इति । हलिकस्य पुत्रः जायाशून्ये कान्ताविरहिते गृहे उत्खातनिधानानीव उद्धृत-निधीनीव रमणस्थानानि सुरतक्षेत्राणि पश्यन् अवलोकयन् अधोमुखः तिष्ठति । अधोमुखः

तिष्ठतीत्यत्र अन्तर्मूर्तिर्दह्यते इति पाठे अन्तर्मूर्तिं शरीरान्तरित्यर्थः दह्यते अन्तस्तापेनेति शेषः ॥ २०६ ॥

एवमन्यत्रापि ॥

इसी प्रकार दूसरे स्थानों पर भी (चेष्टायें होती) हैं ।

करुणवर्जं स्त्रिया यथा--

सौधादुद्विजते त्यजत्युपवनं द्वेष्टि प्रभामैन्दवीं
द्वारात् त्रस्यति चित्रकेलिसदसो वेशं विषं मन्यते ।
आस्ते केवलमब्जिनीकिसलयप्रस्तारशय्यातले
सङ्कल्पोपनतत्वदाकृतिरसायत्तेन चित्तेन सा ॥ २०७ ॥

करुण के अतिरिक्त स्त्री की चेष्टाओं का उदाहरण—

वह सुन्दरी महलों से उद्विग्न है, उपवनों का भी परित्याग कर दी है, चन्द्रमा की किरणों की निन्दा करती है, विभिन्न प्रकार की केलियाँ जहाँ घर में हुई थीं, उसके द्वार से ही वह भयभीत रहा करती थी, वह वस्त्रसज्जा को जहर के सदृश मानती है । वह तो बस कमलिनी के पत्तों की बिछी सेज के ऊपर आपके रूप के निरन्तर चिन्तन के कारण आनन्द से आप्लुत चित्त के साथ पड़ी भर रहती है ॥ २०७ ॥

सौधादिति । सा कान्ता सौधात् हर्म्यात् उद्विजते विरक्ता भवतीत्यर्थः उपवनम् उद्यानं त्यजति, इन्दोरियम् ऐन्दवी तां चान्द्रमसीमित्यर्थः प्रभां द्वेष्टि निन्दति । चित्रकेलिसदसः आलेख्यगृहस्य च द्वारात् त्रस्यति बिभेति । वेशं विषं मन्यते केवलं परम् अब्जिन्याः पद्मिन्याः किसलयप्रस्तारः पत्ररचना एव शय्यातलं तस्मिन् सङ्कल्पेन वासनया उपनता उपनीता या त्वदाकृतिः तव मूर्त्तिः तत्र यो रसः रागः तस्य आयत्तम् अधीनं तेन चित्तेन मनसा आस्ते तिष्ठति ॥ २०७ ॥

स्त्रिया एव प्रथमानुरागवर्जं यथा,--

तिष्ठ द्वारि भवाङ्गणे व्रज बहिः स प्रैति वर्त्मेक्षते
शालामञ्च तमङ्गमञ्च वलभीमञ्चेति वेश्माञ्चति ।
दूतीं सन्दिश सन्दिशेति बहुशः सन्दिश्य सास्ते तथा
तल्पे कल्पमयीव निर्घृण ! यथा नान्तं निशा गच्छति ॥ २०८ ॥

प्रथम अनुराग से रहित स्त्री की ही चेष्टाओं का उदाहरण—

(अर्थ के लिये द्रष्टव्य २।५६) ॥ २०८ ॥

तिष्ठेति । हे निर्घृण ! निर्दय ! द्वारि द्वारदेशे तिष्ठ स्थितिं कुरु, अङ्गणे अजिरे भव अवतिष्ठस्व बहिः बाह्यं देशं व्रज गच्छ, यतः स मत्कान्त इति भावः प्रैति प्रकर्षेण आगच्छति पन्थानम् ईक्षते अवलोकयति त्वं द्वारि स्थित्वा अङ्गणे अवस्थाय बहिर्गत्वा च तं प्रतीक्षस्वेति भावः । स मत्कान्त इति भावः वेश्म शालाम् अञ्चति अलङ्करोति अलंकरि-

ष्यतीत्यर्थः इति हेतोः त्वं शालां गृहम् अञ्च पूजय सज्जीकुर्वित्यर्थः तम् अङ्गं शालास्थित-मुपकरणं परिच्छदादिकमित्यर्थः अञ्च परिष्कुर्वित्यर्थः वलभीं गृहोपरिस्थितं गृहविशेषम् अञ्च सञ्जय। दूतीं मामिति शेषः सन्दिश सन्दिश दूतीमुखेन एवमेवं वाचिकं तत्समीपे प्रेषयेति भावः इति बहुशः पुनः पुनः सन्दिश्य सखीमिति शेषः सा तव कान्ता कल्पमयीव इत्थं कल्पनामयीव तल्पे शय्यायां तथा आस्ते तिष्ठति यथा निशा रजनी अन्तम् अवसानं न गच्छति न प्रभाता भवतीति भावः ॥ २०८ ॥

प्रथमानुरागवर्जं पुंसो यथा,

रम्यं द्वेष्टि यथा पुरा प्रकृतिभिर्नं प्रत्यहं सेव्यते
शय्योपान्तविवर्त्तनैर्विगमयत्युन्निद्र एव क्षपाः।
दाक्षिण्येन ददाति वाचमुचितामन्तःपुरेभ्यो यदा
गोत्रेषु स्खलितस्तदा भवति च व्रीडाविनम्रश्चिरम् ॥ २०९ ॥

प्रथम अनुराग के अतिरिक्त, पुरुष की चेष्टाओं का वर्णन—

वह रमणीय पदार्थों से द्वेष करता है, पहले की भांति सेवकों की सेवाओं को भी स्वीकार नहीं करता है, सेज के किनारे किनारे करवटें बदल बदल कर बिना सोये ही रातें बिता देता है। वह बड़ी चतुराई के साथ अपनी रानियों को उत्तर देता है, और जब नाम पुकारने में चूक जाता है—उनके स्थान पर शकुन्तला का नाम ले लेता है—तब बहुत देर तक लज्जा से झुक जाता है ॥ २०९ ॥

रम्यमिति। स राजा रम्यं रमणीयं वस्तु द्वेष्टि निन्दति पुरा यथा पूर्ववदित्यर्थः प्रकृतिभिः अमात्यादिभिः न सेव्यते न कार्य्यार्थमनुगम्यते इति यावत् शय्यायाः शयनतलस्य उपान्तेषु विवर्त्तनैः लुण्ठनैः उन्निद्र एव निद्रारहित एव क्षपाः रात्रीः विगमयति अतिवाहयति। यदा यस्मिन् समये दाक्षिण्येन दक्षिणः सर्वासु समरागो नायकः तस्य भावः तेन सर्वासु समदृष्ट्येति भावः अन्तःपुरेभ्यः अन्तःपुरवर्त्तिनीभ्यो नारीभ्यः उचिताम् अवश्यं प्रतिवचनीयामित्यर्थः वाचं वाक्यं ददाति ताः प्रतिवक्तीत्यर्थः तदा गोत्रेषु नामसु स्खलितः व्यत्ययित इत्यर्थः एकस्या नाम्नि उच्चरितव्ये हृदयस्थितायाः नाम प्रयोक्तेति यावत् सन् चिरं बहुक्षणमित्यर्थः व्रीडया लज्जया अवनम्रः अवनतः भवति ॥ २०९ ॥

पुंस एव प्रवासकरुणे यथा,

सीतावेश्म यतो निरीक्ष्य हरते दृष्टिं झटित्याकुलाम्
अन्योन्यार्पितचञ्चुदत्तकवलैः पारावतैर्भूयते।
इन्दोर्दूरत एव नश्यति विशत्यन्तर्गृहं दुःखितः
प्रच्छाद्याननमञ्चलेन रजनीष्वस्तत्रपं रोदिति ॥ २१० ॥

प्रवास करुण में पुरुष की ही चेष्टाओं का उदाहरण—

जहाँ पर कबूतर एक दूसरे को अपनी चोंचों से चारे का आदान-प्रदान किया करते हैं, उसी सीता के घर को देखते ही एकाएक (राम की) दृष्टि व्याकुलता से हटा लेते हैं, वह

चन्द्रमा से तो दूर से ही छिप जाते हैं और बहुत अधिक खिन्न होकर घर में प्रवेश करते हैं। रातों में अपने आँचल से मुख ढक कर लज्जा का बिना ख्याल किये ही रोते रहते हैं ॥ २१० ॥

स्व० द०—यहाँ तक विप्रलम्भकालीन चेष्टाओं का स्त्री पुरुष आदि आश्रय के भेद से निरूपण हुआ। अब आगे संभोग कालीन चेष्टाओं के उदाहरण दिये जा रहे हैं।

सीतेति। यतः यत्र सीतावेश्मनीत्यर्थः पारावतैः कपोतैः अन्योऽन्यस्मै परस्परस्मै चञ्चुभिः मुखाग्रैः दत्तः कवलः ग्रासः यैः तथाभूतैः भूयते विचर्य्यते इति यावत् तत् सीताया वेश्म वासगृहं निरीक्ष्य अवलोक्य झटिति सहसा आकुलाम् अश्रुकलुषामिति भावः दृष्टिं हरते वहति राम इति कर्त्तृपदमध्यम् एवमुत्तरत्रापि। इन्दोः चन्द्रात् दूरत एव नश्यति अदर्शनं गच्छतीत्यर्थः उद्दीपकत्वात् चन्द्रं नालोकयतीति भावः दुःखितः अतीव कातरः सन् अन्तर्गृहं गृहाभ्यन्तर विशति गच्छतीत्यर्थः। तथा रजनीषु रात्रिषु अञ्चलेन वसनप्रान्तेन आननं प्रच्छाद्य आवृत्य अस्ता गता त्रपा लज्जा यत्र तत् अस्तत्रपं निर्लज्जमित्यर्थः यथा तथा रोदिति क्रन्दति ॥ २१० ॥

सम्भोगचेष्टासु पूर्वानुरागानन्तरे चुम्बनं यथा,—

आदरपणामिओट्ठं अघड़िअणासं संवलिअणिचोलं।
वणभअलुप्पमुहीए तीए परिउम्बणं सुमरिमो ॥ २११ ॥

सम्भोग की चेष्टाओं में पूर्वराग के पश्चात् वाली दशा में चुम्बन का उदाहरण—

व्रण के भय से अपने मुख को घुमा लेनेवाली अथवा ढक लेनेवाली अपनी प्रेयसी का वह चुम्बन मुझे याद आता है जिसमें उसने अत्यन्त आदर के साथ अपने अधरों को झुका लिया था, उसके अधर पहले से किसी को भी नहीं दिये गये थे और उसने अपने घूंघट के पट को समेट लिया था ॥ २११ ॥

स्व० द०—गाथासप्तशती, तथा निर्णय सागर से प्रकाशित प्रति में इस छन्द का पाठान्तर मिलता है। उसकी छाया इस प्रकार है—

आदरप्रणामितौष्ठमघटितनासमसंहतललाटम्।
वर्णघृतलिप्तमुख्यास्तस्याः परिचुम्बनं स्मरामः ॥ गा० स० १।२२ ॥

आदरप्रणामितोष्ठमघटितन्यासं संवलितनिचोलम्।
व्रणभयलुप्तमुख्यास्तस्याः परिचुम्बनं स्मरामः ॥

आदरेति। आदरेण यत्रातिशयेन प्रणामितः अवनतिं नीतः ओष्ठः अधर इत्यर्थः यस्मिन् तथोक्तम् अघटितः अकृतः न्यासः अर्पणं दानमित्यर्थः यस्य तादृशं प्रागदत्तमिति भावः संवलितनिचोलम् आवृतमुखावरणवस्त्रं व्रणात् क्षतात् चुम्बनजनितादिति भावः भयं तेन लुप्तं परिवर्त्तितमित्यर्थः मुखं यया तथाभूतायास्तस्याः मत्कान्तायाः इत्यर्थः परिचुम्बनं स्मरामः स्मरणपथं नयामः। प्रोषितस्योक्तिः ॥ २११ ॥

अत्रैव आलिङ्गनं यथा—

तावमवणेइ ण तहा चन्दनपङ्को वि कामिमिहुणाणम्।
जह दूसहे गिम्हे अण्णोण्णालिङ्गणसुहम् ॥ २१२ ॥

इसी दशा में आलिङ्गन का उदाहरण—

कामासक्त जोड़ों का ताप चन्दन का लेप भी उस प्रकार नहीं दूर कर पाता जितना कि असह्य गर्मी की ऋतु में परस्पर आलिङ्गन का सुख दूर कर देता है ॥ २१२ ॥

तापमपनयति न तथा चन्दनपङ्कोऽपि कामिमिथुनानाम् ।
यथा दुष्सहे ग्रीष्मे अन्योन्यालिङ्गनसुखम् ॥

तापमिति । दुःसहे सोढुमशक्ये ग्रीष्मे निदाघे यथा अन्योन्यस्य परस्परस्य आलिङ्गनेन सुखं कामिमिथुनानां कामिद्वन्द्वानां तापम् अपनयति निराकरोति, चन्दनपङ्कः चन्दनद्रवः अपि तथा न तापमपनयतीति शेषः ॥ २१२ ॥

मानानन्तरे चुम्बनं यथा,—

जह जह से उम्बइ मण्ण भरिआइं णिहुवणे दइओ ।
अच्छीइं उवरि उवरि तह तह भिण्णाइं विगलन्ति ॥ २१३ ॥

मानानन्तर संभोग में चुम्बन का उदाहरण—

प्रियतम सुख प्रसङ्ग में इस सुन्दरी के क्रोधपूर्ण नयनों का ज्यों ज्यों चुम्बन करता जाता है, त्यों त्यों ऊपर ऊपर उसके नेत्र टपकते जाते हैं अथवा खिलते जाते हैं ॥ २१३ ॥

यथा यथाऽस्याश्चुम्बति मन्युभरिते निधुवने दयितः ।
अक्षिणी उपरि उपरि तथा तथा भिन्ने विगलतः ॥

यथेति । दयितः प्रियः निधुवने भुक्तिप्रसङ्गे अस्याः कान्तायाः मन्युभरिते कोषकलुषिते अक्षिणी नयने यथा तथा भावति तथा तथा उपरि उपरि भिन्ने विदलिते विकसिते इत्यर्थः अक्षिणी इति शेषः विगलतः अश्रूणि वर्षत इत्यर्थः ॥ २१३ ॥

अत्रैव आलिङ्गनं यथा,—

माणदुमपरुसपवणस्स मामेत्ति सव्वंगणिव्वुदिकरस्स ।
उवऊहणस्स भद्दं रइणाडअपुव्वरंगस्स ॥ २१४ ॥

इसी में आलिङ्गन का उदाहरण—

मान रूपी वृक्ष को उखाड़ फेंकने वाले वायु के सदृश, 'मुझे मत छुओ', मुझे मत छुओ' इस प्रकार के वचनों से युक्त, सभी अवयवों को पूर्ण प्रहर्ष देने वाले सुरति रूपी नाटक की प्रस्तावना के सदृश आलिङ्गन का कल्याण हो ॥ २१४ ॥

मानद्रुमपरुषपवनस्य मा मामिति सर्वाङ्गनिर्वृतिकरस्य ।
उपगूहनस्य भद्रं रतिनाटकपूर्वरङ्गस्य ॥

मानेति । मानः प्रणयकोपः एव द्रुमः वृक्षः तस्य परुषः निष्ठुरः उन्मूलनकर इति भावः पवनः वायुः तस्य माननिरासकस्येति भावः मा माम् इति उच्चार्यते अस्मिन्निति मा मामिति मा मां स्पृशेति सकोपवचनम् तेन सर्वाङ्गेषु सर्वावयवेषु निर्वृतिं सुखम् करोतीति तस्यः रति सुरतमेव नाटकम् अभिनयग्रन्थः तस्य पूर्वरङ्गः प्रथममनुष्ठीयमानव्यापार-

विशेषः प्रस्तावनापरपर्य्याय इत्यर्थः तस्य उपगूहनस्य समालिङ्गनस्य भद्रं कुशलं भवतु इति शेषः । तादृशमुपगूहनमतीव मनोरममिति भावः ॥ २१४ ॥

प्रवासानन्तरं चुम्बनं यथा,--

केनचिन्मधुरमुल्बणरागं बाष्पतप्तमधिकं विरहेषु ।
ओष्ठपल्लवमपास्य मुहूर्त्तं सुभ्रुवः सरसमक्षि चुचुम्बे ॥ २१५ ॥

प्रवास के बाद वाली संभोग दशा में चुम्बन का उदाहरण—

किसी नायक ने माधुर्ययुक्त, चमकती लाली वाले, विरह काल में आँसुओं से अत्यधिक सन्तुष्ट हो गये पल्लवके सदृश अधरों को छोड़कर एक क्षण के लिये सुन्दर भौंहोंवाली सुन्दरी के रसीले, नयनों का चुम्बन किया ॥ २१५ ॥

केनचिदिति । केनचित् कामिनेत्यर्थः सुभ्रुवः सुन्दर्य्याः कान्तायाः विरहेषु अधिकं यथा तथा बाष्पतप्तम् अश्रुभिः तत्पातैरित्यर्थः तप्तम् उष्णं दुःखाश्रूणामुष्णताप्रसिद्धिः । मधुरं मनोज्ञम् उल्बणरागम् उज्ज्वललौहित्यम् ओष्ठपल्लवम् अधरकिसलयम् अपास्य विहाय मुहूर्त्तं कियन्तं क्षणमित्यर्थः सरसं सबाष्पमित्यर्थः स्वजनस्य हि दुःखमग्रतो विवृतद्वारमिवोपजायते इति भावः अक्षि नयनं चुचुम्बे पपौ ॥ २१५ ॥

करुणानन्तरमालिङ्गनं यथा,--

चन्द्रापीडं सा च जग्राह कण्ठे कण्ठस्थानं जीवितञ्च प्रपेदे ।
तेनापूर्वां सा समुल्लासलक्ष्मीमिन्दुं दृष्ट्वा सिन्धुवेलेव भेजे ॥२१६॥

करुणानन्तर संभोग में आलिङ्गन का उदाहरण—

उस कादम्बरी ने चन्द्रापीड के गले का आलिंगन किया और तत्काल ही उसका कण्ठस्थान जी उठा । उसे (जीवित) देखकर वह चन्द्रमा को देखने से समुद्र के जल की भांति एक विलक्षण तरङ्ग की छटा को प्राप्त की ॥ २१६ ॥

चन्द्रापीडमिति । सा कादम्बरी चन्द्रापीडं कण्ठे जग्राह च आलिलिङ्ग च कण्ठस्थानं चन्द्रापीडस्येति शेषः जीवितं प्रपेदे प्राप च चकारद्वयं समकालत्वसूचकम् । सा कादम्बरी इन्दुं चन्द्रं दृष्ट्वा सिन्धुवेलेव सागरजलमिव तेन चन्द्रापीडजीवनदर्शनजेनेत्यर्थः अपूर्वां समुल्लासलक्ष्मीं समुल्लासशोभां भेजे प्राप ॥ २१६ ॥

प्रथमानुरागानन्तरं दशनक्षतं यथा,--

णासं विअ सा कबोले अज्ज वि तुह दंतमंडलं बाला ।
उब्भिण्णपुलअपरिवेढपरिगअं रक्खइ वराई ॥ २१७ ॥

प्रथमानुराग के पश्चात् दशन क्षत का उदाहरण—

दूती किसी नायक से कहती है कि वह बेचारी मुग्धा नायिका कपोलों पर तुम्हारे दन्तक्षति रूप अलङ्कार को निकल आये हुये रोमाञ्चों की परिधि से घेर कर धरोहर की भांति सुरक्षित रखती है ॥ २१७ ॥

न्यासमिव सा कपोले अद्यापि तव दन्तमण्डनं बाला ।
उद्भिन्नपुलकपरिवेषपरिगतं रक्षति वराकी ॥

न्यासमिति । सा वराकी तपस्विनी अनुकम्पार्हेति भावः बाला मुग्धा कान्ता कपोले गण्डदेशे तव दन्तमण्डनं दशनक्षतरूपमलङ्करणम् उद्भिन्नानां स्मरणादुद्गतानां पुलकानां रोमहर्षाणां परिवेषेण परिधिना परिगतं परिवेष्टितं न्यासमिव निक्षेपधनमिव रक्षति पालयति । दूत्या नायकं प्रत्युक्तिः ॥ २१७ ॥

तदेव मानानन्तरं यथा,--

पवणुवेल्लिअसाहुलित्थए वसट्ठिअ दंतमंडले ।
ऊरू चटु आरअं माइ पुत्ति ! जणहासणं कुणसु ॥ २१८ ॥

मानानन्तर (दशन क्षति) का उदाहरण—

दन्त क्षतिसमूह से समन्वित अपनी दोनो जाघों को रोक दे । उन पर से वायु के कारण वस्त्र का अञ्चल उड़ रहा है, अतः हे पुत्री, अपने चाटुकार पति को इस प्रकार लोगों से हँसी मत कराओ[1] ॥ २१८ ॥

पवनेति ॥ २१८ ॥

प्रवासानन्तरे दन्तक्षतादयो यथा--

दंतक्खअं कवोले कअग्गहो वेल्लिओ घम्मिलो ।
पडिघुण्णिआत्थ दिट्ठी पिआगमं साहइ बहूए ॥ २१९ ॥

प्रवासानन्तर सम्भोग में दन्तक्षत आदि का उदाहरण—

वधू के कपोलों पर दाँती के चिह्न, केश पकड़ने से बिखरी हुई लटें, था अचकचाये हुये नयन प्रियतम के आगमन की सूचना देते हैं ॥ २१९ ॥

दन्तक्षतं कपोले कचग्रहोद्वेल्लितो धम्मिलः ।
परिघूर्णितात्र दृष्टिः प्रियागमं साधयति वध्वाः ॥

दन्तक्षतमिति । कपोले गण्डे दन्तक्षतं दशनाघातः कचानां केशानां ग्रहेण ग्रहणेन उद्वेल्लितः स्खलित इत्यर्थः धम्मिलः केशपाशः परितो घूर्णिता भ्रान्ता दृष्टिः वध्वाः महिलायाः प्रियस्य आगमम् उपस्थितिं साधयति सूचयति ॥ २१९ ॥

प्रथमानुरागानन्तरं नखक्षतं यथा,--

अज्जाइ णवणहक्खदणिहिरक्खणे गरूअजोव्वणु तुंगम् ।
पडिमागअणिअणअणुप्पलं चिदं होइ त्थणवट्टम् ॥ २२० ॥

प्रथमानुरागानन्तर नखक्षत का उदाहरण—

नवीन नखक्षत रूपी सम्पत्ति की रक्षा के लिये मानो वह भद्रगृह की सुन्दरी पूर्ण यौवन के कारण ऊँचे-ऊँचे तथा अपने नयन कमलों के प्रतिबिम्ब से युक्त स्तन प्रान्त को ढक लेती है ॥ २२० ॥

---

१. इसकी छाया यह है—

पवनोद्वेल्लितवस्त्राञ्चले स्थगय स्थितदन्तमण्डले ऊरू ।
चाटुकारकं पतिं मा खलु पुत्रि जनहसितं कुरु ॥

आर्य्यायाः नवनखक्षतनिधिरक्षणे गुरुयौवनोत्तुङ्गम् ।
प्रतिमागतनिजनयनोत्पलं चितं भवति स्तनपट्टम् ॥

आर्य्याया इति । आर्य्यायाः मान्यायाः कस्याश्चित् नार्य्या इति भावः गुरुणा पूर्णेनेति भावः यौवनेन उत्तुङ्गम् उन्नतं प्रतिमया प्रतिबिम्बेन गते संक्रान्ते नयने उत्पले इव यस्मिन् तादृशं स्तनपट्टं कुचतटं नवं नखपदं नखरक्षतं तस्य रक्षणे रक्षणायेत्यर्थः चितं वसनादिना छन्नम् आवृतं भवति ॥ २२० ॥

अत्रैव पुरुषायितं यथा,—

दरवेविऊरुजुअलासु मउलिअच्छीसु ललिअचिउरासु ।
पुरुषाइदासु कामो पिआसु सज्जाउहो वसइ ॥ २२१ ॥

इसी में पुरुषायित का उदाहरण—

जरा-जरा-सी हिल रही जंघों वाली, आखें मीच ली हुई, सुन्दर केशों वाली पुरुषायित कार्य कर रही प्रियतमाओं में तो कामदेव हथियार से सुसज्जित होकर निवास करता है ॥ २२१ ॥

दरवेपमानोरुयुगलासु मुकुलिताक्षीषु ललितचिकुरासु ।
पुरुषायितासु कामः प्रियासु सज्जायुधो वसति ॥

दरेति । दरम् ईषत् यथा तथा वेपमानं कम्पमानम् ऊरुयुगलं यासां तासु मुकुलिते निमीलिते अक्षिणी यासां तथोक्तासु ललितः सुन्दरः सुष्ठु विस्रस्त इत्यर्थः चिकुरः कुन्तलः यासां तथाविधासु पुरुषायितासु पुरुषा इव आचरन्तीति पुरुषायिताः तासु पुरुषमधोकृत्य तदुपरि स्थित्वा रममाणास्विति भावः प्रियासु कान्तासु कामः सज्जम् आयुधं यस्य तथाभूतः सज्जितास्त्र इत्यर्थः सन् वसति तिष्ठति ता अतीव कामसक्ता भवन्तीति भावः ॥२२१॥

सर्वं सर्वत्र यथा,—

पोढमहिलाणं जं जं सुट्ठुसिक्खअं तं रइए सुहावेदि ।
जं जं असिक्खअं णवबहुणं तं तं वि रइं देइ ॥ २२२ ॥

सभी के सर्वत्र होने का उदाहरण—

(अर्थ के लिये द्रष्टव्य ३।५६) ॥ २२२ ॥

स्व० द०—अब तक संभोग कालीन चुम्बन, आलिंगन, दन्तक्षत, नखक्षत, रति, केशग्रह, पुरुषायित आदि का उदाहरण दिया जा चुका । अब प्रेम की परीक्षाओं का उदाहरण आगे दिया जायेगा । रतिक्रिया में स्त्री के द्वारा पुरुष की भांति अपेक्षाकृत अधिक क्रियाशील होकर सहयोग देना पुरुषायित रति है ।

प्रौढमहिलानां यत् यत् सुष्ठु शिक्षितं रतये सुखयति ।
यत् यत् अशिक्षितं नववधूनां तत्तदपि रतिं ददाति ॥

प्रौढेति । प्रौढा गाढतारुण्याः या महिलाः नार्यः तासां रतये रत्यर्थं सुष्ठु शिक्षितं सखीजनोपदेशादिभिरिति भावः सुखयति सुखं जनयति यत् यत् अशिक्षितम् अनुपदिष्टं सखीभिरिति शेषः तत् तत् नववधूनां नवोढानां सम्बन्धे अपि रतिं सुखं ददाति ॥ २२२ ॥

विप्रलम्भपरीष्टिषु अभियोगतः प्रेमपरीक्षा यथा,—

हं हो कण्णुल्लीणा भणामि रे अहअ ! किम्पि मा झूर ।
णिज्जणपारद्धीसु कहं पि पुण्णहिं लद्धोसि ॥ २२३ ॥

विप्रलम्भ की परीष्टियों में अभियोग से प्रेम की परीक्षा का उदाहरण—

हे प्रियतम, तुम्हारे कानों के पास लग कर कहती हूँ, आप तनिक भी दुःखी मत होना। किसी तरह बड़े भाग्य से इस विजन गली में मिले हो[1] ॥ २२३ ॥

हं हो इति ॥ २२३ ॥

प्रत्यभियोगतो यथा,—

गोलाविसमोआरच्छलेण अप्पा उरम्मि से मुक्को ।
अणुअम्पाणिद्दोसं तेण वि सा गाढमुवऊढा ॥ २२४ ॥

प्रत्यभियोग से (प्रेमपरीक्षा) का उदाहरण—

(अर्थ के लिये द्रष्टव्य ३।७४) ॥ २२४ ॥

गोलेति ॥ २२४ ॥

विषहणेन यथा,—

अज्ज वि मेअजलोल्लं पच्चाइ ण तीअ हलिअसोल्लाए ।
फग्गुच्छणचिक्खिल्लं जं तुइ दिणं त्थणुच्छङ्गे ॥ २२५ ॥

विमर्श से होनेवाली (परीष्टि का) उदाहरण—

विषहण के कारण परीष्टि का उदाहरण—

विस्तृत उरोजों पर तुमने जो फल्गु की पङ्क लगा दी थी, आज भी पसीने के जल से आर्द्र उस हलवाहे की पुत्रवधू (के अङ्ग) (स्वेदार्द्रता) में विश्वास ही नहीं करते हैं ॥ २२५ ॥

स्व० द०—इससे भी अधिक अर्थ तथा विषय का स्पष्टीकरण उक्त गाथा की किञ्चित् परिवर्तित पाठभेद की छाया से होता है—

अद्यापि स्वेदजलार्द्रितः प्रम्लायते न तस्या हालिकस्नुषायाः ।
फल्गूत्सवकर्दमो यस्तस्याः दत्तः स्तनोत्सङ्गे ॥ (द्रष्टव्य निर्णयसागर की प्रति)
अद्यापि स्वेदजलार्द्रं प्रत्येति न तस्या हलिकस्नुषायाः ।
फल्गूत्सवकर्दमो यस्त्वया दत्तस्स्तनोत्सङ्गे ॥

अद्यापीति । **त्वया स्तनोत्सङ्गे स्तनान्तराले यः फल्गूत्सवकर्दमः फल्गुद्रव इत्यर्थः दत्तः निहितः अलक्षितरूपेणेति भावः अद्यापि स्वेदजलेन आर्द्रं तस्या हलिकस्नुषायाः अङ्गमिति शेषः न प्रत्येति त्वद्दत्तफल्गुकर्दमयोगेन सत्त्वोदयात् अङ्गस्य स्वेदार्द्रतेति न विश्वसितीत्यर्थः ॥ २२५ ॥**

---

१. हं हो कर्णोल्लीना भणामि रे सुभग किमपि मा खिद्यस्व ।
निर्जनरथ्यासु त्वं कथमपि पुण्यैर्लब्धोऽसि ॥

विमर्शन यथा,—

तत्तो च्चिअ णेन्ति कहा विआसन्ति तहिं तहिं समत्थन्ति ।
किं मण्णे माउच्छा एक्कजुआणो इमो गामो ॥ २२६ ॥

हे मौसी, उस विषय को लेकर ही कहानी शुरू होती है, उसी से विकसित होती है और वहीं समाप्त भी हो जाती है। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है मानो इस ग्राम में एक ही जवान रहता है ॥ २२६ ॥

स्व० द०—गाथासप्तशती आदि में इस गाथा की छाया इस प्रकार मिलती है—

तत एव निर्यान्ति कथाः विकसन्ति तत्र तत्र समाप्यन्ते ।
किं मन्ये मातृष्वसः एकयुवकोऽयं ग्रामः ॥ गा० स० ७।४८ ॥

तत्तो इति ॥ २२६ ॥

बहुमानेन यथा,—

तेण हिरण्णवलआए दिणो पहरो इमाए त्थणवट्ठे ।
गामतरुणीहिं अज्ज वि दिअहं परिवालिआ भमइ ॥ २२७ ॥

बहुमान के द्वारा परीष्टि का उदाहरण—

उस युवक के द्वारा सोने के कंगन वाली उस नायिका के स्तनतट पर प्रहार किया गया था, उसी कारण आज भी ग्राम की युवतियों से सुरक्षित हो कर सारा दिन उस युवक को (खोजती) फिरती है (कि उसने आखिर इसे मारा क्यों ?) ॥ २२७ ॥

तेन हिरण्यवलयाया दत्तः प्रहारोऽस्याः स्तनपट्टे ।
ग्रामतरुणीभिरद्यापि दिवसं परिपालिता भ्रमति ॥

तेनेति । तेन यूनेति शेषः हिरण्यं स्वर्णमयं वलयं यस्याः तथाभूतायाः अस्याः नाय्र्याः स्तनपट्टे स्तनतटे इत्यर्थः प्रहारः मोटनमिति भावः दत्तः अर्पितः कृतः इत्यर्थः अद्यापि ग्रामतरुणीभिः ग्राम्ययुवतीभिः परिपालिता परिरक्षिता सती इयं दिवसम् 'अत्यन्तसंयोगे द्वितीया' । भ्रमति तस्य यूनोऽनुसन्धानार्थं पर्य्यटति कथं तेन प्रहारो दत्त इति निर्णयार्थमिति भावः ॥ २२७ ॥

श्लाघया यथा,—

सा तइ सहत्थदिण्णं फगुच्छणकद्दमं त्थणुच्छङ्गे ।
परिकुविआ विअ साहइ सलाहिणी गामतरुणीणम् ॥ २२८ ॥

श्लाघा के द्वारा (परीष्टि) का उदाहरण—

वह तुम्हारी प्रियतमा अपने उन्नत उरोजों पर तुम्हारे ही हाथों से लगाये गये फल्गु द्रव को क्रुद्ध सी होकर वहन करती हुई गाँव की युवतियों में अपने को अधिक सम्मानित समझती है ॥ २२८ ॥

सा त्वया स्वहस्तदत्तं फल्गूत्सवकर्दमं स्तनोत्सङ्गे ।
परिकुपिता इव साधयति श्लाघिनी ग्रामतरुणीनाम् ॥

सेति। सा त्वद्वल्लभेति भावः। स्तनोत्सङ्गे स्तनाभ्यन्तरे त्वया स्वहस्तेन दत्तं फल्गूत्सव-कर्दमं फल्गुद्रवं परिकुपितेव परिक्रुद्धेव ग्रामतरुणीनां ग्राम्याणां युवतीनां मध्ये श्लाघिनी सती अहमिति आत्मश्लाघावती साधयति धारयति। ग्रामतरुणीनामित्यनेन ऋजुमतित्वं सूचितं तेन समत्वम् अस्याः कोपनचातुरी न प्रकटितेति भावः ॥ २२८ ॥

इङ्गितेन यथा,—

जइ सो ण वल्लहो च्चिअ णामग्गहणेण तस्स सहि ! कीस ।
होइ मुहं ते रविअरफंसविसट्टं व्व तामरसं ॥२२९॥

संकेत के द्वारा (परीष्टि) का उदाहरण—

हे सखि, यदि वही (मेरा प्रिय ही) तुम्हारा प्रिय न होता तो उसका नाम लेने से तुम्हारा मुख सूर्य की किरणों के स्पर्श से खिल गये कमल की भांति क्यों हो जाता ? ॥ २२९ ॥

यदि स न वल्लभ एव नामग्रहणेन तस्य सखि ! कथम् ।
भवति मुखं ते रविकरस्पर्शविसंस्थमिव तामरसम् ॥

यदीति। हे सखि ! यदि सः न वल्लभ एव प्रिय एव तवेति शेषः तदा तस्य नामग्रहणेन नामोच्चारणेन ते तव मुखं रवेः सूर्य्यस्य करस्पर्शेन किरणसङ्गेन विसंस्थं चञ्चलम् उत्सुकमिति यावत् तामरसमिव रक्तकमलमिव कथं भवति ॥ २२९ ॥

दूतसम्प्रेषणेन यथा,—

समुल्लसिअसवंगी णामग्गहणेण तस्स सुहअस्स ।
दुइं अ प्पाहेन्ती तस्से अ घरंगणं पत्ता ॥ २३० ॥

दूत भेजने के द्वारा (परीष्टि) का उदाहरण—

उस प्रियतम का नाम लेते ही पुलकित सम्पूर्ण शरीर वाली वह नायिका दूती को भेजती हुई अपने उसी प्रिय के घर के आंगन में पहुँच गई ॥ २३० ॥

समुल्लसितसर्वाङ्गी नामग्रहणेन तस्य सुभगस्य ।
दूतीञ्च प्रहिण्वती तस्मै च गृहाङ्गणं प्राप्ता ॥

समुल्लसितेति। तस्य सुभगस्य नामग्रहणेन नामकीर्त्तनेन समुल्लसितानि सर्वाणि अङ्गानि यस्याः तथाभूता स्वेदार्द्रितसर्वाङ्गीति पाठान्तरम्। सती दूतीं प्रहिण्वती प्रेषयन्ती सती तस्यैव कान्तस्य गृहाङ्गणं वासभूमेश्चत्वरं प्राप्ता च दूतीप्रेषणेनापि औत्सुक्यानपगमात् स्वयं तदभिसरणमिति भावः ॥ २३० ॥

दूतप्रश्नेन यथा,—

कहं णु गओ कहं दिट्ठो किं भणिओ किं च तेण पडिवणं ।
एअं च्चिअ ण समप्पइ पुणरुत्तं जप्पमाणाए ॥ २३१ ॥

दूत से पूंछने का उदाहरण—

'तुम कैसे उसके पास गये, तुमने उसे कैसे देखा, क्या कहा और उसने क्या समझा' इसीप्रकार बार-बार कह रही उस नायिका की बात ही नहीं समाप्त हो पाती है ॥ २३१ ॥

कथं नु गतः कथं दृष्टः किं भणितः किञ्च तेन प्रतिपन्नम् ।
एवमेव न समत्येति पुनरुक्तं जल्पमानायाः ॥

कथं केन प्रकारेण, नु प्रश्ने, गतः प्राप्तः स मत्कान्त इति भावः । एवमुत्तरत्र कथं किम्प्रकार इत्यर्थः दृष्टः अवलोकितः । किञ्च त्वया भणितः उक्तः, तेन च मत्कान्तेन किं प्रतिपन्नं किमवधारितम् ? एवमेव जल्पमानायाः भाषमाणायाः पुनरुक्तं पुनः पुनरुक्तिरित्यर्थः न समत्येति न समाप्नोतीत्यर्थः ॥ २३१ ॥

लेखविधानेन यथा,--

वेवमाणसिण्णकरंगुलिपरिग्गहक्खलिअलेहणीमग्गे ।
सोत्थि च्चिअ ण समप्पइ पिअसहि ! लेहम्मि किं लिहिमो ॥२३२॥

लेखविधान के द्वारा (परीष्टि) का उदाहरण—

काँपती हुई तथा पसीने से भीगी हुई हाथ की अँगुलियों की पकड़ से जिस पर लेखनी की लकीर फिसल जाती है उस लेख में "स्वस्ति' पद ही पूरी तरह नहीं लिखा जा पा रहा है, अरी सखि, अब भला उसमें क्या लिखूं ? ॥ २३२ ॥

वेपमानस्विन्नकराङ्गुलिपरिग्रहस्खलितलेखनीमार्गे ।
स्वस्तिरेव न समभ्येति प्रियसखि ! लेखे किं लिखामः ॥

वेपमानेति । हे प्रियसखि ! वेपमानाः कम्पमानाः स्विन्नाः घर्माक्ताः या कराङ्गुलयः तासां परिग्रहेण ग्रहणेन स्खलितः लेखन्या मार्गः पन्था यत्र तथाभूते लेखे (लेखनसाधने पत्रादावित्यर्थः स्वस्तिरेव प्रथमं लेखनीयं स्वस्तीति माङ्गल्यं पदं न समभ्येति न निर्गच्छति, किं कथं लिखामः । सखीनामुपदेशात् कान्तं प्रति लेखं प्रेषयिष्यन्त्याः सत्त्वोदयेन स्वेदार्द्रकरत्वात् कस्याश्चित् नायिकाया उक्तिरियमिति बोध्यम् ॥ २३२ ॥

लेखवाचनेन यथा,--

प्रीत्या स्वस्तिपदं विलोकितवती स्थानं श्रुतं तुष्टया
पश्चात् ज्ञातमनुक्रमेण पुरतस्तत् तावकं नामकम् ।
तन्व्या संमदनिर्भरेण मनसा तद्वाचयन्त्या मुहुः
न प्राप्तो घनवाष्पपूरितदृशा लेखेऽपि कण्ठग्रहः ॥ २३३ ॥

लेख पढ़ने का उदाहरण—

(कोई व्यक्ति अपने मित्र से कहता है) उसकी प्रियतमा ने सर्वप्रथम बड़े प्रेम से 'स्वस्ति' पद को देखा, सन्तुष्ट होकर तुम्हारे निवास स्थान के बारे में सुना, उसके बाद क्रमशः उसके आगे तुम्हारा नाम भी उसे मालूम हुआ । इस प्रकार आनन्दनिर्भर मन से बार-बार पढ़ने पर भी उस कृशाङ्गी के आँसुओं से डबडबाये नयनों को उस लेख में भी 'कण्ठग्रह' शब्द न मिल सका अर्थात् आंखों में आंसू भर आने से वह आगे लिखे गये शब्दों को कि मैं तुम्हारा कण्ठ प्रगाढ़ रूप से पकड़ कर आलिंगन पूर्वक सूचित कर रहा हूँ कि'—इत्यादि पढ़ ही न सकी ॥ २३३ ॥

प्रीत्येति । प्रीत्या आनन्देन स्वस्तिपदं लेखोपरिलिखितमिति भावः विलोकितवती

दृष्टवती प्रथममिति शेषः । ततः तुष्टया प्रीतया स्वस्तीत्यनेन माङ्गलिकेन पदेन प्रियतमस्य कुशलमवश्यं भवेदिति सूचनादिति भावः । स्थानम् अवस्थानक्षेत्रमित्यर्थः श्रुतं सम्मुखादिति भावः । पश्चात् स्थानश्रवणानन्तरं पुरतः प्राक् अनुक्रमेण तत् तव इदं तावकं त्वदीयमित्यर्थः नामकं ज्ञातं विदितम् । तन्व्या कृशाङ्गया सम्मदनिर्भरेण आनन्दभरितेन मनसा मुहुः पुनः पुनः तत् त्वदीयं नामकं वाचयन्त्या पठन्त्या तदानीं घनेन सान्द्रेण बाष्पेण अश्रुणा पूरिते दृशौ नयने यस्याः तथाभूतया सत्या लेखे लिखिते नामनि अपीत्यर्थः कण्ठग्रहः कण्ठाश्लेषः न प्राप्तः ॥ २३३ ॥

सम्भोगपरीष्टिषु प्रथमानुरागानन्तरे साध्वसेन पुंसो यथा,--

लीलाइओ णिअसणे रक्खउ तं राहिआइ त्थणवट्टे ।
हरिणो पढ़मसमागमसज्झसवरेहिं वेविदो इत्थो ॥ २३४ ॥

सम्भोग-परीष्टियों में प्रथमानुरागानन्तर दशा में साध्वस के साथ पुरुष की चेष्टाओं का उदाहरण—

राधिका के स्तन प्रदेश पर लीलापूर्वक रखने में प्रथम प्राप्ति के कारण भय फैलने से काँप रहा कृष्ण का हाथ तुम्हारी रक्षा करे ॥ २३४ ॥

लीलायितो निवसने रक्षतु त्वां राधिकायाः स्तनपृष्ठे ।
हरेः प्रथमसमागमसाध्वसप्रसरैर्वेपनशीलो हस्तः ॥

लीलेति ॥ २३४ ॥

अत्रैव दोहदेन मुग्धा यथा,--

किं किं दे पडिहासइ सहीहिं इअ पुच्छिआए मुद्धाए ।
पढ़मुल्लुअ दोहलिणीए णवरि दइअंगआ दिठ्ठी ॥ २३५ ॥

इसी प्रसंग में दोहद से युक्त मुग्धा का उदाहरण—

"तुम्हे क्या क्या चीजें रुचिकर प्रतीत होती हैं ?" इस प्रकार सखियों से पूँछी गई प्रथम उत्पन्न दोहद वाली मुग्धा नायिका की निगाहें केवल प्रियतम पर पड़ी ॥ २३५ ॥

[किं किं ते प्रतिभासते सखीभिरिति पृष्टाया मुग्धायाः ।
प्रथमोद्गतदोहदिन्याः केवलं दयितं गता दृष्टिः ॥]

किं किमिति ॥ २३५ ॥

अत्रैव प्रगल्भायाः प्रियवाक्यवर्णनं यथा,--

हुं हुं दे भणसु पुणो ण सुअन्ति करेइ कालविक्खेवं ।
घरिणीहिअअसुहाइं पइण्णो कण्णे भणन्तस्स ॥ २३६ ॥

वहीं पर प्रगल्भा के प्रिय के वाक्य के वर्णन का उदाहरण—

'हुं हुं, अरे फिर से कह, ये सो नहीं रहे हैं, ये समय बिता रहे हैं" आदि कान में कहने वाले पति की बातें गृहिणी के हृदय को सुख देनेवाली हैं ॥ २३६ ॥

स्व० द०—इसकी छाया है—

हुं हुं हे भण पुनर्न स्वपन्ति कुर्वन्ति कालविक्षेपम् ।
गृहिणीहृदयसुखानि पत्युः कर्णे भणतः ॥ (द्रष्टव्य नि. सा. की प्रति, पृ. ६३८)

जहुं जहुं इति ॥ २३६ ॥

मानानन्तरे स्त्रियाः कैतवस्वप्ने यथा--

सुमरिमो से सअणपरंमुहीए विअलन्तममाणपसराए ।
कइअवसुत्तुव्वत्तणत्थाणहरप्पेल्लणसुहेल्लि ॥ २३७ ॥

मानानन्तर दशा में कैतवस्वप्न में स्त्री की चेष्टाओं का उदाहरण—

पहले शयन से विमुख होकर बाद में मान का विस्तार कम होने से उस सुन्दरी ने झूठ-मूठ निद्रा का बहाना बनाकर करवट बदलते समय अपने कुचकुम्भों की प्रेरणा से जो सुखपूर्णकेलि उत्पन्न की थी, उसी की मुझे याद आ रही है ॥ २३७ ॥

छाया—स्मरामस्तस्याः शयनपराङ्मुख्या विगलन्मानप्रसरायाः ।
कैतवसुप्तोद्वर्तनस्तनकलशप्रेरणसुखकेलिम् ॥ गा० स० ४।६८ ॥

सुमरिम इति ॥ २३७ ॥

स्त्रिया एव सखीवाक्यस्य आक्षेपेण यथा,--

भिउडीहिं पलोइस्सं णिब्भच्छिप्सं परंमुही होस्सं ।
जं भणह तं करिस्सं सहिओ जइ तं णु पेच्छिस्सं ॥ २३८ ॥

सखी के वाक्य के आक्षेप द्वारा स्त्री की ही (परीष्टि का) उदाहरण—

मैं भौहों से उसे देखूँगी, उसकी भर्त्सना भी करूँगी, और उसकी ओर से मुँह भी फेर लूँगी, हे सखियों ! तुम लोग जो कहती हो सब करूँगी, बस वह दिखाई भर न पड़े ॥ २३८ ॥

छाया—भ्रकुट्या प्रलोकयिष्ये निर्भर्त्स्ये पराङ्मुखी भविष्यामि ।
यद्भणत तत्करिष्ये सख्यो यदि तं न प्रेक्षिष्ये ॥ नि. सा. की प्रति से]

भिउडीति ॥ २३८ ॥

तस्या एव तदनुष्ठानविघ्नेन यथा--

ग्रन्थिमुद्ग्रथयितुं हृदयेशे वाससः स्पृशति मानधनायाः ।
भ्रूयुगेन सपदि प्रतिपेदे रोमभिश्च सममेव विभेदः ॥ २३९ ॥

उसमें अनुष्ठान के विघ्न के द्वारा स्त्री की ही (परीष्टि का) उदाहरण—

उस मानिनी की नीवी-ग्रन्थि खोलने के लिये प्रियतम के हाथ लगाते ही सहसा दोनो भौंहों के साथ ही उसके रोमों ने भी विभेद प्राप्त कर लिया अर्थात् जैसे ही भौंहे टेढ़ी हुईं क्रोध से, वैसे ही रोमाञ्चरूप सात्त्विक भाव स्वतः उत्पन्न हो गये ॥ २३९ ॥

ग्रन्थिमिति । हृदयेशे कान्ते वाससः वसनस्य ग्रन्थिम् उद्ग्रथयितुं स्खलयितुमित्यर्थः स्पृशति गृह्णाति सति मानधनायाः मानिन्याः भ्रूयुगेन भ्रुवोर्द्वयेन रोमभिश्च सपदि तत्क्षणं

दृष्टवती प्रथममिति शेषः। ततः तुष्टया प्रीतया स्वस्तीत्यनेन माङ्गलिकेन पदेन प्रियतमस्य कुशलमवश्यं भवेदिति सूचनादिति भावः। स्थानम् अवस्थानक्षेत्रमित्यर्थः श्रुतं सम्मुखादिति भावः। पश्चात् स्थानश्रवणानन्तरं पुरतः प्राक् अनुक्रमेण तत् तव इदं तावकं त्वदीयमित्यर्थः नामकं ज्ञातं विदितम्। तन्व्या कृशाङ्ग्या सम्मदनिर्भरेण आनन्दभरितेन मनसा मुहुः पुनः पुनः तत् त्वदीयं नामकं वाचयन्त्या पठन्त्या तदानीं घनेन सान्द्रेण बाष्पेण अश्रुणा पूरिते दृशौ नयने यस्याः तथाभूतया सत्या लेखे लिखिते नामनि अपीत्यर्थः कण्ठग्रहः कण्ठाश्लेषः न प्राप्तः ॥ २३३ ॥

सम्भोगपरीष्टिषु प्रथमानुरागानन्तरे साध्वसेन पुंसो यथा,--

लीलाइओ णिअसणे रक्खउ तं राहिआइ त्थणबट्टे।
हरिणो पढ़मसमागमसज्झसवरेहिं वेविदो इत्थो ॥ २३४ ॥

सम्भोग-परीष्टियों में प्रथमानुरागानन्तर दशा में साध्वस के साथ पुरुष की चेष्टाओं का उदाहरण—

राधिका के स्तन प्रदेश पर लीलापूर्वक रखने में प्रथम प्राप्ति के कारण भय फैलने से काँप रहा कृष्ण का हाथ तुम्हारी रक्षा करे ॥ २३४ ॥

लीलायितो निवसने रक्षतु त्वां राधिकायाः स्तनपृष्ठे।
हरेः प्रथमसमागमसाध्वसप्रसरैर्वेपनशीलो हस्तः ॥

लीलेति ॥ २३४ ॥

अत्रैव दोहदेन मुग्धा यथा,--

किं किं दे पडिहासइ सहीहिं इअ पुच्छिआए मुद्धाए।
पढ़मुल्लुअ दोहलिणीए णवरि दइअंगआ दिठ्ठी ॥ २३५ ॥

इसी प्रसंग में दोहद से युक्त मुग्धा का उदाहरण—

"तुम्हे क्या क्या चीजें रुचिकर प्रतीत होती हैं ?" इस प्रकार सखियों से पूँछी गई प्रथम उत्पन्न दोहद वाली मुग्धा नायिका की निगाहें केवल प्रियतम पर पड़ी ॥ २३५ ॥

[किं किं ते प्रतिभासते सखीभिरिति पृष्टाया मुग्धायाः।
प्रथमोद्गतदोहदिन्याः केवलं दयितं गता दृष्टिः ॥]

किं किमिति ॥ २३५ ॥

अत्रैव प्रगल्भायाः प्रियवाक्यवर्णनं यथा,--

हुं हुं दे भणसु पुणो ण सुअन्ति करेइ कालविक्खेवं।
घरिणीहिअअसुहाइं पइण्णो कण्णे भणन्तस्स ॥ २३६ ॥

वहीं पर प्रगल्भा के प्रिय के वाक्य के वर्णन का उदाहरण—

'हुं हुं, अरे फिर से कह, ये सो नहीं रहे हैं, ये समय बिता रहे हैं" आदि कान में कहने वाले पति की बातें गृहिणी के हृदय को सुख देनेवाली हैं ॥ २३६ ॥

स्व० द०—इसकी छाया है—

हुं हुं हे भण पुनर्न स्वपन्ति कुर्वन्ति कालविक्षेपम् ।
गृहिणीहृदयसुखानि पत्युः कर्णे भणतः ॥ (द्रष्टव्य नि. सा. की प्रति, पृ. ६३८)

जहुं जहुं इति ॥ २३६ ॥

मानानन्तरे स्त्रियाः कैतवस्वप्ने यथा--

सुमरिमो से सअणपरंमुहीए विअलन्तममाणपसराए ।
कइअवसुत्तुव्वत्तणत्थाणहरप्पेल्लणसुहेल्लि ॥ २३७ ॥

मानानन्तर दशा में कैतवस्वप्न में स्त्री की चेष्टाओं का उदाहरण—

पहले शयन से विमुख होकर बाद में मान का विस्तार कम होने से उस सुन्दरी ने झूठ-मूठ निद्रा का बहाना बनाकर करवट बदलते समय अपने कुचकुम्भों की प्रेरणा से जो सुखपूर्णकेलि उत्पन्न की थी, उसी की मुझे याद आ रही है ॥ २३७ ॥

छाया—स्मरामस्तस्याः शयनपराङ्मुख्या विगलन्मानप्रसरायाः ।
कैतवसुप्तोद्वर्तनस्तनकलशप्रेरणसुखकेलिम् ॥ गा० स० ४।६८ ॥

सुमरिम इति ॥ २३७ ॥

स्त्रिया एव सखीवाक्यस्य आक्षेपेण यथा,--

भिउडीहिं पलोइस्सं णिब्भच्छिस्सं परंमुही होस्सं ।
जं भणह तं करिस्सं सहिओ जइ तं णु पेच्छिस्सं ॥ २३८ ॥

सखी के वाक्य के आक्षेप द्वारा स्त्री की ही (परीष्टि का) उदाहरण—

मैं भौंहों से उसे देखूँगी, उसकी भर्त्सना भी करूँगी, और उसकी ओर से मुँह भी फेर लूँगी, हे सखियों ! तुम लोग जो कहती हो सब करूँगी, बस वह दिखाई भर न पड़े ॥ २३८ ॥

छाया—भ्रकुट्या प्रलोकयिष्ये निर्भर्त्स्यें पराङ्मुखी भविष्यामि ।
यद्भणत तत्करिष्ये सख्यो यदि तं न प्रेक्षिष्ये ॥ नि. सा. की प्रति से]

भिउडीति ॥ २३८ ॥

तस्या एव तदनुष्ठानविघ्नेन यथा--

ग्रन्थिमुद्ग्रथयितुं हृदयेशे वाससः स्पृशति मानधनायाः ।
भ्रूयुगेन सपदि प्रतिपेदे रोमभिश्च सममेव विभेदः ॥ २३९ ॥

उसमें अनुष्ठान के विघ्न के द्वारा स्त्री की ही (परीष्टि का) उदाहरण—

उस मानिनी की नीवी-ग्रन्थि खोलने के लिये प्रियतम के हाथ लगाते ही सहसा दोनो भौंहों के साथ ही उसके रोमों ने भी विभेद प्राप्त कर लिया अर्थात् जैसे ही भौंहे टेढ़ी हुईं क्रोध से, वैसे ही रोमाञ्चरूप सात्त्विक भाव स्वतः उत्पन्न हो गये ॥ २३९ ॥

ग्रन्थिमिति । हृदयेशे कान्ते वाससः वसनस्य ग्रन्थिम् उद्ग्रथयितुं स्खलयितुमित्यर्थः स्पृशति गृह्णाति सति मानधनायाः मानिन्याः भ्रूयुगेन भ्रुवोर्द्वयेन रोमभिश्च सपदि तत्क्षणं

सममेव युगपदेव विभेदः भङ्गः हर्षश्च प्रतिपेदे प्राप्तः। अभङ्गो रोमहर्षश्च सममेव जात इत्यर्थः ॥ २३९ ॥

प्रवासानन्तरे स्त्रिया यथा,--

अत्थक्कागअहिअए बहुआ दइअउम्मिजणपुरओ।
झुरइ विअं लताणं हरिस विसट्टाणवलआणं ॥ २४० ॥

प्रवासानन्तर की दशा में स्त्री की ही (परीष्टि) का उदाहरण—

बड़े बूढ़ों के सामने एकाएक ही हृदयवल्लभ प्रियतम के आ जाने पर, वधू अत्यन्त प्रसन्नता के कारण बढ़ जाने से गिर रहे कंगन पर क्रोध करती है ॥ २४० ॥

छाया—अकस्मादागतहृदये वधूका दयिते गुरुपुरतः।
क्रुध्यति विगलद्भ्यो हर्षविकसद्भ्यो वलयेभ्यः ॥

अत्थक्का इति ॥ २४० ॥

अत्रैव स्त्रीपुंसयोः यथा--

रमिऊण पइम्मि गए जाहे अवगूहिअं पडिणिउत्तो।
अहअं पउत्थ पइअ व्व तक्खणं सोपवासिव्व ॥ २४१ ॥

यहीं स्त्री तथा पुरुष दोनों की परीष्टि का उदाहरण—

रमण करने के बाद एक कदम भी जा कर जब वह आलिंगन के लिये पुनः लौटता है तब मैं अपने को प्रोषितभर्तृका समझती हूँ और वह प्रवासी-सा लगता है ॥ २४१ ॥

छाया—रन्त्वा पदमपि गतो यदोपगूहितं प्रतिनिवृत्तः।
अहं प्रोषितपतिकेव तत्क्षणं स प्रवासीव ॥ द्रष्टव्य गा. स. १।९८ ॥

रमिऊण इति ॥ २४१ ॥

सामान्यत एव प्रवाससाध्वसेन स्त्रिया यथा--

होन्त पहिअस्स जाआ आमोच्छणजीवणधारणरहस्सं।
पुच्छन्तीं भमइ घरं घरेण पिअविरहसिहिरीआ ॥ २४२ ॥

सामान्य रूप से ही प्रवास तथा साध्वस के कारण स्त्री की (परीष्टि) का उदाहरण—

जिसका पति भविष्य में परदेश जानेवाला है वह नायिका अपने प्रियतमों के वियोग को सहन कर रही स्त्रियों से एक घर से दूसरे घर प्रिय के लौटने तक जीवन धारण किये रहने के उपाय पूछती फिरती है ॥ २४२ ॥

भवत्पथिकस्य जाया आमोक्षणजीवनधारणरहस्यम्।
पृच्छन्ती भ्रमति घरं घरात् प्रियविरहसाध्वसा ॥

होन्त इति। भवतः भाविन इत्यर्थः भविष्यत् सामीप्ये लटः शत्रादेशः। पथिकस्य प्रवासिनः कस्यचित् जाया कान्ता प्रियस्य विरहात् भाविनो विच्छेदात् साध्वसं भयं यस्याः तथाभूता सती घरात् घरं गृहाद् गृहम् आमोक्षणात् प्रत्यावर्त्तनात् कान्तस्येति

भावः जीवनधारणस्य रहस्यं कथमेतावन्तं कालं जीविष्यामीति जीवनोपायप्रकारमित्यर्थं पृच्छन्ती जिज्ञासमाना सती भ्रमति विचरति ॥ २४२ ॥

प्रवासविलम्बेनैव पुंसो यथा—

एक्को वि कालसारो ण देइ गन्तुं पआहि ण वसन्तो ।
किं उण बाहाउलिअं लोअणजुअलं मिअच्छीए ॥ २४३ ॥

प्रवास में विलम्ब के कारण पुरुष की परीष्टि का उदाहरण—

एक ही कृष्णसार चारो ओर घूम कर जब गमनेच्छु को जाने नहीं देता, तब भला मृगनयनी के अश्रुसंबलित दो-दो नेत्रों का क्या कहना अर्थात् वे कैसे जाने देगें ? ॥ २४३ ॥

छाया—एकोऽपि कृष्णसारो न ददाति गन्तुं प्रदक्षिणं वलन् ।
किं पुनर्बाष्पाकुलितं लोचनयुगलं मृगाक्ष्याः ॥ गा. स. १।२५ ॥

एक्क इति ॥ २४३ ॥

परिहारे स्वेदादिभिः स्त्रियाः यथा—

उल्लाअइ से अंगं ऊरु वेवन्ति कूप्पलो गलइ ।
छुच्छुरा ले हिअअं पिआगमे पुप्फुइआइए ॥ २४४ ॥

परिहार की अवस्था में स्वेद आदि के द्वारा स्त्री की परीष्टि का उदाहरण—

प्रियतम के आ जाने पर रजस्वला का शरीर पसीने से लथपथ हो जाता है, दोनों जाँघें काँपने लगती हैं, नितम्बों से वस्त्र सरकने लगता है और हृदय जोर-जोर से धड़कने लगता है ॥ २४४ ॥

[छाया—आर्द्रीभवत्यस्या अङ्गमूरू वेपते जघनवसनं गलति ।
उत्कम्पते हृदयं प्रियागमे पुष्पवत्याः ॥ नि० सा० ॥]

उल्लाअइ इति ॥ २४४ ॥

करुणानन्तरे पुंसो यथा—

करस्पर्शारम्भोत्पुलकितपृथूरोजकलसे
श्रमाम्भो वामार्द्धे वहति मदनाकूतसुभगम् ।
विभोर्वारं वारं कृतसमयिकोद्धूननविधे-
स्तनौ भस्मस्नानं कथमपि समाप्तं विजयते ॥ २४५ ॥

करुणानन्तर संयोग में पुरुष की परीष्टि का उदाहरण—

हाथों से मर्दन प्रारम्भ करने पर रोमाञ्चित हो गये विशाल कुच कुम्भों वाले (अर्धनारीश्वर शिव के) बायीं ओर के आधे शरीर के कामोत्कण्ठा के कारण सुन्दर प्रस्वेद धारण करने पर शङ्कर के बार-बार समय-समय पर शरीर पर किया जाने वाला भस्म का स्नान जो किसी प्रकार समाप्त हो सका, वह सर्वोत्कृष्ट है ॥ २४५ ॥

करस्पर्शादिति । करस्पर्शस्य हस्तामर्शनस्य आरम्भे हस्तेन स्पर्शे क्रियमाणे इत्यर्थः उत्पुलकितः उद्गतपुलक इत्यर्थः सञ्जातरोमाञ्च इत्यर्थः पृथुः विपुलः उरोजकलसः स्तन-

कुम्भः यस्य तथाभूते वामार्द्धे हरगौरीरूपस्य वामभागे गौर्य्या अंशे इत्यर्थः। मदनस्य कामस्य आकूतः आवेशः तेन सुभगं मनोरमं श्रमाम्भः स्वेदसलिलं सत्त्वोदयजनितमिति भावः वहति धारयति सति वारं वारं पुनः पुनः कृतः सामयिकः कालिकः उद्धूननविधिः उत्क्षेपणानुष्ठानं गात्रे भस्मक्षेपणमिति भावः येन तथाभूतस्य विभोः हरस्य दक्षिणार्द्धभूतस्येति भावः तनौ शरीरे दक्षिणार्द्धरूपे इत्यर्थः भस्मना स्नानं कथमपि समाप्तम् अवसितं विजयते सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते। देव्या वामार्द्धभूतायाः सत्त्वोदयजनितश्रमजलेन दक्षिणार्द्धस्यापि सङ्गात तेनैव स्नानक्रियायाः समाधानेन भस्मस्नानं निवृत्तमिति भावः ॥ २४५ ॥

विप्रलम्भनिरुक्तिषु प्रथमानुरागे प्रतिश्रुत्यादानं यथा—

किं ण भणिओसि बालअ ! गामणिधूआए गुरुअणसमक्खं ।
अणिमिसवक्कबलंतवअणणअणद्धदिट्ठेहिं ॥ २४६ ॥

अत्र वक्रेक्षितादिभिः प्रतिश्रुत्य आलिङ्गनादयः ह्रीभयादिभिर्न दीयन्ते ॥ २४६ ॥

विप्रलम्भ के निरूपण में प्रथम अनुराग होने पर वादा कर के भी न देने का उदाहरण—

अरे बच्चे कहीं के, अपने बड़े-बूढ़ों के सामने उस ग्रामप्रधान की पुत्री ने अपने एक टक, कुटिल एवं चञ्चल मुख के साथ अपनी आँखों को आधा मूँद कर किये गये कटाक्षपात के द्वारा क्या नहीं कह दिया ॥ २४६ ॥

यहाँ टेढ़ी चितवन आदि के द्वारा प्रतिज्ञा कर के भी लज्जा, भय आदि के कारण आलिंगन आदि नहीं दिये जा रहे हैं ।

किं न भणितोऽसि बालक ! ग्रामणीधूतया गुरुजनसमक्षम् ।
अनिमिषवक्रवलद्वदननयनार्द्धदृष्टिभिः ॥

किं नेति । हे बालक ! ग्रामणीः ग्रामाधिपः तस्य धूता कन्या तया गुरुजनानां समक्षम् अनिमिषं निमेषरहितं तथा वक्रं यथा तथा वलतः चलतः नयनस्य अर्द्धदृष्टिभिः अर्द्धावलोकनैः अपाङ्गवीक्षणैरित्यर्थः किं न भणितः ? कथितः असि ? अपि तु सर्वमेव मनोगतं कथितोऽसीत्यर्थः । एतावतापि त्वदभिप्रायो न बुद्ध इति तव बालकत्वमिति सम्बोधनेनोक्तम् ॥ २४६ ॥

माने विसंवादनं यथा—

अणुअ ! णाहं कुविआ उवगूअसि किं मुहा पसाएसि ।
तुह मणु समुप्पण्णे ण मज्झ माणेण वि ण कज्जं ॥ २४७ ॥

अत्र मानिनी पूर्वमालिङ्गनादीन् निषिध्य पश्चाद् यथावत् प्रयच्छति यथा कश्चित् अष्टशतं दास्यामि इति प्रतिश्रुत्य अष्टाभिरधिकं शतं प्रयच्छति न तु अष्टौ शतानि इति । तदेतद् व्यलीकविप्रयोगादिभिः आलिङ्गनादीनां निराकरणमयथावत् प्रदानत्वाद् विसंवादनमेव उच्यते ॥२४७॥

मान में विसंवादन का उदाहरण—

हे कामुक, मैं क्रुद्ध नहीं हूँ, मेरा आलिङ्गन क्यों करते हो, व्यर्थ ही क्यों प्रसन्न करते हो ? तुममें दुःख उत्पन्न करने वाले मेरे मान से भी कोई प्रयोजन नहीं ॥ २४७ ॥

यहाँ (कोई) मानवती नायिका पहले आलिङ्गन आदि का निषेध कर के बाद में पूर्ण रीति के अनुसार प्रदान करती है। जैसे कोई आदमी 'अष्टशत' दूँगा। इस प्रकार की प्रतिज्ञा करके आठ से अधिक सौ देता है न कि आठ सौ। तो यह 'व्यलीक' (झूठ का), वि (उपसर्ग) आदि के प्रयोग द्वारा आलिंगन आदि का निराकरण जैसा न चाहिये उस प्रकार से देने के कारण विसंवादन ही कहा जाता है ॥ २४७ ॥

अनुक ! नाहं कुपिता उपगूहसि किं मुधा प्रसादयसि ।
तव मन्युसमुत्पन्नेन मम .मानेनापि न कार्य्यम् ॥

अनुक इति । हे अनुक ! कामुक ! अहं न कुपिता न क्रुद्धा, किम् उपगूहसि आलिङ्गसि ? मुधा वृथा किं प्रसादयसि उपगूहनेनेति भावः तव मन्युः शोकः दुःखमिति यावत् समुत्पन्नः जातः यस्मात् तथाभूतेन मम मानेन कोपेन न कार्य्यं न प्रयोजनमित्यर्थः ॥ २४७ ॥

प्रवासे कालहरणं यथा—

एहि इसो पउत्थो अहअं कुप्पे ज्जस्सो अणुणेज्ज ।
इह फलइ कस्स वि मणोरहाणं माला पिअअमम्मि ॥ २४८ ॥
अत्र आलिङ्गनादीनां व्यक्तैव कालहरणप्रतीतिः ।

प्रवास में कालहरण का उदाहरण—

'वह परदेशी भी लौटेगा, मैं कोप करूँगी और वह मेरी मनौवल करेगा।' प्रियतम के विषय में इस प्रकार की कामनाओं का समूह किसी सौभाग्यवती का ही सफल होता है ॥ २४८ ॥

आलिङ्गन आदि की कालहरण की प्रतीति व्यक्त ही है अर्थात् प्रोषितभर्तृका इसी प्रकार की कामनाओं से ही विरह के दिन व्यतीत करती है।

[छाया—एष्यति सोऽपि प्रोषितोऽहं च कुपिष्यामि सोप्यनुनेष्यति ।
इति कस्या अपि फलति मनोरथानां माला प्रियतमे ॥ मा० सं० १।१७ ॥]

एहि इति ॥ २४८ ॥

करुणे प्रत्यादानं यथा—

समसोक्खदुक्खसंवड्ढिआणं कालेण रूढपेम्माणं ।
मिहुणाणं मरइ जं तं खु जिअइ इअरं मुतं होइ ॥ २४९ ॥

करुण में प्रत्यादान का उदाहरण—

सुख तथा दुःख में समान रूप से विद्यमान रहने वाले तथा समय के साथ प्रगाढ़ प्रेम वाले जोड़ों में से जो एक मर जाता है वही जीवित रहता है तथा जो जीवित रहता है वही मृत होता है ॥ २४९ ॥

समसौख्यदुःखसंवर्त्तितानां कालेन रूढप्रेम्णाम् ।
मिथुनानां म्रियते यत् तत् खलु जीवति इतरत मृतं भवति ॥

समेति । समं तुल्यं सुखमेव सौख्यं दुःखञ्च तेन संवर्त्तितानां तिष्ठतामित्यर्थः कालेन क्रमिकेण समयेन रूढः बद्ध इत्यर्थः प्रेमा प्रणयः येषां तथाभूतानां मिथुनानां स्त्रीपुरुषाणां मध्ये यत् यो जन इत्यर्थः मिथुनशब्दस्य क्लीबत्वात् तेनैव व्यपदेशः । म्रियते पञ्चतां गच्छति तत् मृतमित्यर्थः जीवति खलु जीवत्येवेत्यर्थः वियोगदुःखासहनादिति भावः । इतरत् अन्यत् जीवितो जन इति भावः मृतं भवति मरणसमविच्छेदयातनावासेरिति भावः ॥ २४९ ॥

अत्र

सुहृदिव प्रकटय्य सुखप्रदः प्रथममेकरसामनुकूलताम् ।
पुनरकाण्डविवर्त्तनदारुणः प्रविशिनष्टि विधिर्मनसो रुजम् ॥२५०॥

इति अयमर्थः सम्बध्यते । तस्य च प्रत्यादानमेवार्थो भवति ।

यहाँ—दैव पहले तो सुख देने वाले हितैषी की भाँति एक मात्र आनन्द देने वाली हितैषिता को प्रकट करता है, पुनः एकाएक विपरीत आचरण के द्वारा निष्ठुर होता हुआ मन में विशेष प्रकार की व्यथा उत्पन्न करता है ॥ २५० ॥

यह अर्थ सम्बद्ध होता है, उसका प्रत्यादान ही अर्थ होता है ।

सुहृदिवेति । विधिः दैवं, विधिर्विधाने दैवे चे'त्यमरः सुहृदिव सखेव सुखप्रदः प्रीतिप्रदः सन् प्रथमं प्राक् एकरसाम् एकरूपामित्यर्थः अनुकूलतां हितैषितामित्यर्थः प्रकटय्य प्रकाश्य पुनः अकाण्डे सहसा यद् विवर्त्तनं वैपरीत्याचरणं तेन दारुणः निष्ठुरः सन् मनसः चित्तस्य रुजं व्यथां विशिनष्टि विशेषेण जनयतीत्यर्थः ॥ २५० ॥

प्रथमानुरागे वञ्चनं विविधं तथा—

दिट्ठाए जं ण दिट्ठो आलविआए वि जं ण आलत्तो ।
उवआरो जं ण किदो तं चिअ कलिदं छइल्लेहिं ॥

अत्र व्रीडादिभिः दर्शनादिभिः वञ्चनादिभिः वैविध्यं प्रतीयते ॥२५१॥

प्रथमानुराग में वञ्चना तथा विविधता का उदाहरण—

उस देखी गई नायिका के द्वारा जो वह देखा नहीं गया, बात चीत करने पर भी जो उसने बाते नहीं की और उसने जो उपकार नहीं किया वही विदग्ध जनों के द्वारा प्रशंसित है ॥ २५१ ॥

यहाँ व्रीडा आदि, दर्शन आदि, वञ्चना आदि से विविधता प्रतीत होती है ।

[छाया—दृष्टया यन्न दृष्टः आलपितया यन्नालापितः ।
उपकारो यन्न कृतस्तदेव कलितं विदग्धैः ॥ नि० सा०]

दिट्ठाए इति ॥ २५१ ॥

माने विरुद्धं यथा—

ण मुअन्ति दीहसासेण रुअन्ति ण होन्ति विरहकिसिआओ ।
धण्णाओ ताओ जाणं बहुवल्लह वल्लहो ण तुमं ॥२५२॥

अत्र ईर्ष्यायितादिभिः वल्लभालिङ्गनादिविरुद्धैः मानवती वञ्चयते ॥

मान में विरुद्धता का उदाहरण—

(अर्थ के लिये द्रष्टव्य ४।११५) ॥ २५२ ॥

यहाँ ईर्ष्या आदि करने के कारण, जो कि वल्लभ के आलिङ्गन आदि के विरुद्ध हैं, मानवती वञ्चित की जाती है।

ण मुअन्ति दीह ॥ २५२ ॥

प्रवासे व्याविद्धं यथा—

कइ आगओ पिओ अज्ज पुत्ति ! अज्जेण कइ दिणाइं होन्ति ।
एक्को एट्ठहमेत्तो भणिअं मोहं गदा बाला ॥ २५३ ॥

अत्र एकस्यापि दिवसस्य वर्षायमानतया प्रियालिङ्गनादिवञ्चनया विशेषतो दैर्घ्यं प्रतीयते ।

प्रवास में व्याविद्धता का उदाहरण—

"वह प्रियतम कब गये" ? "बेटी, आज गये हैं" "आज भला कितने दिनों के बराबर होता है "एक (दिन के बराबर)" इतना कहते ही वह सुन्दरी मूर्च्छित हो गई ॥ २५३ ॥

यहाँ एक ही दिन के साल के बराबर होने से प्रियतम के आलिङ्गन आदि से वञ्चित होने के कारण विशेष प्रकार से दीर्घता प्रतीत होती है।

[छाया—जीवानन्द विद्यासागर जी के द्वारा दी गई छाया से उपर्युक्त अर्थ नहीं निकलता उसे संस्कृत टीका में देखना चाहिये। पद समान हैं किन्तु वर्णों का पूर्व तथा परवर्ती पदों से योग हो जाने से निम्नलिखित छाया अधिक चमत्कार पूर्ण अर्थ प्रदान करती है। वृत्ति का अर्थ भी इसी से संगत होता है।

कदा गतः प्रियोऽद्य पुत्रि अद्येति कति दिनाति भवन्ति ।
एक एतावन्मात्रे भणिते मोहं गता कुमारी ॥]

कुत्र आगतः प्रिय आर्य्यपुत्रि ! आर्येण कति दिनानि भवन्ति ।
एका एतावद् भणित्वा मोहं गता बाला ॥

कुत्रेति । हे आर्य्यपुत्रि ! ननान्दरित्यर्थः प्रियः मत्कान्त इत्यर्थः आर्य्येण श्वशुरेण ठक्कुरेणेत्यर्थः सह कुत्र कस्मिन् स्थाने आगतः प्रस्थित इत्यर्थः गमनस्य अमङ्गलसूचकत्वात् आङ् पूर्वकत्वेन प्रयोगः। एका काचित् बाला मुग्धा कान्ता एतावत् भणित्वा कथयित्वा मोहं गता मूर्च्छितेत्यर्थः ॥ २४३ ॥

करुणे निषिद्धं यथा—

आवाअभअअरं विअ ण होइ दुक्खस्स दारुणं अवसाणं ।
णाह जिअन्तीए मए दिट्ठं सहिअं अ तुह इअं अवसाणं ॥२५४॥

तदेतत् रामविषयं सीतायाश्चिराशंसितसमागमसुखावाप्तिव्यपायरूपं वचनं करुणमिति निषिध्यते ।

करुण में निषिद्ध का उदाहरण—

केवल आने के समय ही भीषण प्रतीत होता है, वस्तुतः दुःख की समाप्ति असह्य नहीं होती। प्राणवल्लभ, जो रही मैंने आप का यह अवसान देखा और सहा ॥ २५४ ॥

राम के विषय में सीता की बहुकाल प्रतीक्षित मिलन के सुख की प्राप्ति के व्यपाय के रूप में यह वचन करुण में निषिद्ध है।

[छाया—आपातभयङ्करमेव न भवति दुःखस्य दारुणं निर्वहणम्।
नाथ जीवन्त्या मया दृष्टं सोढं च तवेदमवसानम् ॥]

आवाअ इति ॥ २५४ ॥

प्रथमानुरागेण सह रागो यथा—

सा महइ तस्स ण्हाउं अणुसोत्ते सा वि से समुव्वहइ।
थणवट्टभिउणविलुलिअकल्लोलमहग्घिए सलिले ॥ २५५ ॥

अत्र शुद्धयोः द्वयोः अपि एककालम् अन्योन्यानुरागः प्रतीयते। तत्र एका लावण्यादिना रज्यते द्वितीयस्तु स्नेहादिना रज्यत इति।

प्रथम अनुराग के साथ राग का उदाहरण—

उस समीपवर्ती नदी में वह नायिका उस नायक का स्नान पसन्द करती है और स्तन प्रदेश से मिलकर छिन्नभिन्न प्रवाह युक्त होने से महत्त्वशील हो गये बह रहे जल में वह नायक भी उस सुन्दरी का स्नान पसन्द करता है ॥ २५५ ॥

यहाँ दोनों का ही एक ही समय परस्पर अनुराग प्रतीत होता है। इनमें नायिका लावण्य आदि के द्वारा अनुरक्त होती है और दूसरा अर्थात् नायक स्नेह आदि के द्वारा।

[छाया—सा वाञ्छति तस्य स्नातुमनुस्रोतसि सोऽप्यस्याः समुद्वहति।
स्तनपृष्ठमिलनविलुलितकल्लोलमहार्घिते सलिले ॥]

सा महइ इति ॥ २५५ ॥

तत्रैव पश्चात् यथा—

मम हिअअं विअ पीदं तेण जुणा मज्जमाणाए।
ण्हाणहलिद्दाकडुअं अणुसोत्तजलं पिअन्तेण ॥
अत्रैकस्य अनुरागं दृष्ट्वा पश्चाद् द्वितीयो रज्यते ॥ २५६ ॥

उसी में परवर्ती प्रेम का उदाहरण—

(हे मामी), इस युवक ने नदी में स्नान कर रही मेरी स्नान के समय छूट रही हल्दी से कड़ुवे हो गये जल को पीकर मानो मेरा हृदय ही पी लिया है। अर्थात् इस क्रिया के कारण वह युवक मेरा मन हर ले गया ॥ २५६ ॥

यहाँ पुरुष के प्रेम को देख कर बाद में दूसरा व्यक्ति (नायिका) अनुरक्त होती है।

मम हृदयमिव पीतं तेन यूना मज्जमानायाः।
स्नानहरिद्राकटुकमनुस्रोतोजलं पिबता ॥

ममेति। तेन यूना युवकेन मज्जमानायाः अवगाहमानाया मे मम अनुस्रोतसि विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः स्नानस्य हरिद्रया विलेपनभूतया इति भावः कटुकं हरिद्राद्रवमिश्रणेन कटुत्वं प्राप्तं जलं पिबता सता मम मदीयं हृदयमिव पीतम् कवलितम्। तथाभूतः स युवा मन्मनोहरो जात इति भावः ॥ २५६ ॥

तत्रैवानुरूपो यथा--

सच्चं जाणइ दट्ठुं सरिसम्मि जणम्मि जुज्जए राओ।
मरउ ण तुमं भणिस्सं मरणं पि सलाहणिज्जं से ॥ २५७ ॥

अत्र न केवलं लावण्यादिनैव रज्यते, किं तर्हि अनुरूपविषयिणा अभिलाषेणापीति प्रतीयते।

प्रथमानुराग में ही अनुरूपता का उदाहरण—

यह सत्य (असत्य के) विवेचन में समर्थ है, समान व्यक्ति के प्रति प्रेम उचित होता है। यह नायिका मर जाये तो भी तुम से कुछ नहीं कहूँगो, इस सुन्दरी का तो मर जाना ही श्रेयस्कर है, अर्थात् पति के वियोग में विरहिणी का मरण भी अच्छा है ॥ २५७ ॥

यहाँ केवल लावण्य आदि के द्वारा ही अनुराग नहीं होता है। तब क्या? समान विषय की अभिलाषा के द्वारा भी राग की-अनुरूपता की-प्रतीति होती है।

सत्यं जानाति द्रष्टुं सदृशे जने युज्यते रागः।
म्रियतां न त्वां भणिष्ये मरणमपि श्लाघनीयमस्याः ॥

सत्यमिति। सत्यं यथार्थं द्रष्टुं विवेक्तुमिति भावः जानाति, सदसद् विवेक्तुं शक्नोतीत्यर्थः इयमिति शेषः। सदृशे अनुरूपे जने रागः प्रणयः युज्यते अनुरूपो भवति अतः म्रियतां पञ्चतां गच्छतु इयमिति शेषः। त्वां न भणिष्ये न किञ्चिद् वक्ष्यामीत्यर्थः अस्याः त्वत्कान्ताया इत्यर्थः मरणमपि श्लाघनीयं प्रशंसनीयम्। पतिविरहे दुष्कार्यंकरणात् मरणमेव श्लाघ्यं अस्या इति भावः। दूत्याः प्रोषितं प्रत्युक्तिः ॥ २५७ ॥

तत्रैवानुगतो यथा--

गहवइसुएण समअं सव्वं अलिअं विअ किं विआरेइ।
धाणइआए हलिअकुमारिआइ ठाणम्मि जणवाओ ॥ २५८ ॥

अत्र यद्यपि सौभाग्यादि प्रसिद्धिकृतमानुरूप्यं न विद्यते तथापि स्त्रिया उत्तमप्रार्थनमगर्हितत्वादनुगतमेव भवति। सोऽयं करुणसाधारणसाधनोत्पत्तिपक्षे उक्तः ॥

भावसाधनपक्षे तु सर्वत्र सहार्थादिविशिष्टैरतिदीप्तिः वा अनुरागशब्देन उच्यते। प्रथमश्च उपजायमानत्वात् अयं प्रथमानुराग इति।

वहीं (प्रथमानुराग में ही) राग के अनुगत होने का उदाहरण—

उस पुण्यशालिनी हलवाहे की पुत्री का गृहपति के पुत्र के साथ मिलन रूप लोकापवाद युक्त ही है। गृहपति के पुत्र के द्वारा परस्पर की गई सभी प्रतिज्ञाओं को असत्य सा क्यों समझती हो ॥ २५८ ॥

यहाँ यद्यपि प्रख्याति के द्वारा किया गया सौभाग्य आदि का सारूप्य नहीं है तथापि स्त्री की अपने से उच्चतर व्यक्ति की कामना निन्दित न होने से अनुरूप ही है।

उक्त लक्षणों वाले अनुराग की यहाँ करुण रस के सामान्य साधन की उत्पत्ति वाले के रूप में अभिव्यक्ति है। (अथवा करण अर्थ में साधारण साधन के रूप में उत्पन्न माना गया है।) भाव के अर्थ में अनुराग पद की सिद्धि मानने पर तो अनुराग शब्द से 'सह' के अर्थ आदि से विशिष्ट रति अथवा दीप्ति अर्थ व्यक्त होता है। सर्व प्रथम उत्पन्न होने से इसे प्रथमानुराग कहा जाता है।

स्व० द०—यह बात इसी परिच्छेद के प्रारम्भ में कह दिया गया है कि अनुराग पद 'अनु' उपसर्ग पूर्वक 'रञ्ज' धातु का घञन्त रूप है। घञ् प्रत्यय का प्रयोग पाणिनि के 'भावे' ३।३।१८ ॥ तथा 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' ३।३।१९ ॥ सूत्रों के अनुसार भाव तथा कर्तृभिन्न तृतीया आदि विभक्तियों के अर्थ में होता है। इनके अनुसार अनुराग पद की 'अनुरञ्जनं अनुरागः' तथा अनुरज्यते अनेन इति अनुरागः'' इन दो रूपों में क्रमशः भाव तथा करण अर्थ प्रकट होता है। अनुराग पद की सिद्धि भाव तथा करण अर्थ में होने से ही 'घञि च भावकरणयोः' ६।४।२७ ॥ सूत्र से 'अकार' का लोप हुआ है। इनसे भिन्न सप्तमी आदि विभक्तियों के अर्थ में जैसे 'रज्यत्यस्मिन्निति रङ्गः' में अनुनासिक का लोप नहीं होता है। भोज ने वृत्ति में यही बात स्पष्ट की है। उनके कहने का अभिप्राय यह है कि अभी तक जो उदाहरण दिये गये वे सब 'अनुराग' को करण अर्थ में घञन्त रूप मान कर कहे गये हैं। उक्त सभी उदाहरणों में इस अनुराग को साधन के रूप में—करण के रूप में-चित्रित किया गया है। जब इसका भाव अर्थ में घञन्त रूप स्वीकार किया जायेगा वहाँ तो अर्थ के रूप में 'रति' अथवा दीप्ति अर्थ प्रकट होगा। 'रति' प्रेम अथवा स्थायी भाव का नाम है और दीप्ति चित्तवृत्ति की अवस्था विशेष का पर्याय है।

प्रेम की समस्त अवस्थाओं में अनुराग ही सर्वप्रथम अपेक्षित रूप से उपस्थित होता है, अतः इसे प्रथमानुराग भी कहते हैं।

गृहपतिसुतेन समयं सर्वमलीकमिव किं विचारयसि।
धन्याया हलिककुमार्य्याः स्थाने जनवादः ॥

गृहपतेति। धन्यायाः सुकृतवत्याः हलिकस्य कुमार्य्याः जनवादः अपवादः गृहपतिसुतेन सह सङ्घटनरूप इति भावः स्थाने युक्तः अनुरूपः 'युक्ते द्वे साम्प्रतं स्थाने' इत्यमरः। असत्यमेतद् इत्याशङ्क्याह गृहेति। गृहपतेः गृहस्थस्य सुतेन पुत्रेण सर्वं समयं हलिककुमारीसङ्घटने अन्योन्यप्रतिज्ञायामिति यावत् अलीकमिव असत्यमिव किं कथं विचारयसि अवबुध्यसे ? ॥ २५८ ॥

प्रथमतो मानः मान्यते येनेति यथा—

पाअपडणाणं मुद्धे रहसवलामोडिअव्वाणं।
दंसणमेत्तपसिज्जरिचुक्का बहुआ ण सोक्खाणं ॥ २५९ ॥

अत्र मानपूजायामिति धातोः स्वार्थे णिजन्तात् णिचि घञि च मान इति रूपम्। स हि प्रेयांसम् अस्याः पादपतनादिपूजायां प्रयोजयति।

(अब मान के प्रसङ्ग में) सर्व प्रथम 'मान' पद के 'मान्यते येन'-जिसके द्वारा माना जाता है—अर्थ में प्रयोग का उदाहरण—

अरी भोली, हे प्रियतम के दर्शनमात्र से प्रसन्न हो जानेवाली सखि, प्रिय के पाद-पतन, जल्दी तथा जबर्दस्ती करके चुम्बन आदि अनेक प्रकार के सुखों से तो तुम वञ्चित रह जाती हो ॥ २५९ ॥

यहाँ स्व अर्थ में णिच् प्रत्ययान्त पूजार्थक 'मान' धातु से णिच् तथा घञ् प्रत्यय करने पर निष्पन्न 'मान' यह रूप (अभीष्ट है।) वही प्रियतम को इस नायिका के चरणपात आदि पूजा में प्रयुक्त करता है।

स्व० द०—इसी परिच्छेद की ६९वीं कारिका में 'मान' शब्द का चार अर्थों में प्रयोग होता है, यह उल्लेख कर दिया गया है। यहाँ उनका उदाहरण आदि प्रस्तुत है। वृत्ति में केवल इतनी सी बात स्पष्ट की गई है कि प्रथम अर्थ में 'मान' धातु पूजार्थक है। यहाँ स्वार्थभाव में 'णिच्' नाम के प्रेरणार्थक प्रत्यय तथा करण अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय दोनों एक साथ लगाने से बना 'मान' पद अभीष्ट है। उदाहरण में अभीष्ट पादपतन, रभस, बलपूर्वक चुम्बन आदि मानिनी की पूजा के रूप में अभीष्ट है। अतः यहाँ 'मान' का अभिप्राय हुआ वह दशा जिसके कारण नायक-नायिका परस्पर अनुनयविनय रूप कार्य करते हैं'।

[छाया—पादपतनानां मुग्धे रभसबलात्कारचुम्बितव्यानाम्।
दर्शनमात्रप्रसन्ने भ्रष्टासि सुखानां बहुकानाम् ॥ गा० स० ५।६५ ॥]

पाअ इति ॥ २५९ ॥

यं प्रियत्वेन मन्यते यथा—

कारणगहिओ वि मए माणो एमेअ जं समोसरिओ।
अत्थ क्क पुल्लिअंकोल्ल तुज्झ तं मत्थए पडउ ॥ २६० ॥

अत्र मनज्ञाने इति धातुः। तथा हि। मानं प्रियत्वेन मन्यमाना तदपहारिणे अङ्कोल्लाय कापि मानिनी कुप्यति।

'जिसे प्रिय के रूप में जानते हैं (मान पद का इस अर्थ में ग्रहण करने का उदाहरण)—

सकारण किया गया भी मेरा मान (जिसकी वजह से अथवा जो) यों ही एकाएक दूर हो गया, वही खूब फूला हुआ अंकोल पुष्प अथवा हे एकाएक फूल उठे अङ्कोल, वही मान-एकाएक तुम्हारे सिर पर पड़े ॥ २६० ॥

यहाँ 'मन ज्ञाने' धातु है (अर्थात् इस प्रसङ्ग में प्रयुक्त मान पद उस 'मन' धातु से निष्पन्न है, जिसका अर्थ 'ज्ञान' होता है। जैसे कि 'मान' को ही प्रिय रूप में जानती हुई कोई मानवती नायिका उस मान का अपहरण करनेवाले अङ्कोल पर क्रुद्ध होती है।

[छाया—कारणगृहीतोऽपि मया मान एवमेव यत्समुपसृतः।
अकस्मात् फुल्लिङ्कोल तव तन्मस्तके पततु ॥ नि० सा० ॥]

कारणेति ॥ २६० ॥

यः प्रेम मनुते यथा—

जत्थ ण उज्जागरओ जत्थ ण ईसाविरूरणं माणं ।
सब्भाववाहुअं जत्थ णत्थि णेहो तहिं णत्थि ॥ २६१ ॥

अत्र मनु अवबोधने इति धातुः । मानेन हि प्रेमास्ति नास्ति वेति जनो बुध्यते । तस्य च करणभूतस्यापि प्राधान्यादत्र कर्तृत्वोपचारः । तद्यथा "प्रज्ञा पश्यति नो चक्षुर्दृष्टिः सारस्वती हि सा" इति ।

'जो प्रेम का अवबोध कराता है' जैसे—

जहाँ जागरण नहीं है, जहाँ ईर्ष्या तथा खेद युक्त मान नहीं है, जहाँ पर प्रसन्न करने के लिये चाटुकारिता नहीं है, वहाँ स्नेह नहीं है ॥ २६१ ॥

यहाँ 'मनु अवबोधने' यह धातु है । अर्थात् इस तृतीय अर्थ में प्रयुक्त 'मान' की निष्पत्ति उस 'मनु' धातु से हुई है जिसका अर्थ समझना, बोध है । मान के द्वारा ही मनुष्य यह जान पाता है कि प्रेम है अथवा नहीं है । यद्यपि यह मान वस्तुतः करण के अर्थ में है तथापि प्रधानता होने से यहाँ उसका ग्रहण कर्ता के रूप में हो रहा है । जैसे कि 'बुद्धि देखती है चक्षु नहीं, क्योंकि बुद्धि सरस्वती से उत्पन्न या सम्बद्ध आँख है ।'

स्व० द० यहाँ 'मान' धातु अवबोधन अर्थ में है, करण अर्थ में ल्युट् प्रत्यय का प्रयोग हुआ है । किन्तु उक्त गाथा में मान-क्रिया के अङ्ग भूत जागरण आदि प्रथमा विभक्ति में प्रयुक्त हुये हैं, क्रिया भी-'अस्ति' भी-कर्तृवाच्य में है । इस प्रकार सामान्य रूप से देखने में इनका प्रयोग करण में न होकर कर्त्ता में प्रतीत हो रहा है । अतः 'मान' का करण अर्थ में प्रयुक्त ल्युट् असिद्ध हो रहा है । भोज इस शङ्का का समाधान करते हुये यह स्पष्ट करते हैं कि ये हैं तो करण रूप ही, किन्तु प्रधानता के कारण कर्ता के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं । यह बात नहीं है कि करण की प्रधानता होती ही नहीं । अन्य कवियों ने इस प्रकार के प्रयोग किये हैं । जैसे—"प्रज्ञा पश्यति०" आदि में 'चक्षु' आदि कर्ता के रूप में प्रयुक्त हैं जब कि ज्ञान का साधन होने से उनकी करणता-गौणता-ही सिद्ध होती है । वही भाव यहाँ भी है ।]

छाया—यत्र नास्त्युज्जागरको यत्र नेर्ष्याखेदो मानः ।
सद्भावचाटुकं यत्र नास्ति स्नेहस्तत्र नास्ति ॥

जन्मेति ॥ २६१ ॥

प्रेम मिमीते यथा—

कुविआ अ सच्चहामा समेवि बहुआणं णवरमाणक्खलणे ।
पाअडिअहिअअसारो पेमसङ्घरिसो पअट्टई मणू ॥ २६२ ॥

अत्र माङ्माने इति धातोः 'कृत्यल्युटो बहुलमि'ति कर्त्तरि ल्युट् । कोऽसावनुमान इति भाष्यप्रयोगात् । तेन च यद्यपि करणभूतेनैव आत्मनि रुक्मिण्यां च प्रियप्रेम्णः परिमाणं सत्यभामा प्रत्याययति तथापि पूर्ववदिह अयं कर्त्तृत्वेन उपयुज्यते ।

'जिससे प्रेम नापा जाता है' (इस अर्थ में मान का) उदाहरण—

स्त्रियों के केवल मान का क्षरण तुल्य होने पर भी सत्यभामा जो कोप करती हैं क्योंकि अपने अन्तस् के बल को प्रकट कर देने वाला प्रेम-युद्ध रूप मन्यु उत्पन्न होता है ॥ २६२ ॥

यहाँ मापन के अर्थ में प्रयुक्त होने वाली 'माङ्' धातु से 'कृत्यल्युटो बहुलम्' इस सूत्र के अनुसार कर्ता अर्थ में ल्युट् का प्रयोग हुआ है। (ल्युडन्त पदों का प्रयोग-नपुंसक लिङ्ग में होना चाहिये, न कि पुल्लिंग में। किन्तु यहाँ जो पुल्लिंग किया गया है वह इसलिये क्योंकि महावैयाकरण पतञ्जलि सदृश विद्वानों के भाष्य में 'कोऽसावनुमानः' सदृश वाक्यों में पुल्लिंग प्रयोग दृष्टिगोचर होता है) इसके करण रूप के द्वारा ही यद्यपि सत्यभामा अपने में तथा रुक्मिणी में प्रिय के प्रेम के परिमाण का विश्वास दिलाती हैं फिर भी पहले की भांति यह कर्तृरूप में ही प्रयुक्त हुआ है।

स्व० द०-यहाँ 'मान' पद की व्युत्पत्ति 'माङ्' धातु से अभीष्ट है जिसका अर्थ परिमाण या माप है। इसकी निष्पत्ति 'ल्युट्' प्रत्यय के प्रयोग से है। प्रश्न यहाँ यह उठता है कि ल्युट् प्रत्ययान्त पद तो नपुंसक लिङ्ग में होते हैं, अतः मान पद का यहाँ पुल्लिंग में प्रयोग अयुक्त है। किन्तु भोज महर्षि पतञ्जलि के प्रयोग के आधार पर इसे इस लिङ्ग में स्वीकार करने में कोई दोष नहीं समझते। यदि यह रूप अशुद्ध होता तो उनके जैसा विद्वान् पुल्लिंग में उसका प्रयोग न करता। उनके ग्रन्थ में उपलब्ध हो रहे वाक्य 'कोऽसावनुमानः' में मान पद पुल्लिंग में ही है। अतः प्रयोग परम्परा के कारण यहाँ दोष नहीं हैं।

दूसरी बात यह है कि ल्युट् का प्रयोग करण अर्थ में होता है, कर्ता के अर्थ में नहीं। यही सामान्यविधान है। किन्तु यहाँ 'सत्यभामा' आदि प्रत्यायक कर्तृत्व रूप में उक्त हैं। इस शङ्का का समाधान भोज पाणिनि के एक सूत्र 'कृत्यल्युटो बहुलम्' ३।३।११३ ॥ से देते हैं। बहुलता का अर्थ लघुसिद्धान्तकौमुदी में इस प्रकार है—

> क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद् विभाषा क्वचिदन्यदेव।
> विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति ॥

इस प्रकार यहाँ विभाषा अर्थ में ल्युट् का प्रयोग करण रूप में न करके कर्तृ रूप में किया गया है। अतः ल्युडन्त 'मान' पद कर्तृत्वेन प्रयुक्त होने पर भी अशुद्ध अथवा अनुपयुक्त नहीं।

कुपिता च सत्यभामा समेऽपि वधूनां केवलमानक्षरणे।
प्रकटितहृदयसारः प्रेमसङ्घर्षः प्रवर्त्तते मन्युः ॥

कुपितेति। **वधूनां नारीणां केवले मानक्षरणे मानहानौ समे तुल्येऽपि सत्यभामा तदाख्या महिषी कुपिता च कोपवती एवेत्यर्थः। प्रकटितः प्रकाशितः हृदयस्य सारो बलं श्रेष्ठाशयश्च यत्र तथाभूतः प्रेम्णः प्रणयस्य सङ्घर्षः अन्येन संविभाग इत्यर्थः मन्युः दुःखं कोपकारणमिति भावः सन् प्रवर्त्तते प्रजायते ॥ २६२ ॥**

प्रवासे वसत इत्युपलक्षणेन न आत्मानमङ्गना भूषयन्ति यथा—

साहीणेवि पिअअमे पत्तेवि च्छणे ण मण्डिओ अप्पा।
दुक्खिअपउत्थवइअं सअं ज्जिअं सण्ठवन्तीए ॥ २६३ ॥

अत्र वस आच्छादन इत्यस्य प्रस्मरति इत्यादिवन्निषेधार्थे प्रपूर्वस्य घञि च प्रवास इति रूपं निरूप्यते ॥

प्रवास में 'वसते'—वस्त्र धारण—इस उपलक्षण के अनुसार अथवा चिह्नों से सुन्दरियाँ अपने को सुशोभित नहीं करती हैं, इस अर्थ में (प्रवास का) उदाहरण—

अत्यन्त दुःख का अनुभव कर रही अपनी विरहिणी पड़ोसिन को सांत्वना देती हुई इस सुन्दरी ने अपने वश में रहने वाले तथा अपेक्षित घड़ियों में सदा विद्यमान रहने वाले पति की उपस्थिति में भी अपने को अलंकृत नहीं किया ॥ २६३ ॥

यहाँ 'वस आच्छादने'—'वस' धातु का आच्छादन अर्थ में प्रयोग अभीष्ट होने से—इसको 'प्रस्मरति' आदि प्रयोगों की भांति निषेधार्थ में विद्यमान 'प्र' उपसर्ग पूर्वक घञ् प्रत्यय करने से 'प्रवास' यह रूप निष्पन्न होता है।

स्व० द०—'प्र' उपसर्ग के जहाँ प्रगत, प्रकृष्ट आदि अर्थ होते हैं, वहीं स्त्रियों के वियोग सन्दर्भ में इससे 'अभाव', 'विना' 'रहित' आदि का भी ज्ञान होता है। यहाँ इसी अभाव अर्थ में यह आच्छान अर्थ वाली 'वस' धातु से युक्त हुआ है। इस प्रकार प्रवास का अर्थ वह दशा हुई जिसमें स्त्रियाँ अपने को वस्त्रालंकार आदि से सुसज्जित नहीं करतीं।

स्वाधीनेऽपि प्रियतमे प्राप्तेऽपि क्षणे न मण्डित आत्मा।
दुःखितप्रोषितपतिकां प्रतिवेशिनीं संस्थापयन्त्या ॥ गा० स० १।३९ ॥

साहीणे इति ॥ २६३ ॥

युवानः प्रियासन्निधौ न वसन्ति यथा—

विरहाणलो सहिज्जइ आसाबन्धेण दुल्लहजणस्स।
एक्कग्गामपवासो माए मरणं विसेसेइ ॥ २६४ ॥

अत्र दूरस्थयोरिव अन्तिकस्थयोरपि सन्निकर्षाभावात् प्रवासो भवति।

'जब युवक अपनी प्रियतमाओं के पास नहीं रहते हैं' इस अर्थ में प्रवास का उदाहरण—

दुष्प्राप्य प्रियतम की आशा से विरहाग्नि सही जा सकती है, किन्तु हे माँ, एक ही गाँव में रह कर न मिल पाना तो मृत्यु से भी बढ़ कर है ॥ २६४ ॥

यहाँ दूर दूर स्थित प्रियतम तथा प्रियतमा की भांति निकटस्थ होने पर भी उन दोनों का मिलन न हो पाने से प्रवास (सिद्ध) होता है।

स्व० द०—यहाँ भी 'प्र' उपसर्ग का अर्थ तो 'अभाव' ही है, किन्तु 'वास' पद आच्छादन अर्थ में न होकर 'रहना' अर्थ में है। अतः यहाँ 'प्रवास' का अर्थ हुआ वह दशा जिसमें प्रियतमा तथा प्रियतम के संनिकर्ष का अभाव होता है।

विरहानलः सह्यत आशाबन्धेन दुर्लभजनस्य।
एकग्रामप्रवासो मातर्मरणं विशेषयति ॥ गा० स० १।४३ ॥

विरहेति ॥ २६४ ॥

उत्कण्ठादिभिश्चेतो वासयति यथा—

आलोअन्ति दिसाओ ससन्त जम्भन्त गन्त रोअन्त ।
मुञ्झन्त पड़न्त हसन्त पहिअ ! किं तेण पउत्थेण ॥ २६५ ॥

अत्र उत्कण्ठादिभिः वासिते चेतसि शून्यावलोकनादयः अनुभावा जायन्ते ॥

'उत्कण्ठा आदि के द्वारा चित्त को भावित करने के अर्थ में प्रयुक्त 'प्रवास' का उदाहरण—

अरे पथिक, जब तुम अभी से दिशाओं की ओर ताकने लगे, लम्बी लम्बी उसांसे लेने लगे, जमुहाई लेने लगे, गाने लगे, रोने लगे, मूर्च्छा आ गई, गिरने लगे, और हँसी आने लगी, तब भला प्रवास हो जाने पर क्या होगा ॥ २६५ ॥

यहाँ उत्कण्ठा आदि से वासित हृदय में ही आकाश की ओर देखना आदि अनुभाव उत्पन्न होते हैं, (इसका निरूपण किया गया है ।)

छाया—आलोकयन् दिशः श्वसन् जृम्भमाणो गायन् रुदन् ।
मुह्यन् पतन् हसन् पथिक ! किं तेन प्रोषितेन ॥ गा० स० ६।४६ ॥

स्व० द० यहाँ 'प्र' का अर्थ प्रकृष्ट तथा 'वास' का अर्थ वासित करना, भावित करना, भावना देना अथवा अपनी गन्ध डालना है । जिसका हृदय अभिलाषा आदि से वासित है, उसी के उक्त अनुभाव होते हैं, अन्यों के नहीं ।

आलोअन्ति इति ॥ २६५ ॥

प्रमापयति यथा—

सञ्जीवणोसहिम्मि व पिअस्स रक्खेइ अणण्णवावारा ।
सासूणवाप्फदंसणकण्ठागदजीविआं सोण्हा ॥ २६६ ॥

अत्र प्रसादं करोतीत्यादिवत् प्रमापणोपक्रमोऽपि प्रमापणम् उच्यते ॥

प्रमापण (अर्थात् चुपके चुपके सह लेने, भीतर ही भीतर किसी बात को छिपा लेने या दबा लेने, अथवा प्रच्छन्न रूप से रख छोड़ने या मरण के अर्थ में प्रवास का ग्रहण होने का) उदाहरण—

नायिका की सास सारे कामों को छोड़कर अपने पुत्र के लिये सञ्जीवनी ओषधि समझ कर नव बादलों को देखने से कण्ठ तक आ गये प्राणों वाली अपनी पुत्रवधू की सुरक्षा में लग्न है ॥ २६६ ॥

यहाँ 'प्रसन्न करता है' आदि की भांति प्रमापण का उपक्रम भी प्रमापण ही कहा जाता है ।

स्व० द०—यहाँ 'प्रवास'पद प्रमापण-वध-के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । अर्थात् वह दशा जिसमें प्रेमीजन मृत से हो जाते हैं, उनका वध सा हो जाता है, प्रवास है । यहाँ 'प्र' का अर्थ अभाव रूप तथा 'वास' का रहना, वसना अथवा प्राणधारण रूप है । प्रमापण की निष्पत्ति प्र + मी + णिच् + ल्युट्, का पुंलिंग रूप करने पर होती है ।

उक्त उदाहरण में नायिका मृतप्राय सी है, उसके प्राण गले तक आ गये हैं, किन्तु निकले नहीं । इस अर्थ में वध न होने से—प्राणविसर्जन पूर्णतः न होने से—उसका प्रमापण अर्थ

समझना असंगत प्रतीत हो सकता है। किन्तु जिस प्रकार प्रसन्न करना आदि क्रियाओं की निष्पत्ति उनका उपक्रम करने से होती है, उसी प्रकार गले तक प्राणों का आ जाना भी वधू-मरण का एक उपक्रम ही है, अतः यहाँ प्रवास को प्रमाण-वध-अर्थ में स्वीकार कर लेना चाहिये।

संजीवनौषधिमिव सुतस्य रक्षत्यनन्यव्यापारा।
श्वश्रूर्नवाभ्रदर्शनकण्ठागतजीवितां स्नुषाम् ॥ गा० स० ४।३६ ॥

सञ्जीवनेति ॥ २६६ ॥

प्रथमानुराग, मान तथा प्रवास का निरूपण करने के पश्चात् अब क्रम प्राप्त करुण का विवेचन किया जा रहा है। इसी परिच्छेद में (७४-६) करुण की निष्पत्ति उस 'कृ' धातु से मानी गई है जिसका अर्थ अभूतोत्पादन, उच्चारण, अवस्थापन तथा अभ्यञ्जन होता है। इन्ही अर्थों में उनका क्रमशः उदाहरण दिया जा रहा है।

करुणे करोतेः अभूतोत्पादनार्थत्वे कुरुते मूर्च्छां यथा--

विअलिअविओअवेअणं तक्खणपव्भट्टराममरणाआसं।
जणअतणआए णवरं लव्धं मुच्छाणिमीलिअच्छीए मुहं ॥ २६७ ॥

अत्र सीतायाः पतिशोकप्रकर्षेण अभूता मूर्च्छा उत्पद्यते ॥

करुण में विद्यमान 'करोति' (कृ धातु) के अनुद्भूत वस्तु के ग्रहण रूप अर्थ में प्रयुक्त होने पर 'मूर्च्छा करने' का उदाहरण—

मूर्च्छा के कारण नयनों को बन्द की हुई सीता ने उस घड़ी राम के मरण (श्रवण) से उत्पन्न दुःख से रहित, वियोग कालीन कष्टों से विहीन निरवच्छिन्न सुख को प्राप्त किया ॥ २६७ ॥

यहाँ सीता की पति के शोक के आधिक्य से पहले न उत्पन्न हुई मूर्च्छा उत्पन्न हो रही हैं।

स्व० द०—यहाँ प्राकृत गाथा के पूर्व भोज द्वारा दी गई वृत्ति में 'अनुभूतोपादानार्थत्वे,' 'भूतोपादानार्थत्वे' तथा 'अभूतोत्पादानार्थत्वे' पाठान्तर मिलते हैं। इनमें से अन्तिम ही युक्ततम हैं,क योंकि इसकी संगति यही' प्राकृत गाथा के बाद वृत्ति में प्रयुक्त 'अभूता मूर्च्छा उत्पद्यते' तथा इसी परिच्छेद की चौहत्तरवीं कारिका में दिये गये 'अभूतोत्पादनायां कृञ् दृष्टः कुरु घटे यथा' पदों से सिद्ध होती है।

विगलितवियोगवेदनं तत्क्षणप्रभ्रष्टराममरणायासम्।
जनकतनयया केवलं लब्धं मूर्च्छानिमीलिताक्ष्या सुखम् ॥

विगलितेति। **मूर्च्छया मोहेन प्रियमरणश्रवणजनितेनेति भावः निमीलिते मुकुलिते अक्षिणी नयने यस्याः तथाभूतया जनकतनयया सीतया तस्मिन् क्षणे प्रभ्रष्टः विगतः राममरणायासः रामस्य मरणश्रवणजनितः क्लेश इत्यर्थः यस्मिन् तथाविधम् अतएव विगलिता विनष्टा वियोगस्य विच्छेदस्य वेदना यस्मिन् तथाभूतं केवलं निरवच्छिन्नं सुखं लब्धं प्राप्तम् ॥ २६७ ॥**

उच्चारणार्थत्वे कुरुते विलापं यथा--

पुहवीअ होइ हि पई बहुपुरिसविसेसचञ्चला राअसिरी।
कह ता महच्चिअइम णिसामाणं उवट्ठिअं वेहव्वं ॥ २६८ ॥

अत्र प्रवासदुःखेन सीता विलपन्ती इदमुच्चरति ॥

उच्चारण के अर्थ में 'कृ' धातु का प्रयोग करने पर (करुण में) विलाप का उदाहरण—

(हे राम तुम्हारे दिवंगत हो जाने पर) इस पृथ्वी का कोई पति हो जायेगा अर्थात् दूसरा राजा होगा जो पृथ्वी का पालन करेगा, इसका पति होगा, राज्यलक्ष्मी अनेक पुरुषों में से किसी विशिष्ट के पास चली जायेगी अर्थात् वह भी किसी न किसी विशिष्ट पुरुष को पति रूप में प्राप्त कर लेगी, फिर भला मुझको ही यह असाधारण वैधव्य कैसे उपस्थित हो गया है ॥ २६८ ॥

यहाँ विरह के दुःख से पीड़ित सीता विलाप करती हुई इस गाथा का उच्चारण करती है ।

पृथिव्या भविष्यति पतिः बहुपुरुषविशेषचञ्चला राज्यश्रीः ।
कथं तन्ममैवेदं निःसामान्यमुपस्थितं वैधव्यम् ॥

पुहवीअ इति ॥ २६८ ॥

अवस्थापनार्थत्वे कुरुते साहसे मनो यथा--

इयमेत्य पतङ्गवर्त्मना पुनरङ्काश्रयिणी भवामि ते ।
चतुरैः सुरकामिनीजनैः प्रिय ! यावन् न विलोभ्यसे दिवि ॥२६९॥
अत्र रतेः कामशोकेन मरणसाहसे मनोऽवस्थाप्यते ।

अवस्थापन अर्थ में 'कृ' धातु का प्रयोग होने पर 'साहस' के काम में मन को अवस्थापित करने का उदाहरण—

हे प्रियतम कामदेव, स्वर्ग में निपुण देवाङ्गनाओं के द्वारा तुम लुब्ध भी न किये जा सकोगे, कि इसी बीच में यह मैं पुनः पतङ्ग—शलभ—के मार्ग से (अग्नि में कूद कर) आकर तुम्हारी गोद में बैठती हूँ ॥ २६९ ॥

यहाँ रति का मन कामदेव के शोक के कारण मरणरूप साहस कर्म में अवस्थापित किया जा रहा है ।

इयमिति । हे प्रिय ! दिवि स्वर्गे चतुरैः निपुणैः वशीकरणदक्षैरिति यावत् सुरकामिनीजनैः अप्सरोभिरित्यर्थः यावत् न विलोभ्यसे प्रलोभ्य नीयसे इत्यर्थः तावत् इयमहं पतङ्गवर्त्मना पतङ्गमार्गेण अग्निपतनेनेति यावत् ते तव पुनः अङ्काश्रयिणी उत्सङ्गवर्त्तिनी भवामि ॥ २६९ ॥

अभ्यञ्जनार्थत्वे करोति चित्तं दुःखेन यथा--

दलति हृदयं गाढोद्वेगं द्विधा न तु भिद्यते
वहति विकलः कायो मोहं न मुञ्चति चेतनाम् ।
ज्वलति च तनूमन्तर्दाहः करोति न भस्मसात्
प्रहरति विधिर्मर्मच्छेदी न कृन्तति जीवितम् ॥ २७० ॥

अत्र रामादेः दुःखेन चित्तमभ्यज्यते ॥

'अभ्यञ्जन—लेप—के अर्थ में 'कृ' का प्रयोग होने पर' दुःख से चित्त के लिप्त होने का उदाहरण—

दृढ़ उत्कण्ठा से युक्त हृदय विदीर्ण तो हो रहा है, किन्तु दो टूक नहीं हो पा रहा है, बेचैन शरीर मूर्च्छा का वहन तो करता है किन्तु चेतना का परित्याग नहीं करता। हृदय की अग्नि शरीर को जला तो रही है, किन्तु उसे राख नहीं कर डालती। हृदय को छेद डालने वाला दैव प्रहार तो करता है, किन्तु प्राणों को काट नहीं डालता ॥ २७० ॥

यहाँ राम आदि का चित्त दुःख से लिप्त किया जा रहा है।

स्व० द०—यहाँ ऊपर करुण के मूलभूत 'कृ' धातु के विभिन्न अर्थों में प्रयोग के उदाहरण दिये जा चुके। अब आगे क्रमप्राप्त 'संभोग' के विभिन्न अर्थों के विभिन्न दशाओं में उदाहरण दिये जा रहे हैं।

दलतीति। गाढः दृढः उद्वेगः उत्कण्ठा यत्र तादृशं हृदयं दलति विदीर्यते इत्यर्थः, तु किन्तु द्विधा न भिद्यते द्विखण्डं न भवतीत्यर्थः। कायो देहः विकलः विवशः सन् मोहं वहति धत्ते, किन्तु चेतनां न मुञ्चति न त्यजति, अन्तर्दाहः अन्तःसन्तापः तनूमङ्गं ज्वलयति, किन्तु भस्मसात् न करोति न दहतीत्यर्थः। विधिर्दैवं मर्मच्छेदी अरुन्तुदः सन् प्रसरति प्रवर्त्तते, किन्तु जीवितं न निकृन्तति न नाशयतीत्यर्थः ॥ २७० ॥

सम्भोगनिरुक्तिषु प्रथमानुरागानन्तरे पालनार्थो यथा—

दृष्टा दृष्टिमधो ददाति कुरुते नालापमाभाषिता
शय्यायां परिवृत्य तिष्ठति बलादालिङ्गिता वेपते।
निर्यान्तीषु सखीषु वासभवनान्निर्गन्तुमेवेहते
जाता वामतयैव सम्प्रति मम प्रीत्यै नवोढा प्रिया ॥ २७१ ॥

अत्र प्रागल्भ्यवामताभ्यामननुकूलायामपि नवोढायामिच्छानुवृत्त्या रतिः पाल्यते।

संभोग की निरुक्तियों में प्रथमानुरागानन्तर की दशा में पालन अर्थ का उदाहरण—

देखने पर वह अपनी निगाहों को नीचे झुका लेती है, बुलकारने पर बोलती नहीं है, सेज पर मुड़कर पड़ी रहती है और हठात् आलिङ्गन करने पर काँपती रहती है। निवास कक्ष से सखियों के चली जाने पर वह भी बाहर निकल जाना ही चाहती है। इस प्रकार इस समय तो मेरी नवोढ़ा प्रियतमा विपरीत आचरण करने पर भी मेरे लिये प्रीति उत्पन्न करती हैं ॥ २७१ ॥

यहाँ प्रगल्भता तथा वामता के कारण नवविवाहिता प्रियतमा के अनुकूल न होने पर भी इच्छा की अनुवृत्ति होने से रति-प्रेम का पालन हो रहा है।

दृष्टेति। नवोढा नवविवाहिता प्रिया कान्ता सम्प्रति वामतयैव प्रतिकूलतयैव मम प्रीत्यै आनन्दाय जाता। तथाहि-दृष्टा अवलोकिता सती अधः दृष्टिं ददाति दधातीति वा पाठः। आभाषिता किमपि कथिता सती आलापं न कुरुते न प्रतिवक्तीत्यर्थः। परिवृत्य पराङ्मुखीभूय शय्यायां तिष्ठति, बलात् बलमाश्रित्येत्यर्थः ल्यब्लोपे पञ्चमी। आलिङ्गिता सती वेपते कम्पते। सखीषु सङ्गिनीषु वासभवनात् निर्यान्तीषु निर्गच्छन्तीषु निर्गन्तुं बहिर्गन्तुमेव ईहते चेष्टते ॥ २७१ ॥

मानानन्तरे कौटिल्यार्थो यथा—

पादे मूर्द्धनि ताम्रतामुपगते कर्णोत्पले चूर्णिते
छिन्ने हारलतागुणे करतले सम्पातजातव्रणे ।
अप्राप्तप्रियताडनव्यतिकरा हन्तुं पुनश्चेतसा
वाञ्छन्ती मुहुरेणशावनयना पर्य्याकुलं रोदिति ॥ २७२ ॥

अत्र प्रेम्णः स्वभावकुटिलत्वात् मानवत्याः कचग्रहणेन यत् पादताडनादिरूपाः कुटिला एव सम्भोगा जायन्ते ॥

मान के पश्चात् वाले संभोग में कुटिलता (भुग्नता) रूप अर्थ लेने का उदाहरण—

(प्रियतम के) मस्तक के चरणों से प्रहार करने से लाल लाल हो जाने पर, कर्णावतंस के चूर चूर हो जाने पर, मौक्तिक माला का सूत्र टूट जाने पर तथा निरन्तर पड़ते रहने से हाथों के घायल हो जाने पर जब उस कुरङ्ग शावक के सदृश नयनों वाली सुन्दरी को प्रियतम को मारने का और कोई साधन न मिला तब भी मनसे बार बार मारने की इच्छा से वह अत्यन्त व्याकुलता के साथ रोने लगी ॥ २७२ ॥

यहाँ प्रेम के सहज रूप से कुटिल होने के कारण मान की हुई सुन्दरी के केश पकड़ने से जो चरणों की मार आदि क्रियायें हैं, (उनसे) संभोगों की कुटिलता ही प्रतीत होती है ।

पादे इति । पादे चरणे मूर्द्धनि मस्तके मानभञ्जनार्थमुद्यतस्य प्रियस्येति भावः ताम्रताम् अलक्तकरसरक्ततामिति भावः उपगते प्राप्ते, कर्णोत्पले चूर्णिते दूरनिक्षेपेणेति भावः खण्डिते इत्यर्थः हारलतागुणे मौक्तिकहारसूत्रे छिन्ने छेदं गते, करतले सम्पातेन सम्प्रहारेण जातं व्रणं क्षतं यत्र तादृशे सति एणशावनयना हरिणशावकाक्षी कान्ता न प्राप्तः प्रियस्य ताडने प्रहारे व्यतिकरः उपायः यया तथाभूता पुनः चेतसा मनसा हन्तुं वाञ्छन्ती अभिलषन्ती सती मुहुः पुनः पुनः पर्य्याकुला अतीव व्याकुला सती रोदिति क्रन्दति ॥ २७२ ॥

प्रवासानन्तरे अभ्यवहारार्थो यथा—

वसिष्ठधेनोरनुयायिनं तमावर्त्तमानं वनिता वनान्तात् ।
पपौ निमेषालसपक्ष्मपङ्क्तिरुपोषिताभ्यामिव लोचनाभ्याम् ॥ २७३ ॥

अत्रोत्तरार्द्धे उपोषितस्य अन्नोपयोग इव प्रियालोकजन्मा पिबतेरभ्यवहारः कथ्यते ॥

प्रवासानन्तर अवस्था में (संभोग के) अभ्यवहार-भोजन-अर्थ में प्रयुक्त होने का उदाहरण—

पत्नी सुदक्षिणा वसिष्ठ की धेनु नन्दिनी के पीछे पीछे वनभूमि से लौट कर आ रहे दिलीप का एकटक नेत्र की रोमावलियों को एक लक्ष्य में स्थिर करके उपवास किये हुये से दोनो नयनों से पान करती थीं ॥ २७३ ॥

यहाँ श्लोक के उत्तरार्ध में उपवास करने वाले के अन्न के ग्रहण की भांति प्रिय के अवलोकन से उत्पन्न होने वाला अभ्यवहार 'पिबति'—'पपौ'—क्रिया के द्वारा कहा जा रहा है ।

वसिष्ठेति। वनिता पत्नी सुदक्षिणा वसिष्ठधेनोः नन्दिन्याः अनुयायिनम् अनुगामिनं वनान्तात् काननसीम्नः आवर्त्तमानम् आगच्छन्तं तं दिलीपं निमेषे अलसा मन्थरा पक्ष्मणां नेत्रलोम्नां पङ्क्तिः राजिर्यस्याः तथाभूता सती उपोषिताभ्यामिव कृतोपवासाभ्यामिव लोचनाभ्यां पपौ सातिशयं दृष्टवतीत्यर्थः ॥ २७३ ॥

करुणानन्तरे अनुभवार्थो यथा--

अणुमरणपत्थिआए पच्चागअजीविएम्मि पिअम्मि।
वेहव्वमंडणं कुलबहुए सोहणअं जाअं ॥ २७४ ॥

अत्र यथेयं मत्प्राणभूता एवमस्या अहमपि जीवितमेवेति पत्या विश्रम्भजो रागः पत्न्याः पुनः प्रेत्यापि यत्सङ्गमो मया अभिलषितः सोऽयं जीवन्त्यैव जीवितेश्वरः समासादित इति विश्रम्भाद् अतिसुखमेव अनुभूयते ॥

करुणानन्तर दशा में अनुभव अर्थ ग्रहण करने का उदाहरण—

प्रियतम के पीछे ही पीछे कुलाङ्गना के मरने के लिये तैयार होने पर जब प्रियतम पुनः जी उठे तब उसके वैधव्य की सूचना देने के लिये पहने गये पदार्थ उसके लिये शुभ-माङ्गलिक-हो उठे ॥ २७४ ॥

यहाँ पर 'जिस प्रकार से यह मेरी प्राणस्वरूपा है, इसी प्रकार मैं भी इसका प्राण ही हूँ' इस प्रकार का पति के द्वारा विश्वासपूर्ण प्रेम अनुभूत होता है। मरकर भी पुनः जो मेरे साथ मिलन पत्नी को अभीष्ट है, वह प्राणेश्वर विना मरे भी इसके द्वारा प्राप्त कर लिया गया। इस विश्रम्भ के कारण अत्यन्त सुख का ही अनुभव किया जा रहा है।

स्व० द०—ऊपर 'भोग' के पालन, कौटिल्य, अभ्यवहार तथा विश्रब्ध अनुभव रूप अर्थ सनिदर्शन स्पष्ट किये गये। अब आगे 'सम्' उपसर्ग का भोगार्थक अन्य पदों के साथ समास करके उनके विभिन्न रूपों—संक्षिप्त, सङ्कीर्ण, सम्पूर्ण तथा समृद्ध-का उदाहरण उपस्थित किया जायेगा।

अनुमरणप्रस्थितया प्रत्यागतजीविते प्रियतमे।
वैधव्यमण्डनं कुलवध्वाः शोभनकं जातम् ॥

अनुमरणेति। अनुमरणाय सहमरणायेत्यर्थः प्रस्थितायाः गतायाः कुलवध्वाः कुलाङ्गनायाः वैधव्यमण्डनं सहमरणार्थं परिहितमलङ्करणं प्रियतमे कान्ते प्रत्यागतं पुनरागतं जीवितं यस्य तथाभूते सति शोभनकम् अतीव शोभाजनकमित्यर्थः जातम् ॥ २७४ ॥

अत्र प्रथमानुरागानन्तरे सम्भोगः संक्षिप्तो यथा--

अपेतव्याहारं च्युतविविधशिल्पव्यतिकरं
करस्पर्शारम्भे प्रगलितदुकूलान्तशयनम्।
मुहुर्बाहोत्कम्पं दिशि दिशि मुहुः प्रेरितदृशो-
रहल्यासूत्राम्णोः क्षणिकमिह तत्सङ्गतमभूत् ॥ २७५ ॥

अत्र संक्षेपो निगदेनैव व्याख्यायते ॥

यहाँ प्रथमानुरागानन्तर दशा में संक्षिप्त संभोग का उदाहरण—

इधर उधर बार बार निगाहें डालने वाले अहल्या तथा सूत्रामा—इन्द्र का यहीं वह अल्प-संयोग हुआ था जिस संयोग के समय वे परस्पर मधुर-आलाप नहीं कर सके थे, उनके अनेक प्रकार के रतिबन्ध युक्त कर्म नहीं सम्पन्न हो पाये थे, हाथों से स्पर्श करते ही जब वस्त्रों का अञ्चल शय्या की एक ओर खिसक गया था और जब बार बार उनका शरीर सात्त्विक भावों का उदय होने से थरथरा रहा था ॥ २७५ ॥

यहाँ पर संक्षेप स्पष्ट उक्ति द्वारा ही कह दिया जा रहा है।

अपेतेति। अहल्या च सूत्रामा च तयोः अहल्यादेवेन्द्रयोः दिशि दिशि प्रतिदिशं मुहुः पुनः पुनः प्रेरिते चालिते इशौ याभ्यां तयोः कश्चित् पश्यतीति भियेति भावः सभीः इह अस्मिन् समये स्थाने वा तत् सङ्गतं रतम्। अपेतः अपगतः व्याहारः अन्योन्यमधुरालाप इति यावत् यस्मिन्, यतः च्युतः विगतः विविधः बहुप्रकारः शिल्पस्य रतिप्रकारस्येति भावः व्यतिकरः सम्बन्धः यस्मिन् तथोक्तं, करस्य स्पर्शः ग्रहणं तस्य आरम्भे उद्यमे एवेत्यर्थः प्रगलितं प्रभ्रष्टं दुकूलं वसनम् अन्ते प्रान्तदेशे यस्य तादृशं शयनं शय्यातलं यस्मिन् तथाभूतं मुहुः पुनः पुनः बद्धा जाता उत्कम्पा आतङ्केत्यर्थः गोतमभयजनितेति भावः यस्मिन् तत् अतएव क्षणिकम् अल्पक्षणमित्यर्थः अभूत् आसीत्। क्षणिकमिवेति पाठः समीचीनः ॥ २७५ ॥

स एव मानान्तरे सङ्कीर्णो यथा—

अणुणीअ खणलद्धसुहे पुणोवि सम्भरिअमण्णुदूणविहले।
हिअए माणवईणं चिरेण पणअगरुओ पसप्पइ रोसो ॥२७६॥

अत्रावस्थिता प्रकृष्टा च रतिर्व्यलीकस्मरणादिभिः सङ्कीर्य्यते ॥

उसी अर्थात् संभोग ही के मानानन्तर की दशा में संकीर्ण का उदाहरण—

अनुनय करके एक क्षण प्रसन्नता प्राप्त कराये गये तथा फिर बाद में भर गये दुःख से सन्तप्त होने के कारण विकल मानिनियों के हृदय में बहुत काल के बाद प्रेम जनित कोप शान्त होता है, अथवा ('पसप्पइ' पाठ होने पर) बहुत समय तक प्रेम के कारण प्रवृद्ध रोष बढ़ता ही रहता है ॥ २७६ ॥

यहाँ अवस्थित तथा प्रकृष्ट प्रेम व्यलीकों—वञ्चनाओं—की स्मृति आदि से संकीर्ण हो रहा है।

स्व० द०—यहाँ संकीर्णता का उदाहरण होने से 'पसप्पइ'—प्रसर्पति के स्थान पर 'पसम्मई'—प्रशाम्यति—पाठ अधिक युक्त है।

अनुनीय क्षणलब्धसुखे पुनरपि सम्भरितमन्युदूनविह्वले।
हृदये मानवतीनां चिरेण प्रणयगुरुः प्रसर्पति रोषः ॥

अनुनीयेति। अनुनीय प्रसाद्य क्षणेन लब्धं जनितमित्यर्थः सुखं यस्य तथोक्ते कान्तप्रसादानन्तरं क्षणिकसन्तोषवतीत्यर्थः पुनरपि सम्भरितेन सम्यक् प्रपूरितेन मन्युना दुःखेन दूनं सन्तप्तम् अतएव विह्वलं विवशं तस्मिन् मानवतीनां मानिनीनां हृदये चिरेण दीर्घकालेन प्रणयेन गुरुः महान् रोषः कोपः प्रसरति प्रवर्त्तते ॥ २७६ ॥

प्रवासानन्तरे सम्पूर्णो यथा—

शापान्तो मे भुजगशयनादुत्थिते शार्ङ्गपाणौ
मासानेतान् गमय चतुरो लोचने मीलयित्वा ।
पश्चादावां विरहगुणितं तं तमात्माभिलाषं
निर्वेक्ष्यावः परिणतशरच्चन्द्रिकासु क्षपासु ॥ २७७ ॥

अत्र अमुना विरहिवाक्येनापि निर्वेक्ष्याव इति भविष्यत्कालोपाधेः प्रवासानन्तरेऽप्यविरुध्यमानेन तं तम् आत्माभिलाषमित्यादिना तदानीन्तनभोगस्य सम्पूर्णत्वं वर्ण्यते ॥

प्रवासानन्तर संभोग में सम्पूर्णता का उदाहरण—

(अर्थ के लिये द्रष्टव्य २।३७)

यहाँ इसके विरह वाक्य होने पर भी 'निर्वेक्ष्यावः—' 'हम पूरी तरह से देखेगें—इस भविष्यत् काल में होने वाली उपाधि के प्रवासानन्तर सम्भोग में भी बाधित न होने वाले 'तं तं आत्माभिलाषम्'—अपनी उन उन आकांक्षाओं को—आदि शब्दों द्वारा उस समय होने वाले भोग की सम्पूर्णता का वर्णन होता हैं ।

शापान्त इति । प्राग् व्याख्यातम् ॥ २७७ ॥

करुणानन्तरे समृद्धो यथा—

तीर्थे तोयव्यतिकरभवे जह्नुकन्यासरय्यो-
र्देहत्यागादमरगणनालेख्यमासाद्य सद्यः ।
पूर्वाकाराधिकतररुचा सङ्गतः कान्तयाऽसौ
लीलागारेष्वरमत पुनर्नन्दनाभ्यन्तरेषु ॥ २७८ ॥

अत्र उत्तरार्द्धेन इन्दुमत्यजयोः लोकान्तरप्रत्युज्जीवनेन सम्भोगसमृद्धिः प्रतिपाद्यते ॥

करुणानन्तर सम्भोग में समृद्धि का उदाहरण—

इस गंगा तथा सरयू के जल के मिलने के कारण सङ्गम पर बन गये तीर्थ में शरीर का त्याग करने से तत्काल ही देवताओं के गणना-क्रम में उल्लिखित होकर पहले के आकार से भी उत्कृष्ट कान्ति वाली प्रियतमा से मिलकर अज ने फिर से नन्दनवन में केलिगृहों में भोग करना प्रारम्भ कर दिया ॥ २७८ ॥

यहाँ उत्तरार्ध के द्वारा इन्दुमती तथा अज दोनों के दूसरे लोक में पुनः जीवित हो उठने से संभोग की समृद्धि प्रतिपादित होती है ।

तीर्थे इति । असौ अजः जह्नुकन्या गङ्गा सरयूस्तदाख्या नदी तयोः तोयस्य जलस्य व्यतिकरः सम्बन्धः सङ्गम इत्यर्थः तेन भवः उत्पत्तिर्यस्य तथोक्ते गङ्गासरयूसङ्गमे इत्यर्थः तीर्थे पुण्यक्षेत्रे इत्यर्थः देहस्य त्यागः विसर्जनं तस्मात् प्राणत्यागादित्यर्थः सद्यः तत्क्षणम् अमरेषु देवेषु मध्ये गणना संख्यानं तस्या लेख्यं पत्रं देवत्वमिति भावः आसाद्य प्राप्य

पूर्वाकारात् इन्दुमतीरूपादिति यावत् अधिकतरा अधिकोज्ज्वला रुक् कान्तिः यस्याः तथाभूतया कान्तया प्रेयस्या सङ्गतः सम्मिलितः सन् नन्दनस्य देवोद्यानस्य अभ्यन्तरेषु मध्यवर्त्तिषु इत्यर्थः लीलागारेषु क्रीडामन्दिरेषु अरमत विजहार ॥ २७८ ॥

प्रथमानुरागानन्तरे सहार्थान्वयो यथा—

मुहपेच्छओ पई से सा वि हु पिअरूअदंसणुम्मत्ता ।
दो वि किअत्था पुहविअं पुरिसमहिलाणं त्ति मण्णन्ति ॥२७९॥

अत्र पूर्वार्द्धे रञ्जयत्यर्थः । उत्तरार्द्धे राजत्यर्थः । प्रथमानुरागे सह सिद्धभावेन सिद्धः तदनन्तरेऽपि तथैव अनुवर्त्तते ॥

प्रथमानुरागानन्तर दशा में 'सह' के अर्थ से सम्बद्ध संभोग का उदाहरण—

इस सुन्दरी का पति निरन्तर इसके मुख को निहारा करता है तथा यह सुन्दरी भी उसके रूप को देखकर पागल हो उठती है। अतः यही दोनो धरती के स्त्री पुरुषों के बीच अपने को परस्पर धन्य मानते हैं ॥ २७९ ॥

यहाँ पूर्वार्ध में रञ्जन (रजयति) अर्थ है तथा उत्तरार्ध में 'राजति' 'सुशोभित होना' अर्थ है। प्रथमानुराग में साथ ही सिद्धभाव से सिद्ध हो कर प्रथमानुरागानन्तर में भी उसी प्रकार से अनुवृत्त होता है।

मुखप्रेक्षकः पतिरस्याः सापि खलु प्रियरूपदर्शनोन्मत्ता ।
द्वावपि कृतार्थौ पृथिव्यां पुरुषमहिलानामिति मन्येते ॥

मुखेति। पतिः प्रियः अस्याः रमण्या मुखं प्रेक्षते इति मुखप्रेक्षकः सततं मुखप्रेक्षणसमुत्सुक इति भावः। सापि रमणी प्रियस्य कान्तस्य रूपदर्शने सौन्दर्य्यावलोकने उन्मत्ता अतीव व्यग्रेति भावः। अतः द्वावपि तौ दम्पती इत्यर्थः पृथिव्यां पुरुषमहिलानां स्त्रीपुरुषाणां मध्ये कृतार्थौ धन्यावित्यर्थः इति मन्येते स्वस्वमात्मानमिति शेषः ॥ २७९ ॥

तत्रैव पश्चादर्थान्वयो यथा—

अद्य प्रभृत्यवनताङ्गि ! तवास्मि दासः
क्रीतस्तपोभिरिति वादिनि चन्द्रमौलौ ।
अह्नाय सा नियमजं क्लममुत्ससर्ज
क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते ॥ २८० ॥

अत्र रञ्जयत्यर्थः प्रथमानुरागे पुंसि पश्चाद्भावेन सिद्धस्तदनन्तरेऽपि तथैवानुवर्त्तते ॥

वहीं अर्थात् प्रथमानुरागानन्तर में ही 'पश्चात्' के अर्थ से अन्वित संभोग का उदाहरण—

'हे झुके हुये अंगों वाली, आज से मैं तुम्हारा तपस्या के द्वारा खरीदा गया सेवक हो गया हूँ।' इस प्रकार से शिव के कहने पर पार्वती ने तत्काल तपस्या से होने वाले कष्टों को छोड़ दिया अर्थात् उनके कष्ट समाप्त हो गये, क्योंकि फल की प्राप्ति हो जाने से कष्ट पुनः एक दूसरा ही नया रूप धारण कर लेता है ॥ २८० ॥

यहाँ रञ्जनरूप अर्थ प्रथमानुराग वाले पुरुष में पश्चाद्भाव से सिद्ध हुआ था, जो उसके पश्चात् अर्थात् प्रथमानुरागानन्तर संभोग में भी उसी रूप में अनुवृत्त होता है।

अथेति। हे अवनतानि यौवनभरादिति भावः अङ्गानि यस्याः तत्सम्बुद्धिः हे अवनताङ्गि ! अद्यप्रभृति अद्यारभ्य तव तपोभिः क्रीतः दासः किङ्करः अस्मि भवामि इति एवं चन्द्रमौलौ शशिशेखरे हरे वादिनि ब्रुवति सति सा पार्वती अह्नाय झटिति तत्क्षणमित्यर्थः नियमजं तपस्याव्रतजातक्लेशम् उत्ससर्ज तत्याज। तथाहि क्लेशः फलेन फलसिद्धया इत्यर्थः पुनर्नवतां पूर्ववदक्लेशरूपत्वमिति यावत् विधत्ते जनयतीत्यर्थः। सफलक्लेशः क्लेश एव न गण्यते इति भावः ॥ २८० ॥

अत्रैव अनुरूपार्थान्वयो यथा—

शशिनमुपगतेयं कौमुदी मेघमुक्तं
जलनिधिमनुरूपं जह्नुकन्यावतीर्णा।
इति समगुणयोगप्रीतयस्तत्र पौराः
श्रवणकटु नृपाणामेकवाक्यं विवव्रुः ॥ २८१ ॥

अत्र राजत्यर्थः प्रथमानुरागे स्त्रीपुंसयोरपि आनुरूप्येण सिद्धस्तदनन्तरेऽपि तथैव अनुवर्त्तते॥

इसी संभोग में ही अनुरूप अर्थ के अन्वय का उदाहरण—

समान गुण वाले दम्पति के मिलन से प्रसन्न पुरवासियों ने वहाँ उपस्थित राजाओं को सुनने में अत्यन्त दुःख देने वाला एक वाक्य विशेष रूप से कहा कि—यह इन्दुमती अज से क्या मिली है, मानो घन निर्मुक्त चन्द्रमा को उसकी ज्योत्स्ना मिल गई है, अथवा मानो समानगुण वाले समुद्र में गङ्गा उतर पड़ी है ॥ २८१ ॥

यहाँ 'राजति'—सुशोभित होना—अर्थ प्रथमानुराग में स्त्री तथा पुरुष दोनों में अनुकूलता के साथ समान रूप से सिद्ध है, वह प्रथमानुरागानन्तर अवस्था में भी उसी प्रकार से अनुवृत्त होता है।

शशिनमिति। इयम् इन्दुमती मेघमुक्तं मेघावरणशून्यमित्यर्थः शशिनं चन्द्रम् उपगता अधिगता कौमुदी चन्द्रिका। तथा अनुरूपं स्वयोग्यं जलनिधिं सागरमवतीर्णा प्रविष्टा जह्नुकन्या गङ्गा। समो गुणो ययोः तयोः समगुणयोर्दम्पत्योरिति भावः योगात् सम्मेलनात् प्रीतिरानन्दः येषां तथाभूताः पौराः पुरवासिन इति इत्थं नृपाणां विपक्षाणां राज्ञां श्रवणकटु श्रुतिकष्टम् एकं वाक्यं विवव्रुः विशेषेण ऊचुरित्यर्थः ॥ २८१ ॥

तत्रैव अनुगतार्थान्वयो यथा—

स्थाने तपो दुश्चरमेतदर्थमपर्णया पेलवयाभितप्तम्।
या दास्यमप्यस्य लभेत नारी सा स्यात् कृतार्था किमुताङ्कशय्या ॥२८१॥

अत्र पूर्वार्द्धे रञ्जयत्यर्थः प्रथमानुगतार्थत्वेन सिद्धस्तदनन्तरे तथैवानुवर्त्तते। सोऽयं करुणसाधनः प्रत्ययोत्पत्तिपक्ष उक्तः। भावसाधनपक्षे तु सर्वत्र

सहार्थादिविशिष्टा रतिर्दीप्तिर्वा अनुरागशब्देन उच्यमाना तदनन्तरेऽपि समाससामर्थ्याद् अनुवर्त्तते। कः पुनरत्र समासः, षष्ठीलक्षणस्तत्पुरुषः। प्रथमानुरागस्य अनन्तर इति प्रथमानुरागानन्तर इति। कात्र वृत्तिः, अजहत्स्वार्था। नहि अत्र नायकौ मिथः समागतावपि प्रथमानुरागमुत्सृजतः। युक्तम्। पुनः यदजहत्स्वार्था परार्थाभिधानरूपा वृत्तिः स्यात्, अवश्यं हि अनेन परस्यार्थम् अभिदधता स्वार्थ उत्सृष्टव्यः। वाढ़ं युक्तम्। एवं हि दृश्यते लोके, भिक्षुको यद् द्वितीयां भिक्षामासाद्य पूर्वां न जहाति सञ्चयायैव यतते। एवं तर्हि द्वयोर्द्विवचनमिति, द्विवचनं प्राप्नोति। कस्या विभक्तेः, षष्ठ्याः। न षष्ठीसमर्थोऽनन्तरः। तर्हि प्रथमायाः। न प्रथमासमर्थः प्रथमानुरागः सम्बन्धाधिक्यात्। अभिहितः सोऽर्थोऽत्रान्तर्भूतः प्रातिपदिकार्थः सम्पन्न इति सामर्थ्यं भविष्यति। मैवम्। इह प्रथमानुरागानन्तरे इत्यस्मात् समुदायात् विभक्त्या उत्पत्तव्यम्। तेन चैकोऽर्थपिण्डो मृत्पिण्ड इवाविभागोत्पन्नपांसूदकविभागः अवयवार्थशक्त्या अनुगृहीतः पृथगव्यपदेश्यावयवशक्तिः अभिधीयते। तस्मिंश्च समुदायार्थे एकत्वं समवेतमतो विद्यमानायामप्यवयवसंख्यायां तदाश्रया सुबुत्पत्तिर्न भविष्यति॥ २८२॥

यहीं पर अनुगत रूप अर्थ का अन्वय होने पर संभोग का उदाहरण—

अत्यन्त कोमलांगी अपर्णा ने जो इनके लिये कठोर तपस्या की वह उचित ही थी, क्योंकि जो स्त्री इनकी दासता भर पा जाये वही धन्य होती है, फिर गोदी में सो पाने वाली की बात ही क्या?॥ २८२॥

यहाँ पूर्वार्ध में रजन रूप अर्थ पहले ही अर्थ में अनुगत होने के कारण सिद्ध है और उसी रूप में आगे भी अनुवृत्त होता है। उक्त लक्षणो से समन्वित यह करण रूप साधन प्रत्यय की उत्पत्ति के पक्ष में कहा गया। भाव साधन के पक्ष में तो सभी स्थानो पर 'सह'—अर्थ आदि से विशिष्ट रति अथवा दीप्ति अनुराग शब्द से कही जाती हुई तदनन्तर-अनुरागानन्तर-दशा में भी समास की सामर्थ्य से अनुवृत्त हो रही है। 'फिर यहाँ समास कौन सा है?' 'षष्ठी का लक्षण वाला तत्पुरुष है। (जिसका विग्रह है)—प्रथमानुराग के अनन्तर ही प्रथमानुरागानन्तर है।' (यहाँ) शब्द शक्ति कौन सी है? (वृत्ति है) 'अजहत्स्वार्था, (क्योंकि) इसमें नायक तथा नायिका दोनों परस्पर मिलने पर भी प्रथमानुराग का परित्याग नहीं करते हैं।' ठीक है, परार्थ की अभिधान रूपिणी अजहत्स्वार्थावृत्ति भले ही हो, फिर भी दूसरे के अर्थ का अभिधान करते हुये इसे अपना अर्थ तो अवश्य ही छोड़ देना चाहिये।' बिल्कुल ठीक है। ऐसा लोक में देखा जाता है कि भिखारी दूसरी भिक्षा को पाकर पहली भिक्षा का परित्याग नही कर देता है, अपितु वह संचय करने का प्रयास करता है। तो इसी प्रकार 'द्वयोर्द्विवचनम्'—के अनुसार द्विवचनत्व को प्राप्त करता है। किस विभक्ति की (द्विवचनता को प्राप्त करता है? 'षष्ठी के।' (किन्तु) अनन्तर तो षष्ठीविभक्ति में समर्थ नहीं है। तो फिर प्रथमा विभक्ति (का समझ लीजिये)।' 'प्रथमानुराग सम्बन्ध के आधिक्य से प्रथमा में समर्थ नहीं है।' अभिधा से कहा गया वह अर्थ

यहाँ अन्तर्भूत होकर (अथवा 'अनन्तर्भूतः पाठ होने पर—अन्तर्भूत न होने से) प्रातिपदिकार्थ हो जाता है। इस प्रकार सामर्थ्य हो जाती है।' 'ऐसा मत कहिये' प्रथमानुरागानन्तर' इस (पद) समुदाय से विभक्ति को उत्पन्न होना चाहिये। इससे एक अर्थ पिण्ड उस मिट्टी के पिण्ड की भांति जिसमें धूल तथा जलकणों का भाग अविभक्त रुप से उपस्थित होता है, अवयव रूप अर्थ की शक्ति से युक्त होकर भी पृथक् पृथक् अनभिधेय अवयव शक्ति वाला कहा जाता है।

उस समुदाय के अर्थ में एकता समवेत होती है। अतः अवयवों की संख्या विद्यमान होने पर भी उसमें आश्रित सुप् विभक्ति की उत्पत्ति नहीं होगी।

स्व० द०—यहाँ 'प्रथमानुरागानन्तर' संभोग के विषय में कई प्रश्न उपस्थित करके उनका उत्तर दिया गया है। सर्वप्रथम जिस 'राग' पद की 'घञ्' प्रत्यय लगाकर सिद्धि की गई है, उसी 'घञ्' के 'करण' तथा 'भाव' रूप अर्थों का प्रतिपादन किया गया है। यही स्पष्ट किया गया है कि संभोग राग का पालन, कौटिल्य, अभ्यवहार तथा अनुभव रूप अर्थ 'घञ्' का करणार्थक रूप लेने पर स्पष्ट होता है। इसी प्रकार संक्षिप्त, संकीर्ण, सम्पूर्ण तथा समृद्ध रूप अर्थ भी सिद्ध होता है। भाव परक अर्थ लेने पर प्रतिपाद्य रति नामक स्थायी भाव अथवा दीप्ति नाम की चित्त की अवस्था होती है। 'सह' के अर्थ का अन्वय, पश्चादर्थान्वय, अनुरूपार्थान्वय, तथा अनुगतार्थान्वय रूप अर्थ इसी भाव परक अर्थ से ग्रहण हो सकता है। जिस प्रकार प्रथमानुराग पद में 'घञ्' प्रत्यय का 'करण' तथा 'भाव' रूप अर्थ लिया जाता है, भोज प्रथमानुरागानन्तर में भी उसे समवेत मानते हैं। इसे प्रथमानुराग की भांति प्रथमानुरागानन्तर में भी स्वीकार करने से समस्या उठती है कि फिर यहाँ समास क्या होगा? यदि "प्रथमानुरागश्च अनन्तरश्च" अथवा "प्रथमानुरागः चासौ अनन्तरः" इस प्रकार का प्रथमा विभक्तिक विग्रह किया जाये तो सम्बन्ध में अनौचित्य होता है और अभीष्ट अर्थ की सिद्धि भी नहीं हो पाती। पदों में सामर्थ्य का अभाव हो जाता है, जब कि पाणिनि ने "समर्थः पदविधिः" ॥२।१।१॥ सूत्र के द्वारा समर्थ पदों में ही पद सम्बन्धी विधियों को स्वीकार किया है। समास पद सम्बन्धी विधि है, क्योंकि पदों का ही समसन होता है, अतः यहाँ उक्त नियम की अवहेलना नहीं की जा सकती। इसके साथ ही प्रथमा विभक्ति करने पर प्रथमानुराग का सम्बन्धाधिक्य भी सूचित होता है। यह एक विशिष्ट पद है और विशिष्ट पद की वृत्ति नहीं होती है। "सविशेषाणां वृत्तिर्न, वृत्तस्य च विशेषणयोगो न" इसका प्रतिबन्धक है। इसीलिये भोज यहाँ षष्ठी विभक्तिक तत्पुरुष समास मानते हैं जिसका विग्रह होगा—"प्रथमानुरागस्य अनन्तरः प्रथमानुरागानन्तरः"।

यह समास स्वीकार करने के बाद शब्दवृत्ति का प्रश्न उठता है। "प्रथमानुरागानन्तर" में अभिधा से तो काम चल नहीं सकता अतः वहाँ भोज अजहत्स्वार्था नाम की गौणी, अमुख्या अथवा लक्षणावृत्ति स्वीकार करते हैं। अजहत्स्वार्था तथा जहत्स्वार्था यह दो प्रकार की लक्षणा होती हैं। एक में अपने प्रातिपदिकार्थ का परित्याग बिना किये हुये दूसरे अर्थ का अभिधान किया जाता है, जब कि दूसरी में परार्थ की सिद्धि के लिये अपने अर्थ का सर्वथा परित्याग कर दिया जाता है। प्रत्यय अथवा किसी दूसरे पद का ग्रहण करके विशिष्ट अर्थ की प्रतीति परार्थाभिधान है। अजहत्स्वार्था का उदाहरण "काकेभ्यो दधि रक्षताम्" तथा जहत्स्वार्था का "गङ्गायां घोषः" अत्यन्त समीचीन है। प्रथम मे दधि के अन्य उपघातकों के साथ 'काक' का भी ग्रहण हो जाता है, जब कि 'गङ्गायां घोषः' में गङ्गा का प्रवाह रूप अर्थ समाप्त हो जाता है तथा एक भिन्न तटाख्य अर्थ प्रकट हो जाता है। इसी प्रकार 'प्रथमानुरागान्तर' पद में जहत्स्वार्था करने

पर प्रथमानुराग का अर्थ समाप्त हो जायेगा, जिससे अभीष्ट अर्थ की सिद्धि नहीं हो सकती। अतः अजहत्स्वार्था ही मानना उचित हैं, क्योंकि जब नायक और नायिका का मिलन होता है, तब उनका पहले का प्रेम समाप्त नहीं हो जाता अपितु वही और भी विशिष्ट रूप में उपस्थित होता है। जिस प्रकार धूलि के कण तथा जल परस्पर मिल कर एक मिट्टी के लोंदे का रूप ग्रहण कर लेते हैं और एक विशिष्ट रूप होता हैं, उसी प्रकार यहाँ भी 'प्रथमानुराग' तथा 'अनन्तर' दोनों पदों की एकपदता होती है, यद्यपि दोनों पृथक्-पृथक् पदों का समन्वय है, यद्यपि उनका एकत्व ही दर्शनीय विषय है। इन दोनों पदों में समास हो जाने से प्रथम पद स्वतन्त्र नहीं रहा, अतः 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' ॥२।४।०१॥ से उनकी पूर्व विभक्तियों का लोप हो जाता है। इसके पश्चात् अवयवभूत पदों में पृथक् सुप् आदि विभक्तियों की उत्पत्ति नहीं होती है। 'कृत्-तद्धित-समासाश्च ॥२।३।४६॥ से पूरे पद की ही प्रातिपदिक संज्ञा होती है और अन्त में एक ही विभक्ति की उत्पत्ति होती है।

अभी तक प्रथमानुरागानन्तर संभोग का विवेचन हुआ। आगे मानानन्तर के उदाहरण दिये जायेंगे।

स्थाने इति। पेलवयापि अतिकोमलयापि पार्वत्येति शेषः अपर्णया तपसि पर्णभक्षणमपि वर्जयन्त्येत्यर्थः तेन च तदाख्यया सत्या एतदर्थम् एतादृशमृत्युञ्जयरूपवरप्राप्त्यर्थमित्यर्थः दुश्चरम् अन्यैर्दुष्करमित्यर्थः तपः चान्द्रायणादिकं व्रतम् अभितप्तम् अनुष्ठितमित्यर्थः पेलवयापि तप्तमिति पाठान्तरम्। या नारी अस्य हरस्य दास्यमपि लभेत प्राप्नुयात् सा कृतार्था धन्या स्यात् अङ्कशय्यां किमुत? उत्सङ्गशय्यालाभे किं वक्तव्यमिति निष्कर्षः॥ २८२॥

मानानन्तरे पूजार्थान्वयो यथा—

न स्पृष्टोऽपि त्रिदशसरिता दूरमीर्ष्यानुबन्धात्
नाप्युत्सृष्टो भुजगपतिना तर्जनाभिः जयायाः।
मानस्यान्ते नयनसलिलैः क्षालितः शैलपुत्र्याः
पत्युर्मौलौ नतियुजि जयत्यात्मनः पादपांसुः॥ २८३॥

अत्र पादपतनादिपूजा मानसिद्धा तदनन्तरेऽप्यनुवर्त्तते॥

मानानन्तर दशा से पूजार्थान्वय का उदाहरण—

जो ईर्ष्याभाव के कारण गङ्गा के द्वारा भी न छुआ गया, तथा जया की धमकी भरी बातों से भुजङ्गराज वासुकि के द्वारा भी न पोंछा जा सका वही मान के अन्त में पार्वती के आँसुओं से धोया गया उनके पति शिव के नीचे झुके हुए मस्तक पर पड़ा हुआ अपने ही चरणों का धूलिकण सर्वोत्कृष्ट है॥ २८३॥

यहाँ चरणों पर गिरना आदि पूजा मान के कारण सिद्ध है, (वही) मानानन्तर संभोग में भी संगत होता है।

नेति। त्रिदशसरिता देवनद्या गङ्गयेत्यर्थः शिरस्थितयेति भावः ईर्ष्यानुबन्धात् सापत्न्यद्वेषसातत्यादित्यर्थः नापि नैव स्पृष्टः, भुजगपतिना शिरोवेष्टनभूतेनेति भावः

जयायाः गौरीसहचर्य्या इत्यर्थः तर्जनाभिः अङ्गुलिसङ्केतेन भर्त्सनाविशेषैः नापि उत्सृष्टः नैव गृहीत इत्यर्थः मानस्य अन्ते अवसाने शैलपुत्र्याः पार्वत्याः नयनसलिलैः नेत्राम्बुभिः क्षालितः धौतः नतियुजि पादप्रणते पत्युः हरस्य मौलौ शिरसि आत्मनः स्वस्य पादपांसुः चरणधूलिः जयति सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते ॥ २८३ ॥

अत्रैव मानं प्रति प्रियत्वाभिमानान्वयो यथा,--

विहायैतन्मानव्यसनमनयोरुच्चकुचयो-
र्विधेयः प्रेयांस्ते यदि वयमनुल्लङ्घ्यवचसः ।
सखीभ्यः स्निग्धाभ्यः शिवमिति निशम्येणनयना
निवापाम्भोदत्ते नयनसलिलैर्मानसुहृदे ॥ २८४ ॥

अत्र मानं प्रति प्रियत्वाभिमानो मानानन्तरेऽप्यनुवर्त्तते ॥

यहीं अर्थात् मानानन्तर में ही मान के प्रति प्रियत्व के अभिमानान्वय का उदाहरण—

यदि तुम हमारी बातों को मानती हो तो इस मान की आसक्ति को छोड़ कर अपने प्रियतम शिव को इन दोनों ऊँचे ऊँचे उरोजों का दास बनाओ। प्रेमपूर्ण सखियों की इस मङ्गलवाणी को सुनकर मृगनयनी गौरी ने अपने मानरूप मित्र को नेत्र के अश्रुबिन्दुओं से तिलाञ्जलि दे दी ॥ २८४ ॥

यहाँ मान के प्रति होने वाला प्रियत्वाभिमान मानानन्तर में भी अनुवृत्त होता है।

विहायेति। हे सखि ! यदि वयम् अनुल्लङ्घ्यवचसः अस्माकं वचनानि यदि न लङ्घनीयानि भवत्या इति भावः तदा एतत् मानव्यसनं मानासक्तिं विहाय परित्यज्य प्रेयान् प्रियतमः हर इत्यर्थः अनयोः उच्चकुचयोः उन्नतस्तनयोः विधेयः वशवर्त्ती विधेयः करणीय इत्यध्याहार्य्यम्। स्निग्धाभ्यः प्रणयवतीभ्यः सखीभ्यः तन्मुखेभ्य इति भावः इति शिवं शुभं वचनमिति शेषः निशम्य आकर्ण्य एणनयना हरिणाक्षी गौरीति शेषः मानसुहृदे मित्रभूताय मानायेत्यर्थः नयनसलिलैः नेत्राम्बुभिः निवापाम्भः तर्पणजलं दत्ते ददावित्यर्थः भूतसामीप्ये लट्प्रयोगः। मानमलं तस्याजेति भावः ॥ २८४ ॥

अत्रैव प्रेमावरोधार्थान्वयो यथा,—

दूण्णन्ति जे मुहुत्तं कुविआ दासव्विअ ते पसाअन्ति ।
ते च्चिअ महिलाणं पिआ सेसा सामिच्चिअ वराआ ॥ २८५ ॥

अत्र अस्यामपि प्रेमास्ति न वेति जिज्ञासुः प्रियः प्रियां केलिगोत्रस्खलनादिना दुनोति। सा च प्रेमवती अवश्यमस्मै कुप्यति स चोपलब्धप्रेमा तद्दासवदेनां प्रसादयति। अथैषात्मनि प्रेम्णोऽस्तित्वमनुबुध्यते। सोऽयं मानसिद्धोऽर्थस्तदनन्तरेऽपि अनुवर्त्तते ॥

इसी अर्थात् मानानन्तर में ही प्रेमावरोध रूप अर्थ के अन्वय का उदाहरण—

जो एक क्षण के लिए क्रुद्ध होकर संतप्त करते हैं और सेवक की भाँति अपनी प्रेयसी को प्रसन्न करते हैं, वस्तुतः वे ही अपनी पत्नियों के प्रियतम हैं, शेष बेचारे तो केवल उनके पतिमात्र हैं ॥ २८५ ॥

यहाँ इस नायिका में भी प्रेम है अथवा नहीं, यह जानने की इच्छा से प्रियतम प्रियतमा को केलि, गोत्रस्खलन आदि के द्वारा पीड़ित करता है। वह भी प्रेमवती होने से अवश्य ही इस पर क्रुद्ध होती है और वह भी प्रेम प्राप्त करके उसके सेवक की भांति उन्हें प्रसन्न करता है। इसके पश्चात् वह भी अपने में प्रेम का अस्तित्व समझती है। वह उक्त लक्षणों से युक्त मान में सिद्ध होने वाला अर्थ मानानन्तर में भी अनुवृत्त होता है।

दुन्वन्ति ये मुहूर्त्तं कुपिता दासवत् ते प्रसादयन्ति।
ते एव महिलानां प्रियाः शेषाः स्वामिन एव वराकाः॥

दुन्वन्तीति। ये मुहूर्त्तम् अल्पकालं कुपिताः प्रियां प्रतीति शेषः सन्तः दुन्वन्ति तप्यन्ते, ये च ते दासवत् किङ्करवत् प्रसादयन्ति प्रियामिति शेषः, ते महिलानां रमणीनां प्रियाः प्रणयिनः भवन्तीति शेषः, शेषाः वराकाः निर्बोधा इति भावः स्वामिन एव पतय एव न तु प्रणयिन इति भावः॥ २८५॥

तत्रैव प्रेमप्रमाणार्थान्वयो यथा,—

सुरकुसुमेहिं जइ कलुसिअं जइ तेहिं चिअ पुणो पसाएमि तुमं।
तो पेम्मस्स किसोअरि! अवराहस्स अ ण मे किअं अनुरुअं॥२८६॥

अत्र रुक्मिण्याः सुरकुसुममञ्जरी दत्ता मम तु सुरतरुरेव प्रेयसा प्रतिपन्नस्तदहमस्याः सहस्रगुणेन प्रियतमेति सत्यभामा स्वप्रेमाणं प्रमिमीते। स चायमर्थो मानेन सिद्धस्तदनन्तरेऽपि समाससामर्थ्यादनुवर्त्तते। कः पुनरत्र समासः? षष्ठीतत्पुरुष एव। का वृत्तिः प्रथमानुरागानन्तरवदजहत्स्वार्थैव। युक्तं तत्र, विश्रम्भणादावपि प्रथमानुरागस्य विद्यमानत्वात्। इह तु माननिवृत्तौ मानापगमादयो जायन्ते। अन्वयाद्विशेषणं भविष्यति। तद्यथा, घृतघटस्तैलघट इति। निषत्केऽपि घृते तैले वा अयं घृतघटः अयं तैलघटः इत्यन्वयात् पूर्वपदार्थो विशेषणं भवति। तत्र या च यावती वा अर्थमात्रा इहापि तत्तुल्यमेव॥

मानानन्तर में ही प्रेमप्रमाण रूप अर्थ के अन्वय का उदाहरण—

हे तनुमध्यमे सत्यभामे यदि (रुक्मिणी को) देवपुष्पों को देने से ही तुम रुष्ट हो गईं और अब यदि मैं उन्हीं पुष्पों से तुम्हें प्रसन्न करता हूँ तो यह प्रतिदान अपराध करने वाले मुझ कृष्ण के प्रेम के अनुरूप नहीं हुआ। (अतः मैं तुम्हें पारिजात वृक्ष ही दे देता हूँ)॥ २८७॥

यहाँ 'रुक्मिणी को सुरकुसुम की मञ्जरी दी गई और प्रियतम के द्वारा मुझे तो देववृक्ष ही दिया गया है, अतः मैं इससे हजारगुना अधिक प्रिय हूँ' इस प्रकार सत्यभामा अपने प्रेम को मापती है। उक्त लक्षणों वाला अर्थ मान से सिद्ध है जो मानानन्तर में भी समास की सामर्थ्य से अनुवृत्त होता है। 'फिर यहाँ समास कौन सा है?' 'षष्ठीतत्पुरुष ही है।' 'वृत्ति कौन सी है?' 'प्रथमानुरागानन्तर की भाँति अजहत्स्वार्था ही है।' 'वहाँ पर तो वह उचित है, क्योंकि प्रथमानुराग विश्रम्भण आदि में भी विद्यमान रहता है। यहाँ तो मान की निवृत्ति हो जाने पर मानापगम आदि उत्पन्न होते हैं।' 'अन्वय करने से वह पूर्ववर्ती मान विशेषण हो जायेगा।

उसका उदाहरण है, 'घी का घड़ा', 'तेल का घड़ा' आदि का प्रयोग। यहाँ घी अथवा तेल के न रहने पर भी 'यह घी का घड़ा है' 'यह तेल का घड़ा है' इस प्रकार का अन्वय होता है। ऐसा अन्वय होने के कारण पूर्व पदार्थ विशेषण हो जाता है। वहाँ पर जो या जितनी अर्थ की मात्रा होती है, यहाँ भी उसके समान ही होती है ॥ २८६ ॥

सुरकुसुमैर्यदि कलुषितं यदि तैरेव पुनः प्रसादयामि त्वाम्।
ततः प्रेम्णः कृशोदरि! अपराधस्य च न मे कृतमनुरूपम् ॥

सुरेति। हे कृशोदरि! तनुमध्ये! सत्यभामे इति शेषः यदि सुरकुसुमैः रुक्मिण्यै दत्तैरिति भावः कलुषितं कालुष्यं गतं त्वयेति शेषः अभिमानिनी जातासीति भावः। किन्तु तैरेव सुरकुसुमतरुभिरेवेति भावः यदि त्वां प्रसादयामि ततस्तदा मे मम प्रेम्णः त्वदुपरि प्रणयस्येति यावत् अपराधस्य तुभ्यमप्रदानेन रुक्मिण्यै प्रदानजनितस्य दोषस्येत्यर्थः अनुरूपं सदृशं न कृतं नानुष्ठितं भवेदिति शेषः। रुक्मिणीमपेक्ष्य त्वां प्रति मम प्रणयोऽधिकः तत् कतिपयकुसुमदानापेक्षया तत्तरुदानेन अपराधो मया क्षालितोऽपि न मां तथाप्यपराधित्वेन शङ्कमानं प्रीणातीति भावः ॥ २८६ ॥

तथा हि,—

सकअग्गाहत्तंसुण्णा मिआणणा पिअइ पिअअमविइण्णं।
त्थोअं त्थोअं रोसोसधं व माणंसिणी मइरं ॥ २८७ ॥

सकषायैरेव वाक्यैर्नायकं निस्तुदती शयनीयं गच्छेदिति मानशेषान्वयो दृश्यते ॥ २८७ ॥

जैसे कि—

छाया—सकचग्रहव्रस्तावनतानना पिबति प्रियतमवितीर्णाम्।
स्तोकं स्तोकं रोषौषधमिव मानिनी मदिराम् ॥ गा. स. ६।५० ॥]

प्रियतम के द्वारा केश पकड़ कर खींचने से नीचे मुँह किये हुई यह मानिनी नायक द्वारा दी गई मदिरा को धीरे धीरे थोड़ा थोड़ा करके रोष-निवारक औषधि के रूप में पी रही है ॥ २८७ ॥

'कटुक वाक्यों से ही नायक की निन्दा करती हुई नायिका को सेज पर जाना चाहिये' इसमें मान शेषता का अन्वय दृष्टिगोचर हो रहा है।

स्व० द०—'अपर मान' के विभिन्न अर्थों का अन्वय करके मानानन्तर के उदाहरण दिये गये हैं। उनकी वृत्तियाँ भी प्रायः स्पष्ट ही हैं। अब आगे 'प्रवास' पद के विभिन्न अर्थों की योजना करके प्रवासानन्तर संभोग के उदाहरण दिये जा रहे हैं।

सकअ इति ॥ २८७ ॥

प्रवासानन्तरे प्रिया न वसते इत्यर्थस्यान्वयो यथा,—

वसने परिधूसरे वसाना नियमक्षामतनुः धृतैकवेणिः।
अतिनिष्करुणस्य शुद्धशीला मम दीर्घं विरहज्वरं बिभर्ति ॥२८८॥

अत्र दुष्यन्तेन शकुन्तलायाः प्रवासे विभूषणाद्यग्रहणं यदवगतं तदनन्तरेऽप्यनुवर्त्तमानं प्रेम प्रकर्षाय भवति ॥ २८८ ॥

प्रवासानन्तर संभोग में प्रवास के 'प्रिया न वसते'-'प्रियतमा वस्त्र धारण नहीं करती' अर्थ के अन्वय का उदाहरण—

शुद्ध स्वभाव वाली यह शकुन्तला केवल दो मैले कुचैले वस्त्र धारण करती है। नियमों का पालन करने से शरीर से दुबली भी हो गई है। केवल एक ही चोटी भी धारण किये हैं। इस प्रकार यह मेरे जैसे अत्यन्त कठोर व्यक्ति के दीर्घ विरह का सन्ताप धारण कर रही है ॥ २८८ ॥

यहाँ दुष्यन्त ने प्रवास काल में जो शकुन्तला का भूषण आदि का ग्रहण न करना समझा है वह प्रवासानन्तर में भी अनुवृत्त होता हुआ प्रेम में प्रकर्ष उत्पन्न करता है।

वसने इति। **परिधूसरे सर्वतो मलिने वसने परिधानमुत्तरीयञ्चेति भावः वसाना परिदधाना नियमेन व्रतेन भाविभर्त्तृसौभाग्यप्रापकेनेति भावः क्षामा कृशा तनुः शरीरं यस्यास्तथोक्ताधृता। एका वेणिर्यया तथाविधा प्रोषितपतिकाया एकवेणीधरं शिर इत्युक्तनियमादिति भावः। कृतैकवेणिरिति पाठेऽपि स एवार्थः। अतएव शुद्धं पवित्रं निर्दोषमित्यर्थः। शीलं चरित्रं यस्याः तथाभूता इयं शकुन्तला अतिनिष्करुणस्य अतिनिर्दयस्य मम दीर्घं महान्तं विरह एव ज्वरः तं बिभर्त्ति धारयति भुनक्तीत्यर्थः ॥ २८८ ॥**

अत्रैव युवानः प्रियासन्निधौ न वसन्तीत्यर्थस्यान्वयो यथा,—

समर्थये यत् प्रथमं प्रियां प्रति क्षणेन तन्मे परिवर्त्ततेऽन्यथा।
अतो विनिद्रे सहसा विलोचने करोमि न स्पर्शविभावितप्रियः ॥२८९॥

अत्र पुरुरवाः प्रवासान्मत्त उर्वशीबुद्ध्या लतादिकं यद्यदाससाद तत्तदनेकशोऽन्यथा बभूव। तत्तत्संस्काराच्चायं यस्या लतारूपपरिवर्त्तनं प्रत्येति सोऽयं प्रियासन्निधौ यूनामवासः प्रवासः संसिद्धस्तदनन्तरेऽपि अनुवर्त्तते ॥ २८९ ॥

यहीं (प्रवासानन्तर में ही) प्रवास के-'युवानः प्रियासन्निधौ न वसन्ति'-युवक जब प्रियतमा के पास नहीं रहते हैं—इस अर्थ के अन्वय होने का उदाहरण—

अपनी प्रियतमा उर्वशी के विषय में मैं पहले जो सम्भावनायें करता हूँ वे नेत्र खुलते ही तत्काल दूसरे ढंग से परिवर्तित हो जाती है। इसलिये उस प्रिया के स्पर्श के सुख का अनुभव करने वाला मैं अब एकाएक अपने नेत्रों को नहीं खोलूँगा ॥ २८९ ॥

प्रवास के कारण मत्त पुरुरवा उर्वशी समझ कर लता आदि जिस किसी भी वस्तु को पा जाता था, वे वे अनेक प्रकार से दूसरी ही हो जाया करती थीं। उन उन संस्कारों के कारण उसका लता के रूप में परिवर्तन वह समझता है, इसी से यह प्रिया की सन्निधि में युवकों का न रहना पूर्णतः सिद्ध होता है और वही प्रवासानन्तर में भी अनुवृत्त होता है।

समर्थये इति। **प्रियाम् उर्वशीं प्रति प्रथमं यत् समर्थये इयमेव उर्वशीति यत् सम्भावयामीत्यर्थः तत् क्षणेन चक्षुरुन्मीलनमात्रेणेत्यर्थः मे मम अन्यथा अन्यप्रकारं परिवर्त्तते**

अन्यरूपं भवतीति भावः। अतः कारणात् इदानीमित्यध्याहार्यं स्पर्शेन विभाविता अवबुद्धा प्रिया उर्वशी येन तथाभूतः सन् सहसा विलोचने नयने विनिद्रे निर्निद्रे उन्मीलिते इति यावत् न करोमि। एवं कृते प्रियास्पर्शसुखं मे न विहन्येतेति भावः ॥ २८९ ॥

अत्रैवोत्कण्ठादिभिश्चेतो वासयतीत्यर्थस्यान्वयो यथा,--

अब्बो दुक्करआरअ पुणो वि तत्तिं करेसि गमणस्स।
अज्ज वि ण होंति सरला वेणीअ तरङ्गिणो चिउरा ॥

अत्र प्रवासोद्भूतभृशोत्कण्ठादिभिः चित्तवासना प्रवासानन्तरेऽपि तस्या नोपशाम्यतीति वेणिकावर्णनादिना सूच्यते ॥ २९० ॥

यहीं (प्रवासानन्तर में ही) प्रवास के 'उत्कण्ठादिभिश्चेतो वासयति' उत्कण्ठा आदि के द्वारा चित्त को भावित करता है—अर्थ के अन्वय का उदाहरण—

[छाया—हे दुष्करकारक पुनरपि चिन्तां करोषि गमनस्य ।
अद्यापि न भवन्ति सरला वेण्यास्तरङ्गिणश्चिकुराः ॥ गा. स. ३।७३ ॥]

हे कठोरकर्म करने वाले, तुम फिर परदेश जाने की बात सोचने लगे। अभी तो आज तक भी मेरी चोटी के तरङ्गित होने वाले केश सीधे नहीं हो पाते हैं ॥ २९० ॥

अब्बो इति ॥ २९० ॥

अत्र एव प्रमापयतीत्यर्थस्यान्वयो यथा,--

त्वद्वियोगोद्भवे चण्डि ! मया तमसि मज्जता।
दिष्ट्या प्रत्युपलब्धासि चेतनेव गतासुना ॥ २९१ ॥

अत्र उर्वशीविरहे पुरुरवा उत्तरां कामावस्थामापन्नः प्रियप्राप्तौ प्रेत्येव प्रत्युज्जीवितस्तदेवानुसन्धत्ते। सोऽयं प्रमापणार्थः प्रवासः सिद्धस्तदनन्तरेऽपि समाससामर्थ्यादनुवर्त्तते। कः पुनरत्र समासः ? षष्ठीतत्पुरुष एव। कात्र वृत्तिः ? न तावदनुत्सृष्टस्वार्था न हि प्रोयसमागतयोः प्रवाससम्बन्धोऽपि विद्यते। उत्सृष्टस्वार्था तर्हि भवतु। युक्तं पुनर्यदुत्सृष्टस्वार्था नाम वृत्तिः स्यात्। बाढं युक्तं, एवं हि दृश्यते लोके पुरुषोऽयं परकर्मणि प्रवर्तमानः स्वकर्म उत्सृजति। तद्यथा, तक्षा राजकर्मणि प्रवर्त्तमानः तक्षकर्म उत्सृजति। नन्वेवं सति राजपुरुषमानयेत्युक्ते पुरुषमात्रस्यानयनं प्राप्नोति। नैष दोषः, उत्सृजन्नथासौ स्वार्थं नात्यन्तमुत्सृजति। यः परार्थविरोधी स्वार्थंस्तमेवोत्सृजति। तद्यथा तक्षा राजकर्मणि प्रवर्त्तमानः तक्षकर्म उत्सृजति, न तु चुम्बितस्मितविहसितकम्पनादीनि। न चायमर्थः परार्थविरोधी विशेषणं नाम। तस्मात् न उत्स्रक्ष्यति ॥ २९१ ॥

यहाँ प्रवास के कारण उत्पन्न अत्यधिक उत्कण्ठा आदि के कारण चित्त की वासना हो रही है। यह नायिका के चित्त की वासना प्रवास के बाद अथवा प्रवासानन्तर सम्भोग में भी शान्त नहीं होती है। यह बात वेणी के वर्णन आदि के द्वारा सूचित की जा रही है। इसी प्रसङ्ग में 'प्रमापयति'-प्रमापण-वध-रूप अर्थ के अन्वय का उदाहरण—

हे कोपने, तुम्हारे वियोग से उत्पन्न अन्धकार में डूब रहे मेरे द्वारा तुम प्राणहीन व्यक्ति के द्वारा चेतना की भांति भाग्य से प्राप्त कर ली गई हो ॥ २९१ ॥

यहाँ उर्वशी के विरह में पुरुरवा काम की चरम अवस्था को प्राप्त हो गया है जो अपनी प्रियतमा के मिल जाने पर मानो मर कर जी उठा हो ऐसा सोचता है। यह उक्त लक्षणों वाला प्रमापण अर्थ में प्रवास सिद्ध हो रहा है जो प्रवासानन्तर में भी समास की सामर्थ्य से अनुवृत्त हो रहा है। 'यह कौन सा समास है?' 'षष्ठी तत्पुरुष ही है।' 'कौन सी वृत्ति है?' 'यहाँ तो अनुत्सृष्टस्वार्था-अपने अर्थ का परित्याग न करने वाली अर्थात् अजहत्स्वार्था-नहीं होगी, क्योंकि प्रवास के बाद मिले हुये प्रेमी तथा प्रेमिका में प्रवास का सम्बन्ध भी नहीं वर्तमान रहता है।' 'तो फिर यहाँ उत्सृष्टस्वार्था-अपने अर्थ का परित्याग कर देने वाली-जहत्स्वार्था हो। यह बात तो ठीक ही है कि यहाँ उत्सृष्टस्वार्था नाम की वृत्ति हो।' 'हाँ यह पूर्णतः समुचित है, क्योंकि लोक में ऐसा देखा जाता है कि यह पुरुष दूसरे के काम में प्रवृत्त होता हुआ अपने काम को छोड़ देता है। जिस प्रकार कि-एक बढ़ई राजा के काम में प्रवृत्त होकर बढ़ईगीरी को छोड़ देता है।' 'यदि ऐसा हो गया तब तो' 'राजपुरुषम् आनय'-राजा के आदमी को लाओ ऐसा कहने पर पुरुष मात्र का आनयन प्राप्त होता हैं। 'यह दोष नहीं है, क्योंकि यह अपने अर्थ का उत्सर्ग करते हुये भी उसका पूर्णतः परित्याग नहीं करता है। जैसे की बढ़ई राजा के काम में प्रवृत्त होता हुआ बढ़ई के काम का परित्याग करता हैं, न कि चुम्बन, स्मिति, विहसन, कम्प आदि का। यह अर्थ पदार्थ का विरोधी विशेषण भी नहीं है, अतः उसका परित्याग नहीं करेगा।

स्व० द०—यहाँ पर भोज को जहत्स्वार्था अभीष्ट है, न कि प्रथमानुरागानन्तर की भाँति अजहत्स्वार्था। वहाँ तो प्रथमानुराग का तदनन्तर में विद्यमान रहना अपेक्षित है, किन्तु प्रवासानन्तर में तो प्रवास का भाव अभीष्ट नहीं। अभीष्ट होने पर तो मिलन का आनन्द ही समाप्त हो जायेगा। वस्तुतः जहत्स्वार्था स्वीकार करने पर भी अर्थ का पूर्णतः परित्याग भी मंजूर नहीं। ऐसी दशा में वेदान्तियों की जहदजहत्स्वार्था वृत्ति-लक्षणावृत्ति का आश्रय लेना उचित होता। कुछ अर्थ का त्याग और कुछ का ज्यों का त्यों ग्रहण—दोनों भावों का सम्मिश्रण-जहदजहल्लक्षणा है। किन्तु इस तीसरी वृत्ति को स्वीकार न करने पर तो उक्त कार्य जहत्स्वार्था वृत्ति से ही संभव होगा। शेष का अर्थ प्रथमानुरागानन्तर सम्भोग के प्रकरण में देखना चाहिये। वहीं समास आदि का निरूपण किया जा चुका है।

त्वदिति। हे चण्डि! कोपने! मानिनीत्यर्थः। मया तव वियोगः विरहः तस्मात् भवः जन्म यस्य तस्मिन् तमसि अन्धकारे दुःखरूपे इति भावः मज्जता निपतता मया गतासुना विगतजीवितेनेत्यर्थः जनेन चेतनेन चैतन्यमिव दिष्ट्या भाग्येन प्रत्युपलब्धासि पुनः प्राप्तासि ॥ २९१ ॥

करुणानन्तरेऽनुभूतप्रादुर्भावार्थान्वयार्थो यथा,—

जयन्ति जायाश्लिष्टस्य शम्भोरम्भोधिमन्थने ।
मग्नामृतविषास्वादमदमूर्च्छामनोमुदः ॥ २९२ ॥

दाक्षायण्या हैमवतीत्वेन करुणानन्तरत्वम् । तत्र करुणदुःखेन मूर्च्छादयः प्रादुरासन्, इह तु आनन्देन ते प्रादुर्भवन्ति ॥ २९२ ॥

करुणानन्तर संभोग में (करुण के अर्थ) अनुभूत के प्रादुर्भाव रूप अर्थ के अन्वय का उदाहरण—

अपनी प्रियतमा गौरी से आलिङ्गित भगवान् शिव की समुद्रमन्थन के अवसर पर चित्त को आनन्दित करने वाली, अमृत को भी अपने में लीन कर लेने वाले कालकूट हलाहल के पान से उत्पन्न विकार विशेष तथा मूर्च्छायें सर्वोत्कृष्ट हैं ॥ २९२ ॥

यहाँ दाक्षायणी-दक्ष प्रजापति की पुत्री-के हैमवती-हिमवान्-हिमालय पर्वत की पुत्री-के रूप में आ जाने से करुणानन्तरता सिद्ध होती है। वहाँ (पहले तो) शोक तथा दुःख के कारण मूर्च्छा आदि उत्पन्न हुई थीं, और यहाँ पर तो ये आनन्द के कारण ही उत्पन्न हो रही हैं।

जयन्तीति । जायया कान्तया गौर्य्येति भावः आश्लिष्टस्य आलिङ्गितस्य शम्भोः हरस्य अम्भोधिमन्थने समुद्रविलोडनकाले मनोमुदः चित्तानन्दकराः मग्नम् अमृतं यत्र तादृशम् अमृतेनापि अप्रतिकार्य्यमिति भावः यत् विषं कालकूटं तस्य आस्वादेन पानेन यो मदः विकारविशेषः तेन मूर्च्छाः मोहा जयन्ति सर्वोत्कर्षेण वर्त्तन्ते ॥ २९२ ॥

तत्रैव उच्चारणान्वयार्थो यथा,—

क्लाम्यन्ती यदुपेक्षितासि पुरतः कामो यदग्रे हतः
क्लिष्टं यत्तपसा वपुर्यदपि च प्रोक्ता वटुच्छद्मना ।
तत्सर्वं प्रणतस्य मेऽद्य दयिते दाक्षायणि ! क्षम्यता-
मित्युक्ता चरणाब्जयोर्विजयते तुष्यंश्छिवायाः शिवः ॥ १९३ ॥

अत्र करुणावस्थायां प्रियापादाब्जयोर्लुण्ठता शोकेन यो विलापः कृतः स इह प्रकर्षालापत्वेन परिणमति ॥ २९३ ॥

करुणानन्तर में ही (करुण के) उच्चारण रूप अर्थ का अन्वय होने का उदाहरण—

हे प्रियतमे, दाक्षायणि, पहले क्लान्ति का अनुभव करती हुई भी तुम जो मेरे द्वारा उपेक्षित की गई, तुम्हारे सामने ही जो मैंने कामदेव को समाप्त किया, तपस्या से तुमने जो अपने शरीर को कष्ट दिया, और जो कुछ भी मैंने ब्रह्मचारी के वेष में तुमको कहा, वह सब कुछ आज तुम मुझे क्षमा कर दो, मैं तुम्हारे पाँव पड़ता हूँ, ऐसा कह कर पार्वती के चरणकमलों में (पड़कर) सन्तोष का अनुभव करते हुये शिव सर्वोत्कृष्ट हैं ॥ २९३ ॥

यहाँ पर करुण अवस्था में प्रियतमा के चरणकमलों में लोट कर शोक के कारण जो विलाप किया गया वही इस प्रसंग में प्रकृष्ट आलाप के रूप में परिणत हो रहा है।

क्लाम्यन्तीति । हे दयिते ! प्रिये ! दाक्षायणि ! प्राग् दाक्षायणीरूपायां देव्यां गाढानु-

रागेण इह पार्वतीरूपायामपि तस्यां तथात्वेन सम्बुद्धिरिति बोध्यम् । पुरतः प्राक् क्ष्माम्यन्ती मत्प्राप्तौ यतमानेत्यर्थः उपेक्षिता अवमता आसीदिति यत्, अग्रे समक्षं कामः मदनः हतः भस्मीकृत इति यत् तपसा दुश्चरेण व्रतेनेत्यर्थः वपुः शरीरं क्लिष्टम् इति यत्, वटुछद्मना ब्रह्मचारिछलेन यद्यपि प्रोक्ता कथितासि च, अद्य इदानीमित्यर्थः प्रणतस्य चरणानतस्य मे मम तत्सर्वं दुष्कृतमिति भावः क्षम्यतां क्षमागुणेन सह्यतामित्यर्थः इति उक्त्वा शिवायाः गौर्य्याः चरणाब्जयोः पादपद्मयोः निपतित इति शेषः तुष्यन् प्रसादं गच्छन् शिवः विजयते सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते ॥ २९३ ॥

अत्रैव मनोऽवस्थापनान्वयार्थो यथा,--

अखण्डितं प्रेम लभस्व पत्युरित्युच्यते ताभिरुमा स्म नम्रा ।
तया तु तस्यार्द्धशरीरलाभादधः कृताः स्निग्धजनाशिषोऽपि ॥२९४॥

अत्रैव,

यदैव पूर्वं ज्वलने शरीरं सा दक्षरोषात् सुदती ससर्ज ।
ततः प्रभृत्येव विमुक्तसङ्गः पतिः पशूनामपरिग्रहोऽभूत् ॥२९५॥

इति करुणावस्थायामतिस्नेहेन अपरिग्रहत्वसाहसे यन्मनोऽवस्थापितं तदिहार्द्धशरीरप्रदानमहासाहसमेवावतिष्ठते ॥ २९४-२९५॥

यहीं पर मन को अवस्थापित करने रूप अर्थ के अन्वय का उदाहरण—प्रणाम करने के लिये झुकी हुई उमा को उन बड़ी बूढ़ी स्त्रियों ने यह आशीर्वाद दिया था कि 'तुम अपने पति का अविच्छिन्न प्रेम प्राप्त करो।' किन्तु उसने तो अपने पतिदेव का आधा शरीर ही पाकर अपने प्रिय जनों के आशीर्वाद को भी दबा दिया ॥ २९४ ॥

यहीं पर—

पहले जिस समय दक्ष प्रजापति के प्रति क्रोध के कारण सुन्दर दाँतों वाली पार्वती ने अपनी देह को (योग की) अग्नि में झोंक दिया, उसी समय से ही विषयों को आसक्ति छोड़ कर भगवान् शिव भी पत्नी रहित ही जीवन व्यतीत करने लगे ॥ २९४ ॥

इस प्रकार की करुणामयी दशा में अत्यन्त प्रेम के कारण अविवाह रूप साहसपूर्ण कर्म में (शिव के द्वारा) जो मन अवस्थित किया गया, वह वहाँ आधे शरीर के दान रूप महासाहस कर्म में ही अवस्थित हो रहा है।

अखण्डितमिति । ताभिः पुरन्ध्रीभिः नम्रा प्रणता उमा पत्युः स्वामिनः अखण्डितम् अविच्छिन्नमित्यर्थः प्रेम लभस्व प्राप्नुहि इति उच्यते स्म इत्थमाशिषा संवर्द्धितेति भावः । तया उमया तु तस्य पत्युः अर्द्धशरीरलाभात् अर्द्धाङ्गप्राप्तेः स्निग्धानां स्नेहवतां जनानाम् आशिषोऽपि अखण्डितं प्रेम लभस्वेत्युक्तरूपा इति भावः । अधःकृताः लघूकृता इति यावत् ततोऽप्यधिकलाभादिति भावः । अर्द्धशरीरलाभादधःकृता इत्यत्र अर्द्धशरीरभाजा पश्चात् कृता इति पाठान्तरम् ॥ २९४ ॥

यदैवेति । पूर्वं प्राक् यदैव यस्मिन्नेव काले सुदती चारुदर्शना सा देवी दक्षरोषात् दक्षं पितरं प्रति कोपात् पतिनिन्दाजनितादिति भावः ज्वलने अग्नौ योगरूपे इति शेषः शरीरं

ससर्ज तत्याजेत्यर्थः। ततः प्रभृत्येव तत आरभ्यैव पशूनां पतिः शम्भुः परिग्रहः पत्नी तद्रहितः अपरिग्रहः विमुक्तः त्यक्तः सङ्गः विषयेषु आसक्तिः येन तथाभूतः अभूत्। पूर्वं उवलने इत्यत्र पूर्वजनने इति पाठान्तरम् ॥ २९५ ॥

तत्रैवाभ्यञ्जनान्वयार्थो यथा,—

भिन्ने सद्यः समाधावुपरमति परज्योतिषि स्पन्दसंज्ञे।
संज्ञामापद्यमाने मृदुमनसि मनागुन्मिषत्स्विन्द्रियेषु।
व्यापारे पारवश्यं विसृजति मरुति ब्रह्मसब्रह्मचारी
वामार्द्धस्पर्शजन्मा जयति पुररिपोरन्तरानन्दपूरः ॥ २९६ ॥

वहीं पर अभ्यञ्जन-लेप-रूप अर्थ के अन्वय का उदाहरण—

तत्काल समाधि के भङ्ग हो जाने पर, 'स्पन्द' नामक परज्योति के शान्त हो जाने पर, कोमल मन के धीरे धीरे चेतना प्राप्त करने पर इन्द्रियों के भी थोड़ा थोड़ा व्यापार-विरत होने पर, जब वायु भी अपनी क्रिया में परतन्त्रता का परित्याग करने लगी उस समय ब्रह्म के आनन्द के सदृश अपने ही बायें आधे शरीर के स्पर्श से उत्पन्न होनेवाला शिव का आन्तरिक आनन्द का प्रवाह सर्वोत्कृष्ट है ॥ २९६ ॥

भिन्ने इति। सद्यः तत्क्षणं वामार्द्धभूतायाः देव्याः स्पर्शमात्रमिति भावः समाधौ एकाग्रतया परमात्मचिन्तनरूपे योगे भिन्ने भेदं गते कर्मकर्त्तरि क्तप्रत्ययः। स्पन्दते स्फुरति सर्वोपरीति भावः इति स्पन्दः चैतन्यरूप इति भावः सः संज्ञा आख्या यस्य तस्मिन् स्पन्दसंज्ञे परज्योतिषि परमतेजसि उपरमति उपरतिं गच्छति अन्तःकरणात् अपगच्छतीति शेषः। मृदु मन्दं मन्दं यथा तथा मनसि अन्तरिन्द्रिये संज्ञां चेतनां स्वव्यापाराभिमुखत्वमिति भावः आपद्यमाने प्राप्नुवतीत्यर्थः इन्द्रियेषु चक्षुरादिषु मनाक् ईषत् उन्मिषत्सु उन्मीलनं गच्छत्सु मरुति वायौ शरीरसञ्चारिणि प्राणादावित्यर्थः व्यापारे स्वकार्य्ये पारवश्यं परवशतां विसृजति त्यजति सति समाधौ कुम्भकादिना वायुनिरोधात् तत् पारवश्यमिति भावः। पुररिपोः त्रिपुरारेर्हरस्य ब्रह्मसब्रह्मचारी ब्रह्मानन्दसदृश इति यावत् वामार्द्धस्य अर्द्धांशरूपगौरीदेहस्य स्पर्शजन्मा आश्लेषजनित इति भावः अन्तरानन्दपूरः अन्तरानन्दप्रवाहः जयति सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते ॥ २९६ ॥

अत्र यत्करुणावस्थायां मनः शोकप्रकर्षेणाभ्यक्तमासीत्तदिह प्रियाश्लेषजन्मना परमानन्देनाभ्यज्यते। सोऽयं करुणधर्मसमन्वयः तदनन्तरेऽपि समाससामर्थ्याद्भवति। कः पुनरत्र समासः? षष्ठीतत्पुरुष एव। का वृत्तिः? जहत्स्वार्था। न ह्यत्र करुणार्थस्य गन्धोऽपि। कथं तर्हि अन्वयः। यथा, मल्लिकापुटश्चम्पकपुट इत्यत्र निगीर्णास्वपि सुमनःसु मल्लिकादिवासनावशाद्विशेषणं भवति—अयं मल्लिकापुटोऽयं चम्पकपुट इति। एवं निवृत्तेऽपि स्वार्थे वासनावशात्करुणोऽनन्तरस्य विशेषणं भवति। अस्तु वा प्रथमानुरागादिष्वपि जहत्स्वार्थैव वृत्तिः, नन्वेवं राजपुरुषमानयेत्युक्ते पुरुषमात्रस्य आनयनं प्राप्नोति। नैष दोषः, वृत्तौ समर्थाधिकारः क्रियते। सामर्थ्यं च भेदः संसर्ग उभयं वा। तत्र राज्ञ इत्युक्ते सर्वं स्वं प्रसक्तं, पुरुष

इत्युक्ते सर्वः स्वामी प्रसक्तः। इहेदानीं राजपुरुषमानयेत्युक्ते राजा पुरुषं निवर्त्तयति अन्येभ्यः स्वामिभ्यः, पुरुषोऽपि राजानमन्येभ्यः स्वेभ्यः। एवमस्मिन्नुभयतो व्यवच्छिन्ने यदि राजार्थो निवर्त्तते, कामं निवर्त्तताम्। न जातु क्वचित् पुरुषमात्रस्यानयनं भविष्यति। प्राक्प्रवृत्तेरकृतार्थस्य निवृत्तौ सामर्थ्याभावात् वृत्तिरेव न स्यात्, वृत्तिनिमित्ता च निवृत्तिस्तस्माददोष इति। तत्र राज्ञः पुरुष इत्यत्र यदा तावदवधृतपरायत्तवृत्तिरयं पुरुषो न स्वतन्त्रस्तदा स्वामिसंसर्गस्यावगतत्वात् स्वामिविशेषज्ञानाय उपादीयमानो राजशब्दः स्वाम्यन्तरेभ्यः पुरुषं व्यावर्त्तयति। सोऽयं स्वाम्यन्तरव्यवच्छेदो भेद उच्यते। यदा पुनरवगतपरायत्तभावस्य पुरुषस्य स्वामिसम्बन्धद्योतनाय राजशब्दः प्रयुज्यते, तदा विशेषसंसर्गश्च अभिसन्धाय उपसर्जनस्य शब्दोपादानत्वाद् अनवकाशो विशेषान्तरसंपात इत्यशब्दा स्वाम्यन्तरनिवृत्तिरवसीयते। यदा तु अर्थान्तरनिवृत्तिं स्वार्थसंसर्गश्च अभिसन्धाय उपसर्जनपदानि प्रयुज्यन्ते, तदा शब्दार्थसामर्थ्ययोः प्रतिपत्तिनिबन्धनयोः अभेदापेक्षायां भेदसंसर्गसमुदायः सामर्थ्यं भवति। यथा, नीलश्च तदुत्पलञ्चेति नीलोत्पलं, प्रथमश्चासौ अनुरागश्चेति प्रथमानुराग इति। प्रथमानुरागानन्तर इत्यादिषु च भेदसामर्थ्यं यथा राज्ञो भृत्य इति। यतोऽनन्तर इत्युक्तेऽवधृतमिदं कस्याप्यवधेः अनन्तरोऽयं न स्वतन्त्र इति सर्वोऽवधिः प्रसक्तः। प्रथमानुरागस्येत्युक्ते सर्वः सम्बन्धी प्रसक्तः। इहेदानीं प्रथमानुरागानन्तर इत्युक्ते प्रथमानुरागोऽनन्तरं निवर्त्तयति अन्येभ्योऽवधिभ्यः। अनन्तरः प्रथमानुरागं निवर्त्तयति अन्येभ्यः सम्बन्धिभ्यः। तत्र योऽसौ भेदस्तत्सामर्थ्यं तन्निमित्ता च वृत्तिः। भेदनिमित्तायाञ्च वृत्तौ सत्यां वृत्त्यभिमुखस्य भेदमुपजनय्योपसर्जनस्य प्रथमानुरागस्यार्थो निवर्त्तते। यस्यापि प्रधानस्यानन्तरस्यावधिमतो निवर्त्तते सोऽप्यवधिमवच्छिनत्ति। एवमुभयतो व्यवच्छेदे निर्ज्ञातेऽनन्तरविशेषे समुदायार्थे चान्यस्मिन् प्रादुर्भवति। यदि प्रथमानुरागाद्यर्थो निवर्तते कामं निवर्त्तताम्। न जातु क्वचिदवधिमन्मात्रस्य संप्रत्ययो भविष्यति। ननु चान्वयव्यतिरेकाभ्यां जहत्स्वार्थत्वं नोपपद्यते। तथा हि। प्रथमानुरागानन्तरे इत्युक्ते कश्चिच्छब्दः श्रूयते। प्रथमानुरागेत्यनन्तरेति च प्रतीयमानविभागोऽर्थोऽपि कश्चिदवगम्यते—कन्याविश्रम्भणादिरवधिमत्त्वञ्च। 'मानानन्तरे' इति उक्ते कश्चिच्छब्दभागो हीयते, कश्चिदुपजायते, कश्चिदन्वयी। प्रथमानुरागेति हीयते मानेत्युपजायते। अनन्तर इत्यन्वयी। अर्थोऽपि कश्चिद्धीयते कश्चित् उपजायते कश्चिदन्वयी। कन्याविश्रम्भणादिर्हीयते। मानशैथिल्यादिरुपजायते। अवधिमत्त्वमन्वयित्वेन। तेन

मन्यामहे यः शब्दभागो हीयते तस्यासावर्थः योऽर्थो हीयते । य उपजायते तस्यायमर्थः योऽर्थ उपजायते, योऽन्वयी तस्यासावर्थः योऽर्थोऽन्वयीति । मैवम् । यतोऽनन्यथासिद्धाभ्यामेव अन्वयव्यतिरेकाभ्यां शब्दार्थयोः सम्बन्धावधारणमन्यथासिद्धौ चेमौ । तथा हि यत्र वृंहितं हीयते, ह्रेषितमुपजायते, रेणुचक्रम् अन्वयि, तत्र हस्तिनो हीयन्ते, अश्वा उपजायन्ते, पिपीलिका अन्वयिन्यः । न चैतावता रेणुचक्रादिपिपीलिकाः कारणं भवन्ति । यत्र वा क्षीरं हीयते, दध्युपजायते, पात्रमन्वयि, तत्र माधुर्यं हीयते, अम्लतोपजायते, तृप्तिरन्वयिनी । न चैतावता पात्रस्य तृप्तिः कार्यं भवति । अवधृतं हि सामर्थ्यमन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रविभज्यते । यथा, लोके बधिरोऽपि चक्षुष्मानालोकयति, सत्यपि श्रोत्रे उपहतचक्षुर्नालोकयति रूपमित्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां चक्षुः श्रोत्रसन्निधाने रूपालोकनं चक्षुष एव व्यवस्थाप्यते न श्रोत्रस्य । यस्य केवलस्य योऽर्थोऽवधृतः पदार्थान्तरसन्निधानेऽपि तस्य स एव । न हि रसनमसन्निधौ दर्शनस्य मधुरादिव्यञ्जकं दर्शनसन्निधौ नीलादिव्यक्तिं प्रति सामर्थ्यं लभते । प्रथमानुरागशब्दस्य केवलस्य उत्कण्ठादिषु मानशब्दस्येर्ष्यायितादिष्वनन्तरशब्दस्य पुनरवधिमत्स्वेव सामर्थ्यमवधृतमतस्तेषां तावानेवार्थो भवति । यः पुनः पदयोरन्योन्योपश्लेषाद्विश्रम्भणादिभिः मानशैथिल्यादिभिः वा अवधिमद्विशेषोऽन्यावधिकः प्रतीयते, वाक्यार्थः स भवतीति । यदि च यथा अनपेक्षितावयवार्था वृक्षश्रोत्रियशक्रगोपादयः स्वसामर्थ्यनियतमर्थमाचक्षते तथा संघाता एवैते प्रथमानुरागानन्तरादयो राजपुरुषादयश्च अनपेक्षितावयवार्था यथासामर्थ्यम् अर्थेषु निविशन्ते । ननु च अव्यपदेश्यपूर्वापरविभागाभिन्नार्थाभिधायिनो वृक्षादयः, प्रतीयमानभागभेदानुयाताः सम्बन्धिपदार्थोपहितभेदवृत्त्यभिधायिनः पुनरिमे, तत् कथं प्रथमानुरागानन्तरादयो वृक्षादिवद्रूढिशब्दा भवितुमर्हन्ति । तदसत् । रूढिशब्दा यौगिका इति हि विभागोऽभेददर्शनाभ्यामभिनिविशतेऽभिनिविष्टबुद्धेः प्रतिपादनोपाय एव । अयथाभिनिविष्टो ह्ययं क्रमेण तस्मादपदार्थान्निवर्त्तयितव्यः । ततोऽस्याप्रत्यभिज्ञायमानप्रकृतयः श्रोत्रियक्षत्रियादयो दर्श्यन्ते । न ह्यत्र प्रकृतिरूपमवसीयते । यतः प्रकृत्यर्थावच्छिन्नः प्रत्ययार्थोऽभिधीयते, ततोऽनवसीयमानावयवविभागा रूढयः काश्चिदुपन्यस्यन्ते यत्र अत्यन्तमसम्भवोऽवयवार्थस्य यथा शक्रगोपाः, तैलपायिकाः, मण्डप इति । पुनः कदाचित् सन्निहितावयवार्था जातिविशेषाभिधायिनः सप्तपर्णकृतमालादय उदाह्रियन्ते । यतः प्रपलाशोऽप्यनुद्भिन्नपलाशोऽपि च वनस्पतिः, सप्त

पर्णान्यस्य पर्वणीति सप्तपर्ण इत्याख्यायते। तथा निष्कीर्णकुसुमस्तरुः अनारब्धकलिकाजालोऽपि कृता माला अनेनेति कृतमाल इत्यभिधीयते। अथ पञ्चाङ्गुलमिवाश्वकर्ण इव पर्णमस्येत्युपचरितार्थावयवा जातिवाचिन एव पञ्चाङ्गुलाश्वकर्णादयो वर्ण्यन्ते। तेषु हि पञ्चाङ्गुलादिव्यपदेशः प्रोद्भिद्यमानप्रवालमालमपि यावदनुवर्तते। ततः सन्निधीयमानेऽप्यनाश्रीयमाणवृत्तिपदार्थाः लोहितशालिः गौरस्वरः इत्यादयो निगद्यन्ते तत्र हि सन्नपि वर्णविशेषः समुदायस्य जातिवचनत्वाच्छब्दार्थत्वेन नावसीयते। तदेवमयं शकलीकृतवृत्तिपदार्थाभिनिवेशः प्रथमानुरागानन्तरादाविव राजपुरुषादौ अपि अवयवाभिनिवेशं शक्यते त्याजयितुम्। अतएव प्रथमानुरागादीनां विप्रलम्भसम्भोगादीनाञ्च पारिभाषिको अपि संसर्गः सन्निधीयते इति।

यहाँ जो मन करुणावस्था में शोकाधिक्य के द्वारा अभ्यक्त था, वही इस स्थल पर प्रिया के स्पर्श से उत्पन्न परम आनन्द से भी लिप्त हो रहा है। इस प्रकार यह करुणधर्म का समन्वय करुणानन्तर में भी समास के सामर्थ्य से संभव होता है। 'फिर यहाँ समास कौन सा है?' षष्ठी तत्पुरुष ही है।' 'वृत्ति कौन सी है?' 'जहत्स्वार्था है।' 'जब यहाँ करुण अर्थ की 'बू' भी नहीं है, तब उसका अन्वय कैसे होता है?' 'जिस प्रकार 'मल्लिकापुट' 'चम्पकपुट' इस उक्ति में पुष्पों का निगरण हो जाने पर भी मल्लिका आदि वासना के कारण विशेषण होते हैं (तथा इस प्रकार का अभिधान होता है) कि 'यह मल्लिका का पुट है, 'यह चम्पक का पुट है।' इसी प्रकार अपना अर्थ निकल जाने पर भी वासना के कारण करुण अनन्तर का विशेषण होता है।' अथवा प्रथमानुराग आदि में भी जहत्स्वार्था वृत्ति ही हो। इस प्रकार तो 'राजपुरुषम् आनय-ऐसा कहने पर केवल पुरुष का ही लाया जाना प्राप्त होता है।' यह दोष नहीं है, (क्योंकि) वृत्ति में समर्थ का अधिकार किया जाता है। सामर्थ्य में भेद, संसर्ग अथवा दोनों होते हैं। इसमें 'राज्ञः' इस पद को कहने पर सम्पूर्ण 'स्व' प्रसक्त हो जाता है और 'पुरुष' इस पद का उच्चारण करने पर सभी स्वामी प्रसक्त हो जाते हैं। यहाँ इस समय 'राजपुरुषं आनय' यह कहने पर 'राजा' पुरुष को अन्य स्वामियों से निवृत्त करता है, और 'पुरुष' भी राजा को अन्य अपनो से (पृथक् करता है।)

इस प्रकार इसके दोनों ओर से व्यवच्छिन्न होने पर यदि 'राजा' का अर्थ निकल जाता है, तो भले ही निकल जाये, कहीं भी केवल पुरुष का ही लाना नहीं होगा। वृत्ति के पूर्व विना अर्थ किये ही निवृत्त हो जाने से सामर्थ्य का अभाव होने से वृत्ति ही नहीं होगी। अतः वृत्ति के कारण होने वाली अर्थ की निवृत्ति दोष नहीं है। वहाँ 'राज्ञः पुरुषः' इस प्रयोग में जब दूसरे की अधीनता में कार्य करने वाला यह पुरुष है, स्वतन्त्र नहीं है, ऐसा ज्ञात होता है, तब स्वामी का संसर्ग ज्ञात होने से स्वामी विशेष के ज्ञान के लिये ग्रहण किया जा रहा 'राजा' शब्द दूसरे स्वामियों से पुरुष को अलग करता है। यही दूसरे स्वामियों से पृथकता 'भेद' कहा जाता है। फिर जब दूसरे की परतन्त्रता में रहने वाले पुरुष के स्वामी का सम्बन्ध द्योतित करने के लिये 'राजा' शब्द का प्रयोग होता है, तब विशेष संसर्ग से सम्बन्ध स्थापित कर के गौणता का शब्दतः ग्रहण होने से दूसरे विशेष की प्राप्ति का अवसर ही नहीं रहता, इस प्रकार शब्दतः विना कथन

किये भी दूसरे स्वामी की निवृत्ति ज्ञात हो जाती है। और जब दूसरे अर्थ की निवृत्ति तथा अपने अर्थ के संसर्ग को कह कर सम्बन्ध वाचक अथवा गौण पदों का प्रयोग होता है, तब शब्द तथा अर्थ दोनों ही प्रतिपत्ति के निबन्धनों की सामर्थ्यों में अभेद की अपेक्षा करने से भेद तथा संसर्ग दोनों की सम्मिलित सामर्थ्य होती है। जैसे-'नीला' तथा 'उत्पल' 'नीलोत्पल' होता है और प्रथम है जो अनुराग वह 'प्रथमानुराग' है। 'प्रथमानुरागानन्तर' इत्यादि में भी भेद सामर्थ्य है जैसे कि 'राज्ञः भृत्यः' में है। क्योंकि 'अनन्तर' इस पद को कहते ही यह ज्ञान हो जाता है कि यह किसी अवधि के पश्चात् आया है, स्वतन्त्र नहीं है, इस प्रकार सभी अवधियाँ प्रसक्त है। 'प्रथमानुरागस्य' यह कहते ही सभी सम्बन्धी गृहीत हो जाते हैं। यहाँ इस समय 'प्रथमानुरागानन्तर' यह कहते ही 'प्रथमानुराग' अन्य अवधियों से 'अनन्तर' को पृथक् कर देता है। 'अनन्तर' प्रथमानुराग को अन्य सम्बन्धियों से अलग कर देता है। वहाँ पर जो यह भेद है वही सामर्थ्य है और उसी के लिये वृत्ति है। इस भेद निमित्तक वृत्ति के होने पर वृत्ति की ओर अभिमुख का भेद उत्पन्न करके उपसर्जनभूत प्रथमानुराग का अर्थ निवृत्त हो जाता है। जिस प्रधान अनन्तर की अवधि को इससे निवृत्त करता है, वह भी अवधि को अवच्छिन्न करता है। इस प्रकार दोनों ओर से व्यवच्छेद के ज्ञात होने पर 'अनन्तर' से विशिष्ट समुदाय के अर्थ तथा दूसरे में प्रादुर्भूत होता है।

यदि 'प्रथमानुराग' आदि अर्थ अलग हो जाता है तो भले ही अलग हो जाये। कहीं भी केवल अवधिमान मात्र का संप्रत्यय नहीं होता। 'अन्वय तथा व्यतिरेक दोनों से वृत्ति की जहत्स्वार्थता नहीं सिद्ध होती। जैसे कि-'प्रथमानुरागानन्तर' इस पद के उक्त होते ही कोई शब्द सुनाई पड़ता है, साथ ही 'प्रथमानुराग' और 'अनन्तर' यह विभाग प्रतीत होता है, कोई अर्थ भी ज्ञात होता हैं—कन्याविश्रम्भण आदि तथा अवधिमत्ता। 'मानानन्तर' यह पद कहते ही कोई शब्द का भाग समाप्त होता है, कोई उत्पन्न होता है तथा कोई अन्वित करता है। वहाँ 'प्रथमानुराग' समाप्त होता है, 'मान' उत्पन्न होता है और 'अनन्तर' यह अन्वय करता हैं। इसी प्रकार अर्थ भी कोई समाप्त होता है, कोई उत्पन्न होता है तथा कोई अन्वय करता है। कन्या विश्रम्भण आदि समाप्त होता है। मान की शिथिलता आदि उत्पन्न होती हैं और अवधिमत्ता ही अन्वयी के रूप में है। इसी से हम यह मानते हैं कि जो शब्द का भाग समाप्त होता है उसका यह अर्थ है जो अर्थ समाप्त होता है, जो उत्पन्न होता है उसका अभिप्राय है जो अर्थ उत्पन्न होता है, जो अन्वयी है उसका अभिप्राय यह है, जो अन्वयी है वह अर्थ है।' 'ऐसी बात नहीं, क्योंकि अनन्यथा सिद्ध अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा ही शब्द तथाअर्थ के सम्बन्ध का निश्चय होता है। यहाँ ये दोनों अन्यथासिद्ध हैं। जैसे कि जहाँ चिग्घाड़ समाप्त होती है, हिनहिनाहट उत्पन्न होती है, और धूलि का चक्र अन्वयी है वहाँ हाथी समाप्त होते हैं, घोड़े उत्पन्न होते हैं और चीटियाँ अन्वयी हैं। इतने से ही रेणुचक्र आदि में चीटियाँ कारण होती हैं। जहाँ दूध समाप्त होता है, दही की उत्पत्ति होती है तथा बर्तन अन्वयी होता है वहाँ मधुरता समाप्त होती है, खट्टापन पैदा होता है और तृप्ति अन्वयी होती है। इतने से भी तृप्ति पात्र का कार्य नहीं होती। निश्चित किया गया सामर्थ्य ही अन्वय तथा व्यतिरेक से विभक्त होता है। जैसे, दुनिया में बहरा होने पर भी आंखों वाला व्यक्ति देख सकता है, कान के होने पर भी फूटी आंखों वाला व्यक्ति रूप का दर्शन नहीं कर पाता हैं। इस प्रकार के अन्वय व्यतिरेक के द्वारा आँख तथा कान की उपस्थिति में रूप का दर्शन आँखों में ही व्यवस्थित किया जाता है

कान में नहीं। जिस अकेले पद का जो अर्थ धारण किया जाता है, दूसरे पद की सन्निधि में भी उसका वही अर्थ होता है। ऐसा कभी नहीं होता कि रसनेन्द्रिय नेत्र की अनुपस्थिति में मधुर आदि रस का ज्ञान करायेगी और नेत्र की सन्निधि में नील आदि रूप का भी ज्ञान कराने का सामर्थ्य प्राप्त करेगी। पृथक् रूप से 'प्रथमानुराग' शब्द का उत्कण्ठा आदि के रूप में, 'मान' शब्द का ईर्ष्या आदि किये हुई के रूप में, और 'अनन्तर' शब्द का 'अवधिमान' के रूप में ही सामर्थ्य निश्चित है, अतः उनका उतना ही अर्थ होता है। और फिर जो दोनो पदों के परस्पर योग से विश्रम्भण आदि के द्वारा अथवा मानकी शिथिलता आदि के द्वारा अवधिमत् की विशेषता अन्य ही अवधिवाली प्रतीत होती है। वही वाक्य का अर्थ है। यदि जिस प्रकार अवयवों के अर्थ की अपेक्षा न रखने वाले वृक्ष, श्रोत्रिय,शक्र, गोप आदि अपने सामर्थ्य के अनुसार निश्चित अर्थ को प्रकट करते हैं उसी प्रकार एक में मिले हुये भी ये 'प्रथमानुरागानन्तर' आदि तथा 'राजपुरुष' आदि अपने अवयवों के अर्थों की अपेक्षा किये विना ही अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार अर्थों में सन्निविष्ट होते हैं।' 'जब पूर्व तथा अपर विभाग जिनका नहीं कहा जा सकता है वे वृक्ष आदि अभिन्न अर्थ का अभिधान करते हैं, और प्रतीत हो रहे भाग के भेद से अनुगत होकर सम्बन्धी पदार्थ से अपनी उपहित भेद वृत्ति का अभिधान करते हैं तब भला ये 'प्रथमानुरागानन्तर' आदिपद वृक्ष आदि की भाँति रूढि शब्द कैसे हो सकते हैं?' 'यह बात झूठी है। शब्द रूढ हैं, यौगिक हैं' आदि इस प्रकार का विभाग तो अभेद के देखने तथा न देखने के कारण अभिनिविष्ट बुद्धि के प्रतिपादन के उपाय ही हैं। यह भेद मानने वाला अमार्ग पर आग्रह किये हैं, अतः क्रमशः उसे अपथ से निवृत्त करना चाहिये। इसी से उसको श्रोत्रिय क्षत्रिय आदि पद ऐसे दिखाई पड़ते हैं जिनकी प्रकृति—मूलधातुयें—ही नहीं पहिचान में आ पाती हैं। यहाँ प्रकृति-मूलधातु-का रूप समाप्त नहीं होता है। चूँकि प्रत्यय का अर्थ धातु के अर्थ से अवच्छिन्न होकर ही अभिहित होता है, इसलिये समाप्त न हो रहे अवयव रूप विभाग वाली रूढ़ि नाम की कुछ चीजों का उपन्यास किया जाता है जिनमें अवयव का अर्थ पूर्णतः असम्भव होता है जैसे शक्रगोपा, तैलपायिका, मण्डप आदि। फिर जब कभी अवयव के अर्थों से समाविष्ट जाति विशेष का अभिधान करने वाले सप्तपर्ण, कृतमाल आदि के उदाहरण दिये जाते हैं। क्योंकि प्रपलाश खूब बढ़ा हुआ पलाश-तथा अनुद्भिन्न पलाश भी वनस्पति है, जिसकी पोर-पोर में सात-सात पत्ते होते हैं वह सप्तपर्ण कहा जाता है। उसी प्रकार खूब खिले हुये फूलों वाला भी वृक्ष है और कलीसमूह भी जिसमें नहीं निकली वह भी वृक्ष है, ऐसे ही 'बनाई गई है माला जिसके द्वारा' वह कृतमाल कहा जाता है। इसके अतिरिक्त 'पञ्चाङ्गुल' की भाँति अश्वकर्ण की भाँति है पत्ता जिसका' इस प्रकार के अवयवों के अर्थों का ग्रहण करने वाले जातिवाचक ही पञ्चाङ्गुल, अश्वकर्ण आदि वर्णित होते हैं। इनमें पञ्चाङ्गुल आदि नाम तो निकल रही कोपल समूह वालों तक में अनुवृत्त होता है। उससे सन्निहित होने पर भी वृत्ति का आश्रय न ले रहे पदार्थ लोहितशालि, गौरस्वर इत्यादि भी उक्त हो जाते हैं। वहाँ समुदाय का एक विशेष वर्ण होने पर भी जाति का निर्वचन होने से वह शब्द के अर्थ के रूप में परिणत नहीं होता। इस प्रकार का यह खण्ड-खण्ड किया गया वृत्ति पद के अर्थ का अभिनिवेश है, हठ है। 'प्रथमानुरागानन्तर' आदि की भाँति 'राजपुरुष' आदि प्रयोगों में भी अवयव का अभिनिवेश छुड़ाया जा सकता है। अतएव प्रथमानुराग आदि का तथा विप्रलम्भ-संभोग आदि का संसर्ग पारिभाषिक होने पर भी सन्निहित किया जा रहा है।

स्व० द०—ऊपर के पूरे गद्यखण्ड में प्रयुक्त प्रायः सभी पारिभाषिक पदों तथा मान्यताओं का निरूपण पहले 'प्रथमानुरागानन्तर' आदि विषयों के विवेचन के प्रसङ्ग में किया जा चुका है। यहाँ, अन्वय, व्यतिरेक, अन्यथासिद्ध, रूढ और यौगिक पदों का अर्थ समझ लेना उचित होगा। अन्वय तथा व्यतिरेक का सामान्य लक्षण क्रमशः 'यद्भावे तद्भावः' तथा 'यदभावे तदभावः' है। किसी पदार्थ अथवा कारण के होने पर किसी कार्य का होना अन्वय सम्बन्ध है, किसी पदार्थ के न होने पर किसी पदार्थ का न होना व्यतिरेक है। इनके विशेष जिज्ञासुओं को न्यायदर्शन का 'लिङ्ग-प्रकरण' देखना चाहिये। सामान्यतः अन्नम्भट्ट के शब्दों में—'यत्र धूमस्तत्राग्निर्यथा-महानसमिति अन्वयव्याप्तिः। यत्र वह्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति यथा. महाह्रद इति व्यतिरेक-व्याप्तिः।'

'अन्यथासिद्ध' अनावश्यक कारण का नाम है। अर्थात् जिसका किसी कार्य की उत्पत्ति में सहयोग तो हो सकता है किन्तु उसके न होने पर कार्य की सिद्धि होगी ही नहीं ऐसी प्रतीति नहीं होती। यह 'कार्य' का नियतपूर्ववर्ती नहीं होता। कारण के भी जनक-कुम्हार के पिता, कारण के सहायक-गधे आदि, अदृष्ट, आकाश आदि पाँच अन्यथा सिद्ध हैं। इनके विशेषज्ञान के लिये विश्वनाथ की कारिकावली भाषापरिच्छेद के साथ देखने योग्य है।

इसी प्रकार 'रूढ' और 'यौगिक' भी हैं। किसी शब्द का परम्परा से स्वीकृत किया जा रहा अर्थ रूढ है, किन्तु उसी का प्रकृति प्रत्यय विभाग करके अर्थ निकालना यौगिक अर्थ का अनुसन्धान है। कहा भी गया है—

'व्युत्पत्तिरहिताः शब्दा रूढा आखण्डलादयः'।

शब्द के निर्वचन मूलक अर्थ को यौगिक कहते हैं।

वस्तुतः शब्द के विषय में दो पक्ष व्युत्पत्तिवादी तथा अव्युत्पत्तिवादी प्रचलित हैं। अव्युत्पत्तिपक्ष के अनुसार शब्द जिसरूप में उपलब्ध होता है, वही उसका मूल रूप है, उसकी निष्पत्ति किसी धातु और प्रत्यय आदि के संयोग से नहीं हुई। जब कि व्युत्पत्तिवादी लोग किसी भी शब्द की धातु और प्रत्यय को तोड़-फोड़ कर अलग-अलग रख देते है। उदाहरणार्थ-प्रथमपक्ष में 'राम' शब्द इसी रूप में निष्पन्न माना जायेगा जब कि व्युत्पत्तिवादी 'रमु क्रीडायाम्' धातु से 'करणाधिकरणयोश्च' सूत्र से 'घ' प्रत्यय लगाकर अधिकरण अर्थ में 'रमन्ते योगिनोऽस्मिन्' इस अर्थ में सिद्ध करेंगे। यास्क प्रभृति विद्वानों ने तो 'अग्नि' जैसे पदों को 'अद्,' 'गम्' 'नी' इन तीन-तीन धातुओं से सिद्ध स्वीकार किया है।

अब आगे क्रमप्राप्त प्रकीर्णको का सोदाहरण निरूपण किया जायेगा।

प्रकीर्णकेषु—स्पृहयन्ती व्रतमष्टमीचन्द्रकः। स हि चैत्रचतुर्थीतोऽष्टमचतुर्थ्यामुपादीयमानः कामिनीभिरर्च्यते यथा –

अवसहिअजणो पइणा सलाहमाणेण एच्चिरं हसिओ।
चन्दो त्ति तुज्झ मुहदिण्णकुसुमं जातविलक्खो॥ २९७॥

प्रकीर्णकों में—कामना करने वाली स्त्रियों का व्रत 'अष्टमीचन्द्रक' कहा जाता है। चैत्र की चतुर्थी से लेकर अष्टमचतुर्थी में समाप्त होने वाला वह कामिनियों द्वारा पूजा जाता है। जैसे—

पूजित हो रहे पति के द्वारा विवश लोगों को हर लेने वाला चन्द्रमा इतनी देर तक हँसा गया कि तुम्हारे मुख के सामने पुष्प देते समय विलक्ष-लक्ष्य से दूर हो गया ॥ २९७ ॥

[छाया—अवशहृतजनः पत्या श्लाघ्यमानेनेयच्चिरं हसितः ।
चन्द्र इति तव मुखदत्तकुसुमम् जातविलक्षः ॥]

अवसहिअ इति ॥ २९७ ॥

यस्यां यवस्तरेषु अबला लोलन्ति सा कुन्दचतुर्थी, यथा—

लुलिआ गहवइधुआदिस्म व फलं जवेहिं सविसेसं ।
गिहं अणिवारिअसेवग्गेहणं चरउ च्छेत्तम्मि ॥ २९८ ॥

जिसमें स्त्रियाँ जौ की शय्या पर लोटती हैं वह कुन्द चतुर्थी होती है। जैसे—गृहस्वामी की पुत्री लोट गई है। जवों ने मानों उसे विशिष्ट फल दे दिया है। अब गोवृन्द बिना रोकटोक के ही खेत में चरें ॥ २९८ ॥

[छाया—लुलिता गृहपतिसुता दत्तमिव फलं यवैः सविशेषम् ।
इदानीमनिवारितमेव गोधनं चरतु क्षेत्रे ॥]

लुलिआ इति ॥ २९८ ॥

वसन्तावतारदिवसः सुवसन्तको यथा,—

छणपिट्ठधूसरत्थणि महुमअंतवच्छिकुवलआहरणे ।
कस्स कअ चूअमञ्जरि पुत्ति तुए मण्डिओ गामो ॥ २९९ ॥

वसन्त के अवतरण का दिन सुवसन्तक है, जैसे—
(अर्थ के लिये द्रष्टव्य ॥ स. कं. ३।३ ॥)

छणेति ॥ २९९ ॥

यत्र स्त्रियो दोलामारोहन्ति सा आन्दोलनचतुर्थी, यथा—

आन्दोलणक्खणोट्ठिआए दिट्ठे तुमम्मि मुद्धाए ।
आसङ्किज्जइ काओ करपेल्लणणिच्चला दोला ॥ ३०० ॥

जिसमें स्त्रियाँ झूले पर चढ़ती हैं वह आन्दोलन चतुर्थी है, जैसे—
जब तुम दिखाई पड़ जाते हो तब आन्दोलन के समय उठ खड़ी हुई मुग्धा सुन्दरी यह आशा करने लगती है कि तुम झूले को हाथ से पकड़ कर रोक दोगे ॥ ३०० ॥

[छाया—आन्दोलनक्षणोत्थितया दृष्टे त्वयि मुग्धया ।
आशास्यते कर्तुं करप्रेरणनिश्चला दोला ॥]

आन्दोलेति ॥ ३०० ॥

एकमेव सुकुसुमनिर्भरं शाल्मलिवृक्षमाश्रित्य सुनिमीलितकादिभिः खेलतां क्रीडा एकशाल्मली यथा,—

को एसो त्ति पलद्धं संबलिवलिअंपिअ परिक्खसइ ।
हलिअसुअं मुद्धबहू सेअजलोल्लेण हत्थेण ॥ ३०१ ॥

फूलों से लदे हुये एक ही सेमर के वृक्ष पर चढ़ कर छुपा-छुपी अथवा आँखमिचौनी आदि खेलने वालों की क्रीडा एकशाल्मली है। जैसे—

'यह भला कौन है ?' यह कह कर शाल्मली पर चढ़े हुये, पीछे मुड़ गये हलवाहे के पुत्र अपने पति को पसीने से भीगे हाथों से मुग्धावधू गिरा देती है ॥ ३०१ ॥

[छाया—क एष इति प्रत्यावर्तितं शाल्मलिवलितं प्रियं परिपातयति ।
हालिकसुतं मुग्धवधूः स्वेदजलार्द्रेण हस्तेन ॥]

को एसो इति ॥ ३०१ ॥

त्रयोदश्यां कामदेवपूजा मदनोत्सवो यथा,—

गामतरुणीओ हिअअं हरन्ति पोढाणं त्थणहरिल्लोओ ।
मअणसवम्मि कोसुम्भकञ्चुआहरणमेत्ताओ ॥ ३०२ ॥

त्रयोदशी में कामदेव की पूजा मदनोत्सव है । जैसे—

स्तनों के भार से बोझिल ये ग्रामबालायें मदनोत्सव के अवसर पर केवल कुसुम्भी रंग की चोली भर पहने हुई भी प्रौढ़ रसिकों का चित्त हर लेती हैं ॥ ३०२ ॥

[छाया—ग्रामतरुण्यो हृदयं हरन्ति प्रौढानां स्तनभारवत्यः ।
मदनोत्सवे कौसुम्भकञ्चुकाभरणमात्राः ॥]

गामतरुणीति ॥ ३०२ ॥

गन्धोदकपूर्णवंशनाडीशृङ्गकादिभिः यूनां प्रियजनाभिषेककर्दमेन क्रीडा उदकक्ष्वेडिका यथा,—

अहं धाविऊण सङ्गमएण सव्वङ्गिअं पडिच्छन्ति ।
फग्गुमहे तरुणीओ गहवइसुअहत्थ चिक्खल्लं ॥ ३०३ ॥

सुगन्धित जल से भरी हुई बाँस की नली, पिचकारी आदि से युवकों का प्रियजनों को भिगो देने वाले कीचड़ से खेलना उदक क्ष्वेडिका है, जैसे—

इसके पश्चात् सन्ध्याकालीन मद के साथ दौड़ कर फल्गुमह नामक उत्सव में तरुणियाँ सारे शरीर में गृहस्वामी के पुत्र के हाथ से कीचड़ लगाने की प्रतीक्षा करती हैं ॥ ३०३ ॥

[छाया—अथ धावित्वा संध्यामदेन सर्वाङ्गिकं प्रतीक्षन्ते ।
फल्गुमहे तरुण्यो गृहपतिसुतहस्तकर्दमम् ॥]

अहं धावीति ॥ ३०३ ॥

यत्रोत्तमस्त्रियः यदाभिघातेनाशोकं विकाश्य तत् कुसुमवतंसयन्ति सा अशोकोत्तंसिका यथा,—

उत्तंसिऊण दोहलविअसिआसोअमिन्दुवअणाए ।
विरहिणो णिप्फलकंकेल्लिकरणसद्दो समुप्पुसिओ ॥ ३०४ ॥

जहाँ उत्तमकोटि की स्त्रियाँ चरणप्रहार करके अशोक को प्रफुल्लित करती हैं और उसके फूलों से अपने को विभूषित करती है, वह अशोकोत्तंसिका है, जैसे—

उस चन्द्रमुखी के द्वारा पादाघात से विकसित अशोक पुष्प को आभूषण के रूप में धारण करके विधाता के कंकोल को निष्फल बनाने का कलङ्क पोंछ दिया गया ॥ ३०४ ॥

[छाया—उत्तंसयित्वा दोहदविकासिताशोकमिन्दुवदनया ।
विधेर्निष्फलकंकोलकरणशब्दः समुत्प्रोञ्छितः ॥]

उत्तंसि उण इति ॥ ३०४ ॥

यत्र अङ्गनाभिश्चूतमञ्जर्य्योऽवरुज्य अनङ्गाय बालरागत्वेनैव दायं दायमवतंस्यन्ते सा चूतभञ्जिका यथा,—

रइअं पि ताणं सोहइ रइजोग्गं कामिणीणवच्छम् ।
कण्णे जाव ण रज्जइ कवोलघोणन्तपल्लवसहआरम् ॥ ३०५ ॥

जिसमें सुन्दरियों द्वारा आम्रमञ्जरियाँ तोड़ कर कामदेव को प्रथम राग के रूप में दे दे कर आभूषण बनायी जाती हैं, वह चूतभञ्जिका है । जैसे—

कामिनियों के द्वारा सुरति काल के योग्य किये गये समस्त अलंकरण के कृत्य किये जाने पर भी तब तक पूर्ण शोभित नहीं होते जब तक कि गालों पर लटक रही आम्रमञ्जरी कानों में नहीं रच ली जाती ॥ ३०५ ॥

[छाया—रचितमपि तावन्न शोभते रतियोग्यं कामिनीनां क्षणनेपथ्यम् ।
कर्णे यावन्न रच्यते कपोलघूर्णमानसहकारम् ॥]

रइअं इति ॥ ३०५ ॥

यत्र युवतयो मदिरागण्डूषदोहदेन बकुलं विकाश्य तत्पुष्पाणि अवचिन्वन्ति सा पुष्पावचायिका यथा,—

पीणत्थणए सुकेसरदोहलंदाणुम्मुहीअ णिवलन्तो ।
तुङ्गसिहरग्गापडणस्स जं फलं तं तए पत्तम् ॥ ३०६ ॥

जिसमें युवतियाँ मधु के कुल्ले से बकुल पुष्प को विकसित करके उसके पुष्पों को चुनती हैं, वह पुष्पावचायिका है । जैसे—

हे केसर, दोहददान के लिये उन्मुख इस सुन्दरी के पृथुल उरोजों पर पड़ कर वह फल तुमने पा लिया जो किसी ऊँचे शिखर के अग्रभाग से गिरने वाले का होता है । अर्थात् जिस प्रकार किसी ऊँचे शिखर से गिरा हुआ व्यक्ति चूर-चूर हो जाता है, उसी प्रकार इसके ऊँचे स्तनों से गिर कर तुम भी चूर-चूर हो गये ॥ ३०६ ॥

[छाया—पीनस्तनेषु केसर ! दोहददानोन्मुख्या निपतन् ।
तुङ्गशिखराग्रपतनस्य यत्फलं तत्त्वया प्राप्तम् ॥]

स्व० द०—गर्भवती स्त्रियों की इच्छा की पूर्ति करना दोहद कहा जाता है । इसी प्रकार कुछ वृक्षविशेष होते हैं, जिनके साथ रमणियों के विविध संसर्गों एवं कृत्यों के होने से, उनमें

फूल खिल उठते हैं। उनके विषय में सुन्दरियों के कृत्य भी दोहद कहे जाते हैं। वृक्षों के दोहद के विषय में कवियों की ये रूढ़ियाँ है—

स्त्रीणां स्पर्शात्प्रियङ्गुर्विकसति बकुलः सीधुगण्डूषसेकात्
पादाघातादशोकस्तिलककुरवकौ वीक्षणालिङ्गनाभ्याम्।
मन्दारो नर्मवाक्यात् पटुमधुहसनात् चम्पको वक्त्रवातात्
चूतो गीतान्नमेरुर्विकसति च पुरो नर्तनात् कर्णिकारः॥]

पीणत्थणए इति॥ ३०६॥

यत्र कस्ते प्रियतम इति पृच्छद्भिः पलाशादिनवलताभिः प्रियो जनो हन्यते सा चूतलतिका यथा,—

णवलआपहरम् अङ्गे जहिं जहिं महइ देअरो दाउम्।
रोमञ्चदण्डराइ तहिं तहिं दीसइ वहुए॥ ३०७॥

जहाँ 'कौन है तुम्हारा प्रियतम' इस प्रकार पूँछते हुये पुरुषों के द्वारा पलाश आदि की नई लताओं से अपने प्रिय जन पीटे जाते हैं, वह चूतलतिका है। जैसे—

वधू के जिन-जिन अङ्गों पर देवर नवीन लता से प्रहार करना चाहता है, उसके उन-उन अङ्गों में रोमाञ्च की कण्टकराजि दिखाई पड़ती है॥ ३०७॥

[छाया—नवलताप्रहारमङ्गे यत्र यत्रेच्छति देवरो दातुम्।
रोमाञ्चदण्डराजिस्तत्र तत्र दृश्यते वध्वाः॥] गा० स० १।२८॥

णवलअ इति॥ ३०७॥

पश्चात्मानुनयन्ती भूतमातृका यथा,—

विहलइ से णेवच्छं पम्माअइ मण्डणं गई खलइ।
भूअच्छणणच्चणम्मि सुहअ माणं पुलोएसु॥ ३०८॥

पश्चात्मा का अनुनय करती हुई भूतमातृका है, जैसे—

हे सुन्दर, तुम इस सुन्दरी को भूतोत्सव के नृत्य के समय मत देखना, क्योंकि उस समये इसके वस्त्र ढीले पड़ने लगते हैं, इसकी भूषा म्लान पड़ने लगती है और चाल लड़खड़ाने लगती है॥ ३०८॥

[छाया—विह्वलयत्यस्या नेपथ्यं प्रम्लायते मण्डनं गतिः स्खलति।
भूतक्षणनृत्ये सुभग मैनां प्रलोकयेः॥]

विहलइ इति॥ ३०८॥

वर्षासु कदम्बनीपहारिद्रकादिकुसुमैः प्रहरणभूतैः द्विधा बलं विभज्य कामिनीनां क्रीडा कदम्बयुद्धानि यथा,—

सहिआहिं पिअविसज्जिअकलम्बरअभरिअणिअम्भरुच्छूओ।
दीसइ कलम्बत्थवओ व्व त्थणहरो हलिअसोण्हाए॥ ३०९॥

वर्षा के दिनों में कदम्ब, नीप, हारिद्रक आदि के पुष्पों को मारने का साधन बनाकर अपने समूह को दो भागों में विभक्त करके स्त्रियों का खेल 'कदम्बयुद्ध' है। जैसे—

सखियों के द्वारा प्रियतम के दिये गये कदम्ब के पराग से भर दिये जाने के कारण इस हलवाहे की पतोहू का फूल गया उरोज-विस्तार कदम्बपुष्प के गुच्छक सा दिखलाई पड़ता है ॥ ३०९ ॥

सहिआहि इति ॥ ३०९ ॥

प्रथमवर्षणप्ररूढनवतृणाङ्कुरासु स्थलीषु शाद्वलमभ्यर्च्य भुक्तपीतानां क्वचिद् विवाहादिक्रीडा नवपत्रिका ।

तत्र च वरणविधानादौ तेषामेवंविधाः परिहासा भवन्ति यथा,--

ता कुणह कालहरणं तुवरं तम्मि विवरे विवाहस्स ।
जावपण्डुणहवलाइं होन्ति कुमारीअ अङ्गाइम् ॥ ३१० ॥

पहली बरसात होने पर उगी हुई नई-नई घास की अङ्कुरों से युक्त स्थलियों पर घास की अर्चा करके पतियों के साथ रतिभोग की हुई प्रमदाओं का झूठ-मूठ विवाह आदि का खेल खेलना नवपत्रिका है। उसमें पति चुनने के अनन्तर उनमें इस प्रकार की हँसी मजाक होती है। जैसे—

विवाह के लिये वर के अतिशय जल्दी करने पर भी तुम लोग तब तक समय बिताओ जब तक कि इस कुमारी के पीले नाखूनों के अंग चिह्नों से युक्त नहीं हो जाते ॥ ३१० ॥[1]

ता कुणह इति ॥ ३१० ॥

अभिनवविसाङ्कुरोद्भेदाभिरामं सरः समाश्रित्य कामिमिथुनानां क्रीडा विसखादिका, यथा,--

गेण्हन्ति पिअअमा पिअमाणवअणाहि विसलअहाहिम् ।
हिअआइं वि कुसुमाउहवाणकआणेअरन्धाइम् ॥ ३११ ॥

नये-नये उगे हुये बिसतन्तुओं के निकलने पर सुन्दर तालाब का आश्रय लेकर कामियों के जोड़ों का खेल बिसखादिका है। जैसे—

प्रेमी जन कामदेव के बाणों से अनेकशः छिद्रित कर दिये गये हृदयों की भाँति प्रियतमाओं के मुख से आधी-आधी बिसलतायें ग्रहण कर रहे हैं ॥ ३११ ॥

छाया—गृह्णन्ति प्रियतमाः प्रियतमानां वदनाद्विसलतार्धानि ।
हृदयानीव कुसुमायुधबाणकृतानेकरन्ध्राणि ॥

गेण्हन्तीति ॥ ३११ ॥

शक्रोत्सवदिवसः शक्रार्चा यथा,--

सच्चं विअ कट्ठमओ सुरणाहो जेण हलिअधीआए ।
हत्थेहिं कमलदलकोमलेहिं छित्तो ण पल्लविओ ॥ ३१२ ॥

---

१. इस गाथा की छाया इस प्रकार है—

तावत्कुरुत कालहरणं त्वरमाणेऽपि वरे विवाहस्य ।
यावत्पाण्डुनखपदानि भवन्ति कुमार्या अङ्गानि ॥

इन्द्र के उत्सव का दिन शक्रार्चा है। जैसे—

सचमुच ही देवपति इन्द्र पूरा काठ का ही है, क्योंकि वह हलवाहे की बेटी के द्वारा कमल की पंखुड़ियों की भांति कोमल हाथों से छुआ जाने पर भी पल्लवित नहीं हुआ—रोमाञ्च नहीं आया ॥ ३१२ ॥

छाया—सत्यमेव काष्ठमयः सुरनाथो येन हालिकदुहित्रा।
हस्तैः कमलदलकोमलैः स्पृष्टो न पल्लवितः ॥

सचमिति ॥ ३१२ ॥

आश्विने पौर्णमासी कौमुदी यथा,—

अह तइ महत्थदिणे कह कह वि खलन्तमत्तजणमज्झे।
तिस्मा त्थणेसु जाओ विलेवणं कोमुईवासो ॥ ३१३ ॥

क्वारमास की पूर्णिमा कौमुदी है। जैसे—

तुम्हारे द्वारा अपने ही हाथों से लगाया गया विलेपन लड़खड़ाते हुये मदमाते लोगों के बीच उसके स्तनों पर कौमुदीवास से युक्त कैसे हो गया अथवा लड़खड़ा रहे मत्त लोगों के बीच उसके स्तनों में किसी तरह अपने ही हाथों से तुम्हारे द्वारा लगाया गया कौमुदीवास विलेपन होगया ॥ ३१३ ॥

छाया—अथ त्वया स्वहस्तदत्तः कथमिव स्खलन्मत्तजनमध्ये।
तस्याः स्तनेषु जातो विलेपनं कौमुदीवासः ॥

अह इति ॥ ३१३ ॥

दीपोत्सवो यक्षरात्रिर्यथा,—

अण्णे वि हि होन्ति छणा ण उणो दीआलिआ सरिछो दे।
जत्थ जहिच्छं गमइ पिअवसदी दीअवमिसेण ॥ ३१४ ॥

दीपोत्सव यक्षरात्रि है। जैसे—

दूसरे भी उत्सव होते हैं किन्तु वे दीपावली के समान नहीं होते। इसमें तो स्वेच्छानुसार दीपों के बहाने प्रियतमों के घर जाना सम्भव है ॥ ३१४ ॥

छाया—अन्येऽपि खलु भवन्ति क्षणा न पुनर्दीपालिकासदृक्षास्ते।
यत्र यथेच्छं गम्यते प्रियवसतिः दीपिकामिषेण ॥

अण्णे इति ॥ ३१४ ॥

शमीधान्यशूकधान्यानामार्द्राणामेवाग्निपक्वानामभ्यवहारोऽभ्युषखादिका, यथा—

अणग्गिणा करो मे दड्ढो त्ति पुणो पुणो च्चिअ कहेइ।
हालिकसुआमलिअच्छु सदोहदा पामरजुवाणो ॥ ३१५ ॥

गीले ही गीले शमीधान्य तथा शूकधान्य को आग में पकाकर खाना अभ्यूषखादिका है। जैसे—

"बुझ रही आग से मेरा हाथ जल गया" इन शब्दों को बार बार हलवाहे की बेटी उस मूर्ख युवक से कहती है और हाथों को मलमल करके उससे छोड़ती है ॥ ३१५ ॥

छाया—अनग्निना करो मे दग्ध इति पुनः पुनरेव कथयति ।
हालिकसुता मृदितोच्छ्वासदोहदिनी पामरयूनि ॥

हअणोति ॥ ३१५ ॥

प्रथमत एवेक्षुभक्षणं नवेक्षुभक्षिका, यथा,—

दिअरस्स सरअमउअंसुमइलेण देइ हत्थेण ।
पढमं हिअअं वहुआ पवट्टा गण्डं सदन्तवणम् ॥ ३१६ ॥

पहले पहल ही ईख चूसना नवेक्षुभक्षिका । जैसे—

यह नव वधू अपने देवर को आँसू से भीगे हाथ से पहले तो अपना हृदय देती है और बाद में मीठे तथा दान्त से छीले गये शरत्कालीन इक्षुदण्ड ॥ ३१६ ॥

छाया—देवरस्य शरन्मृदुकमश्रुमलिनेन ददाति हस्तेन ।
प्रथमं हृदयं वधूका पश्चादिक्षु सदन्तव्रणम् ॥

दिअरस्येति ॥ ३१६ ॥

ग्रीष्मादौ जलाशयावगाहनं तोयक्रीडा, यथा,—

पिसुणेन्ति कामिणीणं जललुक्काइआवऊहहासुहेल्लिम् ।
कण्टइअकवोला पप्फुल्लणिच्चलच्छोइ वअणाइम् ॥ ३१७ ॥

ग्रीष्म के प्रारम्भ में जलाशय में अवगाहन करना तोयक्रीडा है, जैसे—

सुन्दरियों के रोमाञ्चित कपोल, खिले तथा एकटक नयनों से समन्वित मुख जल में प्रविष्टा प्रियतम के आलिङ्गन के सुख से युक्त क्रीड़ा को प्रकट कर रहे हैं ॥ ३१७ ॥

छाया—पिशुनयन्ति कामिनीनां जलनिलीनप्रियावगूहनसुखकेलिम् ।
कण्टकितकपोलोत्फुल्लनिश्चलाक्षीणि वदनानि ॥ गा. स. ६।५८ ॥

पिशुणेन्तीति ॥ ३१७ ॥

नाथादिदर्शनं प्रेक्षा यथा,—

णच्चिहिइ णडो पेच्छिहिइ जेण पओभोइओ नायकस्स ।
विदूसिहिइ जररङ्गविहउणअरीगहवधुआणं पवच्चिहिइ ॥३१८॥

णच्चिहिइ इति ॥ ३१८ ॥

आलिङ्गनादिग्लहा दुरोदरादिक्रीडा द्यूतानि यथा,—

आश्लेषे प्रथमं क्रमेण विजिते हृष्टाधरस्यार्पणे
केलीद्यूतविधौ पणं प्रियतमे कान्तां पुनः पृच्छति ।

सान्तर्हासनिरुद्धसम्भृतरसोद्भेदस्फुरद्दन्तया
तूष्णीं सारिविसारणाय निहितः स्वेदाम्बुगर्भः करः ॥ ३१९ ॥

आलिङ्गन आदि को भी तिरस्कृत कर देने वाली जुआ आदि का खेलना द्यूत है। जैसे—द्यूतक्रीडा के समय सर्वप्रथम दाँव पर लगे हुये आलिङ्गन को जीत लेने पर जब पुनः फड़कते हुये अधरों की बाजी लगाने पर (प्रियतम ने उसे भी जीत लिया) उसके बाद 'अब तुम दाँव पर क्या लगाओगी' इस प्रकार से प्रियतमा से प्रियतम के पूँछने पर भीतर ही भीतर हँसी को छिपाये उत्पन्न कामावेश के कारण फड़क रहे कपोलों वाली प्रियतमा ने बिना कुछ बोले चाले चुपचाप ही पाँसों को चलने के लिये पसीने के जल से भीगा हुआ हाथ रख दिया ॥ ३१९ ॥

आश्लेषे इति। केलिद्यूतं क्रीडादेवनं तदेव विधिर्व्यापारः तस्मिन् प्रथमम् आश्लेषे आलिङ्गने पणत्वेन स्थापिते इति भावः विजिते विजयेन लब्धे इत्यर्थः क्रमेण हृष्टस्य प्रस्फुरत इत्यर्थः अधरस्य यद्यत्र विजीयेय तदा ते अधरं पणत्वेन स्थापितं दास्यामीति प्रतिश्रुतस्येति भावः अर्पणे दाने विजिते विजयेन लब्धे सति तद्विजयानन्तरमित्यर्थः प्रियतमे कान्ते कान्तां पुनः पणं पृच्छति जिज्ञासमाने सति सान्तर्हासम् अन्तर्हास्यसहितं यथा तथा निरुद्धः संगोपितः सम्भृतः समुत्पन्नः यः रसः मदनावेशजनित इति भावः तस्य उद्भेदेन विकासेन स्फुरन्तौ गण्डौ कपोलौ यस्याः तथाभूतया कान्तयेति शेषः सारिविसारणाय पाशकप्रक्षेपणाय स्वेदाम्बुगर्भः सत्त्वोदयात् स्वेदसलिलप्लुत इति यावत् करः पाणिः तूष्णीं निर्वचनं यथा तथा निहितः प्रहितः। अतःपरं सुरतमेव पणः स्पष्टम-प्रकटितोऽपि प्रकटित इति भावः ॥ ३१९ ॥

रागोद्दीपनाय माध्वीकादिसेवा मधुपानं यथा,—

थोआरूढमहुमआ खणपल्हदा वराअदिस्मुल्लावा।
हसिऊण संठविज्जइ पिएण संभरिअलज्जिआ कावि पिआ ॥३२०॥

प्रेम को उद्दीप्त करने के लिये माध्वी का सेवन करना मधुपान है। जैसे—

थोड़ी थोड़ी चढ़ी हुई शराब के नशे से युक्त, एक क्षण के लिये आह्लाद से भरी हुई, असङ्गत बातें जोर जोर से करती हुई किन्तु बाद में लजा गई किसी प्रियतमा को प्रियतम ने हँस कर सेज पर लिटा दिया ॥ ३२० ॥

स्व० द०—ये ऊपर उदाहरण सहित प्रकीर्णक उल्लिखित हुये। निर्णयसागर से प्रकाशित प्रति के पृ. ५६५-६ पर पादटिप्पणी के रूप में वात्स्यायन मुनि के कामशास्त्र से क्रीड़ाओं का उद्धरण दिया गया है। वहाँ इनकी संख्या तथा स्वरूप के विषय में अन्तर है। इसे ज्यों का त्यों यहाँ दिया जा रहा है—

"वात्स्यायनीये कामशास्त्रे क्रीडा द्वैविध्यं समस्या देश्याश्चेति भेदात्। तासु काश्चिद् विहाय सर्वा अपि नैताभ्यः पृथक् तत्रोल्लिखिताष्टीकाकर्त्रा व्याख्याता इत्यत्रापि तद्व्याख्यानं समुद्धृत्य विलिखामः।—समस्याः क्रीडाः आह—यक्षरात्रिः, कौमुदी, जागरः, सुवसन्तकः। यक्षरात्रिरिति सुखरात्रिः। यक्षाणां तत्र संनिधानात्। तत्र प्रायशो लोकस्य द्यूतक्रीडा। कौमुदीजागर इति आश्व-युज्यां हि पौर्णमास्यां कौमुद्याः ज्योत्स्नायाः प्रकर्षेण प्रवृत्तेः। तत्र दोलाद्यूतप्रायाः क्रीडाः। सुव-सन्तक इति। सुवसन्तो मदनोत्सवः। तत्र नृत्यगीतवाद्यप्रायाः क्रीडाः। एताः माहिमान्यः

क्रीडाः ॥ देश्या आह—सहकारभञ्जिका, अभ्यूषखादिका, बिसखादिका, नवपत्रिका, उदकक्ष्वेडिका, पाञ्चालानुयानम्, एकशाल्मली, कदम्बयुद्धानि तास्ताश्च माहिमान्यो देश्याश्च क्रीडा जनेभ्यो विशिष्टमाचरेयुः। इति संभूय क्रीडा। सहकारभञ्जिकेति। सहकारफलानां भञ्जनं यत्र क्रीडायाम्। अभ्यूषखादिका फलानां त्वटपस्थानामग्नौ प्लोषितानां खादनं यत्र। बिसखादिका बिसानां मृणालानां खादनं यत्र। सरःसमीपवासिनामित्येते द्वे क्वचित् क्वचिद् दृश्येते। नवपत्रिका प्रथमवर्षेण प्ररूढनवपत्रासु वनस्थलीषु या क्रीडा सा प्रायेणाटवीसमीपवासिनामाटविकानां च। उदकक्ष्वेडिकेति। 'वंशनाडी स्मृताक्ष्वेडा सिंहनादश्च कथ्यते' इति। उदकपूर्णा क्ष्वेडा यस्यां क्रीडायां सा मध्यदेश्यानामस्याः शृङ्गक्रीडेति प्रसिद्धिः। पाञ्चालानुयानम्—भिन्नालापचेष्टितैः पाञ्चालक्रीडा यथा मिथिलायाम्। एकशाल्मली-एकमेव महान्तं कुसुमनिर्भरं शाल्मलीवृक्षमाश्रित्य तत्रत्यकुसुमाभरणानां क्रीडा, यथा वैदर्भाणाम्। यवचतुर्थी-वैशाखशुक्लचतुर्थ्यां नायकानां परस्परं सुगन्धयवचूर्णप्रक्षेप इति पाश्चात्येषु प्रसिद्धा। आलोलचतुर्थी श्रावणशुक्लतृतीयायां हिन्दोलक्रीडा। मदनोत्सवो मदनप्रतिकृतिपूजनम्। दमनभञ्जिका परस्परं सुगन्धपुष्पविशेषावतंसनम्। होलाका'''। अशोकोत्तंसिका अशोकपुष्पैः शिरोभूषणरचना। पुष्पावचायिका पुष्पक्रीडा। चूतलतिका चूतपल्लवावतंसनम्। इक्षुभञ्जिका इक्षुखण्डमण्डनम्। कदम्बयुद्धानि कदम्बकुसुमैः प्रहरणभूतैः द्विधा बलं विभज्य युद्धानि। कदम्बग्रहणं कुसुमसुकुमारप्रहरणसूचनार्थम्। यष्टीष्टकादियुद्धानि तु न कार्याणि। यथा पौण्डाणां युद्धं क्वचित् क्वचिद् दृश्यते। तास्ताश्चेति।''' कन्दर्पचूडामणिकर्त्ता वीरभद्रोऽपि—

कुर्याच्च यक्षरात्रिं सुखरात्रिः सा च कथ्यते लोके।
ऐक्यं कोजागरया कौमुद्यास्तत्र निर्दिष्टम्॥
सुवसन्तकोऽत्र शास्त्रे भवति वसन्तस्य वासरः प्रथमः।
बिसखादिका सरस्यां बिसभुक्तिः कीर्तिता लोकैः॥
मदनार्थिताम्रकुसुमैरवतंसे चाम्रभंजिका प्रोक्ता।
अभ्यूषखादिकैवं ज्ञातव्या ग्रन्थतः परतः॥
अन्योन्यं जलसेकः पानीयक्ष्वेडिकेरिता विबुधैः।
कृत्रिमविवाहलीला कथिता नवपत्रिका तज्ज्ञैः॥
कृत्रिमपुत्रकलीला स्यादनुयानं तथा तु पाञ्चाल्याः।
शाल्मल्यामधिरुह्य क्रीडैका शाल्मली कथिता॥
युद्धं कदम्बमुकुलैः प्रविभज्य बलं परस्परं यत्र।
स्यात्तत्कदम्बयुद्धं कुर्यास्तथा लीलाः॥"

भोज ने जिसे 'शक्रार्चा' के नाम से उल्लिखित किया है, वह संभवतः भरत के नाट्यशास्त्र में प्रयुक्त जर्जरपूजा है जिसकी चर्चा 'शक्रमह' के नाम से की गई है—

'प्रयोगे प्रस्तुते ह्येवं स्फीते शक्रमहे पुनः।'' ना. शा. १।७५॥

इसके पूजन का विधान वहीं पर तृतीय अध्याय में दिया गया है।

स्तोकारूढमधुमदा क्षणप्रह्लादा वराकदत्तोल्लापा।
हसित्वा संस्थाप्यते प्रियेण संभरितलज्जिता कापि प्रिया॥

स्तोकारूढेति। स्तोकमल्पम् आरूढः सञ्जातः मधुना मदिरापानेनेति यावत् मदः विकासो विकारो वा यस्याः तथोक्ता क्षणेन प्रह्लादः प्रहर्षः मधुपानजनित इति भावः

यस्याः तादृशी वराकम् असङ्गतमिति भावः दत्तः कृतः उल्लापः उच्चैरालापः यया तथाभूता निर्लज्जतया आलपन्तीति भावः अतएव सम्भरितं सञ्चितं लज्जितं लज्जा यस्याः तथाविधा कापि प्रिया कान्ता प्रियेण कान्तेन हसित्वा संस्थाप्यते शय्यातलं नीयते इति शेषः ॥३२०॥

प्रेमप्रकारेषु विप्रियादिभिरप्यविनाशनीयो नित्यो यथा,--

दिट्ठा कुविआणुणआ पिआ सहस्सजणपेल्लणम्मि विसहिआ ।
जस्स णिसस्माइ उरे सिरीए पेम्मेण लहुअइओ अप्पाणो ॥ ३२१ ॥

प्रेमप्रकार

प्रेम के प्रकारों में जो अप्रिय कृत्य आदि के द्वारा भी विनष्ट नहीं किया जा सकता वह नित्य है। जैसे—

जिसने कोप करके अनुनीत की गई प्रियतमा को देखा है, हजारों लोगों की ललकारें भी सही हैं, जिसके हृदय पर श्री विद्यमान है उसने तो प्रेम से अपनी आत्मा को हल्का कर लिया है ॥ ३२१ ॥

छाया—दृष्टा कुपितानुनया प्रिया सहस्रजनप्रेरणमपि विसोढम् ।
यस्य निषण्णयोरसि श्रिया प्रेम्णा लघूकृत आत्मा ॥

दिट्ठा इति ॥ ३२१ ॥

तपश्चरणादिजन्मा नैमित्तिको यथा,--

इयेष सा कर्त्तुमबन्ध्यरूपतां समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः ।
अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः ॥३२२॥

तपस्या आदि से उत्पन्न होने वाला प्रेम नैमित्तिक है। जैसे—

उस पार्वती ने चित्तकी एकाग्रता का अलम्बन लेकर कठोर नियमों से अपने रूप को सफल बनाने की अभिलाषा की। नहीं तो अर्थात् उस प्रकार की तपस्या के अभाव में उस प्रकार का प्रेम तथा उस प्रकार का पति ये दोनों चीजें कैसे मिल पातीं ॥ ३२२ ॥

इयेषेति। सा पार्वती समाधिं चित्तैकाग्र्यताम् आस्थाय अवलम्ब्य प्रतिज्ञां कृत्वेति भावः तपोभिः कठोरैः व्रतैरित्यर्थः आत्मनः स्वस्य अबन्ध्यरूपतां सफलरूपतां कर्त्तुम् इयेष अभिलषितवतीत्यर्थः। अन्यथा तादृशतपश्चरणाभावे इत्यर्थः तथाविधं तादृशं येन अर्द्धाङ्गहरत्वमस्याः जातमिति भावः। प्रेम प्रणयः तादृशः मृत्युञ्जय इति भावः पतिश्च एतत् द्वयं कथं वा केन प्रकारेण वा अवाप्यते लभ्यते ? न केनापि प्रकारेणेत्यर्थः ॥३२२॥

अनिर्द्धारितविशेषः सामान्यो यथा,--

कुविआ च पसणाओ ओणामुहीओ विसमाणीओ ।
जह गहिआ तह हिअअं धारेति अणिव्वुअं बाला ॥ ३२३ ॥

जिसमें किसी प्रकार की विशिष्टता का निर्णय न हो वह सामान्य है। जैसे—

क्रुद्ध होने पर भी प्रसन्न तथा रुआँसी मुद्रा वाली होने पर भी मान की हुई रमणियाँ जैसे ही हृदय से लगा ली जाती हैं वैसे ही प्रसन्नता भी धारण कर लेती हैं ॥ ३२३ ॥

कुविआ इति ॥ ३२३ ॥

निर्द्धारितविशेषप्रकारो विशेषवान् यथा,—

ण वि तह अणालवन्ती हिअअं दूमेइ माणिणी अहिअं ।
जह दूरे वि अभिअगरूअरोसमज्जत्थभणिएइ ॥ ३२४ ॥

जिसकी एक विशिष्ट रीति निर्धारित कर दी गई है वह विशेषवान् प्रेम है। जैसे—

बातें न करती हुई मानवती उतना अधिक हृदय को कष्ट नहीं देती, जितना कि अत्यन्त दूर तक बढ़े हुये भयङ्कर रोष के बीच बातें करना ॥ ३२४ ॥[1]

ण हि इति ॥ ३२४ ॥

इङ्गितादिभिरप्यनवगम्यः प्रच्छन्नो यथा,—

दिअहे दिअहे रूसइ सङ्केअअभङ्गवड्ढिआसङ्का ।
आवण्डुरोवणमुही कलमेण समं कलमगोवी ॥ ५२५ ॥

सङ्केत आदि के द्वारा भी जो जाना नहीं जा सकता वह प्रच्छन्न है। जैसे—

(धान के पक जाने पर) संकेतभङ्ग की आशङ्का बढ़ जाने पर धान की रखवाली करने वाली बाला पक रहे धान के साथ ही साथ पाण्डुवर्ण तथा अवनतमुखी हो दिन प्रतिदिन सूखती जा रही है ॥ ३२५ ॥

छाया—दिवसे दिवसे शुष्यति संकेतकभङ्गवर्धिताशङ्का ।
आपाण्डुरावनतमुखी कलमेन समं कलमगोपी ॥

दिअहे इति ॥ ३२५ ॥

संख्यादिभिरवगतः प्रकाशो यथा,—

जइ होसि ण तस्स पिआ ता दिअहं णीसहेहि अङ्गेहिम् ।
ण वसूअ पीअपेऊसमओ पाडिव्व किं सुअसि ॥ ३२६ ॥

संख्या आदि से अवगत हो जाने वाला प्रेम 'प्रकाश' है।

यदि तुम उसकी प्रियतमा न होती तो प्रतिदिन शिथिल अङ्गों को लेकर नवप्रसूत पीयूष पीने से मस्त भैंस की पँड़िया सी क्यों सोती ? ॥ ३२६ ॥

छाया—यदि भवसि न तस्य प्रियानुदिवसं निःसहैरङ्गैः ।
नवसूतपीतपीयूषमत्तमहिषीवत्सेव किं स्वपिषि ॥ गा. स. १ । ६५ ॥

जइ इति ॥ ३२६ ॥

---

१. छाया—नापि तथा नालपन्ती हृदयं दुनोति मानिन्यधिकम् ।
यथा दूरविजृम्भितगुरुकरोषमध्यस्थभणितैः ।

कारणोपाधिकः कृत्रिमो यथा,--

अदंसणेण पुत्तअ सुट्ठु वि णेहाणुबन्धगहिआइं ।
हत्थउड़पाणिआइ वि कालेण गल्लन्ति पेम्माइं ॥ ३२७ ॥

किसी कारण से सम्पन्न होने वाला प्रेम 'कृत्रिम' है । जैसे—

हे बेटे, हाथ की अञ्जलि में विद्यमान जल जिस प्रकार समय पाकर बह जाता है, उसी प्रकार स्नेह के बन्धन से भलीभांति सम्बद्ध होने पर भी दर्शन के अभाव में प्रेम भी समाप्त हो जाता है ॥ ३२७ ॥

छाया—अदर्शनेन पुत्रक सुष्ठ्वपि स्नेहानुबन्धघटितानि ।
हस्तपुटपानीयानीव कालेन गलन्ति प्रेमाणि ॥ गा. स. ३।३६ ॥

अदंसणेण इति ॥ ३२७ ॥

कारणनिरपेक्षोऽकृत्रिमो यथा,--

जह जह जरापरिणअं होइ पईदु गाओ विरुवं वि ।
कुलपालिआए तह तह अहिअअरं वल्लहो होइ ॥ ३२८ ॥

किसी कारण की अपेक्षा के विना भी होने वाला प्रेम 'अकृत्रिम' है । जैसे—

जैसे जैसे पति का शरीर बुढ़ापे से बदलता हुआ विपन्न तथा कुरूप भी होता जाता है, त्यों त्यों कुल मर्यादा का ध्यान रखने वाली सुन्दरी के लिये और भी अधिक प्रिय होता जाता है ॥ ३२८ ॥

यथा यथा जरापरिणतं भवति पत्युर्गात्रं विरूपमपि ।
कुलपालितायास्तथा तथा अधिकतरं वल्लभीभवति ॥

यथेति । पत्युः स्वामिनः गात्रम् अङ्गं जरया वार्द्धक्येन परिणतं परिगतमित्यर्थः अतएव विरूपमपि गतश्रीकमपि यथा यथा भवति, कुलपालितायाः सद्वंशरक्षितायाः नार्य्या इति शेषः स जरापरिणतः पतिः तथा तथा अधिकतरं वल्लभः प्रियः भवति । कुलाङ्गनानां विशिष्टपरिचर्य्यां विना तादृशस्य पत्युर्विनाशाशङ्कया समधिकसेवापरत्वम-वैधव्यफलकत्वञ्च भवतीति भावः ॥ ३२८ ॥

जन्मान्तरसंस्कारजनितः सहजो यथा,--

आणिअपुलओब्भेओ सवत्तिपणअपरिघूसरम्मि वि गरूए ।
पिअदंसणे पवड्ढमुइ मढट्ठाणे वि रुप्पिणीअ पहरिसो ॥ ३२९ ॥

दूसरे जन्म के संस्कार से उत्पन्न होने वाला (प्रेम) सहज है । जैसे—

सौत के प्रेम से कलुषित होने पर भी प्रवृद्ध प्रेम वाले प्रिय का दर्शन होने पर क्रोध के स्थान पर रुक्मिणी में अत्यन्त हर्ष बढ़ता है तथा उसके शरीर में रोमाञ्च उत्पन्न हो जाता है ॥ ३२९ ॥

छाया—आनीतपुलकोद्भेदः सपत्नीप्रणयपरिधूसरेऽपि गुरुके ।
प्रियदर्शने प्रवर्धते मन्युस्थानेऽपि रुक्मिण्याः प्रहर्षः ॥

आणिअ इति ॥ ३२९ ॥

उपचारापेक्षप्रकर्ष आहार्यो यथा,--

घरिणीअ कइअव्वं बहुलं पिअअमे कुणन्तम्मि।
अकिअत्थाइं वि जाआइं भत्ति सिढ़िलिआइं अङ्गाइं॥ ३३०॥

जिसका प्रकर्ष सामग्री की अपेक्षा करता है, वह आहार्य है। जैसे—

प्रियतम के द्वारा गृहिणी की निश्छल चाटुकारिता अथवा गृहकार्य करने पर, जाया के अङ्ग कृतकार्य न होते हुये शिथिल हो रहे हैं॥ ३३०॥

गृहिण्याः कर्त्तव्यं बहुलं प्रियतमे कुर्वति।
अकृतार्थान्यपि जातानि झटिति शिथिलितान्यङ्गानि॥

घरिण्या इति। घरिण्याः गृहिण्याः कर्त्तव्यं करणीयं गृहकार्य्यं रन्धनादिकमिति भावः बहुलम् अधिकं प्रियतमे पत्यौ कुर्वति सम्पादयति सति अकृतार्थानि अकृतकार्य्याणि अपि अङ्गानि घरिण्या इति भावः झटिति शीघ्रं शिथिलितानि शैथिल्यं गतानि जातानि वृत्तानि स्वकर्त्तव्यस्य पत्या सम्पादनात् स्वयं केवलं शरीरव्यापारवैमुख्येन जडत्वावाप्तेरिति भावः॥ ३३०॥

यौवनजो यथा,--

तंबमुहककुआहोआ जइ जइ थणआ किलेन्ति कुमारीणं।
तह तह लद्धावासो व्व मम्महो हिअअमाविसइ॥ ३३१॥

यौवन के कारण उत्पन्न होने वाला प्रेम 'यौवनज' है, जैसे—

ज्यो ज्यो लाल लाल चूचुक वाले कुमारियों के विस्तृत उरोज विकसित होते जाते हैं, त्यों त्यों स्थान पाकर मानो कामदेव उनके हृदय में घुसता चला जाता है॥ ३३१॥

ताम्रमुखकुचाभोगा यथा यथा स्तना क्रीड़न्ते कुमारीणाम्।
तथा तथा लब्धावास इव मन्मथो हृदयमाविशति॥

ताम्रमुखेति। कुमारीणां बालानां ताम्रमुखाः रक्तान्ता इत्यर्थः कुचाभोगाः स्तनविस्ताराः स्तनाः यथा क्रीड़न्ते समुन्मिषन्तीत्यर्थः मन्मथः कामस्तथा तथा लब्धावकाश इव प्राप्तावसर इव हृदयं चित्तम् आसामिति शेषः आविशति अधितिष्ठतीत्यर्थः॥ ३३१॥

उपचारानपेक्षो विश्रम्भजो यथा,--

ण वि तह च्छेअरआइं हरन्ति पुणरुत्तराअरमिआइं।
जह जत्थ व तत्थ व जह व तह व सब्भावरमिआइं॥ ३३२॥

किसी प्रकार के उपचार की अपेक्षा न करने वाला प्रेम 'विश्रम्भज' है—

बार बार आचरित अनुराग के रस से संयुक्त पूर्ण रति भी उतना चित्त को आकृष्ट नहीं करती जितना जहाँ-तहाँ, जिस-तिस भाव से सम्पन्न की गई विशेष सद्भाव तथा स्नेह से संयुक्त रति करती है॥ ३३२॥

छाया—नापि तथा छेकरतानि हरन्ति पुनरुक्तरागरमितानि।
यथा यत्रैव तत्रैव यथा वा तथा वा सद्भावरमितानि॥

ण वि इति ॥ ३३२ ॥

प्रेमपुष्टि

स्व० द०—अब आगे प्रेमपुष्टियों का निरूपण किया जायेगा। इसी परिच्छेद की प्रारम्भिक कारिकाओं में प्रेमपुष्टि के प्रसङ्ग में इन पर विशेष विचार किया गया है। भरत के द्वारा संख्या दे दे कर भी इनकी गणना कराई गई है। इनको ही काम की दश अवस्था के नाम से भी अभिहित किया जाता है।

प्रथमे त्वभिलाषः स्यात् द्वितीये चिन्तनं भवेत्।
अनुस्मृतिस्तृतीये तु चतुर्थे गुणकीर्तनम्॥
उद्वेगः पञ्चमे प्रोक्तो विलापः षष्ठ उच्यते।
उन्मादः सप्तमे ज्ञेयो भवेद् व्याधिस्तथाष्टमे॥
नवमे जडता प्रोक्ता दशमे मरणं भवेत्। ना. शा. २४।१६९-१७१॥

प्रेमपुष्टिषु चक्षुःप्रीतिर्यथा,—

उत्पत्तिर्दवयजनाद् ब्रह्मवादी नृपः पिता।
सुप्रसन्नोज्ज्वला मूर्त्तिरस्याः स्नेहं करोति मे॥ ३३३॥

प्रेमपुष्टियों में से चक्षुःप्रीति का उदाहरण—

(अर्थ के लिये द्रष्टव्य ५।१२६॥)॥ ३३३॥

उत्पत्तिरिति। अस्याः कुमार्य्याः देवयजनात् यज्ञक्षेत्रात् उत्पत्तिर्जन्म, जन्मविशुद्धिरिति भावः ब्रह्मवादो ब्रह्मतत्त्वविद् नृपः राजा जनकः पिता तथा सुप्रसन्ना सुष्ठुप्रसादगुणपूर्णेत्यर्थः तथा उज्ज्वला दीप्यमाना मूर्त्तिः अवयवः मे मम स्नेहं प्रीतिं करोति जनयति॥ ३३३॥

मनःसङ्गो यथा,—

एषा मनो मे प्रसभं शरीरात् पितुः पदं मध्यममुत्पतन्तो।
सुराङ्गना कर्षति खण्डिताग्रात् सूत्रं मृणालादिव राजहंसी॥ ३३४॥

मनःसङ्ग का उदाहरण—

आकाश में उड़ती हुई यह देवाङ्गना मेरे शरीर से चित्त को हठात् उसी प्रकार से खींचे लिये जा रही है, जिस प्रकार कटे हुये अग्रभाग वाले मृणाल से सूत्र को राजहंसी खींच ले जाती है॥ ३३४॥

एषीति। एषा सुराङ्गना देवमहिला उर्वशीति यावत् पितुर्जनकस्य नारायणस्येत्यर्थः वामनरूपेण इति भावः मध्यमं पदम् अन्तरीक्षमित्यर्थः उत्पतन्ती उद्गच्छन्ती सती राजहंसी खण्डिताग्रात् छिन्नाग्रभागात् मृणालात् सूत्रमिव तन्तुमिव मे मम शरीरात् मनः चित्तं प्रसभं बलादित्यर्थः कर्षति आकृष्य नयति॥ ३३४॥

सङ्कल्पोत्पत्तिर्यथा,—

तं पुलइआ पि पेच्छइ तं विअ णिज्झाअइ तीअ गेण्हइ गोत्तं।
घइअं तस्सा मअणे अणं पि विचितं अणिसच्चिअहिअए॥ ३३५॥

सङ्कल्पोत्पत्ति का उदाहरण—

उसी रोमाञ्चित अङ्गों वाली को वह देखता है, उसी का ध्यान करता है, उसी का नाम लेता है, दूसरी स्त्री के विषय में सोचने लगने पर भी उसके कामाकुल मन में वही सुन्दरी आ विराजती है ॥ ३३५ ॥

छाया—तां पुलकितां प्रेक्षते तामेव निर्ध्यायति तस्या गृह्णाति गोत्रम् ।
तिष्ठति तस्य समदने अन्यामपि विचिन्तयति सैव हृदये ॥

तं पुलइआ इति ॥ ३३५ ॥

प्रलापो यथा,—

अमअमअगअणसेहररअणीमुहतिलअ चन्द दे च्छिवसु ।
छित्तो ते जेहि पिअअमो ममं पि तेहि विअ करेहि ॥ ३३६ ॥

प्रलाप का उदाहरण—

हे सुधामय, हे आकाशशिरोमणि, हे रात्रि के मुख के तिलक, हे चन्द्र तुमने जिन किरणों से मेरे प्रियतम को छुआ है, उन्हीं से मेरा भी स्पर्श करो ॥ ३३६ ॥

छाया—अमृतमय गगनशेखर रजनीमुखतिलक चन्द्र हे स्पृश ।
स्पृष्टो वैः प्रियतमो मामपि तैरेव करैः ॥

अमअ इति ॥ ३३६ ॥

जागरो यथा,—

तह विरज्जागरिओ सिविणे वि स देइ दंसणसुहाइं ।
वाहेण जहा लोअणविलोअणं पि से वि हअं ॥ ३३७ ॥

जागरण का उदाहरण—

तुम्हारी विरह के कारण होने वाला जागरण स्वप्न में भी दर्शन का सुख नहीं लेने देता । आँसुओं के द्वारा इसका नियमतः देखने का विनोद भी समाप्त हो गया ॥ ३३७ ॥

छाया—तव विरहोज्जागरकः स्वप्नेऽपि न ददाति दर्शनसुखानि ।
वाष्पेण यथालोकनविनोदनमप्यस्याः विहतम् ॥

तह इति ॥ ३३७ ॥

कार्श्यं यथा,—

अइ कोवणा वि सासु रूआविआ गअवईए सोल्लाए ।
पाअपड़णोणआए दोसु विगलिएसु बलएसु ॥ ३३८ ॥

कृशता का उदाहरण—

अत्यन्त क्रोधी स्वभाव की सास को भी प्रोषितपतिका पुत्रवधू ने उस समय रुला दिया कि चरणस्पर्श के लिये झुकने पर उसके दोनों ही हाथों के कंगन गिर गये ॥ ३३८ ॥

छाया—अतिकोपनापि श्वश्रू रोदिता गतपतिकया स्नुषया ।
पादपतनावनतया द्वयोरपि गलितयोर्वलययोः ॥

आइ कोवणा इति ॥ ३३८ ॥

अरतिः विषयान्तरे यथा,—

असमत्तो वि समप्पइ अपरिगाहिअलहुओ परगुणालावो ।
तस्स पिआपडिवद्धा ण समप्पइ रइसुहासमत्ता वि कहा ॥ ३३९ ॥

दूसरे भोग्य पदार्थों में अरति का उदाहरण—

ग्रहण न करने से छोटी हो गयी दूसरों के गुणों के विषय की चर्चा समाप्त न होने पर भी समाप्त कर दी गई जब कि प्रियतमा से सम्बद्ध, रति के सदृश सुख देने वाली कहानी समाप्त हो जाने पर भी समाप्त नहीं होती ॥ ३३९ ॥

छाया—असमाप्तोऽपि समाप्यतेऽपरिगृहीतलघुकः परगुणालापः ।
तस्य प्रियाप्रतिबद्धा न समाप्यते रतिसुखासमाप्तापि कथा ॥

असमत्तो इति ॥ ३३९ ॥

लज्जाविसर्ज्जनं यथा,—

अगणिआसेसजुआणो बालअ ! वोलोणलोअमज्जाआ ।
अह सा भमइ दिसामुहपसारिअच्छी तुह किदे ॥ ३४० ॥

लज्जा के परित्याग का उदाहरण—

अरे बच्चे, सभी युवकों को कुछ न गिनती हुई, समस्त संसार की मर्यादाओं का उल्लंघन करके वह बेचारी केवल तुम्हारे कारण हर दिशा में आँखे फैलाये घूम रही है ॥ ३४० ॥

छाया—अगणिताशेषयुवका बालक ! व्यतिक्रान्तलोकमर्यादा ।
अथ सा भ्रमति दिशामुखप्रसारिताक्षी तव कृतेन ॥

अगणितशेषयुवा बालक ! अपक्रान्तलोकमर्य्यादा ।
अथ सा भ्रमति दिङ्मुखप्रसारिताक्षी तव कृते ॥

अगणितेति । हे बालक ! निबोध इति भावः अथेदानीं सा अगणिताः अलक्षिताः अवज्ञाता इत्यर्थः अशेषाः स्वद्व्यतिरिक्ता इत्यर्थः युवानः यथा तथाविधा अन्यान् यूनोऽगणयन्तीत्यर्थः अपक्रान्ता अपगता लोकमर्य्यादा शिष्टाचारः यस्याः तथाभूता शिष्टाचारं पित्रादिमतग्रहणरूपमगणयन्तीति भावः तव कृते तत्प्राप्त्यर्थं दिङ्मुखेषु प्रसारिते अक्षिणी यया तादृशी सती भ्रमति इतस्ततः सञ्चरतीत्यर्थः ॥ ३४० ॥

व्याधिः यथा,—

असाहणतोरइ च्चिअ परिवड्ढंतुङ्गअगरुअसंलावम् ।
मरणविणोएण विणा ण विरमावेउ विरहदुक्खम् ॥ ३४१ ॥

व्याधि का उदाहरण—

अत्यन्त बढ़ रहे महान् संताप से युक्त उस विरहिणी का दुःख मृत्युरूपी उपचार के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार से शान्त नहीं किया जा सकता ॥ ३४१ ॥

छाया—अन्यथा न शक्यते एव परिवृद्धतुङ्गगुरुसंतापम् ।
मरणविनोदेन विना न विरमयितुं विरहदुःखम् ॥

असाहण इति ॥ ३४१ ॥

उन्मादो यथा,—

अवलम्बह मा संकरुत सा गाहलङ्घिआ परिब्भमइ ।
अत्थक्कगज्जिअउत्तन्तहित्थहिअआ पहिअजाआ ॥ ३४२ ॥

उन्माद का उदाहरण—

इसे पकड़ लो, कोई शङ्का मत करो, यह कोई ग्रहपीडिता नहीं घूम रही है । यह तो एकाएक 'उठी गरज के कारण उद्भ्रान्त तथा पीडित हृदय वाली किसी वियोगी की पत्नी है' ॥ ३४२ ॥

छाया—अवलम्बध्वं मा शङ्कध्वं नेयं ग्रहलङ्घिता परिभ्रमति ।
आकस्मिक गर्जितोद्भ्रान्तत्रस्तहृदया पथिकजाया ॥

अवलम्बह इति ॥ ३४२ ॥

मूर्च्छा यथा,—

जं मुच्छिआणं असुओ कलम्बगन्धेण तं गुणे पड़िअं ।
इअ रहगज्जिअटुसद्दो जीएण विणा ण वोलिन्तो ॥ ३४३ ॥

मूर्च्छा का उदाहरण—

चूँकि मूर्च्छित हो गई थी इसीलिये सुना नहीं जा सका, कदम्ब की गन्ध भी उसके लिये गुण-शाली ही हुआ, अन्यथा इसवार होने वाला यह घन गर्जन का शब्द उसके प्राणों को बिना लिये नहीं जाता ॥ ३४३ ॥

छाया—यन्मूर्च्छिता न च श्रुतः कदम्बगन्धेन तन्गुणे पतितम् ।
इतरथा गर्जितशब्दो जीवेन विना न व्यतिक्रामेत् ॥

जं मूच्छिआणं इति ॥ ३४३ ॥

मरणं यथा,—

अज्जं पि ताव एक्कं मा मंधारे हि पिअसहि रुअन्तिं
पहि ऊण तम्मि गए जइ ण मरिस्मं ण रोइस्मं ।
ता इमा विप्रलन्भजन्मानो द्वादशापि प्रेमपुष्टिभूमयः सम्भोगेसु
स्वानुरूपामेव प्रेमप्रकर्षभूमिकामास्कन्दयन्ति ॥ ३४४ ॥

मरण का उदाहरण—

हे प्रियसखि, केवल आज एक दिन के लिये तुम हमें रोने से रोको मत । किन्तु, कल प्रिय के परदेश चले जाने पर, यदि प्राण नहीं निकले, तो फिर नहीं रोकूँगी ॥ ३४४ ॥

छाया—अद्यापि तावदेकं मा मां वारय प्रियसखि रुदन्तीम् ।
कल्ये पुनस्तस्मिन् गते यदि न मरिष्यामि न रोष्यामि ॥ गा. स. ॥ ६।२ ॥

विप्रलम्भ से उत्पन्न होने वाली ये बारहो बातें भी प्रेमपुष्टि का आधार हैं जो संभोग में अपने समान ही प्रेम की प्रकर्षता की भूमिका अदा करती हैं ।

अजम् इति ॥ ३४४ ॥

नायकेषु कथाव्यापी नायको यथा,—

गुरोः शासनमत्येतुं न शशाक स राघवः ।
यो रावणशिरश्छेदकार्य्यभारेऽप्यविक्लवः ॥ ३४५ ॥

नायक

नायकों के प्रकरण में जो पूरी कथा में व्याप्त हो वह नायक है । जैसे—
जो राम रावण के सिर काटने रूप कार्य के भार से भी विकल न हुये थे, वही अपने गुरु की—पिता दशरथ की—आज्ञा का उल्लंघन करने में समर्थ न हो सके ॥ ३४५ ॥

स्व० द०—संस्कृत के नाट्यसाहित्य के तीन विशेष तत्त्व नेता, वस्तु तथा रस माने जाते हैं । नेता में केवल नायक ही नहीं अपितु उपनायक, प्रतिनायक आदि भी आते हैं । यहाँ 'नायकेषु' कहने का अभिप्राय इन सबसे है ।

दशरूपक में नायक का लक्षण इस प्रकार है—

नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः ।
रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढवंशः स्थिरो युवा ॥
बुद्ध्युत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामानसमन्वितः ।
शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः । २।१-२ ॥

गुरोरिति । सः राघवः रामः गुरोः पितुः शासनम् आज्ञाम् अत्येतुं अतिक्रमितुं लङ्घितुमित्यर्थः न शशाक न समर्थोऽभूत् । यः रामः रावणस्य शिरसां दशानामिति भावः छेदकार्य्यमेव भारः गुरुव्यापार इत्यर्थः तस्मिन्नपि अविप्लवः अव्याकुलः अकातर इति यावत् ॥ ३४५ ॥

प्रतिनायको यथा,—

जेतारं लोकपालानां स्वमुखैरर्च्चितेश्वरम् ।
रामस्तुलितकैलासमरातिं बह्वमन्यत ॥ ३४६ ॥

प्रतिनायक का उदाहरण—
लोकपालों को भी जीतने वाले, अपने मुखों-शिरों से-शिव की अर्चना करने वाले, कैलास को भी तोल देने वाले अपने शत्रु रावण को राम ने बहुत कुछ माना अर्थात् उसकी प्रशंसा की ॥ ३४६ ॥

स्व० द०—प्रतिनायक का भोज ने कोई लक्षण बिना दिये ही, उदाहरण दे दिया है । दशरूपक में प्रतिनायक का लक्षण यह है—

लुब्धो धीरोद्धतः स्तब्धः पापकृद् व्यसनी रिपुः ॥ २।९ ॥

सावान्यतः यह नायक का प्रतिद्वन्द्वी होता है ।

जेतारमिति। रामः लोकपालानाम् इन्द्रादीनां जेतारं जयिनमित्यर्थः स्वमुखैः निजैः शिरोभिः अर्चितः आराधितः ईश्वरः शिवः येन तं तथा तुलितः हस्ताभ्यां हस्तैर्वा उद्धृतः कैलासः तदाख्यः पर्वतः येन तथाभूतं तम् अरातिं शत्रुं रावणं बहु अमन्यत अधिकं प्रशशंसेत्यर्थः ॥ ३४६ ॥

उपनायको यथा,—

स हत्वा बालिनं वीरं तत्पदे चिरकाङ्क्षिते।
धातोः स्थान इवादेशं सुग्रीवं संन्यवेशयत् ॥ ३४७ ॥

उपनायक का उदाहरण—

उन राम ने महापराक्रमी बालि को मार कर उसके बहुत समय से चाहे गये पद पर धातु के स्थान पर आदेश की भांति सुग्रीव को बैठाया ॥ ३४७ ॥

स्व० द०—यहाँ भी भोज ने कोई लक्षण दिये बिना ही उदाहरण दे दिया है। यह भी रामायण की रामकथा में सुग्रीव के सदृश पात्रों को माना गया हैं।

स इति। स रामः वीरं महाविक्रान्तं बालिनं हत्वा विनाश्य चिरं काङ्क्षिते अभिलषिते तत्पदे तस्य बालिनः पदे राज्ये सिंहासने वा धातोः स्थाने आदेशमिव यथा स्थाधातोः स्थाने तिष्ठ, गमेः स्थाने गच्छेति भावः। सुग्रीवं संन्यवेशयत् संस्थापितवान् ॥ ३४७ ॥

अनुनायको यथा,—

स मारुतसुतानीतमहौषधिहृतव्यथः।
लङ्कास्त्रीणां पुनश्चक्रे विलापाचार्य्यकं शरैः ॥ ३४८ ॥

अनुनायक का उदाहरण—

वह लक्ष्मण हनुमान् के द्वारा लाई गई ओषधि से व्यथाहीन होकर फिर से अपने बाणों से लङ्का की नारियों के विलाप का शिक्षक बना दिया ॥ ३४८ ॥

स इति। स लक्ष्मणः मरुदेव मारुतः वायुः तस्य सुतः हनूमान् तेन आनीता या महौषधिः विशल्यकरणीति भावः तया हता अपनीता व्यथा रावणशरप्रहारजनितेति भावः यस्य तथाभूतः सन् शरैः पुनः लङ्कास्त्रीणां लङ्कावासिनीनां नारीणां हतनाथानामिति भावः विलापाचार्य्यकं परिदेवनस्य आचार्य्यकर्म शिक्षकतारूपमिति भावः चक्रे पुनरपि राक्षसान् विनाश्य तेषां महिला रोदयामासेत्यर्थः ॥ ३४८ ॥

कथाव्यापिनी नायिका यथा,—

तीए सविसेसदूनिअसवत्तिहिअआइ णिव्वरणन्तसिणेन्तम्।
पिअगरूइआइ णिमिअं सोहाग्गगुणाणं अग्गभूमीअपअम् ॥ ३४९ ॥

सम्पूर्ण कथा में व्याप्त रहने वाली स्त्री को नायिका (कहते हैं)। जैसे—

उस विशेष रूप से सौतों के हृदय को पीडित करने वाली, अपने प्रियतम को पूज्य करने वाली सुन्दरी ने स्नेहसम्पादन करते हुये सौभाग्य के गुणों की अग्रभूमि में अपना पद बना लिया ॥ ३४९ ॥

छाया—अद्यापि तावदेकं मा मां वारय प्रियसखि रुदन्तीम् ।
कल्ये पुनस्तस्मिन् गते यदि न मरिष्यामि न रोष्यामि ॥ गा. स. ॥ ६।२ ॥

विप्रलम्भ से उत्पन्न होने वाली ये बारहो बातें भी प्रेमपुष्टि का आधार हैं जो संभोग में अपने समान ही प्रेम की प्रकर्षता की भूमिका अदा करती हैं ।

अज्जम् इति ॥ ३४४ ॥

नायकेषु कथाव्यापी नायको यथा,—

गुरोः शासनमत्येतुं न शशाक स राघवः ।
यो रावणशिरश्छेदकार्य्यभारेऽप्यविक्लवः ॥ ३४५ ॥

नायक

नायकों के प्रकरण में जो पूरी कथा में व्याप्त हो वह नायक है । जैसे—
जो राम रावण के सिर काटने रूप कार्य के भार से भी विकल न हुये थे, वही अपने गुरु की—पिता दशरथ की—आज्ञा का उल्लंघन करने में समर्थ न हो सके ॥ ३४५ ॥

स्व० द०—संस्कृत के नाट्यसाहित्य के तीन विशेष तत्त्व नेता, वस्तु तथा रस माने जाते हैं । नेता में केवल नायक ही नहीं' अपितु उपनायक, प्रतिनायक आदि भी आते हैं । यहाँ 'नायकेषु' कहने का अभिप्राय इन सबसे है ।

दशरूपक में नायक का लक्षण इस प्रकार है—

नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः ।
रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढवंशः स्थिरो युवा ॥
बुद्ध्युत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामानसमन्वितः ।
शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः । २।१-२ ॥

गुरोरिति । सः राघवः रामः गुरोः पितुः शासनम् आज्ञाम् अत्येतुं अतिक्रमितुं लङ्घितुमित्यर्थः न शशाक न समर्थोऽभूत् । यः रामः रावणस्य शिरसां दशानामिति भावः छेदकार्य्यमेव भारः गुरुव्यापार इत्यर्थः तस्मिन्नपि अविप्लवः अव्याकुलः अकातर इति यावत् ॥ ३४५ ॥

प्रतिनायको यथा,—

जेतारं लोकपालानां स्वमुखैरर्च्चितेश्वरम् ।
रामस्तुलितकैलासमरातिं बह्वमन्यत ॥ ३४६ ॥

प्रतिनायक का उदाहरण—
लोकपालों को भी जीतने वाले, अपने मुखों-शिरों से-शिव की अर्चना करने वाले, कैलास को भी तोल देने वाले अपने शत्रु रावण को राम ने बहुत कुछ माना अर्थात् उसकी प्रशंसा की ॥ ३४६ ॥

स्व० द०—प्रतिनायक का भोज ने कोई लक्षण बिना दिये ही, उदाहरण दे दिया है । दशरूपक में प्रतिनायक का लक्षण यह है—

लुब्धो धीरोद्धतः स्तब्धः पापकृद् व्यसनी रिपुः ॥ २।९ ॥

साधारणतः यह नायक का प्रतिद्वन्द्वी होता है ।

जेतारमिति। रामः लोकपालानाम् इन्द्रादीनां जेतारं जयिनमित्यर्थः स्वमुखैः निजैः शिरोभिः अर्चितः आराधितः ईश्वरः शिवः येन तं तथा तुलितः हस्ताभ्यां हस्तैर्वा उद्धृतः कैलासः तदाख्यः पर्वतः येन तथाभूतं तम् अरातिं शत्रुं रावणं बहु अमन्यत अधिकं प्रशशंसेत्यर्थः ॥ ३४६ ॥

उपनायको यथा,—

स हत्वा बालिनं वीरं तत्पदे चिरकाङ्क्षिते।
धातोः स्थान इवादेशं सुग्रीवं संन्यवेशयत् ॥ ३४७ ॥

उपनायक का उदाहरण—

उन राम ने महापराक्रमी वालि को मार कर उसके बहुत समय से चाहे गये पद पर धातु के स्थान पर आदेश की भांति सुग्रीव को बैठाया ॥ ३४७ ॥

स्व० द०—यहाँ भी भोज ने कोई लक्षण दिये बिना ही उदाहरण दे दिया है। यह भी रामायण की रामकथा में सुग्रीव के सदृश पात्रों को माना गया हैं।

स इति। स रामः वीरं महाविक्रान्तं बालिनं हत्वा विनाश्य चिरं काङ्क्षिते अभिलषिते तत्पदे तस्य बालिनः पदे राज्ये सिंहासने वा धातोः स्थाने आदेशमिव यथा स्थाधातोः स्थाने तिष्ठ, गमेः स्थाने गच्छेति भावः। सुग्रीवं संन्यवेशयत् संस्थापितवान् ॥ ३४७ ॥

अनुनायको यथा,—

स मारुतसुतानीतमहौषधिहृतव्यथः।
लङ्कास्त्रीणां पुनश्चक्रे विलापाचार्य्यकं शरैः ॥ ३४८ ॥

अनुनायक का उदाहरण—

वह लक्ष्मण हनुमान् के द्वारा लाई गई ओषधि से व्यथाहीन होकर फिर से अपने बाणों से लङ्का की नारियों के विलाप का शिक्षक बना दिया ॥ ३४८ ॥

स इति। स लक्ष्मणः मरुदेव मारुतः वायुः तस्य सुतः हनूमान् तेन आनीता या महौषधिः विशल्यकरणीति भावः तया हता अपनीता व्यथा रावणशरप्रहारजनितेति भावः यस्य तथाभूतः सन् शरैः पुनः लङ्कास्त्रीणां लङ्कावासिनीनां नारीणां हतनाथानामिति भावः विलापाचार्य्यकं परिदेवनस्य आचार्य्यकर्म शिक्षकतारूपमिति भावः चक्रे पुनरपि राक्षसान् विनाश्य तेषां महिला रोदयामासेत्यर्थः ॥ ३४८ ॥

कथाव्यापिनी नायिका यथा,—

तीए सविसेसदूनिअसवत्तिहिअआइ णिव्वरणन्तसिणेन्तम्।
पिअगरूइआइ णिमिअं सोहाग्गगुणाणं अग्गभूमीअपअम् ॥ ३४९ ॥

सम्पूर्ण कथा में व्याप्त रहने वाली स्त्री को नायिका (कहते हैं)। जैसे—

उस विशेष रूप से सौतों के हृदय को पीडित करने वाली, अपने प्रियतम को पूज्य करने वाली सुन्दरी ने स्नेहसम्पादन करते हुये सौभाग्य के गुणों की अग्रभूमि में अपना पद बना लिया ॥ ३४९ ॥

स्व० द०—नायक की ही भांति नायिका भी स्त्री पात्रों में ऐसी है जो सम्पूर्ण कथा में व्याप्त रहती है। धनञ्जय के भी शब्दों में—

स्वान्या साधारणस्त्रीति तद्गुणा नायिका त्रिधा ॥ दश०रू० २।१५ ॥

उक्त गाथा की छाया यह है—

तया सविशेषदूनितसपत्नीहृदयया निर्वर्त्यमानस्नेहम्।
प्रियगुरूकृतया निर्मितं सौभाग्यगुणानामग्रभूम्यां पदम् ॥

तीए इति ॥ ३४९ ॥

प्रतिनायिका यथा,—

जं तिअसकुसुमदामं हरिणा णिम्महिअसुरहिगन्धामोअम्।
अप्पण इअं पि दूमिअ पणइ पि हिअएण रुप्पिणीअ विइण्णम् ॥३५०॥

प्रतिनायिका का उदाहरण—

कृष्ण ने स्वयं लाई हुई पारिजात पुष्प की माला जिससे सुरभित पराग की गन्ध निकल रही थी अन्य प्रेयसियों के हृदय को कष्ट देते हुये रुक्मिणी को प्रदान कर दिया ॥ ३५० ॥

छाया—यत्त्रिदशकुसुमदाम हरिणा निर्गच्छत्सुरभिगन्धामोदम्।
आत्मनानीतमपि दूनितप्रणयिनीहृदयेन रुक्मिण्यै वितीर्णम् ॥

जं तिअ इति ॥ ३५० ॥

उपनायिका यथा,—

देवीस्वीकृतमानसस्य नियतं स्वप्नायमानस्य मे
तद्गोत्रग्रहणादियं सुवदना यायात् कथं न व्यथाम् ?।
इत्थं यन्त्रणया कथं कथमपि क्षीणा निशा जाग्रतो
दाक्षिण्योपहतेन सा प्रियतमा स्वप्नेऽपि नासादिता ॥ ३५१ ॥

उपनायिका का उदाहरण—

निरन्तर महारानी के द्वारा अधिष्ठित चित्त वाले स्वप्न देखने वाले मेरे द्वारा उस नायिका का नाम लेने से कहीं यह सुमुखी दुःखी न हो जाये, इस प्रकार के कष्ट के साथ जैसे तैसे जागते हुये रात बितायी गयी। इस प्रकार दाक्षिण्य के द्वारा मारे गये मेरे द्वारा यह प्रियतमा स्वप्न में भी नहीं पाई जा सकी ॥ ३५१ ॥

देवीति। नियतं सततं देव्या महिष्या स्वीकृतम् आक्रान्तं मानसं यस्य तथाभूतस्य स्वप्नायमानस्य स्वप्नमनुभवत इत्यर्थः मे मम तस्याः प्रियतमायाः गोत्रग्रहणात् नामग्रहणात् इयं सुवदना सुमुखी देवीति भावः कथं व्यथां पीडां दुःखमित्यर्थः न यायात ? न प्राप्नुयात् ? अपि तु प्राप्नुयादेवेत्यर्थः। इत्थम् एवम्प्रकारयेत्यर्थः यन्त्रणया उद्वेगेन जाग्रत एव निशा कथं कथमपि अतिक्लेशेनेत्यर्थः क्षीणा क्षयं गता प्रभातेत्यर्थः किन्तु दाक्षिण्येन अनेकासु समरागत्वेन उपहतेन विप्रलब्धेनेति यावत् मयेति शेषः सा प्रियतमा सुवदना स्वप्नेऽपि न आसादिता न प्राप्ता न दृष्टा वा ॥ ३५१ ॥

अनुनायिका यथा,

श्लाघ्यानां गुणिनां धुरि स्थितवति श्रेष्ठान्ववाये त्वयि
प्रत्यस्तव्यसने महीयसि परं प्रीतोऽस्मि जामातरि।
तेनेयं मदयन्तिकाद्य भवतः प्रीत्यै भवत्प्रेयसे
मित्राय प्रथमानुरागघटिताप्यस्माभिरुत्सृज्यते॥ ३५२॥

अनुनायिका का उदाहरण—

प्रशंसनीय गुणियों की धुरी के सदृश स्थित रहने वाले, अत्युच्च कुलशाली, सभी दुर्गुणों से रहित एवं महत्ता से संयुक्त तुम दामाद पर मैं प्रसन्न हूँ। इसीसे आपकी प्रसन्नता के लिए आपके मित्र को पूर्वानुराग से मिला दी जाने पर भी यह मदयन्तिका दी जा रही है॥ ३५२॥

श्लाघ्यानामिति। श्लाघ्यानां प्रशंसनीयानां गुणिनां दाक्षिण्यादिगुणशालिनां धुरि अग्रे स्थितवति गण्यमाने इति भावः श्रेष्ठान्ववाये महाकुलीने इत्यर्थः प्रत्यस्तं परित्यक्तं व्यसनं मृगयाद्यष्टादशविधदोष इत्यर्थः येन तथाभूते अतएव महीयसि महानुभावे इत्यर्थः जामातरि त्वयि परम् अत्यर्थं प्रीतोऽस्मि। तेन हेतुना इयं मदयन्तिका प्रथमेन प्रागुत्पन्नेनेत्यर्थः अनुरागेण प्रणयेन घटितापि योजितापि अद्य भवतः तव प्रीत्यै सन्तोषाय भवतः तव प्रेयसे प्रियतमाय मित्राय सुहृदे अस्माभिः उत्सृज्यते प्रदीयते॥ ३५२॥

आभासेषु नायकाभासो यथा,—

कहं ण खिज्जउ मत्तो इमीअ कन्दोट्टदलसरिच्छेहिम्।
अच्छीहिं जो ण दीसइ घणत्थणआवरुद्धपसरेहिम्॥ ३५३॥

आभासों में नायकाभास का उदाहरण—

(अर्थ के लिये द्रष्टव्य ४।१५५॥)

कथं न खिद्यति मर्त्योऽस्याः कन्दोट्टदलसदृक्षैः।
अक्षिभिर्यो न दृश्यते घनस्तनकावरुद्धप्रसरैः॥

कहमिति। यः अस्याः नायिकायाः कन्दोट्टदलसदृक्षैः पद्मपत्रनिभैरित्यर्थः घनाभ्यां निविडाभ्यां स्तनाभ्याम् अवरुद्धः प्रतिहतः उत्तुङ्गत्वादिति भावः प्रसरः विकास इति भावः येषां तैः अक्षिभिः नयनैः न दृश्यते नावलोक्यते, अक्षिभिरिति बहुवचनप्रयोगेन पुनः पुनर्दर्शनं प्रतीयते। स मर्त्यः मानवः कथं न खिद्यति न खेदं प्राप्नोति? स्वस्य दुर्भाग्यत्वादिति भावः॥ ३५३॥

नायिकाभासो यथा,—

कृतसीतापरित्यागः स रत्नाकरमेखलाम्।
बुभुजे पृथिवीपालः पृथिवीमेव केवलाम्॥ ३५४॥

नायिकाभास का उदाहरण—

सीता का परित्याग करके राजा राम ने केवल अकेली समुद्रमेखला पृथ्वी का ही भोग किया॥ ३५४॥

कृतेति। कृतः सीतायाः परित्यागो येन तथोक्तः सः पृथिवीपालो भूपतिः रामः केवलाम् एकां रत्नाकरमेखलां समुद्ररशनाम् आसमुद्रामिति यावत् पृथिवीमेव न तु अन्यां कान्तामित्येवकारार्थः। बुभुजे बभारेत्यर्थः॥ ३५४॥

उभयाभासो यथा,—

अवऊहिअपुव्वदिसे समअं जोण्हाए सेविअपओसं मुहे।
माइ ण भिज्जउ अरणी वरदिसाइ तपच्छिअम्मि मिअङ्के॥ ३५५॥

उभयाभास का उदाहरण—

पूर्व दिशा का आलिङ्गन करके चन्द्रिका के साथ प्रदोष के मुख का सेवन कर यह चन्द्रमा एक दिशा से दूसरी दिशा की ओर चल पड़ा है, फिर भी, हे माँ, रात समाप्त होने को ही नहीं आ रही है॥ ३५५॥

छाया—अवगूहितपूर्वदिशे समकं ज्योत्स्नया सेवितप्रदोषमुखे।
मातर्न क्षीयते रजनी अपरदिशामिमुखप्रस्थिते मृगाङ्के॥

अवऊहिअ इति॥ ३५६॥

तिर्य्यगाभासो यथा,—

ओरन्तपङ्कअमुहिं वम्मणडिअं व सलिलसअणणिसण्णं।
अल्लिअइ तीरणलिणिं वाआइ गमेइ सहचरिं वक्काओ॥ ३५६॥

तिर्यगाभास का उदाहरण—

लाल लाल कमल रूपी मुख वाली, कामदेव के द्वारा नचा सी दी गई, जल की शय्या पर सोई हुई तट की कमलिनी का तो चक्रवाक आलिङ्गन करता है और अपनी जीवनसंगिनी चक्रवाकी को आवाज देकर खिसकाये दे रहा है॥ ३५६॥

छाया—उपरक्तपंकजमुखीं मन्मथनटितामिव सलिलशयननिषण्णाम्।
आलिंगति तीरनलिनीं वाचा गमयति सहचरीं चक्रवाकः॥

ओरन्त इति॥ ३५६॥

नायकेषु सर्वगुणसम्पद्योगादुत्तमः, स यथा,—

रामोऽयं जगतीह विक्रमगुणैर्यातः प्रसिद्धिं परा-
मस्मद्भाग्यविपर्ययाद् यदि परं देवो न जानाति तम्।
वन्दीवैष यशांसि गायति मरुद् यस्यैकबाणाहति-
श्रेणीभूतविशालतालविवरोद्गीर्णैः स्वरैः सप्तभिः॥ ३५७॥

नायकों में सभीगुणसम्पत्तियों के योग से वह (नायक) उत्तम है, जैसे—

यह राम हैं जो इस पृथ्वी पर अपने पौरुष तथा गुणों से परम प्रसिद्ध हैं। यह तो हम लोगों का दुर्भाग्य ही है कि हमारे देव-महाराज-आप उन उत्कृष्ट गुणवाले को नहीं जानते हैं जिनका यशोगान यह पवन वैतालिक की भांति एक ही बाण के प्रहार से बहुत से तालवृक्षों में बन गये छिद्रों से निकलने वाले सप्त स्वरों से करता है॥ ३५७॥

स्व० द०—भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में पुरुषों तथा स्त्रियों की प्रकृति को उत्तम मध्यम तथा अधम माना है। उनके अनुसार जो पुरुष की उत्तम प्रकृति के लक्षण हैं वे ही भोज की 'सर्वगुण-सम्पत्' है। भरत के अनुसार—

जितेन्द्रिया ज्ञानवती नानाशिल्पविचक्षणा।
दक्षिणाऽथ (भोग) दक्षा दीनानां परिसान्त्वनी॥
नानाशास्त्रार्थसम्पन्ना गाम्भीर्यौदार्यशालिनी।
धैर्यत्यागगुणोपेता ज्ञेया प्रकृतिरुत्तमा॥ ३४।३-४॥

राम इति। अयं रामः इहास्मिन् जगति विक्रमगुणैः वीर्य्यातिशयैरिति भावः परां महतीं प्रसिद्धिं यातः गतः प्राप्त इत्यर्थः। परं केवलं देवः महाराजः रावण इति भावः अस्माकं राक्षसानामिति भावः भाग्यस्य दैवस्य विपर्य्ययात् वैपरीत्यात् प्रातिकूल्यादिति यावत् यदि तं रामं न जानाति न गणयतीति भावः। एष मरुत् पवनः वन्दीव वैतालिक इव एकस्य बाणस्य शरस्य आहत्या प्रहारेण श्रेणीभूतानां विशालानां महतां तालानां तालवृक्षाणां ये विवराः शरवेधजनितानि रन्ध्राणि इत्यर्थः तैः उद्गीर्णाः उच्चैरुच्चरिताः तैः सप्तभिः स्वरैः निषादादिभिः "निषादर्षभगान्धारषड्जमध्यमधैवताः। पञ्चमश्चेत्यमी सप्त तन्त्रीकण्ठोत्थिताः स्वराः" ॥ इत्यमरः। यस्य रामस्य यशांसि गायति॥ ३५७॥

पादोनगुणसम्पद्योगान्मध्यमो यथा,—

किं नो व्याप्तदिशां प्रकम्पितभुवामक्षौहिणीनां फलं ?
किं द्रोणेन ? किमङ्गराजविशिखैः ? एवं यदि क्लाम्यसि।
जीवद्भ्रातृशतस्य मे भुजबलच्छायां सुखामाश्रिता
त्वं दुर्य्योधनकेसरीन्द्रगृहिणी शङ्कास्पदं किं तव ?॥ ३५८॥

(उत्तम की अपेक्षा) एक चौथाई कम गुणराशि के योग से मध्यम होता है। जैसे—

(हे प्रिये भानुमति,) समस्त दिशाओं में व्याप्त, धरती को कँपाये दे रही मेरी अक्षौहिणी सेनाओं का क्या फल ? द्रोण से भी क्या प्रयोजन ? और अङ्गराज कर्ण के बाणों से भी क्या लाभ ? यदि तुम इसी प्रकार कातरता का अनुभव करती रहीं। मेरे जिन्दा जीमान सौ सौ भाइयोंकी भुजाओं की सुखदायिनी छाया में रहने वाली दुर्योधन नामक सिंहराज की पत्नी हो, तुम्हारे लिये भयप्रद कौन सी वस्तु है॥ ३५८॥

स्व० द०—भरत के अनुसार मध्यमा प्रकृति का लक्षण यह है—

लोकोपचारचतुरा शिल्पशास्त्रविशारदा।
विज्ञानमाधुर्ययुता मध्यमा प्रकृतिः स्मृता॥ ना. शा. ३४।५॥

भोज के द्वारा कहा गया 'सर्वगुणसम्पत्', 'पादोनगुणसम्पत्' तथा आगे कथनीय 'अर्धगुण-सम्पत्' का अर्थ स्पष्ट नहीं है। भरत इस विषय में अधिक स्पष्ट हैं।

किमिति। हे प्रिये ! इत्यध्याहार्य्यम्। यदि त्वम् एवं क्लाम्यसि कातरतामवलम्बसे तदा व्याप्तदिशां दिग्व्यापिनीनामित्यर्थः प्रकम्पिता भूः पृथिवी याभिः तथाभूतानां नः अस्माकम् अक्षौहिणीनां २१८७ एतत्संख्यका रथाः, रथसमसंख्यकाः हस्तिनः, ६५६१० एत-त्संख्यकाः अश्वाः, १०९३५० एतत्संख्यकाः पदातयः एतच्चतुर्विधबलयुक्ताः सेना अक्षौहि-णीति ख्यायते तादृशीनाम् एकादशानामिति शेषः फलं प्रयोजनं किम् ? द्रोणेन

मूर्त्तिमता धनुर्वेदेनेति भावः किम् ? तथा अङ्गराजस्य कर्णस्य विशिखैः शरैः किम् ? न किमपि प्रयोजनमित्यर्थः। त्वं जीवद् भ्रातृणां शतं यस्य तथोक्तस्य मे मम दुर्योधनस्येति भावः सुखयतीति सुखा तां सुखकरीमित्यर्थः भुजबलमेव छाया अनातपमित्यर्थः ताम् आश्रिता अधिष्ठिता दुर्य्योधन एव केशरीन्द्रः सिंहराजः तस्य गृहिणी महिषी, तत्र शङ्कास्पदं भयस्थानं किम् ? न किमपीत्यर्थः दुःखप्रदर्शनेन व्यथितां भानुमतीं नाम स्वां महिषीं प्रति दुर्य्योधनस्योक्तिः ॥ ३५८ ॥

अर्द्धगुणसम्पद्योगात् कनिष्ठो यथा,—

एकस्मिन् शयने मया मयसुतामालिङ्ग्य निद्राशया-
मुन्निद्रं शयितेन मच्चरणयोः संवाहनव्यापृता।
पादाग्रेण तिलोत्तमा स्तनतटे सस्नेहमापीडिता
हर्षादेव समर्पितानि पुलकान्यद्यापि नो मुञ्चति ॥ ३५९ ॥

आधी ही गुणसम्पत्ति के योग से कनिष्ठ होता है। जैसे—

एक ही सेज पर नींद से अलसाई हुई मयपुत्री मन्दोदरी का आलिङ्गन करके जागते हुये ही लेटे लेटे मेरे चरणों को दाबने में लगी हुई तिलोत्तमा के अपने चरणों के अग्रभाग से मैंने स्तनों को प्रेमपूर्वक दबा दिया था। वह उस समय अतीव प्रसन्नता के कारण निकले हुये रोमाञ्च को आज भी नहीं छोड़ पा रही है ॥ ३५९ ॥

स्व० द०—भरत ने अधम प्रकृति को गुणो से तो कम किन्तु अवगुणों से युक्त अधिक माना है। उनके शब्दों में—

रूक्षा वचसि दुःशीलाः कुसख्वाः शल्यबुद्धिकाः।
क्रोधना घातकाश्चैव मित्रघ्नाश्चित्रघातकाः ॥
वृथारम्भप्रसक्ताश्च यत्किञ्चिद्वादिनोऽल्पकाः।
पिशुना उद्धता वाक्यैरकृतज्ञास्तथालसाः ॥
मान्यामानविशेषज्ञा स्त्रीलोलाः कलहप्रियाः।
सूचकाः पापकर्मणिः परद्रव्यापहारिणः ॥
एभिर्दोषैस्तु सम्बद्धा भवन्ति ह्यधमा नराः ॥ ना. शा. ३४।६९ ॥

एकस्मिन्निति। एकस्मिन् न तु द्वितीयास्मिन्निति भावः शयने शय्यायां निद्राशयां निद्रायां सत्यां शेते इति तथोक्तां निद्रितामित्यर्थः मयसुतां मयदानवकन्यां मन्दोदरीमित्यर्थः आलिङ्ग्य आश्लिष्य उन्निद्रं निर्निद्रमित्यर्थः यथा तथा शयितेन मया मम चरणयोः पादयोः संवाहने संसेवने व्यापृता व्यासक्ता तिलोत्तमा तदाख्या सुरसुन्दरीति यावत बन्दीभूतेति भावः पादाग्रेण मदीयेन चरणाग्रेण स्तनतटे सस्नेहं सप्रणयं यथा तथा आपीडिता आहता सती हर्षादेव न तु विरागादिव समर्पितानि संक्रमितानि जनितानीति यावत् स्तनतटे इति भावः पुलकानि रोमाञ्चान् अद्यापि नो मुञ्चति न त्यजति। निद्राशयामित्यत्र निद्रालसामिति पाठः समीचीनः। तत्र निद्रया अलसा विवशेत्यर्थः ताम् ॥ ३५९ ॥

सत्त्वप्रधानः सात्त्विको यथा,--

शक्त्या वक्षसि मग्नया सह मया मूढे प्लवङ्गाधिपे
निद्राणेषु च विद्रवत्सु कपिषु प्राप्तावकाशे द्विषि।
मा भैष्टेति निरुन्धतः कपिभयं तस्योद्भटभ्रूस्थिते
मर्मच्छेदविसंष्ठुलाक्षरजडा वाचस्त्वया न श्रुताः॥ ३६०॥

सत्त्वप्रधान सात्त्विक है। जैसे—

वक्षः स्थल में समा गई शक्ति से युक्त मेरे ही साथ वानरराज सुग्रीव के भी मूर्च्छित हो जाने पर, जब निद्रालस वानर भाग गये और शत्रु रावण को अवकाश मिल गया उस समय विकट भृकुटियों को करके वानरों के भय को रोकते हुये उस (विभीषण की) 'डरो मत' इस प्रकार की मेरे कोमल अङ्गों के घावों को देख कर विकृतस्वर से उच्चरित किये गये अस्पष्ट वाणी को आपने नहीं सुना था॥ ३६०॥

शक्त्येति। वक्षसि मग्नया गाढं निपतितयेत्यर्थः शक्त्या तदाख्यास्त्रविशेषेणेत्यर्थः शत्रुप्रयुक्तयेति भावः हेतुभूतया मया सह प्लवङ्गाधिपे वानरराजे सुग्रीवे मूढे मयि सुग्रीवे च मोहं गते इत्यर्थः कपिषु वानरेषु निद्राणेषु निद्रालसेष्विति यावत् रात्रियुद्धे इति भावः अतएव विद्रवत्सु पलायमानेषु सत्सु, द्विषि शत्रौ रावणे इति भावः प्राप्तः लब्धः अवकाशः अवसरः युद्धभङ्गरूप इति भावः येन तथाभूते सति मा भैष्ट न भयं कुरुत इति वाक्येनेति शेषः कपिभयं वानराणां भीतिं निरुन्धतः अपनयतः उद्भटा उत्कटा भ्रूस्थितिः भ्रूभङ्गः यस्य तथाभूतस्य तस्य विभीषणस्येति भावः मर्मणां सन्धिस्थानविशेषाणां छेदेन वेधेनेव मन्मर्माघातदर्शनादिति भावः विसंष्ठुलानि विकृतस्वरत्वेन उच्चारितानीति भावः अक्षराणि वर्णाः तैः जडाः अनतिस्पष्टा इत्यर्थः वाचः वाक्यानि न श्रुताः, मया तु अन्तः संज्ञावलात् श्रुताः त्वया तु मदन्यथाभिभूतेन अन्तःसंज्ञाविरहितेनेव स्थितेन न आकर्णिता इति निष्कर्षः। रामं प्रति हृतस्वस्थस्य लक्ष्मणस्य उक्तिः॥ ३६०॥

रजःप्रधानो राजसो यथा,--

सामन्तमौलिमणिरञ्जितशासनाङ्क-
मेकातपत्रमवनेर्न तथा प्रभुत्वम्।
अस्याः सखे! चरणयोरधिगम्य सम्यग्
आज्ञाकरत्वमहमद्य यथा कृतार्थः॥ ३६१॥

रजोगुण प्रधान राजस है, जैसे—

हे मित्र, अधीश्वरों के शिर पर स्थित मणियों से सुशोभित आदेश वाले पृथ्वी के एकच्छत्र राज्य को भी प्राप्त करके मैं उतना कृतार्थ अपने को नहीं मानता जितना कि इस सुन्दरी के दोनों चरणों का किङ्कर बन कर मानता हूँ॥ ३६१॥

सामन्तेति। हे सखे! मित्र! अहम् अद्य अस्याः कान्तायाः चरणयोः सम्यक् आज्ञाकरत्वं दासत्वम् अधिगम्य प्राप्य यथा कृतार्थः अस्मीति शेषः सामन्तानाम्

अधीश्वराणां 'सामन्तः स्यादधीश्वर' इत्यमरः अधीननृपाणामिति भावः मौलिषु किरीटेषु ये मणयः रत्नानि तैः रञ्जितम् अलंकृतम् शासनम् आज्ञा अङ्कः चिह्नं यस्य तथाभूतम् एकातपत्रम् एकच्छत्रम् एकाधिपत्यमिति भावः अवनेः पृथिव्याः प्रभुत्वं प्राप्य तथा न कृतार्थ इति शेषः ॥ ३६१ ॥

तमःप्रधानस्तामसो यथा,—

तपो वा शस्त्रं वा व्यपदिशति यः कश्चिदिह वः
स दर्पादुद्दामद्विषमसहमानः कलयतु ।
अरामां निःसीरध्वजदशरथीकृत्य वसुधा-
मतृप्तस्तत्कुल्यानपि परशुरामः शमयति ॥ ३६२ ॥

तमोगुण प्रधान तामस है, जैसे—

तुम लोगों में से जो कोई भी यहाँ तपस्या अथवा शस्त्र की बातें करता है, वह अहङ्कार के कारण उत्कट मुझ शत्रु को असहिष्णु भले कहे, किन्तु यह परशुराम तो इस पृथ्वी को रामरहित तथा जनक और दशरथ से विहीन करके भी तृप्त न होने पर उनके कुल के लोगों को भी अब शान्त ही कर देगा ॥ ३६२ ॥

तप इति । इहास्मिन् सदसीति शेषः वः युष्माकं मध्ये यः कश्चित् शतानन्दो वा जनको वेति भावः तपो वा तपश्चरणजनितं तेजो वा इत्यर्थः शस्त्रं वा शस्त्रग्रहण-सामर्थ्यं वा इत्यर्थः व्यपदिशति प्रकटयतीत्यर्थः । स दर्पात् अहङ्कारात् उद्दामम् उत्कटं अप्रतिविधेयमिति भावः द्विषं शत्रुं मामिति शेषः असहमानः अक्षममाणः कलयतु व्यपदिशतु इत्यर्थः । किन्तु परशुरामः अरामां रामरहिताम् अग्रे निहतरामामिति यावत् वसुधां पृथ्वीं सीरध्वजः जनकः दशरथः सीरध्वजदशरथौ न विद्येते सीरध्वज-दशरथौ यस्यां सा निःसीरध्वजदशरथा न निःसीरध्वजदशरथाम् अनिःसीरध्वजदशरथां निःसीरध्वजदशरथां कृत्वेति निःसीरध्वजदशरथीकृत्य अतृप्तः तथापि तृप्तिं न प्राप्तः सन् तत्कुल्यानपि तयोः सीरध्वजदशरथयोः कुलजातानपि शमयति नाशयति ॥ ३६२ ॥

अनेकजानिः साधारणो यथा,—

स्नाता तिष्ठति कुन्तलेश्वरसुता वारोऽङ्गराजस्वसुः
द्यूतैः रात्रिरियं जिता कमलया देवी प्रसाद्याद्य च ।
इत्यन्तःपुरसुन्दरीः प्रति मया विज्ञाय विज्ञापिते
देवेनाप्रतिपत्तिमूढमनसा द्वित्राः स्थितं नाडिकाः ॥ ३६३ ॥

अनेक पत्नियों वाला साधारण है, जैसे—

कुन्तलेश्वर की पुत्री ऋतुस्नान करके विद्यमान है, किन्तु अङ्गराज की बहन के लिये निश्चित किया गया दिन भी आज ही है, कमला नाम की रानी ने आज की यह रात जुये में जीत ली है और आज ही महारानी जी को भी प्रसन्न करना है । इस प्रकार जान कर अन्तःपुर की सुन्दरियों के विषय में मेरे द्वारा सूचित किये जाने पर महाराज जी अनिश्चय के कारण किंकर्त्तव्य विमूढ होने से दो तीन घड़ी रुके रहे ॥ ३६३ ॥

अनेकजानिरिति। न एका अनेकाः बहव इत्यर्थः जायाः कान्ताः यस्य सः अनेकजानिः बहुभार्य्य इत्यर्थः।

स्नातेति। कुन्तलेश्वरस्य कुन्तलाधिपतेः सुता दुहिता स्नाता ऋताविति भावः कृतस्नाना तिष्ठति, तस्यां गमनं शास्त्रीयत्वात् अवश्यकर्त्तव्यमन्यथा प्रत्यवायः स्यादिति भावः। अद्य अङ्गराजस्य स्वसुः भगिन्याः वारः निर्दिष्टं दिनमित्यर्थः सोऽपि नातिक्रमणीय इति भावः। कमलया तदाख्यया कान्तया द्यूतैः पाशकादिक्रीडाविशेषैः इयं रात्रिः जिता यद्यहं पराजीयेय, तदा इमां रात्रिं त्वद्गृहे नयामीति पणत्वेन निरूपिता रात्रिः हारिता तदसौ पणो विजेत्र्यै अवश्यं देय इति भावः। अद्य देवी प्रधाना महिषी प्रसाद्या सान्त्वनीया। सा हि केनचित् व्यपदेशेन कलुषिता अवश्यं प्रसादनीया, अन्यथा भृशमनर्थपातः स्यादिति भावः। मया अवरोधकिङ्करेणेति भावः अन्तःपुरसुन्दरीः प्रति उद्दिश्येति भावः इति विज्ञापिते निवेदिते सति देवेन महाराजेन दक्षिणनायकभूतेनेति भावः अप्रतिपत्त्या इति कर्त्तव्यानवधारणेनेत्यर्थः मूढं जडमित्यर्थः मनः यस्य तथाभूतेन सता द्वित्राः नाडिकाः अत्यन्तसंयोगे द्वितीया स्थितम् अवस्थानं कृतमित्यर्थः॥ ३६३॥

अनन्यजानिरसाधारणो यथा,—

आ विवाहसमयाद् गृहे वने शैशवे तदनु यौवने पुनः।
स्वापहेतुरनुपासितोऽन्यया रामबाहुरुपधानमेष ते॥ ३६४॥

जिसके एक के अतिरिक्त कोई दूसरी पत्नी नहीं है, वह असाधारण है, जैसे—

विवाह के समय से लेकर घर में, वन में, बाल्यकाल में और उसके बाद युवावस्था में सोने के लिये जिसे कोई स्त्री नहीं पा सकी, वही यह राम की भुजा तुम्हारे लिये तकिया बनी है॥ ३६४॥

आ विवाहेति। आ विवाहसमयात् विवाहसमयादारभ्येत्यर्थः गृहे वने शैशवे कौमारे तदनु तदनन्तरं पुनः यौवने तारुण्ये स्वापस्य शयनस्य हेतुः शिरोऽवलम्बनाश्रय इत्यर्थः अन्यया अपरया कान्तया अनुपासितः अनधिगतः एषः रामस्य बाहुः ते तव उपधानं शिरोधानाश्रय इत्यर्थः॥ ३६४॥

अहङ्कारप्रधानो धीरोद्धतो यथा,—

चक्रं वा मधुहा कृतान्तगृहिणां दत्ताग्रपञ्चाङ्गुलं
वज्रं भूधरपक्षशोणितसुरापानोन्मदं वा वृषा।
शूलञ्चासुररक्तविन्दुनिचितं गृह्णातु शूलायुधो
धृष्टद्युम्नमहं निहन्मि समरे कश्चित् परित्रायताम्॥ ३६५॥

अहङ्कार प्रधान धीरोद्धत होता है, जैसे—

चाहे कृष्ण ही अपने उस चक्र को उठावें जिसने यमराज के घर गये लोगों को पहले ही पञ्चाङ्गुलि दी है, अथवा इन्द्र पर्वतों के पंख अथवा पक्षवालों के रक्त रुपी सुरा का पान करने से पागल वज्र को उठालें, दैत्यों के रक्त की विन्दुओं से सुशोभित अपने त्रिशूल को शिव भी क्यों न संभाल लें, मैं युद्ध में धृष्टद्युम्न को समाप्त कर रहा हूँ, कोई बचाये (तो भला)॥ ३६५॥

स्व० द०—भरत मुनि ने देवताओं को धीरोद्धत माना हैं। उनके ही शब्दों में—"देवा धीरोद्धता ज्ञेयाः" ना. शा. ॥ ३४।१९ ॥

किन्तु धनञ्जय द्वारा दिया गया लक्षण अधिक स्पष्ट और व्यापक है—

दर्पमात्सर्यभूयिष्ठो मायाच्छद्मपरायणः ।
धीरोद्धतस्त्वहङ्कारी चलश्चण्डो विकत्थनः ॥ दशरू २।५-६॥

चक्रमिति। मधुहा मधुसूदनः कृष्णः कृतान्तगृहिणां यमसदनगामिना 'कृतान्तो यमदैवयो'रित्यमरः। अहन्तु अमरत्वात् न तथेति भावः दत्तम् अग्रे यमगृहगमनात् प्रागिति भावः पञ्चानां अङ्गुलीनां समाहारः पञ्चाङ्गुलं तत् येन तथोक्तं चक्रास्त्रेण कण्ठस्य पञ्चाङ्गुलमात्रस्येव दारणादिति भावः। चक्रं सुदर्शनं वा, वृषा इन्द्रः 'वासवो वृत्रहा वृषे'त्यमरः। भूधराणां पर्वतानां पक्षाः तेषां छिन्नानामिति भावः शोणितान्येव सुराः मदिराः तासां पानेन आस्वादेन उन्मदम् उत्कटगर्वमिति यावत् वज्रं वा तथा शूलायुधः शम्भुः असुराणां रक्तविन्दुभिः निचितं व्याप्तं शूलं गृह्णातु च। अहं धृष्टद्युम्नं समरे निहन्मि नाशयामि, कश्चित् उक्तानां वीराणां मध्ये इति शेषः परित्रायतां रक्षतु ॥ ३६५ ॥

रत्युपचारप्रधानः धीरललितो यथा,—

आधातुं विनयं निरागसि नरे कुप्यन्तु नामेश्वरा-
स्तेन स्वाशयशुद्धिरेव सुकरा प्रायः प्रभूणां पुरः।
मिथ्यामानिनि ! मन्यसे यदि तदा नित्यं मनोवर्त्तिनी
ध्याता तामरसाक्षि ! चित्तफलके का वा त्वदन्या मया ? ॥३६६॥

प्रेम के कामों को प्रधानता देने वाला धीरललित है, जैसे—

विनम्रता का आधान करने के लिये स्वामी लोग निरपराध लोगों पर भले ही क्रुद्ध हों, और उससे मालिकों के सामने भाव की शुद्धि अधिक आसान भी होती है। हे झूठा क्रोध करने वाली रक्तकमलनयने, यदि तुम अपने को सदा मेरे मन में सन्निविष्ट समझती हो तब भला तुम को छोड़ कर अन्य किसी नायिका का ध्यान अपने चित्तफलक पर कैसे कर सकता हूँ ॥ ३६६ ॥

स्व ०द०—भरत धीरललित नायकत्व किसी राजा में ही मानते हैं। "स्युर्धीरललिता नृपाः। "ना. शा. ३४।१९ ॥, किन्तु दशरूपककार के अनुसार उसका लक्षण यह है—

निश्चिन्तो धीरललितः कलासक्तः सुखी मृदुः" २।३ ॥

आधातुमिति। ईश्वराः प्रभवः विनयं शिष्टाचारम् आधातुं शिक्षयितुं निरागसि निरपराधे नरे मानवे कुप्यन्तु नाम प्रकाश्ये, प्रभूणां कोपप्रकाशे निरपराधोऽपि नरः शिष्टाचारः स्यादिति भावः तेन हेतुना विनयाधानेनेत्यर्थः प्रभूणां पुरः अग्रतः प्रायः बाहुल्येन स्वस्य आत्मनः आशयशुद्धिः हृदयभावशोधनं सुकरा अनायासेन क्रियते इत्यर्थः। कदापि मम अविनयिता माभूदिति कोपप्रकाशकारणं मत्प्रभुत्वात् तवेति भावः। हे मिथ्यामानिनि ! अलीककोपने ! तामरसाक्षि ! रक्तोत्पलनयने ! रक्तोत्पलं तामरसमित्यमरः कोपात् नयनस्य रक्तत्वमिति भावः यदि त्वं नित्यं सततं मनोवर्त्तिनी हृदयस्थिता ममेति शेषः इति मन्यसे आत्मानमिति शेषः तदा का वा त्वदन्या त्वत्तः अपरा कान्तेति शेषः चित्तमेव फलकं काष्ठनिर्मिताधारविशेषः तत्र ध्याता चिन्तिता ? मयेति शेषः। यदि अहं कामपि

चिन्तयामि तदा नित्यं मनोवर्त्तिन्या त्वया अवश्यमेव ज्ञातव्यम्। तस्मात् वृथा मानो मयि न कर्त्तव्य इति निष्कर्षः ॥ ३६६ ॥

उपशमप्रधानो धीरप्रशान्तो यथा,—

कुलममलिनं भद्रा मूर्त्तिर्मतिः श्रुतिशालिनी
भुजबलमलं स्फीता लक्ष्मीः प्रभुत्वमखण्डितम्।
प्रकृतिसुभगा ह्यन्ते भावा मदस्य च हेतवो
व्रजति पुरुषो यैरुन्मादं त एव नवाङ्कुशाः ॥ ३६७ ॥

शान्ति प्रधान नायक धीरप्रशान्त हैं, जैसे—

निष्कलंक कुल, मङ्गलमयी देह, वेद शास्त्रों का अनुशीलन करने वाली बुद्धि, सबल भुजायें विस्तृत धनसम्पत्ति, अक्षत स्वामित्व, ये सभी भाव स्वभाव से ही सुन्दर हैं और मद के कारण भी हैं। वस्तुतः जिन गुणों के कारण पुरुष पागल हो जाता है, वही नवीन अङ्कुश भी होते हैं ॥ ३६७ ॥

स्व० द०—भरत ब्राह्मण तथा वणिक् पुरुषों को धीरप्रशान्त नायक मानते हैं। उनके शब्दों में—

"धीरप्रशान्ता विज्ञेया ब्राह्मणा वणिजस्तथा।" ना. शा. ३४।२० ॥

तथा दशरूपककार के अनुसार भी—

"सामान्यगुणयुक्तस्तु धीरशान्तो द्विजादिकः।" २।४ ॥

कुलमिति। कुलं वंशः अमलिनं निर्मलं निष्कलङ्कमिति यावत् मूर्त्तिः अवयवः भद्रा शोभना। मतिः बुद्धिः श्रुत्या शास्त्रानुशीलनेन इति भावः शालते शोभते इति तथोक्ता। भुजबलं बाहुबलं वीर्य्यमित्यर्थः अलम् अत्यर्थम्। लक्ष्मीः श्रीः समृद्धिरिति भावः स्फीता प्रवृद्धा। प्रभुत्वं प्रभावः अखण्डितम् अव्याहतम्। एते पूर्वोक्ताः भावाः कुलममलिनमित्यादयः अवस्था इति यावत् प्रकृतिसुभगाः स्वभावेन रमणीयाः मदस्य मत्तताया हेतवः कारणानि च। यैः प्रागुक्तैः भावैः पुरुषः उन्मादम् अविनयमिति यावत् व्रजति प्राप्नोति ते एव प्रागुक्ताः भावाः नवाः नूतनाः तीक्ष्णा इति भावः अङ्कुशाः शासनहेतवः अस्त्रविशेषा इति यावत् यद्यपि अङ्कुशशब्दः केवलं हस्तिशासनास्त्रतयोच्यते तथाप्यत्र क्वचिद् विशेषस्य सामान्यपरत्वं सामान्यस्यापि विशेषपरत्वमिति न्यायात् सामान्यपरत्वमस्येति बोद्धव्यम्। शमपराणां साधूनामेते भावाः विनयं रक्षन्ति असाधूनान्तु अविनयमेव जनयन्तीति भावः ॥ ३६७ ॥

विश्रब्धोदारकर्मा धीरोदात्तः, स यथा,—

कपोले जानक्याः करिकलभदन्तद्युतिमुषि
स्मरस्मेरं गण्डोड्डमरपुलकं वक्त्रकमलम्।
मुहुः पश्यन् शृण्वन् रजनिचरसेनाकलकलं
जटाजूटग्रन्थिं द्रढयति रघूणां परिवृढः ॥ ३६८ ॥

विश्वास युक्त तथा उदार कर्म करने वाला धीरोदात्त नायक है, जैसे—

हस्तिदन्त की छटा को भी चुरा लेने वाले जानकी के कपोल पर कामावेश के कारण

प्रफुल्लित, तथा अत्युग्र रूप से रोमाञ्चित मुख कमल वार-बार देख रहे थे, इस बीच में रघुपतिराम ने खर आदि राक्षसों की सेना का कोलाहल सुनकर अपनी जटाओं की ग्रन्थि को कसना प्रारम्भ कर दिया ॥ ३६८ ॥

स्व० द०—भरत मुनि सेनापति तथा अमात्य को धीरोदात्त मानते हैं—

"सेनापतिरमात्यश्च धीरोदात्तौ प्रकीर्तितौ ।" ३४।२० ॥

तथा धनञ्जय के अनुसार—

महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः ।
स्थिरो निगूढाहंकारो धीरोदात्तो दृढव्रतः ॥ दश. रू. २।४।५ ॥

कपोल इति । रघूणां परिवृढः पतिः रामः करिकलभस्य गजशावकस्य यद्यपि कलभ-शब्देन करिशावक उच्यते 'कलभः करिशावक' इत्यमरोक्तेः तथापि कर्णकुण्डलादिवत् अत्र प्रयोगो बोध्यः । दन्तः करिकलभदन्तः तस्य द्युतिं कान्तिं मुष्णाति हरतीति तथोक्तः तस्मिन् विशदोज्ज्वले इति भावः जानक्याः सीतायाः कपोले गण्डे प्रतिफलितमिति शेषः स्मरेण कामावेशेनेति भावः स्मेरं विकस्वरं गण्डे कपोले उद्डम्बराः उद्गताः पुलकाः रोमाञ्चाः सत्त्वोदयजनिता इति भावः यस्य तथोक्तं वक्त्रं वदनमेव कमलं पद्मं स्वमिति शेषः मुहुः पुनः पुनः पश्यन् अवलोकयन् तथा रजनिचराणां राक्षसानां खरादीनां याः सेनाः बलानि तासां कलकलः कोलाहलः तं शृण्वन् आकर्णयन् जटाजूटस्य जटासमूहस्य ग्रन्थिं बन्धनं दृढयति दृढीकरोति । शृङ्गारवीरयोर्मध्यवर्त्ती राम इति भावः ॥ ३६८ ॥

कैतवप्रधानः शठो यथा,—

दृष्ट्वैकासनसङ्गते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरात्
एकस्या नयने निमील्य विहितक्रीडानुबन्धच्छलः ।
ईषद्वक्रितकन्धरः सपुलकः प्रेमोल्लसन्मानसाम्
अन्तर्हासिलसत्कपोलफलकां धूर्त्तोऽपरां चुम्बति ॥ ३६९ ॥

छलछद्म को प्रधानता देने वाला शठ है, जैसे—
(अर्थ के लिये द्रष्टव्य १।९९) ॥ ३६९ ॥

दृष्ट्वेति । धूर्त्तः कितवः प्रियतमे द्वे कान्ते एकासने संस्थिते आसीने दृष्ट्वा पश्चात पृष्ठ-भागेन उपेत्य उपगम्य आदरात् प्रणयातिशयात् विहितः कृतः क्रीडाया अनुबन्धः अनुष्ठान-मेव छलं येन तथाभूतः क्रीडाच्छलेनेति भावः एकस्याः प्रियतमायाः नयने निमील्य पिधायेत्यर्थः पिधायेति पाठान्तरम् । ईषत् अल्पं वक्रितापरावर्त्तितेत्यर्थः कन्धरा ग्रीवा येन तथोक्तः सपुलकः सरोमाञ्चः कामावेशजसत्त्वविकारादिति भावः प्रेम्णा प्रणयेन उल्लसत् मानसं यस्याः तां तथा अन्तर्हासेन गूढहसितेन लसत् विकसत् कपोल एव फलकं यस्याः तथाविधाम् अपरां द्वितीयां प्रियतमां चुम्बति ॥ ३६९ ॥

कृतापराधोऽप्यविलक्षो धृष्टो यथा,—

शतं वारानुक्तः प्रियसखि ! वचोभिः स परुषैः
सहस्रं निर्धूतः पदनिपतितः पार्ष्णिहतिभिः ।

कियत् कृत्वा बद्धाः पुनरिह न वेद्मि भ्रुकुटय-
स्तथापि क्लिश्यन् मां क्षणमपि न धृष्टो विरमति ॥ ३७० ॥

अपराध करने पर भी अपने लक्ष्य से न हटने वाला धृष्ट है, जैसे—
(अर्थ के लिये द्रष्टव्य ४।१८०) ॥ ३७० ॥

शतमिति । हे प्रियसखि ! स धृष्टः चपलः परुषैः निष्ठुरैः वचोभिः वाक्यैः शतवारान् उक्तः निर्भर्त्सित इत्यर्थः, पदनिपतितः चरणपतितः पार्ष्णिहतिभिः पादप्रहारैरित्यर्थः सहस्रं वारानिति शेषः निधूंतः निराकृतः । इहास्मिन् धृष्टे कियत् कृत्वा कतिवारानित्यर्थः पुनः भ्रुकुटयः भ्रूभङ्गाः बद्धाः कृताः, न वेद्मि न जानामि तदिति शेषः । तथापि मां क्लिश्यन् व्यथयन्नित्यर्थः क्षणमपि न विरमति न निवर्त्तते । न त्यजतीति यावत् ॥ ३७० ॥

हृदयङ्गमप्रवृत्तिरनुकूलो यथा,—
मुञ्च मानमनिमित्तकोपने ! सन्ध्यया प्रणमितोऽस्मि नान्यया ।
किं न वेत्सि सहधर्मचारिणं चक्रवाकसमवृत्तिमात्मनः ? ॥ ३७१ ॥

जिसकी क्रियायें चित्त को भावें वह अनुकूल है, जैसे—

हे निष्कारण कोप करने वाली प्रिये, तुम कोप छोड़ दो, मैं संध्या के कारण झुका हुआ प्रणाम कर रहा था, किसी स्त्री के लिए नहीं । अपने सहधर्मी मुझको चक्रवाक् के सदृश आचरण वाला—एक पत्नी व्रत धारी—क्यों नहीं मानती ? ॥ ३७१ ॥

मुञ्चेति । हे अनिमित्तकोपने ! निष्कारणकोपकारिणि ! मानं कोपं मुञ्च सन्ध्यया प्रणमितः अस्मि, अन्यया कान्तया न, सन्ध्यावन्दनार्थम् अहं कृतप्रणामस्त्वया दृष्टः अन्यां नारीं नाहं वन्दे इति भावः । आत्मनः सहधर्मचारिणं मां चक्रवाकसमवृत्तिम् एकपत्नीव्रत-मिति भावः किं न वेत्सि ? न जानासि ? ॥ ३७१ ॥

औपरोधिकप्रवृत्तिः दक्षिणो यथा,—
अनेन कल्याणि ! मृणालकोमलं व्रतेन गात्रं ग्लपयस्यकारणम् ।
प्रसादमाकाङ्क्षति यस्तवोत्सुकः स किं त्वया दासजनः प्रसाद्यते ? ॥३७२॥

स्त्रियों के अनुकुल आचरण करने वाला दक्षिण है, जैसे—

हे भद्रे, इन व्रतों से तुम अपने विसतन्तु के सदृश कोमल शरीर को क्यों म्लान कर रही हो । जो स्वयं उत्कण्ठित होकर तुम्हारी कृपा का इच्छुक है, तुम्ही उस सेवक को क्यों प्रसन्न कर रही हो ॥ ३७२ ॥

स्व० द०—दशरूपक में भी इन चार प्रकार के भेदों का निरूपण है । धीरोदात्त आदि चारों प्रकारों में से प्रत्येक इन चारों भेदों से युक्त हो सकता है ।

धनञ्जय के शब्दों में—

स दक्षिणः शठो धृष्टः पूर्वौ प्रत्यन्यया हृतः ॥
दक्षिणोऽस्यां सहृदयः गूढविप्रियकृच्छठः ।
व्यक्तान्यवैकृतो धृष्टोऽनुकूलस्त्वेकनायिकः ॥ २।६-७ ॥

अनेनेति। हे कल्याणि शुभङ्करि! मृणालकोमलम् अतिसुकुमारमिति भावः गात्रम् अङ्गम् अनेन व्रतेन नियमेन अकारणं हेतुं विनेत्यर्थः ग्लपयसि ग्लानिं नयसि, यः उत्सुकः उत्कण्ठितः सन् तव प्रसादम् अनुग्रहम् आकाङ्क्षति अभिलषति, स दासजनः अहमिति भावः किं कथं प्रसाद्यते सेव्यते इत्यर्थः व्रतेनेति भावः ॥ ३७२ ॥

नायिकागुणेषु सर्वगुणसम्पद् योगादुत्तमा यथा,—

हसिआइं समंसलकोमलाइं बीसम्भकोमलं वअणं।
सब्भावकोमलं पुलाइअंव णमिमो सुमहिलाणं ॥ ३७३ ॥

नायिका के गुणों में सभी गुणराशियों के योग से उत्तमा होती है, जैसे—

सुन्दरियों की माँसल तथा कोमल हँसी को, विश्वास पूर्ण तथा मधुर वाणी को, और सद्भावनाओं से कोमल अवलोकनों को प्रणाम करते हैं ॥ ३७३ ॥

हसिआइं इति ॥ ३७३ ॥

पादोनगुणसम्पद्योगात् मध्यमा यथा,—

णिअदइअदंसणुक्खित्त पहिअ अण्णेण वच्च सुपहेण।
गहवइवहूआ दुल्लङ्घिवाउदाहअपइहग्गामो ॥ ३७४ ॥

एक चौथाई कमगुणों के योग से मध्यमा होती है—जैसे—

अपनी प्रियतमा को देखने के लिये उछल रहे हे पथिक, तुम किसी दूसरे अच्छे मार्ग से होकर चले जाओ, क्यों कि यह गांव तो कृषकवधू की दुर्लङ्घ्य वायु से जला सा जा रहा है, अथवा इस ग्राम में एक कृषकवधू है जिसके द्वारा फेंका हुआ फंदा छुड़ाया नहीं जा सकता ॥ ३७४ ॥

[छाया—निजदयितदर्शनोक्षिप्त पाथक अन्येन व्रज सुपथेन।
गृहपतिवधूकादुर्लङ्घितवायुदाहाभ इह ग्रामः ॥
(गृहपतिवधूका दुर्ल्लंधितवायुरा इह ग्रामे ॥)

णिअदइअ इति ॥ ३७४ ॥

अर्द्धगुणसम्पद् योगात् अधमा यथा,—

तं किं खणं विरज्जसि तं किरउ व हससि सअलमहिलाओ।
एहेहि वारवालिइ अंसूमइमलं समुप्पिसिओ ॥ ३७५ ॥

आधी गुणराशि से युक्त होने के कारण अधमा होती है—जैसे—

तू एक क्षण में विरक्त होती है और तू ही समस्त महिलाओं का उपहास भी करती है। हे वारपालिके, आओ, आओ, हम तुम्हारे मैले आँसू को पोछ दें ॥ ३७५ ॥

[छाया—त्वं किल क्षणात् विरज्यसे त्वं किलोपहससि सकलमहिलाः।
एहयेहि वारपालिके अश्रु मलिनं समुत्प्रोञ्छामः ॥]

स्व० द०—स्त्रियों की उत्तमा आदि प्रकृतियों का वर्णन भरत ने इन शब्दों में किया है—

स्त्रीणां पुनस्तु प्रकृतिं व्याख्यास्याम्यनुपूर्वशः ।
मृदुभाषा त्वचपला स्मितभाषिण्यनिष्ठुरा ॥
गुरूणां वचने दक्षा सलज्जा विनयान्विता ।
रूपाभिजनमाधुर्यगुणैः स्वाभाविकैर्वृता ॥
गाम्भीर्यधैर्यसम्पन्ना उत्तमा प्रकृतिः स्मृता ।
नात्युत्कृष्टैरशिथिलैरेभिरेव वृता गुणैः ॥
अल्पदोषानुविद्धा च मध्यमा प्रकृतिः स्मृता ।
अधमा प्रकृतिर्या तु पुरुषाणां प्रकीर्तिता ॥
विज्ञेया सैव नारीणामधमानां समासतः ॥ ना. शा. ३४।१०-१४ ॥

त. किं खण इति ॥ ३७५ ॥

वयःकौशलाभ्यामसम्पूर्णा मुग्धा यथा,—

सहिआहिं भण्णमाणा त्थणए लग्गकुसुम्भपुप्फुन्ति ।
मुद्धवहूआ हसिज्जइ पप्फोडन्ती णहवआइम् ॥ ३७६ ॥

जिसकी आयु तथा रतिकर्म की निपुणता पूरी तरह निखरी न हो, वह मुग्धा है—जैसे—(अर्थहेतु द्रष्टव्य ३।५ ॥) ॥ ३७६ ॥

सहि आहिं इति ॥ ३७६ ।

वयसा परिपूर्णा मध्यमा यथा,—

पडिवक्खमण्णुउडे लावण्णउडे अणङ्गअकुम्भे ।
पुरिससअहिअधरिए कीस त्थणन्ती त्थणे वहसि ॥ ३७७ ॥

आयु से भरी पूरी मध्यमा है । जैसे—

(सपत्नी रूप) प्रतिपक्षियों के मन को सन्ताप देने वाले, सौन्दर्य के कलश, कामदेव के हाथी के कुम्भ सदृश तथा सैकड़ों लोगों द्वारा अपने हृदय पर धारण किये जा रहे इन दोनों स्तनों को तू काँखती हुई क्यों वहन कर रही है ॥ ३७७ ॥

[छाया—प्रतिपक्षमन्युपुञ्जौ लावण्यकूटावनङ्गगजकुम्भौ ।
पुरुषशतहृदयधृतौ किमिति स्तनन्ती स्तनौ वहसि ॥] गा. स. ३।६० ॥

पडिवक्ख इति ॥ ३७७ ॥

वयःकौशलाभ्यां सम्पूर्णा प्रगल्भा यथा,—

खिण्णस्स ठवेइ उपइणो गिह्मावरणहरमिअस्स ।
ओल्लं गलन्त उप्फं ण्हाणसुअंधचिउरभारं ॥ ३७८ ॥

आयु तथा निपुणता दोनों से परिपूर्ण रमणी प्रगल्भा है । जैसे—

गर्मी की दोपहरी के बाद रमण करने से खिन्न पति के वक्षःस्थल पर वह सुन्दरी अपना

भीगा हुआ, फूलों से रहित, तथा सुगन्ध से सराबोर केशराशि ढाल रही है ॥ ३७८ ॥

[छाया—खिन्नस्योरसि पत्युः स्थापयति ग्रीष्मापराह्णरमितस्य ।
आर्द्रं गलत्कुसुमं स्नानसुगन्धं चिकुरभारम् ॥ गा. स. ३।९९ ॥]

खिण्णस्सेति ॥ ३७७ ॥

यत्नापनेयमाना धीरा यथा,—

ण वि तह अणालवन्ती हिअअं दूमेइ माणिणी हिअअं ।
जह दूरे वि अम्हिअगरूअरोसमज्जत्थभणिएहिं ॥ ३७९ ॥

यत्न से अपनीत की जा रही धीरा है—जैसे—
(अर्थ के लिये द्रष्टव्य ५।३२५ ॥) ॥ ३७९ ॥

णवितह इति ॥ ३८० ॥

अयत्नापनेयमाना अधीरा यथा,—

अवलम्बिअमाणपरम्मु हीअ तए तस्स माणिणि पिअस्स ।
पुट्ठिपुलउग्गामी तुह कहेइ समुहट्ठिअं हिअअं ॥ ३८० ॥

बिना यत्न के ही अपनीत की जा रही 'अधीरा' है । जैसे—
हे मानिनी, मान ग्रहण करके मुख फेर लेने पर भी अपनी पीठ पर निकल आये रोमाञ्च के द्वारा आरहे प्रियतम के सामने उपस्थित हृदय को निवेदित किया जा रहा है ॥ ३८० ॥

छाया—अवलम्बितमानपराङ्मुख्या आगच्छतो मानिनि प्रियस्य ।
पृष्ठपुलकोद्गमस्तव कथयति सम्मुखस्थितं हृदयम् ॥] गा. स. १।८७ ॥

स्व० द०—दशरूपक में मुग्धा, मध्या आदि तीन भेद स्त्रियों के माने गये हैं ।

धनञ्जय के ही शब्दों में—

मुग्धा मध्या प्रगल्भेति स्वीया शीलार्जवादियुक् ॥
मुग्धा नववयःकामा रतौ वामा मृदुः क्रुधि ।
मध्योद्यद्यौवनानङ्गा मोहान्तसुरतक्षमा ॥ दशरूपक २।१५-१६ ॥

यह मध्या के ही धीरा, धीराधीरा तथा अधीरा भेद करते हैं—

धीरा सोत्प्रासवक्रोक्त्या मध्या साश्रु कृतागसम् ।
खेदयेद्दयितं कोपादधीरा परुषाक्षरम् ॥ वही १७ ॥

यौवनान्धा स्मरोन्मत्ता प्रगल्भा दयिताङ्गके ।
विलीयमानेवानन्दाद्रतारम्भेऽप्यचेतना ॥ वही १८ ॥

साव्हित्थादरोदास्ते रतौ धीरेतरा क्रुधा ।
सन्तर्ज्य ताडयेत् मध्या मध्याधीरेव तं वदेत् ॥ वही १९ ॥

अवलम्बित इति ॥ ३८० ॥

आत्मीया स्वा यथा,—

घरिणीए महाणसकम्मलग्गमसिमइलेण हत्थेण ।
छित्तं मुहं हसिज्जइ चन्दावत्थं गहपइणा ॥ ३८१ ॥

अपनी ही प्रियतमा स्वा (स्वकीया है)—जैसे—
(अर्थ के लिये द्रष्टव्य ४।६१ ॥) । ३८१ ॥

घरिणीए इति ॥ ३८१ ॥

परकीया अन्यदीया यथा,—

वइविवरणिग्गअ दलोए रण्णो साहइ व्व तरुणाणं ।
एत्थ घरे हलिअवहू एद्दहमेत्तत्थणी वसइ ॥ ३८२ ॥

दूसरे की स्त्री अन्यदीया (परकीया) है, जैसे—
अर्थादि के लिये द्रष्टव्य (३।१६६ ॥) ॥ ३८२ ॥

वइविवर इति ॥ ३८२ ॥

पाणिगृहीता ऊढा यथा,—

वालत्तणदुल्ललिआए अज्ज अणज्जं किदं णववहूए ।
भाआमि घरे एआइणि त्ति णिअत्तो पई रुद्धो ॥ ३८३ ॥

जिसका पाणिग्रहण हो गया है वह 'ऊढा' है जैसे—

बाल्यकाल से ही दुलराई गई इस नवोढ़ा ने तो आज बड़ा ही अनुचित कार्य कर डाला । "अकेली मैं इस घर में डरती हूँ" ऐसा कह कर जाते हुये पति को उसने रोक लिया ॥ ३८३ ॥

[छाया—बालत्वदुर्ललितया च अनार्यं कृतं नववध्वा ।
बिभेमि गृहे एकाकिनीति निर्यन् पती रुद्धः ॥

वालत्तण इति ॥ ३८३ ॥

अनूढा कुमारी यथा,—

कस्स करो वहुपुण्णफले क्क तरुणो तुह णिसम्मिहिइ ।
थणपरिणाहे मम्महणिहाणकलसे व्व पारोहो ॥ ३८४ ॥

जिसका विवाह नहीं हुआ है वह कुमारी है जैसे—

हे कुमारी, बहुत से पुण्य रूप फलों के एक मात्र वृक्ष स्वरूप किस सौभाग्यशाली के अङ्कुर के सदृश हाथों को कामदेव की निधि के घड़े के सदृश इन विस्तृत उरोजों पर रखोगी ॥ ३८४ ॥

कस्य करः बहुपुण्यफलैकतरोस्त्वया निधीयते ।
स्तनपरिणाहे मन्मथनिधानकलस इव प्ररोहः ॥

कस्येति । हे कुमारि ! बहूनि पुण्यान्येव फलानि यस्य सः बहुपुण्यफलः स चासौ एकोऽद्वितीयः तरुश्चेति तथोक्तः तथाभूतस्य कस्य सुकृतिनः इति भावः प्ररोहः अङ्कुरः तत्

स्वरूप इति भावः करः पाणिः त्वया स्तनपरिणाहे स्तनयोर्विस्तारे मन्मथस्य कामस्य निधानकलस इव निधिकुम्भ इव निधीयते निवेश्यते ॥ ३८४ ॥

प्रथमोढा ज्येष्ठा यथा,—

उपणअं पणअं पढमपिआए रक्खिउकामो वि मधुरमधुरेहिं ।
छेअवरो वि ण लिज्जइ अहिणववहूआ विलासेहिं ॥ ३८५ ॥

पहले व्याही गई ज्येष्ठा है । जैसे—

अपनी पहली विवाहिता पत्नी के प्रेम को सुरक्षित रखने की इच्छा होने पर भी वह निपुण नायक अपनी नवविवाहिता पत्नी के मधुरमधुर विलासों से सुख का अनुभव कर रहा है ॥ ३८५ ॥

[छाया—उपनतं प्रणयं प्रथमप्रियाया रक्षितुकामोऽपि मधुरमधुरैः ।
छेकवरः सुखायतेऽभिनववधूकाविलासैः ॥]

उपणअं इति ॥ ३८५ ॥

पश्चादूढा कनीयसी यथा,—

उट्ठन्त महारम्भत्थणए दट्ठुण मुद्धवहुआए ।
ओसिण्णकवोलाए णीससिअं पढमघरिणीए ॥ ३८६ ॥

बाद में व्याही गई कनीयसी है । जैसे—

मुग्धावधू के अत्यधिक उठे हुये तथा विस्तृत उरोजों को देखकर निष्प्रभ हो गये कपोलों वाली ज्येष्ठा ने बड़ी लम्बी उसाँस ली ॥ ३८६ ॥

[छाया—उत्तिष्ठन्महारम्भौ स्तनकौ दृष्ट्वा मुग्धवध्वाः ।
अवसन्नकपोलया निःश्वसितं प्रथमगृहिण्या ॥]

उट्ठन्त इति ॥ ३८६ ॥

अहङ्कारर्द्धिरुद्धता यथा,—

अण्णमहिलापसङ्गं देव करेसु अम्ह दइअस्स ।
पुरिसा एकन्तरस्स ण हु दोसगुणे वि जाणन्ति ॥ ३८७ ॥

अहंकार से भरी हुई 'उद्धता' है—जैसे—

हे देव, मेरे प्रियतम के लिये किसी दूसरी स्त्री का प्रबन्ध कर दो, अन्यथा पुरुष एक रसास्वादी हो जायेगा एवं किसी के दोषगुण को विशेषरूप से नहीं समझ सकेगा ॥ ३८७ ॥

[छाया—अन्यमहिलाप्रसङ्गं हे देव कुर्वस्माकं दयितस्य ।
पुरुषा एकान्तरसाः न खलु दोषगुणौ विजानन्ति ॥] गा. स. १।४८ ।।

अण्णमहिलेति ॥ ३८७ ॥

गूढमानर्द्धिः उदात्ता यथा,—

जाणइ जाणावेउं अणुणअविहीणरोसमाणपरिसेसं ।
रइविक्कवमम्मि विणआवलम्बणं सच्चिअं कुणन्ती ॥ ३८८ ॥

जिसके मान की सम्पत्ति गूढ है, वह उदात्ता है, जैसे—

रतिकालीन पौरुषप्रदर्शन के समय विनम्रता का अवलम्बन करके प्रियतम के अनुनय को दूर हटाकर बचे मान को प्रदर्शित करना वही जानती है । ॥ ३८८ ॥

[छाया—जानाति ज्ञापयितुमनुनयविद्रावितमानपरिशेषम् ।
रतिविक्लवेऽपि विनयावलम्बनं सैव कुर्वती ॥] गा. स. १।८८ ॥

जाणइ इति ॥ ३८८ ॥

निर्विण्णमाना शान्ता यथा,—

जइआ पिओ ण दीसइ भणह हला कस्स कीरए माणो ।
अह दिट्ठम्मि वि माणो ता तस्स पिअत्तणं कन्तो ॥ ३८९ ॥

जिसका मान समाप्त हो गया है, वह शान्ता है, जैसे—

जब प्रिय दिखलाई ही नहीं पड़ते तब कहो भला किससे मान किया जाये, और यदि उसके दिखलाई पड़ जाने पर भी मान अवशिष्ट है, तो फिर उसमें प्रियता कहाँ ? ॥ ३८९ ॥

[छाया—यदा प्रियो न दृश्यते भणत हला कस्य क्रियते मानः ।
अथ दृष्टेऽपि मानस्तत्तस्य प्रियत्वं कुतः ॥]

जइ इति ॥ ३८९ ॥

श्लाघनीयमाना ललिता यथा,—

हसिएहिं उआलम्भा अच्छवआरेहि रूसिअव्वाइ ।
असूइ मण्डणाइं एसो मग्गो सुमहिलाणं ॥ ३९० ॥

जिसका मान प्रशंसनीय है वह ललिता है, जैसे—

हँस हँस के ही उलाहना देना, अत्यधिक सेवाशुश्रूषा करके रूठना प्रकट करना तथा आँसुओं से कलह व्यक्त करना, यही अच्छी स्त्रियों का मार्ग है ॥ ३९० ॥

[छाया—हसितैरुपालम्भा अत्युपचारै रूषितव्यानि ।
अश्रुभिः कलहा एष मार्गः सुमहिलानाम् ॥]

स्व० द०—दशरूपककार ने नायिका का सर्वप्रथम ही स्वा, अन्या तथा साधारण स्त्री रूप में त्रिधा विभाग किया था—

"स्वान्यासाधारणस्त्रीति तद्गुणा नायिका त्रिधा ॥" २।१५ ॥ उसके पश्चात् मुग्धा मध्या आदि तीन भेद स्वीया के किया था । मुग्धा तथा प्रगल्भा के ही धीरा, अधीरा तथा धीराधीरा प्रकारों को भी बतलाया था । उन्होंने ही मध्या तथा प्रगल्भा के सभी भेदों को भी ज्येष्ठा तथा कनिष्ठा भेदों में विभाजित किया था । और कहा था—

द्वेधा ज्येष्ठा कनिष्ठा चेत्यमुग्धा द्वादशोदिताः ।
अन्यस्त्री कन्यकोढा च नान्योढाऽगिरसे क्वचित् ॥
कन्यानुरागमिच्छातः कुर्यादङ्गाङ्गिसंश्रयम् । दशरूपक २।२०-२१ ॥

हसिएहिं इति ॥ २९० ॥

अनियतानेकोपभोग्या सामान्या यथा,—

कडुएक्क धूमंधारे अव्भुत्तणमाग्गणो समप्पिहिइ ।
मुहकमलचुम्बणलेहलम्मि पासत्थिए दिअरे ॥ ३९१ ॥

अनिश्चित रूप से अनेक पुरुषों की उपभोग्या सामान्या है । जैसे—

मुख कमल के चुम्बन की इच्छा से बगल में देवर के खड़े रहने पर कडुये धुयें का अँधेरा हो जाने पर भी अग्नि का प्रज्ज्वलन कर्म समाप्त कर दिया जाता है ॥ ३९१ ॥

[छाया—कटुके धूमान्धकारेऽभ्युत्तेजनमग्नेः समाप्स्यते ।
मुखकमलचुम्बनाभिलाषिणि पार्श्वस्थिते देवरे ॥]

कडुएक्क इति ॥ ३९१ ॥

पत्यन्तरं प्राप्ता पुनर्भूः यथा,—

मयेन निर्मितां लङ्कां लब्ध्वा मन्दोदरीमपि ।
रेमे मूर्त्तां दशग्रीवलक्ष्मीमिव विभीषणः ॥ ३९२ ॥

दूसरे पति को प्राप्त हुई 'पुनर्भू' है । जैसे—

विभीषण ने साक्षात् रावण की राज्यलक्ष्मी की भांति मय दानव के द्वारा बनाई गई लङ्का तथा मन्दोदरी को प्राप्त करके रमण किया ॥ ३९२ ॥

मयेनेति । **विभीषणः मूर्त्तां दशग्रीवलक्ष्मीमिव मूर्त्तिमतीं रावणलक्ष्मीमिव मयेन दानवविशेषेणेति भावः निर्मितां सृष्टाम् उत्पादिताञ्च लङ्कां मन्दोदरीमपि मन्दोदरीञ्चेत्यर्थः लब्ध्वा रावणनिधनानन्तरमिति भावः रेमे ॥ ३९२ ॥**

आत्मच्छन्दा स्वैरिणी यथा,—

तह सा जाणइ जाआलोए पच्छण्णमविणअं काउम् ।
जह पढमं विअ लिक्खइ मज्झे चरित्तवतीणम् ॥ ३९३ ॥

स्वेच्छानुसार कार्य करने वाली स्वैरिणी है । जैसे—

स्त्रियों के समुदाय में वह लुके छिपे इस प्रकार की दुष्टता करना जानती है कि सतियों के बीच में वह सबसे प्रथम गिनी जाती है ॥ ३९३ ॥

**तथा सा जानाति जायालोके प्रच्छन्नमविनयं कर्त्तुम् ।
यथा प्रथममिव लिख्यते मध्ये चरित्रवतीनाम् ॥**

तह इति । सा जाया कान्ता लोके संसारे तथा प्रच्छन्नं गूढं यथा तथा अविनयं दुराचारमित्यर्थः कर्तुं जानाति यथा चरित्रवतीनां सुचारित्राणां सतीनामित्यर्थः मध्ये प्रथममिव लिख्यते गण्यते इति भावः सेति शेषः ॥ ३९३ ॥

कलाचतुःषष्टिविद् गणिका यथा,—

सच्छन्दरमणदंसणरसवड्ढिअगरुअवम्महविलासं ।
सुविअट्ठवेसवाणि आरमिअङ्को बण्णिउं तरइ ॥ ३९४ ॥

चौसठ कलाओं में निपुण स्त्री गणिका है, जैसे—

स्वछन्दता पूर्वक प्रियतम को देखने के आनन्द से ही बढ़े हुये उग्र काम के विलासों से परिपूर्ण, अत्यन्त सुन्दर वेष धारण किये हुई, अथवा अति चतुर वेश स्त्री के साथ की गई रति का वर्णन करने में कौन समर्थ है ॥ ३९४ ॥

सच्छन्द इति ॥ ३९४ ॥

रूपयौवनमात्रोपजीविनी रूपाजीवा यथा,—

अयमेव दह्यमानस्मरनिर्गतधूमवर्त्तिकाकारः ।
चिकुरभरस्तव सुन्दरि ! कामिजनं किङ्करीकुरुते ॥ ३९५ ॥

अपने सौन्दर्य तथा जवानी मात्र से जीविका चलाने वाली रूपाजीवा है, यथा—

हे रूपसी, प्रज्वलित हो रहे कामदेव से निकल रही वर्तुलाकार धूमराशि के सदृश यह तुम्हारा केशपाश ही कामी लोगों को अपना आज्ञाकारी सेवक बनाने में समर्थ है ॥ ३९५ ॥

अयमिति । हे सुन्दरि ! दह्यमानात् भस्मीक्रियमाणात् स्मरात् कामात् निर्गता या धूमवर्त्तिका वर्त्तिकाकारधूमचय इत्यर्थः तदाकारः तत्सदृशः अयं तव चिकुरभरः कुन्तलनिचय एव अन्यस्य अङ्गस्य का कथेति एवकारार्थः । कामिजनं युववर्गं किङ्करीकुरुते दासीकुरुते ॥ ३९५ ॥

कुट्टमितादीनां कर्त्री विलासिनी यथा,—

सामण्णसुन्दरीणं विब्भमभावहइ अविणओ च्चेअ ।
धूम च्चि अपज्जलिआ णवहुमओ सुरहिदारुणा ॥ ३९६ ॥

कुट्टमित आदि कार्यों को करने वाली विलासिनी है । जैसे—

सामान्य सुन्दरियों की तो अविनम्रता ही विभ्रम को धारण करती है-अच्छी लगती है । जल रही सुगन्धित लकड़ियों का तो धुआँ ही अत्यधिक अभीष्ट होता है ॥ ३९६ ॥

[छाया—सामान्यसुन्दरीणां विभ्रममाव हति अविनय एव ।
धूम एव प्रज्वलितानां वहु मतः सुरभिदारूणाम् ॥]

सामण्ण इति ॥ ३९६ ॥

यथोक्तलक्षणासु खण्डिता यथा,—

पव्वूणागअणु रत्ताअवत्तं तइ लोअलोअणाणन्दम् ।
अण्णत्थखं विअ सव्वरिणहभूसणदिण वइ णमो दे ॥ ३९७ ॥

इन कथित लक्षणों वाली स्त्रियों में खण्डिता का उदाहरण—

बड़े सवेरे आने वाले, लाल लाल विम्ब वाले, तीनों लोकों को आनन्दित करने वाले

दूसरी जगह पर रात बिता देने वाले, आकाश के अलङ्कार दिनपति तुमको नमस्कार है ॥ ३९७ ॥

पति के पक्ष में—

रात में न आकर सवेरे आने वाले, भुक्ता नायिका के अधर राग आदि के कारण रंगी देह वाले, दूसरी जगह की अथवा मेरे अतिरिक्त तीनों लोकों की स्त्रियों के नयनों को आनन्दित करने वाले, दूसरी जगह पर रात बिता देने वाले, दूसरी स्त्रियों के द्वारा दिये गये नखच्छेद आदि भूषणों से युक्त, हे सूर्य की भांति दूर से ही नमस्कार के पात्र, प्रिय तुमको नमस्कार है।

[छाया—प्रत्यूषागतानुरक्तदेह त्रैलोक्यलोचनानन्द ।
अन्यत्रक्षपितशर्वरीक नमोभूषण दिनपते नमस्ते ॥]

स्व० द०—भरतमुनि के अनुसार खण्डिता का लक्षण है—

व्यासङ्गादुचिते यस्याः वासके नागतः प्रियः ।
तदनागमनार्ता तु खण्डितेत्यभिधीयते ॥ ना. शा. ३४।२१६ ॥

तथा दशरूपक में इसका लक्षण है—

ज्ञातेऽन्यासङ्गविकृते खण्डितेर्ष्याकषायिता ॥ २।२५ ॥)

पव्वूणा इति ॥ ३९७ ॥

कलहान्तरिता यथा,—

अह सो विलक्खहिअओ मए अहव्वाइ अगणिअप्पणओ ।
परवज्जणच्चिरीहिं तुम्हेहिं उवेक्खिओ जंतो ॥ ३९८ ॥

कलहान्तरिता का उदाहरण—

अरे, मैं कितनी अशिष्ट रही, कि उसकी विनती स्वीकार नहीं की। खिन्न हृदय से निकलता हुआ ही वह तुम बाजा बजाकर दूसरों को नचाने वालियों के द्वारा अपेक्षित किया गया ॥३९८॥

[छाया—अथ सो विलक्षहृदयो मयाऽभव्ययाऽगणितप्रणयः ।
परवाद्यनर्तनशीलाभिर्युष्माभिरुपेक्षितो गच्छन् ॥ गा. स. ५।२० ॥]

स्व० द०—भरत के शब्दों में—

ईर्ष्याकलहनिष्क्रान्तो यस्या नागच्छति प्रियः ।
अमर्षवशसंतप्ता कलहान्तरिता भवेत् ॥ ना. शा. २४।२१५ ॥

इसी से मिलती बातें धनञ्जय भी कहते हैं कि—

'कलहान्तरिताऽमर्षाद् विधूतेऽनुशयादिभुक् ।' दशरूपक २।२६ ॥]

अह सो इति ॥ ३९८ ॥

विप्रलब्धा यथा,—

अह सा तहिं तहिं विअ वाणीरवणम्मि चुक्कसङ्केआ ।
तुह दंसणं विमग्गइ पब्भट्ठणिहाणठाणाव्व ॥ ३९९ ॥

विप्रलब्धा का उदाहरण—

इस समय वह तुम्हारी प्रिया वेतसी वन में संकेत से च्युत होकर-तुम्हारे द्वारा बताये गये स्थान पर जाकर भी तुमको न पाने पर-खोये हुये निधि के स्थान की भांति तुम्हारे दर्शन की खोज कर रही है ॥ ३९९ ॥

स्व० द०—धनञ्जय के अनुसार विप्रलब्धा का लक्षण है—

"विप्रलब्धोक्तसमयमप्राप्तेऽतिविमानिता" द. स. २।२६ ॥

है, जब कि भरत के अनुसार—

तस्माद्भूतां प्रियः प्राप्य दत्वा सङ्केतमेव वा ।
नागतः कारणेनेह विप्रलब्धा तु सा मता ॥ ना. शा. २४।२१७ ॥

अथ सा तत्र तत्रैव वाणीरवने च्युतसङ्केता ।
तव दर्शनं विमार्गति प्रभ्रष्टनिधानस्थानेव ॥

अथ सेति । अथेदानीं सा तव कान्तेति शेषः वाणीरवने वेतसवने च्युतः भ्रष्टः सङ्केतः यस्याः तथाभूता स्वत्कृतसङ्केतेन गतापि स्वामप्राप्नुवतीति भावः । भ्रष्टं निधानस्थानं निधिलाभक्षेत्रं यस्याः तादृशीव निधिलाभाशया गत्वा अप्राप्तनिधानस्थाना इव इत्यर्थः तत्र तत्रैव तव दर्शनं विमार्गति अन्विष्यति ॥ ३९९ ॥

वासकसज्जा यथा,—

एहिइ पिओ त्ति णिमिसं व जाग्गिअं जामिणीए पढ़मद्धं ।
सेसं संतावपरव्वसाए वरिसं व वोलीणं ॥ ४०० ॥

वासकसज्जा का उदाहरण—

'प्रियतम आयेंगे' यह सोच कर रात्रि के प्रथम प्रहर को एक क्षण की भांति जिसने जाग कर बिताया वही शेष रात्रि को अत्यन्त संतप्त हो कर वर्ष की भांति व्यतीत की ॥ ४०० ॥

स्व० द०—दशरूपककार वासकसज्जा का लक्षण देते हैं—

मुदा वासकसज्जा स्वं मण्डयत्येष्यति प्रिये ॥ २।२४ ॥

भरत के भी शब्दों में यही भाव दृष्टिगोचर होता है—

उचिते वासके या तु रतिसम्भोगलालसा ।
मण्डनं कुरुते हृष्टा सा वै वासकसज्जिका ॥ २।४।२१२ ॥]

एष्यति प्रिय इति निमिषमिव जागृतं यामिन्याः प्रथमार्द्धम् ।
शेषं सन्तापपरवशाया वर्षं मिवापक्रान्तम् ॥

एष्यतीति । प्रियः कान्तः एष्यति आगमिष्यति इति बुद्ध्येति भावः यामिन्याः रजन्याः प्रथमार्द्धं निमिषमिव क्षणमिवेति भावः जागृतं जागरणेन नीतमित्यर्थः । शेषं यामिन्या अपरार्द्धमित्यर्थः सन्तापपरवशायाः विरहज्वरविवशायाः सत्याः वर्षमिव संवत्सर इव अतिदीर्घमिति भावः अपक्रान्तम् अपगतम् ॥ ४०० ॥

स्वाधीनपतिका यथा,—

सालोए च्चिअ सूरे घरिणी घरसामिअस्स घेत्तूण ।
णेच्छन्तस्म वि पाए धुअइ हसन्ती हसन्तस्म ॥ ४०१ ॥

स्वाधीन पतिका का उदाहरण—

(अर्थ आदि के लिये द्रष्टव्य ३।१३९ ॥) ॥ ४०१ ॥

सालोए इति ॥ ४०१ ॥

अभिसारिका यथा,—

गम्मिहिसि तस्स पासं मा झूरसु तरुणि वट्टउ मिअङ्को ।
दुद्धे दुद्धम्मि व चन्दिआए को पेच्छइ मुहं ते ॥ ४०२ ॥

अभिसारिका का उदाहरण—

अरी युवति, तू उसके पास जा सकेगी । दुःख मत कर । बस चन्द्रमा को जरा बढ़ने दे । दूध में दूध की भांति ज्योत्स्ना में तुम्हारा मुख (चन्द्र) कौन देख सकेगा ? ॥ ४०२ ॥

[छाया—गमिष्यसि तस्य पार्श्वं मा खिद्यस्व तरुणि वर्धतां मृगाङ्कः ।
दुग्धे दुग्धमिव चन्द्रिकायाँ कः प्रेक्षते मुखं ते ॥]

स्व० द०—भरत के अनुसार स्वाधीनपतिका तथा अभिसारिका के लक्षण इस प्रकार हैं—

सुरतातिरसैर्बद्धो यस्याः पार्श्वगतः प्रियः ।
सा मोदगुणसंयुक्ता भवेत्स्वाधीनभर्तृका ॥
हित्वा लज्जां तु या श्लिष्टा मदेन मदनेन वा ।
अभिसारयते कान्तं सा भवेद् अभिसारिका ॥ ना. शा. २४।२१४,२१९ ॥)

गम्मिहि इति ॥ ४०२ ॥

प्रोषितभर्तृका यथा,—

गिम्हे दवग्गिमसिमइलिआइं दीसन्ति विज्झसिहराइं ।
आसउपउत्थपइएण होन्ति णवपाउसब्भाइं ॥ ४०३ ॥

प्रोषितभर्तृका का उदाहरण—

(अर्थ आदि के लिये द्रष्टव्य ४।८० ॥) ॥ ४०३ ॥

गिम्हे इति ॥ ४०३ ॥

विरहोत्कण्ठिता यथा,—

अस्मिन् वर्षमहे न वर्त्तत इदं यत् कामदेवोत्सवे
स्थेयं पुत्रि ! निरन्नया तदधुना किञ्चिन्मुखे दीयताम् ।
इत्युक्ते जरतीजनेन कथमप्यधवन्यवच्वा ततः
पर्य्यस्तेऽहनि कल्पितश्च कवलो धौतश्च धाराम्बुभिः ॥ ४०४ ॥

विरहोत्कण्ठिता का उदाहरण—

"हे पुत्री, इस वार्षिक कामोत्सव के दिन जो निरन्न व्रत हैं वह नहीं किया जाता है। अतः कुछ तो मुँह में डाल लो।" वृद्धाओं के इस प्रकार कहने पर पथिक की पत्नी ने किसी प्रकार दिन डूब जाने पर एक कवल बनाया किन्तु वह (अश्रु) धारा के जल से धुल गया ॥ ४०४ ॥

स्व० द०—भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में प्रोषितभर्तृका तथा विरहोत्कण्ठिता का लक्षण इस प्रकार दिया है—

गुरुकार्यान्तरवशाद् यस्या विप्रोषितः प्रियः ।
सा रूढालककेशान्ता भवेत्प्रोषितभर्तृका ॥
अनेककार्यव्यासङ्गाद् यस्या नागच्छति प्रियः ।
अनागमनदुःखार्ता विरहोत्कण्ठिता तु सा ॥ ना. शा. २४।२१८,२१३

धनञ्जय ने इन आठो प्रकारों को अवस्था भेद के आधार पर स्वीकार किया है।

आसामष्टाववस्थाः स्युः स्वाधीनपतिकादिकाः ॥ दशरूपक २।२३ ॥

अस्मिनिति। **हे पुत्रि ! अस्मिन् वर्षमहे वार्षिकोत्सवकरे इत्यर्थः कामदेवोत्सवे मदनयात्रायामित्यर्थः निरन्नया त्यक्तान्नभक्षणया स्थेयं स्थातव्यमिदं यत् तत् न वर्त्तते न भवति सर्व एव जनः सच्छन्दमन्नपानादिकं कृत्वा अत्र नन्दतीति भावः। तत्तस्मात् अधुना इदानीं किञ्चित् किमपि भक्ष्यं वस्त्विति भावः मुखे दीयताम्। जरतीजनेन वृद्धावर्गेण इति उक्ते सति ततस्तदनन्तरम् अध्वन्यवध्वा पान्थमहिलया पर्य्यस्ते अवसिते अहनि दिवसे कथं कथमपि तासामनुरोधापेक्षयेति भावः कवलः ग्रासः कल्पितश्च भक्षणार्थं रचितश्च धाराम्बुभिः वर्षाम्बुभिः धौतश्च प्रक्षालितश्च। वाष्पाम्बुभिरिति पाठः समीचीनः। पतिविरहात् भोजने वितृष्णातिशयः कामदेवोत्सवदर्शनेन नितरां पुष्टिं नीत इति भावः ॥ ४०४ ॥**

हीनपात्रेषु शकारो यथा,—

पलिच्चले लम्बदशाकलाअं पावालअं शुत्तशदेहिं छत्तं।
मंशञ्च खादुं तुह तुठ्ठि कादुं चकुश्चुकुश्चुक्कु चुकुश्चुकुत्ति ॥४०५॥

हीन पात्रों में शकार का उदाहरण—

अत्यन्त लम्बी, सैकड़ों सूत्रों से आच्छन्न प्रावारक को पकड़ो। दोनों ओष्ठों से तुम्हारा माँस खाने के लिये लोगों का हृदय चुक चुक कर रहा है ॥ ४०५ ॥

पलिच्चले इति ॥ ४०५ ॥

ललको यथा,—

कम्बलवाणिएकत्ति कुठ्ठं मलदन्तिधिद्धि
लुद्धिए मइवेआलसि लत्ति।
सावरि जग्गिरि क्व तुमं सहिं खरा
विदुपप्फुलिण लोकी सि ण आगसि ॥ ४०६ ॥

ललक का उदाहरण—

(अर्थ अस्पष्ट हैं ।)

कम्बल इति ॥ ४०६ ॥

अमात्यादिरासनार्हः पाषण्डादिर्वा पीठमर्दः । तयोरमात्येषु माल्यवान् यथा,—

हा वत्साः खरदूषणत्रिशिरसो ! बध्याः स्थ पापस्य मे
हा हा वत्स ! विभीषण ! त्वमपि मे कार्य्येण हेयः स्थितः ।
हा मद्वत्सल ! वत्स ! रावण ! महत् पश्यामि ते सङ्कटं
वत्से ! नैकषि ! हा हतासि न चिरं त्रीन् पुत्रकान् द्रक्ष्यसि ॥४०७॥

अमात्यादि वे हैं जो आसन पाने के योग्य हैं, पाषण्ड आदि पीठमर्द हैं । इन दोनों अर्थात् अमात्यादि तथा पाषण्डादि में अमात्य के प्रसङ्ग में माल्यवान् का उदाहरण—

हाय बेटे खर, दूषण तथा त्रिशिरा, मुझ पापी के कारण ही तुम मारे गये । हाय विभीषण, तुम भी कारण वश ही मेरे हेय हुये । हाय, मेरे अत्यन्त प्रिय रावण, तुम्हारे ऊपर तो मैं बहुत बड़ा कष्ट देख रहा हूँ । हाय निकषे, (रावण आदि की माता) कैसकी तू भी मर गई । अब तू अधिक समय तक अपने तीन पुत्रों रावण, कुम्भकर्ण तथा विभीषण को नहीं देख सकेगी ॥ ४०७ ॥

हा वत्सा इति । हा इति खेदे । पापस्य पापकारिणः मे मम वत्साः प्रियाः खरदूषणत्रिशिरसः ! यूयं बध्याः स्थ भवथ । मयैव दुर्मन्त्रणया जनस्थाने स्थापिताः यूयं मत्पापेनैव रामेण हता इति भावः । हाहा पुनः पुनः खेदे द्विर्भावः । विभीषण ! त्वमपि कार्य्येण हेतुना मे मम हेयः परित्याज्यः स्थितः । हा मद्वत्सल ! मत्प्रिय ! रावण ! ते तव महत् सङ्कटं विपदं पश्यामि अवलोकयामि । हे वत्से नैकषि ! रावणमातः ! हतासि मत्पापेन विनाशितासि । चिरं दीर्घकालं त्रीन् पुत्रकान् रावणकुम्भकर्णविभीषणान् न द्रक्ष्यसि ॥ ४०७ ॥

पाषण्डेषु भैरवानन्दो यथा,—

दंसेमि तं पि ससिणं वसुहावतीण्णं
थंभेमि तस्स वि रदस्स गईणहद्धे ।
आणेमि जक्खसुरसिद्धगणं मणाओ
तं णत्थि भूमिवलए सहजं ण सज्जं ॥ ४०८ ॥

पाषण्डों में भैरवानन्द का उदाहरण—

मैं चन्द्रमा को पृथ्वी पर उतार कर दिखा सकता हूँ, उस सूर्य का भी रथ आधे आकाश में रोक दे सकता हूँ । मैं यक्ष, सुर, तथा सिद्धो की स्त्रियों को भी ला सकता हूँ । इस पृथ्वी पर ऐसा कुछ भी नहीं है जो मेरे लिये साध्य न हो ॥ ४०८ ॥

[छाया—दर्शयामि तमपि शशिनं वसुधावतीर्णं स्तम्भामि तस्यापि खे रथं नभोऽर्धे ।
आनयामि यक्षसुरसिद्धगणाङ्गनास्तन्नास्ति भूमिवलये मम यन्न साध्यम् ॥]

दंसेमि इति ॥ ४०८ ॥

वैहासिकः क्रीडनको विश्वास्यश्च विदूषकः ॥ १७०अ ॥

हँसाने वाला, खिलवाड़ी तथा विश्वास का पात्र विदूषक होता है ॥ १७०अ ॥

यथा,—

फुल्लुक्करं कलमकूरसमं वहन्ति
जे सिन्दुवारविड़आ महवल्लहा दे ।
जे गालितस्समहिसीदहिणो सरिच्छा
रूचन्ति मुद्धविअइल्लपसूणपुञ्जा ॥ ४०९ ॥

जैसे—

जो धान के भात के सदृश पुष्पगुच्छों को धारण करते हैं, वे सिन्धुवार के पुष्प मुझे अत्यन्त प्रिय हैं। उनके जो गालित भैंस के दही के सदृश मनोहर तथा खिले हुये पुष्पगुच्छ हैं, वे भी बहुत अच्छे लगते हैं ॥ ४०९ ॥

[छाया—पुष्पोत्करं कलमभक्तसमं वहन्ति ये सिन्दुवारविटपा मम वल्लभास्ते ।
ये गालितस्य महिषीदध्नः सदृक्षा रोचन्ते मुग्धविचकिलप्रसूनपुञ्जाः ॥]

फुल्लुक्करमिति ॥ ४०९ ॥

मान्यः कलत्रवान् भुक्तविभवो गुणवान् विटः ॥ १७० ॥

लोगों में सम्मानित, सपत्नीक, वैभव को भोगे हुये, गुणी विट होता है ॥ १७० ॥

स यथा,—

शकार ! किं प्रार्थनया प्रावारेण मिषेण वा ।
अकार्य्यवर्जं मे ब्रूहि किमभीष्टं करोमि ते ॥ ४१० ॥

उसका उदाहरण—

अरे शकार, आच्छादक वस्त्र के बहाने प्रार्थना करने से क्या लाभ ! अपकर्मों के अतिरिक्त कहो मैं तुम्हारा कौन सा चाहा कार्य सम्पन्न करूँ ॥ ४१० ॥

शकारेति । शकार ! राज्ञो रक्षितायाः कान्तायाः भ्राता शकार उच्यते तत्सम्बुद्धिः । उक्तञ्च साहित्यदर्पणे । मदमूर्खताभिमानी दुष्कुलतैश्वर्य्यसंयुक्तः । सोऽयमनूढाभ्राता राज्ञः श्यालः शकार उक्तइति । प्रावारेण गात्राच्छादनेन मिषेण व्याजेन प्रावरणच्छलेन प्रार्थनया किम् ? किं प्रयोजनमित्यर्थः । अकार्य्यवर्जम् अकर्त्तव्यं वर्जयित्वा इत्यर्थः पापं विनेति भावः ते तव किम् अभीष्टं करोमि सम्पादयामि ब्रूहि कथय ॥ ४१० ॥

धात्रेयकादिश्चेटो यथा,—

चन्द्रापीडोऽथ सञ्जातपीडः कादम्बरीं प्रति ।
प्राहिणोत् स्रस्तकेयूरः केयूरकमुपस्थितम् ॥ ४११ ॥

धाई के पुत्र आदि चेट हैं, जैसे—

अत्यधिक दुःखी तथा विरह के कारण ढीले बाजूबन्द वाले चन्द्रापीड ने आये हुये केयूर नामक व्यक्ति को कादम्बरी के पास भेजा ॥ ४११ ॥

स्व० द०—शकार आदि पात्रों के विषय में भरत मुनि के शब्द इस प्रकार हैं—

वेश्योपचारकुशलो मधुरो दक्षिणः कविः ।
शास्त्रार्थतत्ववेदी च निपुणो वैशिकेषु च ।
ऊहापोहक्षमो वाग्मी चतुरश्च विटो भवेत् ॥
उज्ज्वलवस्त्राभरणः क्रुध्यत्यनिमित्ततः प्रसीदति च ।
अधमो मागधीभाषी भवति शकारो बहुविकारः ॥
वामनो दन्तुरः कुब्जो द्विजिह्वो विकृताननः ।
खलतिः पिङ्गलाक्षश्च स विधेयो विदूषकः ॥
कलहप्रियो बहुकथो विरूपो बन्धसेवकः ।
मान्यामान्यविशेषज्ञश्चेटो ह्येवंविधः स्मृतः ॥ ना. शा. ३५।७७-८० ॥
प्रत्युत्पन्नप्रतिभो नर्मकृतैर्नर्मगर्भनिर्भेदैश्च ।
छेको विदूषितवचनो विदुषको नाम विज्ञेयः ॥ वही ९३ ॥

अमात्य के भी विषय में भरत का मत है कि—

बुद्धिमान् नीतिसम्पन्नो विक्रान्तः स्यात् प्रियंवदः ।
अर्थशास्त्रे च कुशलो ह्यनुरक्तः प्रजासु च ॥
यो धार्मिकस्तथामात्यः कर्तव्यो भूमिपैः सदा ।
व्यवहारार्थं तत्त्वज्ञाः बुद्धिमन्तो बहुश्रुताः ॥ ना. शा. ३४।९२-९३ ॥

साहित्यदर्पण आदि परवर्ती ग्रन्थों में शकार को "अनूढाभ्राता राज्ञः श्यालः शकार उक्तः" कहा गया है ।

चन्द्रापीड इति । अथानन्तर चन्द्रपीडः सञ्जाता पीडा कादम्बरीविरहवचनश्रवणजनितेति भावः यस्य तथाभूतः स्रस्तकेयूरः विरहकार्श्यात् हस्तस्खलितकेयूराख्यालङ्कार इत्यर्थः कादम्बरीं प्रति उपस्थितं केयूरकं प्राहिणोत् प्रेषयामास ॥ ४११ ॥

पताकासु यथा,—

स्वात्मोपयोगिन्यन्योपयोगिन्यनुपयोगिनी ।
पताकेत्यापताकेति प्रकरीति प्रकीर्त्यते ॥ १७१ ॥

पताकाओं में—

स्वयं अपने लिये उपयोगिनी, दूसरे के लिये उपयोगिनी तथा अनुपयोगिनी पताकायें क्रमश पताका, आपताका तथा प्रकरी के नाम से कही जाती हैं ॥ १७१ ॥

स्वात्मोपयोगिनीति । स्वस्य आत्मनः उपयोगिनी पताका अन्योपयोगिनीआपताका, अनुपयोगिनी प्रकरी इति कीर्त्यते कथ्यते ॥ १७१ ॥

तासु पताका–हनूमान् यथा,—

दिष्ट्या सोऽयं महाबाहुरञ्जनानन्दवर्द्धनः ।
यस्य वीर्य्येण कृतिनो वयञ्च भुवनानि च ॥ ४१२ ॥

इनमें से पताका का उदाहरण—जैसे हनुमान के विषय में—

भाग्य से यह वही अञ्जना की प्रसन्नता को बढ़ाने वाले लम्बी भुजाओं से युक्त हनुमान् जी हैं, जिनके पौरुष से हम तथा समस्त लोक कृतार्थ हैं ॥ ४१२ ॥

दिष्ट्येति । दिष्ट्या भाग्येन सोऽयं महाबाहुः दीर्घभुजः अञ्जनानन्दवर्द्धनः अञ्जनाख्या वानरी तस्या आनन्दवर्द्धनः तनयः हनूमान् प्राप्त इति शेषः यस्य अञ्जनानन्दवर्द्धनस्य वीर्य्येण बाहुबलेन वयञ्च कृतिनः कृतकार्य्या इत्यर्थः भुवनानि जगन्ति च कृतीनि इति शेषः जगतामुपद्रवरूपराक्षसवंशध्वसनादिति भावः । अवस्वात्मोपयोगित्वात् हनूमतः पताकात्वम् ॥ ४१२ ॥

आपताकाप्रकर्य्यौ मारीचजटायुषौ यथा,—

रक्षसा मृगरूपेण वञ्चयित्वा स राघवौ ।
जहार सीतां पक्षीन्द्रप्रयासक्षणविघ्नितः ॥ ४१३ ॥

आपताका तथा प्रकरी के उदाहरण के रूप में मारीच तथा जटायु—

वह रावण राक्षस मारीच के मृगरूप से रघुवंशी राम तथा लक्ष्मण दोनों को ठग कर खगराज जटायु के द्वारा एक क्षण बाधित हो कर सीता को हर ले गया ॥ ४१३ ॥

स्व० द०—पताका में हनुमान् उक्त शब्दों को कहने वाले राम के ही लिये विशेष उपयोगी थे । अतः वहाँ स्वात्मोपयोगिता है । दूसरे उदाहरण में मृगरूपी मारीच अन्य अर्थात् रावण के लिये उपयोगी होने से आपताकात्व है, तथा जटायु का प्रयास किसी के भी लिये उपयोगी न होने से प्रकरीत्व भी है ।

रक्षसेति । स रावणः मृगरूपेण काञ्चनहरिणरूपधारिणा रक्षसा मारीचेन राघवौ रामलक्ष्मणौ वञ्चयित्वा प्रतार्य्य आश्रमात् निःसार्य्येति भावः पक्षीन्द्रस्य जटायुषः प्रयासेन संग्रामव्यापारेणेति यावत् क्षणं अल्पकालं विघ्नितः सञ्जातविघ्नः सन् सीतां जहार हृतवान् । अत्र मारीचस्य मृगरूपत्वं अन्यस्य रावणस्य उपयोगायेति आपताकात्वम् पक्षीन्द्रस्य प्रयासो न कस्यापि उपयोगीति प्रकरीत्वम् ॥ ४१३ ॥

सहजा पूर्वजागन्तुः सखीह त्रिविधोच्यते ॥ १७२ अ ॥

यहाँ काव्य में सहजा, पूर्वजा तथा आगन्तुक तीन प्रकार की सखी कही जाती हैं । (१७२अ)

सहजेति । इहास्मिन् काव्ये इत्यर्थः सखी त्रिविधा उच्यते सहजा, पूर्वजा, आगन्तुरिति ॥ १७२ अ ॥

तासु लवङ्गिकादिः सहजा यथा,—

उज्ज्वलालोकया स्निग्धा त्वया त्यक्त्वा न राजते ।
मलीमसमुखी वर्त्तिः प्रदीपशिखया यथा ॥ ४१४ ॥

इनमें से लवङ्गिकादि सहजा हैं, जैसे—

(अर्थ के लिये द्रष्टव्य ४।५५) ॥ ४१४ ॥

उज्ज्वलेति । उज्वलः आलोकः उद्द्योतः कान्तिरित्यर्थः अन्यत्र प्रभा यस्याः तथाभूतया त्वया त्यक्ता विरहिता स्निग्धा प्रेममयीत्यर्थः अन्यत्र तैलपूर्णा सा इति शेषः प्रदीपशिखया त्यक्ता मलीमसं मलिनं मुखं यस्याः तथाभूता वर्त्तिर्यथा वर्त्तिरिव न राजते न शोभते । अत्र लवङ्गिकायाः रत्नावल्याः स्वभावसहचारित्वात् सहजात्वम् ॥ ४१४ ॥

कामन्दक्यादिः पूर्वजा यथा,—

तथा विनयनम्रापि यथा मालत्युपायतः ।
नीता कतिपयाहोभिः सखीविश्रम्भसेव्यताम् ॥ ४१५ ॥

कामन्दकी आदि पूर्वजा हैं, जैसे—

उस प्रकार से विनम्र रहने पर भी मालती मेरे (कामन्दकी के) द्वारा कुछ ही दिनों में कौशलपूर्वक सखी के सदृश विश्वासपूर्ण व्यवहारों के योग्य बना दी गई है ॥ ४१५ ॥

तथेति । तथा विनयेन तादृशेन सुशीलत्वादिना नम्रापि सौम्यापीत्यर्थः कतिपयाहोभिः कतिपयैर्दिवसैः उपायतः कौशलेन मया कामन्दक्या इति भावः सखीनां विश्रम्भः विश्वासः तस्य सेव्यतां वाध्यतामित्यर्थः नीता । अत्र कामन्दक्याः मालत्या जन्मनः प्रागेव तत्पित्रा सह सौहार्दवत्त्वात् पूर्वजात्वम् ॥ ४१५ ॥

त्रिजटादिरागन्तुः यथा,—

जाणइ सिणेहभणिअं मा रअणिरित्तिमे जुउच्छसु वअणं ।
उज्जाणम्मि वणम्मिअ जं सुरहिं तं लआणघेप्पइ कुसुमं ॥ ४१६ ॥

त्रिजटा आदि आगन्तुक हैं, जैसे—

हे जानकी, राक्षसी समझ कर मेरे प्रेम पूर्वक कहे गये शब्दों से घृणा मत करो । उपवन तथा वन में सुगन्धि फैलानेवाले जो हैं, उन लताओं के फूलों को ग्रहण कर लिया जाता है ॥४१६॥

[छाया—जानकी स्नेहभणितं मा रजनीचरीति में जुगुप्सस्व वचनम् ।
उद्याने वने च यत्सुरभि तल्लतानां गृह्यते कुसुमम् ॥]

स्व० द०—लवङ्गिका का रत्नावली से स्वभाव सहचारित्व होने से प्रथम में सहजता है । द्वितीय में कामन्दकी का मालती के जन्म के पूर्व उसके पिता से मैत्री होने से पूर्वजता है । त्रिजटा कुछ ही समय के लिये जानकी की सखी बनी थी, अतः वहाँ तो आगन्तुकता स्वतः सिद्ध है ।

नायकगुणेषु महाकुलीनत्वं पुंसो यथा,—

वासिष्ठैः सुकृतोद्भवोऽध्वरशतैरस्त्यग्निकुण्डोद्भवः
भूपालः परमार इत्यधिपतिः सप्ताब्धिकाञ्चेर्भुवः ।
अद्याप्यद्भुतहर्षगद्गदगिरो गायन्ति यस्योद्भटं
विश्वामित्रजयोर्जितस्य भुजयोर्विस्फूर्जितं गुर्जराः ॥ ४१७ ॥

नायक के गुणों में पुरुष की महाकुलीनता का उदाहरण—

वसिष्ठ मुनि द्वारा सम्पन्न कराये गये सैकड़ों यज्ञों के अग्निकुण्ड से उत्पन्न, पुण्यों के उत्पत्तिस्थल, सात समुद्रों की मेखला वाली, पृथ्वी के शासक परमार नाम के राजा हैं, विश्वामित्र के जय से अर्जित जिनकी दोनों भुजाओं के पौरुष को आज भी विचित्र हर्ष से गद्गद् वाणी वाले गुजरात के रहने वाले लोग जोर जोर से गाते हैं ॥ ४१७ ॥

वासिष्ठैरिति । वासिष्ठैः वसिष्ठेन मुनिना अनुष्ठितैरित्यर्थः अध्वराणां यज्ञानां शतैः अग्निकुण्डोद्भवः यज्ञाग्निकुण्डोत्थितः सुकृतानां पुण्यानाम् उद्भवः क्षेत्रमित्यर्थः सप्तान्धिकाञ्चेः सप्तसमुद्रमेखलायाः भुवः पृथिव्याः अधिपतिः परान् शत्रून् मारयतीति परमार इति प्रसिद्धः भूपालः अस्ति आसीदिति भूतसामीप्ये लट्प्रयोगः । गुर्जराः गुर्जरदेशवासिनः अद्भुतेन विस्मयेन राज्ञो विक्रमगुणश्रवणजनितेनेति भावः हर्षगद्गदाः आनन्दार्द्रस्फुटा गिरो वाचः येषां तथाभूताः सन्तः विश्वामित्रस्य वसिष्ठशत्रुभूतस्येति भावः जयेन ऊर्ज्जितस्य उद्रिक्तवीर्य्यस्य यस्य भूपालस्य भुजयोः बाह्वोः विस्फूर्जितं विक्रान्तम् अद्यापि गायन्ति कीर्त्तयन्ति ॥ ४१७ ॥

महाभाग्यं यथा,—

दोर्निष्पेषविशीर्णवज्रशकलप्रत्युप्तरूढव्रणः
ग्रन्थ्युद्भासिनि भग्नमोघमघवन्मातङ्गदन्तोद्यमे ।
भर्त्तुर्नन्दनदेवताविरचितस्रग्दाम्नि भूमेः सुता
वीरश्रीरिव तस्य वक्षसि जगद्वीरस्य विश्राम्यतु ॥ ४१८ ॥

महाभाग्य का उदाहरण—

भुजाओं के मसलने से चूर्णित वज्र के टुकड़ों के कारण उत्पन्न हो गये घाव की ग्रन्थियों से सुशोभित, टूट जाने के कारण व्यर्थ हो गया था इन्द्र के हाथी ऐरावत के दाँतो का प्रहार जिस पर तथा जिस पर नन्दनबन की देवी के द्वारा रची गई फूलों की माला से युक्त, हमारे महाराज उस जगदेकवीर रावण के वक्षःस्थल पर वीरलक्ष्मी की भांति पृथ्वीपुत्री सीता विश्राम करें ॥ ४१८ ॥

दोरिति । दोष्णां बाहूनां विंशतेरिति भावः निष्पेषेण विमर्देन विशीर्णं चूर्णितं यत् वज्रम् इन्द्रग्रहीतमिति भावः तस्य शकलैः खण्डैः यत् प्रत्युप्तं प्रविद्धं तेन रूढा जाताः व्रणाः क्षतानि तेषां ग्रन्थिभिः उत्तुङ्गचिह्नविशेषैरित्यर्थः उद्भासते राजते इति तथोक्ते, भग्नः खण्डितः अतएव मोघः व्यर्थतां गतः मघवतः इन्द्रस्य मातङ्गस्य ऐरावतस्य दन्तोद्यमः वेधनार्थमुद्यतदन्त इत्यर्थः यस्मिन् तथाभूते अतएव नन्दनस्य देवोद्यानस्य देवतया स्वर्गपराजयेन वशीकृतयेति भावः विरचिता विरचय्य दत्तेति यावत् स्रग्दाम कुसुममालानिचय इत्यर्थः यत्र तादृशे तस्य जगद्वीरस्य त्रिलोकैकवीरस्येत्यर्थः भर्त्तुः स्वामिनः रावणस्य वक्षसि भूमेः सुता सीता वीरश्रीरिव वीरलक्ष्मीरिव विश्राम्यतु इतस्ततश्चलबुद्धिं निरस्य विश्रामसुखमनुभवतु इत्यर्थः । जनकसभायां रावणदूतस्य उक्तिः ॥ ४१८ ॥

औदार्य्यं यथा,—

दिङ्मातङ्गघटाविभक्तचतुराघाटा मही साध्यते
सिद्धा सापि वदन्त एव हि वयं रोमाञ्चिताः पश्यत ।
विप्राय प्रतिपाद्यते किमपरं रामाय तस्मै नमो
यस्मादाविरभूत्कथाद्भुतमिदं यत्रैव चास्तं गतम् ॥ ४१९ ॥

उदारता का उदाहरण—
(अर्थादि के लिये द्रष्टव्य १।१६० ॥) ॥ ४१९ ॥

दिङ्मातङ्गेति । दिङ्मातङ्गानां दिग्गजानां घटाभिः सङ्घैः विभक्ताः चत्वारः आघाटाः सीमानः यस्याः सा चतुर्भिर्दिग्वर्त्तिभिः गजैः परिच्छिन्नसीमेत्यर्थः मही पृथिवी साध्यते विजयेन अधिक्रियते महावीरैरिति शेषः सा मही सिद्धापि स्वायत्तापीत्यर्थः सर्वभूभृद्विजयेनेति भावः वदन्त एव कीर्त्तयन्त एव हि वयं रोमाञ्चिताः हृष्टरोमाणः जाता इति शेषः पश्यत अवलोकयत यूयमिति शेषः विप्राय ब्राह्मणाय कश्यपायेति यावत् प्रतिपाद्यते प्रदीयते येनेति शेषः किमपरं वक्तव्यमिति शेषः यस्या लाभार्थं लोकाः प्राणानपि परित्यजन्ति ताम् अक्लेशेन यस्मै कस्मैचित् दातुं कः शक्नोतीति भावः तस्मै रामाय भार्गवाय नमः यस्मात् रामात् इदम् उक्तप्रकारादानीयमित्यर्थः कथाद्भुतम् अद्भुता अलोकसामान्या कथेत्यर्थः आविरभूत् उदतिष्ठदित्यर्थः यत्रैव रामे एव अस्तं गतं नाशं प्राप्तं न अपरे एतत् कर्त्तुं कदापि शक्ष्यन्तीति भावः ॥ ४१९ ॥

कृतज्ञता यथा,—

कृतककुपितैर्वाष्पाम्भोभिः सदैन्यविलोकितैः
वनमसि गता यस्य प्रीत्या धृतोपि तथा त्वया ।
नवजलधरश्यामाः पश्यन् दिशो भवतीं विना
कठिनहृदयो जीवत्येव प्रिये ! स तव प्रियः ॥ ४२० ॥

कृतज्ञता का उदाहरण—

दिखावटी क्रोध तथा कातर दृष्टि के साथ आंखों में आँसू भरे हुई तुम जिसके साथ वन आईं, तुम्हारे उसी प्रकार के प्रेम से सुरक्षित रहने पर भी निष्ठुर चित्त वाला मैं, तुम्हारा प्रिय राम, तुम्हारे विना भी नये मेघो के कारण काली काली दिशाओं को देखता हुआ भी जीवित ही हूँ ॥ ४२० ॥

कृतकेति । हे प्रिये ! यस्य मम प्रीत्यै प्रीत्यर्थं कृतककुपितैः यदि मां त्वामनुयान्तीं निवारयसि तदा प्राणान् त्यक्ष्यामीत्येवं कोपप्रकाशकैरिति भावः सदैन्यविलोकितैः कातरविलोकनयुतैरित्यर्थः वाष्पाम्भोभिः अश्रुभिः उपलक्षणे तृतीया वनं गतासि प्राप्तासि येन मया सहेति शेषः, त्वया तथा प्रीत्या तादृशेनैव प्रणयेनेत्यर्थः धृतोऽपि रक्षितोऽपीत्यर्थः कठिनहृदयः निष्ठुरान्तःकरणः स तव प्रियः वल्लभः भवतीं त्वां विना त्वद्विरहेणापीत्यर्थः नवजलधरैः श्यामाः नूतनमेघोदयेन श्यामवर्णाः दिशः पश्यन् जीवत्येव प्राणान् धारयत्येव । नवजलधराणां तथा उद्दीपकत्वेऽपि त्वद्विरहे प्राणधारणमतीव कठिनहृदयत्वम् चत्वात् मया त्वां प्रति नितरां निर्दयत्वमाचरितमिति भावः । रामस्य सीताविरहिण उक्तिः ॥ ४२० ॥

रूपसम्पद् यथा,—

व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाभुजः ।
आत्मकर्मक्षमं देहं क्षात्रो धर्म इवाश्रितः ॥ ४२१ ॥

रूपसंपद का उदाहरण—

विस्तृतवक्षःस्थल वाला, वृषभ के सदृश कंधा वाला, शाल वृक्ष की भांति लम्बी भुजा से युक्त यह मानो अपने कार्य में समर्थ देह को धारण किये हुये क्षात्रधर्म ही हो ॥ ४२१ ॥

व्यूढ़ इति । व्यूढं विशालम् उरो वक्षस्थलं यस्य सः वृषस्येव स्कन्धो यस्य सः उन्नतांस इत्यर्थः शालस्तदाख्यस्तरुः तद्वत् प्रांशुः उन्नतकाय इत्यर्थः महान्तौ भुजौ यस्य स महाभुजः दीर्घबाहुरित्यर्थः अतएव आत्मनः स्वस्य कर्मणि क्षमं समर्थं देहं शरीरं आश्रितः क्षत्रस्य क्षत्रियजातेः अयं क्षात्रः धर्मः दुष्टनिग्रहशिष्टप्रतिपालनरूप इवेत्यर्थः स्थित इति शेषः ॥ ४२१ ॥

यौवनसम्पद् यथा,—

महोक्षतां वत्सतरः स्पृशन्निव द्विपेन्द्रभावं कलभः श्रयन्निव ।
रघुः क्रमाद् यौवनभिन्नशैशवः पुपोष गम्भीरमनोहरं वपुः ॥ ४२२ ॥

यौवन-सम्पत्ति का उदाहरण—

पूर्णवृषभत्व को छू रहे बछड़े की भांति, गजराजता को प्राप्त कर रहे हाथी के बच्चे की भांति रघु ने भी क्रमशः जवानी प्राप्त कर रहे शैशव से सम्पन्न होकर अपने गम्भीरता से मनोरम शरीर को पुष्ट किया ॥ ४२२ ॥

महोक्षतामिति । रघुः क्रमात् उत्तरोत्तरक्रमेणेत्यर्थः यौवनेन भिन्नं निराकृतं शैशवं यस्य तथाभूतः नवयौवन इत्यर्थः सन् महोक्षतां महावृषत्वं स्पृशन् प्राप्नुवन् वत्सतर इव गोशावक इव द्विपेन्द्रभावं गजेन्द्रत्वं श्रयन् अधिकुर्वन् कलभः करिशावक इव गम्भीरं मनोहरञ्चेति गम्भीरमनोहरं गाम्भीर्य्येण रम्यमित्यर्थः वपुः शरीरं पुपोष दधार । गाम्भीर्य्यमनोहरमिति पाठान्तरम् ॥ ४२२ ॥

वैदग्ध्यसम्पद् यथा,—

कोऽयं भामिनि ! भूषणं कितव ! ते शोणः कथं ? कुङ्कुमात्
कूर्पासान्तरितः प्रिये ! विनिमयः पश्यापरं नास्ति मे ।
पश्यामीत्यभिधाय सान्द्रपुलको मृदनन मृडान्याः स्तनौ
हस्तेन प्रतिनिर्जितेन्दुरवतात् द्यूते हसन् वो हरः ॥ ४२३ ॥

वैदग्ध्यसम्पद् का उदाहरण—

(अर्थादि के लिये द्रष्टव्य २।३५७ ॥) ॥ ४२३ ॥

कोऽयमिति । हे भामिनि ! कान्ते ! अयं कः ? इति प्रश्नः । हे कितव ! धूर्त्त ! ते तव भूषणम् अलङ्कारभूतश्चन्द्र इति भावः उत्तरमिदम् । शोणः रक्ताभ इत्यर्थः कथम् ? चन्द्रस्य शुभ्रतायां सिद्धायां कथं रक्तत्वमिति भावः, इति पुनः प्रश्नः । कुङ्कुमात् कुङ्कुमलेपनेन

रञ्जनादिति भावः इति पुनरुत्तरम् । हे प्रिये ! कूर्पासान्तरितः कूर्पासेन स्तनावरणवाससा कांचुलीतिप्रसिद्धेनेति यावत् अन्तरितः आवृतः विनिमयः परिवर्त्तः मया द्यूते यदि पराजीयते तदा मम शिरस्थितः चन्द्रः त्वया प्राप्यते त्वया तु यदि पराजीयते तदा तव स्तनरूपश्चन्द्रः मया लभ्यते इत्येवं परिवर्त्त इत्यर्थः । इति पुनः प्रश्नः । पश्य अवलोकय अपरम् अन्यत् चन्द्रसदृशमित्यर्थः वस्त्विति शेषः मे मम क्व कुत्र अस्ति ? नास्तीत्यर्थः तदयमेव मे पण इति भावः । उत्तरमिदम् । पश्यामि अवलोकयामि इत्यभिधाय कथयित्वा द्यूते पाशक्रीडायां प्रतिनिर्जितः इन्दुश्चन्द्रो येन तथाभूतो हरः शिवः हसन् हासं कुर्वन् सान्द्रपुलकौ घनरोमाञ्चौ प्रियस्पर्शजनितसत्त्वोदयादिति भावः मृदान्याः पार्वत्याः स्तनौ हस्तेन मृद्नन अवतात् रक्षतु ॥ ४२३ ॥

शीलसम्पद् यथा, —

का त्वं शुभे ! कस्य परिग्रहो वा ? किं वा मदभ्यागमकारणं ते ?
आचक्ष्व मत्वा वशिनां रघूणां मनः परस्त्रीविमुखप्रवृत्ति ॥ ४२४ ॥

शीलसम्पद् का उदाहरण—

हे भद्रे, तुम कौन हो ? किसकी पत्नी हो ? मेरे पास तुम्हारे आने का कारण क्या है ? तुम यह समझ कर (पूर्ण विश्वास के साथ कहो क्योंकि) जितेन्द्रिय रघुवंशियों के मन की प्रवृत्ति दूसरे की स्त्रियों से विमुख होती है ॥ ४२४ ॥

का त्वमिति । हे शुभे ! भद्रे ! त्वं का ? कस्य जनस्य परिग्रहः पत्नी वा ? ते तव मम अभ्यागमस्य मदन्तिकागमनस्य कारणं किम् ? वशिनां विजितेन्द्रियाणां रघूणां रघुवंशीयानां मनः चित्तं परस्त्रीषु परनारीषु विमुखा प्रवृत्तिः गतिः यस्य तथाभूतं मत्वा अवधार्य्य आचक्ष्व ब्रूहि ॥ ४२४ ॥

सौभाग्यसम्पद् यथा,—

असौ विद्याधारः शिशुरपि विनिर्गत्य भवनाद्
इहायातः सम्प्रत्यविकलशरच्चन्द्रमधुरः ।
यदालोकस्थाने भवति पुरमुन्मादतरलैः
कटाक्षैर्नारीणां कुवलयितवातायनमिव ॥ ४२५ ॥

सौभाग्यसम्पद का उदाहरण—

(अर्थ के लिये द्रष्टव्य २।२४ ॥) ॥ ४२५ ॥

असाविति । असौ पुमानिति शेषः शिशुरपि बालकोऽपि भवनात् गृहात् विनिर्गत्य स्थानान्तरं गत्वेति यावत् विद्याधारः सर्वविद्याविभूषितः तथा अविकलः सम्पूर्णकल इत्यर्थः शरच्चन्द्रः शारदीयः शशधरः तद्वत् मधुरः मनोहरः सन् सम्प्रति इह अस्मिन् नगरे आयातः उपस्थितः । यस्य पुरुषस्य आलोकस्थाने दर्शनावसरे पुरं नगरं नारीणां महिलानाम् उन्मादेन उल्लासेन तरलाः चञ्चलाः तैः कटाक्षैः अपाङ्गविलोकनैः कुवलयितानि सञ्जातनीलोत्पलानि वातायनानि गवाक्षाः यस्य यत्र वा तत् भवति ॥ ४२५ ॥

मानिता यथा,—

यदात्थ कामं भवता स याच्यतामिति क्षमं नैतदनन्यचेतसाम् ।
कथं प्रसह्याहरणैषिणां प्रियाः परानुवृत्त्या मलिनीकृताः श्रियः ? ॥४२६॥

मानिता का उदाहरण—

'आप पूर्णतः उनसे बाण की याचना करलें' इस प्रकार की जो बात तुमने कही है, वह उदारचित्त वालों के लिये उचित नहीं है। बलात् धन का अपहरण करने के इच्छुक लोगों को दूसरों की सेवा से गंदी कर दी गई सम्पत्तियाँ कैसे प्रिय हो सकती हैं? ॥ ४२६ ॥

यदिति। भवता त्वया स मत्प्रभुः किरातराज इति भावः याच्यतां प्रार्थ्यतां शरोऽयमिति शेषः इति यत् आत्थ ब्रवीषि? एतत् याचनमित्यर्थः अनल्पचेतसां मनस्विनां न क्षमं न योग्यं न उचितमित्यर्थः। अक्षमत्वे हेतुमाह कथमिति प्रसह्य बलात् आहरणं लाभम् इच्छन्तीति तथोक्तानां बलवतामिति यावत् परस्य अनुवृत्त्या सेवया प्रार्थनारूपयेति भावः मलिनीकृताः मालिन्यं नीताः श्रियः सम्पदः कथं केन प्रकारेण प्रियाः? प्रीतिकर्य्यः? न कथमपीत्यर्थः ॥ ४२६ ॥

उदारवाक्यत्व यथा,—

ख्याता एव वयं जगत्सु चरितैर्वाग्भिः किमाख्यायते?
संयत्तो भव शक्तिरस्ति भवतः सत्यं मनुष्यो भवान्।
शस्त्रैरव्यवधीयमानयशसः प्रायो वयं तेषु चेत्
प्रायस्ते ननु सन्ति तेऽपि गिरयो यैर्वानराः शस्त्रिणः ॥ ४२७ ॥

उदारवाक्यता का उदाहरण—

हम लोग तो अपने कर्मों से ही संसार में विख्यात हैं, शब्दों से क्या कहा जाये? तैयार हो जाओ, आपमें भी शक्ति है, सचमुच आप मनुष्य ही हैं। शत्रुओं के शस्त्रों से हमारे यश में कोई व्यवधान नहीं पड़ता। यदि हमी लोगों के लिये तुम्हारे प्रयास हैं तो आज भी वे पर्वत-शिलाखण्ड-मेरे पास हैं, जिनसे तुम्हारे वानर लोग शस्त्रधारी कहलाते हैं ॥ ४२७ ॥

ख्याता इति। वयं जगत्सु त्रिलोकीषु चरितैः विक्रमादिभिरिति भावः ख्याताः प्रसिद्धा एव। वाग्भिः वाक्यैः किम् आख्यायते? कथ्यते? वाचा स्वप्रशंसनं महतां न उचितमिति भावः। भवान् सत्यं यथार्थतः मनुष्यः पुरुषकारसम्पन्नो मानव इत्यर्थः भवतः तव शक्तिः सामर्थ्यं वीर्य्यमित्यर्थः अस्ति वर्त्तते। संयत्तः सज्जितः भव। वयं प्रायः बाहुल्येन शस्त्रैः परेषामिति शेषः न व्यवधीयमानं न तिरस्क्रियमाणं यशो येषां तथाभूताः शस्त्रबलेन कैरपि वयं न निर्जेतुं शक्या इति भावः। तेषु शस्त्रैरव्यवधीयमानयशःसु अस्मासु इति शेषः चेत् यदि ते तव प्रायः प्रयास इत्यर्थः अस्माभिः सह युद्धार्थमुद्यम इति यावत् ननु भोः! तदा यैः गिरिभिः पर्वतैः वानराः स्वदनुचरा इति भावः शस्त्रिणः शस्त्रवन्तः वानरा हिं पर्वतखण्डैर्युध्यन्ते इति भावः ते गिरयोऽपि सन्ति विद्यन्ते। अतस्तैरेव वानरवत् अस्माभिः सह युध्यस्वेति भावः ॥ ४२७ ॥

स्थिरानुरागिता यथा,—

ततः कैरप्युक्ते परिणयविधौ काष्ठमुनिभिः
पुराणैरातङ्कस्खलितहृदयेन क्षितिभृता।
विना वाचं नैतत् क्षममिति निधायाननमधः
पतद्बाष्पाम्भोभिर्निखिलमिव दत्तं प्रतिवचः ॥ ४२८ ॥

स्थिरानुरागिता का उदाहरण—

उसके पश्चात् कुछ काष्ठ के सदृश पुराने एवं नीरस मुनियों के द्वारा विवाह के विषय में कहने पर भी कष्ट के कारण खिन्न हृदय वाले राजा राम के द्वारा मुंह नीचे करके गिरते हुये आँसुओं के साथ विना शब्दों के ही "यह उचित नहीं है।" इस प्रकार का उत्तर दे दिया ॥ ४२८ ॥

तत इति। ततः अनन्तरं कैरपि पुराणैः वृद्धैरित्यर्थः काष्ठानीव कठिना मुनयः काष्ठमुनयः तैः प्रेममर्मानभिज्ञैः मुनिभिरित्यर्थः परिणयविधौ पुनर्दारग्रहणव्यापारे इत्यर्थः उक्ते कर्त्तव्यतया कथिते सति चिंतिभृता राज्ञा रामेणेति शेषः आतङ्केन आशङ्कया तत् प्रस्तावेन पूर्वानुरागव्यत्ययकारिणा जनितयेति भावः ग्लपितं ग्लानिनीतं हृदयं यस्य तथाभूतेन सता विना वाचं वाक्योत्तरं विनेत्यर्थः आननं वदनम् अधो निधाय अधोमुखीभूयेत्यर्थः पतद्भिः क्षरद्भिः प्रियायाः स्मरणादिति भावः वाष्पाम्भोभिः अश्रुभिः न एतत् पुनर्दारग्रहणमिति भावः क्षमं युक्तम् इति निखिलं सम्यगित्यर्थः प्रतिवचः प्रत्युत्तरवचनं दत्तमिव। एतेन अस्य पूर्वप्रियायां स्थिरानुरागित्वं सूचितम् ॥ ४२८ ॥

नायिकागुणेषु स्त्रियां महाकुलीनता यथा,—

मानुषीभ्यः कथं वा स्यादस्य रूपस्य सम्भवः ?
न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात् ॥ ४२९ ॥

नायिका के गुणों में स्त्री की महाकुलीनता का उदाहरण—

(अर्थ के लिये द्रष्टव्य ४।६८ ॥) ॥ ४२९ ॥

मानुषीभ्य इति। मानुषीभ्यः मानवजातीयाभ्यः स्त्रीभ्यः अस्य रूपस्य मूर्त्तेः सौन्दर्य्यस्य वा सम्भवः कथं केन प्रकारेण वा स्यात् ? न केनापि प्रकारेण स्यादित्यर्थः। प्रभया तरलम् उज्ज्वलं ज्योतिः वसुधातलात् पृथिवीतलात् न उदेति न उत्पद्यते ॥ ४२९ ॥

औदार्य्यं यथा,—

भ्रूभेदे सहसोद्गतेऽपि वदनं नीतं परां नम्रताम्
ईषत् मां प्रति भेदकारि हसितं नोक्तं वचो निष्ठुरम्।
अन्तर्बाष्पजडीकृतं प्रभुतया चक्षुर्न विस्फारितं
कोपश्च प्रकटीकृतो दयितया मुक्तश्च न प्रश्रयः ॥ ४३० ॥

औदार्य का उदाहरण—

(अर्थ के लिये द्रष्टव्य १।१०२ ॥) ॥ ४३० ॥

भ्रूभेदे इति। भ्रूभेदे भङ्गे सहसा उद्गतेऽपि जातेऽपि वदनं मुखं परां नम्रताम् अधोवर्त्तितामित्यर्थः नीतं प्रापितम्। उद्गते इत्यत्र कृते इति पाठान्तरम्। मां प्रति ईषत् अल्पं भेदकारि कोपप्रकाशकमिति भावः हसितं हासः कृत इत्यर्थः। निष्ठुरं परुषं वचः वाक्यं न उक्तं न कथितम्। प्रभुतया निजप्रभावेण अन्तर्बाष्पेण अन्तर्गतेन अश्रुणा जडीकृतं जाड्यं नीतं चक्षुः न विस्फारितं न उन्मीलितम्। अतएव दयितया प्रियया कोपश्च प्रकटीकृतः प्रकाशितः प्रश्रयः विनयश्च न मुक्तः न त्यक्तः ॥ ४३० ॥

महाभाग्यं यथा,--

तां नारदः कामचरः कदाचित् कन्यां किल प्रेक्ष्य पितुः समीपे ।
समादिदेशैकवधूं भवित्रीं प्रेम्णा शरीरार्द्धहरां हरस्य ॥ ४३१ ॥

महाभाग्य का उदाहरण—

स्वेच्छानुसार विचरण करने वाले नारद जी ने उस कन्या पार्वती को पिता हिमालय के पास एक समय देखकर यह सूचना दी कि यह अपने पति की एक मात्र वधू होगी और प्रेम से शिव के आधे शरीर को ग्रहण करेगी ॥ ४३१ ॥

तामिति । कदाचित् कस्मिंश्चित् समये कामचरः स्वेच्छाविहारी नारदः तां पार्वतीं पितुः हिमाद्रेः समीपे प्रेक्ष्य दृष्ट्वा किलेति प्रसिद्धौ प्रेम्णा प्रणयातिशयेन हरस्य शरीरार्द्धहरां विच्छेदाशङ्कया अर्द्धशरीरभागिनीम् एकामद्वितीयां वधूं भार्य्यां भवित्रीं भाविनीं समादिदेश समादिष्टवान् कथयामासेत्यर्थः । तदेषा महाभाग्यशालिनी इत्यस्या महाभाग्यत्वम् ॥ ४३१ ॥

कृतज्ञता यथा,--

पुरिससरिसं तुह इमं रक्खससरिसं कअं णिसाअरवइणा ।
कह ता चिन्तिआसुलहं महिलासरिसं ण संपड़इ मे मरणं ॥ ४३२ ॥

कृतज्ञता का उदाहरण—

जब राक्षसराज ने तुम्हारी इस पुरुष के लिये अनुकूल वस्तु को राक्षसों के लिये सदृश बना दिया उस समय महिलाओं के लिये अनुकूल मरण मेरे लिये क्यों नहीं सोचने मात्र से प्राप्य हो जाता है ॥ ४३२ ॥

पुरिस इति ॥ ४३२ ॥

रूपसम्पद् यथा,--

आभरणस्याभरणं प्रसाधनविधेः प्रसाधनविशेषः ।
उपमानस्यापि सखे ! प्रत्युपमानं वपुस्तस्याः ॥ ४३३ ॥

रूपसंपद् का उदाहरण—

(अर्थादि के लिये द्रष्टव्य २।६२ ॥) ॥ ४३३ ॥

आभरणस्येति । हे सखे ! तस्याः रमण्याः वपुः शरीरम् आभरणस्य अलङ्कारस्य आभरणम् अलङ्कारः प्रसाधनविधेः अलङ्करणविधानस्य प्रसाधनविशेषः अलङ्करणविशेषः । उपमानस्य चन्द्रपद्मादेः प्रत्युपमानं प्रतिरूपमुपमानम् । तस्या अङ्गम् अलङ्कारं हाराङ्गदादिकम् अलङ्करोति, प्रसाधनं प्रसाधयति उपमानं चन्द्रादिकम् उपमिमीते इत्यर्थः ॥ ४३३ ॥

यौवनसम्पद् यथा,—

उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रं सूर्य्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दम् ।
बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि वपुर्विभक्तं नवयौवनेन ॥ ४३४ ॥

यौवनसम्पत्ति का उदाहरण—

तूलिका से उरेहने पर जैसे चित्र चमक उठता है, और जिस प्रकार सूर्य की किरणों से कमल विकसित हो जाया करता है, उसी प्रकार नव यौवन से उसका शरीर चारों ओर से उद्भासित हो उठा ॥ ४३४ ॥

उन्मीलितमिति। तस्याः पार्वत्याः वपुरङ्गं तूलिकया उन्मीलितं प्रकटितं चित्रमिव, सूर्य्यांशुभिः रविकिरणैः भिन्नं विकासितम् अरविन्दमिव पद्ममिव नवयौवनेन विभक्तं विभज्य यथायथं विरचितमित्यर्थः सत् चतुरस्रशोभि सर्वतः शोभमानमित्यर्थः बभूव ॥ ४३४ ॥

वैदग्ध्यसम्पद् यथा,—

एकत्रासनसङ्गतिः परिहृता प्रत्युद्गमाद् दूरतः
ताम्बूलानयनच्छलेन रभसाश्लेषोऽपि संविघ्नितः।
आलापोऽपि न मिश्रितः परिजनं व्यापारयन्त्याऽन्तिके
कान्तं प्रत्युपचारतश्चतुरया कोपः कृतार्थीकृतः ॥ ४३५ ॥

वैदग्ध्यसम्पद् का उदाहरण—

दूर से ही अगवानी के लिये उठ पड़ने से एक आसन पर बैठना बचा दिया गया, पान लाने के बहाने ललक करके किया जाने वाला आलिङ्गन भी प्रतिषिद्ध कर दिया गया। समीपवर्ती सेवकों को कार्यविधान के लिये आदेश देती हुई उसने प्रियतम के बातों से अपनी बातें भी नहीं मिलाईं। इस प्रकार किसी चतुर नायिका ने अपने प्रियतम के प्रति विभिन्न बहानों से अपना क्रोध सार्थक कर दिया ॥ ४३५ ॥

एकत्रेति। चतुरया निपुणया कयाचित् कान्तया उपचारतः व्याजात् कान्तं प्रियं प्रति कोपः कृतार्थीकृतः सफलीकृतः कथमपि प्रकटीकृत इति यावत् तथाहि दूरतः दूरात् प्रत्युद्गमात् उत्थायाभिनन्दनात् एकत्र एकस्मिन् आसने सङ्गतिः सम्मेलनं कान्तेनेति भावः संस्थितिरिति पाठान्तरं परिहृता परित्यक्ता। रभसेन वेगेन हर्षेण वा आश्लेषः आलिङ्गनमपि ताम्बूलस्य आनयनमेव छलं तस्मात् ताम्बूलम् आनयामीति व्याजेनेत्यर्थः संविघ्नितः सञ्जातविघ्नः कृतः व्याहत इत्यर्थः। अन्तिके समीपे कान्तस्येति भावः परिजनं दास्यादिकमित्यर्थः व्यापारयन्त्या प्रेषयन्त्या सत्या आलापोऽपि सङ्कथनमपि न मिश्रितः प्रतिवचनादिना न मिश्रीकृत इत्यर्थः ॥ ४३५ ॥

शीलसम्पद् यथा,—

चतुरघरिणी पिअदंसणाअ बाला पउत्थवइआअ।
असरसअज्जिआ उग्गआअ णहु खण्डिअं सीलं ॥ ४३६ ॥

शीलसम्पद् का उदाहरण—

यद्यपि उस नायिका का घर चौराहे पर है, वह स्वयं देखने में बड़ी अच्छी भी है, जवान भी है, उसका पति परदेश गया हुआ है, उसकी पड़ोसिन दुश्चरित्रा है, और वह स्वयं निर्धन भी है तथापि उसने अपना शील नहीं छोड़ा ॥ ४३६ ॥

[छाया—चत्वरगृहिणी प्रियदर्शना च तरुणी प्रोषितपतिका च ।
असती प्रतिवेशिनी दुर्गता च न खलु खण्डितं शीलम् ॥] गा. स. १।३६ ॥

चतुर इति ॥ ४३६ ॥

सौभाग्यसम्पद् यथा—

सञ्चारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा ।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः ॥ ४३७ ॥

सौभाग्य सम्पद् का उदाहरण—

(अर्थ के लिये द्रष्टव्य ४।५४ ॥) ॥ ४३७ ॥

सञ्चारिणीति । सा पतिं वृणोतीति पतिंवरा स्वयंवरा इन्दुमती रात्रौ सञ्चारिणी इतस्ततः सञ्चरणं कुर्वती दीपशिखेव यं यं भूमिपालं व्यतीयाय परिजहारेत्यर्थः सः सः भूमिपालः राजा नरेन्द्रमार्गाट्ट इव राजपथवर्त्ती हर्म्य इव विवर्णभावं मलिनत्वं प्रपेदे प्राप ॥ ४३७ ॥

मानिता यथा—

शैलात्मजाऽपि पितुरुच्छिरसोऽभिलाषं
व्यर्थं समर्थ्य ललितं वपुरात्मनश्च ।
सख्योः समक्षमिति चाधिकजातलज्जा
शून्या जगाम भवनाभिमुखं कथञ्चित् ॥ ४३८ ॥

मानिता का उदाहरण—

पार्वती भी अपने सिर ऊँचा किये हुये पिता हिमालय की आकांक्षा तथा अपने मनोहर शरीर को बेकार समझ कर अपनी दोनों सखियों जया तथा विजया के सामने (हो यह मदनदहन हुआ है) इससे अधिकतर लज्जित हो कर किसी प्रकार खोये खोये मन से घर की ओर चल पड़ी ॥ ४३८ ॥

शैलेति । शैलात्मजापि पार्वती अपि उच्छिरसः उन्नतशृङ्गस्य हरो मे जामाता भविष्यति इति उन्नतं शिरो मे भविता इति महान्तमाशयमास्थितस्य च इति भावः पितुः हिमालयस्य अभिलाषं सङ्कल्पम् आत्मनः स्वस्य ललितं सुन्दरं मनोहरमित्यर्थः ललितं त्रिषु सुन्दरमिति त्रिकाण्डशेषः । वपुः शरीरञ्च व्यर्थं विफलं समर्थ्य सम्भाव्य सख्योः जयाविजययोः समक्षं चक्षुःसमीपे मदर्थम् एतद् मदनदहनरूपं घटनमिति च हेतोः अधिकं यथा तथा जाता लज्जा यस्याः तथाभूता अतएव शून्या सर्वमन्धकारमिव पश्यन्ती इति भावः कथञ्चित् अतिकृच्छ्रेण भवनाभिमुखं गृहाभिमुखं जगाम भवनाभिमुखीति पाठान्तरम् ॥ ४३८ ॥

उदारवाक्यत्वं यथा—

यथा श्रुतं वेदविदां वर ! त्वया जनोऽयमुच्चैः पदलङ्घनोत्सुकः ।
तपः किलेदं तदवाप्तिसाधनं मनोरथानामगतिर्न विद्यते ॥ ४३९ ॥

उदारवाक्यता का उदाहरण—

हे वेदज्ञों में श्रेष्ठ तुमने जैसा सुना है, वही सत्य हैं कि यह जन ऊँचे पद की प्राप्ति का इच्छुक है। यह तपस्या उसी को प्राप्त करने का साधन है। कामनाओं के लिये अगम्यता नहीं होती ॥ ४३९ ॥

यथेति। हे वेदविदां वर ! वेदज्ञप्रवर ! त्वया यथा श्रुतम् आकर्णितं तथेति शेषः अयं जनः अतिसामान्य इति भावः उच्चैः पदस्य शिवरूपस्येति भावः लङ्घने आक्रमणे प्राप्तावित्ति यावत् उत्सुकः उत्कण्ठितः अभिलाषीति यावत्। इदं तपः ब्रह्माचरणं तस्य पदस्य अवाप्तेः प्राप्तेः साध्यते अनेनेति साधनं कारणं किल इति अलीके। एतेन तपसा तत्प्राप्तिर्वृथा सम्भाव्यते इति भावः तर्हि निवृत्यतामित्याशयेन दुराशा मां न मुञ्चतीत्याह मनोरथानाम् अभिलाषाणाम् अगतिः अगम्यस्थानमित्यर्थः न विद्यते नास्ति ॥ ४३९ ॥

स्थिरानुरागिता यथा—

अलं विवादेन यथा श्रुतं त्वया तथाविधस्तावदशेषमस्तु सः।
ममात्र भावैकरसं मनः स्थितं न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते ॥ ४४० ॥

स्थिरानुरागिता का उदाहरण—

(अर्थ के लिये द्रष्टव्य ४।१४८ ॥) ॥ ४४० ॥

स्व० द०—ऊपर उल्लिखित पुरुषों तथा स्त्रियों की गुणसम्पद् हैं जिनकी अपेक्षा उनमें की गई है। जैसे, नायिका के लिये 'सर्वगुणसम्पद्योगाद्' और इसी प्रकार से नायक के लिये भी प्रयोगों में इन्हीं गुणों के सामग्रथ भाव से उपस्थित रहने की चर्चा की गई हैं। इनमें से ही एक चौथाई कम होने पर अथवा किसी क्रम से कमी होने से उपनायक आदि भेद भी सिद्ध होते हैं।

अलमिति। विवादेन कलहेन आवयोरिति शेषः अलं वृथा, विवादो निरर्थक इत्यर्थः अलं व्यर्थसमर्थयोरित्यमरः। त्वया यथा श्रुतं स हरः तावत् अशेषं समग्रं यथा तथा तथाविधः तादृशः अस्तु तिष्ठतु। अत्र अस्मिन् हरे मम मनः भावैकरसं प्रेमैकप्रवणं सत् स्थितं निश्चलतया अवस्थितम्। अयोग्यवासना इयं लोकेषु गर्हणीयतामादधातीत्यत्राह नेति। कामवृत्तिः स्वेच्छाविहारी वचनीयं लोकनिन्दां न ईक्षते न पश्यति न गणयतीत्यर्थः तदहं स्वेच्छया विचरामीति न मे लोकवादाशङ्केति भावः ॥ ४४० ॥

पाकभक्तिषु आदौ अस्वादु अन्ते स्वादु मृद्वीकापाकं यथा—

प्राक् कामं दहता कृतः परिभवो येनाथ सन्ध्यानतौ
सेर्ष्या वोऽवतु चण्डिका चरणयोस्तं पातयन्ती पतिम्।
कुर्वन्त्याभ्यधिकं कृते प्रतिकृतं मुक्तेन मौलौ मुहुः
वाष्पेणाहृतकज्जलेन लिखितं लक्ष्मेव चन्द्रे यया ॥ ४४१ ॥

पाकभक्ति

पाकभक्ति के प्रकरण में जो प्रारम्भ में अस्वादिष्ट हो तथा अन्त में स्वादिष्ट हो, वह मृद्वीका पाक है, जैसे—

पहले कामदेव का दहन करके जिस शंकर ने (नारियों का) अपमान किया था, वही जब संध्या के समय नत हुये उस समय ईर्ष्या के साथ अपने पति को अपने दोनों चरणों पर गिराती हुई क्रुद्ध गौरी आप लोगों की रक्षा करें जिन्होंने शिव के प्रणिपात करने पर 'इन्होंने अपराध की अपेक्षा उसका प्रतिकार बहुत अधिक कर लिया' इस भाव से पुनः शिव के मस्तक पर गिर रहे कज्जल से काले हो गये आँसुओं से उसी तरह का चिह्न बना दिया जिस प्रकार कि चन्द्रमा में (कलङ्क) हुआ करता है ॥ ४४१ ॥

स्व० दृ०—यहाँ काव्य में स्वाद का अर्थ है हृदयस्पर्शी चमत्कार। यहाँ पूर्वार्ध का अर्थ चित्त को विशेष रूप से आकृष्ट नहीं करता, क्योंकि एक वस्तु का यों ही वर्णन है किन्तु उत्तरार्ध अधिक रञ्जक है।

राजशेखर ने भी मृद्वीकापाक का जो लक्षण दिया है, वह भोज के समान ही है। उनके शब्दों में—'आदावस्वादु परिणाम स्वादु मृद्वीका पाकम्'

(काव्यमीमांसा ५ अध्याय)।

भोज ने तो इस प्रसंग में पाक का कोई लक्षण नहीं दिया है, किन्तु राजशेखर ने अनेक विचारकों के मतों का उल्लेख करने के बाद इसके कई प्रकारों का भी निर्देश किया है।

'सततमभ्यासवशतः सुकवेः वाक्यं पाकमायाति। 'कः पुनरयं पाकः ?' इत्याचार्याः। 'परिणामः' इति मङ्गलः 'कः पुनरयं परिणामः ?' इत्याचार्याः। सुपां तिङां च श्रवः प्रिया व्युत्पत्तिः 'इति मङ्गलः। 'सौशब्द्यमेतत्। 'पदनिवेश निष्कम्पता पाकः इत्याचार्याः। तदाहुः—

'आवापोद्धरणे तावद यावद्दोलायते मनः।
पदानां स्थापिते स्थैर्ये हन्त सिद्धा सरस्वती ॥'

'आग्रह परिग्रहादपि पदस्थैर्य पर्यवसायस्तस्मात्पदानां परिवृत्तिवैमुख्यं पाकः' इति वामनीयाः ॥ तदाहुः

'यत्पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुताम्।
तं शब्दन्यायनिष्णाता शब्दपाकं प्रचक्षते ॥'

'इयमशक्तिर्न पुनः पाकः इत्यवन्तिसुन्दरी। यदेकस्मिन् वस्तुनि महाकवीनां अनेकोऽपि पाठः परिपाकवान् भवति, तस्माद्रसोचित शब्दार्थ-सूक्ति-निबन्धनः पाकः। यदाह—

गुणालंकाररीत्युक्तिः शब्दार्थग्रथनक्रमः।
स्वदते सुधियां येन वाक्यपाकः स मां प्रति ॥'

तदुक्तम्—सति वक्तरि सत्यर्थे शब्दे सति रसे सति।
अस्ति तन्न विना येन परिस्रवति वाङ्मधु ॥'

कार्यानुमेयतया यत्तच्छब्दनिवेद्यः परं पाकोऽभिधाविषयस्तत्सहृदयप्रसिद्धिसिद्ध एव व्यवहाराङ्गमसौ इति यायावरीयः।

द्रष्टव्य काव्यमीमांसा ५ म अध्याय।

पाकभक्तिषु इति पाकविभागेषु इत्यर्थः।

प्रागति। प्राक् पूर्वं येन हरेण कामं दहता भस्मीकुर्वता सता परिभवः अवमानना नारीणामिति शेषः कृतः, सन्ध्यानतौ सन्ध्यावन्दनार्थं प्रणतौ सत्यां सेर्ष्यां परनारीभूतां

सन्ध्यामेघः प्रणमतीति ईर्ष्याकलुषितेत्यर्थः अतएव चरणयोः तं परिभवकारिणमित्यर्थः पतिं हरं पातयन्ती अपराधक्षालनार्थमिति भावः चण्डिका गौरी वः युष्मान् अवतु रक्षतु। यथा चण्डिकया कृते अपराधे इति शेषः अभ्यधिकम् अपराधापेक्षया बहुतरमित्यर्थः प्रतिकृतं प्रतीकारं चरणपातनादिरूपमिति भावः कुर्वन्त्या सत्या मौलौ चरणपतितस्य हरस्य धम्मिल्ले मुक्तेन त्यक्तेन पातितेनेति भावः आहतं कज्जलं यत्र तादृशेन कज्जलमलिनेनेति यावत् आततकज्जलेनेति पाठान्तरम्। वाष्पेण अश्रुणा चन्द्रे तत्सन्निहितललाटवर्त्तिनीति भावः लक्ष्मैव कलङ्क इव लिखितम् अर्पितमित्यर्थः ॥ ४४१ ॥

आद्यन्तयोः स्वादु नारिकेलीरीतिपाकं यथा—

जह इच्छा तह रमिअं जाआ पत्ता पइं गआ धूआ।
घरसामिअस्स अस्स अज्ज विसो को उहच्छाइ अच्छीइम् ॥ ४४२ ॥

आदि तथा अन्त दोनों जगह स्वादु होने वाला नारिकेली पाक है। जैसे—

जितनी इच्छा थी उतना रमण किया, पत्नी मिली और पुत्री अपने पति के पास गई। गृहस्वामी की आँखें आज भी कौतूहल से युक्त हैं ॥ ४४२ ॥

[छाया—यथेच्छा तथा रमितं जाया प्राप्ता पतिं गता दुहिता।
गृहस्वामिनो अद्यापि सकौतूहलान्यक्षीणि ॥]

स्व० द०—यहाँ दी गई भोज की परिभाषा राजशेखर की परिभाषा से अक्षरशः अभिन्न है।

जह इति ॥ ४४२ ॥

आदिमध्यान्तेषु स्वादु स्वादुतरं स्वादुतममिति आम्रपाकं यथा—

शापादसि प्रतिहता स्मृतिलोपरूक्षे
भर्त्तर्य्यपेततमसि प्रभुता तवैव।
छाया न मूर्च्छति मलोपहतप्रसादे
शुद्धे तु दर्पणतले सुलभावकाशा ॥ ४४३ ॥

आदि, मध्य तथा अन्त में स्वादु, स्वादुतर, तथा स्वादुतम काव्य में आम्रपाक होता है, जैसे—

शाप से स्मृति के लोप के कारण पति के रूक्ष हो जाने पर तुम निन्दित हुई हो, विस्मृति का अन्धकार दूर होने पर तो तुम्हारा ही प्रभुत्व है। मैल के द्वारा विनष्ट कर दी गई स्वच्छता वाले दर्पण पर प्रतिबिम्ब ठीक से नहीं पड़ता, किन्तु निर्मल दर्पणतल पर उसके लिये अवकाश सुलभ होता है ॥ ४४३ ॥

स्व० द०—भोज ने केवल तीन ही पाकों का उल्लेख किया है। राजशेखर ने नव उपभेद माना है। उपर्युक्त तीनों के अतिरिक्त का उल्लेख इस प्रकार है—

'स च कविग्रामस्य काव्यमभ्यस्यतो नवधा भवति ॥ तत्राद्यन्तयोः अरबादु पिचमन्दुपाकम्', आदावस्वादु परिणामे मध्यममबदरपाकम् आदौ मध्यममन्ते चास्वादु वार्त्ताकपाकम् आद्यन्तयोर्मध्यमं तिन्तिडीक पाकम्, आदौ मध्यममन्ते स्वादु सहकारपाकम, आदावुत्तममन्ते चास्वादु क्रमुकपाकम्, आदावुत्तममन्ते मध्यमं त्रपुसपाकम्,' तेषां त्रिष्वपि त्रिकेषु पाकाः प्रथमे त्याज्याः।

वरमकविर्न पुनः कुकविः स्यात् । कुकविता हि सोच्छ्वासं मरणम् । मध्यमा संस्कार्याः । संस्कारो हि सर्वस्य गुणमुत्कर्षति । द्वादशवर्णमपि सुवर्णं पावकपाकेन हेयीभवति । शेषा ग्राह्याः । स्वभावशुद्धं हि न संस्कारमपेक्षते । न मुक्ताभणेः शाणस्तारतायै प्रभवति ।' काव्यमीमांसा ५ म अ० ॥ अनवस्थितपाकं पुनः कपित्थपाक मामनन्ति । तत्र पलालधुननेन अन्नकणलाभवत् सुभाषितलाभः ।

सम्यगभ्यस्यतः काव्यं नवधा परिपच्यते ।
हानोपादानसूत्रेण विभजेत्तद्धि बुद्धिमान् ॥ वही

शापादिति । भर्त्तरि पत्यौ शापात् दुर्वासस इति शेषः स्मृतेः स्मरणस्य लोपेन अपगमेन रूक्षः दारुणः निराकरणादिति भावः तस्मिन् सति प्रतिहतासि निराकृतासि । इदानीम् अपेततमसि शापावसानात् विगतमोहे भर्त्तरि सति तवैव न तु अन्यस्या इत्येवकारार्थः । प्रभुता प्रभुत्वं स्वत्परायण एव भर्त्ता भवेदिति भावः मलेन पांश्वादिना उपहतः नाशितः प्रसादः वैशद्यं यस्य तथाभूते दर्पणतले आदर्शतले छाया प्रतिबिम्बं न मूर्च्छति न प्रतिभाति शुद्धे स्वच्छे तु सुलभः सुप्रापः अवकाशः स्थितिः यया तथाभूता भवतीति शेषः विशुद्धे दर्पणतले प्रतिबिम्बं सुष्ठु प्रतिभासते एवेत्यर्थः ॥ ४४३ ॥

यत् नापैति न चातिशोभते तत् नीलीरागं यथा--

हित्वा सीतां दवमुखरिपुर्नोपयेमे यदन्यां
तस्या एव प्रतिकृतिसखो यत् क्रतूनाजहार ।
वृत्तान्तेन श्रवणविषयप्रापिणा तेन भर्त्तुः
सा दुर्वारं कथमपि परित्यागदुःखं विषेहे ॥ ४४४ ॥

रागभक्ति

जो दूर भी नहीं होता और बहुत अधिक सुशोभित भी नहीं होता वह नीलीराग है, जैसे—सीता का परित्याग करके जो राम ने किसी दूसरी स्त्री से विवाह नहीं किया, और जो उसी की प्रतिमा के साथ यज्ञों का सम्पादन किया, अपने पति के इस वृतान्त के कान में पड़ जाने से सीता ने दुर्वारणीय होने पर भी परित्याग के दुःख को सह लिया ॥ ४४४ ॥

हित्वेति । दशमुखरिपुः दशाननहन्ता रामः सीतां हित्वा परित्यज्य यत् अन्याम् अपरां कान्तां न उपयेमे न परिणीतवान्, तथा तस्याः सीतायाः एव प्रतिकृतिसखः प्रतिमूर्त्तिद्वितीय इत्यर्थः यत् क्रतून् यज्ञान् आजहार अनुष्ठितवान् 'सस्त्रीको धर्ममाचरेदि'ति श्रुतेर्यज्ञादिषु सपत्नीकत्वस्मरणात् । तेन श्रवणविषयप्रापिणा श्रुतिपथं गतेन भर्त्तुः वृत्तान्तेन व्यवहारेण सा सीता दुर्वारमपि वारयितुमशक्यमपि परित्यागदुःखं विषेहे सोढवती ॥ ४४४ ॥

यदपैति च शोभते च तत् कुसुम्भरागं यथा--

बहूवल्लहस्स ण होइ वल्लहा कह पि पञ्चदिअहाइम् ।
सा किं छन्दं मग्गइ कन्तो मिच्छं च बहुआ च ॥ ४४५ ॥

जो छूट भी जाता है और सुशोभित होता है, वह कुसुम्भराग है, जैसे—

अनेक प्रेयसियों वाले नायक को जो प्रिया होती है, वह केवल पांच दिन तक किसी

प्रकार उसकी प्रतीक्षा करती है, क्या वह छठे दिन भी उसके सही स्वभाव की खोज करती है। क्योंकि मीठा भी हो और अधिक भी हो, (यह कहाँ संभव ?) ॥ ४४५ ॥

[छाया—बहुवल्लभस्य या भवति वल्लभा कथमपि पञ्च दिवसानि ।
सा किं षष्ठं मृगयते कुतो मृष्टं च बहुकं च ॥] गा. स. १।७२ ॥

बहु इति ॥ ४४५ ॥

यत् नापैति अपि च शोभते तत् मञ्जिष्ठारागं यथा—

वेवइ जस्स सव्विड़िअं वलिअं महइ पुलआइअत्थणकलसं ।
पेम्मसहावविमुसिअं दुबीआवकासगमणोस्सुअं वामाद्धं ॥ ४४६ ॥

जो दूर नहीं होता तथा सुशोभित भी होता है, वह मञ्जिष्ठाराग है, जैसे—

जिस अर्धनारीश्वर का आधा बायाँ भाग त्रिवली से युक्त है, प्रचुर रोमाञ्चों से स्तन-कलश से सुशोभित है उसी का द्वितीयार्ध प्रेम के चञ्चल स्वभाव से विमोहित होकर अवसर पा कर चलने के लिये उत्सुक है और लज्जापूर्वक काँपता है ॥ ४४६ ॥

स्व० द०—यह रागभक्ति की कल्पना-रंग के आधार पर काव्य के विभाजन का भाव कहाँ से भोज को मिली, कहा नहीं जा सकता। तथापि लोक-व्यवहार में यह सुन कर कि इस छन्द का बड़ा गहरा रंग पड़ा, क्या कहना है ? और इसी से प्रेरित होकर ग्रन्थकार ने यह निरूपण किया हो, ऐसी सम्भावना की जा सकती है।

वेपते यस्य सव्रीडं वलितं महत्पुलकाचितस्तनकलसम् ।
प्रेमस्वभावविमुषितं द्वितीयावकाशगमनोत्सुकं वामार्द्धम् ॥

वेपते इति। यस्य हरगौरीरूपस्येति भावः वामार्द्धं गौर्या वामभाग इत्यर्थः महता अतिशयितेन पुलकेन कान्तदेहसङ्गजनितेनेति भावः पुलकेन वलितं त्रिवलीयुतमित्यर्थः रोमाञ्चेन आचितः व्याप्तः आपूरित इत्यर्थः स्तनः कलस इव यत्र तथोक्तं प्रेम्णः स्वभावेन चापल्येनेतिभावः विमोहितम् अतएव द्वितीयस्मिन् अवकाशे स्थाने दक्षिणभागे इति भावः गमनोत्सुकं सव्रीडं सलज्जं वेपते कम्पते ॥ ४४६ ॥

गूढव्यलीकं अन्तर्व्याजं यथा—

प्रत्यग्रोज्झितगोकुलस्य शयनादुत्स्वप्नमूढस्य मे
सा गोत्रस्खलनादपैतु च दिवा राधेति भीरोरिति ।
रात्रावस्वपतो दिवा च विजने लक्ष्मीति चाभ्यस्यतः
राधां प्रस्मरतः श्रियं रमयतः खेदो हरेः पातु वः ॥ ४४७ ॥

व्याजभक्ति

छिपे हुये छल से युक्त अन्तर्व्याज का उदाहरण—

अभी अभी गोकुल को छोड़ कर आये हुये, दिन में स्वप्न देखने से विवश तथा डरपोक मेरे 'राधा' इस प्रकार का नामव्यत्यय करने से लक्ष्मीरूपा रुक्मिणी (क्रोध के कारण) शय्या से उठ कर जा सकती हैं, इसलिये रात में जाग जाग कर तथा दिन में एकान्त मिलने पर

'लक्ष्मी' नाम का बराबर अभ्यास करके 'राधा' का विशेष स्मरण ध्यान करते हुये तथा रुक्मिणी के साथ विहार करते हुये कृष्ण का क्लेश आप लोगों की रक्षा करे ॥ ४४७ ॥

प्रत्यग्रेति । प्रत्यग्रम् अभिनवं साम्प्रतमिति भावः उज्झितं त्यक्तं गोकुलं वृन्दावनमिति भावः येन तथोक्तस्य दिवा दिवसे उत्स्वप्नेन स्वप्नदर्शनेन मूढस्य विवशस्य मे मम भीरोः अन्यः कोऽपि पश्यतीतिबुद्ध्येति भावः राधा इति गोत्रस्खलनात् नामव्यत्ययकरणात् सा श्रीर्लक्ष्मीः रुक्मिणीति यावत् शयनात् शय्यातलात् अपैतु अपगच्छतु कोपादिति भावः । तदेवं राधानामकीर्त्तनेऽपि देवी विरक्ता स्यादिति विविच्येत्यध्याहार्य्यं रात्रौ अस्वपतः स्वापमकुर्वतः दिवा च विजने एकान्ते लक्ष्मीति नामधेयम् अभ्यस्यतः पुनः पुनः जपतः तथा राधां प्रस्मरतः प्रकर्षेण ध्यायतः तथा श्रियं रुक्मिणीं रमयतः विहारयतः हरेः कृष्णस्य खेदः क्लेशः एकस्यामनुरागातिशयेन सततानुध्यानम् अन्यस्यां बाह्यानुरागप्रदर्शनञ्च इति उभाभ्यां जनित इति भावः वः युष्मान् पातु रक्षतु ॥ ४४७ ॥

अगूढव्यलीकं बहिर्व्याजं यथा—

चक्षुर्यस्य तवाननादपगतं नाभूत् क्वचित् निर्वृतं
येनैषा सततं त्वदेकशयनं वक्षःस्थली कल्पिता ।
येनोक्तासि विना त्वया मम जगच्छून्यं क्षणात् जायते
सोऽयं दम्भधृतव्रतः प्रियतमः कर्त्तुं किमभ्युद्यतः ॥ ४४८ ॥

जिसमें छल का भाव छिपा नहीं होता वह बहिर्व्याज है । जैसे—

जिसकी निगाहें तुम्हारे मुख से हटने पर कहीं भी चैन नहीं पाती थीं, जिसने अपने इस वक्षःस्थल को तुम्हारा ही अद्वितीय शय्यातल बना रखा था, जिसके द्वारा तुम कही गई थीं कि तुम्हारे अभाव से एक ही क्षण में मेरा संसार सूना हो जाता है, वही तुम्हारा यह दम्भरूप व्रत को धारण करने वाला प्रियतम क्या करने के लिये उद्यत हो गया है ॥ ४४८ ॥

चक्षुरिति । यस्य चक्षुः नयनं तव आननात् मुखात् अपगतं विनिवृत्तं सत् क्वचित् कुत्रापि न निर्वृतं न सुखितम् अभूत् त्वन्मुखैकानुरक्तं यस्य चक्षुरासीदित्यर्थः । येन एषा वक्षःस्थली सततं तव एकमद्वितीयं शयनं शय्यातलं कल्पिता कृतेत्यर्थः येन वक्षसा त्वं सततं धृतेति यावत् । येन त्वया विना क्षणात् मम जगत् शून्यं जायते इति उक्ता असि कथितासि । सोऽयं तव प्रियतमः दम्भेन अहङ्कारविशेषेण धृतं व्रतं तपोविशेषः येन तथाभूतः सन् किं कर्तुम् अभ्युद्यतः ? प्रवृत्तः ? । त्वां त्यक्त्वा व्रतच्छलेन अपगच्छतीति भावः ॥ ४४८ ॥

अव्यलीकं निर्व्याजं यथा,—

किं कण्ठे शिथिलीकृतो भुजलतापाशः प्रमादात् मया ?
निद्रोच्छेदविवर्त्तनेष्वभिमुखं नाद्यासि सम्भाषिता ? ।
अन्यस्त्रीजनसङ्कथालघुरहं स्वप्ने त्वया वीक्षितः ?
दोषं पश्यसि किं प्रिये ! परिजनोपालम्भयोग्ये मयि ? ॥४४९॥

जिसमें कोई भी मिथ्या प्रदर्शन का भाव न हो, वह निर्व्याज है। जैसे—

क्या मैंने असावधानी में तुम्हारे गले में पड़ा हुआ भुजाओं का बन्धन शिथिल कर दिया है? क्या आज रात में नींद टूटने पर करवट बदल कर तुम्हारी ओर मुख करके मैंने तुमसे बातें नहीं की? क्या तुमने स्वप्न में कहीं दूसरी स्त्री के साथ बात करने से लघु हो जाने वाले मुझको देखा तो नहीं। हे प्रियतमे! सेवकों के योग्य उपालम्भ के पात्र मुझमें तुम क्या दोष देख रही हो॥ ४४९॥

स्व० वृ०—यहाँ अन्तर्व्याज के उदाहरण में 'लक्ष्मी' नाम के स्मरण में राधा स्मरण का भाव भीतर ही भीतर छिपा हुआ है। द्वितीय उदाहरण में क्या करने को उद्यत हो गया है। इस वाक्य के द्वारा 'व्यलीकता' बाहर स्पष्ट कर दी गई है। अन्तिम में सारे कारण स्पष्ट उल्लिखित हैं। अतः यह व्याजता के आधार पर काव्य का भक्ति-विभाजन है।

संभवतः इसका भी मूल भोज की अन्तःप्रेरणा ही है।

किमिति। **मया प्रमादात् अनवधानतः कण्ठे मदीये भुजलतापाशः त्वदर्पित इति शेषः किं शिथिलीकृतः शैथिल्यं नीतः?। निद्राया उच्छेदे विरतौ यानि विवर्त्तनानि पार्श्वपरिवर्त्तनानि तेषु सत्सु अद्य अभिमुखं यथा तथा न सम्भाषितासि नालपितासि? त्वया अन्येन स्त्रीजनेन सङ्कथया समालपनेन लघुः क्षुद्रः अहं स्वप्ने वीक्षितः? दृष्टः? हे प्रिये! परिजनस्य सामान्यभृत्यवर्गस्य उपालम्भः तिरस्कारः तस्य योग्यः तदर्ह इत्यर्थः तस्मिन् मयि किं दोषं पश्यसि? तस्मात् निरपराधे मयि त्वं प्रसीदेति भावः॥ ४४९॥**

धर्मानुबन्धि धर्मोदर्कं यथा,—

अथ स विषयव्यावृत्तात्मा यथाविधि सूनवे
नृपतिककुदं दत्त्वा यूने सितातपवारणम्।
मुनिवनतरुच्छायां देव्या तया सह शिश्रिये
गलितवयसामिक्ष्वाकूणामिदं हि कुलव्रतम्॥ ४५०॥

उदर्कभक्ति

धर्म से सम्बद्ध को धर्मोदर्क कहते हैं। जैसे—

इसके पश्चात् वह (महाराज दिलीप) भोगों से अपने को हटा कर नियमानुसार अपने तरुण पुत्र रघु को अपना राजचिह्न श्वेत छत्र देकर अर्थात् उनका राज्याभिषेक करके उस देवी सुदक्षिणा के साथ तपोवन के वृक्षों की छाया में आश्रित हुये, क्योंकि आयु परिपूर्ण होने पर इक्ष्वाकुवंशीयों का यही कुलव्रत है॥ ४५०॥

अथेति। **अथानन्तरं स दिलीपः विषयेभ्यः स्रक्चन्दनादिभोगवस्तुभ्यः व्यावृत्तः आत्मा चित्तं यस्य तथाभूतः विगतभोगस्पृह इत्यर्थः सन् यूने तरुणाय सूनवे पुत्राय राघवे यथाविधि यथाशास्त्रं नृपतिककुदं राजचिह्नं सितातपवारणं श्वेतच्छत्रं दत्त्वा पुत्रं राज्ये अभिषिच्येति भावः तया देव्या महिष्या सुदक्षिणया सह मुनिवनस्य तपोवनस्येत्यर्थः तरुच्छायां शिश्रिये आश्रितवान् तपोवनं जगामेत्यर्थः। हि यतः गलितवयसां गतायुषामिति यावत् इक्ष्वाकूणाम् इक्ष्वाकुवंशीयानाम् इदं योग्यपुत्रे राज्यभारार्पणपुरःसरतपोवनाश्रयणमिति भावः कुलव्रतं वंशनियमः॥ ४५०॥**

अर्थानुबन्धि अर्थोदर्कं यथा,—

भूत्वा चिराय सदिगन्तमहीसपत्नी
दौष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं प्रसूय ।
तत्सन्निवेशितभरेण सहैव भर्त्रा
शान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन् ॥ ४५१ ॥

अर्थ से सम्बद्ध को अर्थोदर्क कहते है, जैसे—

दिशाओं के अन्तिम छोर तक फैली हुई पृथ्वी की बहुत दिनों तक सपत्नी हो कर, अव्याहत रथ वाले पुत्र को दुष्यन्त से उत्पन्न करके उसके ऊपर राज्य भार डालने वाले पति के साथ फिर से इस शान्त तपोवन में अपना पैर रखोगी अथवा स्थान बनाओगी ॥ ४५१ ॥

भूत्वेति । चिराय दीर्घकालं सदिगन्तमह्याः दिगन्तसहितायाः पृथिव्या इत्यर्थः सपत्नी समानपतिका भूत्वा दौष्यन्तिं दुष्यन्तस्य इमम् अप्रतिरथं अप्रतिबलमित्यर्थः तनयं पुत्रं प्रसूय उत्पाद्य तस्मिन् पुत्रे सन्निवेशितः संस्थापितः भरः राज्यभारः येन तथाभूतेन भर्त्रा स्वामिना सहैव शान्ते अस्मिन् आश्रमपदे पुनः पदं स्थानम् अवस्थितिमित्यर्थः करिष्यसि ॥ ४५१ ॥

यत् पुनः काममेवानुबध्नाति तत् कामोदर्कं यथा,—

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगुणं सर्वास्ववस्थासु यत्
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्य्यो रसः ।
कालेनावरणात्ययात् परिणतेर्यत् स्नेहसारे स्थितं
भद्रं तस्य समानुषस्य कथमप्येकं हि तत् प्रार्थ्यते ॥ ४५२ ॥

और फिर जो काम से ही अनुबद्ध होता हैं वह कामोदर्क है, जैसे—

जो सुख तथा दुःख की दशाओं में बदलता नहीं, जो सभी अवस्थाओं में अनुकूल है, जिसमें हृदय को शान्ति मिलती है, तथा जिसमें वार्धक्य के द्वारा भी आनन्द कम नहीं हो पाता है, समय के कारण लज्जा आदि पर्दों के समाप्त हो जाने पर जो परिपक्व हो कर स्नेह के सार रूप में विद्यमान रहता है, वह मङ्गलमय प्रियजन का अद्वितीय प्रेम किसी प्रकार-बड़ी मुश्किल से प्राप्त होता है ॥ ४५२ ॥

स्व० द०—'उदर्क' का अभिधेय अर्थ फल, परिणाम अन्त आदि होता है । उक्त उदाहरणों में इन्हें स्पष्टरूप से देखा जा सकता है ।

अद्वैतमिति । सुखदुःखयोः सुखावस्थायाञ्च यत् अद्वैतम् अभिन्नं तथा सर्वासु अवस्थासु यत् अनुगुणम् अनुकूलम् । यत्र हृदयस्य अन्तरिन्द्रियस्य विश्रामः शान्तिः, यस्मिन् जरसा वार्द्धकेनापि रसः प्रीतिः अहार्य्यः हर्त्तुमशक्यः कालेन दीर्घकालसहवासेनेति भावः आवरणस्य लज्जादेः अत्ययात् अपगमात् यत् परिणते परिपाकं गते स्नेहसारे स्थितं परिणतस्नेहसाररूपेण तिष्ठतीत्यर्थः वर्त्तमाने क्तप्रत्ययः । तत् एकमद्वितीयं भद्रं साधु सुमानुषस्य सुजनस्य प्रेम प्रियता कथमपि प्राप्यते लभ्यते । एतादृक् प्रेमातीव विरलमिति भावः ॥ ४५२ ॥

नानालङ्कारसंसृष्टेः प्रकाराश्च रसोक्तयः। इत्युक्तम्, तत्र अलङ्कार-संसृष्टेः इत्येव वक्तव्ये नानालङ्कारग्रहणं गुणरसानामुपसंग्रहार्थम्, तेषामपि हि काव्यशोभाकरत्वेन अलङ्कारत्वात्।

यदाह—

काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलङ्कारान् प्रचक्षते।
ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यति ॥ ४५३ ॥

अलंकारसंसृष्टि

नानालङ्कारसंसृष्टेः प्रकाराश्च रसोक्तयः—अनेक अलङ्कारों के संकर के विभिन्न भेद भी रसोक्तियाँ हैं—यह (५।११) कहा जा चुका है। वहाँ 'अलङ्कारसंसृष्टेः' इतना ही कहना चाहिये था, किन्तु 'नानालङ्कार' शब्द का ग्रहण गुणों तथा रसों का भी सन्निवेश करने के लिये है, क्योंकि काव्य की शोभा बढ़ाने के कारण उनकी भी अलङ्कारता सिद्ध होती है। जैसा कहा भी गया है—

काव्य में शोभा को उत्पन्न करने वाले धर्मों को अलङ्कार कहा जाता है। आज भी वे विकल्प के विषय हैं। कौन उनका पूरी तरह कथन कर सकेगा? पहले भी कुछ अलङ्कार (वैदर्भी, गौड़ी, आदि) मार्गों का भेद प्रदर्शित करने के लिये कहे गये हैं। अब उससे भिन्न सामान्य अलङ्कार प्रदर्शित किये जा रहे हैं ॥ ४५३ ॥

काव्येति। काव्यस्य शोभां चारुतामित्यर्थः कुर्वन्ति जनयन्ति इति तान् धर्मान् विषय-भेदान् अलङ्कारान् प्रचक्षते कथयन्ति कवय इति शेषः। अद्यापि ते अलङ्काराः विकल्प्यन्ते विभिद्यन्ते। को जनः कार्त्स्न्येन साकल्येन तान् वक्ष्यति? न कोऽपीत्यर्थः ॥ ४५३ ॥

काश्चित् मार्गविभागार्थमुक्ताः प्रागप्यलङ्क्रियाः।
साधारणमलङ्कारजातमन्यत् प्रदर्श्यते ॥

ये काव्यादर्श के द्वितीय परिच्छेद की प्रथम तथा तृतीय कारिकायें हैं। यहाँ 'साधारणम्' पद का वास्तविक अर्थ है वैदर्भी तथा गौड़ी दोनों रीतियों में सामान्य रूप से विद्यमान रहने वाला। दण्डी ने रीति को 'मार्ग' शब्द से अभिहित किया है—

अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्।
तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ ॥ काव्यादर्श १।४० ॥

यहाँ एक बात अवश्य खटकती है वह है 'मार्गविभाग के समय' कहे गये गुणों को ही अलङ्कार मान लेना। वस्तुतः काव्यादर्श के प्रथम परिच्छेद में वैदर्भी रीति के दश गुणों का उल्लेख करने के बाद अनुप्रास तथा यमक का भी उपक्रम किया गया है। यह निश्चित है कि ये अलङ्कार मार्गोपयोगी होने पर भी गुणों से भिन्न हैं, क्योंकि इनकी गणना दस गुणों में नहीं हुई है। इसके अतिरिक्त यमक के प्रसङ्ग में दण्डी ने स्पष्ट कहा था कि यमक आदि अधिकतर पूर्णरूप में मधुर नहीं होते, अतः बाद में इनको कहा जायेगा—

इतीदं नाद्दतं गौडैरनुप्रासस्तु तत्प्रियः।
अनुप्रासादपि प्रायो वैदर्भैरिदमिष्यते ॥
आवृत्तिं वर्णसङ्घातगोचरां कवयोः विदुः।
तत्तु नैकान्तमधुरमतः पश्चाद्विधास्यते ॥ काव्यादर्श १।५४,६१ ॥

मार्ग विभाग के प्रसङ्ग में कहे गये अलङ्कारों को न स्वीकार कर गुणों को उपस्थित करना भोज का साहसिक कर्म है, यद्यपि दण्डी के ग्रन्थ में गुण, अलङ्कार आदि का स्पष्ट तथा पृथक्-पृथक् लक्षण नहीं उपलब्ध होता। इसी अस्पष्टता का भोज ने अनुचित लाभ उठाया है।

काश्चित् इति। काश्चित् अलङ्क्रियाः अलङ्काराः प्रागपि पूर्वमपि मार्गस्य रीतिविशेषस्य विभागार्थं भेदार्थम् उक्ताः कथिताः। अन्यत् मार्गाद्भिन्नमित्यर्थः साधारणं सामान्यम् अलङ्कारजातं प्रदर्श्यते प्रकाश्यते ॥ ४५३ ॥

तत्र काव्यशोभाकरान् इत्यनेन श्लेषोपमादिवद् गुणरसभावतदाभासप्रशमादीनपि उपगृह्णाति। मार्गविभागकृद्गुणानामलङ्क्रियोपदेशेन श्लेषादीनां गुणत्वमिव अलङ्कारत्वमपि ज्ञापयति ॥

वहाँ 'काव्यशोभाकरान्' इस पद से श्लेष, उपमा आदि की भांति गुण, रस, भाव, रसाभास, भावाभास और भावशान्ति आदि का भी ग्रहण कर लेते हैं। मार्ग (रीति) को पृथक् करने वाले गुणों की, भी अलङ्कार का उपदेश करके, श्लेष आदि की गुणता की भांति ही अलङ्कारता भी सूचित करते हैं ॥

स्व० द०—भोज ने रसोक्ति, वक्रोक्ति तथा स्वभावोक्ति नाम से विभक्त किये गये काव्य में अनेक अलङ्कारों की संसृष्टि को भी रसोक्ति ही स्वीकार किया है, जब कि परवर्ती साहित्यशास्त्री रस, अलङ्कार आदि प्रस्थानों को भिन्न भिन्न मानते हैं। भोज ने प्रमाण के रूप में दण्डी के 'काव्यादर्श' से कारिकायें उद्धृत की है।

तत्रेति। श्लेष उपमा इत्यादयो यथा अलङ्काराः तथा गुणरसभावादयोऽपि अलङ्कारत्वेन परिगृह्यन्ते इति भावः ॥

श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजःकान्तिसमाधयः ॥
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृताः।
तेषां विपर्ययः प्रायो लक्ष्यते गौडवर्त्मनि ॥

इति श्लेषादीनां दशानामेव मार्गप्रविभागकारितां ब्रुवन् काव्यशोभाकरत्वेन गुणान्तराणामपि अलङ्कारत्वमुपकल्पयति। तदाह, कस्तां कार्त्स्न्येन वक्ष्यति, युक्तमिदमुक्तम्। अयुक्तन्त्विदमुक्तं 'रसानामलङ्कारता' इति। तेषां गुणानामिव अलङ्कारव्यपदेशाभावात् नायुक्तम्। युक्तोत्कर्षाणामूर्जस्विरसवत्प्रेयसामलङ्कारेषु उपदेशात् ॥

'श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति तथा समाधि ये दस गुण वैदर्भी मार्ग के प्राण रूप में याद किये गये हैं। गौडी रीति में अधिकतर इनकी विपरीतता देखी जाती है।

इस प्रकार श्लेष आदि दस की ही मार्गविभाजकता को कहते हुये काव्य में शोभा उत्पन्न करने के कारण अन्य गुणों की भी अलङ्कारता को सिद्ध करते हैं। जैसा कहा भी है कि 'उनका पूर्णतः वर्णन कौन कर सकेगा?' (दण्डी का) यह कथन तो उचित है। अनुचित तो यह

कथन है जहाँ 'रसों की अलङ्कारता' कही गई है। क्योंकि गुणों की भांति उनमें अलङ्कार संज्ञा नहीं है। (किन्तु सिद्धान्त पक्ष यह है कि) (रसों को भी अलङ्कार कहना) अनुचित नहीं है। क्योंकि युक्तोत्कर्षता' अर्थात् वाच्यार्थ का शोभाकरत्व-होने से ऊर्जस्वि, रसवत् तथा प्रेय का अलङ्कार के रूप में उपदेश किया गया है॥

स्व० द०—इस प्रसंग में भी भोज ने दण्डी के काव्यादर्श (१।४१-४२) से ही प्रमाण उद्धृत किया है। वस्तुतः रस को अलङ्कार मानना रसवादी तथा ध्वनिवादी आचार्यों को अभीष्ट नहीं हैं, अलङ्कार भले ही रस हो जायें। इससे काव्यात्मता के सिद्धान्त में अन्तर पड़ता है। अलङ्कार सम्प्रदाय के आचार्य रस, भाव, तदाभास, भावशान्ति, आदि को रसवद्, प्रेय, ऊर्जस्वि, समाहित, उदात्त आदि अलङ्कार के रूप में स्वीकारते हैं, प्रायः पृथक् नहीं, किन्तु रसवादी तथा ध्वनिवादी आचार्य अलङ्कारों को पृथक् मानते हैं, किन्तु प्रधान रूप से रस तथा ध्वनि को और गौण रूप से अलङ्कारों को काव्य में उपयोगी मानते हैं। भोजराज गुणों को भी अलङ्कार मानते हैं और रस को भी क्योंकि जब रस पूर्णरूप से व्यक्त नहीं होता अपितु रति आदि स्थायी केवल 'युक्तोत्कर्ष' होते हैं, मात्र उद्बुद्ध होते हैं, तब वे अलङ्कार के सदृश ही होते हैं।

श्लेष इति। **श्लेषादयो दश वैदर्भमार्गस्य वैदर्भ्या रीतेः प्राणाः जीवनभूताः गुणाः स्मृताः कथिताः। गौडवर्त्मनि गौडीमार्गे प्रायः बाहुल्येन तेषां दशानां श्लेषादीनां विपर्ययः वैपरीत्यं लक्ष्यते दृश्यते॥**

तद् यथा,—

प्रेयः प्रियतराख्यानं रसवद् रसपेशलम्।
ऊर्जस्वि रूढाहङ्कारं युक्तोत्कर्षञ्च तत् त्रयम्॥ १७२॥

वह इस प्रकार है—

अत्यन्त प्रीतिजनक कथन प्रेयः है, रस से चमत्कृत आख्यान रसवत् है तथा प्रदीप्त गर्व वाला कथन ऊर्जस्वि हैं। यह तीनों ही उत्कर्ष से समन्वित-वाच्यार्थ के पोषक-होने से कहे गये हैं॥ १७२॥

प्रेय इति। **प्रियतरं अतीव प्रीतिजनकमित्यर्थः आख्यानं कथनं प्रेयः, रसेन पेशलं समुज्ज्वलमित्यर्थः आख्यानं रसवत्, रूढः प्रदीप्तः अहङ्कारः गर्वः आख्यानम् ऊर्जस्वि, तद् उक्तमित्यर्थः त्रयं युक्त उत्कर्षो यस्मिन् तथाभूतम् उत्कर्षवदित्यर्थः॥ १७२॥**

तत्र ऊर्जस्वि रूढाहङ्कारमित्यनेन आत्मविशेषनिष्ठस्य उत्कृष्टजन्मनोऽनेकजन्मानुभवसंस्काराहितदृढिम्नः संग्रामे गुणसम्पदुत्पादातिशयहेतोरलङ्कारविशेषस्य उपसंग्रहादहङ्काराभिमानशृङ्गारापरनाम्नो रसस्य मानमयविकाररूपेण अभिमानिनां मनसि जाग्रतः परां कोटिमुपवर्णयति। रसवद्रसपेशलमित्यनेन विभावानुभावव्यभिचारिसात्त्विकसंयोगाद्रसनिष्पत्तिरिति रत्यादिरूपेण अनेकधा आविर्भवतोऽभिवर्द्धमानस्य परप्रकर्षगामिनः शृङ्गारस्य मध्यमावस्थां सूचयति॥

वहाँ पर 'ऊर्जस्वि रूढाहंकारम्' इस कथन से अपनी विशिष्टताओं से युक्त, शुभ अदृष्ट से उत्पन्न, कई जन्मों के अनुभवों के संस्कारों से दृढता से सम्पन्न कर दिये गये, संग्राम में गुणराशियों की उत्पत्ति के आधिक्य के कारणभूत अलङ्कार विशेष का उपसंग्रह होने से अहङ्कार, अभिमान, शृङ्गार आदि भिन्न नामों वाले रस का जो कि मानयुक्तता रूप में विकार के रूप में अभिमानियों के हृदय में उद्बुद्ध रहता है, उसका कवि महान् उत्कर्ष निरूपित करता है। (उक्त कारिका में ही जो) 'रसवद् रसपेशलम्' कथन है इससे चूँकि विभाव, अनुभाव, व्यभिचारि तथा सात्त्विक भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती हैं, इस लिये रति आदि के रूप में अनेक प्रकार से आविर्भूत होने वाले, सर्वत्र फैलते हुये तथा चरम उत्कर्ष को प्राप्त करने वाले शृङ्गार की मध्यम अवस्था को सूचित करता है॥

स्व० द०—यहाँ ऊर्जस्वि तथा रसवद् का व्याख्यान किया गया है। कारिका में आये हुये सम्बद्ध शब्दों का उल्लेख करके व्याख्या उपस्थित की गई है। अन्त में जो मध्यावस्था अथवा मध्यमावस्था का कथन हैं, उसका अभिप्राय यही है कि जब ये भाव पूर्ण व्यक्त हो जाते है तब तो रसता होती है, किन्तु जब इनमें मात्र स्फुरण होता है, स्थायी पूर्णतः व्यक्त न होकर उद्बुद्ध मात्र होते हैं, उस समय उनमें अलङ्कारता आती है। यह 'प्रेयः प्रियतरः' आदि काव्यादर्श (२।२७५) का है।

तत्रेति। आत्मनो विशेषः वैलक्षण्यं तन्निष्ठस्य तद्वृत्तेः। उत्कृष्टात् अदृष्टात् जन्म यस्य तथाभूतस्य शुभादृष्टसमुत्पन्नस्येति यावत्। अनेकेषु जन्मसु योऽनुभवः आस्वादविशेषः तस्य संस्कारेण आहितः जनितः दृढिमा दार्ढ्यं यस्य तथोक्तस्य। अहङ्कारेति। अहङ्कारः अभिमानः शृङ्गार इति अपराणि नामानि यस्य तथाभूतस्य। परां महतीं कोटिम् उत्कर्षमिति भावः। उपवर्णयति कविरिति शेषः। रसवदिति आविर्भवतः प्रकाशमानस्य अभिवर्द्धमानस्य अभितो वृद्धिं गच्छतः परप्रकर्षगामिनः परमोत्कर्षं प्राप्तस्य॥

प्रेयः प्रियतराख्यानमित्यनेन समस्तभावमूर्द्धाभिषिक्तायाः रतेः परप्रकर्षाधिगमाद् भावनाभिगमे भावरूपतामुल्लङ्घ्य प्रेम रूपेण परिणताया उपादानाद् भावान्तराणामपि परप्रकर्षाधिगमे रसरूपेण परिणतिरिति ज्ञापयन् अलङ्कारस्य उत्तरां कोटिमुपलक्षयति। सर्वेषामपि हि रत्यादिप्रकर्षाणां रतिप्रियः, रणप्रियः, परिहासप्रियः, अमर्षप्रिय इति प्रेम्णि एव पर्य्यवसानं भवति। युक्तोत्कर्षश्च तत् त्रयमित्यनेन अयुक्तोत्कर्षाणां त्रयाणामप्यूर्जस्विप्रभृतीनां गुणत्वमेव नालङ्कारत्वमित्यवस्थापयति। तथाहि, औजित्यं भाविकं प्रेय इति गुणेषु भण्यते, कुतः पुनरिदमेकदा ऊर्जस्विरसवत्प्रेयसामलङ्कारत्वमन्यदा गुणत्वम्, उच्यते॥

'प्रेयः प्रियतराख्यानम्' इस वाक्य के द्वारा सभी भावों में शीर्षस्थ रति का चरम उत्कर्ष प्राप्त होने से जब भावना का अधिगम होता है तब भावरूपता को छोड़ कर प्रेम रूप में बदल गई उसका ग्रहण होने से दूसरे भावों की भी परमोन्नति प्राप्त होने से वह रस के रूप में परिणत हो जाती है, इस बात को बतलाते हुये आचार्य अहङ्कार की उत्कृष्ट सीमा का ज्ञान कराते हैं। सभी प्रकार के रति आदि के प्रकर्षों की यह रतिप्रिय है, यह रणप्रिय है, यह परिहासप्रिय है, यह अमर्षप्रिय है, इस रूप में प्रेम में ही परिणति होती है। (कारिका

के) 'युक्तोत्कर्षं च तत् त्रयम्' इस वाक्य से उत्कर्ष न प्रदान करने वाले इन तीनों ऊर्जस्वि आदि की गुणता की ही स्थापना होती है, न कि उनकी अलंकारता की। जैसे कि–औजित्य, भाविकत्व, प्रेय ये तो गुणों में पढ़े जाते हैं, फिर यह कैसे सम्भव है कि एकबार तो ऊर्जस्वि, रसवत् तथा प्रेय की अलङ्कारता निरूपित की गई और दूसरी बार गुणता'? उत्तर कहा जा रहा है—

प्रेयः प्रियतराख्यानमिति। **समस्तभावानां मूर्द्धाभिषिक्तायाः शिरसि स्थिताया इत्यर्थः परप्रकर्षाधिगमात् परमोत्कर्षावबोधनादित्यर्थः भावनाभिगमे पर्य्यालोचनायामित्यर्थः भावरूपतां भावस्वरूपत्वम् उल्लङ्घ्य अतिक्रम्य परित्यज्येत्यर्थः। भावान्तराणामपि भावविशेषाणामपि परप्रकर्षाधिगमे परमोत्कर्षबोधने। उत्तरां चरमामवस्थाम्॥**

भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने।
संसर्गेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः॥

यथा, गोमान् देशः, वाचालो वटुः, वाग्मी विपश्चित्, क्षीरिणो वृक्षाः, बलवान् मल्लः, दण्डी, गोमती शालेति। तत्रोर्जस्विरसवतोरलङ्कारत्वविवक्षायाम् अतिशायने वा भूम्नि वा मतुबर्थीयः। गुणत्वविवक्षायान्तु प्रशंसानित्ययोगयोः इति द्रष्टव्यम्। नित्यो हि काव्ये गुणयोग इव रसादियोगः. गुणवतो रसवतश्च निश्चितैव अस्य प्रशंसा। संसर्गस्तु गुणानामवश्यमुपादानात् निन्दा पुनर्दोषहानेः न अवतरति गुणेषु। प्रेय इति रूपाभेदात् कथमलङ्कारत्वे तदुत्कर्षप्रतीतिः यथा, युधिष्ठिरः श्रेष्ठतमः कुरूणाम् इति। तत्र अतिशायिगुणान्तरेण तदवगतिरिति चेत् इहापि 'युक्तोत्कर्षञ्च तत् त्रयम्' इति वाक्यान्तरेण भविष्यति। न च आतिशायिकाः स्वार्थातिरिक्तं किमपि ब्रुवते, अपि तु प्रकृत्युपात्तमेव प्रकर्षादिकं गमयन्ति। स्वार्थिकेषु ह्येते विधीयन्ते। एवमवस्थापिते गुणरसानामलङ्कारत्वे षट्प्रकारो रसालङ्कारसङ्करः संभवति। गुणसङ्करः, अलङ्कारसङ्करः, गुणालङ्कारसङ्करः, रससङ्करः, रसगुणसङ्करः, रसालङ्कारसङ्करश्चेति। ननु अत्र गुणानां सङ्करव्यवहारो नोपपद्यते, बहुष्वपि गुणेषु गुणवदित्येव व्यपदेशात्। मैवम्। त्रिविधाः गुणाः शब्दगुणाः, अर्थगुणा दोषगुणाश्च। ते तु प्रत्येकं द्विधा उल्लेखवन्तः, निरुल्लेखाश्च। तत्र शब्दगुणेषु समाधिमाधुर्य्योदार्य्यगाम्भीर्य्यादयः सोल्लेखाः, श्लेषप्रसादसमतासौकुमार्य्यादयो निरुल्लेखाः। अर्थगुणेषु प्रसादरीतिकान्त्यादयः सोल्लेखाः, अर्थव्यक्तिसौक्ष्म्यगाम्भीर्य्यसम्मितत्वादयो निरुल्लेखाः। दोषगुणेषु ग्राम्यपुनरुक्तापार्थान्यार्थादयः सोल्लेखाः, शब्दहीनसम्भ्रमापक्रमविसन्ध्यादयो निरुल्लेखाः। तत्र सजातीयानां सोल्लेखानामेवम्, विजातीयानान्तु निरुल्लेखानामपि सङ्करव्यवहारः प्रवर्त्तते॥

'अस्ति'-सत्ता- के अर्थ में बाहुल्य, गर्हा, स्तुति, नित्यसम्बन्ध, आधिक्य, तथा संसर्ग प्रकट करने के लिये मतुप् आदि प्रत्ययों का प्रयोग होता है। जैसे बहुत सी गायों से युक्त देश, बहुत बोलने वाला ब्रह्मचारी, खूब बातें करने वाला विद्वान्, निरन्तर दूध से युक्त रहने वाले वृक्ष, अत्यधिक बलवाला पहलवान, दण्ड को साथ लेने वाला, बहुत सी गायों से भरा हुआ घर। वहाँ ऊर्जस्वि तथा रसवत् इन दोनों की अलंकारत्व-विवक्षा में आधिक्य अथवा बहुल अर्थ में वैकल्पिक मतुवर्थीय प्रत्यय हैं। गुणत्व की विवक्षा में तो प्रशंसा तथा नित्ययोग अर्थों में इन्हें देखना चाहिये।

क्योंकि काव्य में जिस प्रकार गुण का योग नित्य होता है उसी प्रकार रस का भी योग नित्य हो। जो काव्य गुण तथा रस से नित्ययुक्त है उसकी प्रशंसा निश्चित ही है। गुणों का अवश्य ही ग्रहण होने से संसर्ग (रूप अर्थ) तथा दोषों का (काव्य में) परित्याग होने से निन्दा (रूप अर्थ, ये दोनों अर्थ) गुणों में लागू नहीं होते। 'प्रेय' इस पद में रूप की अभिन्नता होने से उसकी अलंकारता निरूपित होने पर उसके उत्कर्ष की प्रतीति कैसे होगी? जिस प्रकार से 'युधिष्ठिर कुरुओं में सर्वश्रेष्ठ हैं', यह कहने से। 'वहाँ अन्य अतिशायी गुणों के द्वारा उसका ज्ञान होता है, यदि ऐसा कहा जाये तो, यहाँ भी 'युक्तोत्कर्षश्च तत् त्रयम्' इस दूसरे वाक्य से हो ही जायेंगे। यह बात नहीं है कि अतिशयता से युक्त पद अपने अर्थ से अतिरिक्त-धात्वर्थ से भिन्न-भी कुछ प्रकट करते हैं, बल्कि धातु से ही प्राप्त प्रकर्ष आदि का बोध कराते हैं। स्वार्थिकों अर्थात् प्रकृति धातु के अवस्थापित अर्थों में ही ये (प्रेय आदि अलंकार) कहे जाते हैं। इस प्रकार गुणों तथा रसों की अलंकारता सिद्ध हो जाने पर छह प्रकार का रस और अलंकारों का संकर सम्भव है। १-गुणसंकर २-अलंकार संकर ३-गुणालंकार संकर ४—रससङ्कर ५—रसगुणसङ्कर तथा ६—रसालंकारसङ्कर। 'यहाँ गुणों की सङ्करता कहना उपपन्न नहीं होता है क्योंकि अनेक गुणो के रहने पर भी 'यह काव्य गुणयुक्त है' ऐसा ही कहा जाता है।' 'ऐसी बात नहीं है।' गुण तीन प्रकार के हैं--शब्दों के गुण, अर्थों के गुण तथा दोषगुण। ये (तीनो) ही दो दो प्रकार के हैं—उल्लेखयुक्त तथा निरुल्लेख। वहाँ शब्दगुणों में से समाधि, माधुर्य, औदार्य, गाम्भीर्य आदि सोल्लेख हैं तथा श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य आदि निरुल्लेख हैं। अर्थगुणों में भी प्रसाद, रीतिमत्, कान्ति आदि सोल्लेख हैं और अर्थव्यक्ति, सौक्ष्म्य, गाम्भीर्य, संमितत्व आदि निरुल्लेख हैं। दोषगुणों में ग्राम्य, पुनरुक्त, अपार्थ, अन्यार्थ आदि सोल्लेख हैं तथा शब्दविहीनत्व, संभ्रम, अपक्रम, विसन्धि आदि निरुल्लेख हैं। इनमें सजातीयों में केवल सोल्लेखों में तथा विजातीयों में तो निरुल्लेखों का भी संकरव्यवहार प्रवृत्त होता है॥

स्व० द०—जहाँ पर 'होना' अर्थ विवक्षित होता है, वहाँ बहुलता आदि छः अर्थों में मतुप् आदि मत्वर्थीय प्रत्यय प्रयुक्त होते हैं। पाणिनि के 'तद् अस्याऽस्ति, अस्मिन्, इति मतुप्' ॥ ५।२।९४ ॥ सूत्र से यह भाव निकलता है। 'ऊर्जस्वी' तथा 'रसवत्' पद क्रमशः मत्वर्थीय विन् (ऊर्जस्+विन्) तथा मतुप् (रस+मतुप्) प्रत्ययों के = अस्—माया—मेधा—स्रजो विनिः ॥ ५।२।१२१ ॥ तथा 'तद् अस्यास्ति अस्मिन् इति मतुप् ॥ ५।२।९४ ॥' सूत्रों से हुआ है। मतुप् तथा मतुवर्थ प्रत्यय उक्त छह अर्थों में होते हैं। उनके उदाहरण भी वृत्ति में दिये जा चुके हैं। ये दोनो पद उक्त छह अर्थों में से जब 'अतिशायिन्' तथा 'भूमा' अर्थों में प्रयुक्त होते हैं तब

तो अलंकार वाचक होते हैं और जब नित्ययोग तथा प्रशंसा के अर्थ में होते हैं तब गुण हो जाते हैं। इसप्रकार उनकी अलंकारता तथा गुणता दोनो सिद्ध हो जाती है। कारण वृत्ति में स्पष्ट है।

उक्त उदाहरणों में गोमान् में मतुप् (गो + मतुप्), वाचाल में आलच् (वाच् + आलच्), वाग्मी में ग्मिनि (वाच् + ग्मिन्), क्षीरी में इनि (क्षीर + इनि), दण्डी में भी इनि (दण्ड + इनि), तथा बलवान् में भी मतुप् (बल + मतुप्) है। इसमें 'मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः' ॥ ८।२।१५ ॥ से मकार के स्थान पर 'वकार' हुआ है। यहाँ मतुप् को छोड़कर शेष मतुबर्थीय हैं ॥

केवल शृङ्गार ही नहीं अपितु अन्य रसों के भी स्थायी भावों के 'युक्तोत्कर्ष होने पर 'रसवत्' अलंकार होता है। दण्डी के शब्दों में—

इतिकारुण्यमुद्रिक्तमलंकारतया स्मृतम्।
तथापरेऽपि बीभत्सहास्याद्भुतभयानकाः ॥
वाक्यस्याग्राम्यता योनिर्माधुर्ये दर्शितो रसः।
इह त्वष्टरसायत्ता रसवत्ता स्मृता गिराम् ॥ काव्यादर्श २।२८७, २९२ ॥

भूमेति। मतुबादयः मतुप्प्रभृतयः प्रत्ययाः अस्तिविवक्षायाम् अस्त्यर्थे इत्यर्थः भूमा बाहुल्यं निन्दा गर्हा प्रशंसा स्तुतिः तासु नित्ययोगे निरन्तरसङ्गे अतिशायने आधिक्ये तथा संसर्गे गम्यमाने इति शेषः भवन्ति जायन्ते। यथा गोमान् देश इत्युक्ते देशस्य बहुगोशालित्वं गम्यते। वाचालो वटुरित्युक्ते वटोर्निन्दा प्रतीयते। वाग्मी विपश्चिदित्युक्ते विपश्चितः प्रशंसा सूच्यते। क्षीरिणो वृक्षा इत्युक्ते वृक्षाणां नित्यं क्षीरसंयोगः प्रतीयते। बलवान् मल्ल इत्युक्ते मल्लस्य बलाधिक्यं सूच्यते। दण्डीत्युक्तौ दण्डसंसर्गमात्रं प्रतीयते। मतुबर्थीयः प्रत्यय इति शेषः। तथा च ऊर्जस्वी अलङ्कार इत्युक्ते यत्रातिशयितः अधिकतरो वा ऊर्जोधर्मः स ऊर्जस्वी अलङ्कारः। रसवानलङ्कार इत्युक्ते यत्रातिशयितोऽधिकतरो वा रसः सः रसवानलङ्कार इति निष्कर्षः। ऊर्जस्वी गुण इत्युक्ते यत्र प्रशंसितः निरन्तरो वा ऊर्जोधर्मः स ऊर्जस्वी गुणः यत्र तादृशः रसः, सः रसवान् गुण इति निष्कर्षः। निश्चितैवास्य प्रशंसेति अस्य काव्यस्येत्यर्थः। संसर्गस्त्विति गुणानामवश्यमुपादानात् संसर्गः तथा दोषहानेः दोषाणां परित्यागात् निन्दा गुणेषु न अवतरति तस्मात् निन्दासंसर्गो नैषा गुणत्वे प्रविशते इति भावः। प्रेय इति रूपस्य अभेदात् अभिन्नत्वात् मत्वादिप्रत्ययवत्त्वेनेति भावः। यथेति युधिष्ठिरः कुरूणां श्रेष्ठतम इत्यत्र यथा रूपस्य कुरुवंशीयत्वस्येति भावः अभेदः। नचेति। आतिशायिकाः अतिशयवन्तः ब्रुवते बोधयन्ति। अपि तु किन्तु प्रकृत्या धातुशब्दाभ्यामिति भावः उपात्तं प्राप्तमेव नतु अन्यदित्येवकारार्थः। गमयन्ति बोधयन्ति। स्वार्थिकेषु प्रकृत्यर्थोपस्थापितेषु अर्थेषु इत्यर्थः। एते प्रेयःप्रभृतयः अलङ्काराः विधीयन्ते आख्यायन्ते। गुणसङ्करः गुणयोः गुणानां वा सङ्करः सम्मेलनम्। व्यपदेशात् कथनात्। उल्लेखवन्तः सोल्लेखा इत्यर्थः ॥

सजातीयानां शब्दगुणेषु समाध्यादीनां यथा,—

णवपल्लवेसु लोलइ घोलइ विलवेसु वलइ सिहरेसु।
थवइ थवएसु अ तहा वसन्तलच्छी असोअस्स ॥ ४५४ ॥

शब्दगुणों में सजातीय समाधि आदि का (संकर), जैसे—

(अर्थ आदि के लिये द्रष्टव्य ४।२०३ ॥) ॥ ४५४ ॥

नवपल्लवेषु इति ॥ ४५४ ॥

अत्र अन्यधर्म्माणामन्यत्रारोपणं समाधिः, पृथक्पदता माधुर्य्यम्, बन्धविगूढत्वमुदारता, ध्वनिमत्ता गाम्भीर्य्यमिति सजातीयाः सङ्कीर्य्यन्ते । यतो वसन्तलक्ष्मीरशोकस्य इति पदयोः शब्दध्वनिरपि परिस्फुरति । यथा कस्यचिदशोकस्य मानिनोऽङ्केषु प्रियाङ्गना सविलासं चेष्टते तथा अस्य इयम् इति ॥

यहाँ किसी दूसरे पदार्थ के धर्म—गुणदोष—का किसी दूसरे पदार्थ पर अध्यास करने से समाधि, पदों के स्पष्ट होने से (न कि विशेष रूप से समस्त) माधुर्य, रचना में विशेष रूप से गूढार्थता होने से उदारता, व्यंग्यार्थ से युक्त होने से गम्भीरता है, इस प्रकार सजातीय ही मिल रहे हैं, क्योंकि 'वसन्तलक्ष्मीरशोकस्य' इन दोनो पदों में शब्दध्वनि— शब्द से व्यङ्ग्य अर्थ— भी प्रतीत हो रहा है। जिस प्रकार किसी शोकरहित मान किये हुये प्रियतम के अङ्गों में प्रियतमा सुन्दरी विलासपूर्ण चेष्टायें करती है उसी प्रकार इसके लिये यह भी करती है। (अशोक के लिये वसन्त-लक्ष्मी भी करती है) ॥ ४५४ ॥

अत्रेति । **अन्यधर्माणाम् अन्यवस्तुनिष्ठानां धर्माणां गुणदोषादीनां अन्यत्र अन्यस्मिन् वस्तुनि आरोपणम् अध्यासः समाधिः । पृथक्पदता विभिन्नपदत्वं न तु समासबाहुल्यमिति भावः माधुर्य्यम् । बन्धविगूढत्वं बन्धे रचनायां विशेषेण गूढत्वं निगूढार्थवत्त्वमिति भावः । बन्धविकटत्वमिति पाठान्तरम् उदारता । ध्वनिमत्ता व्यङ्ग्यार्थशालित्वं गाम्भीर्य्यं दुरवगाहत्वमिति भावः । शब्दध्वनिः शब्दाभ्यां ध्वन्यते व्यज्यते इति शब्दध्वनिः शब्दव्यङ्ग्यः अर्थः इत्यर्थः परिस्फुरति प्रतिभाति ॥ ४५४ ॥**

अर्थगुणेषु श्लेषादीनां यथा,—

जनः पुण्यैर्यायाज्जलधिजलभावं जलमुचः
तथावस्थं चैनं निदधतु शुभैः शुक्तिवदने ।
ततस्तां श्रेयोभिः परिणतिमसौ विन्दतु यथा
रुचिं तन्वन् पीनस्तनि ! हृदि तवायं विलुठति ॥ ४५५ ॥

(सजातीय) अर्थगुणों में श्लेष आदि का (संकर), जैसे—

(अर्थ आदि के लिये द्रष्टव्य १।९१ ॥) ॥ ४५५ ॥

जन इति । **जनो लोकः पुण्यैः सुकृतैः स्वकृतैरिति भावः जलधिजलभावं समुद्रजलत्वं यायात् प्राप्नोतु । जलमुचः मेघाः तथावस्थं तादृगवस्थापन्नं जलधिजलत्वं गतमित्यर्थः एनं जनं शुभैः पुण्यैः शुक्तिवदने मुक्तास्फोटस्य मुखे निदधतु अर्पयन्तु । ततः असौ शुक्तिवदननिहितः जलरूपी जनः श्रेयोभिः सुकृतैः तां परिणतिं परिणामं मौक्तिकरूपतामिति भावः विन्दतु लभताम् । हे पीनस्तनि ! यथा अयं मौक्तिकरूपतां गतो जनः तव हृदि**

हृदये रुचिं अनुरागं तन्वन् प्रकटयन् विलुठति विलुण्ठनं करोति। तव हृदये विलुण्ठनं मुक्ताफलानामपि समधिकपुण्यपरम्पराणां फलमिति भावः ॥ ४५५ ॥

अत्र संविधाने सुसूत्रता श्लेषः, । अर्थस्य प्राकट्यं प्रसादः, उत्पत्त्यादिक्रियाक्रमो रीतिः, दीप्तरसत्वं कान्तिरित्यर्थगुणाः सजातीयाः सङ्कीर्य्यन्ते ॥

यहाँ रचना में सुन्दर सूत्रण होने से श्लेष है, अर्थ का सरलता से प्रकट हो जाना प्रसाद है, उत्पत्ति आदि क्रिया के क्रम से रीति है, रस में विशेष स्फुरण होने से कान्ति है। इस प्रकार सजातीय अर्थगुणों का संकर है ॥ ४५५ ॥

स्व० द०—ऊपर के दोनों उदाहरणों में क्रमशः सजातीय शब्दगुण तथा अर्थ गुणों का संकर है। शब्द-गुणों का शब्द गुणो से तथा अर्थगुणों का अर्थ गुणो से संकर होना सजातीय संकरता है क्योंकि दोनों ही शब्द तथा अर्थ जाति वाले हैं। सजातीयों में भी सोल्लेख का सोल्लेख के साथ तथा निरुल्लेख का निरुल्लेख के साथ संकरभाव अच्छा है।

अत्रेति। संविधाने विरचने सुसूत्रता सुष्ठु वपनमित्यर्थः श्लेषः। प्राकटयं प्रकटता प्रस्फुटत्वमित्यर्थः प्रसादः। दीप्तरसत्वं उज्ज्वलरसवत्त्वमित्यर्थः ॥ ४५५ ॥

दोषगुणेषु ग्राम्यादीनां यथा,—

हन्यते सा वरारोहा स्मरेणाकाण्डवैरिणा।
हन्यते चारुसर्वाङ्गी हन्यते मञ्जुभाषिणी ॥ ४५६ ॥

दोषगुणो में ग्राम्य आदि के संकरों का उदाहरण—

(अर्थ आदि के लिये द्रष्टव्य १।१५६ ॥) ॥ ४५६ ॥

हन्यते इति। अकाण्डवैरिणा सहसा शत्रुभूतेन स्मरेण सा वरारोहा सुन्दरी चारुसर्वाङ्गी मञ्जुभाषिणी मधुरालापिनी बाला हन्यते हन्यते हन्यते विनाश्यते विनाश्यते विनाश्यते इत्यर्थः ॥ ४५६ ॥

अत्र हन्यते इति असङ्गतार्थम्, वरारोहेत्यश्लीलार्थम्, हन्यते इति पुनरुक्तम्, चारुसर्वाङ्गीत्युक्तौ वरारोहेति व्यर्थम्, त एते सजातीयाश्चत्वारोऽपि दोषगुणाः सङ्कीर्य्यमाणाः कस्यचित् उन्मत्तभाषिणोऽनुकम्पाद्यतिशयविवक्षायामभ्यनुज्ञायन्ते ॥

यहाँ 'हन्यते' कहने से असङ्गतार्थता, 'वरारोहा' कहने से अश्लीलार्थता, पुनः 'हन्यते' कहने पर पुनरुक्तता, 'चारुसर्वाङ्गी' इसको कहने पर 'वरारोहा' पद में व्यर्थता, ये चारो ही सजातीय दोषगुण मिल करके किसी उन्मत्त रूप से कहने वाले व्यक्ति की दया आदि के आधिक्य की विवक्षा होने पर प्रतीत हो जाते हैं ॥

हन्यते इति। असङ्गतार्थं वास्तवहननाभावादिति भावः। अमङ्गलार्थमिति पाठान्तरम्। तत्र हननरूपार्थस्य अमङ्गलजनकत्वेन काव्यार्थदूषणादिति भावः। वरारोहेति वरं आरोहतीति व्युत्पत्तेर्लज्जाजनकत्वादिति भावः। पुनरुक्तं वारत्रयकथनादिति भावः। अनुकम्पाद्यतिशयविवक्षायामिति अतिशयेन सा अनुकम्पनीयेति विवक्षायामित्यर्थः ॥४५६॥

यदाह,

अनुकम्पाद्यतिशयं यदि कश्चिद्विवक्षते ।
न दोषः पुनरुक्त्यादौ प्रत्युतेयमलंक्रिया ॥

जैसा कहा गया है—

यदि कोई दया आदि का आधिक्य कहना चाहता है तो पुनरुक्ति आदि होने पर वहाँ दोष नहीं होता अपितु उलटे वह अलंकार हो जाता है—दूषण न होकर भूषण हो जाता है ॥

अनुकम्पेति । यदि कश्चित् कविरिति शेषः अनुकम्पादीनाम् अतिशयं आधिक्यं विवक्षते वक्तुमिच्छति तदा पुनरुक्त्यादौ न दोषः प्रत्युत वैपरीत्ये इयम् अलङ्क्रिया अलङ्कारः ॥

अथ सजातीयानां शब्दगुणानामर्थगुणानाञ्च सङ्करो यथा,

को नाम नोदयति नास्तमुपैति को वा ?
लोकोत्तरः पुनरयं सविता जगत्सु ।
यत्रोदयास्तमयभाजि रुचां निधाने
द्वेधा भवत्यहरिति क्षणदेति कालः ॥ ४५७ ॥

अब सजातीय शब्द गुणों तथा अर्थगुणों के संकर का उदाहरण है, जैसे—

कौन संसार में उदित नहीं होता और कौन अस्त नहीं होता, किन्तु यह सूर्य तो संसार में अनुपम है, जिस ज्योतिनिधि के उदय तथा अस्त होने पर यह काल ही दिन तथा रात्रि के रूप में दो भागों में बँट जाता है ॥ ४५७ ॥

क इति । को जनः नाम न उदयति नोदयं प्राप्नोति ? को वा अस्त नाशं न उपैति प्राप्नोति ? अपि तु सर्व एव उदयम् अस्तञ्च प्राप्नोतीत्यर्थः । अयं सविता सूर्यः जगत्सु लोकोत्तरः पुनः लोकातीत एव अलोकसामान्य इत्यर्थः रुचां निधाने तेजोनिधौ यत्र सवितरि सूर्ये उदयास्तमयभाजि उदयवति अस्तवति चेत्यर्थः सति कालः अहरिति दिवस इति क्षणदा रात्रिरिति द्वेधा द्विप्रकारो भवति ॥ ४५७ ॥

अत्र यावदर्थपदता, सम्मितत्वम् , सम्यग्बन्धविकटत्वम् , उदारता, विशेषगुणयोग उदात्तत्वम् इति शब्दगुणाः, उक्तार्थनिर्वहण प्रौढिः, अर्थप्राकट्यं प्रसादः, रूढाहङ्कारता औजित्यमित्यर्थगुणाः सङ्कीर्य्यन्ते ॥४५७॥

यहाँ अपेक्षित अर्थ के व्यंजक पद होने से संमितत्व, सम्यक् रूप से बन्ध-छन्दोरचना में विकटता होने से उदारता है, श्लाघनीय विशिष्ट गुणों का योग होने से उदात्तता नामक शब्दगुण हैं, कथित अर्थ का निर्वाह हो जाने से प्रौढ़ता है, अर्थ प्रकट हो जाने से प्रसाद है, तथा अहंकारयुक्त प्रयोग होने से औजित्य नाम के अर्थगुण हैं । (ये दोनों शब्द तथा) अर्थ के गुण संकीर्ण हो रहे हैं ॥ ४५७ ॥

स्व० टि०—ऊपर कही गई कारिका 'अनुकम्पादि०' दण्डी के काव्यादर्श (३।१३७) की है। वहाँ 'हन्यते' आदि उदाहरण भी है ।

अत्रेति । यावदर्थपदता यावन्तः अर्थाः पदेषु यत्र तत् यावदर्थप्रदं तस्य भावः यावदर्थपदता प्रतिपदानामर्थवत्त्वमित्यर्थः सम्मितत्वम् । उक्तार्थनिर्वहणं कथितार्थनिर्वाहः । अर्थप्राकट्यम् अर्थवैशद्यम् । रूढाहङ्कारता साहङ्कारप्रयोज्यतेत्यर्थः ॥ ४५७ ॥

शब्दगुणानां दोषगुणानाञ्च यथा,—

एह्येहि वत्स ! रघुनन्दन ! पूर्णचन्द्र !
चुम्बामि मूर्द्धनि चिराय परिष्वजे त्वाम् ।
आरोप्य वा हृदि दिवानिशमुद्वहामि
वन्देऽथवा चरणपुष्करकद्वयं ते ॥ ४५८ ॥

शब्दगुण तथा दोषगुणों के (संकर का) उदाहरण—

(अर्थ के लिये द्रष्टव्य १।९४ ॥) ॥ ४५८ ॥

एहीति । हे वत्स ! रघुनन्दन ! रामचन्द्र ! एहि एहि आगच्छ आगच्छ । मूर्द्धनि शिरसि त्वां चुम्बामि तथा चिराय दीर्घकालमिति भावः परिष्वजे आलिङ्गामि हृदि हृदये आरोप्य वा दिवानिशम् अहोरात्रम् उद्वहामि अथवा ते तव चरणपुष्परकद्वयं पादपद्मयुगलं वन्दे सेवे ॥ ४५८ ॥

अत्र भावतो वाक्प्रतिपत्तिर्भाविकत्वम्, प्रसिद्धार्थपदतः प्रसादः प्रियार्थपदोपादानं प्रेय इति शब्दगुणाः, एह्येहीति पुनरुक्तम्, वत्सेत्युक्तौ त्वत्पादाब्जद्वयं वन्द इति विरुद्धम्, मूर्ध्नि चुम्बामि हृदि वहामि इत्यादौ वन्द इति क्रियास्वनुपयोगात्, पूर्णचन्द्रनिदर्शनादिक्रियोपयोगि व्यर्थञ्च इति दोषगुणाः परस्परं सङ्कीर्य्यन्ते । रसाक्षिप्तचित्तादौ हि पुनरुक्त्यादयो न दुष्यन्ति ॥ ४५८ ॥

यहाँ भाव के अनुसार वाणी की प्रतिपत्ति—पदों का विन्यास-होने से भाविकत्व, प्रसिद्ध अर्थ को व्यक्त करने वाले पद होने से प्रसाद तथा प्रिय अर्थ को प्रकट करने वाले पदों का ग्रहण होने से प्रेय है, ये शब्द गुण हैं । 'एह्येहि' में पुनरुक्त, 'वत्स' यह कहकर 'त्वत्पादाब्जद्वयं वन्दे' 'मैं तुम्हारे दोनो चरण कमलों की वन्दना करता हूँ' यह कहने से 'विरुद्ध', 'मूर्ध्नि चुम्बामि हृदि वहामि'—सिर पर चुम्बन करूँ और हृदय पर धारण करूँ इनमें 'वन्दे' आदि क्रियाओं में उपयोगिता नहीं है, 'पूर्णचन्द्र' का उदाहरण आदि क्रिया में उपयोगी है तथा व्यर्थ भी है, इसप्रकार दोषगुण परस्पर मिल रहे हैं । रसाविष्ट चित्र आदि में पुनरुक्ति आदि दोष नहीं उत्पन्न करते हैं ॥

अत्रेति । भावतः अनुरागात् वाक्प्रतिपत्तिः वाग्विन्यासः । प्रियार्थेति प्रियः प्रीतिकरः अर्थो येषां तेषां पदानाम् उपादानम् ग्रहणम् । अनुपयोगात् अनुपकारात् । रसेति । रसेन अनुरागेण आक्षिप्तम् आकृष्टं चित्तं यस्य तस्मिन् स रसाक्षिप्तचित्तः तदादौ ॥ ४५८ ॥

अर्थगुणानां दोषगुणानां यथा,—

किं द्वारि दैवहतिके ! सहकारकेण
संवर्द्धितेन विषपादप एष पापः ।

अस्मिन् मनागपि विकाशविकारभाजि
भीमा भवन्ति मदनज्वरसन्निपाताः ॥ ४५९ ॥

अर्थगुण तथा दोषगुणों के (सङ्कर का) उदाहरण—
(अर्थ के लिये द्रष्टव्य २।३५ ॥) ॥ ४५९ ॥

किमिति । हे दैवहतिके ! दुर्भाग्यशालिनि ! द्वारि द्वारदेशे संवर्द्धितेन सहकारकेण चूतपादपेन किम् ? न किमपि प्रयोजनम् अस्य सम्वर्द्धने इत्यर्थः । एषः पापः विषपादपः विषवृक्षः । अस्मिन् सहकारे मनाक् अल्पं विकासविकारभाजि विकासशालिनि इत्यर्थः सति भीमाः दारुणाः मदनज्वरसन्निपाताः कामज्वरसम्पाताः तव इति शेषः भवन्ति ॥ ४५९ ॥

अत्र दीप्तरसत्वं कान्तिः, अर्थप्राकट्यं प्रसादः, उक्तार्थनिर्वहणं प्रौढिरित्यर्थगुणाः, दैवहतिके इति विषपादपोऽयं पाप इति अमङ्गलार्थं ग्राम्यं, किमनेन संवर्द्धितेन इति अत्र मदनज्वरसन्निपाता इत्यत्र च कृत्यप्रयोजनादेर्विरहिणो द्रष्टुरित्यादेश्च अध्याहारात् असम्पूर्णवाक्यतायामर्थव्यक्तिविपर्ययः, अस्मिन् विकाशविकारभाजि इति विकाशशब्दस्य पुष्पविषयस्य वृक्षेऽपि प्रयोगेऽवाचकत्वाद् असमर्थ इति दोषगुणा मिथः सङ्कीर्यन्ते । यतो रसाक्षेपात् परिहासलेशोक्त्या मङ्गलम् । प्रविश पिण्डीं द्वारं भक्षय इति न्यायात् प्रसिद्धाध्याहारः । दरी वदति, मञ्चाः क्रोशन्ति इति प्रयोगदर्शनाद् आधाराधेययोरभेदोपचारश्च विरुद्धलक्षणादिभिः प्रयुज्यमानो न दोषाय इति ॥

यहाँ रस में दीप्ति होने से कान्ति है, अर्थ में प्रकटता होने से प्रसाद है, उक्त अर्थ का निर्वाह होने से प्रौढि है, इस प्रकार के अर्थगुण हैं, 'दैवहतिके' यह पद तथा 'विषपादपोऽयं पापः' ये अमङ्गलार्थक ग्राम्य हैं, 'किमनेन संवर्धितेन' इसमें तथा 'मदनज्वरसंनिपाता' इसमें कर्तव्य प्रयोजन आदि तथा विरही द्रष्टा आदि का अध्याहार करने से वाक्य में सम्पूर्णता न होने से अर्थव्यक्ति का विपर्यय है। यहाँ 'विकाशविकारभाजि अस्मिन्' यह कहकर पुष्पविषयक 'विकाश' शब्द का वृक्ष अर्थ में भी प्रयोग होने से तथा उस शब्द के इसका वाचक न होने से असमर्थता है। इस प्रकार दोष तथा गुण परस्पर मिल रहे हैं। चूँकि रस का आक्षेप किया जा रहा है, अतः परिहासलेश से युक्त उक्ति के कारण मङ्गल है। 'प्रवेश करो' 'पिण्डी को' 'द्वार में' 'भक्षण करो' इस न्याय से प्रसिद्ध का ही अध्याहार होता है। 'गुफा बोलती है', 'मञ्च' चिल्ला रहे हैं' इस प्रकार के प्रयोगों का दर्शन होने से आधार तथा आधेय का अभेदग्रहण भी विरुद्धलक्षणा के द्वारा प्रयुक्त होने पर दोषावह नहीं होता ॥

स्व० द०—उक्त उदाहरण में 'अस्मिन् विकाशविकारभाजि' पद में वृक्ष का भी ग्रहण हो जाता है। इन पदों से 'वृक्ष' रूप वाच्य अर्थ न प्रकट होने से तथा यह अर्थ आवश्यक रूप से अपेक्षित भी होने से असमर्थत्व दोष प्रकट होता है, क्योंकि जब अपेक्षित अर्थ अभिधेय रूप से प्राप्त नहीं होता तब अर्थ की कमी होने से वहाँ असमर्थता माननी चाहिये। इस प्रकार यहाँ दोष सिद्ध होता है। किन्तु पुष्प तथा वृक्ष में आधेय-आधार सम्बन्ध होने से वृक्षरूप अर्थ प्राप्त

हो जाता है। अतः दोष नहीं होगा। जहाँ कहीं भी आधार-आधेय सम्बन्ध वाले तथा प्रसिद्ध व्यवहार वाले पदों में से एक भी नहीं होता है, वहाँ उसका स्वतः अध्याहार हो जाता है। 'मञ्चाः क्रोशन्ति' यह प्रयोग दर्शनग्रन्थों में लक्षणा शक्ति के निरूपण के प्रसङ्ग में खूब प्रयुक्त हुआ है। 'मञ्च' तो कहीं 'आवाज' करते नहीं, चिल्लाते हैं उस पर बैठने वाले प्राणी। किन्तु 'मञ्च' का प्रयोग होने से ही उस पर बैठने वालों का भी अर्थ ग्रहण हो जाता है। इससे इसका अर्थ निकलता है—'मञ्च पर बैठे लोग चिल्ला रहे हैं।' इसी प्रकार प्रसिद्धों का अध्याहार भी है। जहाँ 'प्रविश पिण्डीम् द्वारं भक्षय' सदृश पद अक्रमता के साथ रख दिये जाते हैं, वहाँ जिसका जिससे सम्बन्ध होता है उन पदों का परस्पर योग कर दिया जाता है। इन पदों का विन्यास क्रमशः नहीं है। अतः पाठक उनकी योजना 'द्वारं प्रविश' 'पिण्डीं भक्षय' इस प्रकार करेंगे। इसी प्रकार पुष्प तथा वृक्ष का भी सम्बन्ध समझना चाहिये।

अभी तक गुणसङ्कर का उदाहरण हुआ, अब अलंकार संकर का निरूपण होगा।

अत्रेति। **अर्थप्राकट्यम् अर्थानां प्रकटता प्रस्फुटतेत्यर्थः। विकासशब्दस्य पुष्पविषयस्य पुष्पमात्रप्रयोज्यस्येति यावत्। प्रविश पिण्डीं द्वारं भक्षय इति। द्वारं प्रविश, पिण्डीं भक्षयेति योजना। दरी गुहा। आधाराधेययोरिति दरीमञ्चौ आधारौ तत्र स्थिता जना आधेया इति भावः॥ ४५९॥**

अथ अलङ्कारसङ्करः।

स यद्यपि व्यक्ताव्यक्तोभयात्मतया तिलतण्डुलकादिभेदैः प्रधानाङ्गभावसमकक्षताभ्यां पुरस्तादुक्तः तथापि तेषां गुणादिसङ्करासाधारणत्वात् सम्प्रति साधारणः प्रकार उच्यते। स षोढा, शब्दालङ्कारसङ्करः, अर्थालङ्कारसङ्करः, उभयालङ्कारसङ्करः, शब्दार्थालङ्कारसङ्करः, शब्दोभयालङ्कारसङ्करः, अर्थोभयालङ्कारसङ्करश्च॥

यह अलंकार संकर यद्यपि व्यक्त तथा अव्यक्त और इन दोनों रूपों से तिलतण्डुलक आदि के भेदों से प्रधान के अङ्गभाव तथा समकक्षता के द्वारा पहले (चतुर्थ परिच्छेद ८८ वीं कारिका) कह दिया गया है, फिर भी उन अलंकारसंकरों के गुणादि संकरों के समान न होने से उनके सामान्य भेदों का इस समय कथन किया जा रहा है। वह अलंकारसंकर छः प्रकार का है, १—शब्दालंकारसंकर, २—अर्थालंकार संकर, ३—उभयालंकारसंकर ४—शब्दार्थालंकारसंकर, ५—शब्दार्थ उभयालंकार संकर तथा ६—अर्थोभयालंकार संकर।

अथ अलङ्कारसंकर इति। **व्यक्तश्च अव्यक्तश्च व्यक्ताव्यक्तौ स्फुटास्फुटौ उभौ आत्मा जीवनाधायकः यस्य तथोक्तः तस्य भावः तत्ता तया हेतुना तिलतण्डुलकादिभेदैः तिलतण्डुलप्रस्तुतलड्डुकादिविशेषैः प्रधानाङ्गभावसमकक्षताभ्याम् अङ्गाङ्गिभावेन तुल्यबलत्वेन चेत्यर्थः पुरस्तात् प्राक् उक्तः कथितः अलङ्कारसङ्कर इति पूर्वेणान्वयः। तेषाम् अलङ्कारसङ्कराणां गुणादिसङ्करैः असाधारणत्वात् अतुल्यत्वात्। साधारणः सामान्यः प्रकारः भेदः। षोढा षड्विधः॥ ४५९॥**

तेषु शब्दालङ्कारसङ्करो यथा,—

हंसाली भयतरला सारासरसा सरासंसारसरासा।
अम्बरमारूढा सा रासरसा सरा ससारसरासा॥ ४६०॥

अत्र संस्कृतप्राकृतभाषाश्लेषः, गतप्रत्यागतं चित्रम्, पादावृत्ति यमकम्, वर्णानुप्रासश्च इति चत्वारः शब्दालङ्काराः सङ्कीर्य्यन्ते ॥

इनमें से शब्दालंकार के संकर का उदाहरण—

भय से चञ्चल, क्रीडा में अनुरक्त, विकसित कमलों मे विहार करने वाली, सारस के सदृश शब्द करने वाली, क्रीडानुराग से संचरण करने वाली वह हंसो की श्रेणी आकाश में चली गई ॥ ४६० ॥

यहाँ संस्कृत तथा प्राकृत भाषा का श्लेष है, गतप्रत्यागत नामक चित्रालंकार है, पाद की आवृत्ति वाला यमक है तथा वर्णानुप्रास है। इस प्रकार ये चार शब्द के अलंकार यहाँ मिले हैं ॥

स्व० दी०—यहाँ संस्कृत भाषा तो स्पष्ट ही है, भाषाचित्र की भांति प्राकृत भी है जिसके वर्ण संस्कृत से मिलते जुलते हैं। 'हंसाली भयतरला' के बाद के पदों के वर्ण जिस प्रकार अनुलोम क्रम से रहते हैं उसी प्रकार विलोम क्रम से भी। उत्तरार्ध में भी 'अम्बरमारूढा' के आगे वर्णों में उक्त स्थिति ही है। अतः गतप्रत्यागत नाम की चित्रता है ही। द्वितीय पाद का चतुर्थ पाद के रूप में अवतरण होने से पूरापाद ही आवृत्त हैं, अतः पादावृत्ति यमक भी है। रेफ तथा सकार की अनेक आवृत्तियाँ होने से वर्णानुप्रासता भी है। इस प्रकार शब्द पर ही आश्रित चार अलङ्कारों का संकर एक साथ हो रहा है।

ऊपर ही जो गुण संकरों से अलंकार संकरों को असमान बतलाया गया है, उसका कारण यह है कि प्रथम में गुण गुण का योग है और यहाँ अलंकार अलंकार का। अतः गुण तथा अलंकार का भेद तो उपस्थित रहता ही है।

इंसालीति। भयेन तरला चञ्चला रासे क्रीडायां रसो रागो यस्याः सा रासरसा, सरासेषु उल्लसितेषु विकस्वरेष्विति यावत् सारसेषु कमलेषु रासः विहारः यस्याः तथोक्ता ससारसरासा सारससमाननिनदा रासरसेन क्रीडानुरागेण आसरति सञ्चरतीति तथाभूता सा हंसाली हंसश्रेणी अम्बरम् आकाशम् आरूढा उत्पतितेत्यर्थः ॥ ४६० ॥

अर्थालङ्कारसङ्करो यथा,—

वासावस्थिततामचूडवयसामायामिभिः कूजितैः
दूरादप्यनुमीयमानवसतिर्ग्रामोऽयमन्तर्वणः।
यत्रोद्दीप्तकुकूलकूटविसरद्धूम्याघनं घूर्णते
सन्ध्यान्तोल्लसदच्छभल्लपटलच्छायाजटालं तमः ॥

अत्र ताम्रचूडवयसां कूजितैरिति अनुमानम्, यत्तमो घूर्णते इति ज्ञापकहेतुः, कुकूलकूटविसरद्धूम्याघनमिति सन्ध्यान्तोल्लसदच्छभल्लपटलच्छायाजटालमिति च कारकहेतुः, जायमानपदार्थस्वरूपाभिधानं जातिः इति अर्थालङ्कारसङ्कराश्चत्वारो मिथः सङ्कीर्य्यन्ते ॥ ४६१ ॥

अर्थालंकार संकर का उदाहरण—

नीड़ों में स्थित मुर्गा पक्षियों के लम्बे कूजनों से युक्त तथा दूर से ही जिसकी वसती का अनुमान किया जा रहा है अपने भीतर वन समाहित किये हुये वह ग्राम है जहाँ प्रज्वलित भूसी की ढेर से उठ रही धूमपुञ्ज से सघन हो गया, सन्ध्या के अवसान काल में विहार करने वाले भालुओं के समूह के सदृश मिला हुआ अन्धकार फैल रहा है ॥ ४६१ ॥

यहाँ "ताम्रचूडवयसां कूजितैः' इसमें अनुमान, 'यत्तमो घूर्णते' में ज्ञापक-हेतु 'कुक्कूलकूट, विसरद्धूम्याघनम्' में तथा 'सन्ध्यान्तोल्लसदच्छभल्लपटलच्छायाजटालम्' में कारक हेतु है, उत्पन्न हो रहे पदार्थ के स्वरूप का कथन जाति है, इस प्रकार चार अर्थालङ्कारों का परस्पर संकर है।

वासेति । वासे कुलाये अवस्थितानां ताम्रचूडानां कुक्कुटानां वयसां पक्षिणाम् आयामिभिः दीर्घैः कूजितैः निनादैः दूरादपि अनुमीयमाना सूच्यमाना वसतिः लोकालयः यत्र तथाभूतः अन्तर्गतं वनं यस्य तादृशः अयं ग्रामः ताम्रचूडा हि ग्राम्याः पक्षिणः ग्रामेषु यानि सामान्यवनानि सन्ति तेषु च तेषां वास इति भावः । यत्र ग्रामे उद्दीप्तात् उज्ज्वलितात् कुक्कूलकूटात तुषानलराशेः विसरन्ती प्रसरन्ती या धूम्या धूमसमूहः तया घनं सान्द्रं तथा सन्ध्यान्ते सन्ध्यावसाने उल्लसन्तः विहरन्तः ये अच्छभल्लाः भल्लूकाः तेषां पटलं समूहः तस्य छाया श्यामला प्रभा इत्यर्थः तया जटालं सम्मिश्रमित्यर्थ तमः अन्धकारः घूर्णते विसरति । अत्रेति । अनुमानम् अलङ्कार इति शेषः एवं ज्ञापकहेतुः जातिश्च अलङ्कार इति शेषः ॥ ४६१ ॥

उभयालङ्कारसङ्करो यथा,—

ण हु णवरं दीवसिहासरिच्छेहिं चम्पएहिं पडिवण्णं ।
कज्जलकज्जं पि किदं आभमन्तेहिं भमलेहिम् ॥ ४६२ ॥

अत्र चम्पकादीनां प्रदीपशिखाभिः आकारकान्तिभ्याम् उपमा, विरहिणीहृदयदाहप्रद्योतनार्थक्रियाभ्यां साम्यम्, कज्जलपटलानामुपरि भ्रमरपटलानां मेलनात् मेलितम् , चम्पकदीपकलिकयोरिव भ्रमरकज्जलपटलयोरौपम्यादिसम्बन्धात् समुच्चयः इति उभयालङ्काराश्चत्वारोऽपि सङ्कीर्य्यन्ते ॥

उभयालंकार संकर का उदाहरण—

चम्पा के पुष्प दीपशिखा की भांति केवल उल्लसित ही नहीं हुये अपितु उड़ते हुये भौरों ने कलंक का भी काम कर दिया ॥ ४६२ ॥

यहाँ चम्पक आदि का दीपक की शिखा के साथ आकृति तथा कान्ति के द्वारा उपमा है, वियोगिनी के हृदय की दाह तथा उत्तेजन क्रियाओं के कारण साम्य है, कज्जलपटलों के ऊपर भ्रमरपटलों का मेलन करने से मेलित है, चम्पक तथा दीपकशिखा का भ्रमर तथा कज्जलपटल से औपम्य आदि सम्बन्ध होने से समुच्चय है, इस प्रकार चारों उभयालंकारों का संकर हैं ।

न खलु केवलं दीपशिखासदृशैश्चम्पकैः प्रतिपन्नम् ।
कज्जलकार्य्यमपि कृतमाभ्रमद्भिः भ्रमरैः ॥

न खलु इति । न खलु केवलं दीपशिखासदृशैः प्रदीपशिखासदृशैः चम्पकैः प्रतिपन्न

उल्लसितम् । अपि तु आभ्रमद्भिः भ्रमरैः कज्जलस्य दीपशिखोत्थितस्येति भावः कार्च्यमपि कृतं सम्पादितम् ॥

शब्दार्थालङ्कारसङ्करो यथा,--

सर्वाशारुधि दग्धवीरुधि सदासारङ्गबद्धक्रुधि
क्षामक्ष्मारुहि मन्दमुन्मधुलिहि स्वच्छन्दकुन्दद्रुहि ।
शुष्यत्स्रोतसि तप्तभूमिरजसि ज्वालायमानाम्भसि
ज्यैष्ठे मासि खरार्कतेजसि कथं पान्थ ! व्रजन् जीवसि ? ॥४६३॥

अत्र अवन्तिका रीतिः, पदमुद्रा, विभक्तिमुद्रा, अनुप्रासश्चेति शब्दालङ्काराः, जातिः, कारकज्ञापकौ हेतू, चित्रहेतुश्च इति अर्थालङ्कारा मिथः शब्दे सङ्कीर्य्यन्ते ॥

शब्द तथा अर्थ के अलंकारों के संकर का उदाहरण—

(अर्थ के लिये द्रष्टव्य २।२१४ ॥) ॥

यहाँ अवन्तिका रीति है, पदमुद्रा, विभक्तिमुद्रा तथा अनुप्रास ये शब्दालंकार है, जाति, तथा कारक और ज्ञापक हेतु हैं, साथ ही चित्रहेतु भी हैं, इस प्रकार अर्थालंकार परस्पर शब्द से संकीर्ण हो रहे हैं ।

सर्वेति । हे पान्थ ! पथिक ! ज्यैष्ठे मासि सर्वाः सकलाः आशाः दिशः रुणद्धि व्याप्नोतीति तथाभूते मेघाद्यावरणशून्यत्वादिति भावः दग्धाः वीरुधः लताः येन तथोक्ते लतादहनकारिणीत्यर्थः, सदा सर्वस्मिन् समये दिवसे इति भावः सारङ्गैः मृगभेदैः बद्धाः कृताः क्रुधः क्रोधाः यत्र तादृशे उत्तापासहनतया कुपितसारङ्गे इत्यर्थः, क्षामाः विशीर्णाः क्ष्मारुहः वृक्षाः यत्र तथाविधे, मन्दाः क्षीणाः मुदः हर्षा येषां तादृशाः मधुलिहो भ्रमराः यत्र तथोक्ते, स्वच्छन्दाः सोल्लासानि कुन्दानि माध्यकुसुमानि द्रुह्यति शोषयतीति तथोक्ते, शुष्यन्ति शोषं गच्छन्ति स्रोतांसि जलप्रवाहाः यत्र तादृशे, तप्तानि भूमिरजांसि धूलयः यत्र तथाविधे चरणदहनकारिभूरजसीति भावः । तथा ज्वालायमानानि अग्निशिखासदृशानि अम्भांसि जलानि यत्र तथाभूते खरार्कतेजसि तीक्ष्णसूर्य्यकिरणे व्रजन् गच्छन् कथं जीवसि ? प्राणान् धारयसि ? ॥

शब्दोभयालङ्कारसङ्करो यथा,--

स्तोकस्तोकममृभिरम्बरतले तारााभिरस्तं गतं
गच्छत्यस्तगिरेः शिरस्तदनु च च्छायादरिद्रः शशी ।
प्रत्यासन्नतरोदयस्य तरणेः बिम्बारुणिम्ना ततो
मज्जिष्ठारसलोहिनी दिगपि च प्राची समुन्मीलति ॥ ४६४ ॥

अत्र समुन्मीलतीति विभक्तिमुद्रा, स्तोकस्तोकमस्तं गच्छतीत्यादिरनुप्रासश्च शब्दालङ्काराः, हेतूपमा, समाधिः, अनुक्रमः, समुच्चयोक्तिश्च इति उभयालङ्कारा मिथः सङ्कीर्य्यन्ते ॥

शब्द तथा उभयालंकार के संकर का उदाहरण—

आकाश में ये नक्षत्रगण धीरे-धीरे विलीन हो गये, उसके पश्चात् प्रभाहीन होकर चन्द्रमा अस्ताचल के शिखर पर जा रहा है। उसके बाद अत्यन्त निकट ही में उदित होने वाले सूर्य के मण्डल की लाली से मञ्जिष्ठा की लाली से युक्त सी लाल वर्ण की प्राचीदिशा भी अत्यन्त प्रकाशित हो उठी है॥

यहाँ 'समुन्मीलति' में विभक्तिमुद्रा, 'स्तोकस्तोकमस्तं गच्छति' आदि में अनुप्रास हैं, ये शब्दालंकार हैं, हेतूपमा, समाधि, अनुक्रम तथा समुच्चयोक्ति ये उभयालंकार परस्पर संकीर्ण हो रहे हैं।

स्व० द०—जिन अलंकारों का लक्षण नहीं है, उनका उनके अलंकार निरूपण के प्रसङ्ग में लक्षण देखना चाहिये।

स्तोकेति। अम्बरतले आकाशे अमूभिः परिदृश्यमानाभिः ताराभिः स्तोकं स्तोकम् अल्पाल्पं यथा तथा क्रमेणेत्यर्थः अस्तं गतं विलीनमित्यर्थः तदनु च तदनन्तरञ्च शशी, चन्द्रः छायादरिद्रः विच्छाय इत्यर्थः विगतप्रभ इति यावत् अस्तगिरेः अस्ताचलस्य शिरः शिखरं गच्छति। ततः अनन्तरं प्रत्यासन्नतरः अतिसन्निहितः उदयो यस्य तथा भूतस्य तरणेः सूर्य्यस्य 'द्युमणिस्तरणिर्मित्रश्चित्रभानुर्विभावसुरि'त्यमरः। बिम्बस्य मण्डलस्य अरुणिम्ना लौहित्येन मञ्जिष्ठारसवत् लोहिनी रक्तवर्णा प्राची पूर्वा दिगपि समुन्मीलति सम्प्रकाशते। प्रभातवर्णनमिदम्॥ ४६४॥

अथोभयालङ्कारसङ्करो यथा,—

खं वस्ते कलविङ्ककण्ठमलिनं कादम्बिनीकम्बलं
चर्चां पारयतीव दर्दुरकुलं कोलाहलैरुन्मदम्।
गन्धं मुञ्चति सिक्तजालसुरभिर्वर्षेण दग्धा स्थली
दुर्लक्ष्योऽपि विभाव्यते कमलिनीहासेन भासां पतिः॥ ४६५॥

अत्र जातिः, अनुमानं, कारकज्ञापकहेतू च इत्यर्थालङ्काराः, रूपकोपमा हेतूपमा, उत्प्रेक्षोपमा चेति उभयालङ्काराः मिथः सङ्कीर्य्यन्ते। एतेन गुणालङ्कारसङ्करोऽपि व्याख्यातः। अतो यद्यपि गुणवत्येव वाक्ये सङ्करयोगः तथापि क्वचिद् गुणस्य प्राधान्यं क्वचिदलङ्कारस्य इति प्रधानाङ्गभावेन गुणालङ्कारयोः सङ्करव्यवहारः प्रवर्त्तते। स षोढा—शब्दगुणप्रधानः, अर्थगुणप्रधानः, दोषगुणप्रधानः, शब्दालङ्कारप्रधानः, अर्थालङ्कारप्रधानः, उभयालङ्कारप्रधानश्च इति॥

अर्थ तथा उभय अलंकारों के संकर का उदाहरण—

कलविंक नामक पक्षी के कण्ठ की भांति श्यामल मेघमाला रूप कम्बल से आकाश आच्छन्न हो रहा है, अत्यन्त प्रसन्न मेढकों का समुदाय अपनी ध्वनियों से सानन्द विहार की समाप्ति सा कर रहा है, दावानल से जली हुई स्थली अर्थात् वनभूमि वर्षा के जल से सींचे गये नवकलिका समूहों से सुरभि के सदृश गन्ध फैला रही है। सूर्य (मेघों के कारण) मुश्किल से दृष्टिगोचर होने पर भी कमलिनियों के विकास से अनुमित हो रहा है॥ ४६५॥

यहाँ जाति, अनुमान, कारक तथा ज्ञापक हेतु ये अर्थालंकार हैं, रूपकोपमा, हेतूपमा, उत्प्रेक्षोपमा ये अर्थालंकार हैं जो कि परस्पर मिल रहे हैं। इससे गुण तथा अलंकारों का भी संकर स्पष्ट हो चुका। इसलिए यद्यपि गुण से युक्त वाक्य में ही संकर का योग होता है, तथापि कहीं गुण की प्रधानता होती है, कहीं अलंकार की; इस प्रकार प्रधान तथा गौण रूप से गुण और अलंकारों का संकर-व्यवहार प्रवृत्त होता है। वह छह प्रकार का है, शब्दगुण-प्रधान, अर्थगुण-प्रधान, दोषगुण-प्रधान, शब्दालंकार-प्रधान, अर्थालंकार-प्रधान, उभयालंकार-प्रधान।

खमिति। कलविङ्कः पक्षिभेदः तस्य कण्ठवत् मलिनं श्यामलं कादम्बिनी मेघमाला एव कम्बलं मेषादिलोमनिर्मितप्रावरणविशेषः खमाकाशं वस्ते आच्छादयति। उन्मदम् उत्पन्नप्रमोदं दर्दुरकुलं भेकसमूहः कोलाहलैः कलरवैः चर्चां सानन्दविहारं पारयतीव समापयतीव। दग्धा वनाग्निना भस्मीकृता स्थली वनभूमिरित्यर्थः वर्षेण वृष्टिजलेनेत्यर्थः सिक्ताः जालाः नवकलिकासमूहाः तैः सुरभिः। लाजेति पाठे लाजाः भृष्टधान्यानि तद्वत्-सुरभिः सौरभशालिनी सती गन्धं मुञ्चति त्यजति विस्तारयतीति भावः। भासां पतिः सूर्यः दुर्दर्शोऽपि मेघावरणादिति भावः कमलिनीनां पद्मिनीनां हासेन विकासेन विभाव्यते अनुमीयते। वर्षावर्णनमिदम् ॥ ४६५ ॥

एतेनेति। एतेन अस्य वाक्यस्य प्रसादादिगुणवत्त्वेनेत्यर्थः। सङ्करयोगः अलङ्कारसङ्कर-योग इत्यर्थः॥

तेषु शब्दगुणप्रधानो यथा,—

प्राप्तश्रीरेष कस्मात् पुनरपि मथितुं मन्थखेदं विदध्यात् ?
निद्रामप्यस्य पूर्वामनलसमनसो नाप्यहं तर्कयामि।
सेतुं बध्नाति भूयः किमिति च सकलद्वीपनाथानुयातः
त्वय्यायाते वितर्कानिति दधत इवाभाति कम्पः पयोधेः ॥४६६॥

इसमें शब्दगुण प्रधान का उदाहरण—

(अर्थहेतु द्रष्टव्य ४।८९॥) ॥ ४६६ ॥

प्राप्तश्रीरिति। एषः पुमानिति शेषः। प्राप्ता श्रीः सम्पद् लक्ष्मीश्चेति प्राप्तश्रीः, अतः कस्मात् किं निमित्तं मयि पुनरपि मन्थखेदं मन्थनजनितं क्लेशं विदध्यात् ? अर्पयेत् ? सम्पदां रत्नादीनां लक्ष्म्याश्च लाभार्थं मम मन्थनं कर्त्तव्यम् अस्य च तदधिगमः प्रागेव सिद्धः, तत्कथं मां मन्थनेन पीडयेदिति निष्कर्षः। तथा अनलसम आलस्यवर्जितं मनो यस्य तथाभूतस्य अस्य पुंसः पूर्वां प्रथमां निद्रां निद्राप्रारम्भमिति यावत् अपि नाहं तर्क-यामि नानुभवामि निद्रावेशे आलस्यं स्यात अस्य तु न तथा, सततमेव उद्योगशीलत्वा-दिति भावः। किमिति च कथं वा सकलैः समस्तैः द्वीपानां नाथैः द्वीपाधिपतिभिः सामन्तै-रिति भावः अनुयातः समभिव्याहृतः सन् भूयः पुनः सेतुं बध्नाति ? प्राक् वानरचमूभिः सेतुर्बद्धः, इदानीं राजन्यगणैः सेनापतिभिः सेतुं बन्धुं प्रयस्यते किमिति निष्कर्षः। त्वयि आयाते कूलमुपगते इत्यर्थः इतीत्थं वितर्कान् संशयान् दधत इव कुर्वत इव पयोधेः सागरस्य कम्पः आभाति प्रतिभासते। राजविषया रतिरत्र भाव इति बोध्यम् ॥ ४६६ ॥

अत्र हेतूत्प्रेक्षाभिधाने त्वयि इत्यादौ पदे विष्णोः स्वरूपाध्यासेन तद्भा-

वापत्तौ समाधेः प्राधान्यमिह प्रतीयते। ननु च अयमर्थस्य प्राकट्यात् प्रसादोऽर्थगुणः कस्मान्न भवति ? अस्मिन्नपि तद्व्यपदेशेन शब्दशक्तेराधिक्यात्। ननु च त्वयि इति एष इति अस्य इति युष्मदेतदिदमां न कश्चन विष्णुवाची स कथं वर्णनीये वस्तुनि तमर्थमभिदध्यात्। उच्यते, सर्वनामत्वेन एषां सर्ववाचित्वात्। सर्वनामानि हि सर्वनामाभिधायीनि अपि प्रकरणादिगम्यविशेषम् अर्थं च ब्रुवते, स च इह प्राप्तश्रीरित्येवमादिभिः अभिव्यक्त एव अभिगम्यते इति ॥ ४६६ ॥

इसमें हेतूत्प्रेक्षा का अभिधान होने पर 'त्वयि' इत्यादि पद में विष्णु के स्वरूप का अध्यास करने से उसके भाव की आपत्ति होने पर समाधि की प्रधानता यहाँ प्रतीत होती है। भला यहाँ अर्थ के प्रकट होने से प्रसाद नामक अर्थगुण कैसे नहीं होता ? इसमें भी उसका कथन होने से शब्दशक्ति का आधिक्य होने के कारण ? और भी त्वयि, एष, अस्य, युस्मत्, एतद् तथा इदम् में से कोई भी विष्णुवाचक नहीं है, वह (राजा रूप) वर्णनीय विषय में उस अर्थ का अभिधान कैसे होगा ?" उत्तर दिया जा रहा है, सर्वनाम होने से ये सर्ववाचक है, क्योंकि जो सर्वनाम हैं वे सभी नामों का अभिधान करते हैं, फिर भी प्रकरणवशात् वह विशेष अर्थ को भी प्रकट करता है। वह विशेष अर्थ भी यहाँ 'प्राप्तश्रीः' तथा इसी प्रकार के शब्दों से अभिव्यक्त होकर ज्ञात हो जाता है।

अत्रेति। हेतूत्प्रेक्षाभिधाने दधत इवेति हेतूत्प्रेक्षायाः कथने इत्यर्थः। स्वरूपाध्यासेन स्वरूपारोपेण। युष्मदेतदिदमां शब्दानां मध्ये कश्चन शब्द इति शेषः। वस्तुनि राजरूपे। सर्वनामत्वेन सर्वेषां नामानि सर्वनामानि तेषां भावः सर्वनामत्वं तेन।

अर्थगुणप्रधानो यथा,—

लक्ष्मीवशीकरणचूर्णसहोदराणि
त्वत्पादपङ्कजरजांसि चिरं जयन्ति।
यानि प्रणाममिलितानि नृणां ललाटे
लिम्पन्ति दैवलिखितानि दुरक्षराणि ॥ ४६७ ॥

अत्र हेतुसाम्योभयालङ्काराभिधानेऽपि प्राधान्येन अर्थप्राकट्यमर्थगुणः प्रतीयते ॥ ४६७ ॥

अर्थगुण की प्रधानता का उदाहरण—

लक्ष्मी को वश में करने के लिये चूर्ण विशेष के सदृश तुम्हारे चरणकमल की धूलियाँ अधिक समय तक विराजमान् होती है जो चरणरज मनुष्यों के ललाट पर प्रणाम के समय लग जाने पर भाग्य के द्वारा लिखे गये दुष्ट अक्षरों को पोंछ देते हैं ॥ ४६७ ॥

यहाँ हेतु और साम्य इन उभय अलंकारों का अभिधान होने पर भी प्रधान रूप से अर्थ के प्रकट होने से अर्थगुण प्रतीत होता है।

लक्ष्मीति। लक्ष्म्या वशीकरणार्थं यत् चूर्णं चूर्णीकृतवस्तुविशेष इत्यर्थः तस्य सहोद-

राणि सदृशानि तव पादपङ्कजस्य चरणकमलस्य रजांसि धूलयः चिरं जयन्ति विराजन्ताम्। तव चरणानतानामेव लक्ष्म्याः कृपा स्यादिति भावः। यानि रजांसि नृणां मानवानां ललाटे भालदेशे प्रणामेन प्रणत्या मिलितानि संलग्नानि सन्ति दैवलिखितानि भाग्यलिखितानि दुरक्षराणि एते दुर्भाग्या भविष्यन्तीत्येवं रूपाणि दुष्टानि अक्षराणि लुम्पन्ति प्रमार्जयन्ति। राजविषया रतिरत्र भाव इति बोध्यम् ॥ ४६७ ॥

दोषगुणप्रधानो यथा,—

येनापविद्धसलिलस्फुटनागसद्मा
देवासुरैरमृतमम्बुनिधिर्ममन्थे।
व्यावर्त्तनैरहिपतेरयमाहिताङ्कः
खं व्यालिखन्निव विभाति स मन्दराद्रिः ॥ ४६८ ॥

अत्र व्यावर्त्तनैः अहिपतेः अयमाहिताङ्कः इति ज्ञापकहेतोः, खं व्यालिखन्निव इति उत्प्रेक्षावयवाच्च, देवासुरैरिति नित्यविवक्षायां बहुवचनम्। अमृतमम्बुनिधिः ममन्थे इति द्विकर्मकेष्वपि मथिप्रभृतीनाम् उपसंख्यानम् इति अमृतशब्दात् द्वितीया इति दोषगुणयोः प्राधान्यं प्रतीयते। ननु च अत्रापि अर्थस्य प्राधान्यं न भवति तद्विषयस्य ज्ञापकहेतुना अपहृतत्वात् सोऽपि अर्थालङ्कार एव गुणालङ्कारयोश्च तुल्यकक्षतायामलङ्कारः प्रधानं भवति न गुणः, गुणैः हि गुणभूतैरेव अलङ्काराः प्राय आरभ्यन्ते ॥४६८॥

दोषगुण-प्रधान का उदाहरण—

देव तथा दानवों के द्वारा जिससे जल को उत्क्षिप्त करने से जिसमें नाग लोक स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर हो जाता था उस सागर से अमृत को मथ निकाला, तथा वासुकी के वेष्टन से चिह्नित हो गया यह वही मन्दराचल है जो आकाश को चित्रित करता हुआ सा प्रतीत होता है ॥४६८॥

यहाँ 'व्यावर्तनैः अहिपतेः अयमाहिताङ्कः' इसमें ज्ञापक हेतु के कारण तथा 'खं व्यालिखन्निव' इसमें उत्प्रेक्षावयव होने से, 'देवासुरैः' में नित्य विवक्षा होने पर बहुवचन हैं। "अमृतमम्बुनिधिः ममन्थे" इसमें द्विकर्मकों में भी 'मथित' प्रभृति की गणना है, इससे अमृत शब्द से द्वितीया है। इस प्रकार यहाँ दोष-गुण की प्रधानता प्रतीत होती है। "यहाँ भी अर्थ की प्रधानता नहीं होती है, उसके विषय का ज्ञापक हेतु के द्वारा अपहरण हो जाता है। अतः वह भी अलंकार ही है। गुण तथा अलंकार के समकक्ष होने पर अलंकार प्रधान होता है, गुण नहीं। गुण तो अङ्गभूत होकर ही प्रायः अलंकारों का आरम्भ करते हैं।

येनेति। देवासुरैः सुरासुरैः येन साधनेनेत्यर्थः अपविद्धैः उत्क्षिप्तैः सलिलैः जलैः हेतुभिः स्फुटं सुव्यक्तं दृश्यमित्यर्थः नागानां सद्म पातालं यस्य यत्र वा सः अम्बुनिधिः सागरः अमृतं सुधां ममन्थे विलोडयाञ्चक्रे, अहिपतेः वासुकेः शेषनागस्य वा व्यावर्त्तनैः वेष्टनैः आहितः जनितः अङ्कः चिह्नः मध्यवर्त्तिरेखाविशेष इति भावः यस्य तथाभूतः अयं परिदृश्यमानः सः मन्दराद्रिः मन्दराख्योऽचलः खम् आकाशं व्यालिखन्निव विशेषेण आलेख्यमिव चित्रयन्निव विभाति राजते ॥ ४६८ ॥

अत्रेति। तद्विषयस्य अर्थविषयस्य अपहृतत्वात् निरस्तत्वात्। गुणभूतैरङ्गभूतैः। आरभ्यन्ते उत्थाप्यन्ते इत्यर्थः।

तद्यथा,—

अस्पृष्टा दोषमात्राभिः समग्रगुणगुम्फिता।
विपञ्चीस्वरसौभाग्या वैदर्भी रीतिरिष्यते॥
समस्तात्युत्कटपदामोजःकान्तिसमन्विताम्।
गौडीयां तां विजानन्ति रीतिं रीतिविचक्षणाः॥
आश्लिष्टश्लथभावाञ्च पुराणच्छायमाश्रिताम्।
मधुरां सुकुमारीञ्च पाञ्चालीं कवयो विदुः॥
माधुर्य्यमपि वाञ्छन्तः प्रसादञ्च सुमेधसः।
समासवन्ति भूयांसि न पदानि प्रयुञ्जते॥
लाटीयावन्त्ययो रीत्योर्मागध्याञ्च क्वचित् क्वचित्।
केचिदोजोऽभिधित्सन्तः समस्यन्ति बहुन्यपि॥
प्रतीतशब्दमोजस्वि सुश्लिष्टपदसन्धिमत्।
प्रसादि स्वभिधानञ्चाऽयमकं कृतिनां मतम्॥

मा भूद् अलङ्कारतुल्यकक्षतया अर्थस्य प्राधान्यं, गुणस्य तु श्लाघ्य-विशेषगुणयोग उदात्तत्वमित्यादेः किमिति प्राधान्यं न भवति, दोषगुणानामतीवोल्लेखविधित्वेन प्राधान्यात्॥

वह इस प्रकार है—

दोष की मात्रा से भी न छुयी जाने वाली, सभी गुणों से समन्वित, वीणा के स्वर की भांति सुन्दर वैदर्भीरीति अभीष्ट है। रीति मर्मज्ञ लोग समास बहुल तथा अत्यन्त कर्णकटु पदों से युक्त, ओज तथा कान्ति गुणों से समन्वित रीति को गौडी नाम से जानते हैं। थोड़ी शिथिलता वाली, प्राचीनता की छाप ली हुई, माधुर्य से युक्त तथा कोमल वर्णों वाली रीति को विद्वानों ने पाञ्चाली के नाम से जाना है। बुद्धिमान् लोग माधुर्य तथा प्रसाद की विवक्षा होने पर अत्यधिक समासों से युक्त पदों का प्रयोग नहीं करते। लाटी तथा आवन्ती रीतियों में और कहीं कहीं मागधी में भी कुछ लोग ओज गुण का अभिधान करने के लिये अनेक पदों को भी समाप्त कर देते हैं। स्फुट शब्दों वाली, ओज से समन्वित, सुश्लिष्ट पदत्व तथा सुसन्धित्व से भरी हुई, प्रसाद गुणवाली, स्पष्ट अभिधान करने वाली तथा यमक से हीन वाणी ही अधिकतर विद्वानों को अच्छी लगती है।

अलंकार की समकोटिक होने से अर्थ की प्रधानता भले ही न हो, किन्तु शब्दगुण को तो "श्लाघ्य विशेष गुणों का योग उदात्त है" इस लक्षण से प्रधानता कैसे नहीं होगी जब कि दोष गुणों की अत्यन्त उल्लेखविधान होने से प्रधानता है।

अस्पृष्टेति। दोषमात्राभिः दोषलेशैरित्यर्थः कैरपि दोषैरिति यावत् न स्पृष्टा अस्पृष्टा सर्वथा दोषवर्जितेति यावत् समग्रैः सर्वैः गुणैः ओजः प्रसादादिभिरित्यर्थः गुम्फिता ग्रथिता

सर्वगुणसम्पन्नेति यावत् विपञ्चीस्वरः वीणास्वरः तस्येव सौभाग्यं सुखश्राव्यतेति भावः यस्याः तथाभूता रीतिः रचनाविशेषः वैदर्भी विदर्भदेशीयानां प्रियत्वादिति संज्ञेति भावः इष्यते कविभिरिति शेषः ॥

समस्तेति । रीतिविचक्षणाः रचनालक्षणविद इत्यर्थः समस्तानि समासबहुलानि अत्युत्कटानि श्रुतिकर्कशानीति यावत् पदानि सुसिङ्न्तानि यस्यां तां ओजः तदाख्यगुणः कान्तिश्च गुणविशेषः प्रागुक्त इति भावः ताभ्यां समन्विता युक्ता तथोक्तां तां रीतिं गौडीयां गौडदेशीयानां प्रियत्वादिति संज्ञेति भावः विजानन्ति विदन्ति ॥

आश्लिष्टेति । आश्लिष्टः आलिङ्गितः गृहीत इत्यर्थः श्लथभावः शैथिल्यम् अदार्ढ्यमिति भावः यया तां पुराणा प्राचीना छाया पुराणच्छायं तत् आश्रिता तां प्राचीनजनाद्रतामिति यावत् सुकुमारां सुकोमलाम् अतएव मधुरां मनोहारिणीं रीतिं कवयः विद्वांसः पाञ्चालीं पञ्चालदेशीयानां प्रियत्वात् तथा संज्ञेति भावः विदुः जानन्ति ॥

माधुर्यमिति । सुमेधसः सुष्ठु मेधाशालिनः कवयः माधुर्य्यमपि प्रसादञ्च वाञ्छन्तः इच्छन्तः सन्तः लाटीयावन्त्ययोः रीत्योः तथा मागध्याञ्च रीत्यां क्वचित् क्वचित् समासवन्ति समस्तानि भूयांसि बहुलानि पदानि न प्रयुञ्जते न प्रयुक्तानि कुर्वन्ति । तथा च लाटी आवन्ती मागधी इति तिस्रो रीतयः माधुर्य्यप्रसादगुणशालिन्यः असमस्तबहुलाश्च प्रायेण भवन्तीति निष्कर्षः ॥

केचिदिति । केचित् कवयः ओजः तदाख्यं गुणमभिधित्सन्तः अभिधातुमिच्छन्तः बहून्यपि पदानि समस्यन्ति समस्तानि कुर्वन्ति ॥

प्रतीतेति । प्रतीताः प्रसिद्धाः शब्दा यत्र तत् ओजस्वि ओजोगुणशालि, सुश्लिष्टैः अनेकार्थैः पदैः सन्धिमत् सन्धिविशिष्टं तथा प्रसादि प्रसादगुणयुक्तं सुष्ठु अभिधानं अभिधेयमित्यर्थः यत्र तत् शोभनार्थयुक्तमित्यर्थः अयमकं यमकालङ्कारवर्जितं काव्यमिति शेषः कृतिनां निपुणानां कवीनामित्यर्थः मतम् इष्टमित्यर्थः । मा भूदिति । अलङ्कारतुल्यकक्षतया अलङ्कारस्य तुल्यबलतया। अर्थस्य वाच्यस्य प्राधान्यम् अङ्गित्वं माभूत् न भवतु ॥

यथा—

सा वामनप्रसिद्धिर्लङ्घितनभसो वलिद्विषोऽद्यापि ।
मत्सरिणः खलु लोकाः मर्माण्येवानुबध्नन्ति ॥ ४६९ ॥

अत्र दोषस्य यो गुणीभावः स ततोऽप्यधिकं प्रकाशते इति ॥

यहाँ जो दोष का गुणीभाव है वह तो उससे भी अधिक सुशोभित होता है ।

आकाश का अतिक्रमण करने वाले तथा बलि को छलने वाले विष्णु की वामन के रूप में ख्याति अब भी है, क्योंकि विद्वेषी लोक रहस्यों का दोष प्रदर्शन के लिए उद्घाटन करता ही है ॥ ४६९ ॥

सेति । लङ्घितम् अतिक्रान्तं नभः अन्तरीक्षं येन तथाभूतस्य वलिं द्वेष्टीति वलिद्विट् तस्य वलिं छलयत इत्यर्थः विष्णोरिति भावः सा वामनप्रसिद्धिः खर्वाकारतया हीन-

ख्यातिः अद्यापि अस्तीति शेषः। खलु यतः मत्सरिणविद्वेषिणः लोकाः मर्म्माण्येव अनुबध्नन्ति दोषप्रदर्शनाय उद्घाटयन्तीत्यर्थः ॥ ४६९ ॥

अत्रेति। दोषस्य वामनत्वरूपस्य यो गुणीभावः गुणरूपेण परिणाम इत्यर्थः नभोलङ्घनादिति भावः स गुणीभावः ततोऽपि दोषादपि अधिकं प्रकाशते राजते।

शब्दालङ्कारप्रधानो यथा,—

यच्चन्द्रकोटिकरकोरकहारभाजि
बभ्राम बभ्रुणि जटापटले हरस्य।
तद्वः पुनातु हिमशैलशिलानिकुञ्ज-
प्राकारडम्बरविरावि सुरापगाऽम्भः ॥ ४७० ॥

अत्र अर्थप्राकट्यं प्रसादः, विभवोत्कर्षः उदात्तता, मृदुप्रस्फुटोन्मिश्रवर्णानामवैषम्यं समता, बन्धगाढ़ता औजित्यम् इत्यादिभ्यो गुणेभ्यः प्राधान्येन शब्दालङ्कारानुप्रासः प्रतीयते ॥ ४७० ॥

शब्दालङ्कार की प्रधानता (वाले संकर का) उदाहरण—

(अर्थ आदि के लिये द्रष्टव्य १।७७ ॥ ४७० ॥

यहाँ अर्थ की प्रकटता होने से प्रसाद, वैभव का उत्कर्ष होने से उदात्तता, मृदु, प्रस्फुट, तथा उन्मिश्र वर्णों में विषमता न होने से समता, बन्ध की गाढता, औजित्य आदि गुणों की अपेक्षा प्रधानरूप से अनुप्रास नामक शब्दालंकार प्रतीत होता है।

यदिति। यत् चन्द्रकोटेः भालस्थितायाः चन्द्ररेखाया इत्यर्थः करकोरकाः किरणकलिकाः एव हारः तं भजते इति तथोक्ते चन्द्रकोटिकरजालहारशोभिनि इत्यर्थः बभ्रुणि पिङ्गले हरस्य जटाकलापे जटाजूटे बभ्राम भ्रान्तवत् हिमशैलस्य हिमाद्रेः शिला एव निकुञ्जानां लतागृहाणां प्राकाराः सालाः तेषु डम्बरम् उत्कटं यथा तथा विरावि निनादि तत् सुरापगायाः गङ्गायाः अम्भः जलं वः युष्मान् पुनातु पवित्रीकरोतु ॥ ४७० ॥

अर्थालङ्कारप्रधानो यथा,—

आश्लेषिणः पृथुरतक्लमपीतशीतम्
आयामिनीर्घनमुदो रजनीर्युवानः।
ऊर्व्वोर्मुहुर्बलनबन्धनसन्धिलोल-
पादान्तसंवलितलीनपटाः स्वपन्ति ॥ ४७१ ॥

अत्र बन्धविकटत्वमुदारता, श्लाघ्यविशेषणयोग उदात्तता, विभवोत्कर्ष औदार्य्यम्, दीप्तरसत्वम् कान्तिरित्यादिभ्यो गुणेभ्यः प्राधान्येन जातिरर्थालङ्कारः प्रतीयते ॥ ४७१ ॥

अर्थालंकार की प्रधानता वाले (संकर का) उदाहरण—

युवक तथा युवतियाँ परस्पर आलिङ्गन किये हुये, (सुरत जनित) परम आह्लाद से

समन्वित, बार बार जघनों को सञ्चालित करके गाँठों के बीच में चञ्चल चरणों के अग्रभाग में वस्त्रों को दबाये हुये, महान् रतिखेद को दूर करने के लिये शीतल पेय का ग्रहण करके खूब लम्बी-लम्बी शीतकालीन रात्रियों में सोते हैं ॥ ४७१ ॥

यहाँ बन्ध की विकटता रूप उदारता, श्लाघ्य विशेषण का योग होने से उदात्तता, वैभव का उत्कर्ष होने से उदारता, रस की दीप्ति होने से कान्ति इत्यादि गुणों की अपेक्षा प्रधानरूप से जाति नाम का अर्थालंकार प्रतीत होता है।

आश्लेषिण इति। युवानः युवत्यश्च युवानश्चेति एकशेषात् युवानः तरुणीसहिताः तरुणा इत्यर्थः आश्लेषिणः परस्परम् आलिङ्गनवन्त इत्यर्थः घनाः सान्द्रा मुदः प्रीतयः सुरतजनिता इति भावः येषां तथोक्ताः मुहुः पुनः पुनः ऊर्वोः ऊरुयुगलयोः बलनेन सञ्चालनेन यत् बन्धनं तस्य सन्धौ संयोगे लोलाः तरलाः पादान्तेषु संवलिताः सङ्गमिताः लीनाः संलग्नाः पटाः वसनानि येषां तथाभूताः सन्तः पृथुर्महान् रतक्लमः रमणजनित-क्लान्तिः यस्मिन् तत् तथा पीतं शीतं शीतलं वस्तु पानीयादिकं सुरतक्लमापनयनायेति भावः यस्मिन् तत् यथा तथा आयामिनीः आयताः शीतकालीना इति भावः यामिनीः रात्रीः अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। स्वपन्ति निद्रान्ति ॥ ४७१ ॥

उभयालङ्कारप्रधानो यथा,—

अभ्युद्धृता वसुमती दलितं रिपूरः
क्षिप्रक्रमं कवलिता बलिराजलक्ष्मीः।
अत्रैकजन्मनि कृतं यदनेन यूना
जन्मत्रये तदकरोत् पुरुषः पुराणः ॥ ४७२ ॥

अत्र उक्तिपरिपाटिः प्रौढिः, बन्ध विकिटत्वमुदारता, आशयोत्कर्षः उदात्तत्वम्, अर्थप्राकट्यं प्रसादः इत्यादिभ्यो गुणेभ्यः श्लेषोपसर्जना विशेषोक्तिः उभयालङ्कारः प्राधान्येन प्रतीयते ॥

रससङ्करोऽपि च अलंकारसङ्करवदेव रसाभासप्रशमानां तिलतण्डुलादिप्रकारेण सङ्करः षट्प्रकारो भवति ॥ ४७२ ॥

उभयालंकार की प्रधानता वाले (संकर का) उदाहरण—

(अर्थ हेतु द्रष्टव्य १।९८॥) ॥ ४७२ ॥

यहाँ उक्ति परम्परा होने से प्रौढि, बन्ध की विकटता रूप उदारता, आशा के कारण उत्कर्ष रूप उदात्तता, अर्थ की प्रकटता रूप प्रसाद, आदि गुणों की अपेक्षा श्लेष से परिपुष्ट विशेषोक्ति नाम का उभयालंकार प्रधान रूप से प्रतीत होता है।

रस-संकर भी अलंकार संकर की ही भांति है। (भाव) रस, आभास, तथा प्रशमों का, तिलतण्डुल आदि की रीति से, संकर छह प्रकार का होता है।

अभ्युद्धृतेति। अनेन यूना युवकेन राज्ञा युवराजेन वा वसुमती पृथ्वी अभ्युद्धृता शत्रुभ्यः कृताधिकारेभ्यः प्रत्याहृता, अथ च रसातलात् उद्धृता वराहरूपेणेति शेषः, रिपूणां शत्रूणाम् उरः वक्षस्थलं दलितं भग्नम् अथच रिपोः हिरण्यकशिपोः उरः दलितं

विदारितं नखैः नृसिंहरूपेणेति शेषः तथा क्षिप्रक्रमं झटितिक्रमेणेत्यर्थः बलिनां बलवतां राज्ञां लक्ष्मीः कवलिता ग्रस्ता आत्मसात्कृतेत्यर्थः अथच क्षिप्रः झटिति प्रकटितः क्रमः पदविक्षेपः स्वर्गादाविति भावः यस्मिन् तद् यथा तथा बलिराजस्य दैत्यपतेः वैरोचनस्य लक्ष्मीः त्रिलोकाधिपत्यश्रीः कवलिता ग्रस्ता प्रत्याहृत्य इन्द्राय दत्तेति यावत् वामनरूपेणेति शेषः। अतः अत्र अस्मिन् एकस्मिन् जन्मनि यत कृतं, पुराणः पुरुषः आदिपुरुषः नारायण इत्यर्थः जन्मनां त्रये प्रागुक्तवराहाद्यवताररूपे तत् पृथिव्युद्धरणादिकमित्यर्थः अकरोत् कृतवान् ॥ ४७२ ॥

तत्र भावानां तिलतण्डुलप्रकारो यथा,—

न्यक्कारो हृदि वज्रकील इव मे तीव्रः परिस्पन्दते
घोरान्धे तमसीव मज्जति मनः सम्मीलितं लज्जया।
शोकस्तातविपत्तिजो दहति मां नास्त्येव यस्मिन् क्रिया
मर्माण्येव पुनश्छिनत्ति करुणा सीतां वराकीं प्रति ॥४७३॥

अत्र अमर्षलज्जाशोकानुकम्पाः समकक्षतया मिथस्तिलतण्डुलवत् सङ्कीर्य्यमाणा रामस्य विरहिणो वागारम्भानुरागोक्तिपरतया प्रतीयन्ते ॥

भावों के तिलतण्डुल प्रकार का उदाहरण—

मेरे हृदय में वज्रकील की भांति अत्यन्त दारुण अपमान खटक रहा है। लज्जा के कारण मेरा मन घोर अन्धकार में मग्न सा हो रहा है। पितृदेव की विपत्ति अर्थात् मरण से उत्पन्न होने वाला शोक मुझे जलाये डाल रहा हैं जिसका कोई प्रतिकार नहीं है। बेचारी सीता के प्रति होने वाला दयाभाव फिर भी मेरे मर्मस्थान को छेदे डाल रहा है ॥ ४७३ ॥

यहाँ अमर्ष, लज्जा, शोक तथा दया सभी समान स्तर से परस्पर तिल तथा तण्डुल की भांति मिलकर विरही राम की वागारम्भ होनेवाले अनुभाव की उक्ति से सम्बद्ध रूप में प्रतीत हो रहे हैं।

अत्रेत्यादि। श्लेषोपसर्जना श्लेषः अर्थश्लेष इत्यर्थः उपसर्जनम् अङ्गं यस्याः तथाभूता श्लेषोत्थापितेत्यर्थः।

न्यक्कार इति। मे मम हृदि हृदये वज्रकील इव कुलिशशङ्कुरिव तीव्रः दारुणः न्यक्कारः आत्मावमानरूपः सीताहरणजनित इति भावः परिस्पन्दते परिस्फुरति। लज्जया एका भार्य्यापि रक्षितुं न पारितेति कथं लोकसमाजे मुखं दर्शयामीति भावः। सम्मीलितं मुद्रितं मनः घोरान्धे तमसीव तीव्रे गाढान्धकारे इवेत्यर्थः मज्जति निमग्नं भवति। तातस्य पितुः विपत्तिः मरणं तस्मात् जातः शोकः दुःखं मां दहति ज्वलयतीत्यर्थः यस्मिन् शोके क्रियाप्रतीकार इत्यर्थः नास्त्येव नैव विद्यते। तथा वराकीं तपस्विनीं निर्दोषामित्यर्थः सीतां प्रति करुणा अनुकम्पा मर्माणि हृदयादिसन्धिस्थानानि एव पुनः पुनरित्यर्थः छिनत्ति निकृन्ततीत्यर्थः। तातविपत्तिज इत्यत्र तार्क्ष्यविपत्तिज इति पाठे तार्क्ष्यस्य गरुडसुतस्य जटायुषः विपत्तिज इत्यर्थः ॥ ४७३ ॥

क्षीरनीरप्रकारो यथा,—

मानोन्नतेत्यसहनेत्यतिपण्डितेति
मय्येव धिक्कृतिरनेकमुखी सखीनाम् ।
दाक्षिण्यमात्रमसृणेन विचेष्टितेन
धूर्त्तस्य तस्य तु गुणा नु परं जयन्ति ? ॥ ४७४ ॥

अत्र सखीषु रोषः प्रियगुणेषु च असूया नीरक्षीरवन्मिथः सङ्कीर्य्यमाणो मानिनीवागारम्भपरतया प्रतीयेते ॥ ४७ ॥

क्षीर-नीर-प्रकार का उदाहरण—

"तू मान से उद्धत हो गई है", "तू असहिष्णु है", "तू अपने को बड़ा ज्ञानी समझ रही है" इस प्रकार से सखियों के अनेक प्रकार के तिरस्कार मुझे ही दिये जाते हैं, उसको नहीं। उस धूर्त की केवल धूर्तता भरी चालों से ही उसके गुण अत्यन्त सर्वोत्कृष्ट हो रहे हैं ॥ ४७४ ॥

यहाँ सखियों के प्रति रोष तथा प्रियतम के गुणों के प्रति असूया नीरक्षीर की भाँति परस्पर मिलकर मानिनी की वाणी से आरम्भ प्रतीत हो रहे हैं।

मानोन्नतेति। स्वं मानेत उन्नता उद्धता इति असहना असहिष्णुरिति अतिपण्डिता अतिशयेन पण्डितम्मन्येत्यर्थः इति इत्थं सखीनाम् अनेकमुखी अनेक प्रकारा धिक्कृतिः धिक्कारः तिरस्कारः इति यावत् मय्येव न तु तस्मिन्निति एव कारेण द्योत्यते अस्ति मामेव सख्यः धिगिति निन्दन्तीति भावः तस्य तु धूर्त्तस्य कितवस्य मत्कान्तस्येति भावः गुणाः दाक्षिण्यमात्रेण सारल्यमात्रेण आपाततः प्रयुक्तेन सामान्येन सारल्येन मसृणं कोमलं तेन विचेष्टितेन व्यवहारेण परम् अत्यर्थं जयन्ति नु ? उत्कर्षेण वर्त्तन्ते किम् ? ॥ ४७४ ॥

छायादर्शप्रकारो यथा,—

आः सीते ! पतिगर्वविभ्रमभरप्रान्तभ्रमद्बान्धव-
प्रध्वंसस्मितकान्तिमत् तव तदा जातं यदेतन्मुखम् ।
सम्प्रत्येव हठात् तदेव कुरुते केशोच्चयोत्कर्षण-
त्रासोत्तानितलोललोचनपतद्बाष्पप्लुतं रावणः ॥ ४७५ ॥

अत्र क्रोधाभासे छायादर्शन्यायेन रत्याभासः सङ्कीर्य्यते ॥

छायादर्श प्रकार का उदाहरण—

हे सीता, जो तुम्हारा यह मुख अपने पति के गर्व से अत्यन्त फड़क रहा है और मुझ रावण के भाई बन्धुओं के विनाश से अथवा तुम्हारे ही बन्धुभूत बन्दर आदि से राक्षसों का वध करने से अत्यधिक चमक रहा है, उसी को अभी यह रावण बलपूर्वक केशराशि को खींचने के कष्ट से ऊपर उठी हुई चञ्चल आँखों से गिर रहे आँसुओं से युक्त कर रहा है ॥ ४७५ ॥

यहाँ क्रोधाभास में छायादर्शन्याय से रति का आभास संकीर्ण हो रहा है—मिल रहा है।

आ इति। आ इत्याक्षेपे। सीते ! यत् एतत् तव मुखं पत्युः स्वामिनो गर्वेण अस्म-

पक्षविजयजनितेनेति भावः विभ्रमभरम् अतिस्फूर्त्तिमदित्यर्थः प्रान्ते समन्तत इत्यर्थः भ्रमद्भिः विचरद्भिः बान्धवैः वानरसैन्यैः यः प्रध्वसः अस्मत्पक्षाणाम् इति भावः सस्मित मृदुहासयुतं तथा कान्तिमत् कान्त्युज्ज्वलमित्यर्थः तदा प्रागिति भावः जातं वृत्तं हर्षातिशयादिति भावः सम्प्रत्येव इदानीमेव रावणः तदेव मुखं हठात् केशानाम् उच्चयस्य सङ्घस्य उत्कर्षणेन छेदनार्थं मत्कृतेनेतिः भावः यः त्रासः भयं तेन उत्तानिताभ्याम् उन्नमिताभ्यां लोलाभ्यां चञ्चलाभ्यां लोचनाभ्यां नेत्राभ्यां पतद्भिः वाष्पैः अश्रुभिः प्लुतं व्याप्तं कुरुते विदधाति ॥ ४७५ ॥

नरसिंहप्रकारो यथा,—

किं द्वारि दैवहतिके ! सहकारकेण
संवर्द्धितेन विषपादप एष पापः ।
अस्मिन् मनागपि विकासविकारभाजि
भीमा भवन्ति मदनज्वरसन्निपाताः ॥ ४७६ ॥

अत्र नरसिंहजाताविव सिंहनरशरीरभागारम्भानुसारेण सखीविषयानुकम्पा सहकारविषया च कुत्सा मिथः सङ्कीर्य्यते । तथा हि दैवहतिकेति शब्देन लब्धायां नियत्युपाधौ सर्वथैव अनुकम्प्यामानतायां सहकारसम्बर्द्धननिबन्धनत्वमेव अस्याः कना द्योत्यते । एवं नाम त्वं दैवोपहताऽसि यत् सहकारविषपादपं द्वारि सम्बर्द्धयसि । विषपादपशब्देन लब्धायां सहकारस्य सर्वथैव कुत्सायां विकासकाले कामिनीनामसह्यस्मरज्वरसन्निपातहेतुकमेव अस्याः कन्प्रत्ययेन प्रत्याय्यते ॥

तदुक्तं,—

कुत्सितत्वेन कुत्सावान् सम्यग् वाऽपि हि कुत्सितः ।
स्वशब्दाभिहिते केन विशिष्टोऽर्थः प्रतीयते ।
न च साम्प्रतिकी कुत्सा शब्दाभेदे प्रतीयते ।
पूज्यते कुत्सितत्वेऽपि प्रशस्तत्वेऽपि कुत्स्यते ॥

नरसिंह प्रकार से (संकर का उदाहरण)—
(अर्थ के लिये द्रष्टव्य २।३५ ॥) ॥ ४७६ ॥

यहाँ नरसिंह के जन्म की भांति सिंह तथा नर के शरीर के भागों के अनुसार सखी के प्रति दया तथा आम्र वृक्ष के प्रति कुत्सा का भाव परस्पर मिल रहे हैं । जैसे कि 'दैवहतिका इस शब्द से प्राप्त हो रही नित्य उपाधि में पूर्णतः 'अनुकम्पा' का भाव होने से आम्रवृक्ष के सम्वर्धन का निबन्धन ही इसके 'कन्' प्रत्यय से द्योतित हो रहा है । इसी प्रकार "तू निश्चित ही दुर्भाग्य की मारी है जो आम्रवृक्ष रूपी विष के वृक्ष को द्वार पर बढ़ा रही है । 'विषपादप' शब्द से प्राप्त हो रही आम्रवृक्ष की सर्वथा कुत्सा होने पर उसके विकास के समय कामिनियों के असह्य काम ज्वर के आगमन की कारणता ही इसके 'कन्' प्रत्यय से प्रतीत कराया जा रहा है । जैसा कि कहा गया है—

अंशतः कुत्सित होने से कुत्सायुक्त अथवा पूर्णतः कुत्सित अर्थ स्वशब्द से अभिधान होने पर कन् प्रत्यय से द्वारा विशिष्ट अर्थात् अभिधेय के अतिरिक्त व्यंग्य आदि अर्थ प्रतीत होता है। शब्द की अभिन्नता होने पर प्राथमिक कुत्सा नहीं प्रतीत होती (अपितु पर्यालोचन से प्रतीत होती है।) इस दशा में कुत्सित होने पर भी पूज्य अर्थ निकलता है तथा (कहीं कहीं), प्रशस्त होने पर भी कुत्सित।

किमिति प्राग्व्याख्यातम्। अत्रेति—कना कन्प्रत्ययेवेत्यर्थः।

कुत्सितत्वेनेति। कुत्सितत्वेन कुत्सा जाता अस्येति कुत्सितः तस्य भावः तेन कुत्सावान् कियदंशे कुत्सित इत्यर्थः अपि वा अथवा सम्यक् कुत्सितः सर्वथैव कुत्सित इत्यर्थः। स्वस्य शब्दः अभिधेयार्थप्रतिपादकं पदमित्यर्थः तेन अभिहिते उक्ते वस्तुनि कना कन्-प्रत्ययेन विशिष्टः अभिधेयादतिरिक्त इति यावत् अर्थः व्यङ्ग्यादिकं प्रतीयते बुध्यते। शब्दाभेदे शब्दस्य अभिन्नतायां साम्प्रतिकी प्राथमिकी प्रथममेवेत्यर्थः कुत्सा नच प्रतीयते पर्य्यालोचनेन प्रतीयते एवेत्यर्थः। कुत्सितत्वेऽपि पूज्यते आद्रियते इति यावत् तथा प्रशस्तत्वेऽपि प्रशंसायोग्यत्वेऽपि कुत्स्यते निन्द्यते क्वचिदिति शेषः॥

तद्यथा,—

एक इह जीवलोके जीवति विरूपो न रूपी।
यः प्रेममयपाशे मृगवत् न मृगीदृशां पतति॥ ४७७॥

वह इस प्रकार से है—

इस संसार में केवल निन्दितरूप वाला ही जीवित है, वस्तुतः रूपवान् नहीं, क्योंकि यह विरूप व्यक्ति मृगनयनियों के प्रेममय जाल में नहीं पड़ता॥ ४७७॥

एक इति। इह अस्मिन् जीवलोके संसारे एक एव विरूपः कुत्सितरूपः जीवति, रूपी रूपवान् न जीवतीति शेषः। यः विरूपः मृगीदृशां मृगाक्षीणां प्रेममयपाशे प्रेममयबन्धन-जाले न पतति। अत्र विरूपः कुत्सितोऽपि पूज्यते, रूपी तु प्रशस्तरूपोऽपि कुत्स्यते इति बोध्यम्॥ ४७७॥

पांसूदकप्रकारो यथा,—

मा गर्वमुद्वह कपोलतले चकास्ति
कान्तस्वहस्तलिखिता मम मञ्जरीति।
अन्यापि किं न सखि! भाजनमीदृशीनां?
वैरी न चेद्भवति वेपथुरन्तरायः॥ ४७८॥

अत्र स्वसौभाग्यवर्णना मृत्पिण्डे पांसूदकयोरिव अविभागमापाद्यमानयोः असूयागर्वयोः सङ्कर उपपद्यते॥ ४७८॥

पांसूदक प्रकार का उदाहरण—
(अर्थ हेतु द्रष्टव्य १।१०५॥)॥ ४७८॥

यहाँ अपने सौभाग्य के वर्णनरूप मृत्पिण्ड में मिट्टी तथा जल की भांति विभक्त न हो पा रहे असूया तथा गर्व का संकर उपलब्ध होता है।

स्व० द०—तिलतण्डुल, क्षीरनीर, छायादर्श, नरसिंह प्रकार, पांसूदक प्रकार आदि का विस्तृत व्याख्यान पहले आये हुये प्रसङ्ग में कर दिया गया है।

मा गर्वमिति। मम कपोलतले गण्डदेशे कान्तस्य प्रियस्य स्वहस्तेन लिखिता चित्रिता मञ्जरी तदाकाररचनाविशेष इत्यर्थः चकास्ति राजते इति मत्वेति शेषः गर्वम् अहङ्कारं मा वह न कुरु। हे सखि! चेत् यदि वेपथुः कम्पः प्रियस्पर्शजनितसत्त्वोदयादिति भावः अन्तरायः विघ्नो वैरी शत्रुर्न भवति, तदा अन्यापि अपरापि नारीति शेषः मद्विधेति भावः ईदृशीनाम् एतादृशीनां मञ्जरीणां भाजनं पात्रं न? अपि तु भाजनमेवेत्यर्थः। कान्तस्पर्शे अस्माकमेतादृक् कम्पः स्यात् येन तादृशमञ्जर्यादिचित्रीकरणे कान्तस्य अवसरो न स्यादिति भावः॥ ४७८॥

अत्रेत्यादि। स्वस्य सौभाग्यं प्रियवाल्लभ्यं तस्य वर्णना एव मृत्पिण्डं वर्त्तुलाकारमृच्चय इत्यर्थः तस्मिन् पांसूदकयोरिव बालुकासलिलयोरिव अविभागमापद्यमानयोः कियत्यो बालुकाः कियन्ति वा सलिलानीति विभागमप्राप्नुवतीरित्यर्थः असूयागर्वयोः विद्वेषाहङ्कारयोः सङ्करः सम्मेलनम् अविभागेनेति भावः॥ ४७८॥

चित्रवर्णप्रकारो यथा,

विरोधो विश्रान्तः प्रसरति रसो निर्वृतिघनः
तदौद्धत्यं क्वापि व्रजति विनयः प्रह्वयति माम्।
झटित्यस्मिन् दृष्टे किमपि परवानस्मि यदि वा
महार्घस्तीर्थानामिव हि महतां कोऽप्यतिशयः?॥ ४७९॥

अत्र वीरौद्धत्यस्वातन्त्र्यरसानामानन्दप्रशमपारवश्यरसैः तिरस्क्रियमाणानां पटवर्णनीलादिभिः सितादीनाम् इव प्रशमा रामदर्शनप्रभावोद्भवे लवस्य विस्मयातिशयप्रशमजन्मनि वागारम्भानुभावोपमोद्भवे चित्रवर्णवत् सङ्कीर्य्यमाणाः समुपलभ्यन्ते॥ ४७९॥

चित्रवर्ण प्रकार का उदाहरण—

इस महापुरुष के एकाएक दिखाई पड़ जाने से विवाद शान्त हो गया। आन्तरिक आनन्द से सघन राग स्फुरित हो रहा है। वह तीक्ष्णता भी कहीं विलीन हो रही है। विनम्रता मुझे नत किये दे रही है। न जाने किस तरह से मैं पराधीन होता जा रहा हूँ। अथवा अत्यन्त पुण्यजनों के बीच में महान् जनों का कोई महाप्रभाव अथवा वहाँ में भी कोई अत्यन्त उत्कृष्ट व्यक्ति इस स्थान पर उपस्थित हुआ है॥ ४७॥

यहाँ वीर, औद्धत्य, स्वातन्त्र्य रस आनन्द, प्रशम तथा पारवश्य के रसों से तिरस्कृत किये जा रहे हैं, वस्त्र के रङ्ग नील आदि के द्वारा श्वेत आदि की भांति प्रशम, तथा राम के दर्शन के प्रभाव से उत्पन्न लव के आश्चर्य के आधिक्य से प्रशम से उत्पन्न हो रहे वाचिक कार्यरूप अनुभाव का भी उद्भव होने पर चित्रवर्ण की भांति मिलते हुये प्राप्त होते हैं।

विरोध इति। अस्मिन् महापुरुषे इति भावः झटिति सहसा दृष्टे सति विरोधः विवादः विश्रान्तः अपगतः। निर्वृत्या अन्तरानन्देनेत्यर्थः घनः सान्द्रः रसः रागः प्रसरति प्रस्फुरति। तत् प्राक् प्रकटीकृतमिति भावः औद्धत्यं तीक्ष्णत्वं क्वापि व्रजति गच्छति

विलीयते इत्यर्थः। विनयः सदाचारनियमः मां प्रह्वयति नमयति नम्रं करोतीत्यर्थः। किमपि अनिर्वचनीयं यथा तथा परवान् पराधीनः अस्मि भवामि कथं पराधीनो भवामीति न निर्वक्तुं शक्यते इति भावः। यदि वा पक्षान्तरे तीर्थानां पुण्यनिचयवतां मध्ये महान् अर्घो मूल्यं यस्य स महार्घः महाप्रभाव इत्यर्थः वा महतां कोऽपि अतिशयः अतीव महान् वा इह अस्मिन् स्थाने उपस्थितः किम् ? अयमिति शेषः ॥ ४७९ ॥

अत्रेत्यादि। तिरस्क्रियमाणानां व्यवधीयमानानां पटस्य वसनस्य वर्णा ये नीलादयः तैः सितादीनामिव श्वेतवर्णादीनामिवेत्यर्थः॥

रसगुणसङ्कर

अथ रसगुणसङ्करः।

ननु च दोषहानमिव गुणोपादानमपि नियमनिर्वर्त्त्यम्, अलङ्कारयोग इव रसावियोगोऽपि अवश्यं विधेयः। कदाचित् अलङ्कारयोगोऽपि त्यज्यते न तु रसावियोगो गुणयोगश्च व्यभिचरितसम्बन्धौ इति। अत्रोच्यते, यत्र चित्रवर्णवत् नरसिंहवत् पांसूदकवच्च अवयवावयविन्यायेन जातिव्यक्तिन्यायेन च अपृथक्प्रयत्ननिर्वर्त्यानां गुणरसानां वाक्ये सन्निवेशः तत्र संकरव्यवहारो न प्रवर्त्तते ॥

"दोष परित्याग की भांति गुणों का ग्रहण भी अवश्य ही सम्पन्न होना चाहिये, अलंकार के योग की भांति रस का अवियोग भी अवश्य करना चाहिये। कहीं कहीं अलंकार का भी योग छोड़ दिया जाता है, किन्तु रसयुक्तता तथा गुण-योग का सम्बन्ध वियुक्त नहीं हो सकता" (फिर ऐसी दशा में रसों का तो गुण से सहज सम्बन्ध होने पर उनकी उपस्थिति में संकरता का प्रश्न ही नहीं उठता।) इसका उत्तर कहा जा रहा है—जहाँ चित्रवर्ण के सदृश, नरसिंह के सदृश, तथा पांसूदक के सदृश अवयव तथा अवयवी की रीति से तथा जाति और व्यक्ति की रीति से एक ही प्रयत्न से सम्पन्न हो रहे गुणों और रसों का वाक्य में सन्निवेश होता है, वहाँ संकरता की बात नहीं प्रवृत्त होती।

अथेति। दोषहानमिव दोषपरित्याग इव। नियमनिर्वर्त्यं नियमेन अवश्यमित्यर्थः निर्वर्त्यं सम्पादनीयमित्यर्थः दोषाः त्यज्यन्ते एव गुणास्तु गृह्यन्ते एवेति निष्कर्षः। रसावियोगः रसैः शृङ्गारादिभिः अवियोगः वियोगाभाव इत्यर्थः। व्यभिचरितसम्बन्धौ इत्यत्र अकारप्रश्लेषः प्राप्तादिकः अव्यभिचरितसम्बन्धौ इत्येव पाठः तथा च न व्यभिचरितः न वियुक्तः सम्बन्धो ययोस्तौ रसावियोगगुणयोग एतौ इत्यन्वयः। अत्रोच्यते इति अवयवावयविन्यायेन अङ्गाङ्गिभावेनेति भावः। जातिव्यक्तिन्यायेन आधाराधेयभावेनेति भावः। अपृथक्प्रयत्ननिर्वर्त्यानाम् एकप्रयत्नसम्पाद्यानाम् ॥

तद् यथा,—

मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः।
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः॥

कामं सर्वोऽप्यलंकारः रसमर्थे निषिञ्चति ।
तथाप्यग्राम्यतैवैनं भारं वहति भूयसा ॥

शृङ्गार एव मधुरः परप्रह्लादनो रसः ।
तन्मयं काव्यमाश्रित्य माधुर्य्यं प्रतितिष्ठति ॥

शृङ्गारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत् ।
माधुर्य्यमार्द्रतां याति यतस्तत्राधिकं मनः ॥

रौद्रादयो रसा दीप्ता लक्ष्यन्ते काव्यवर्त्तिनः ।
तद्व्यक्तिहेतू शब्दार्थौ ओजोऽधिष्ठाय तिष्ठति ॥

समर्थकत्वं वाक्यस्य यत् तु सर्वरसान् प्रति ।
स प्रसादो गुणो ज्ञेयः सर्वसाधारणक्रियः ॥

रसयुक्त वाणी रूप वस्तु में मधुर रूप से रस की स्थिति होती है जिससे सहृदय लोग उसी प्रकार मत्त होते हैं जैसे मधु से भ्रमर । सम्पूर्ण अलंकार अभिधेय अर्थ रूप वस्तु में सम्यक् रूप से रस को भले सींचे, तथापि—अलंकार के रससिञ्चन करने पर भी, ग्राम्यता दोष का अभाव ही इस भार को प्रचुर मात्रा में वहन करता है । शृङ्गार रस ही मनोहर है, अतः अत्यन्त आनन्ददायक भी है । उस शृङ्गारमय काव्य का आश्रय लेकर माधुर्य प्रतिष्ठित होता है । विप्रलम्भ नामक शृङ्गार तथा करुण में प्रकृष्ट माधुर्यगुण आर्द्रता को प्राप्त होता है, अतः वहाँ मन अधिक रमता है । काव्य में विद्यमान रौद्र आदि रस दीप्त होने पर लक्षित होते हैं । ओज उनकी अभिव्यक्ति के कारणभूत शब्द तथा अर्थ में अधिष्ठित होकर विद्यमान रहता है । सभी रसों में जो वाक्य की परिपोषकता है वही प्रसाद नाम का गुण है जो सर्वसाधारण का मनोरञ्जक माना जाता है ।

सेयं गुणानां रसारम्भकत्वे संकराप्रसिद्धिः । एवं रसानां गुणारम्भकत्वेऽपि । तद् यथा,—रूढाहंकारतौजित्यं, भावयतो वाक्यवृत्तिर्भाविकत्वम्, क्रोधादावपि तीव्रता माधुर्य्यम्, आशयोत्कर्षः उदात्तत्वम्, अर्थस्याभीष्टतन्मयता प्रेयः, दीप्तरसत्वं कान्तिरिति । यत्र तु तिलतण्डुलवत् क्षीरनीरवच्छायादर्शवत् तुल्यकक्षतयैव गुणरसानां वाक्यैः पृथक्प्रयत्ननिर्वर्त्यानां विनिवेशः तत्र संकरव्यवहारः प्रवर्त्तते एव ॥ स षोढा, गुणप्रधानः, रसप्रधानः, उभयप्रधानः, उभयाप्रधानः, गुणाधिकः, रसाधिकः इति ॥

इस प्रकार यही गुणों की रस के परिपोषण में संकर की अप्रसिद्धि है । यही बात गुणों के परितोष के लिये रसों की भी है । वह इस प्रकार है—अहंकार का उत्कर्ष औजित्य है, भावना करने वाले की वाक्य वृत्ति भाविकत्व है, क्रोध आदि में तीव्रता माधुर्य है, आशा से उत्कर्ष का होना उदात्तता है, अर्थ की अभीष्ट में तन्मयता प्रेय है, तथा रस का दीप्त होना कान्ति है । जहाँ पर तिलतण्डुल की भांति, क्षीरनीर की भांति, छाया तथा आदर्श की भांति समान स्तर के द्वारा ही गुण तथा रसों का जिनको अलग से प्रयत्न करके सम्पन्न किया जाता है, वाक्यों के द्वारा

सन्निवेश किया जाता है, वहाँ तो संकर का व्यापार चलता ही है। वह छह प्रकार का होता है, गुणप्रधान, रसप्रधान, उभयप्रधान, उभयाप्रधान, गुणाधिक (तथा) रसाधिक।

मधुरमिति। रसवद्वाचि रसविशिष्टे वाक्ये मधुरं माधुर्य्यगुण इत्यर्थः तथा वस्तुनि मधुरे इति भावः रसस्य स्थितिः अस्तीति शेषः। येन मधुरेण रसवता च वाक्येन धीमन्तः महामतयः कवय इति शेषः मधुना मधुव्रता इव भ्रमरा इव माद्यन्ति मत्ता भवन्ति अतीव उल्लसन्तीति यावत्॥

काममिति। सर्वोऽपि अलङ्कारः अर्थे अभिधेये वस्तुनि कामं सम्यक् रसं निषिञ्चति अर्पयति, तथापि अलङ्कारस्य रसनिषेककर्तृत्वेऽपि अग्राम्यता ग्राम्यतादोषराहित्यमेव एनं रसं भूयसा बाहुल्येन भारं भारस्वरूपमित्यर्थः वहति धत्ते॥

शृङ्गार इति। शृङ्गारः रस एव मधुरः मनोहरः अतएव परम अत्यर्थं प्रह्लादयतीति प्रह्लादनः आनन्दजनक इत्यर्थः। तन्मयं शृङ्गारमयं काव्यम् आश्रित्य माधुर्य्यं तदाख्यो गुणः प्रतितिष्ठति अवतिष्ठते॥

शृङ्गारे इति। माधुर्य्यं विप्रलम्भाख्ये शृङ्गारे करुणे च रसे इति शेषः प्रकर्षवत् प्रकृष्टं सत् आर्द्रतां द्रवीभूततां याति प्रापयतीत्यर्थः अन्तर्भूतण्यर्थोऽयं धातुः। यतः यस्मात् हेतोः तत्र माधुर्य्ये रसे वा मनः सामाजिकानामिति भावः अधिकं प्रवर्त्तते इति शेषः॥

रौद्रादय इति। रौद्रादयः रसाः काव्येषु वर्त्तन्ते इति काव्यवर्त्तिनः काव्यान्तर्गता इत्यर्थः दीप्तिः तीव्रत्वेन प्रकाशमानाः लक्ष्यन्ते अनुभूयन्ते। ओजः तदाख्यो गुणः तेषां रौद्रादीनां व्यक्तेः प्रकटस्य हेतू कारणभूतौ शब्दार्थौ अधिष्ठाय आश्रित्य तिष्ठति वर्त्तते॥

समर्थकत्वमिति। सर्वरसान् प्रति सर्वेषु रसेष्वित्यर्थः वाक्यस्य समर्थकत्वं सम्पादकत्वं परिपोषकत्वमिति यावत् यत् स प्रसादो नाम सर्वसाधारणानां प्रियः मनोरञ्जकः गुणः ज्ञेयः वेद्यः॥

सेयमिति। रसारम्भकत्वे रसपरिपोषकत्वे सतीत्यर्थः। एवम् इत्थं रसानां गुणारम्भत्वेऽपि सङ्कराप्रसिद्धिरिति शेषः।

तेषु गुणप्रधानो यथा,—

अत्रान्तरे ललितहारलतानिबन्ध-
संवाहनस्खलितवेगतरङ्गिताङ्गी।
देवी व्यपास्य शयनं धृतमानतन्तुः
अन्तःपुरं गतवती सह सौविदल्लैः॥ ४८०॥

अत्र अर्थप्राकट्यौदार्य्ययोः अर्थशब्दगुणयोः प्राधान्यं भवति इति गुणप्रधानः॥

इनमे से गुणप्रधान का उदाहरण—

इसी बीच में शोभन करधनी को अच्छी तरह से धारण करने पर भी अत्यन्त शीघ्रता से उसके खिसकने से पकड़ने के लिये चञ्चल अङ्गों वाली, मान के सूत्र को संभालती हुई महारानी सेज छोड़ कर कञ्चुकियों के साथ अन्तःपुर में चली गई॥ ४८०॥

यहाँ अर्थप्राकट्य तथा औदार्य इन दोनों अर्थ तथा शब्दगुणों की प्रधानता है न कि रति तथा क्रोध की। अतः यह गुणप्रधान हुआ।

अत्रेति। अत्रान्तरे अस्मिन् अवकाशे ललिता शोभना हारलता रसनाकलापः तस्या नितम्बे संवाहनेऽपि सम्यग्धारणेऽपि यत् स्खलितं द्रुतगतिवशात् च्युतिः तस्य वेगेन तरङ्गितं चञ्चलितम् अङ्गं यस्याः तथोक्ता धृतः गृहीतः मानः प्रणयकोप एव तन्तुः सूत्रं यया तादृशी मानवतीत्यर्थः देवी महिषी शयनं शय्यातलं व्यपास्य परित्यज्य सौविदल्लैः कञ्चुकिभिः सह सौविदल्लाः कञ्चुकिन इत्यमरः अन्तःपुरं गतवती जगाम ॥ ४८० ॥

रसप्रधानो यथा,--

अस्मिन्नगृह्यत पिनाकभृता सलीलम्
आरब्धवेपथुरधीरविलोचनायाः।
विन्यस्तमङ्गलमहौषधिरीश्वरायाः
स्रस्तोरगप्रतिसरेण करेण पाणिः ॥ ४८१ ॥

अत्र श्लाघ्यविशेषणयोग उदात्तत्वम्, बन्धविकटत्वम् उदारता, अर्थप्राकट्यं प्रसादः, दीप्तरसत्वं कान्तिरिति गुणाः साध्वसविलासानुरागसङ्गमरसैः अतिशय्यन्ते इति रसप्रधानः ॥ ४८१ ॥

रसप्रधान का उदाहरण—

इसी स्थान पर शिव के द्वारा चञ्चल नयनों वाली पार्वती का (सत्त्वोदय के कारण) काँप रहा तथा माङ्गलिक महौषधियों से युक्त हाथ अपने सर्परूप मङ्गलसूत्र को हटाये गये हाथों से पकड़ा था ॥ ४८१ ॥

यहाँ श्लाघ्यविशेषण से युक्त उदात्तता है, बन्धों की विकटता रूप उदारता है, अर्थप्रकटता रूप प्रसाद है, दीप्तरसता रूप कान्ति है, इस प्रकार ये गुण हैं जो कम्प, विलास, अनुराग तथा मिलन रूप सुख से और भी बढ़ाए जा रहे हैं। इसप्रकार यह रसप्रधान है।

अस्मिन्निति। अस्मिन् प्रदेशे पिनाकभृता पिनाकिना हरेणेत्यर्थः अधीरे चञ्चले विलोचने यस्याः तथाभूतायाः ईश्वरायाः पार्वत्याः आरब्धः धृतः वेपथुः कम्पो येन तथोक्तः सत्त्वोदयादिति भावः विन्यस्तः निहितः मङ्गलाय महौषधिः यत्र तादृशः पाणिः करः स्रस्तः भ्रष्टः उरगः एव प्रतिसरः कौतुकसूत्रं यस्मात् तेन पार्वती बिभेतीति भियेति भावः तादृशेन करेण हस्तेन अगृह्यत गृहीतः। अत्र भगवान् हरः पार्वतीं परिणीतवान् इति निष्कर्षः ॥ ४८१ ॥

उभयप्रधानो यथा,--

आपातमात्ररसिके ! सरसीरुहस्य
किं बीजमर्पयितुमिच्छसि वापिकायाम् ?
कालः कलिर्जगदिदं न कृतज्ञम् अज्ञे !
स्थित्वा हरिष्यति तवैव मुखस्य शोभाम् ॥ ४८२ ॥

अत्र भणितविशेष उक्तिः, संविधाने सुसूत्रता श्लेष इति शब्दगुणयोः लावण्यविलासवर्णनीयरसयोश्च तुल्यकक्षतया निर्देश इति उभयप्रधानः ॥

उभयप्रधान का उदाहरण—

(अर्थ के लिये द्रष्टव्य ४।६० ॥) ॥ ४८२ ॥

यहाँ भणिति विशेष होने से उक्ति, रचना-विधान में सुन्दर सम्बन्ध होने से श्लेष है, इन दोनो शब्द गुणों का तथा वर्णनीय लावण्य और विलास रसों का समान स्तर पर निर्देश होने से उभय प्रधानता है।

आपातेति। हे आपातमात्ररसिके! सरसीरुहस्य नामश्रवणमात्रानुरागवति! वापिकायां सरसि सरसीरुहस्य कमलस्य बीजम् अर्पयितुम् आधातुं किं कथम् इच्छसि? कालः अयमिति शेषः कलिः अधर्मपूर्ण इति भावः। हे अज्ञे! निर्बोधे! इदं जगत् अकृतज्ञं कृतमुपकारं न जानातीति तथा, इदं सरसीरुहं स्थित्वा तव वापीम् अधिष्ठाय तवैवं मुखस्य शोभां श्रियं हरिष्यति चोरयिष्यति ॥ ४८२ ॥

अत्रेति। भणितिविशेषः वागविन्यासविशेषः उक्तिः तदाख्यगुणः। संविधाने सम्प्रयोगे सुसूत्रता शोभना सूचना श्लेषः तदाख्यो गुणः लावण्यमिति। लावण्यविलासाभ्यां वर्णनीययोः रसयोः शृङ्गारयोरित्यर्थः ॥

उभयाप्रधानो यथा,—

अभिनववधूरोषस्वादुः करीषतनूनपात्
असरलजनाश्लेषक्रूरस्तुषारसमीरणः।
गलितविभवस्याज्ञेवाद्य द्युतिर्मसृणा रवेः
विरहिवनितावक्त्रक्लैव्यं विभर्त्ति निशाकरः ॥ ४८३ ॥

अत्र स्वादुक्रूरमसृणवक्त्रक्लैव्यमित्यन्यधर्माणामन्यत्रारोपणं समाधिः, अभिनववधूरोषादीनां चतुर्णामप्यर्थानां स्वाद्वादीनाञ्च लक्षणादिलक्षितानां प्राकट्यं प्रसादः, अभिनववधूरोषस्वादुः करीषतनूनपात् इति विशेषणविशेष्याणाम् उपक्रमेण निर्वहणं रीतिः, पादचतुष्टये चतुर्णामर्थानां विभज्य समत्वेन निवेशः सम्मितत्वमिति चत्वारो गुणाः चत्वारश्च रत्यमर्षविषादजुगुप्सात्मानो रसाः कालावस्थानिवेदनपरत्वेन प्रतीयन्ते इत्युभयाप्रधानः ॥

उभयाप्रधान का उदाहरण—

(अर्थ हेतु द्रष्टव्य १। १८३ ॥) ॥ ४८३ ॥

यहाँ स्वादु, क्रूर, मसृण, मुख का क्लैव्य इन अन्य धर्मों का अन्यत्र आरोपण होने से समाधि है, 'अभिनववधूरोष' आदि चारों अर्थों को तथा स्वादु आदि लक्षणा आदि शक्तियों से लक्षित होने वालों की प्रकटता प्रसाद है, 'अभिनववधूरोषस्वादुः करीषतनूनपात्' इस विशेषण तथा विशेष्य के क्रम का प्रारम्भ करके उसका निर्वाह करने से रीति है, चारों पादों में चारों अर्थों का विभाजन करके समान रूप से निवेश होने से सम्मितत्व है। इस प्रकार चार ही गुण तथा चार ही रति, अमर्ष, विषाद् तथा जुगुप्सा रूप रस काल-अवस्था का निवेदन करते हुये प्रतीत होते हैं। इस प्रकार यहाँ उभयाप्रधानता है।

अभिनवेति। अद्य अस्मिन् शीतर्त्ताविति भावः। करीषतनूनपात् शुष्कगोमयाग्निः करीषं शुष्कगोमयमिति वध्वाः ज्वलनो जातवेदारतनूनपादिति चामरः। अभिनवायाः नवोढायाः वध्वाः रोषः प्रणयकोप इति यावत् तद्वत् स्वादुः सुखकर इत्यर्थः तुषारसमीरणः शीतवायुः असरलस्य क्रूरस्य जनस्य आश्लेषः आलिङ्गनं तद्वत् क्रूरः निष्ठुरः दुःसह इति यावत्। रवेः सूर्य्यस्य द्युतिः प्रभा गलितः गतः विभवः सम्पत् यस्य तथाभूतस्य निर्धनस्येत्यर्थः प्रभोरिति शेषः आज्ञेव आदेश इव मसृणा कोमला, मृद्वीत्यर्थः निर्धनस्य प्रभोराज्ञा प्रायेण न मान्यते तथा रवेः प्रभा मृदुतया अङ्गं न उत्तेजयतीति भावः। निशाकरः चन्द्रः विरहिण्याः वनितायाः स्त्रियाः वक्त्रस्य वदनस्य क्लैव्यं क्लीवतां दैन्यमिति भावः विभर्त्ति धत्तेः।

अत्रेति। लक्षणादिलक्षितानां लक्षणा मुख्यार्थबाधे अन्यार्थप्रतिपादिनी वृत्तिः उक्तञ्च दर्पणे। 'मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययान्योऽर्थः प्रतीयते। रूढेः प्रयोजनाद्वाऽसौ लक्षणाशक्तिरर्पिते'ति। आदिपदेन स्वप्नादीनां ग्रहणम्। तथा च लक्षणादिभिः लक्षितानां प्रतिपादितानामित्यर्थः। रत्यमर्षेति रतिः अमर्षः विषादः जुगुप्सा ताः आत्मानः जीवनाधायकधर्मा येषां तथाविधाः रसाः शृङ्गारवीरकरुणबीभत्साख्या इति भावः। कालावस्थानिवेदनपरत्वेनेति कालावस्थानिवेदनस्यैव प्राधान्यमिति भावः। तस्माद् उभये गुणा रसाश्चेत्यर्थः अप्रधाना ताद्दशः अत्र अयं सन्दर्भ इति शेषः॥ ४८३ ॥॥

गुणाधिको यथा,—

अजननिरस्तु विभूतेरपूरणिः भवतु सर्वकामानाम्।
मा याचिषि मा सेविषि मा सहिषि पराभवं धनिनः॥ ४८४॥

अत्र सुप्तिङ् व्युत्पत्तिः सौशब्द्यं वाक्यानां परिपूर्णत्वमर्थव्यक्तिः, अर्थस्य प्राकट्यं प्रसादः, विभूतेरनुत्पत्तौ कामाः न पूर्य्यन्ते, अपरिपूर्णकामो याचते, याचमानस्तदनाप्नुवन् धनिनः सेवते, सेवमानस्तु तैः परिभूयते इत्युत्पत्त्यादिक्रियाक्रमो रीतिः इति गुणाश्चत्वारः। रसस्तु निर्वेदः एवैक इति गुणाधिकः॥ ४८४॥

गुणाधिक का उदाहरण—

सम्पत्ति की उत्पत्ति भले ही न हो, सभी कामनाओं की पूर्ति भी भले न हो, किन्तु इन धनिकों से याचना मत करना, इनकी सेवा मत करना और इनसे तिरस्कार भी मत सहना॥ ४८४॥

यहाँ सुप् तथा तिङ् की उत्पत्ति होने से सुशब्दता, वाक्य की परिपूर्णता होने से अर्थ व्यक्ति, अर्थ की प्रकटता रूप प्रसाद, सम्पत्ति की उत्पत्ति न होने पर कामनाओं की पूर्ति नहीं हो सकती, जिसकी कामनायें पूर्ण नहीं होतीं वह याचना करता है, याचना करने वाला भी उसे न पाता हुआ धनियों की सेवा करता है, सेवा करता हुआ व्यक्ति उनके द्वारा तिरस्कृत होता है, इस प्रकार की उत्पत्ति आदि क्रिया का क्रम रीति है। यहाँ इस प्रकार गुण चार हैं। रस केवल अकेला निर्वेद ही है, इस प्रकार गुणों की अधिकता है।

अजननिरिति। विभूतेः सम्पदः अजननिः अनुत्पत्तिः अस्तु भवतु, विभूतिः नैव उत्पद्यतामित्यर्थः, सर्वे कामाः मनोरथाः तेषां अपूरणिः अपूर्णता भवतु सर्वथा कामपूरणं

न भवतु इत्यर्थः, आक्रोशे अनिप्रत्ययः धनिनः मा याचिषि धनिसमीपे याञ्चां मा कुरु, मा सेविषि धनिनां सेवां मा कुरु, धनिनः पराभवं निकारं मा सहिषि मा सहस्व। धनिन इति याचिषि सेविषि इत्येतयोः कर्मतया द्वितीयाबहुवचनान्तम्। तृतीयवाक्ये अपादानतया पञ्चम्येकवचनान्तमिति विभक्तिविपरिणामेन अन्वेतीति बोध्यम्॥ ४८४॥

अत्रेति। सुप्तिङुत्पत्तिः सुपां शाब्दीनां विभक्तीनां तिङां धातवीनां विभक्तीनाञ्च उत्पत्तिः नैपुण्येन विनियोग इत्यर्थः सौशब्द्यं सुष्ठु शब्दप्रयोगः तदाख्योगुण इति यावत्। रसस्तु निर्वेद एव निर्वेदप्रधानः शान्त इति भावः॥

रसाधिको यथा,—

कमलमनम्भसि कमले च कुवलये तानि कनकलतिकायाम्।
सा च सुकुमारसुभगेत्युत्पातपरम्परा केयम्॥४८५॥

अत्र कमलमनम्भसि कमले च कुवलये तानि कनकलतिकायाम् इत्यन्यधर्माणामन्यत्र आरोपणं समाधिः, सा च सुकुमारसुभगेत्युत्पातपरम्परा केयम् इति अश्लीलामङ्गलार्थौ दोषावपि गुणौ। श्लाघ्यविशेषणगुणयोग उदात्तत्वम्, विकटबन्धत्वम् उदारता, उपक्रमाभेदो रीतिः, अर्थप्राकट्यं प्रसादः, अनिष्ठुरता सौकुमार्य्यम्, अभीष्टतमता प्रेयः, दीप्तरसत्वं कान्तिरिति गुणा दश, रसास्तु रत्युत्कर्षहर्षधृत्युत्कण्ठावेगविस्मयवितर्कचिन्ताचपलता-हासोत्साहस्तम्भगद्गदोन्माद-व्रीडाऽवहित्थाभयशङ्काः विंशतिः वागारम्भानुभवे शृङ्गारिणः प्रियाचाटुकारस्य कस्यचित् प्रतीयन्ते इति रसाधिकः। रसालङ्कारसङ्करोऽपि एतेन व्याख्यातः॥

रसाधिक का उदाहरण—

(अर्थ हेतु द्रष्टव्य ४।१०३॥)॥ ४८५॥

यहाँ विना जल के ही कमल, कमल में दो नीलोत्पल तथा कनकलता में इन दोनों अन्य वस्तु के धर्मों का अन्यत्र आरोप होने से समाधि है, वह भी सुकुमार, सुभग इन पदों से तथा 'यह कौन उत्पातों की परम्परा है?' इसमें क्रमशः अश्लीलता तथा अमङ्गलार्थ दोष भी गुण हैं। श्लाघ्यविशेषणगुण का योग होने से उदात्तता, विकट बन्धता होने से उदारता, उपक्रम का अभेद रीति, अर्थ की प्रकटता से प्रसाद, अत्यधिक अभीष्टता होने से प्रेय, तथा रस की दीप्ति होने से कान्ति है, इस प्रकार यहाँ ये गुण दस हैं, रस तो रति, उत्कर्ष, हर्ष, धृति, उत्कण्ठा, आवेग, विस्मय, वितर्क, चिन्ता, चपलता, हास, उत्साह, स्तम्भ, गद्गद, उन्माद, व्रीडा, अवहित्था, भय तथा शंका ये बीस वाचिक चेष्टाओं का अनुभव होने पर अपनी प्रियतमा के चाटुकार किसी शृङ्गारी व्यक्ति के प्रतीत होते हैं। इस प्रकार रस की संख्या में आधिक्य है। इसी से रस तथा अलंकार का भी संकर स्पष्ट हो जाता है।

कमलमिति। अनम्भसि निर्जले देशे इति शेषः कमलं पद्मम्, कमलं च कुवलये नीलोत्पले द्वे इति शेषः। तानि कमलं कुवलये चेति त्रीणि इत्यर्थः कनकलतिकायां स्वर्णलतायाम्। सा च कनकलतिका सुकुमारा सुकोमला सुभगा सुरम्या च इत्यर्थः

इति एवं रूपेत्यर्थः का उत्पातपरम्परा उत्पातराजिः का ? कामपि नायिकां दृष्ट्वा कस्यापि कामिनः तद्वदनं पद्मं, तत्र नयने नीलोत्पले, तदङ्गं कनकलता इति अध्यासादतिशयोक्तिरलङ्कार इति बोध्यम् । केवलं वदनं कमलमित्येक उत्पातः तत्र नयने कुवलये इति द्वितीय उत्पातः, तत्सर्वं कनकलतिकारूपे अङ्गे इति तृतीय उत्पातः । तच्च कनकलतिकारूपमङ्गं सुकोमलं सुभगञ्चेति चतुर्थ उत्पातः इत्यस्या उत्पातपरम्परात्वम् । उत्पातश्च दर्शनादेव मनसो नितरां हरणेन व्यथादायकत्वधर्मादिति भावः ॥ ४८५ ॥

अत्रेत्यादि । अश्लीलामङ्गलार्थौ सुभगेत्यत्र भगशब्दोऽश्लीलार्थः उत्पातपरम्परेति शब्दः अमङ्गलार्थ इति द्वौ दोषौ अपि दोषत्वेन निर्दिष्टौ अपीत्यर्थः । गुणौ गुणरूपेण गणनीयौ इत्यर्थः । रसास्तु रसधर्मास्तु इत्यर्थः ॥

रसवन्ति हि वस्तूनि सालङ्काराणि कानिचित् ।
एकेनैव प्रयत्नेन विवर्त्यन्ते महाकवेः ॥ १७३ ॥
रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत् ।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलङ्कारः प्रकृष्यते ॥ १७४ ॥
रसभावादिविषयविवक्षाविरहे सति ।
अलङ्कारनिबन्धो यः स कविभ्यो न रोचते ॥ १७५ ॥

कुछ सरस वर्ण्यविषय अलंकारों के साथ ही महाकवि के एक ही प्रयास से सम्पन्न हो जाते हैं । रसयुक्त होने से जिस सन्दर्भ की रचना सुकर होती है, वही पृथक् रूप से विना प्रयास के ही सम्पन्न होने वाला अलङ्कार अत्यधिक प्रकृष्ट होता है । रस, भाव आदि विषयों की विवक्षा के अभाव में जो अलंकार का प्रयोग है वह कवियों को प्रिय नहीं ॥ १७३–१७५ ॥

रसेति । कानिचित् नतु सर्वाणीति भावः रसवन्ति सरसानि वस्तूनि वृत्तानि सालङ्काराणि हि अलङ्कारसहितानि एव महाकवेः एकेनैव प्रयत्नेन प्रयासेन रचनाविशेषस्येति भावः विवर्त्यन्ते सम्पाद्यन्ते विरच्यन्ते इति यावत् ॥ १७३ ॥

रसेति । रसाक्षिप्ततया रसयुक्तत्वेन यस्य सन्दर्भस्येति शेषः बन्धः विरचनं शक्या क्रिया यस्य तथाविधः सुकर इत्यर्थः भवेत्, अपृथक् यत्नेन अभिन्नेन प्रयासेन इत्यर्थः निर्वर्त्यः प्रयोज्य इति यावत्, सः अलङ्कारः प्रकृष्यते प्रकृष्टतया स्यायते इत्यर्थः रससंवलितोऽलङ्कारः प्रशस्त इति भावः ॥ १७४ ॥

रसेति । रसभावादीनां विषयः प्रतिपाद्यवस्तु इत्यर्थः तस्य विवक्षा वक्तुमिच्छा तस्या विरहे असद्भावे सति यः अलङ्कारनिबन्धः अलङ्कारसमावेशः, स कविभ्यः अनेकेभ्य इति भावः न रोचते न स्वदते कवीनां न प्रियतामेतीत्यर्थः ॥ १७५ ॥

तत्र रसालङ्कारसङ्करो द्विधा—रसप्रधानः, अलङ्कारप्रधानश्च । तयोर्योऽनुभवित्रैव वर्ण्यते सः रसप्रधानः । तत्र हि अलङ्कारवतो वाक्यस्य वागारम्भानुभावत्वं भवति ॥

इनमें रस तथा अलंकार का संकर दो प्रकार का है, रस-प्रधान तथा अलंकार-प्रधान । इन

दोनों में से जो अनुभवकर्ता के द्वारा ही वर्णित किया जाता है वह रसप्रधान है। इसमें अलंकार से युक्त वाक्य वाचिक आरम्भ रूप अनुभाव से समन्वित होता है।

स्व० वृ०—यहाँ उद्धृत की गई कारिकाएँ ध्वन्यालोक की हैं। 'रसवन्ति''महाकवेः' को स्वयं आनन्दवर्धन ने संग्रह श्लोक के रूप में ग्रहण किया है। उसके आगे भी दो कारिकायें हैं—

यमकादिनिबन्धे तु पृथग्यत्नोऽस्य जायते।
शक्तस्यापि रसेऽङ्गत्वं तस्मादेषा न विद्यते॥

रसाभासाङ्गभावस्तु यमकादेर्न वार्यते।
ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे रसाङ्गतां नोपपद्यते॥ ध्वन्या० २।१७ के पूर्व०॥

'रसाक्षिप्ततया' आदि पूरी कारिका आनन्दवर्धन की ही है (द्रष्टव्य-ध्वन्या० २।१६॥)। यहाँ भोज की मान्यतायें स्पष्ट रूप से ध्वनिकार के समान है। वह भी ऐसी ही दशा में अलंकारों को रस का अङ्ग मानते हैं, अन्यथा नहीं। वृत्ति में उनके विचार इस प्रकार हैं—

'निष्पत्तावाश्चर्यभूतोऽपि यस्यालंकारस्य रसाक्षिप्ततयैव बन्धः शक्यक्रियो भवेत् सोऽस्मिन् अलक्ष्यक्रमण्यङ्गये ध्वनावलंकारो मतः। तस्यैव रसाङ्गत्वं मुख्यमित्यर्थः।'''रसाङ्गत्वे च तस्य लक्षणमपृथग्यत्ननिर्वर्त्यत्वमिति। यो रसं बन्धमध्यवसितस्य कवेरलंकारस्तां वासनामत्यूह्य यत्नान्तरमास्थितस्य निष्पद्यते स न रसाङ्गमिति। यमके च प्रबन्धेन बुद्धिपूर्वकं क्रियमाणे नियमेनैव यत्नान्तरपरिग्रह आपतति शब्दविशेषान्वेषणरूपः॥—अलंकारान्तरेष्वपि तत्तुल्यमिति चेत् नैवम्। अलंकारान्तराणि हि निरूप्यमाणदुर्घटनान्यपि रससमाहितचेतसः प्रतिभावतः कवेरहम्पूर्विकया परापतन्ति। यथा कादम्बर्यां कादम्बरीदर्शनावसरे। यथा च मायारामदर्शनेन विह्वलायां सीतादेव्यां सेतौ।'''' ॥ पृ. १०५-७॥

तत्रेति। तयोः रसप्रधानालङ्कारप्रधानयोरित्यर्थः। अनुभवित्रा अनुभवकारिणा इत्यर्थः सामाजिकेनेति यावत्। वागारम्भेति वाचाम् आरम्भे एव अनुभावः यस्य तस्य भावः तत्त्वम्॥

तत्र रतौ उपमायाः सङ्करो यथा,—

तीए दंसणसुहए पणअक्खलणजणिओ मुहम्मि मणहरे।
रोसो वि हरइ हिअअं मिअअङ्को व्व मिअलञ्छणम्मि णिसण्णो॥४८६॥

अत्र उपमातिरस्कारेण रसवतो हरेर्वचसि वागारम्भरूपे रुक्मिणी-प्रदत्तपारिजातमञ्जरीविलोकनप्रभवं सत्यभामाया एव रोषरामणीयकं प्राधान्यतः प्रतीयते॥

इनमें रति में उपमा के संकर का उदाहरण—

उस सुन्दरी को देखने में सुन्दर, चित्ताकर्षक, मुख पर प्रणय के स्खलन से उत्पादित रोष भी चन्द्रमा में पड़े-हुये मृगरूप कलंक के सदृश हृदय हरता है॥ ४८४॥

यहाँ उपमा के तिरस्कार से रसयुक्त हरि की वाचिक चेष्टा रूप शब्दावली में रुक्मिणी को

दी गई पारिजातमञ्जरी को देखने के कारण सत्यभामा का ही कोप के कारण सौन्दर्य प्रधान रूप से प्रतीत होता है।

तस्या दर्शनसुभगे प्रणयस्खलनजनितो मुखे मनोहरे।
रोषोऽपि हरति हृदयं मृगाङ्क इव मृगलाञ्छने निषण्णः॥

तस्या इति। तस्याः कान्तायाः दर्शनसुभगे दृष्टिप्रिये मनोहरे हृदयहारिणि मुखे प्रणयस्य स्खलनेन व्यत्ययेन जनितः उत्पादितः रोषोऽपि कोपोऽपि कोपप्रकाशकभ्रूभङ्गादिकमपीत्यर्थः मृगलाञ्छने चन्द्रे निषण्णः स्थितः मृगाङ्क इव मृगरूपः कलङ्क इव हृदयं हरति प्रीणयतीत्यर्थः॥

अत्रेति। उपमायाः अलङ्कारभूतायाः तिरस्कारेण आवरणेन। रसवतः रसिकस्य हरेः कृष्णस्य। रुक्मिणीति रुक्मिण्यै प्रदत्ता या पारिजातमञ्जरी तस्या विलोकनं प्रभवः कारणं यस्य तथोक्तं रोषरामणीयकं रोषेण प्रणयकोपेन रमणीयत्वम्॥

रतावेव विपरीतोपमा यथा,—

यत् त्वन्नेत्रसमानकान्ति सलिले मग्नं तद् इन्दीवरं
मेघैरन्तरितः प्रिये! तव मुखच्छायानुकारी शशी।
योऽपि त्वद्गमनानुकारिगतयस्ते राजहंसा गताः
त्वत्सादृश्यविनोदमात्रमपि मे दैवेन न क्षम्यते॥४८७॥

अत्र विरहिणो रामस्य प्रियावयवसादृश्यदर्शनेन आत्मानं विनोदयतः उपायभ्रंशाद् अरतिप्रभवविषादवागारम्भस्वरूपाभिधाने प्रक्षीणशक्तिरप्राधान्येन उपमा प्रतीयते॥

रति में ही विपरीतोपमा का उदाहरण—

(अर्थ के लिये द्रष्टव्य ४।२१॥)॥ ४८७॥

यहाँ विरही राम के जो प्रेयसी सीता के अवयवों के सादृश्य को देखने से अपने को सन्तोष दे लेते थे, विनोद के साधनों का लोप हो जाने से अरति के कारण उत्पन्न विषाद रूप वाचिक प्रयत्नों के स्वरूप का अभिधान होने से क्षीण शक्ति वाली उपमा गौणरूप से प्रतीत होती है।

स्व० द०—यहाँ उपमेय को उपमान अथवा उपमान को उपमेय के रूप में निरूपित करने से विपरीतोपमा है। सामान्य उपमा में उपमेय तथा उपमान अपने पूर्वक्रम के ही अनुसार होते हैं।

यदिति। हे प्रिये! तव नेत्रस्य समाना सदृशी कान्तिर्यस्य तथोक्तं यत् इन्दीवरं नीलोत्पलं तत् सलिले जले मग्नं विलीनमित्यर्थः, तव मुखस्य छाया कान्तिः ताम् अनुकरोतीति तथाभूतः शशी चन्द्रः मेघैः जलदैः अन्तरितः तिरोहितः तव गमनम् अनुकरोतीति तथोक्ता गतिर्येषां तथोक्ताः ये राजहंसाः, ते गताः पृथिवीं विहाय मानसम् इति शेषः। मे मम तव सादृश्येन सदृशवस्तुदर्शनेनेति भावः यो विनोदः प्रीतिः स एव तन्मात्रं तदपि दैवेन दुर्विधिना न क्षम्यते न सह्यते॥ ४८७॥

रतावेव पर्य्यायो यथा,--

किं गुरुजहणभरोत्ति भावअदो करलग्गतुलिआए।
विहिणो खाताङ्गुलित्थाणविब्भमं वहइ से तिवली ॥ ४८८ ॥

अत्र यद्यपि रतिप्रभवेभ्यः विस्मयादिभ्यः संशयहेतूत्प्रेक्षोपमादिभ्यश्च पर्य्यायालङ्कारः प्राधान्येन प्रतीयते, तथापि असौ वागारम्भानुभाव इति रतावपि अप्राधान्यमेव अनुभूयते ॥ ४८८ ॥

रति में ही पर्याय का उदाहरण—

इस सुन्दरी की त्रिवली की तीनों रेखायें विशाल जघनों के विस्तार को देखते हुये ब्रह्मा के हाथ में स्थित तूलिका से खुदी हुई अँगुलियों के रखने की जगह की शोभा को धारण कर रही हैं ॥ ४८८ ॥

यहाँ यद्यपि रति से उत्पन्न होने वाले विस्मय आदि से तथा संशय, हेतु, उत्प्रेक्षा, उपमा आदि से पर्याय अलंकार ही प्रधानरूप से प्रतीत होता है फिर भी यह वाचिक चेष्टारूप अनुभाव ही है। इस प्रकार रति में भी अप्रधानता ही का अनुभव होता है।

किं गुरुजघनभर इति भावयतः करलग्नतूलिकया।
विधेः खाताङ्गुलिस्थानविभ्रमं वहति तस्याः त्रिवली ॥

किमिति। अस्याः कान्तायाः त्रिवली वलित्रयं विशिष्टा रेखास्तिस्र इति भावः गुरुः विशालः जघनस्य भरः आभोग इति भावयतः चिन्तयतः तदेकायत्तचित्तस्येति भावः विधेः विधातुः करलग्ना करस्थिता तूलिका चित्रोपकरणविशेषः तया खातस्य निहितस्य अङ्गुलिस्थानस्य विभ्रमं शोभां वहति जनयति किम् ? ॥ ४८८ ॥

अत्रेति। अप्राधान्यमेव अनुभवतीति प्रामादिकः पाठः अनुभूयते इति पाठः समीचीनतया प्रतिभाति।

रतावेव समाधिर्यथा,--

कृच्छ्रादूरुयुगं व्यतीत्य सुचिरं भ्रान्त्वा नितम्बस्थले
मध्येऽस्यास्त्रिवलीतरङ्गविषमे निष्पन्दतामागता।
मद्दृष्टिस्तृषितेव सम्प्रति शनैरारुह्य तुङ्गौ स्तनौ
साकांक्षं मुहुरीक्षते जलभरप्रस्यन्दिनी लोचने ॥ ४८९ ॥

अत्र वत्सराजेन स्वदृष्टौ प्राणिधर्माः समाधीयमानाः सागरिकादर्शनार्थे वागारम्भे न्यग्भवन्ति ॥

रति में ही समाधि का उदाहरण—

मेरी ये निगाहें इस सुन्दरी के दोनों जघनों को बड़ी कठिनाई से प्राप्त करके पुनः उनको छोड़ कर बड़ी देर तक नितम्बों पर भ्रमण करती रहीं। पुनः इसकी त्रिवली रूप लहरों से विषम कटिप्रदेश में आकर अत्यन्त शान्त हो गईं। उसके पश्चात् इस समय धीरे धीरे दोनों उच्च उरोजों

पर चढ़ कर एक पिपासाकुल प्राणी की भांति बड़ी उत्कण्ठा से बार बार इसके जल से परिपूर्ण झरने की भांति रसीली आंखों को देखती रहती हैं ॥ ४८९ ॥

यहाँ वत्सराज उदयन के द्वारा अपनी दृष्टि में प्राणियों के आरोपित किये जा रहे धर्म सागरिका को देखने से सम्बद्ध वाचिक चेष्टा में तिरस्कृत हो जाते हैं ।

कृच्छ्रादिति । यद्दृष्टिः मदीया दृष्टिः अस्याः रमण्याः ऊरुयुगम् ऊरुद्वयं कृच्छ्रात् क्लेशात् कृच्छ्रं प्राप्येत्यर्थः ल्यब्लोपे पञ्चमी । कृच्छ्रेणेति पाठान्तरम् । व्यतीत्य व्यतिक्रम्य विहायेत्यर्थः व्यतिक्रमे इच्छाविरहेऽपि अन्येषामङ्गानां ततोऽप्युत्कृष्टानां दर्शनाभिलाषादिति भावः सुचिरम् अतिदीर्घकालं नितम्बस्थले भ्रान्त्वा भ्रमणं कृत्वा सर्वतो निरीक्येति भावः त्रिवली एव तरङ्गः तेन विषमे दुष्पारे इति भावः मध्ये कटिदेशे निष्पन्दतां स्थिरताम् आगता प्राप्ता ततश्चलितुं नेच्छति स्मेति भावः । सम्प्रति शनैः मन्दं मन्दं तुङ्गौ उन्नतौ स्तनौ आरुह्य तृषितेव पिपासितेव उतुङ्गारोहणे श्रमातिशयात् तृषा जायत एवेति भावः । साकाङ्क्षं साभिलाषं यथा तथा जलभरेण अश्रुभरेण प्रियतमाप्राप्तिनिबन्धनेनेति भावः प्रस्यन्दिनी निर्झरिणी लोचने नयने मुहुः पुनः पुनः ईक्षते अवलोकयति ॥ ४८९ ॥

अत्रेति । प्राणिधर्माः प्राणिनः धर्माः व्यतिक्रमादयः समाधीयमानाः आरोप्यमाणाः । न्यग्भवन्ति अपकर्षेण वर्त्तन्ते इत्यर्थः ।

रतावेव अर्थश्लेषस्य यथा,—

कपोले पत्राली करतलनिरोधेन मृदिता
निपीतो निःश्वासैरयममृतह्रद्योऽधररसः ।
मुहुर्लग्नः कण्ठे तरलयति वाष्पः स्तनतटीं
प्रियो मन्युर्जातस्तव निरनुरोधे ! न तु वयम् ॥ ४९० ॥

अत्र यद्यपि आक्षेपेण वाक्योपसंहारः तथापि प्रिय इत्यादिभिः प्राधान्येन अभिधीयमानः श्लेष एव शृङ्गारिणो वागारम्भानुभावाङ्गतामङ्गीकरोति ॥

रति में ही अर्थश्लेष का उदाहरण—

हे मेरी बातों को न सुनने वाली सुन्दरि ! कपोलों पर (मेरे हाथों से) रची गई पत्राली आदि हाथों के स्पर्श से पोंछ दी गई, निश्वासों से अमृत के सदृश मनोहर अधर का रस पी लिया गया । पुनः आँसू गले से लगकर स्तनों के आभोग को सींचे दे रहा है । हाय, इस प्रकार तो यह कोप ही तुम्हारा अतिशय प्रिय हो गया है, न कि हम लोग ॥ ४९० ॥

यद्यपि यहाँ आक्षेप के द्वारा वाक्य की समाप्ति हो रही है, फिर भी 'प्रिय' आदि शब्दों के द्वारा प्रधानरूप से अभिहित होकर श्लेष ही रसिक नायक के वाचिक प्रयत्न रूप अनुभाव की अङ्गता स्वीकार करता है ।

कपोलेति । हे निरनुरोधे ! अगणितानुरोधे ! अश्रुतमद्वचने ! इति भावः, कपोले गण्डतटे पत्राली मद्विरचितेति भावः करतलनिरोधेन करतलामर्शनेनेत्यर्थः मृदिता प्रोञ्छिता ।

अयम् अमृतवत् हृद्यः मनोज्ञः अधररसः निःश्वासैः दुःखादायतैरुष्णैश्चेति भावः निपीतः नितरां शोषितः। मुहुः पुनः पुनः कण्ठे लग्नः गलितः वाष्पः अश्रुजलं स्तनतटीं तरलयति सिञ्चतीत्यर्थः, अतः तव मन्युः कोपः मान इत्यर्थः प्रियः प्रीतिकरः जातः, वयं न तु नैव प्रिया जाता इति शेषः ॥ ४९० ॥

रतावेव पर्य्यायोक्तेः यथा,—

मुक्ताः कन्धरया धृताः स्तनतटेनोत्तुङ्गता कुम्भयोः
ऊरुभ्यां परिणाहिता क्रमवती हस्तस्य पद्भ्यां गतिः।
एतद् वः करिघातिनस्तु कठिनं चर्मेव कोऽयं हठः
चण्डीति त्रिपुरारिकेलिवचनैरार्य्यास्मितं पातु वः ॥४९१॥

अत्र भगवतश्चाटूक्तिवागारम्भे देव्याः पर्य्यायवर्णना श्लेषभावं लभते। यत्र उदासीनेन वर्ण्यते सः अलङ्कारप्रधानः। स हि रसभावादेः सङ्कर-प्रकारमभिधित्सुः स्वभावोक्तिं वक्रोक्तिं वा अवलम्बते। तत्र स्वभावोक्ति-पक्षे जातिः ॥ ४९१ ॥

रति में ही पर्यायोक्ति का उदाहरण—

'हे क्रोधने, कन्धों से मुक्ताओं को तुमने धारण किया और स्तनों के द्वारा कुम्भों की ऊँचाई को, दोनों जघनों से शुण्ड की क्रममयी विशालता तथा चरणों से उसकी गति भी ले ली। (हाथी की) ये सारी वस्तुयें तो तुमने सिंह से (मंगा कर) प्राप्त करलीं, किन्तु (यह तो बताओ कि) उसके कठोर चमड़े की भांति भला तुम्हारा यह मान क्या है?' इस प्रकार से शिव को हँसा देने वाली चाटुकारिता की उक्तियों से उत्पन्न देवी गौरी की मन्द स्मिति आप लोगों की रक्षा करे ॥ ४९१ ॥

यहाँ भगवान् शिव की चाटुकारिता से भरे हुए वाचिक प्रयत्नों के होने पर देवी गौरी के पर्याय का वर्णन श्लेष के भाव को प्राप्त करता है।

जहाँ किसी उदासीन के द्वारा वर्णन किया जाता है वह अलंकार प्रधान होता है। वह रसभाव आदि की संकरता को कहने की इच्छा से स्वभावोक्ति अथवा वक्रोक्ति का अवलम्बन ग्रहण करता है। यहाँ स्वभावोक्ति के पक्ष में जाति (अलंकार) होता है।

मुक्ता इति। हे चण्डि! अतिकोपने 'चण्डस्त्वत्यन्तकोपन' इत्यमरः। कन्धरया ग्रीवया मुक्ता मौक्तिकहार इत्यर्थः। स्तनतटेन कुम्भयोः करिशिरस्थितगोलपिण्डयोः उत्तुङ्गता उन्नतता, ऊरुभ्यां हस्तस्य शुण्डस्य क्रमवती गोपुच्छाकारेति भावः परिणाहिता विशालता, पद्भ्यां चरणाभ्यां गतिः मन्दगमनमित्यर्थः धृताः गृहीताः त्वयेति सर्वत्र कर्त्तृपदमूह्यम्। वः युस्माकं गौरवे बहुत्वम्। करिघातिनः सिंहात् करिणं निहत्य आनयत इति भावः स्ववाहनादिति भावः एतत् सर्वं त्वया लब्धमिति शेषः तु किन्तु कठिनं चर्मेव तदीयमिति भावः अयं हठः बलात् मानावलम्बनमिति भावः कः? तवेति शेषः इति इत्थं त्रिपुरारेः हरस्यकेलिवचनैः परिहासकरचाटुवाक्यैः आर्य्यायाः गौर्य्याः स्मितं मानापनयनात् मृदु हसितं वः युष्मान् पातु रक्षतु ॥ ४९१ ॥

यत्रेति। उदासीनेन मध्यस्थेन रसगुणयोरिति भावः रसगुणयोर्मध्यवर्त्तितया स्थितेनेत्यर्थः। अभिधित्सुः अभिधातुमिच्छुः।

सा विधिमुखेन यथा,--

थोओसरन्तरोसं थोअपरिवड्ढमानपहरिसम्।
होइ अदूरपआसं उहअरसाअत्तविब्भन्तीअ मुहम्॥ ४९२॥

अत्र सत्यभामायाः रोषस्य अपसर्पतः प्रहर्षस्य च प्रसर्पतो येऽनुभावाः जिह्मावलोकनमुखप्रसादादयः ते इह संकीर्य्यमाणाः कविना उभयरसायत्तम् इत्यनेन यथावदवस्थिता भवन्तीति विधिमुखेन अभिधीयन्ते॥

जातिरेव निषेधमुखेन यथा,--

धीरेण माणभङ्गो माणक्खलणेण गरुअ धीरारम्भो।
उल्ललइ तुलिज्जन्ते एक्कम्मि वि से थिरं ण लग्गइ हिअअं॥४९३॥

अत्र यद्यपि हेतूपन्यासो वर्त्तते तथापि तस्य भावाख्यानपरिकरत्वेन अप्राधान्येन हृदयक्रियास्वरूपमेव इह निषेधमुखेन अभिधीयते इति इयं जातिरेव भवति॥

वह जाति ही विधिरूप से (जब होती है) उसका उदाहरण—

(सम्भोग तथा विप्रलम्भ) दोनों रसों के वशीभूत विभ्रम से संयुक्त सुन्दरी का मुख कुछ कुछ दूर हो रहे रोष से युक्त तथा कुछ कुछ लौट रहे हर्ष से समन्वित होकर उपस्थित हो रहे विकास से सुशोभित होता है॥ ४९२॥

यहाँ सत्यभामा के दूर हो रहे रोष तथा बढ़ रहे हर्ष के जो अनुभाव कुटिल दृष्टिपात तथा मुख की प्रसन्नता आदि हैं वे यहाँ सम्मिलित होकर कवि के द्वारा "उभयरसायत्तम्" इस शब्द के द्वारा नियमित रूप से अवस्थित करा दिये गये हैं, इस प्रकार ये विधिवाचक रूप में अभिहित कर दिये गये हैं।

जाति के ही निषेधात्मक रीति से (निरूपण का) उदाहरण—

धैर्य से उसका मान भङ्ग होता है तथा मान-भङ्ग से अत्यधिक धैर्य का आरम्भ। इस प्रकार एक उल्लास की तुलना होने पर भी इसका हृदय स्थिर रूप से नहीं लग रहा है॥ ४९३॥

यहाँ पर यद्यपि हेतु का उपन्यास विद्यमान है तथापि उसके स्वभाव (भाव) का परिकर के रूप में अप्रधान भाव से हृदय की क्रिया का स्वरूप ही यहाँ निषेध की रीति से अभिहित हो रहा है। इस प्रकार यह भी जाति ही होती है।

स्तोकापसरद्रोषं स्तोकपरिवर्धमानप्रहर्षम्।
भवति अदूरप्रकाशं उभयरसायत्तविभ्रमवत्या मुखम्॥ ४९२॥

[धैर्येण मानभङ्गो मानस्खलनेन गुरुकधैर्यारम्भः।
उल्लसति तोल्यमाने एकस्मिन्नप्यस्याः स्थिरं न लगति हृदयम्]॥ ४९३॥

स्तोकेति। उभौरसौ सम्भोगविप्रलम्भाख्यावित्यर्थः तयोः आयत्तः अधीनः उभयप्रकाशक इति भावः यो विभ्रमः स विद्यतेऽस्या इति तथाभूतायाः कान्तायाः मुखं स्तोकेन अल्पेनैवेत्यर्थः अपसरन् अपगच्छन् रोषः कोपचिह्नमिति भावः यस्मात् तथोक्तं स्तोकेन अल्पेनैव परिवर्त्तमानः जायमानः प्रहर्षः प्रफुल्लता यस्य तथाविधम् अतएव अदूरः सन्निहितः प्रकाशः विकासो यस्य तथाभूतं भवति ॥ ४९२-४९३ ॥

सैव विधिनिषेधाभ्यां यथा,—

हेलोदस्तमहीधरस्य तनुतामालोक्य दोष्णो हरेः
हस्तेनांसत एव लम्बचरणावारोप्य तत्पादयोः।
शैलोद्धारसहायतां जिगमिषोरस्पृष्टगोवर्द्धनाः,
राधायाः सुचिरं जयन्ति गगने बन्ध्याः करभ्रान्तयः ॥४९४॥

अत्र, राधायाः प्रेयसि हरौ यथावदवस्थिता अद्भुतवृत्तिस्नेहशङ्कोत्साहाः मिथः सङ्कीर्य्यमाणाः, भयावेगस्मृतिमतिवितर्कादिभिः व्यभिचारिभावैः आलम्बनचरणाक्रमणसहकृतायां करभ्रान्तौ शरीरारम्भानुभावे प्रतीयमानाः अस्पृष्टगोवर्द्धनाः बन्ध्याः इति निषेधमुखेन, जयन्ति इति विधिमुखेन च अभिधीयन्ते ॥ वक्रोक्तिपक्षे उपमादयः ॥

विधि तथा निषेध के द्वारा उसी (जाति) के निरूपण का उदाहरण—

अनायास ही गोवर्धन पर्वत को उठाने वाले कृष्ण की भुजाओं की दुर्बलता को देख कर अपने हाथों से उनके कंधों का आलम्बन करके तथा उनके चरणों से अपने चरणों को आरोपित करके पर्वत को उठाने में सहायता करने की इच्छुक राधा की गोवर्धन को न छू पाने वाली तथा निष्फल हाथों की चमक आकाश में अत्यधिक देर तक सुशोभित होती है ॥ ४९४ ॥

यहाँ राधा के प्रियतम कृष्ण पर यथाविधि अवस्थित आश्चर्य भाव, स्नेह, शंका तथा उत्साह एक साथ मिलकर भय, आवेग, स्मृति, मति, वितर्क आदि व्यभिचारी भावों के साथ आलम्बन तथा चरणों के आक्रमण से सहकृत करभ्रमण होने पर शारीरिक प्रयास रूप अनुभावों के होने पर प्रतीत होते हुए 'अस्पृष्टगोवर्धनाः' 'बन्ध्याः' आदि से निषेधात्मिका रीति से तथा 'जयन्ति' इस पद से विध्यात्मक रीति से अभिहित किये जा रहे हैं। वक्रोक्ति के पक्ष में उपमा आदि होते हैं।

हेलेति। हेलया अवलीलया अनायासेनेत्यर्थः उदस्तः उद्धृतः उत्थापित इत्यर्थः महीधरः गोवर्द्धनाख्यो गिरिर्येन तथाभूतस्य हरेः कृष्णस्य दोष्णः भुजस्य तनुतां क्षुद्रताम् आलोक्य दृष्ट्वा अथानन्तरं हस्तेन अंसं स्कन्धं तदीयमिति भावः आलम्बय धृत्वा तस्य हरेः पादयोः चरणौ पादौ निजाविति भावः आरोप्य संस्थाप्य शैलोद्धारस्य पर्वतोत्तोलनस्य सहायतां जिगमिषोः गन्तुमिच्छोः साहाय्यं कर्त्तुमिच्छोरित्यर्थः राधायाः अस्पृष्टगोवर्द्धनाः ऊर्द्धोत्तोलनात् गोवर्द्धनास्पर्शिन्य इत्यर्थः बन्ध्याः विफला विफलप्रयत्ना इति यावत् गगने आकाशे करभ्रान्तयः पाणिप्रसारा इत्यर्थः सुचिरं जयन्ति कौतुकं विदधतु इत्यर्थः ॥ ४९४ ॥

तेषु उपमा यथा,—

चोरा सभअसतङ्कं पुणो पुणो पेसअन्ति दिट्ठीओ ।
अहिरक्खिअणिहिकलसेव्व पोढमहिलाथणुच्छङ्गे ॥ ४९५ ॥

अत्र चौरगतभयानुरागयोः सङ्करस्वभावोक्तिमतिभूय उत्तरार्द्धगतौपम्यं प्राधान्येन प्रतीयते ॥

इनमें से उपमा का उदाहरण—

पूर्णतः सुरक्षित अथवा सर्पों से रक्षित किये गये धन से भरे हुए घड़े की भाँति प्रौढ़ महिलाओं के उच्च उरोजों पर बार बार बड़ी भय तथा लालच के साथ अपनी निगाहें डालते हैं ॥ ४९५ ॥

यहाँ चोर में विद्यमान भय तथा प्रेम के संकरभाव की उक्ति का अतिक्रमण करके उत्तरार्धगत औपम्य प्रधानरूप से प्रतीत हो रहा है ।

चोराः समयसतृष्णं पुनः पुनः प्रेषयन्ति दृष्टीः ।
अहिरक्षितनिधिकलसे इव प्रौढ़महिलास्तनोत्सङ्गे ॥ ४९५ ॥

चोरा इति । चौरास्तस्कराः अहिभिः भुजङ्गैः रक्षितः पालितः निधिकलसः रत्नकुम्भः तस्मिन्निव प्रौढायाः महिलायाः नार्य्याः स्तनोत्सङ्गे स्तनतटे सभयसतृष्णं यथा तथा पुनः पुनः दृष्टीः नयनानि प्रेषयन्ति निक्षिपन्ति ॥ ४९५ ॥

उपमैव रसाभाससङ्करविषया यथा,—

एकेनार्कं प्रविततरुषा पाटलेनास्तसंस्थं
पश्यत्यक्ष्णा सजलतरलेनापरेणात्मकान्तम् ।
अह्नश्छेदे दयितविरहाशङ्किनी चक्रवाकी
द्वौ सङ्कीर्णौ रचयति रसौ नर्त्तकीव प्रगल्भा ॥ ४९६ ॥

अत्र निगदेनैव व्याख्याते स्पष्टतयैव उपमायाः प्रधानत्वेन प्रतीतिः ॥

रसाभास की संकरता विषयक उपमा का ही उदाहरण—

दिन के अस्त होने के समय एक अत्यन्त क्रोध से भरी हुई लाल लाल आँख से अस्त हो रहे सूर्य को और आँसुओं से भरे होने के कारण चञ्चल दूसरी आँख से अपने प्रिय को चक्रवाकी देखती है । इस प्रकार वह अपने प्रियतम के विरह की शंका कर रही चक्रवाकी चतुर नर्तकी की भांति मिल रहे (रौद्र तथा शृङ्गार) दो रसों की सृष्टि करती है ॥ ४९६ ॥

यहाँ शब्द मात्र से ही कथन हो जाने से स्पष्ट रूप से ही उपमा की प्रधानभाव से प्रतीति हो रही है ॥

एकेनेति । अह्नः दिवसस्य छेदे अवसाने दयितस्य प्रियस्य विरहम् आशङ्कते इति तथोक्ता चक्रवाकी प्रगल्भा प्रौढ़ा नर्त्तकीव प्रविततया प्रकटिता रुट् रोषः येन तथाभूतेन अतएव पाटलेन रक्तवर्णेन एकेन अक्ष्णा चक्षुषा अस्तसंस्थम् अस्ताचलं गच्छन्तमित्यर्थः अर्कं रविं, सजलतरलेन सबाष्पचञ्चलेन अपरेण अक्ष्णा आत्मनः कान्तं प्रियं पश्यन्ती अवलोकयन्ती सती द्वौ सङ्कीर्णौ सम्मिश्रौ रसौ शृङ्गाररौद्राविति भावः रचयति प्रकट-

यति। रात्रौ चक्रवाकयोर्विरहः रामशापात् प्रसिद्धः। प्रौढाया नर्त्तक्या रात्रौ नर्त्तनव्यापारप्रसङ्गात् कान्तविरह इति भावः ॥ ४९६ ॥

अत्रेति। निगदेन शब्दमात्रेण।

रसप्रशमयोरुपमासहोक्तिः यथा,—

दृष्टे लोचनवर्त्मना मुकुलितं पार्श्वस्थिते चक्रवत्
न्यग्भूतं बहिरासितं पुलकवत् तत्स्पर्शमातन्वति।
नीवीबन्धवदागतं शिथिलतामाभाषमाणे ततो
मानेनापगतं ह्रियेव सुतनोरंघ्रिस्पृशि प्रेयसि ॥ ४९७ ॥

अत्र कस्याश्चित् सखीविख्यातमानसंविधानकोपात् मानवत्याः प्रियसंदर्शनात् आलम्बनविभावाद् उत्पन्नप्रकृष्टरतिप्रभवप्रहर्षस्थायिभावे तत्पार्श्वोपसर्पणादिभिः उद्दीपनविभावैः उद्दीप्यमानेषु पुलकादिषु समुत्पद्यमानेषु व्यभिचारिषु नयननिमीलनाधोमुख्यनीवीविश्रंसनादिभिः अनुभावैः प्रकर्षणारोपणाद् आनन्दरसतामापाद्यमाने स्थायिनि प्रबलविरोधिभावान्तरोदयाद् एतेभ्यः एव कारणेभ्यः प्रतिक्षणमपचीयमानयोः लज्जारोषयोः प्रशमसङ्करावभिभूय प्राधान्येन उपमासहोक्तिः सङ्कीर्य्यते ॥ श्लेषाद्यलङ्कारसङ्करात् तु क्वचिदवास्तवमपि रसाभाससङ्करं कवयः कल्पयन्ति ॥

रस तथा भावप्रशम में उपमासहोक्ति की उपस्थिति का उदाहरण—

(अर्थ हेतु द्रष्टव्य ५।१५ ॥) ॥ ४९७ ॥

यहाँ किसी सखी के द्वारा विशेष रूप से कहने पर मान करने के कारण हुये कोप से मान की हुई सुन्दरी का प्रियतम के दर्शन रूप आलम्बन विभाव से उत्पन्न प्रकृष्ट रति के कारण स्वरूप-प्रहर्षनाम स्थायीभाव के होने पर, उसके समीप गमन आदि उद्दीपन विभावों से उद्दीप्त होने पर, पुलक आदि व्यभिचारियों के सम्यक् रूप से उत्पन्न होने पर, नयन-निमीलन अधोमुखता, नीवी का खिसकना आदि अनुभावों के द्वारा प्रकर्ष का आरोप करने से आनन्दरूप रस के रूप में स्थायीभाव के रस के रूप में निष्पन्न हो जाने से, अत्यन्त विरोधी दूसरे भाव के उत्पन्न हो जाने से इन्हीं कारणों से प्रतिक्षण क्षीण हो रहे लज्जा तथा रोष के प्रशम और संकर को अभिभूत करके उपमासहोक्ति प्रधानरूप से प्रकाशित होती है।

कवि लोग श्लेष आदि अलंकारों से तो कहीं कहीं अवास्तविक रूप से (न विद्यमान रहने वाले) रसाभास के संकर की कल्पना करते है।

दृष्टे इति। प्रेयसि प्रियतमे दृष्टे दर्शनपथं गते सति सुतनोः सुन्दर्य्याः कान्तायाः मानेन प्रणयकोपेन लोचनवत् नयनेनेव मनाक् ईषत् मुकुलितं निमीलितम्। पार्श्वस्थिते पार्श्ववर्त्तिनि सति चक्रवत् चक्रेणेव न्यग्भूतम् एकांशतः पतितम् स्पर्शम् अङ्गस्येति शेषः समातन्वति कुर्वति सति पुलकवत् पुलकेनेव बहिरासितं बहिः स्थितम्, आभाषमाणे आलपति सति नीवीबन्धवत् नीवीबन्धेनेव शिथिलताम् आगतं प्राप्तं, ततः अनन्तरम् अङ्घ्रिस्पृशि चरणतलगते इत्यर्थः सेति ह्रियेव लज्जयेव अपगतम् पलायितम्। सर्वत्र

भावे क्तप्रत्ययः । अत्रेति । सख्यीति । सख्या विख्यातं कथितं यत् मानस्य संविधानं सम्यक् कौशलमिति यावत् तेन कोपः क्रोधः तस्मात् ॥ ४९७ ॥

स रूपकश्लेषेण यथा,--

राममन्मथशरेण ताडिता दुःसहेन हृदये निशाचरी ।
गन्धवद्रुधिरचन्दनोक्षिता जीवितेशवसतिं जगाम सा ॥ ४९८ ॥

अत्र बीभत्सो रसः श्लेषरूपकसामर्थ्यात् अविद्यमानेनापि शृङ्गाररसेन सङ्कीर्ण इव प्रतीयते ॥ ४९८ ॥

उस रसाभास के संकर की रूपक तथा श्लेष के द्वारा (कल्पना) का उदाहरण—

राम रूपी कामदेव के असह्य बाण से हृदय पर मारी गई वह राक्षसी सुगन्धित रक्त रूपी चन्दन से लिप्त होकर यमराज के नगर को चली गई ॥ ४९८ ॥

यहाँ बीभत्स रस श्लेष तथा रूपक की सामर्थ्य से शृङ्गार रस के विद्यमान न होने पर भी संकीर्ण सा प्रतीत होता है ।

रामेति । सा निशाचरी राक्षसी ताड़का दुःसहेन सोढुमशक्येन राम एव मन्मथः कामः तस्य शरः तेन ताड़िता प्रहता प्रविद्धेत्यर्थः गन्धवता सौरभशालिना रुधिरेण रक्तेन चन्दनेनेव उक्षिता सिक्ता प्रलिप्तेति यावत् सती जीवितेशस्य यमस्य कान्तस्य च वसतिं जगाम प्राप ॥

श्लेषानुविद्धार्थान्तिरन्यासेन यथा,--

दट्ठोट्ठ हो असिलअघाओ
देवि मउलावइ लोअणभउहो वे वि ।
सुपओहरकुवलअपत्तलच्छि
कह मोह ण जणइ ण लग्गवच्छि ॥ ४९९ ॥

अत्र वीरो रसः श्लेषसामर्थ्यात् अविद्यमानेनापि विप्रलम्भशृङ्गारेण सङ्कीर्य्यते ॥ ४९९ ॥

श्लेष से अनुविद्ध अर्थान्तरन्यास के साथ (रसाभास) का उदाहरण—

अरे, ओष्ठों को दबाकर, किया गया खड्ग प्रहार, हे देवि, तुम्हारी दोनों ही आँखों की भौंहों को मुकुलित कर देता है । फिर अच्छी तरह से रक्षा करने वाले योधाओं को प्रदान करने वाली पृथ्वीमण्डल की लक्ष्मी हृदय से लगकर कैसे मोह नहीं उत्पन्न करती ॥ ४९९ ॥

(विप्रलम्भ शृङ्गार परक अर्थ)—हे अधरामृत का पान करने वाले भोगी, (तुम्हारी प्राणसमा प्रेयसी का) असि के आकार का वक्र नखच्छेद भी तुम्हारी दोनों भौंहों को मुकुलित कर देता है । फिर भला सुन्दर उरोजों से संयुक्त तथा नीलोत्पल दल की भांति सुन्दर नयनों वाली वह सुन्दरी तुम्हारे सीने से न लगने पर कैसे मोह नहीं उत्पन्न करेगी ?

यहाँ वीर रस श्लेष की शक्ति से विद्यमान न रहने पर भी विप्रलम्भ शृङ्गार से सम्मिलित हो रहा है ।

[छाया—दष्टौष्ठ हो असिलताघातो देवि मुकुलयति लोचनभ्रुवौ द्वे अपि ।
सुपयोधरकुवलयपत्रलक्ष्मीः कथं मोहं न जनयति न लग्ना वक्षसि] ॥ ४९९ ॥

श्लेषोपमा यथा,—

क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोऽंशुकान्तं
गृह्णन् केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः सम्भ्रमेण ।
आलिङ्गन् योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साश्रुनेत्रोत्पलाभिः
कामीवार्द्रापराधः स हरतु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निः ॥ ५०० ॥

अत्र करुणो रसः श्लेषोपमासामर्थ्येन अविद्यमानेनापि विप्रलम्भशृङ्गारेण सङ्कीर्य्यते ॥

श्लेषोपमा का उदाहरण—

(अर्थ हेतु द्रष्टव्य १।१८९ ॥) ॥ ५०० ॥

यहाँ करुणरस श्लेष तथा उपमा की शक्ति से विद्यमान न रहने पर भी विप्रलम्भशृङ्गार के साथ संकीर्ण हो रहा है ।

क्षिप्त इति । साश्रुनेत्रोत्पलाभिः सवाष्पनयननीलोत्पलाभिः भयेन मानेन चेति भावः त्रिपुरयुवतिभिः त्रिपुराङ्गनाभिः यः आर्द्रः अभिनवः अपराधो यस्य तथाभूतः नूतनकृतापराधः इत्यर्थः कामीव कान्त इव हस्तावलग्नः धृतहस्त इत्यर्थः क्षिप्तः निराकृतः । प्रसभं बलात् अभिहतः प्रतिहतः निर्वापयितुं चेष्टित इति यावत् ताडितश्च, अपि अंशुकान्तं वसनाञ्चलम् आददानः गृह्णन् केशेषु गृह्णन् लगन् दधानश्च अपास्तः दूरं क्षिप्तः । चरणपतितः धृतपदतल इत्यर्थः सम्भ्रमेण भयेन गौरवेण च न ईक्षितः नावलोकितः आलिङ्गन् अङ्केषु लगन् आश्लिष्यंश्च अवधूतः अपविद्धः, सः शम्भोरयं शाम्भवः शराग्निः बाणानलः त्रिपुरासुराणां विध्वंसनाय प्रयुक्त इति भावः, वः युष्माकं दुरितं पापं हरतु नाशयतु ॥ ५०० ॥

श्लेषव्यतिरेकेण यथा,—

पद्भ्यामूरुयुगं विभज्य भुजयोर्मध्यं निपीड्योरसा
पार्श्वेषु प्रसभं प्रहृत्य नखरैर्दन्तैर्विलुप्याधरम् ।
सुप्तानप्यवबोध्य युष्मदहितान् भूयोऽपि भुंक्ते वने
किं कान्ता सुरतैषिणी ? न हि न हि व्याघ्री करालानना ॥ ५०१ ॥

इह श्लेषसामर्थ्यात् अपारमार्थिकी शृङ्गारप्रतीतिः पारमार्थिकेन बीभत्सरसेन व्यावर्त्तमाना तद्धर्माणां मिथः संसर्गबुद्धिमुत्पादयति ॥

श्लेष तथा व्यतिरेक के साथ (रसाभास का) उदाहरण—

यह वन में रमण की इच्छा वाली सुन्दरी है क्या जो सो रहे भी तुम्हारे शत्रुओं को जगा जगा कर दोनों चरणों से दोनों जाँघों को पृथक् करके, वक्षस्थल को वक्षस्थल से दबाकर, नाखूनों से बगलों पर हठात् प्रहार करके, दान्तों से अधरों को दंशित करके, बार बार भोग कर रही है ? नहीं, यह तो भयङ्कर मुख को फैलाये हुई व्याघ्री है जो अपने दोनों चरणों से दोनों जाँघों को

फाड़ कर, अपनी छाती से उनकी छाती को दबोच कर, दोनों बगलों में बलपूर्वक अपने नाखूनों से प्रहार करके, दान्तों से होठों को काट कर वन में तुम्हारे सोये हुये शत्रुओं को जगा जगाकर बार बार उनको खाती जा रही है ॥ ५०१ ॥

यहाँ श्लेष की शक्ति से अवास्तविक रूप से होने वाली शृङ्गार की प्रतीति वास्तविक रूप से विद्यमान रहने वाले बीभत्सरस से व्याहत होकर बीभत्स के धर्मों की परस्पर संसर्ग-भावना को उत्पन्न करती है।

पद्भ्यामिति। वने अरण्ये सुरतम् इच्छतीति सुरतैषिणी सुष्ठु रमणाभिलाषिणी कांता सुप्तानपि निद्रितानपि युष्माकम् अहितात् शत्रून् युष्माभिर्निर्वासितानिति भावः अवबोध्य जागरयित्वा पद्भ्यां चरणाभ्याम् ऊरुयुगम् ऊरुद्वयं विभज्य पृथक्कृत्य भग्नं कृत्वा च इत्यर्थः भुजयोर्मध्यं वक्षस्थलमित्यर्थः उरसा वक्षसा नखरेण च निपीड्य सुदृढमाश्लिष्य विदार्य चेत्यर्थः नखरैः पार्श्वेषु पार्श्वदेशेषु प्रसभं सबलात्कारं यथा तथा प्रहृत्य उभयत्र समानम्। दन्तैः अधरं विलुप्य विदश्य छित्त्वा चेत्यर्थः भूयोऽपि पुनः पुनरपि भुङ्क्ते रमयति किम्? नहि नहि नैव नैव। करालानना भीषणवदना व्याघ्री भुङ्क्ते खादतीत्यर्थः। अत्र राजविषया रतिर्भाव इति बोध्यम् ॥ ५०१ ॥

अत्रेति। अपारमार्थिकी अवास्तवी पारमार्थिकेन वास्तवेन। व्यावर्त्यमाना व्याहन्यमाना। तद्धर्माणां बीभत्सधर्माणाम् ॥

श्लेषरूपकेण यथा,—

अन्त्रैः कल्पितमङ्गलप्रतिसराः स्त्रीहस्तरक्तोत्पल-
व्यक्तोत्तंसभृतः पिनह्य सहसा हृत्पुण्डरीकस्रजः।
एताः शोणितपङ्ककुङ्कुमजुषः सम्भूय कान्तैः पिब-
न्त्यस्थिस्नेहसुराः कपालचषकैः प्रीताः पिशाचाङ्गनाः ॥५०२॥

अत्र बीभत्सो रसः शब्दसामर्थ्याक्षिप्तेन शृङ्गाराभासेन सङ्कीर्यते ॥

श्लेष और रूपक के कारण (रसाभास का) उदाहरण—

(अर्थादि के लिए द्रष्टव्य १।१५१ ॥) ॥ ५०२ ॥

यहाँ बीभत्स रस शब्द की सामर्थ्य से आक्षिप्त हो रहे शृङ्गाराभास के साथ संकीर्ण हो रहा है।

अन्त्रैरिति। एताः पिशाचाङ्गनाः पिशाचा देवयोनिविशेषाः तेषां अङ्गनाः स्त्रियः प्रीताः प्रहृष्टाः अन्त्रैः प्रेतानां कुक्ष्यन्तर्गतनाड़ीभिरित्यर्थः कल्पितः रचितः मङ्गलप्रतिसरः माङ्गलिकं हस्तसूत्रं याभिः ताः स्त्रीणां प्रेतीभूतानामिति भावः हस्ताः करा एव रक्तोत्पलानि तैः व्यक्ताः विरचिता उत्तंसाः कर्णालङ्कारविशेषतसन् बिभ्रतीति तथोक्ताः शोणितानां पङ्काः कर्दमीभूतानि रक्तानीति भावः ते ते एव कुङ्कुमाः तान् जुषन्ति सेवन्ते इति तथाभूताः शोणितकुङ्कुमरञ्जिताश्च इति भावः सत्यः हृत्पुण्डरीकाणां मृतहृत्पद्मानां स्रजः मालाः [पिनह्य परिधाय सहसा कान्तैः प्रियैः पिशाचैः सम्भूय सङ्कल्प्य कपालाः प्रेतशिरोऽस्थीनि एव चषकाः पानपात्राणि तैः अस्थिस्नेहाः अस्थ्नामन्तर्गतानि मेदांसि एव सुराः मदिराः ताः पिबन्ति ॥ ५०२ ॥

समाधिरूपकेण यथा,--

शिखण्डे खण्डेन्दुः शशिदिनकरौ कर्णयुगले
दृशस्तारास्ताराश्चलमुडुपचक्रञ्च कुचयोः ।
तडित् काञ्ची सन्ध्या सिचयरुचयः कालि ! तदयं
तवाकल्पः कल्पव्युपरमविधेयो विजयते ॥ ५०३ ॥

अत्र भयानको रसः समाधिरूपकाद्युपकल्पिताकल्परामणीयकाक्षिप्तेन शृङ्गाराभासेन सङ्कीर्य्यमाणः श्रोतुः प्रेयोरसाङ्गतां गच्छन् सङ्गच्छते । एवमियमनेकप्रकारसंसृष्टिः गुणालङ्कारसङ्करप्रभवा अभिमन्तव्या । तत्रापि प्रधानाङ्गभावेन समकक्षतया च व्यक्ताव्यक्तोभयात्मकरूपाः तिलतण्डुल-क्षीरजलच्छायादर्शकादयो भेदाः यथायोग्यमवगन्तव्याः । ते किं वक्तव्याः ? न वक्तव्याः, कथम् ? अनुक्ताः गम्यन्ते, उक्तेष्वेवान्तर्भावात् । तद् यथा,-- अर्थोभयालङ्काराभिधाने 'खं वस्ते' इति 'चर्चां पारयति' इति विभक्तिमुद्रा, 'कलविङ्ककण्ठमलिनं कादम्बिनीकम्बलम्' इति पदमुद्रा च, शब्दालङ्कारा-वपि संकीर्य्यमाणौ प्रतीयेते । एवमन्यत्रापि--

समाधि तथा रूपक के कारण रसाभास का उदाहरण--

हे कालि, कल्प की समाप्ति होने के समय करणीय चूडा में चन्द्रकला, दोनों कानों में चन्द्रमा तथा सूर्य, नेत्रों की बड़ी बड़ी पुतलियाँ तारे, दोनों उरोजों पर चन्द्रों का समूह, करधनी के स्थान पर बिजली, वस्त्रों की कान्ति के लिये संध्या यही तुम्हारे भूषण सर्वोत्कृष्ट हैं ॥५०३॥

यहाँ भयानक रस समाधि तथा रूपक आदि से निष्पन्न कल्प पर्यन्त आभूषणों से आक्षिप्त शृङ्गाराभास से संकीर्ण होता हुआ, श्रोता के प्रेयोरस की अङ्गता को प्राप्त होता हुआ उपयुक्त बन रहा है। इस प्रकार यह अनेक प्रकार की संसृष्टि है जिसे गुण तथा अलंकार के संकर से उत्पन्न मानना चाहिए। वहाँ भी प्रधान तथा अङ्ग भाव से और समान स्तर से व्यक्त, अव्यक्त तथा उभयरूप वाले तिलतण्डुल, क्षीरनीर, छायादर्श आदि भेद नियमानुसार समझे जाने चाहिये। "क्या उनका भी अभिधान करना चाहिये ?" "नहीं करना चाहिए", "कैसे ?" "विना कहे ही उनका भी ज्ञान हो जाता है, (क्योंकि) पूर्वनिरूपित भेदों में ही उनका अन्तर्भाव हो जाता है। वह इस प्रकार से होगा—अर्थालंकार तथा उभयालंकार का अभिधान करने पर 'खं वस्ते' इसमें तथा 'चर्चां पारयति' में विभक्तिमुद्रा और "कलविङ्ककण्ठमलिनं कादम्बिनीकम्बलम्' यह पदमुद्रा नामक दोनों शब्दालंकार भी संकीर्ण होते हुये प्रतीत हो रहे हैं। इसी प्रकार की बात दूसरी जगह भी मिलती है—

शिखण्डे इति। हे कालि ! शिखण्डे चूडायां खण्डेन्दुः अर्द्धचन्द्रः कर्णयुगले श्रोत्रयुग्मे शशिदिवाकरौ चन्द्रसूर्य्यौ, दृशः नेत्राणि तारा: महत्यः तारा: नक्षत्राणि, कुचयोः स्तनयोः चलं चञ्चलम् उडुपचक्रं चन्द्रसमूहः; काञ्ची रसना तडित् विद्युत्, सिचयरुचयः वसन-कान्तयः सन्ध्या, तत् तस्मात् कल्पस्य व्युपरमः प्रलयकालः तस्मिन् विधेयः कल्पनीयः तव अयं प्रागुक्तरूपः आकल्पः भूषणं विजयते सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते ॥ ५०३ ॥

अत्रेति। ते किं वक्तव्याः अभिधातव्याः? अनुक्ता अकथिताः गम्यन्ते बुध्यन्ते उक्तेष्वेव भेदेष्विति यावत्।

अङ्गाङ्गिभावावस्थानं सर्वेषां समकक्षता।
इत्यलङ्कारसंसृष्टेः लक्षणीया द्वयी गतिः॥ १७६॥

"सभी अलंकारों की गुणप्रधानभाव से स्थिति तथा तुल्यबलता वाली स्थिति ये संसृष्टि अलंकार के दो प्रकार समझें जाने चाहिये॥ १७६॥

अङ्गेति। सर्वेषाम् अलङ्काराणाम् अङ्गाङ्गिभावेन गुणप्रधानभावेन अवस्थानं स्थितिः तथा समकक्षता तुल्यबलता इति अलङ्कारसंसृष्टेः द्वयी द्वयवयवा इत्यर्थः गतिः प्रकारः लक्षणीया अनुभवनीया॥ १७६॥

तत्र अङ्गाङ्गिभावेन अवस्थानं यथा,—

आक्षिपन्त्यरविन्दानि मुग्धे! तव मुखश्रियम्।
कोषदण्डसमग्राणां किमेषामस्ति दुष्करम्?॥ ५०४॥

अत्र 'अरविन्दानि मुग्धे! तव मुखश्रियमाक्षिपन्ति' इत्युपमा, 'कोषदण्डसमग्राणां किमेषामस्ति दुष्करम्' इति श्लेषोपसर्जनार्थान्तरन्यासः, प्रभवन्ति च अरविन्दानि कोषदण्डसमग्राणि तेन तेषां न किञ्चिदशक्यमस्ति कोषदण्डयोर्विजयसाधनत्वात्। एतेन श्लेषस्य साधनमानभूतार्थसमर्थकत्वात् उपमायास्तु प्रस्तुतसाध्यवस्तुविशेषकत्वात् अर्थान्तरन्यासं प्रति अङ्गभावो विज्ञायते।

इनमें से अङ्गाङ्गिभाव से अवस्थान का उदाहरण—

(अर्थादि के लिए द्रष्टव्य १।१५२॥)॥ ५०४॥

यहाँ "हे बाले, ये कमल तुम्हारे मुख की छटा को हर ले रहे हैं", इसमें उपमा है, "कोष तथा दण्ड से सम्पूर्ण इन कमलों (तथा राजाओं) के लिये भला असाध्य क्या है?" इसमें श्लेष से समर्पित अर्थान्तरन्यास हैं। 'कोष तथा दण्ड से संयुक्त कमल अत्यधिक प्रभानशाली हैं, उनको कोई कार्य असम्भव नहीं है, क्योंकि कोष तथा दण्ड दोनों ही विजय के साधन है। इससे श्लेष की साधन तथा माप रूप सिद्ध अर्थ का समर्थन करने से और उपमा की प्रस्तुत साध्य वस्तु की विशेषता बतलाने से अर्थान्तरन्यास के प्रति अङ्गभाव ज्ञात हो रहा है।

स्व० द०—यहाँ पर प्रमाणरूप से उद्धृत "अङ्गाङ्गिभाव०" आदि कारिका काव्यादर्श (२।३६०) की है। जिस उदाहरण का उल्लेख है, वह भी वहीं (काव्यादर्श २।३६१) का है। उसका रूप इस प्रकार है—

आक्षिपन्त्यरविन्दानि मुग्धे तव मुखश्रियम्।
कोषदण्डसमग्राणां किमेषामस्ति दुष्करम्॥

यह श्लोक भोज द्वारा सरस्वतीकण्ठाभरण (१।१५२॥) में भी उद्धृत है।

भोज ने जिन दो अवस्थाओं में संसृष्टि को स्वीकार किया है, उनमें आधुनिक आचार्य संसृष्टि तथा संकर इन दो अलंकारों को पृथक् पृथक् रूप से स्वीकार करते हैं।

आचार्य मम्मट के अनुसार—

"सेष्टा संसृष्टिरेतेषां भेदेन यदिह स्थितिः ॥ १३९ ॥

एतेषां समनन्तरमेवोक्तस्वरूपाणां यथासम्भवमन्योन्यनिरपेक्षतया यदेकत्र शब्दभागे एव, अर्थविषये एव, उभयत्रापि वा अवस्थानं सा एकार्थसमवायस्वभावा संसृष्टिः।".....

"अविश्रान्तिजुषामात्मन्यङ्गाङ्गित्वं तु संकरः। १४० अ)

एते एव यत्रात्मनि अनासादितस्वतन्त्रभावाः परस्परमनुग्राह्यानुग्राहकतां दधति स एषां संकीर्यमाणस्वरूपत्वात् संकरः।".....

एकस्य च ग्रहे न्यायदोषाभावादनिश्चयः ॥ १४० ॥
स्फुटमेकत्र विषये शब्दार्थालंकृतिद्वयम्।
व्यवस्थितं च, तेनासौ त्रिरूपः परिकीर्त्तितः ॥ १४१ ॥

तदयं (१) अनुग्राह्यानुग्राहकतया (२) सन्देहेन (३) एकपदप्रतिपाद्यतया च व्यवस्थितत्वात् त्रिप्रकार एव संकरो व्याकृतः। प्रकारान्तरेण तु न शक्यो व्याकर्तुम् आनन्त्यात् तत्प्रभेदानामिति ॥ काव्यप्रकाशः दशमउल्लासः ॥

आलंकारिक जयदेव आदि संसृष्टि तथा संकर को अलग अलंकार के रूप में मानते ही नहीं।

शुद्धिरेकप्रधानत्वं तथा संसृष्टिसंकरौ।
एतेषामेव विन्यासालङ्कारान्तराण्यमी ॥ चन्द्रालोक ५।११९ ॥

आक्षिपन्तीति। हे मुग्धे ! सुन्दरि ! बाले ! इति वा, अरविन्दानि पद्मानि तव मुखस्य श्रियं कान्तिम् आक्षिपन्ति आहरन्ति। कोषा कुड्मलानि दण्डाः नालानि अन्यत्र कोषा धनागाराः धनसमृद्ध्य इति यावत् दण्डाः प्रतापा इति यावत् तैः समग्राणां सम्पूर्णानाम् एषाम् अरविन्दानां राज्ञां चेति ध्वनिः दुष्करम् असाध्यं किम् अस्ति ? न किमपि अस्तीत्यर्थः ॥ ५०४ ॥

अत्रेति। श्लेषः उपसर्जनम् अङ्गं अस्य तथाभूतः अर्थान्तरन्यासः।

सर्वेषां समकक्षता यथा,—

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि, वर्षतीवाञ्जनं नभः।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्निष्फलतां गता ॥ ५०५ ॥

ननु च तमसश्च नभसश्च असतश्च सम्बन्धः समत्वात् स्यात् इति कथं सर्वेषां तुल्यकक्षतया सम्बन्धोत्पत्तिः, एवं मन्यते, यदा उत्प्रेक्षोपमादयोऽलङ्काराः विभावानुभावव्यभिचारिवर्णनापरतया रसादेरङ्गतां प्रतिपद्यन्ते, तदा भवत्येव तेषां तुल्यकक्षतेति। तत्र 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः' इति द्वे उत्प्रेक्षे, 'असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्निष्फलतां गता' इत्युपमा

च वर्णनीयस्य तमसः उद्दीपनविभावभूतस्य समतयैवोत्कर्षप्रतिपादकत्वेनाङ्गभावमुपगतेति नास्ति लक्षणानुपपत्तिरिति। ननूपमा इमास्तिस्रोऽपि कस्मान्नोच्यन्ते ? इवो हि वाक्यान्तरेषूपमाया एव दृश्यते। मैवम्। उपमानोपमेयशब्दप्रतिपन्नस्य सादृश्यार्थस्य द्योतनमिवेन क्रियते न च लिम्पतीत्यादावुपमानमुपमेयं वास्ति यत्सादृश्यद्योतनाय इवः प्रयुज्येत। न च तिङन्तेनोपमानमस्ति तस्य साध्यार्थाभिधायित्वेनासत्त्वार्थत्वात्।

सभी अलंकारों का तुल्यबलयुक्त अवस्थान होने का उदाहरण—

अन्धकार शरीर के अङ्गों को लीप सा रहा है। आकाश कज्जल की वर्षा सी कर रहा है। असज्जन पुरुष की सेवा की भांति दृष्टि निष्फल हो गई है॥ ५०५॥

"भला 'अन्धकार, आकाश और असज्जन इनका सम्बन्ध समानता के कारण हो सकता है' इसमें सभी के तुल्यबलशाली होने से सम्बन्ध की उत्पत्ति कैसे हो सकती है?"

"इस प्रकार माना जाता है, जब उत्प्रेक्षा, उपमा आदि अलङ्कार विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी के वर्णन में संसक्त होने से रस आदि की अङ्गता को प्राप्त करते हैं, तब इनकी समकक्षता होती है। वहाँ "लिम्पतीव तमोऽङ्गानि, वर्षतीवाञ्जनं नभः' इनमें दो उत्प्रेक्षायें हैं, "असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्निष्फलतां गता" इसमें एक उपमा है। इन दोनों के उद्दीपन विभाव के रूप में हो जाने वाले वर्णनीय अन्धकार का समान रूप से उत्कर्ष प्रतिपादन करने से पहले की भांति (गुण आदि की भांति) अङ्गभाव को प्राप्त होते हैं। अतः यहाँ लक्षण की अनुपपत्ति नहीं होती।" "ये तीनों ही उपमा क्यों नहीं कहे जाते, जब कि 'इव' का प्रयोग दूसरे वाक्यों में उपमा के ही प्रसङ्ग में होता है?" "ऐसी बात नहीं है, क्योंकि उपमान तथा उपमेय शब्दों के प्रति उस सादृश्य रूप अर्थ का द्योतन 'इव' पद के द्वारा किया जाता है न कि 'लिम्पति' इत्यादि में उपमान-उपमेय का भाव है जिससे कि सादृश्य की प्रतीति कराने के लिये 'इव' का प्रयोग किया जाता। इसके अतिरिक्त तिङन्त (क्रिया पद लिम्पति आदि) आदि के साथ उपमान नहीं होता है क्योंकि तिङन्त तो साध्य रूप अर्थ का अभिधायक होने के कारण सिद्धरूप अर्थ (उपमेय) का प्रतिपादक नहीं होता।

स्व० व०—उक्त वृत्ति में दो प्रमुख बातों का विवेचन है। पूर्वपक्ष के रूप में शङ्का है कि जब अलङ्कार समान रूप से तुल्यबलशाली है तब तो उनको स्वतः स्वतन्त्र मानना चाहिये, उनको समकक्ष नहीं कहा जा सकता? इसका उत्तर यह है कि तुल्यबलशाली होने से उनकी स्थिति तो सिद्ध है, किन्तु चूँकि ये सभी रस के अङ्ग के रूप में प्रयुक्त हुये हैं, अतः ये समकक्ष हैं। जैसे सभी व्यक्ति स्वयं स्वतन्त्र है किन्तु राजसेवा करने से सभी राजपुरुषत्वेन समान होते हैं, उसी प्रकार इनकी भी समकक्षता है।

दूसरी बात यह है कि 'इव' से जब उपमेय तथा उपमान का सादृश्य प्रतिपादित होता है तब तो उपमा होती है, और जब किसी क्रिया के द्वारा उपमान की सम्भावना कराई जाती है तब उत्प्रेक्षा होती है। यही भाव 'सिद्ध' तथा 'साध्य' पदों से की गई है।[1]

---

१. उपमा में प्रधान वस्तु सादृश्य है और उत्प्रेक्षा में सम्भावना। उपमा में उपमान रूप अर्थ की वास्तविक सत्ता अभीष्ट है, किन्तु उत्प्रेक्षा में वह कल्पित किया जाता है। अर्थात् उपमान के सिद्ध होने पर उपमा और साध्य होने पर उत्प्रेक्षा होती है।

दण्डी ने भी इस 'लिम्पतीव०" आदि श्लोक में अलंकारों की समकक्षता होने से संसृष्टि स्वीकार किया है।

लिम्पतीति। तमः तिमिरम् अङ्गानि लिम्पतीव लिप्तानि करोतीव, नभः आकाशम् अञ्जनं कज्जलं वर्षतीव स्रवतीव। दृष्टिः दर्शनेन्द्रियव्यापारः असतां दुष्टानां पुरुषाणां सेवेव परिचर्य्येव विफलतां व्यर्थतां गता प्राप्ता॥ ५०५॥

तदाह--

'सिद्धस्य हि समानार्थमुपमानं विधीयते।
तिङन्तार्थस्य साध्यत्वादुपमार्थो न विद्यते॥'

न चोपमायामेवेवशब्दो भवति। तद्यथा कथमिवैतद्भविष्यति। अस्तु वा लिम्पतितमसोरुपमानोपमेयभावस्तथापि तुल्यधर्मो न दृश्यते य उपमानोपमेयभावाय प्रभवति। किमन्येन लेपनमेव भवति तर्हि लिम्पतिना केन भाव्यम्? न हि लेपनं लिप्तेः पृथग्भवितुमीष्टे। ननु चेह द्वयं चकास्ति धातुर्लिम्पति तदर्थश्च लेपनम्। मैवम्। एवं सति लिम्पतिरिवेति स्यात् न तु लिम्पतीवेति। अथ यथा राहोः शिरः इति भेदाभावेऽप्यवयवावयविभावस्तथेह धर्मधर्मिभावो भविष्यति। मैवम्। उपमानोपमेयभावस्य भेदसादृश्यप्रतिपत्तिनिबन्धनत्वात् तदभावेऽपि यस्तन्मनुते स कथं नोन्मत्तः स्यात्।

जैसा कहा गया है—

"सिद्ध के ही समान अर्थवाला उपमान विहित होता है। तिङ् प्रत्ययान्त पद का अर्थ साध्य होने से उपमा के लिए नहीं होता॥"

यह बात नहीं है कि उपमा में ही 'इव' शब्द का प्रयोग होता है। जैसे कि—'कथमिव एतद् भविष्यति'—'यह भला कैसे होगा?'—(सदृश प्रयोगों में भी वह 'इव' का प्रयोग-दृष्टिगोचर होता है।)

'लिम्पति' तथा 'तमस्' इन दोनों में उपमान तथा उपमेय भाव भले ही हो, फिर भी वह समानधर्मता नहीं दिखाई पड़ती जो कि उपमानोपमेय भाव के लिए उपयुक्त होती है। किसी दूसरे समानधर्म से क्या प्रयोजन? लेपन ही (तुल्य धर्म) होगा। तो फिर 'लिम्पति' क्या होगा? लेपन कर्म 'लिम्प' धातु से पृथक् रहने में समर्थ नहीं। यहाँ तो दोनों ही वस्तुयें विद्यमान हैं—"लिम्पति धातु तथा उसका अर्थ लेपन।" "ऐसी बात नहीं। यदि ऐसा होता तो (प्रयोग) "लिम्पतिः इव" होता न कि "लिम्पतीव"—"लिम्पति" के सदृश न कि "लीप सा रहा है॥" फिर भी जैसे "राहु का शिर है" सदृश प्रयोगों में भेद का अभाव होने पर भी अवयवावयवीभाव है उसी प्रकार से यह भी धर्मधर्मी भाव होगा।" "ऐसा नहीं है।" उपमान तथा उपमेय भाव के भेद और सादृश्य की उत्पत्ति का हेतु होने से, वैसा न होने पर भी जो उसे वैसा मानता है यह भला पागल कैसे नहीं होगा? (अर्थात् अवश्य होगा?)

स्व० द०—पूर्व विषय के सन्दर्भ में ही यह कहा गया है कि तिङन्त का अर्थ साध्य होने से उपमा का विषय नहीं बन सकता। पूर्वपक्ष के रूप में 'लिम्प' धातु का अर्थ 'लेपन' रूप

भाव मान लेने पर सिद्धता स्पष्ट हो जाती है, ऐसा मानने पर दोष होता है। वस्तुतः लिम्पति धातु का भावरूप अर्थ लेपन है। यदि इसी को उपमान मान लिया जाये तो उपमान क्या होगा! अतः धर्म तथा धर्मी दोनों की पृथक् पृथक् स्थिति मानने पर ही औपम्यभाव शुद्ध हो सकता है अन्यथा नहीं। जब कि प्रस्तुत प्रसङ्ग में लिम्पति के लेपन रूप अर्थ को केवल एक ही—धर्म अथवा धर्मी—के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। यदि एक ही पदार्थ को धर्म तथा धर्मी दोनों मान लिया जाये, तो यह तो मात्र पागलपन होगा। उपमानोपमेयभाव वहीं सिद्ध हो सकता है जब दो भिन्न पदार्थों में सादृश्य का भाव प्रदर्शित किया जाये। इसी अर्थ का विश्लेषण भेद "सादृश्य०" आदि वृत्ति के शब्दों में किया गया है।

नन्विति। गुणानाञ्च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात् स्यादिति गुणानां धर्माणां परार्थत्वात् धर्मिनिष्ठत्वादित्यर्थः असम्बन्धः परस्परमिति भावः। स्यात् भवेत् समत्वात् तुल्यत्वात् नहि तुल्यरूपौ द्वौ धर्मौ सङ्गच्छेते इति भावः। सर्वेषाम् अलङ्काराणां तुल्यकक्षतया तुल्यबलतया सम्बन्धोत्पत्तिः संसर्गसङ्गतिः इत्यर्थः। एवं मन्यते इत्थं विचार्य्यते इत्यर्थः। रसादेः आदिपदेन भावतदाभासादयो गृह्यन्ते। अङ्गतां पोषकताम् तदा तेषाम् अलङ्काराणां तुल्यकक्षता तुल्यकक्षतया रसादिभिः सह सम्बन्धः न तु तेषां परस्परसम्बन्ध इति भावः। लक्षणेति। लक्षणस्य गुणानाञ्चेति प्रागुक्तस्येति भावः। इमास्तिस्रः लिम्पतीव वर्षतीव असत्पुरुषसेवेति संख्यका इत्यर्थः। उपमानेति इवेन इवशब्देन लिम्पतीव वर्षतीवेत्यत्र स्थितेनेति भावः। तिङन्तेनेति। तिङन्तेन लिम्पति वर्षतीत्यनेनेत्यर्थः। साध्येति। साध्यार्थस्य सम्पाद्यस्य नतु सिद्धस्येति भावः। अर्थस्य अभिधायित्वेन प्रतिपादकत्वेन असत्त्वार्थत्वात् अविद्यमानत्वार्थत्वात्। अस्तु वेति। तुल्यधर्मः साधर्म्यमित्यर्थः। यस्तुल्यधर्म इत्यर्थः। किमन्येनेति। अन्येन तुल्यधर्मेण किम्? न किमपि प्रयोजनमित्यर्थः, लेपनमेव तुल्यधर्म इति भावः। भवति अस्ति लिम्पतिना केन भाव्यमिति लिम्पतिः को भविष्यतीत्यर्थः! नहीति। लिम्पेः लिम्पतेरित्यर्थः पृथक् भिन्नम्। ईष्टे प्रभवति। नन्विति। चकास्ति राजते विद्यते इति भावः। उपमानोपमेयभावस्येति भेदे सति सादृश्यं साधर्म्यं प्रवृत्तिनिबन्धनम् उत्पत्तिहेतुः यस्य तथोक्तः तस्य भावः तत्त्वं तस्मात्। तदभावेऽपि उपमानोपमेयभावस्य भेदसादृश्यप्रवृत्तिनिबन्धनत्वाभावेऽपीत्यर्थः। यः कविरिति शेषः तम् उपमानोपमेयभावं मनुते स्वीकरोति इत्यर्थः॥

स एव धर्मो धर्मी चेत्युन्मत्तोऽपि न भाषते।

अस्तु तर्हि तिङ्वाच्यः कर्ता उपमानमिति चेत् न्यग्भूतोऽसौ क्रियापदे। कथं पुनरसौ क्रियापदे न्यग्भूतो भवति? श्रूयतां, षडर्थास्तिङन्तेन प्रतीयन्ते क्रिया कालः उपग्रहः साधनं सङ्ख्या पुरुषश्चेति। तेषु क्रियाकालात्मनेपदपरस्मैपदनिमित्तानि प्रकृतिरभिधत्ते, प्रत्ययः साधनं, सङ्ख्यां पुरुषं च। एतेषां तु क्रियार्थत्वात्क्रिया प्रधानं, कालात्मनेपदनिमित्तं क्रियाविशेषणत्वेन, सङ्ख्यापुरुषौ साधनविशेषणत्वेन तयोरेव न्यग्भवतः। साधनं पुनः 'प्रकृतिप्रत्ययौ स्वार्थं सह ब्रूतः' इति न्यायात् 'प्रधानभूतमपि भूतं' 'प्रधानभूतमपि भूतं भव्यायोपदिश्यत' इति न्यायेन क्रियासिद्धावुत्पन्नव्यापारं परार्थं तस्यां क्रियायां न्यग्भवति। तेनायं कर्ता स्वक्रियासिद्धावाकुलः कथमुपमानत्वेनो-

पमेयत्वेन वान्यदपेक्षितुं क्षमते। एवं तर्हि योऽङ्गानि लिम्पति तेन क्रियोपलक्षितेन कर्त्रा तुल्यं तम इत्यर्थः प्रतिपत्स्यते। मैवम्। क्रियोपलक्षितस्य कर्तुरुपमानभूतस्य शब्दन्यायबला प्रतिपत्तिः। शब्दो हि मुख्यागौणीलक्षणाभिरर्थप्रकरणादिसम्पादितसाचिव्यादिभिस्तिसृभिरेव वृत्तिभिरर्थविशेषप्रतिपत्तिनिमित्तं भवति। तद्यथा--गौरित्ययं शब्दो मुख्यया वृत्त्या सास्नादिमन्तमर्थं प्रतिपादयति स एव तिष्ठन्मूत्रत्वादिगुणसम्पदमपेक्ष्य वाहीकादौ प्रयुज्यमानो गौणीं वृत्तिमनुभवति। यदा तु मुख्यया गौण्या वोपात्तक्रियासिद्धौ साधनभावं गन्तुमसमर्थस्तदा लक्षणया स्वार्थाविनाभूतमर्थान्तरं लक्षयति यथा गङ्गायां घोषः प्रतिवसतीति गङ्गाशब्दो विशिष्टोदकप्रवाहे निरूढाभिधानशक्तिर्घोषकर्तृकायाः प्रतिवसनक्रियाया अधिकरणभावं गन्तुमसमर्थः स्वार्थाविनाभूतं तटं लक्षयतीति। न च, एतासाम् इह अन्यतमाऽपि वृत्तिः सङ्गच्छते। तथाहि-लिम्पतेः क्रियावचनत्वात् न मुख्या नापि क्रियाकर्त्रोः असादृश्येन शुक्तिकादौ रजतादिवत् तद्भावापत्तिः, क्रियागुणानां कर्त्तरि असम्भवात् साक्षादिव प्रयोगाच्च न गौणी। क्रियायाश्च स्वयमेव धर्मरूपत्वात् 'बुद्धिः पश्यति' इतिवत् अन्यधर्माणामन्यत्र अधिरोपणम् उपचार इति न गौणो भेद उपचरितः। इवशब्दस्य च असादृश्येऽपि दर्शनात् न लक्ष्यते। यदि हि इहशब्दः सादृश्यमेव विद्योतयति तदा लिम्पतिक्रियायाः सत्त्वभूतेन तमसा सादृश्यं न सम्भवतीति स्वार्थाविनाभूतं कर्त्तारमाक्षिपति। न च इह लक्षितलक्षणाविरुद्धलक्षणादयोऽपि वर्त्तन्ते। यथा प्रिये जने नास्ति पुनरुक्तम्, स्वल्पैरसावपि न दृश्यत एव कालैरिति। न च शब्दान्यविलम्बिनी पदार्थव्युत्पत्तिः प्रेक्षावद्भिः आद्रियते। यद्यपि अध्याहारादिभिः इदमपि स्यात्, तथापि तुल्यधर्मो मार्गणीयः तद्वदेव विप्रतिपत्तेः। न चेन्दुमुखादिवद् अनभिधीयमानस्यापि तुल्यगुणस्य प्रत्ययो भवतीति वाच्यम्।

"एक ही वस्तु धर्म है तथा वही धर्मी भी है", इस प्रकार से तो कोई पागल भी नहीं कहता। "तो फिर, तिङ् से वाच्य-प्रतिपाद्य कर्त्ता ही उपमान हो" ऐसा कहने पर (समझना चाहिये कि) कर्त्ता तो क्रियापद में ही अन्तर्भूत हो जाता है—अङ्गता को प्राप्त कर लेता है।" कैसे वह क्रिया के अङ्ग रूप में समाहित हो जाता है? ऐसा सुना जाता है कि लिम्पति पद से छह अर्थ प्रतीत कराये जाते हैं—१. क्रिया २. काल ३. उपग्रह-आत्मनेपद तथा परस्मैपद का कारण ४. साधन ५. संख्या तथा ६. पुरुष। इनमें से क्रिया, काल तथा आत्मनेपद और परस्मैपद के निमित्त को प्रकृति धातु प्रकट करती है और प्रत्यय-साधन, संख्या तथा पुरुष को। इन सब के क्रिया परक होने से क्रिया ही प्रमुख है। काल तथा आत्मनेपद के निमित्त क्रिया के विशेषण होने से और संख्या तथा पुरुष साधन के विशेषण होने से उन्हीं दोनों—क्रिया तथा साधन—में समाहित हो जाते हैं। उस पर भी साधन फिर से "प्रकृति तथा प्रत्यय अपने अर्थों

को एक साथ ही कहते है" इस न्याय से क्रिया की सिद्धि हो जाने पर उत्पन्न व्यापार वाला साधन परार्थ भूत इस क्रिया में ही अन्तर्हित हो जाता है। इससे यह कर्त्ता अपनी क्रिया की सिद्धि में ही व्यापृत है अतः कैसे वह उपमान के रूप में अथवा उपमेय के रूप में अन्य अपेक्षाओं के पूर्ण करने में समर्थ हो सकता है?" फिर इस प्रकार तो, 'जो अङ्गों को लीपता है उसी क्रिया से उपलक्षित कर्ता के तुल्य तम है, इस प्रकार का अर्थ निष्पन्न होने लगेगा।" ऐसी बात नहीं है। क्रिया से उपलक्षित उपमानभूत कर्ता की शब्द-न्याय के प्रभाव से प्रतिपत्ति नहीं होती। शब्द मुख्या, गौणी तथा लक्षणा यह तीन ही अर्थ, प्रकरण आदि के द्वारा सहायता प्राप्त वृत्तियों के द्वारा अर्थ विशेष को प्रकट कराने का हेतु बनता है। वह इस प्रकार है। "गौः" यह शब्द मुख्या वृत्ति द्वारा 'खुर आदि से युक्त' अर्थ (पिण्ड) का बोध कराता है।' यहां शब्द खड़े खड़े मूतना आदि गुण समूहों को देखकर 'वाहीक'—हलवाहा अथवा चरवाहा आदि अर्थों में प्रयुक्त होता हुआ गौणीवृत्ति का अनुभव करता है। जब मुख्या अथवा गौणी वृत्ति से गृहीत क्रिया की सिद्धि में साधनभाव—हेतुता—को प्राप्त होने में असमर्थ होता है, तब अपने अर्थ से सम्बद्ध दूसरे अर्थ का ज्ञान लक्षणा से कराता है। जैसे—"गङ्गायां घोषः प्रतिवसति" गंगा में अहीरों की बस्ती रहती है—इस प्रयोग में गङ्गा शब्द एक विशिष्ट जल प्रवाह के अर्थ में अभिधाशक्ति प्रसिद्ध, घोष रूप कर्ता वाली प्रतिवसद् क्रिया का अधिकरण भाव (बतलाने में) समर्थ है (अतः) अपने अर्थ से सम्बद्ध तट को लक्षित करता है। यह बात नहीं है कि यहाँ इन (तीनों) वृत्तियों में से कोई एक ही संयुक्त होती है। इसी प्रकार—'लिम्पति' के क्रिया वाचक होने से मुख्या वृत्ति नहीं है। क्रिया तथा कर्ता दोनों में असाध्य होने से शुक्तिका आदि में रजत आदि की भांति उस (रजत आदि) के भाव का आरोप भी नहीं होगा। क्रिया के गुणों के कर्ता में संभव न होने से तथा साक्षात् 'इव' का भी प्रयोग होने से गौणी भी नहीं है, क्योंकि क्रिया स्वयं ही धर्म रूप है। 'बुद्धिः पश्यति'—बुद्धि देखती है—इस प्रकार दूसरे के धर्मों का अन्यत्र अधिरोपण उपचार है, इससे गौणी का भेद भी नहीं संगत होता। 'इव' शब्द का असाध्य में भी दर्शन होने से, उससे लक्ष्य अर्थ लक्षणा द्वारा नहीं प्रतीत होता। यदि 'इव' शब्द साध्य का ही बोध कराता है तो 'लिम्पति' क्रिया का सत्त्वभूत अन्धकार के साथ साध्यत्व संभव नहीं होता। इस प्रकार वह अपने अर्थ से सम्बद्ध कर्ता का आक्षेप करता है। यह भी बात नहीं है कि यहाँ लक्षित-लक्षणा के विरुद्ध भी लक्षणा आदि विद्यमान रहती हैं। जैसे कि—'प्रियजन के लिये पुनरुक्ति नहीं होती।' 'कुछ ही समय से यह भी नहीं दिखाई पड़ता' आदि में। शब्द के प्रतिपाद्य अर्थ से भिन्न किसी दूसरे अर्थ का आश्रय लेने वाली पदार्थ की व्युत्पत्ति पण्डितों के द्वारा आदर नहीं पाती। यद्यपि अध्याहार आदि से यह भी संभव हो सकता है फिर भी समानधर्म उसी प्रकार विप्रतिपत्ति से खोजा जाना चाहिये।

यह भी बात नहीं है कि 'इन्दुमुख' आदि प्रयोगों के समान अभिधा से वाच्य न होने पर भी उसके समान गुण का ही बोध हो जाये। यही कहना है कि—

स एवेति। स एव धर्मः स एव धर्मी चेति उन्मत्तोऽपि वातुलोऽपि न भाषते न ब्रूते, धर्मिधर्मयोरतिशयेन पार्थक्यादिति भावः। तिङ्वाच्यः तिङा प्रतिपाद्यः। असौ कर्त्ता क्रियापदे न्यग्भूतः अन्तर्भूतः अङ्गतां गत इत्यर्थः। क्रियेत्यादि। उपग्रहः आत्मनेपदपरस्मैपदनिमित्तमित्यर्थः। प्रकृतिः धातुः अभिधत्ते प्रतिपादयति। क्रियार्थत्वात् क्रियाप्रयोजनकत्वात्। तयोरेव क्रियासाधनयोरेव न्यग्भवतः अन्तर्निविशतः इत्यर्थः। प्रधानभूतमपि साधनमित्यनेन अन्वयः। क्रियासिद्धौ क्रियासिद्धिविषये उत्पन्नः व्यापारः प्रथमः

यस्य तथाभूतं सत् परार्थं परार्थभूतायामित्यर्थः न्यग्भवति अन्तर्निविशते। आकुलः व्यापृत इत्यर्थः। अपेक्षितुं पर्य्यवेक्षितुं क्षमते शक्नोति। प्रतिपत्स्यते पर्य्यवसितो भविष्यतीत्यर्थः। क्रियोपलक्षितस्य क्रियया लक्षीकृतस्य शब्दन्यायबलात् शब्दसामर्थ्य-वशात् अप्रतिपत्तिः अबोधः अलाभ इति यावत् शब्द इति। मुख्या गौणी लक्षणा ताभिः। 'संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता। अर्थः प्रकरणम्' आदिना लिङ्गादिपरिग्रहः उक्तश्च दर्पणे। 'अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः। सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः। शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः' इति। तैः सम्पादितं साचिव्यं सहाय-भावः यासां तादृशीभिः वृत्तिभिः शक्तिभिः। अर्थविशेषस्य प्रवृत्तिनिमित्तबोधहेतुरित्यर्थः। मुख्यया वृत्त्या अभिधया शक्त्या इत्यर्थः स एव गौरित्ययं शब्दः तिष्ठन्मूत्रत्वादिगुण-सम्पदम् अवेक्ष्य अवलोक्य मत्वेति यावत् गौणीवृत्तिं गौणीं नाम शक्तिम्। उपात्तक्रिया-सिद्धौ गृहीतक्रियासम्पादने साधनभावं हेतुतां गन्तुं प्राप्तुम् असमर्थः अक्षमः शब्दः इति पूर्वेणान्वयः। स्वार्थस्य स्वप्रतिपाद्यस्य अविनाभूतं सम्बन्धमित्यर्थः। अर्थान्त-रम् अर्थविशेषं लक्षयति गमयति। विशिष्टोदकप्रवाहे भगीरथखातावच्छिन्नजलप्रवा-हरूपे इत्यर्थः निरूढा प्रसिद्धा अभिधानशक्तिर्यस्य तथाभूतः। स्वार्थस्य तादृश-जलप्रवाहरूपस्य अविनाभूतं सम्बन्धशालिनमित्यर्थः। न वेति। एतासां मुख्या-गौणी-लक्षणानां मध्ये अन्यतमा काचिदेकापीत्यर्थः। क्रियावचनात् क्रियावाचि-त्वात् न मुख्या नाभिधा वृत्तिः सम्भवतीति भावः। क्रियाकर्त्रोः असादृश्येन असाधर्म्येण शुक्तिकादौ रजतादिवत् शुक्तिकादौ सादृश्येन यथा रजतादिवत् शुक्तिकादौ सादृश्येन यथा रजतादिभावापत्तिः तथा तद्भावापत्तिः सादृश्यप्रतीतिर्नापीत्यर्थः। क्रियागुणानां क्रियाधर्माणां कर्त्तरि असम्भवात् असत्त्वादित्यर्थः। यदि क्रियायाः गुणाः कर्त्तरि सम्भवन्ति तथा सादृश्यं प्रतीयते अत्र तु न तथेति भावः। न गौणीति। यत्र इवादिप्रयोगो नास्ति तत्रैव गौणी वृत्तिः यथा गौर्वाहीक इत्यादि। अन्यधर्माणा-मिति अन्येषां धर्मिणां ये धर्माः तेषाम् अन्यत्र धर्मिणि आरोपः उपचारः अस्य तु क्रियाया धर्मरूपत्वात् न तथा उपचारसम्भव इति भावः, तस्मात् गौणीभेदः गौण्या वृत्तेर्विशेषः न उपचरितः नारोपितः। इवशब्दस्यापीति। असादृश्यसम्बन्धविरहेऽपि यथा 'किमिव न दृश्यते' इत्यादिषु। न लक्ष्येत लक्षणया वृत्त्या न प्रतीयेत सादृश्यमिति भावः। विद्योतयति बोधयति। सत्त्वभूतेन प्राणभूतेन आश्रयभूतेनेति यावत्। स्वार्थाविनाभूतं मुख्यार्थसम्बद्धमित्यर्थः कर्त्तारम् अन्यमिति शेषः आक्षिपति बोधयतीति यावत् लक्षित-लक्षणयेति भावः। लक्षितलक्षणेति। लक्षिते लक्षणया बोधिते अर्थे पुनर्लक्षणा लक्षित-लक्षणा सा च विरुद्धलक्षणा तदादयः अपि वृत्तयः नापि वर्त्तन्ते न सम्भवन्तीत्यर्थः। न चेति। शब्दान्यविलम्बिनीशब्दात् शब्दप्रतिपाद्यात् अन्यस्मिन् शब्दाप्रतिपाद्ये इत्यर्थः विलम्बते चिरेण अन्यत् प्रतिपादयतीति भावः तथाभूता पदार्थस्यव्युत्पत्तिः प्रतीतिः। प्रेक्षावद्भिः पण्डितैः। यद्यपीति। अध्याहारादिना ऊहादिना इदमपि अन्यार्थज्ञानम-पीत्यर्थः तुल्यधर्मः साधर्म्यं मार्गणीयः अन्वेषणीयः आवश्यकत्वेनेति भावः। तद्वदेव पूर्ववदेव विप्रतिपत्तिः विरोधादित्यर्थः। न चेति इन्दुमुखादिवत् चन्द्रमुखादाविवेत्यर्थः अनभिधीयमानस्य अकथ्यमानस्य। तुल्यगुणस्य साधर्म्यस्येत्यर्थः।

यथेन्दुरिव ते वक्त्रमिति कान्तिः प्रतीयते।

न तथा लिम्पतेर्लेपादन्यदत्र प्रतीयते ॥ १७७ ॥
तदुपश्लेषणार्थोऽयं लिम्पतिर्ध्वान्तकर्तृकः ।
वर्षणार्थश्च विद्वद्भिरुत्प्रेक्ष्यत इतीक्ष्यताम् ॥ १७८ ॥
मन्ये शङ्के ध्रुवम्प्रायो नूनमित्येवमादिभिः ।
उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिवशब्दोऽपि तादृशः ॥ १७९ ॥

जिस प्रकार 'इन्दुरिव ते वक्त्रम्'—चन्द्रमा के सदृश तुम्हारा मुख है—इस उक्ति में (साधारणधर्म के रूप में) कान्ति-चमक-की प्रतीति हो जाती है, उस प्रकार का (साधारण धर्म) 'लिम्पति' शब्द से 'लेप' के अतिरिक्त यहाँ नहीं प्रतीत होता है इसलिये यहाँ लिम्पति का अर्थ है व्याप्त होना और इसका कर्ता है ध्वान्त—अन्धकार । इसकी विद्वानों के द्वारा वर्षण अर्थ में उत्प्रेक्षा की जाती है । यही यहाँ मान्य होनी चाहिये । 'मन्ये', 'शङ्के' 'ध्रुवं', 'प्रायः', 'नूनम्' इत्यादि वाचक पदों से उत्प्रेक्षा व्यक्त की जाती है । 'इव' शब्द भी उसी प्रकार (से व्यञ्जक) है ॥ १७७ १७९ ॥

स्व० द०—भोज इस विवेचन में दण्डी के उत्प्रेक्षानिरूपण के प्रसङ्ग में 'लिम्पतीव०' आदि उदाहरण में उत्प्रेक्षा की सिद्धि के विचारों से अत्यन्त प्रभावित हैं । जिन विषयों को अत्यन्त संक्षेप में दण्डी ने केवल कुछ कारिकाओं में कहा था, उसी का उन्होंने विस्तार किया है और जहाँ तहाँ विषय को सुगम करने के लिये अपने भी विचार दिये हैं । उक्त कारिकायें (१७७–१७९) काव्यादर्श (२।२३२–४) से उद्धृत हैं । इनकी पूर्ववर्ती वे कारिकायें जिनका अर्थ भोज ने ग्रहण किया है, ये हैं—

केषाञ्चिदुपमाभ्रान्तिरिवशब्दयेह जायते ।
नोपमानं तिङन्तेनेत्यतिक्रम्याह भाषितम् ॥
उपमानोपमेयत्वं तुल्यधर्मव्यपेक्षया ।
लिम्पतेस्तमसश्चासौ धर्मः कोऽत्र समीक्ष्यते ॥
यदि लेपनमेवेष्टं लिम्पतिर्नाम कोऽपरः ।
स एव धर्मो घर्मो चेत्यनुन्मत्तो न भाषते ॥
कर्ता यद्युपमानं स्याद् न्यग्भूतोऽसौ क्रियापदे ।
स्वक्रियासाधनव्यग्रो नालमन्यदपेक्षितुम् ॥
या लिम्पत्यमुना तुल्यं तम इत्यपि शंसतः ।
अज्ञानीति न सम्बद्धं सोऽपि मृग्यः समो गुणः ॥ काव्यादर्श २।२२७–२३१ ॥

यथेति । इन्दुरिव ते तव वक्त्रं वदनमिति उक्ते इति शेषः कान्तिः साधारणधर्म इति भावः लेपात् अन्यत् अपरोऽर्थः इत्यर्थः ॥ १७७ ॥

तदिति । तत् तस्मात् उपश्लेषार्थः लेपनार्थः । ध्वान्तकर्तृकः तमःकर्तृकवर्षणार्थः वर्षति इति शेषः । उत्प्रेक्ष्यते उत्कटकोटिना सम्भाव्यते । इति ईक्ष्यतां दृश्यतां विवेच्यतामित्यर्थः । मन्ये इति स्पष्टम् ।

वाक्यवदेव प्रबन्धेषु अनौचित्यपरिहारेण गुणालङ्कारसङ्करनिवेशो

भवति। तत्र अनौचित्यपरिहारो यथा। मायया कैकेयीदशरथाभ्यां रामः प्रलम्भितो न मातापितृभ्याम् इति निर्दोषदशरथे, राममेव योधयन् रामेण बाली निहतो न सुग्रीवमिति महावीरचरिते, रुधिरप्रियराक्षसेन दुःशासनस्य रुधिरं पीतं न भीमसेनेनेति वेणीसंहारे, दुर्वाससोऽपध्यानाद् दुष्यन्तः शकुन्तलास्वीकारं विसस्मार न अनवस्थितानुरागतयेति शाकुन्तले, लवणप्रयुक्तराक्षसाभ्यां वा सोपस्करेण सीता परित्याजिता, न कैकेयीमन्थराभ्यामिति च्छलितरामे। किञ्च दग्धायामपि वासवदत्तायां वैरप्रतिचिकीर्षया पद्मावती मयोढा, अवसिते च समीहिते तया विना क्षणमपि न जीवामीत्यविज्ञातवासवदत्तासन्निधेः वत्सराजस्य अग्निप्रवेशाध्यवसायः प्रियाहृदयतो व्यलीकशल्यम् उच्चखानेति तापसवत्सराजे, मरीचाक्षः स्वामिकार्य्यं साधयामीति प्रभुभक्त्या निरपराधामपि प्रेयसीं हित्वा स्वामिकार्य्यापेक्षया अहमेवं एतावन्ति दिनानि जीवितः, अद्य अनुकृतस्वामिकार्य्यः तामेवानुगच्छामीति शिवगणः शूद्रकनिमित्तां मायामयीं चितां प्रियासमक्षं प्रविवेश, सापि तत् प्रेमावदानदर्शनापहृतप्रियव्यलीकात् तद्वियोगकातरा तत्रैवात्मानं प्रतिचिक्षेप इति विक्रान्तशूद्रके इति। तदेतत् दोषहानम्।

गुणोपादानन्तु सम्यग्गुणयोगेन संविधाने सुसूत्रता। अपि च चतुर्वृत्त्यङ्गसम्पन्नमिति। चतस्रो वृत्तयो भारती आरभटी कैशिकी सात्वती चेति॥

वाक्यों की भांति ही प्रबन्धों में भी अनौचित्य का परित्याग करके गुण तथा अलङ्कार के सङ्कर का सन्निवेश होता है। वहाँ अनौचित्य का परिहार इस प्रकार होगा, जैसे—दैवी छलना से कल्पित कैकेयी तथा दशरथ के द्वारा राम ठगे गये—निर्वासित किये गये, न कि माता तथा पिता के द्वारा। इस प्रकार का उल्लेख 'निर्दोष दशरथ' में है। राम को ही लड़ाते हुये राम के ही द्वारा वाली मारा गया न कि सुग्रीव को लड़ाते हुये। ऐसा 'महावीर-चरितम्' में है। रक्त के प्रेमी राक्षस के द्वारा दुःशासन का रक्त पिया गया न कि भीमसेन के द्वारा ऐसा 'वेणीसंहार' में है। दुर्वासा के शाप से दुष्यन्त शकुन्तला का ग्रहण भूल गये थे न कि वास्तविक प्रेम के न रहने के कारण, इस प्रकार 'शाकुन्तल' में है। लवण के द्वारा नियोजित किये गये राक्षसों के द्वारा वास का उपस्करण करके सीता का परित्याग कराया गया न कि कैकेयी तथा मन्थरा के द्वारा, ऐसा 'छलितराम' नामक काव्य में है। यहाँ तक कि वासवदत्ता के जलजाने पर 'वैर' का प्रतिकार करने की इच्छा से मैंने पद्मावती को स्वीकार किया है, और अभीष्ट की सिद्धि हो जाने पर उसके विना मैं एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकता' इस प्रकार वासवदत्ता की उपस्थिति का पता न पाने वाले वत्सराज उदयन के अग्नि में प्रवेश करने के प्रयत्नों ने प्रियतमा वासवदत्ता के हृदय से बचना—पद्मावती के विवाहरूपी-शल्य को निकाल फेंका, इस प्रकार की कथा 'तापसवत्सराज' में है। मरीचाक्ष नामक पात्र 'अपने स्वामी के कार्य को सिद्ध करूँगा' इस प्रभुभक्ति के कारण विना किसी अपराध के ही अपनी प्रियतमा को छोड़

कर अपने मालिक के कार्य के उद्देश्य से 'मैं ही इतने दिनों तक जीवित रहा आज अपने स्वामी के कार्यों को सम्पन्न करके उसी का अनुगमन कर रहा हूँ' इस प्रकार कह कर शिवगण माया की शूद्रक के लिये बनी हुई चिता में अपनी प्रियतमा के सामने ही प्रविष्ट हो गया। वह भी उस प्रेम को देखने से प्रिय के दुःख को दूर करती हुई उसके वियोग से व्याकुल होकर उसी चिता में अपने को डाल दी थी। इस प्रकार का वर्णन 'विक्रान्तशूद्रक' में है। तो यह सब दोषपरित्याग का उदाहरण है।

गुण का ग्रहण तो भली प्रकार गुणयोग के साथ रचना करने पर सुसम्बद्धता में है, और चारों वृत्ति रूपी अङ्गों से संयुक्त काव्य की रचना करनी चाहिये। इस प्रकार की उल्लिखित चारों वृत्तियाँ हैं—(१) भारती (२) आरभटी (३) कैशिकी (४) सात्त्वती।

वाक्येति। वाक्ये यथा गुणालङ्कारसन्निवेशः तथा प्रबन्धेषु महावाक्यभूतेषु सन्दर्भेष्विति भावः। यथेति मायया देव्या छलनयेत्यर्थः कैकेयीदशरथाभ्यां कल्पिताभ्यामिति भावः प्रलम्भितः प्रवञ्चितः निर्वासित इति यावत्। मातापितृभ्यां कैकेयीदशरथाभ्यां नेत्यर्थः। निर्दोषदशरथे तदाख्ये सन्दर्भे इति भावः। सुग्रीवं योधयन्निति पूर्वेणान्वयः। अनवस्थितानुरागतयेति अस्थिरप्रणयतयेत्यर्थः। लवणेति। लवणेन राक्षसेन मधुवनवासिना प्रयुक्तौ प्रहितौ राक्षसौ ताभ्यां कैकेयीमन्थरारूपधराभ्यामिति भावः। छलितरामे तदाख्ये सन्दर्भे इत्यर्थः। प्रियाहृदयतः प्रियायाः वासवदत्तायाः हृदयात्। व्यलीकशल्यं पद्मावतीविवाहजनितं शल्यवेधनरूपं दुःखमित्यर्थः। उच्चखान उत्खातवानित्यर्थः। तापसवत्सराजे तदाख्यग्रन्थ इति भावः। अद्येति अनुकृतस्वामिकार्य्यः अनुष्ठितस्वामिकार्य इत्यर्थः। मायामयीं मायाकल्पिताम् असत्यरूपामिति यावत्। तदिति। तस्य शिवगणस्य प्रेम प्रणयः तस्य अवदानं कर्मप्रेमोचितं कर्म अग्निप्रवेशरूपमिति भावः तस्य दर्शनात् अवलोकनात् अपहृतम् अपगतं प्रियस्य पत्युः व्यलीकम् अप्रियकार्य्यकरणसम्भूतं दुःखं यस्याः तथाभूता तत्रैव चितायामेव। विक्रान्तशूद्रके तदाख्यग्रन्थे। दोषहानं दोषपरित्यागः अनौचित्यपरिहार इति यावत्। संविधाने सम्प्रयोगे सुसूत्रता सुष्ठु निपुणतया विरचनमित्यर्थः। चतुर्वृत्यङ्गसम्पन्नमिति चतसृभिः वृत्तिभिरेव अङ्गैः सम्पन्नं समन्वितं काव्यं कर्त्तव्यमिति प्रागुक्तमिति भावः॥

तत्,—

या वाक्प्रधाना नृपतिप्रयोज्या स्त्रीवर्जिता संस्कृतया प्रयुक्ता।
स्वनामधेयैर्भरतप्रयोज्या सा भारती नाम भवेत् तु वृत्तिः॥

यत्रावपातप्लुतलङ्घितानि छेद्यानि मायाकृतमिन्द्रजालम्।
चित्राणि युद्धानि च तत्र वृत्तिमेतादृशीमारभटीं वदन्ति॥

या श्लक्ष्णनेपथ्यविशेषयुक्ता स्त्रीसङ्कुता या बहुगीतवृत्ता।
कामोपभोगप्रचुरोपचारा तां कैशिकीं वृत्तिमुदाहरन्ति॥

या सात्त्विकेनात्मगुणेन युक्ता त्यागेन वृत्तेन समन्विता च।
हर्षोत्कटा संहृतशोकभारा सा सात्त्वतीति प्रथितेह वृत्तिः॥

आसाम् अङ्गानि षोडश। तेषु प्ररोचना, प्रस्तावना, वीथी, प्रहसन-

मिति चत्वारि भारत्यङ्गानि। तत्र वक्तव्यार्थप्रशंसापरं वचः प्ररोचना, यथा,--

जो वृत्ति शब्दप्रधान होती है, राजाओं के व्यवहार के योग्य होती है, जिसका प्रयोग स्त्रियाँ नहीं करतीं, जो संस्कृत भाषा से युक्त होती है तथा जिसका प्रयोग अपना-अपना नाम संकीर्तन पूर्वक नर लोग करते हैं वह भारती नाम की वृत्ति--रचनाविशेष--होती है। जिस रचना में कूदना, उछलना तथा अतिक्रमण के कार्य होते हैं, जिसमें छेदन-भेदन होता है, जहाँ माया से जादूगरी आदि का काम होता है, जिसमें विभिन्न चित्रों और युद्धों का अथवा आश्चर्य कारी युद्ध आदि प्रदर्शित होते हैं, वहाँ जो वृत्ति होती है, इस प्रकार की वृत्ति को आरभटी कहते हैं। जो विशद नेपथ्य विशेषों से युक्त, स्त्रियों से सम्मिलित, बहुत अधिक गीतों से भरी हुई तथा जहाँ कामोपभोग सम्बन्धी अनेक उपकरण होते हैं उसको कैशिकीवृत्ति कहते हैं।

जो विशेष सात्विक आत्मगुणों से युक्त तथा त्याग और सदाचरण से संयुक्त होती है, जो आनन्द से चमकती तथा शोक आदि भारों से रहित होती है, यहाँ काव्यशास्त्र में वह सात्वती वृत्ति के नाम से विख्यात है।

इन वृत्तियों के अङ्ग सोलह हैं। इनमें प्ररोचना, प्रस्तावना, वीथी तथा प्रहसन ये चार भारती के अङ्ग हैं। इनमें से कथनीय विषय की प्रशंसा के लिये कही गई वाणी प्ररोचना है। जैसे—

या वागिति। या वाक् वाक्यं प्रधाना उत्कृष्टा यत्र तथोक्ता नृपतिप्रयोज्या राजप्रयोग-योग्या स्त्रीवर्जिता स्त्रीभिः प्रयोक्तुमनर्हैरित्यर्थः संस्कृतया भाषया प्रयुक्ता समन्विता, स्वनामधेयैः स्वैः स्वैः नामभिः संकीर्त्तितैरिति भावः भरतेन नटेन नाट्याचार्य्येण वा प्रयोज्या कारणीया सा भारती नाम वृत्तिः रचनाविशेषः स्यात्॥

यत्रेति। यत्र ग्रन्थे अवपातः उच्चदेशतः अधःपतनं प्लुतं लङ्घनलङ्घितम् अतिक्रमणं तानि, छेद्यानि छेदनव्यापाराः मायया कृतम् इन्द्रजालं मैलिक इति प्रसिद्धं चित्राणि आलेख्यकर्माणि तथा युद्धानि वर्ण्यन्ते इति शेषः तत्र एतादृशीम् एवं रूपां वृत्तिम् आरभटीं वदन्ति कवय इति शेषः॥

येति। श्लक्ष्णेन समुज्ज्वलेन विशदेनेति यावत् नेपथ्यविशेषेण परिच्छदविशेषेण युक्ता समन्विता स्त्रीभिः सङ्गता सम्मिलिता, या बहु प्रभूतं गीतवृत्तं गानव्यापारः यस्यां तथाविधा तथा कामोपभोगस्य मन्मथविहारस्य प्रचुरः प्रभूतः उपचारः उपकरणं यस्यां तादृशी, तां कैशिकीं वृत्तिम् उदाहरन्ति कीर्त्तयन्ति॥

येति। या सात्विकेन सत्वगुणोद्रिक्तेन आत्मगुणेन स्वधर्मेण युक्ता त्यागेन दानेन वृत्तेन सच्चरितेनेत्यर्थः समन्विता सङ्गता हर्षेण आनन्देन उत्कटा उज्ज्वला तथा संहृतः अपनीतः शोकभावः स्वजनवियोगदुःखं यया तथोक्ता वियोगदुःखहारिणीत्यर्थः सा इह काव्यसन्दर्भे सात्वती नाम वृत्तिः प्रसिद्धा॥

जयति भुवनकारणं स्वयम्भूर्जयति पुरन्दरनन्दनो मुरारिः।
जयति गिरिसुता निरुद्धदेहो दुरितभयापहरो हरश्च देवः॥ ५०६॥

समस्त संसार के निर्माण के कारण-भूत ब्रह्मा की जय हो, इन्द्र को प्रसन्न करने वाले विष्णु की जय हो, और पार्वती से आलिङ्गित शरीर वाले, पाप तथा भय को दूर करने वाले भगवान् शिव की भी जय हो॥ ५०६॥

जयतीति। भुवनस्य जगतः कारणं हेतुः सृष्टेरित्यर्थः स्वयम्भूः ब्रह्मा जयति, पुरन्दरं देवराजं नन्दयतीति तथाभूतः असुराणां विनाशेनेति भावः मुरारिः विष्णुः जयति। गिरिसुतया पार्वत्या निरुद्धः आक्रान्तः आलिङ्गित इति यावत् देहो यस्य तथाविधो दुरितभयं पापभयम् अपहरतीति तादृशः देवो हरश्च शम्भुश्च जयति सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते। अत्र विशेषणवशात् वक्तव्यार्थस्य प्रशंसनमिति प्ररोचना ॥ ५०६ ॥

प्रस्तुतवस्तूपपादनावसरसूचकं वचः प्रस्तावना, रत्नावल्याम् यथा—

द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात्।
आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूतः ॥ ५०७ ॥

प्रस्तुत वस्तु के ग्रहण के अवसर की सूचना देने वाली वाणी प्रस्तावना है, जैसे रत्नावली में- अनुकूल रहने पर विधाता दूसरे द्वीप से भी, महासिन्धु के भीतर से भी तथा दिशाओं की अन्तिम छोर से भी प्रियजनों को एकाएक लाकर मिला देता है ॥ ५०७ ॥

स्व० द०—यहाँ समुद्र में यानभङ्ग हो जाने पर डूब रही अभीष्ट सागरिका के सहसा मिल जाने की सूचना से प्रस्तावना है।

द्वीपादिति। अभिमुखीभूतः अनुकूलतां गतो विधिः दैवं 'विधिर्विधाने दैवे' चेत्यमरः। अन्यस्मात् अपरस्मात् स्वावासव्यतिरिक्तादित्यर्थः द्वीपात् अपि, जलनिधेः समुद्रस्य मध्यादपि दिशः अन्तात् शेषसीम्नः अपि, अभिमतम् इष्टं वस्तु आनीय झटिति सहसा घटयति सङ्गमयति। अत्र समुद्रे यानभङ्गनिमग्नायाः सागरिकाया अभीष्टभूतायाः सहसाधिगमसूचनात् प्रस्तावना। प्रस्तावनालक्षणं दर्पणकारेण उक्तं यथा। 'नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा। सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते। चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्य्योत्थैर्नाम्ना प्रस्तावना हि सेति ॥ ५०७ ॥

उद्घात्यकादीनामङ्गानां प्रवृत्तिर्वीथी ॥

उद्घात्यकः, कथोद्घातः, प्रयोगातिशयः, प्रवर्त्तकः अवलगितमिति। तत्र उद्घात्यको यथा,—

को जयति जयति शर्वः केन जितं जितमनङ्गदहनेन।
त्रिपुरारिणा भगवता बालशशाङ्काङ्कितजटेन ॥ ५०८ ॥

उद्घात्यक आदि अङ्गों की प्रवृत्ति वीथी है। (ये सभी अङ्ग हैं) उद्घात्यक, कथोद्घात, प्रयोगातिशय, प्रवर्तक तथा अवलगित। इनमें से उद्घात्यक का उदाहरण—

'कौन व्यक्ति सर्वोत्कृष्ट है? अथवा जीतता है? 'भगवान् शिव'। 'किसने जीता'? 'जीता है कामदेव को जलाने वाले, त्रिपुरासुर के शत्रु, नवचन्द्र के चिह्न से सुशोभित जटाओं वाले भगवान् शिव ने' ॥ ५०८ ॥

क इति। को जनः जयति सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते?। शर्वः शिवः जयतीति उत्तरम् केन जनेन जितं सर्वोत्कर्षेण स्थितमित्यर्थः। अनङ्गदहनेन मन्मथदाहिना भगवता त्रिपुरारिणा त्रिपुरासुरसंहारिणा बालः नवः शशाङ्कः तेन अङ्किता चिह्निता राजितेति भावः जटा यस्य तथाभूतेन शर्वेण जितमित्युत्तरम् ॥ ५०८ ॥

कथोद्घातो यथा,—

साकं पङ्कजजन्मना सुरपतेरभ्यर्थनाया वशा-
दिक्ष्वाकोः शरदिन्दुबिम्बविमले वंशेऽवतीर्य्य स्वयम् ।
निःशेषात्तपदं त्रयीपदजुषां विद्वेषिणं राक्षसं
यः पौलस्त्यमहन् स पातु भवतो रामाभिधानो हरिः ॥ ५०९ ॥

कथोद्घात का उदाहरण—

जिन्होंने ब्रह्मा के साथ की गई इन्द्र की प्रार्थनाओं के कारण इक्ष्वाकु के शरत्कालीन चन्द्रमा के बिम्ब की भांति निर्मल कुल में स्वयं अवतार ले कर, सम्पूर्ण पदों को प्राप्त कर, वेदमार्गानुसारियों के द्वेषी, पुलस्त्य के कुल में उत्पन्न राक्षस रावण को मारा वही राम नाम वाले प्रभु आपकी रक्षा करें ॥ ५०९ ॥

साकमिति । यः पङ्कजजन्मना कमलयोनिना ब्रह्मणेत्यर्थः साकं सह सुरपतेः इन्द्रस्य अभ्यर्थना प्रार्थना तस्याः वशात् हेतोः इक्ष्वाकोः शरदिन्दुः शरच्चन्द्रः तस्य बिम्बमिव बिमलं निर्मलं समुज्ज्वलमिति यावत् तस्मिन् वंशे कुले स्वयम् आत्मना अवतीर्य निःशेषं यथा तथा आत्तं गृहीतं पदम् आधिपत्यं जगतामिति भावः येन तथाविधं त्रयीपदजुषां वेदमार्गयायिनां विद्वेषिणं शत्रुं पुलस्त्यस्य अपत्यं पुमान् पौलस्त्यः तं पुलस्त्यपौत्रमित्यर्थः राक्षसं रावणम् अहन् जघान, स रामाभिधानः रामनामा हरिः भवतः युष्मान् पातु रक्षतु ॥ ५०९ ॥

प्रयोगातिशयो यथा,—

अत्याहितमवतु हरेः क्ष्मामुद्धरतो वराहवपुषो वः ।
शेषफणारत्नदर्पणसहस्रसंक्रान्तबिम्बस्य ॥ ५१० ॥

प्रयोगातिशय का उदाहरण—

पृथ्वी का उद्धार कर रहे, शूकरमूर्तिधारी, शेषनाग की हजार फनों पर विद्यमान मणि रूपी दर्पण-सहस्रों में प्रतिबिम्बित छाया वाले हरि का अतिप्रयास आप लोगों की रक्षा करें ॥ ५१० ॥

अत्याहितमिति । क्ष्मां पृथ्वीम् उद्धरतः रसातलात् उत्तोलयतः वराहवपुषः शूकरमूर्तेः शेषस्य अनन्तनागस्य फणासु सहस्रसंख्यकास्विति भावः यानि रत्नानि मणयः तान्येव दर्पणानां सहस्राणि तेषु संक्रान्तं बिम्बं छाया यस्य तथाभूतस्य हरेः नारायणस्य अत्याहितम् अतिप्रयत्नः रसातलात् क्ष्मोद्धरणे इति भावः वः युष्मान् अवतु रक्षतु । उत्थापितमिति पाठान्तरम् ॥ ५१० ॥

प्रवर्त्तको यथा,—

आसादितप्रकटनिर्मलचन्द्रहासः
प्राप्तः शरत्समय एष विशुद्धकीर्त्तिः ।
उत्साद्य गाढतमसं घनकालमुग्रं
रामो दशास्यमिव सम्भृतबन्धुजीवः ॥ ५११ ॥

प्रवर्तक का उदाहरण—

अत्यन्त निर्मल चन्द्र की ज्योत्स्ना से समन्वित, निर्मल कीर्ति वाला, बन्धुजीव नामक पुष्पों को विकसित करने वाला शरद्-काल गहन अन्धकार से युक्त, भयङ्कर वर्षाकाल को समाप्त कर उसी प्रकार प्राप्त हो गया जिस प्रकार अपनी निर्मल तलवार (चन्द्रहास) को लिये हुये, उज्ज्वल यश वाले अपने भाई-बन्धुओं को प्रसन्न करने वाले राम महातामसी तथा मेघ के सदृश काले रावण को समाप्त कर उपस्थित हुये थे। ५११ ॥

स्व० द्०—भारती आदि वृत्तियों के लक्षण नाट्यशास्त्र (२२।२५, ३८, ४७, ५६) से उद्धृत हैं। वहीं पर भारती के चारों भेद दिये गये हैं—

भेदास्तस्यास्तु विज्ञेयाश्चत्वारोऽङ्गत्वमागताः।
प्ररोचना मुखं चैव वीथी प्रहसनं तथा ॥
जयन्यदायिनी चैव मङ्गल्या विजयावहा।
सर्वपापप्रशमनी पूर्वरङ्गे प्ररोचना ॥
नटीविदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा।
सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते ॥
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैर्वीथ्यङ्गैरन्यथापि वा।
आमुखं तत्तु विज्ञेयं बुधैः प्रस्तावनापि सा।
आमुखाङ्गान्यतो वक्ष्ये यथावदनुपूर्वशः ॥
उद्घात्यकः कथोद्घातः प्रयोगातिशयस्तथा।
प्रवृत्तकावलगिते आमुखाङ्गानि पञ्च वै ॥ ना. शा. २२।२६-३० ॥

इसी प्रकार कथोद्घात आदि के भी लक्षण इस प्रकार दिये गये हैं—

सूत्रधारस्य वाक्यं वा यत्र वाक्यार्थमेव वा।
गृहीत्वा प्रविशेत् पात्रं कथोद्घातः स कीर्तितः ॥
प्रयोगेऽत्र प्रयोगं तु सूत्रधारः प्रयोजयेत्।
ततश्च प्रविशेत् पात्रं प्रयोगातिशयो हि सः ॥
प्रवृत्तं कार्यमाश्रित्य सूत्रभृद् यत्र वर्णयेत्।
तदाश्रयाच्च पात्रस्य प्रवेशस्तत् प्रवृत्तकम् ॥ वही २२।३२-३४ ॥

आसादितेति। आसादितः प्राप्तः प्रकटः उज्ज्वलः निर्मलः विशदः चन्द्रस्य हासः विकासः चन्द्रहासोऽसिश्च येन तथाभूतः विशुद्धा निर्मला कीर्त्तिः ख्यातिः यशश्च यस्य तथोक्तः तथा सम्मृतानि विकसितानि बन्धुजीवानि तदाख्यकुसुमानि यत्र तादृशः अन्यच्च सम्मृताः सम्पालिताः बन्धूनां जीवा जीवनानि येन तथोक्तः एष शरत्समयः रामो दशास्यं दशाननमिव गाढं तमः तिमिरं मोहस्य यत्र तम् उग्रं दारुणं घनकालं मेघसमयं वर्षाकालमित्यर्थः अन्यत्र अतिकृष्णकायम् उत्साद्य निरस्य व्यापाद्य च प्राप्तः उपस्थितः ॥ ५११ ॥

अवलगितं यथा,--अमुमेव शरत्समयमाश्रित्य गीयताम्, तथा ह्यस्याम्

सत्पक्षा मधुरगिरः प्रसाधिताशा मदोद्धतारम्भाः।
निपतन्ति धार्त्तराष्ट्राः कालवशात् मेदिनीपृष्ठे ॥ ५१२ ॥

अवलगित का उदाहरण—'इसी शरत् काल का आश्रय लेकर गाइये, क्योंकि इस ऋतु में—
(अर्थादि हेतु द्रष्टव्य १।१४५ ॥) ॥ ५१२ ॥

सत्पक्षा इति। सन्तौ शोभनौ पक्षौ येषाम् अन्यत्र सन्तः विद्यमानाः साधवश्च पक्षाः सहायाः येषां तथोक्ताः। 'पक्षः पत्रं सहायोऽस्त्रीत्यमरः'। मधुरा मनोहारिण्यः गिरः वाचः येषां तथाभूताः मधुरभाषिण इत्यर्थः प्रसाधिताः रक्षिताः आशा दिशः अन्यत्र प्रसाधिताः पूरिताः आशा अभिलाषः अर्थिनामिति भावः यैः तादृशाः मदेन उल्लासेन उद्धृताः उत्कटाः आरम्भाः चेष्टितानि अन्यत्र मदेन गर्वेण उद्धता दारुणा आरम्भाः कर्माणि द्रौपद्याः सभायां केशाम्बराकर्षणादीनि येषां तादृशाः धार्त्तराष्ट्राः हंसविशेषाः धृतराष्ट्रतनयाश्च कालवशात् समयवशात् मेदिनीपृष्ठे महीतले रणभूमौ च निपतन्ति विचरन्ति-व्यापादिताः पतन्ति च ॥ ५१२ ॥

स्वधर्मात्प्रचलितानां तापसादीनाम् उपहासपरं वचः प्रहसनम्, यथा—

श्रमणः श्रावकवध्वाः सुरतविधौ दंशति नाधरं दत्तम्।
मदिराक्षि ! मांसभक्षणमस्मत्समये निषिद्धमिति ॥ ५१३ ॥

अपने धर्म से विचलित तपस्वी आदि के विषय में उपहास करने वाली वाणी प्रहसन है। जैसे—

कोई बौद्ध भिक्षु अपने धर्मशील शिष्य की पत्नी के साथ मैथुन व्यापार में दन्तक्षत के लिये दिये गये अधरों का दंशन नहीं करता और कहता है कि 'मतवाले नयनों वाली, हमारे लिये अपेक्षित नियमों में मांस का भक्षण वर्जित है' ॥ ५१३ ॥

स्वधर्मवदिति। स्वस्य धर्मः आमिषभक्षणवर्जनरूपः तं विदन्ति जानन्तीति तथाभूतानां प्रचलितानां चापल्यवताम् इन्द्रियपरतन्त्राणामिति भावः तापसादीनां तपस्विप्रभृतीनाम् ॥

श्रमण इति। श्रमणो बौद्धसंन्यासी कश्चित् श्रावकस्य धर्मश्रवणशीलस्य सेवकभूतस्य शिष्यस्य वध्वाः सुरतविधौ रमणव्यापारे, हे मदिराक्षि ! मत्तखञ्जननयने ! मदिरो मत्तखञ्जन इति कोषः यद्वा मदिरे उन्मादकारिणी अक्षिणी यस्यास्तत्सम्बुद्धौ। अस्माकं समये शास्त्रनियमे मांसभक्षणं निषिद्धम् इति उक्तेति शेषः दत्तं दंशनार्थमुपनीतम् अधरं न दंशति न दंशनक्षतं करोतीत्यर्थः। दंशने आमिषास्वादः स्यादिति भावः। दत्तमित्यत्र दन्तैरिति पाठान्तरं वस्तुसंक्षेपः संक्षेपेण वस्तुनः उक्तिरित्यर्थः ॥ ५१३ ॥

संक्षिप्तिका, अवपातः, वस्तूत्थापनं, संस्फोटः इति चत्वारि आरभट्यङ्गानि ॥

तेषु माहेन्द्रजालनेपथ्यादिभिः वस्तुसंक्षेपः संक्षिप्तिका यथा,

रक्षसा मृगरूपेण वञ्चयित्वा स राघवौ।
जहार सीतां पक्षीन्द्रप्रयासक्षणविघ्नितः ॥ ५१४ ॥

संक्षिप्तिका, अवपात, वस्तूत्थापन तथा संस्फोट ये चार आरभटी के अङ्ग हैं। इनमें से इन्द्रजाल, नेपथ्य आदि के द्वारा वस्तु का संक्षेप संक्षिप्तिका है। जैसे—
(अर्थादि के लिये द्रष्टव्य ५।४१४ ॥) ॥ ५१४ ॥

रक्षसेति। स रावणः मृगरूपेण स्वर्णमृगरूपधारिणा रक्षसा मारीचेन राघवौ रामलक्ष्मणौ वञ्चयित्वा प्रतार्य्य आश्रमात् निष्कास्येति यावत् पक्षीन्द्रस्य जटायुषः प्रयासेन प्रयत्नेन आक्रमणेनेत्यर्थः क्षणम् अल्पकालं विघ्नितः सञ्जातविघ्नः सन् सीतां जहार हृतवान्॥ ५१४॥

भयादिभिः विद्रवादिमर्मानुप्रवेशनिर्गमनमवपातो यथा,--

मृगरूपं परित्यज्य विधाय विकटं वपुः।
नीयते रक्षसा तेन लक्ष्मणो युधि संशयम्॥ ५१५॥

भय आदि के कारण भागने आदि कामों में प्रवेश तथा निर्गमन अवपात है। जैसे— मृगरूप को छोड़कर, भयङ्कर रूप धारण करके, राम से युद्ध के समय राक्षस मारीच के द्वारा लक्ष्मण संदेह में डाल दिये॥ ५१५॥

मृगरूपमिति। तेन रक्षसा मारीचेन युधि युद्धे रामेणेति शेषः मृगरूपं परित्यज्य विहाय विकटं भीषणं वपुः शरीरं विधाय लक्ष्मणः संशयं कथमेतत् मृगरूपत्यागेन राक्षसरूपधारणं कस्यचित् छलनेन वा मम आश्रमात् निष्कासनं देव्याः सीतायाः का प्रवृत्तिरिति विविधवितर्कं प्राप्यते स्मेत्यध्याहार्य्यम्॥ ५१५॥

अविद्रवः सविद्रवो वा सर्वरसभावसमासो वस्तूत्थापनं, यथा--

राहोश्चन्द्रकलामिवाननचरीं दैवात् समासाद्य मे
दस्योरस्य कृपाणपातविषयादाच्छिन्दतः प्रेयसीम्।
आतङ्काद् विकलं द्रुतं करुणया विक्षोभितं विस्मयात्
क्रोधेन ज्वलितं मुदा विकसितं चेतः कथं वर्त्तताम्?॥ ५१६॥

उपद्रव रहित अथवा उपद्रव सहित सभी भावों और रसों का सम्मेलन वस्तूत्थापन है, जैसे—

(अर्थ आदि के लिये द्रष्टव्य ३।४००॥)॥ ५१६॥

अविद्रव इति। अविद्रवः उपद्रवरहितः, सविद्रवः सोपद्रवः, सर्वेषां रसानां भावानाञ्च समासः संमेलनम्।

राहोरिति। राहोः आननचरीं सुखवर्त्तिनीं चन्द्रकलामिव प्रेयसीं प्रियतमां मालतीं दैवात् सहसा भाग्येन वा समासाद्य प्राप्य दृष्ट्वा वा अस्य दस्योः तस्करस्य कृपाणपातः खड्गपातः एव विषयः तस्मात् आच्छिन्दतः आकृष्य नयत इत्यर्थः मे मम चेतः चित्तम् आतङ्कात् भयात् विकलं विवशीकृतं करुणया कृपया द्रुतं द्रवीभावं प्राप्तं विस्मयात् विस्मयं प्राप्येत्यर्थः विक्षोभितं विलोडितं, क्रोधेन ज्वलितं दीपितं मुदा आनन्देन प्रेयसीरक्षणजनितयेति भावः विकसितम् उल्लसितं सत् कथं केन प्रकारेण वर्त्तताम्? स्थिरीभूय तिष्ठतु?॥ ५१६॥

नानास्त्रयुद्धनियुद्धादिभिः ससंरम्भसम्प्रहारः संस्फोटो, यथा--

कृष्टा येन शिरोरुहेषु पशुना पाञ्चालराजात्मजा
येनास्याः परिधानमप्यपहृतं राज्ञां गुरूणां पुरः।

यस्योरःस्थलशोणितासवमहं पातुं प्रतिज्ञातवान्
सोऽयं मद्भुजपञ्जरे निपतितः संरक्ष्यतां कौरवाः ! ॥ ५१७ ॥

अनेक अस्त्रों से युद्ध तथा बाहुयुद्ध आदि से बड़े क्रोधपूर्वक कस कर की गई मार संस्फोट है, जैसे—

जिस (नर) पशु ने द्रौपदी को केशों में पकड़कर खींचा, और जिसने इसके ही वस्त्रों का बड़े बूढ़े राजाओं के सामने ही अपहरण किया, मैंने (भीम ने) जिसके वक्षःस्थल के रक्त को पीने की प्रतिज्ञा की थी वही दुःशासन इस समय मेरी भुजाओं के पिंजड़े में आ गया है, अब कौरव लोग उसकी रक्षा तो करें ॥ ५१७ ॥

नानेति । नानास्त्राणि विविधायुधानि तैः युद्धं तथा नियुद्धं बाहुयुद्धं तदेवमादिभिः ससंरम्भं सावेगं सक्रोधं वा यथा तथा सम्प्रहारः अन्योन्यप्रतीघातः ।

कृष्टेति । येन पशुना चतुष्पदत्वं गतेनेति यावत् पाञ्चालराजस्य आत्मजा तनया द्रौपदीत्यर्थः शिरोरुहेषु केशेषु अवच्छेदे सप्तमी कृष्टा आकृष्य राजसभां नीतेत्यर्थः, येन राज्ञां गुरूणां भीष्मद्रोणादीनाञ्च पुरोऽग्रतः अस्याः द्रौपद्याः परिधानं परिधेयं वसनमपि अपहृतं, यस्य उरःस्थलस्य वक्षसः शोणितमेव आसवः मदिरा तं पातुम् अहं प्रतिज्ञातवान् कृतप्रतिज्ञः अस्मीत्यर्थः सोऽयं पशुः दुःशासनः मम भुजावेव पञ्जरः पश्वादिरोधनस्थानमित्यर्थः तस्मिन् निपतितः समुपस्थित इत्यर्थः, हे कौरवाः ! कुरुप्रवीराः ! संरक्ष्यतां परित्रायताम् ॥ ५१७ ॥

नर्म, नर्मस्फिजः, नर्मस्फोटः, नर्मगर्भ इति चत्वारि कैशिक्यङ्गानि ॥

तेषु स्थापितशृङ्गारं वचः विचेष्टितं वा सपरिहासं नर्म, यथा—

वयं तथा नाम यथात्थ किं वदा-
म्ययं त्वकस्माद् विकलः कथान्तरे ।
कदम्बगोलाकृतिमाश्रितः कथं
विशुद्धमुग्धः कुलकन्यकाजनः ? ॥ ५१८ ॥

नर्म, नर्मस्फिज, नर्मस्फोट, नर्मगर्भ ये चार कैशिकी के अङ्ग हैं । इनमें से शृङ्गार की रक्षा करने वाली वाणी अथवा चेष्टायें जो उपहासपूर्वक हों, नर्म हैं, जैसे—

हम निश्चित ही वैसे ही हैं, जैसा कि तुमने कहा है । मैं क्या कहूँ ? यह निर्दोष तथा मनोहर कुलीन कन्या कथा के बीच में ही सहसा विवश होकर कदम्ब के पुष्प के आकार (रोमाञ्चभाव) को कैसे प्राप्त हो गयी ? ५१८ ॥

स्थापितेति । स्थापितः रक्षितः योजित इति यावत् शृङ्गारो यत्र तादृशम् ।

वयमिति । वयं तथा तादृशा दुरभिसन्धिवर्जिता इति भावः नाम प्राकाश्ये, प्रकाशं ब्रूम इत्यर्थः, यथा आत्थ ब्रवीषि अस्य कुलकन्यकाजनविषयिणीं वार्त्तामिति भावः किं वदामि किं कथयामि तवेति शेषः । अयन्तु विशुद्धः निर्दोषः मुग्धः सरलः कुलकन्यकाजनः कुलजा कन्येत्यर्थः कथान्तरे कथाप्रसङ्गावसरे अकस्मात् सहसा विकलः विवशः सन् कथं कदम्बगोलस्य कदम्बपुष्पस्य गोलः वर्त्तुलाकारः सर्वावयवः तस्य आकृतिम्

आकारं सादृश्यमित्यर्थः आश्रितः प्राप्तः यथा कदम्बगोले एकदैव सर्वे केशराः समुत्पद्यन्ते-तथा अस्य कन्याजनस्य सर्वाणि गात्राणि रोमाञ्चपूर्णानि जातानीति भावः ॥ ५१८ ॥

प्रथमसम्भोगे नवावस्थानं सम्भोगाश्रयवाक्यादिकर्म नर्मस्फिजः यथा—

प्राप्तासौ वृषपर्वणः प्रियसुता सङ्केतखण्डे नवे
वृष्टिः सेयमनम्बुदाऽमृतमयी गात्राणि मे सिञ्चति ।
किं जानामि विनोदयिष्यति मनः सन्तप्तमेवाद्य मे
दुर्वात्येव निवर्त्तयिष्यति न भोस्तां देवयानीं प्रति ॥ ५१९ ॥

पहले ही सम्भोग में नई-नई प्रवृत्तियों से युक्त संभोगविषयक चर्चा अथवा कर्म नर्मस्फिज है। जैसे—

यह दैत्यराज वृषपर्वा की प्रिय पुत्री शर्मिष्ठा नये सम्भोगगृह में उपस्थिति हुई है। यह शर्मिष्ठा विना बादल के ही सुधामयी वृष्टि की भांति मेरे अङ्गों को सरस किये दे रही है। मुझे तो ऐसा लगता है कि यदि शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी प्रचण्ड झंझावात की तरह आकर उस अमृतमयी वृष्टि की भांति शर्मिष्ठा को प्रताडित कर दूर नहीं कर देती है, तो अरे, आज ही वह मेरे (कामावेश के कारण) सन्तप्त मन को अवश्य ही आनन्दित कर देगी ॥ ५१९ ॥

प्रथमेति। प्रथमसम्भोगे नवम् अवस्थानं प्रवर्त्तनं तत्र सम्भोगाश्रयवाक्यादिना सम्भोगविषयककथादिना नर्म परिहासवचनं नर्मस्फिजः।

प्राप्तेति। असौ वृषपर्वणः दैत्यराजस्य प्रियसुता। प्रिया दुहिता शर्मिष्ठेत्यर्थः नवे नूतने सङ्केतखण्डे सम्भोगनिकेतने इति यावत् प्राप्ता उपस्थिता। सा इयं शर्मिष्ठेति भावः अनम्बुदा अनभ्रा अमृतमयी सुधामयी वृष्टिः तद्रूपेति भावः मे मम गात्राणि अङ्गानि सिञ्चति आर्द्रीकरोतीत्यर्थः। किं जानामि, यदि देवयानी शुक्रदुहिता दुर्वात्येव कर्कशा वायुराशिरिव ताम् अमृतमयीं वृष्टिरूपां शर्मिष्ठामिति भावः न निवर्त्तयिष्यति न निवारयिष्यति न सन्ताडयिष्यतीत्यर्थः भोः। तदा अद्य मे मम सन्तप्तं मदनावेशेनेति भावः मनः चित्तं विनोदयिष्यति एव अवश्यं प्रीणयिष्यतीत्यर्थः ॥ ५१९ ॥

आविर्भूताभिलाषानुभावयोः अकाण्डसम्भोगभङ्गः नर्मस्फोटः, यथा—

इतः परानर्भकहार्य्यशस्त्रान् वैदर्भि ! पश्यानुमता मयाऽसि ।
एवंविधेनाहवचेष्टितेन त्वं प्रार्थ्यसे हस्तगता ममैभिः ॥ ५२० ॥

प्रकट हुई अभिलाषा तथा चेष्टा वालों के सम्भोग का एकाएक भङ्ग हो जाना नर्मस्फोट है। जैसे—

हे विदर्भदेशोत्पन्न इन्दुमती, तू मेरे द्वारा अनुज्ञात है, तू इस स्थान से जिनके शस्त्रों को बच्चे भी ले जा सकते हैं, उन शत्रुओं को देख। ये शत्रु राजा मेरे हाथ में आई हुई तुमको इसी प्रकार की युद्ध की क्रिया के द्वारा हर लेने की इच्छा करते हैं ॥ ५२० ॥

इत इति। हे वैदर्भि ! विदर्भनन्दिनि इन्दुमति ! मया अनुमता अनुज्ञातासि, इतः अस्मात् प्रदेशात् परान् शत्रून् अर्भकैः बालकैः हार्य्याणि हर्त्तुं शक्यानि शस्त्राणि येषां तथाविधान् प्रस्वापनास्त्रप्रयोगेण अचेतनपतितानिति भावः पश्य अवलोकय। एभिः

शत्रुभिः राजभिः मम हस्तगता त्वम् एवंविधेन एवम्प्रकारेण आहवचेष्टितेन युद्धव्यापारेण प्रार्थ्यसे हर्त्तुम् अभिलष्यते इत्यर्थः ॥ ५२० ॥

कार्य्यहेतोः स्वरूपविज्ञानादिप्रच्छादनं नर्मगर्भः, यथा--

अथाजिनाषाढधरः प्रगल्भवाक् ज्वलन्निव ब्रह्ममयेन तेजसा ।
विवेश कश्चिज्जटिलस्तपोवनं शरीरबद्धः प्रथमाश्रमो यथा ॥५२१॥

कार्य तथा कारण के रूपज्ञान आदि को छिपाना नर्मगर्भ है । जैसे इसके पश्चात् पालाश दण्ड धारण किये हुये, चतुरवाणी वाला, ब्रह्मतेज से दमकता हुआ सा कोई जटाधारी उस तपोवन में प्रविष्ट हुआ जो साक्षात् शरीर धारी ब्रह्मचर्याश्रम जैसा लगता था ॥ ५२१ ॥

स्व० द०—कैशिकी के चारों अङ्गों का निरूपण भरत ने इन शब्दों में किया है—

नर्म च नर्मस्फुजो नर्मस्फोटोऽथ नर्मगर्भश्च ।
कैशिक्याश्चत्वारो भेदा ह्येते समाख्याताः ॥
आस्थापितशृङ्गारं विशुद्धकरणं निवृत्तिवीररसम् ।
हास्यप्रवचनबहुलं नर्म त्रिविधं विजानीयात् ॥
ईर्ष्याक्रोधप्रायं सोपालम्भवचनविद्धं च ।
आरभोपक्षेप कृतं सविप्रलम्भं स्मृतं नर्म ॥
नवसङ्गमसम्भोगो रतिसमुदयवाक्यवेषसंयुक्तैः ।
ज्ञेयो नर्मस्फुजो ह्यवसानमयात्मकश्चैव ॥
विविधानां भावानां लवैर्लवैर्भूषितो बहुविशेषः ।
असमग्राक्षिप्तरसो नर्मस्फोटस्तु विज्ञेयः ॥
विज्ञानरूपशोभाधनादिभिर्नायको गुणैर्यत्र ।
प्रच्छन्नं व्यवहरते कार्यवशान्नर्मगर्भोऽसौ ॥ ना. शा. २२।४८-५३ ॥

अथेति । अथ पार्वत्याः तपसः परमोत्कर्षदर्शनानन्तरमित्यर्थः अजिनं कृष्णमृगत्वक् आषाढः पालाशो दण्डः तयोः धरतीति धरः पचाद्यच् । प्रगल्भा धृष्टा वाक् यस्य तथोक्तः वाचाल इत्यर्थः ब्रह्ममयेन वेदानुशीलनजनितेनेति भावः तेजसा ज्योतिषा ब्रह्मवर्चस्वेनेत्यर्थः ज्वलन्निव दीप्यमान इव कश्चित् जटिलः जटाधारी पुरुषः शरीरबद्धः मूर्त्तिमान् प्रथमाश्रमो यथा ब्रह्मचर्य्यमिव तपोवनं पार्वत्या इति शेषः विवेश आजगाम ॥ ५२१ ॥

उत्थापकः, परिवर्त्तकः, संलापकः, संघात्यक इति चत्वारि सात्वत्यङ्गानि ॥

तेषु परम्परीभूयार्थेषु उत्थापनं उत्थापकः, यथा--

प्रहर मम तु कायं प्राक्प्रहारप्रियोऽहं
अपि तु कृतविघाते किं विदध्याः परस्मात् ? ।
झटिति विततबह्वङ्गारभास्वत्कुठार-
प्रविघटितकठोरस्कन्धबन्धः कबन्धः ॥ ५२२ ॥

उत्थापक, परिवर्तक, संलापक तथा संघात्यक ये चार सात्वती के अङ्ग हैं । इनमें परम्परा बन कर अर्थों में उत्थापना करना उत्थापक है, जैसे—

तुम पहले मेरे शरीर पर प्रहार करो, अपने शत्रु से ही प्रथम प्रहार चाहता हूँ, क्योंकि मेरे ही सर्वप्रथम प्रहार कर देने पर तत्काल बाद एकाएक बहुत सी चिनगारियों को निकालने से चमक उठे परशु से गर्दन काट देने पर केवल धड़ मात्र शेष रह कर तुम क्या कर सकोगे ? ॥ ५२२ ॥

प्रहरेति। तु इति अवज्ञासूचकमव्ययम्। मम कायं मच्छरीरं प्रहर मम शरीरे अस्त्रं प्रयुङ्क्ष्वेत्यर्थः प्रागिति शेषः। अहं प्रहारः पूर्वप्रहारः प्रतिवीरकर्त्तृक इति भावः प्रियो यस्य तथोक्तः। नाहं प्रतिवीरे पूर्वं प्रहरामि अहमेव पूर्वं प्रहारं प्राप्तुमिच्छामीति भावः। तु यत इत्यर्थः मयि कृतविघाते कृतप्रहारे प्राक् प्रहृतवतीत्यर्थः सति परस्तात् समनन्तरमेवेत्यर्थः झटिति विततैः विस्तृतैः बहुभिः प्रभूतैः अङ्गारैः अग्निशिखाभिरित्यर्थः भास्वान् यः कुठारः तेन प्रविघटितः प्रकर्षेण विच्छिन्नः कठोरः कठिनः स्कन्धबन्धः कण्ठदेशः यस्य तथाभूतः कबन्धः क्रियाशून्यम् अशिरः कलेवरं तद्भूत इत्यर्थः 'कबन्धोऽस्त्री क्रियाशून्यमपमूर्द्धकलेवरमि'त्यमरः। त्वं किं विदध्याः ? किं कुर्य्याः ? न किमपि कर्त्तुं शक्नुयामीति भावः। विदध्यादिति पाठे तादृशः कबन्धः किं विदध्यादित्यर्थः। रामं प्रति परशुरामस्य उक्तिः ॥ ५२२ ॥

प्रस्तुतार्थत्यागादन्यार्थभजनं परिवर्त्तकः, यथा—

मुनिमभिमुखतां निनीषवो याः
समुपययुः कमनीयतां गुणेन।
मदनमुपदधे स एव ताभ्यो
दुरधिगमा हि गतिः प्रयोजनानाम् ॥ ५२३ ॥

विद्यमान अर्थ का परित्याग करके दूसरे अर्थ को प्राप्त करना परिवर्तक है, जैसे—

जो अप्सरायें सौन्दर्य के प्रभाव से उस मुनि को अपनी ओर आकृष्ट करने की इच्छा से समीप आईं उस मुनि ने ही उन देवाङ्गनाओं में काम को प्रेरित कर दिया, क्योंकि कार्यों का प्रसार दुर्ज्ञेय होता है अर्थात् क्या करने पर क्या हो जायगा इसे कोई जान नहीं सकता ॥ ५२३ ॥

मुनिमिति। याः सुराङ्गना इति भावः कमनीयतागुणेन सौन्दर्य्यप्रभावेण तापसम् अभिमुखतां वश्यतां निनीषवः नेतुमिच्छवः सत्यः समुपययुः समुपागमन् स मुनिः ताभ्य एव सुराङ्गनाभ्यः मदनं कामम् उपदधे मनसि उत्तेजितवान् मुनेः कामवश्यता दूरे तिष्ठतु, ता एव तदर्शनेन कामार्त्ता आसन्निति निष्कर्षः हि तथाहि प्रयोजनानां कार्य्याणां गतिः प्रसरः दुरधिगमा दुर्ज्ञेया किं कृते किं स्यादिति न केनापि ज्ञातुं शक्यते इति भावः। अत्र प्रस्तुतार्थस्य मुनितपोभङ्गरूपस्य असामर्थ्येन परित्यागेन स्वीयकामवश्यताभजनमिति परिवर्त्तकत्वम् ॥ ५२३ ॥

सदसि नानावाक्यैः मिथोऽधिक्षेपः संलापकः, यथा—

कथमपि न निषिद्धो दुःखिना भीरुणा वा
द्रुपदतनयपाणिस्तेन पित्रा ममाद्य।
तव भुजबलदर्पाध्मायमानस्य वामः
शिरसि चरण एष न्यस्यते वारवैनम् ॥ ५२४ ॥

सभा में अनेक प्रकार के वाक्यों से परस्पर एक दूसरे पर आक्षेप करना संलापक है। जैसे—

मेरे पिता द्रोण ने पता नहीं क्यों दुःखी होने से अथवा भीरु होने से द्रुपद के पुत्र धृष्टद्युम्न के हाथ को नहीं रोका। किन्तु आज मैं अश्वत्थामा बाहु के बल के घमण्ड से भर रहे तुम्हारे शिर पर यह बायां चरण रखने जा रहा है, अब तू इसे ही धारण कर, अथवा अब तुम इसको रोक तो देखूँ॥ ५२४॥

सदसीति। सदसि सभायां मिथः परस्परम् अधिक्षेपः आक्रोशः।

कथमिति। तेन मम पित्रा द्रोणेनेति यावत् अद्य दुःखिना युधिष्ठिरवाक्यविश्वासात् मद्विनाशस्य निश्चयेनेति भावः भीरुणा भयशीलेन वा सता द्रुपदतनयस्य धृष्टद्युम्नस्य पाणिः खड्गप्रहाराय उद्यत इति भावः कथमपि कथञ्चिदपि केनापि अनिर्वचनीयेन कारणेनेति भावः न निषिद्धः न निवारितः न प्रतिहत इति भावः। भुजबलस्य बाहुवीर्य्यस्य दर्पेण अहङ्कारेण आध्मायमानस्य आपूर्य्यमाणस्य तव शिरसि मस्तके एषः वामश्चरणः न्यस्यते निधीयते एनं वामचरणं धारय निवारयेति यावत्। कर्णं प्रति अश्वत्थाम्नोऽधिक्षेपः॥ ५२४॥

कार्य्यमन्त्रानुभावदैवादिभिः सङ्घातभेदः सङ्घात्यकः, यथा—

अपश्यद्भिरिवेशानं रणात् निववृते गणैः।
मुह्यत्येव हि कृच्छ्रेषु सम्भ्रमाधिगतं मनः॥ ५२५॥

कार्य, मन्त्रणा, अनुभाव, दैव आदि के कारण संघातभेद होना संघात्यक है, जैसे—

प्रमथगणों ने शिव के दिखाई न देने पर युद्धभूमि से पलायन कर दिया, क्योंकि भय से अभिभूत मन संकटकाल में मोहित—किंकर्त्तव्यविमूढ—हो ही जाया करता है॥ ५२५॥

कार्य्येति। सङ्घातभेदः दलभङ्गः॥

अपश्यद्भिरिति। गणैः प्रमथवर्गैः स्कन्दादिभिः ईशानं हरम् अपश्यद्भिरिव तापसस्य अर्जुनस्य शस्त्राघातेन दिग्विदिग्ज्ञानशून्यैरिवेति भावः रणात् संग्रामात् निववृते निवृत्तं पलायितमित्यर्थः। हि यतः कृच्छ्रेषु सङ्कटेषु सम्भ्रमेण भयेन अधिगतं युक्तं भयार्त्तमित्यर्थः मनः चित्तं मुह्यत्येव मोहं गच्छत्येव कार्य्याकार्य्यविमूढतां प्राप्नोत्येवेत्यर्थः॥ ५२५॥

चतुर इत्यनेन शास्त्रीयलौकिकव्यवहारवेदिनो नायकस्य धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यमुच्यते। उदात्त इत्यनेन आशयविभूत्योः आभिजात्ययौवनादीनां च उत्कर्षः प्रकाश्यते। चतुर्वर्गफलं प्रबन्धे को वा न बान्धवीयति इत्यनेन श्रोतृणां रामादिवद् वर्त्तितव्यं, न रावणादिवदिति विधिनिषेधनिबन्धनस्य प्रबन्धस्य अभीष्टतमत्वमाख्यायते। मुखं प्रतिमुखमित्यादिना तु पञ्चाङ्गं प्रबन्धशरीरमभिधीयते। तदङ्गानि च उपक्षेपपरिकरादीनि चतुःषष्टिरपि मुखादिषु एव अन्तर्भवन्ति। यतः तद्वदेव पञ्चसन्ध्येकमपि वाक्यं प्रबन्धव्यपदेशमासादयति। तद्यथा,—'कथमपि कृतप्रत्यासत्तौ प्रिये' इति मुखं, 'स्खलितोत्तरे' इति प्रतिमुखं, 'विरहकृशया कृत्वा व्याजं प्रजल्पितमश्रुतम्' इति गर्भः, 'असहनसखीश्रोत्रप्राप्तिप्रसादससम्भ्रमं-विगलितदृशा इति विमर्षः, शून्ये गेहे समुच्छ्वसितं

इति निर्वहणम्। एतेन प्राचीनप्रबन्धार्थेऽपि एकवाक्योक्तेन प्रबन्धत्व-मित्याख्यातं भवति ॥

(नायक के लिये प्रयुक्त) 'चतुर' इस पद से शास्त्र तथा लोकव्यवहार को जानने वाले नायक की धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष में निपुणता भी कह दी जाती है। 'उदात्त' इस पद के प्रयोग से अभिप्राय तथा सम्पत्ति इन दोनों, तथा सत्कुलीनता और जवानी आदि का उत्कर्ष भी प्रकाशित होता है। (धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष उस) चारों पुरुषार्थ रूपी फल वाले प्रबन्ध को कौन भला अपना बन्धु नहीं बना लेगा, इससे श्रोताओं को 'राम आदि के समान व्यवहार करना चाहिये, न कि रावण के समान' इस प्रकार के विधि तथा निषेध से निबद्ध प्रबन्ध काव्य की अत्यधिक अभीष्टता कही जाती है। 'मुख, प्रतिमुख' आदि के निर्देश द्वारा यह प्रकट किया जाता है कि प्रबन्ध काव्य का शरीर पाँच अङ्गों से युक्त है। उपक्षेप, परिकर आदि उसके चौसठों अङ्गों का 'मुख' आदि सन्धियों में 'अन्तर्भाव' हो जाता है, क्योंकि उस उपक्षेप, परिकर आदि से युक्त ही की भाँति-पाँचों सन्धियों से युक्त एक भी वाक्य 'प्रबन्ध' नाम को प्राप्त कर लेता है। जैसे कि—'कथमपि कृतप्रत्यासत्तौ प्रिये'—किसी प्रकार से प्रिय के समीप आने पर—इसमें मुखसन्धिता, 'स्खलितोत्तरे'—ठीक से जवाब न दे पाने पर-इसमें प्रतिमुख, 'विरहकृशया कृत्वा व्याजं प्रजल्पितमश्रुतम्'—विरह के कारण दुबली पड़ गई नायिका ने बहाना बना कर उसकी बात को नहीं सुना—इसमें गर्भसन्धि, 'असहनसखी श्रोत्रप्राप्तिप्रसादससम्भ्रमं, विगलितदृशा क्रुद्धसखी के पास से सुने गये प्रियप्राप्तिरूप प्रसाद के कारण गौरव से युक्त आँखों में आँसू भर कर—इससे विमर्श तथा 'शून्ये गेहे समुच्छ्वसितम्'—सूने घर में लम्बी उसासे लीं।' इससे निर्वहण की प्रतीति हो जाती है। इससे एक वाक्य से उक्त पुराने प्रबन्धों के अर्थ में भी प्रबन्धत्व होता है, यह (स्वतः) सिद्ध हो जाता है।

स्व० द०—सात्त्वती के भेदों के विषय में भरत ने भी कहा था कि—

उत्थापकश्च परिवर्तकश्च संलापकः ससंघातः।
चत्वारोऽस्या भेदा विज्ञेया नाट्यतत्त्वज्ञैः ॥
अहमप्युत्थास्यामि त्वं तावद् दर्शयात्मनः शक्तिम्।
इतिसङ्घर्षसमाश्रयमुत्थितमुत्थापको ज्ञेयः ॥
उत्थानसमारब्धानर्थानुत्सृज्य योऽर्थयोगवशात्।
अन्यानर्थान् भजते स चापि परिवर्तको ज्ञेयः ॥
साधर्षजो निराधर्णजो वापि विविधवचनसंयुक्तः।
साधिक्षेपालापो ज्ञेयः संलापकः सोऽपि ॥
मित्रार्थकार्ययुक्त्या दैववशादात्मदोषयोगाद् वा।
संघातभेदजननस्तज्ज्ञैः संघातको ज्ञेयः ॥ ना. शा. २२।४१-४५ ॥

इसके अतिरिक्त 'चतुर इत्यनेन०' आदि वृत्ति में नायक के गुण तथा प्रबन्ध के गुणों की चर्चा की गई है। अन्त में भोज ने यह भी प्रतिपादित किया है कि यदि एक ही श्लोक में मुख, प्रतिमुख आदि सन्धियों का भाव हो तो, उसको भी प्रबन्धस्थानीय मानना चाहिये। जिस श्लोक के विभिन्न शब्दों में विभिन्न सन्धियों को दिखलाया गया है वह यह है—

कथमपि कृतप्रत्यासत्तौ प्रिये स्खलितोत्तरे
विरहकृशया कृत्वा व्याजं प्रजल्पितमश्रुतम्।

असहनसखीश्रोत्रप्राप्तिप्रसादससम्भ्रमं
विगलितदृशा शून्ये गेहे समुच्छ्वसितं तदा ॥

चतुर इति । चतुरो नायक इत्यर्थः । उदात्त इति उदात्तः महान् । आशयविभूत्योः अभिप्रायसम्पदोः । आभिजात्येति । आभिजात्यं कौलीन्यमित्यर्थः । चतुर्वर्गेति । चतुर्णां वर्गाणां धर्मार्थकाममोक्षाणामित्यर्थः समाहारः चतुर्वर्गस्तत्फलं प्रयोजनं यस्य तथोक्तं प्रबन्धं सन्दर्भं को जनः न बान्धवमिच्छति बान्धवत्वेन न आद्रियते इति यावत, अपि तु सर्व एव बान्धवीयतीत्यर्थः सुखमित्यादि । पञ्चाङ्गं पञ्चावयवम् । यत इति । तद्वदेव उपक्षेपपरिकरादिमदेव तैरन्तर्भावेन परिपुष्टमिति भावः । पञ्चानां सन्धीनां समाहारः पञ्चसन्धि मुखादिपञ्चकमित्यर्थः प्रबन्धव्यपदेशं प्रबन्धाभिधानम् आसादयति प्रापयति । तद्यथेति ॥

कथमपि कृतप्रत्यासत्तौ प्रिये स्खलितोत्तरे
विरहकृशया कृत्वा व्याजं प्रजल्पितमश्रुतम् ।
असहनसखीश्रोत्रप्राप्तिप्रसादससम्भ्रम-
विगलितदृशा शून्ये गेहे समुच्छ्वसितं तदा ॥

कथमपि अतिकष्टेन अत्यायासेन सख्या कृतेनेति भावः कृता प्रत्यासत्तिः समुपस्थितिः यस्य तादृशे सखीप्रयत्नेन कथञ्चित गृहमानीते इत्यर्थः प्रिये कान्ते स्खलितम् असम्बद्धमिति भावः उत्तरं कथमेतावन्तं कालं त्वया नायातमिति प्रश्नस्य प्रतिवचनं यस्य तथाभूते सति विरहेण कृशया शीर्णया कान्तया व्याजं छलं कृत्वा प्रजल्पितं कान्तस्य भाषितम् अश्रुतं नाकर्णितमित्यर्थः । तदा शून्ये प्रियरहिते इत्यर्थः गृहे गतवेति शेषः तया असहना कोपना मया एतावता प्रयत्नेन आनीतस्ते पतिस्तत्रापि विराग इति धियेति भावः या सखी तस्याः सकाशात् श्रोत्रप्राप्तः श्रुतिपथं गतः श्रुत इत्यर्थः यः प्रसादः कान्तस्य आत्मानं प्रति अनुग्रह इति यावत् तेन ससम्भ्रमं सगौरवं यथा तथा विगलितदृशा गलदश्रुनेत्रया सख्या समुच्छ्वसितं जीवितं ययेति कृत्वा निश्वसितमित्यर्थः ॥

तद्यथा,—

तुरगविचयव्यग्रानुर्वीभिदः सगराध्वरे
कपिलमहसा रोषात् प्लुष्टानपि प्रपितामहान् ।
अगणिततनूपातस्तप्त्वा तपांसि भगीरथः
भगवति ! तव स्पृष्टानद्भिश्चिरादुददीधरत् ॥ ५२६ ॥

हे देवि गङ्गे, महाराज सगर का यज्ञ होने पर घोड़े की खोज में परेशान, पृथ्वी को ही खोदने वाले, तथा कपिल ऋषि के क्रोध के कारण तेज से जला दिये गये पूर्वजों का, अपने शरीर के नाश की विना चिन्ता किये खूब तपस्या करके महाराज भगीरथ ने, तुम्हारे ही जल से स्पर्श कराकर बहुत दिन हुये उद्धार किया था ॥ ५२६ ॥

तुरगेति । हे भगवति ! देवि गङ्गे ! भगीरथः अस्मत् पूर्वपुरुष इति भावः अगणितः तनूपातः शरीरविध्वंसो यस्मिन् तत् यथा तथा तपांसि तप्त्वा कृत्वेत्यर्थः सगरस्य अध्वरे

अश्वमेधयज्ञे तुरगस्य अश्वमेधीयस्य अश्वस्य इन्द्रेण हृत्वा कपिलाश्रमे रक्षितस्येति भावः विचये अन्वेषणे व्यग्रान् व्यापृतान् उर्वीभिदः उर्वीं पृथ्वीं भित्त्वा पातालवर्त्तिनं कपिलाश्रमं प्रविष्टानिति भावः रोषात् तेषामवमाननाजनितादिति भावः कपिलस्य महसा तेजसा प्लुष्टान् दग्धान् पितुर्दिलीपस्य प्रपितामहान् सगरसुतान् षष्टिसहस्रसङ्ख्याकानिति भावः तव अद्भिः सलिलैः स्पृष्टान् सिक्तान् चिरात् सुदीर्घकालादनन्तरमित्यर्थः उददीधरत् उद्धारयामास। तनूतापमिति पाठे आपतितः तन्वाः शरीरस्य तापः क्लेशः यस्मिन् तद्यथा तथेत्यर्थः ॥ ५२६ ॥

अविस्तृतमसंक्षिप्तम् इत्यनेन विस्तारभीरूणां कथारसविच्छेदशङ्कनाच्च चित्तमावर्ज्यते। श्रव्यान्तरैः इत्यनेन वृत्तान्तरैः आश्वासकादिपरिसमाप्तिरिति परिश्रान्ताः श्रोतार आश्वास्यन्ते, स्रगादिसन्निवेशादिवत् सन्दर्भे च आश्वासादयो विभाव्यन्ते।

पुरोपवनेत्यादिना च देशकालपात्रसम्पदुपवर्णनात् आलम्बनोद्दीपनविभावाः कथ्यन्ते। उद्यानसलिलक्रीडाद्युपलक्षणेन कामिनीनां दिवाचेष्टाः, मधुपानं रतोत्सव इत्यनेन च रात्रिचेष्टा उच्यन्ते, विप्रलम्भा इत्यनेन चत्वारोऽपि प्रथमानुरागादयः परामृश्यन्ते। विवाहा इत्युपलक्षणेन प्रथमानुरागो, विवाहान्तो मानः, प्रेमान्तः प्रवासः, सङ्गमान्तः करुणः, प्रत्युज्जीवनान्तः प्रबन्धः कर्त्तव्यः इत्युपदिश्यते। मन्त्रदूतेत्यादिपुरुषकारायत्तसिद्धिसूचनेन आद्यूनादिनिरासात् नायकस्य सत्वोत्कर्षः प्रकाश्यते। नावर्णनं नगर्य्यादेर्दोषाय इत्यादिना तु पुरुषार्थासन्नोपकारित्वेन शैलर्त्तूद्यानचन्द्रोदयमधुपानरतोत्सवादीनां मन्त्रदूतप्रयोगादिनायकाभ्युदयादीनाञ्च नियमेन प्रयोगः, शेषाणान्तु प्रबन्धशरीरानुरोधेन इति प्रतिपाद्यते। गुणतः प्रागुपन्यस्य नायकं तेन विद्विषाम्। निराकरणम् इत्यनेन गुणवता भाव्यं न गुणद्वेषिणेति ज्ञाप्यते। वंशवीर्य्यश्रुतादीनि इत्यादिना पुराभिजात्यौद्धत्यशौर्य्यवीर्य्यादय एव शत्रोः वर्णनीयाः न त्ववच्छेदहेतवोऽन्याय्याचरणाविनयादय इति प्रत्याय्यते। धिनोति न इति तु अयमेव पक्षः श्रेयानिति ग्रन्थकारेण स्वाभिप्रायः प्रकाश्यते॥

इति निगदितभङ्गचानङ्गसर्वस्वमेतद्
विविधमपि मनोभिर्भावयन्तोऽस्य भेदम्।
तदनुभवसमुत्थानन्दसम्मीलिताक्षाः
परिषदि परितोषं हन्त सन्तः प्रयान्तु॥ ५२७॥

यावन् मूर्ध्नि हिमांशुचन्दलभृति स्वर्वाहिनी धूर्जटेः
यावद् वक्षसि कौस्तुभस्तबकिते लक्ष्मीर्मुरद्वेषिणः।

यावच्चित्तभुवस्त्रिलोकविजयप्रौढँ धनुः कौसुमं
भूयात् तावदियं कृतिः कृतधियां कर्णावतंसोत्पलम् ॥ ५२८ ॥

इति महाराजाधिराजश्रीभोजदेवविरचिते सरस्वतीकण्ठाभरणालङ्कारे रसविवेचनो नाम पञ्चमः परिच्छेदः ।
॥ समाप्तोऽयं ग्रन्थः ॥

(कथानक के विषय में जो कहा गया है कि) 'अविस्तृतमसंक्षिप्तम्'—न बहुत विस्तार में ही हो और न बहुत संक्षेप में ही,' इस उक्ति से विस्तार से डरने वाले कथा के रस की समाप्ति की शङ्का करने वाले लोगों का मन वश में किया जा रहा है। ('श्रव्यवृत्तम्' अथवा) 'श्रव्यान्तरैः' इस पद से तथा 'वृत्तान्तरैः आश्वासकादि-परिसमाप्तिः'—दूसरे छन्दों से सर्ग आदि का अन्त करना चाहिये—इस उक्ति से थके हुये श्रोताओं को आश्वासन दिया जाता है। माला आदि की रचना में लगा दिये गये विभिन्न पदार्थों की भांति कथानक में आश्वास (सर्ग) आदि सुशोभित होते हैं। 'पुरोपवन' इत्यादि कहने से देश, काल, तथा पात्र की सम्पत्तियों का वर्णन होने से आलम्बन, उद्दीपन विभाव आदि भी कहे जाते हैं। उद्यान, सलिल क्रीडा आदि के माध्यम से सुन्दरियों की दिन में होने वाली चेष्टाओं का तथा मधुपान, सुरतोत्सव आदि से रात्रि की चेष्टायें कही जा रही हैं। 'विप्रलम्भाः' कहने से चारों ही प्रथमानुराग आदि का विवेचन हो जाता है। 'विवाह' इस शब्द के बहाने—प्रथमानुराग को विवाह में समाप्त हुआ, मान को प्रेम में अन्त हुआ, प्रवास को मिलन में अन्त हुआ, करुण का सङ्गम में अन्त पुनः जी उठने में अन्त हुआ प्रबन्ध काव्य में चित्रित करना चाहिये, यह कह दिया जाता है। 'मन्त्रदूत' इत्यादि पौरुष के अधीन सिद्धियों की सूचना के द्वारा तथा 'आदि' पद से अन्य कमियों को दूर करने से नायक का सत्त्वोत्कर्ष प्रकाशित होता है। 'नावर्णनं नगर्यादेर्दोषाय'—नगरी आदि का वर्णन न करना दोषोत्पत्ति नहीं करता—आदि पदों से यह बतलाया गया है कि पुरुषार्थ के निकटवर्ती उपकारक होने से पर्वत, ऋतु, उद्यान, चन्द्रोदय, मधुपान, रतोत्सव आदि का तथा मन्त्र, दूत के प्रयोग आदि से होने वाले नायक के अभ्युदय आदि का नियमतः प्रयोग होता है। शेष का—इनके अतिरिक्त विषयों का—ग्रहण तो काव्य के कलेवर की दृष्टि से होता है। 'गुणतः प्रागुपन्यस्य नायकं तेन विद्विषाम्। निराकरणम्'—अर्थात् पहले गुणों से नायक की स्थापना करके पुनः उन्हीं से शत्रुओं का निराकरण दिखलाना चाहिये— इस मान्यता से यह प्रदर्शित किया गया है कि नायक को गुणवान् होना चाहिये न कि गुणों का द्वेषी। 'वंशवीर्य्यश्रुतादीनि' इससे पूर्वकालिक कुलीनता, औद्धत्य, शौर्य, वीर्य आदि ही शत्रुओं के वर्णित होने चाहिये, न कि अवरोध पैदा कर देने वाले कदाचार अविनय आदि, यह प्रतीत कराया जाता है। 'धिनोति नः' इससे 'यही पक्ष श्रेयस्कर है' इस प्रकार की ग्रन्थकार की अपनी मान्यता भी प्रकट हो जाती है।

इस प्रकार कही गई रीति से इस काम के सर्वस्वभूत ग्रन्थ अथवा काव्य की तथा इसके समस्त भेदों की भी अपने मन से भावना करते हुये सज्जन सहृदय लोग इस काव्य के आस्वादन से प्राप्त आनन्द के कारण अपनी आँखें मूँद कर सभा में अत्यन्त सन्तोष प्राप्त करें ॥ ५२७ ॥

जब तक चन्द्रकला को धारण करने वाले भगवान् शिव के मस्तक पर गंगा रहें, जब तक कौस्तुभ मणि से सटी हुई भगवती लक्ष्मी विष्णु के वक्षःस्थल पर विद्यमान रहें तथा जब तक मनोभव कामदेव की तीनों लोकों को जीतने में सक्षम पुष्पमयी धनुष रहे, तब तक यह कृति—सरस्वतीकण्ठाभरण नाम की रचना—विद्वानों के कानों में कर्णभूषण बने हुये कमल की भांति सुशोभित होती रहे ॥ ५२८ ॥

इस प्रकार श्री महाराजाधिराज श्री भोजदेव के द्वारा लिखे गये सरस्वतीकण्ठाभरण नामक अलंकार शास्त्र में रसविवेचन नाम का पञ्चम परिच्छेद समाप्त हुआ ।

॥ यह ग्रन्थ भी पूर्ण हुआ ॥

अविस्तृतमिति । आवर्ण्यते आयत्तीक्रियते । अन्यवृत्तमिति । वृत्तान्तरैः छन्दोभेदैः आश्वासकादिभिः प्रागुक्तलक्षणैरिति भावः परिसमाप्तिः सर्गशेषः । विप्रलम्भा इति परामृश्यन्ते प्रतिपाद्यन्ते । विवाहा इति उपलक्षणेन स्वप्रतिपादकत्वे सति स्वेतरप्रतिपादकत्वम् उपलक्षणं तेन तथा च विवाहा इत्यनेनादौ पाणिग्रहणप्रतिपत्तिः । ततः तदनन्तरभाविरन्यः प्रथमानुरागादयो व्यापारादयोऽपि प्रतिपाद्यन्ते इति भावः । मन्त्रेति आद्यूनतादिनिरासात् आद्यूनः औदरिकः विजिगीषाविवर्जितो वा तस्य भावः आद्यूनता तदादीनां निरासात् परिहारात् आद्यूनःस्याद्यौदरिके विजिगीषाविवर्जिते इत्यमरः । सत्त्वोत्कर्षः महानुभावता, वंशेति । शौटीर्य्यं गर्वः । अवच्छेदेति अवच्छेदहेतवः परिमितताकरणानि क्षुद्रत्वहेतव इति यावत् ॥

इति पण्डितकुलपतिना बी, ए, उपाधिधारिणा श्रीजीवानन्द-विद्यासागर-भट्टाचार्य्येण विरचिता पञ्चमपरिच्छेद-व्याख्या समाप्ता ।

परिशिष्ट–१

(कारिका-सूची)

प्रतीक	परि.सं.	का.सं.
अङ्गाङ्गिभावा	५	१७६
अतस्ते न ।	३	३६
अतस्वरूपा	३	३७
अत्रोपमान	४	४६
अथ सङ्कीर्ण	४	३२
तथैवोभय	४	३३
अदामच्च प्रति	५	५७
अनिष्टाभ्या	५	१५७अ
अनेको यत्र	३	११
अनौपम्यवती	४	४३
अन्तर्व्याज	५	१२५
अन्यतः पटु	५	३७
अन्यथावस्थितं	४	५०
अन्ये सुखनि	४	५५
अन्योन्यचूलि	३	२८
अन्योन्यमु	३	२७
अपह्नुतिर	४	४१
अप्रस्तुतप्रशंसा	४	५२
अभावः प्रागभा	३	१५
अभिप्रायानु	३	४३
अभीष्टार्थस्य	५	१५०
अभूतोत्पादना	५	७४
अर्थभूयिष्ठ	४	२६
अर्थयोरति	४	४१
अर्थव्यक्तेरियं	३	५
अर्थालङ्कृतयो	३	५५
अर्थावृत्तिः	४	७८
अलङ्कारान्तर	४	८४
अलमर्थम	३	१
अवहित्थं तु	५	१५१
अविस्तृत	५	१६९
असत्ता या पदा	३	५४
असूयाऽन्य	५	१५४अ
अश्रुनेत्रोद्गतं	५	१४५
अहेतुः पक्ष	५	१६७

प्रतीक	परि.सं.	का.सं.
अहेतुरनि	५	१५०अ
अहेरिव गतिः	५	४८
अष्टमीचन्द्रकः	५	९३
आजीवतस्तु	५	११३
आत्मप्रकाश	५	१४८
आदरातिशया	५	१५९अ
आद्या पूर्णा च	४	१४
आधारवन्नि	४	३१
आलम्बनविभा	५	१३
आलम्बनविभा	५	३६
आश्रयात् प्रकृते	५	३२
आश्रयो यस्य	५	३५
इङ्गिताकार	३	२१
इतरेतरयोगो	४	६१
इतीमास्ता	४	२२
इवार्थान्तर्ग	४	९
ईर्ष्यामाहु	५	१५४
उक्ता भावादि	५	१६३
उत्कण्ठाहर्ष	५	१५८
उत्कण्ठेष्टा	५	१४१
उत्प्रेक्षावयवो	४	१०७
उदकचन्द्रिका	५	९४
उद्दीपनविभा	५	२५
उद्दीपनविभा	५	३८
उद्यानसलिल	५	१३३
उद्भतो ललितः	५	१०९
उपमा रूपकं	४	२
उपमारूपका	४	७५
उपसंख्यान	५	४३
ऊहो वितर्क	३	३९
ऊहो वितर्क	५	१४७अ
ऋतुरात्रिन्दि	५	१३१
एकाभिधीय	४	६
एकावलीति	४	७६
एकोऽभिधीय	३	२०

प्रतीक	परि.सं.	का.सं.
एवमन्येऽपि	५	१६९
कन्ये कामय	५	५
करुणानन्तर	५	८२
कर्त्रादीनां समा	४	५७
कादम्बयुद्धानि	५	९५
कामं कन्दर्प	५	६
कार्यारम्भे	३	३४
कार्यारम्भेषु	५	१४०
क्रियाकारक	४	७२
क्रियाजाति	४	७७
क्रिया यथा	४	७३
क्रियायाः कारणं	३	१२
क्रियाविद्वेष	५	१६१अ
क्रियाविशेषणं	४	७४
क्रियासृष्टिष्ठ	४	६५
क्रियास्वपा	५	१६०
क्रोधः कृताप	५	१५३
गर्वोऽन्येषाम्	५	१४९
गुणजातिक्रिया	४	७०
गुणतः प्रागु	५	१३६
गुणतो नायिका	५	११०
चकितं चेति	५	१६९
चक्षुःप्रीतिर्म	५	९९
चतुरो विकृत	४	२८
चतुर्धा प्रकृतं	४	२७
चतुर्वर्गफलं	५	१२७
चतुर्विंशति	४	९१
चतुर्विंशति	५	१२
चाटुकारमपि	५	११५
चित्तस्य खेदो	५	१६०अ
चिन्तोत्कण्ठा	५	७२
चिरं चित्ते	५	१९
चेतोनिमीलनं	५	१५१अ
जनित्वा ये	५	२२
जातिर्विभाव	३	२
जुगुप्सा गहे	५	१४१
ज्ञेयः सोऽर्था	४	६७

प्रतीक	परि.सं.	का.सं.
ततः कैश्चिद्	५	१०४
ततः कैश्चिद्	५	१०६
तत्त्वानुपात्य	३	४०
तदानन्त्येन	४	३५
तदाभूतार्थ	३	५१
तदाभासस्त	५	१०७
तदुपश्लेषणार्थो	५	१७८
तत्रस्वरूपं	३	७
तत्र क्रियाजाति	४	३८
तत्रैवादेः	४	३६
तत्रैकविषयो	४	४२
तिलतण्डुलवद्	४	८८
तुल्यकाल	५	२८
तेऽनुभावा	५	३९
तेऽमीप्रयोग	३	१७
तेषां वशात्	४	१२
तेषु सर्वगुणो	५	१०३
त्रयः प्रतिपदं	४	६३
त्रासश्चित्त	५	१५६
दीपकक्रमपर्याय	४	४
दूतीमहरहः	५	११६
दृष्टान्तः प्रोक्त	३	३१
दृष्टोऽवस्था	५	७५
देशान्तरादि	५	४९
दोषस्य यो	४	५६
द्योतकस्य तु	४	१७
द्रव्यक्रियागुणा	४	६०
द्रोणस्य संभवः	३	२६
द्वयोर्यत्रोक्ति	४	३४
द्वितीया च तृतीया	३	१४
द्विपदाश्रय	४	६२
धीराधीरा	५	१११
न विनाविप्र	५	५२
नवेच्छुभक्तिका	५	९६
नवे हि सङ्गमे	५	८५
नवोऽर्थः सूक्ति	५	७
नानावस्थासु	३	४
नायकः प्रति	५	११०

प्रतीक	परि.सं.	का.सं.
नायिकानायक	५	११
नायिकानायका	५	१ २
नावर्णनं	५	१३५
नित्यो नैमित्ति	५	९७
निद्राकूणित	५	११४
निद्रादिजनितं	५	१६२अ
निद्रापगम	५	१६२
निद्राव्यापार	५	१६१
निरुद्भेदस्तु	३	४५
निर्वेदो जाड्य	५	१८
पदवाक्यप्रपञ्चा	४	७
पदार्थानां तु	३	२३
पश्यति स्त्री	५	४
पुरोपवन	५	१३०
पुष्पेषुपीडिता	५	११९
पूर्णा सामान्य	४	१५
पूर्वानुरागपूर्वाणां	५	८९
पूर्वानुरागपूर्वेषु	५	५८
पूर्वानुरागे	५	६५
प्रतिकूलोऽनु	४	६६
प्रतिकूलेषु	५	१४०अ
प्रतिवस्तूक्ति	४	४०
प्रतिश्रवो हि	५	५९
प्रतीयमाने	४	४७
प्रत्यक्षमक्षजं	३	४६
प्रत्यक्षादि	३	५२
प्रत्ययो ह्युपमे	४	११
प्रत्यागतेऽपि	५	८८
प्रत्यादानं पुन	५	६२
प्रत्येतव्ये	४	७१
प्रथमानन्तरे	५	९१
प्रपूर्वको वसि	५	७३
प्रभावातिशयो	४	८३
प्रभूतकरणा	३	२५
प्रयत्नपूर्विकार्थे	५	१४८अ
प्रलम्भेत्यत्र	५	६३
प्रलयस्तीव्र	५	१४६अ
प्रवासानन्तरे	५	८१
प्रवासानन्तरे	५	९२
प्रवासे काल	५	६१
प्रसिद्धहेतु	३	९
प्रसिद्धेरनु	४	५
प्राकृतः सात्त्विकः	५	१०८
प्रागसङ्केत	५	४७
प्रीतिरप्येव	५	१६६
प्रेयः प्रियतरा	५	१७२
प्रोक्तो यस्तूभ	४	६९
फलसामग्र्य	३	४८
बलवत्सूपजा	५	३१
बलस्यापचयो	५	१५८अ
भयं चित्तस्य	५	१४१अ
भावो जन्मानु	५	९
भावो यदा रति	५	४५
भुजिः पालन	५	७७
भेदः समाहितं	३	३
भेदानङ्गप्रधा	४	३०
भ्रान्तिमान् भ्रान्ति	३	३८
भ्रान्तिर्विपर्यय	३	३५
मते चास्माक	४	८७
मदप्रमद	५	१४३
मनः प्रसादो	५	१५३अ
मनःशरीरयोः	५	१५९
मनोऽनुकूले	५	१३८
मन्त्रिदूतप्रयाण	५	१३४
मन्ये शङ्के ध्रुवं	५	१७९
महाकुलीनतौ	५	१२२
महाभाष्यकृता	५	७०
मानर्द्धेरर्द्ध	५	११२
मानस्यानन्तरे	५	८६
मानितोदार	५	१२३
माने निवारणं	५	६०
मान्यः कलत्रवान्	५	१७०
मान्यते प्रेयसा	५	६९
मिथं यदुक्ति	४	८०अ

प्रतीक	परि.सं.	का.सं.
मुखं प्रतिमुखं	५	१२८
मुग्धाङ्गनाभर्तृकः	३	८
मूर्च्छाविलापो	५	७६
मृद्वीकानारि	५	१२४
यः प्रवृत्ति निवृ०	३	१३
यत्राङ्गना	५	७१
यत्रानेकोऽपि	४	५९
यत्रोक्तिभङ्ग्या	४	१९
यथेन्दुरिव ते	५	१७७
यदासवचनं	३	४९
यदि वा भोग	४	८३
यदोपमान	४	२४
यस्तु कारण	३	१९
यस्याः समुचि	५	१२०
या तु वाक्यार्थ	४	१८
या प्रत्ययोपमे	४	१०
रजस्तमोभ्याम्	५	२०
रतिरेवेष्ट	५	५१
रतिर्निसर्ग	५	१६५
रतिर्हासश्च	५	१४
रतौ सञ्चारिणः	५	२३
रसभावादि	५	१७५
रसवन्ति हि	५	१७३
रसाक्षिप्ततया	५	१७४
रसान्तरति	५	२९
रसोऽभिमानो	५	१
रागरोषभया	५	१४४
रागोऽनु सह	५	६७
राजकन्याकु	५	१३२
राजते रञ्जते	५	६८
लज्जाविसर्जनं	५	१००
लिङ्गाद्यालिङ्गि	३	४७
लीला विलासो	५	४१
लोकान्तरगते	५	५०
लोपे सामान्य	४	१६
लोपे सामान्य	४	१७अ
वंशवृत्तश्रुता	५	१३७

प्रतीक	परि.सं.	का.सं.
वक्रोक्तिश्च रसो	५	८
वपुर्जलोद्गमः	५	१४४अ
वस्तुकिञ्चिदु	४	३७
वस्तुनो वा स्व	३	१८
वस्त्वन्तरतिर	३	४१
वाक्यवच्च	५	१२६
वाक्योपमा तु	४	१३
वाच्यः प्रतीय	३	२२
वाच्ये प्रतीय	४	४२
विदुर्वाग्दण्ड	५	१६अ
विदूरकार्यः	३	१६
विधिनाथ	४	६४
विपर्यासोपमा	४	२३
विपलम्भादि	५	५५
विप्रलम्भोऽथ	५	१०
विप्रलम्भोऽभि	५	५४
विभावश्चानु	५	३४
विभावस्यानु	५	२६
विरहादेर्म	५	१५७
विरोधस्तु पदा	३	२४
विवक्षया विशे	४	८१
विवक्षितगुणो	४	५४
विविधश्च	५	६४
विशिष्टादृष्ट	५	२
विशेषेणाभितः	५	२१
विशेष्यमात्र	४	४८
विस्मयश्चित्त	५	१४२अ
विषयाश्रय	५	२७
विषादमद	५	१४५अ
विषादश्चेत	५	१५५अ
विहृतं क्रीडितं	५	४२
वृत्तिरत्राजहत्	५	९०
वैसादृश्यवती	४	५८
वैहासिकः क्रीड	५	१७०अ
व्यक्ताव्यक्ता	४	९०
व्यङ्गक्रीडादि	५	१३९अ
व्यत्ययो वस्तुनो	३	२

प्रतीक	परि.सं.	का.सं.
व्याबिद्धं दीर्घ	५	६६
शब्दादिभ्यो	५	१६८
शब्दार्थोभय	४	२५
शब्देभ्यो यः	४	१
शब्दोपात्ते	३	३२
शास्त्रोक्तार्थ	५	१४९अ
शुद्धा चित्रा वि	३	१०
शृङ्गारवीर	५	१६४
शृङ्गाराद्या	५	३३
शृङ्गारी चेत्	५	३
शोकश्चित्तस्य	५	१३९
श्लेषोऽनेकार्थ	४	८५
संक्षेपेणो	४	४९
संश्रुत्य विप्रल	५	५६
संसृष्टिरिति	४	८८
संस्कारपाटव	५	२४
स उपन्यस्त	४	६८
सतुल्ययोगितो	४	३
सत्यत्यागा	५	१५५
सदृशादृष्ट	३	४२
सदृशात् सदृश	३	५०
स पालनार्थः	५	७९
समस्तं चासमस्तं	४	२९
समाधिमन्य	४	४४
समाधिमेव	४	४५
स मानानन्तरं	५	८०
समासात् प्रत्यया	४	८
समीचीनार्थ	५	७८
सम्पूर्णः पूर्ण	५	८७
सम्मोहानन्द	५	१५२
सर्वप्रमाण	३	३५
स संक्षिप्तोऽथ	५	८४
सहजा पूर्वजा	५	१७२अ
सहजाहार्य	५	९८
सा च प्रायो	४	८२
शब्दस्य यदि	४	७९
सा तु धर्मार्थं	४	५३
सा तु प्रकृत	४	२०
सा तु वासक	५	११७
सा त्रिधा व्यत्यय	३	३०
साम्योत्कर्ष	४	३९
सुखदुःखादि	५	१५२अ
स्तम्भश्चेष्टा	५	१४२
स्तम्भस्तनू	५	१५
स्त्रीपुंसयोर्वि	५	५३
स्मृतिः पूर्वा	५	१४६
स्मृतिर्वितर्क	५	१६
स्मृतीच्छायत्न	५	४०
स्मृत्यादयोऽनु	५	४४
स्यात् कथा	५	१०५
स्यात् समस्तो	४	२१
स्वजातिव्यक्त्यु	३	३३
स्वरूपमाश्रयो	३	६
स्वात्मोपयो	५	१७१
स्वाधीनपतिका	५	११८
स्वाभिप्रायस्य	४	८६
हर्षाद्भुत	५	१४३अ
हर्षामर्षाव	५	१७
हीनपात्राणि	५	१२१
हृद्यं सूक्ष्मं च	३	४४
हेला हावश्च	५	१६८

परिशिष्ट–२

(उदाहरण श्लोक-गाथा सूची)

प्रतीक	परि.सं.	श्लो.गा.सं.
अइ कोवणा वि	५	३३८
अइ दिअर ! किं	५	१७२
अइ सहि वक्कु	३	१५५
अखण्डितं प्रेम	५	२९४
अगणि आसेस	५	३४०
अग्रे गतेन	३	४
अङ्गानि चन्दन	५	१५३
अच्चे वसति	३	१६१
अज्ज मए तेण	५	१३७
अज्ज मए	५	१४६
अज्ज वि मेअज	५	२२५
अज्जं पि ताव	५	३४४
अज्जाइ णव	५	२२०
अणग्गिणा करो	५	३१५
अणुअ । णाहं	५	२४७
अणुणीअ	५	२७६
अणुमरणपत्थि	५	२७४
अण्णे वि हि होन्ति	५	३१४
अण्णोण्णेहि	३	९१
अत्थक्काग	५	२४०
अत्थ क्क रुसणं	५	१७७
अत्यन्तममस	३	३४
अथ दीर्घतरं	३	१४९
अदंसणेण पुत्तअ	५	३२७
अदृश्यन्त पुर	३	१३२
अद्य प्रभृत्य	५	२८०
अद्रेः शृङ्गं हरति	३	१२३
अनक्षिता सिता	३	१४
अनभ्यासेन	३	३१
अनश्नुवानेव	३	३७
अनाप्तपुण्यो	३	१८८
अनुगच्छन्	५	१४२
अनुमेयेन	३	१५४
अनुरागवती	३	४४
अनुशासतमि	३	१०

प्रतीक	परि.सं.	श्लो.गा.सं
अपि चास्त्यनु	३	१६९
अपीतक्षीव	३	१३
अपेतव्याहारं	५	२७५
अब्बो दुक्कर	५	२९०
अभिन्नवेलौ	३	९४
अभ्रविलास	३	९२
अमअमअ	५	३३६
अयमसौ भग	३	१२४
अयमान्दोलित	३	१९
अरत्नालोक	३	९०
अलिअपसुत्त	५	१६८
अवऊहिअ	५	३५५
अवलग्गह	५	३४२
अवसहिअ	५	२९७
अविभाविअ	५	२०२
अविरलविलोल	३	१५१
अवैमि पूत	३	६०
असमत्तमंडणा	५	१७३
असमत्तो वि	५	३३९
असंभृतं मण्डन	३	१५
असाहणतोरइ	५	३४१
अस्तोकविस्मय	३	१४७
अस्याः सर्गविधौ	३	१२१
अशोकनिर्भ	५	१२७
अह तइ महत्थ	५	३१३
अहं धाविऊण	५	३०३
अहो सुहो	५	२०६
आक्रोशन्नाह	३	६
आदरपणामि	५	२११
आन्दोलणक्ख	५	३००
आणिअपुल	५	३२९
आपृच्छामि	५	१८५
आयाते दयिते	५	११९
आलाओ मा	५	१४५
आलोअन्ति	५	२६५

प्रतीक	परि.सं.	श्लो.गा.सं.
आवर्जिता	५	१२८
आवाअभर	५	२५४
आविर्भवन्ती	३	१५७
आश्चर्यमुत्पल	५	११५
आश्लेषे प्रथमं	५	३१९
इति शासति	३	२९
इदमसुलभ	५	१३०
इन्दुर्यत्र न	५	१९१
इमास्ता विन्ध्याद्रेः	३	९
इयमेत्य पतङ्ग	५	२६९
इयं सा लोलाक्षी	५	११८
इयेष सा कर्त्तु	५	३२२
उत्कण्ठा संतापो	३	६३
उत्कूजति श्वसिति	५	११७
उत्तंसिऊण	५	३०४
उत्तिष्ठन्त्या	५	१६४
उत्पत्तिर्देव	५	१२५
उत्पत्तिर्देव	५	३३३
उत्पश्यामि	३	६८
उदयन्नेव	३	८४
उद्धच्छो पिअइ	३	७३
उद्यानसहका	३	३५
उद्यानसह	३	१८३
उपनिहित	३	१२
उपरि घनं	३	८७
उभौ रम्भास्तम्भा	३	११९
उल्लाअइ से	५	२४४
उव्वहइ दइ	५	१८८
एअमेअ अकि	५	१४०
एकस्मिन् शयने	५	३५९
एको दाशरथिः	३	६४
एक्कं पहरु	५	१७०
एक्को वि काल	५	२४३
एतदालोक्य	३	१७२
एतदास्यं विना	३	१७५
एतां पश्य पुर	५	१०३
एन्तीवि ण	३	१२६
एषा प्रवास	३	१८६

प्रतीक	परि.सं.	श्लो.गा.सं.
एषा मनो मे	५	३३४
एहि इसो पउत्थो	५	२४८
ओरन्तपङ्क	५	३५६
कअलीगब्भ	५	१८३
कइ आगओ	५	२५३
कणुज्जुआ	५	२०१
कण्ठस्य तस्या	३	७४
कण्ठस्य तस्या	५	१२९
कण्ठे कालः	३	२६
कदा नौ सङ्गमो	३	१४३
कनककलश	३	११०
कन्यारत्नमयो	५	१४४
कपाले मार्जारः	३	११४
कपोलपुलके	३	१७३
कम्पन्ते कपयो	३	१०
करस्पर्शारम्भो	५	२४५
कर्कन्धूफलमु	३	१३१
कर्णोत्पलं न	३	१७९
कल्पान्ते शमित	३	१०४
कल्याणी बत	३	१६०
कहं ण खिज्जउ	५	३५३
कहं णु गओ	५	२३१
काअम्बलो अ	५	१३४
कारणगहिओ	५	२६०
किं कि दे	५	२३५
किं चित्रं यदि	३	८३
किं ण भणिओसि	५	२४६
किं नो व्याप्तदिशां	५	३५८
किं रूपं स्फुट	५	१२२
कुदो संपडइ	५	१५०
कुमुदवन	३	७८
कुविआ अ	५	२६२
कुविआ च	५	३२३
कृतसीतापरि	५	३५४
केनचिन्मधु	५	२१५
किलीगोत्तक्ख	५	१७१
को एसो त्ति	५	३०१

प्रतीक	परि.सं.	श्लो.गा.सं.
क्रान्तकान्तवदन	३	१४५
क्लाम्यन्ती	५	२९३
क्वं युवति	३	६० अ
क्षणमात्रसखी	५	११३
क्षिप्तं पुरो	५	१२०
खणमेत्तंपि ण	५	१३९
गज्जन्ते खे मेहा	३	१५३
गतः कामकथो	३	३२
गहवइसुएण	५	२५८
गामतरुणीओ	५	३०६
गीतशीतांशु	३	५९
गीतान्तरेषु	५	१९७
गुणानुराग	३	४०
गुरुतरकल	५	१५९
गुरोः शासन	५	३४५
गृहीतो यः पूर्वं	३	१३७
गेण्हन्ति पिअ	५	३११
गेह्ह पलोएह	३	१३८
गोनासाय	३	२८
गोत्तक्खलणं	५	१४१
गोरङ्गउ तरुणि	३	१३०
गोलाअड	३	१४१
गोलाविसमो	३	७४
गोलाविसमो	५	२२४
ग्रन्थिमुद्ग्रथ्य	५	२३९
घरिणीअ कइअवं	५	३३०
चकार काचिद्	५	१५४
चन्दनं विष	५	१३३
चन्दनारण्य	३	२१
चन्दसरिसं	५	१४३
चन्द्रापीडं सा	५	२१६
चन्द्रोऽयमम्बर	३	९७
चिक्रंसया कृत्रिम	३	११३
चित्ते निवेश्य	३	१२२
छणपिट्ठधू	३	३
छणपिट्ठधू	५	२९९
जं जं करेसि	५	१५१
जं जस्स होइ	३	१८०

प्रतीक	परि.सं.	श्लो.गा.सं.
जं तिअसकुसुम	५	३५०
जं मुच्छिआणं	५	३४३
जइ ण छिवसि	५	१६५
जत्थ ण उज्जा	५	२६१
जइ सो ण	५	२२९
जइ होसि ण	५	३२६
जम्बूनां कुसु	३	७८
जयन्ति जाया	५	२९२
जह जह जरा	५	३२८
जह जह से	५	२१३
जाओ सो वि	५	१६९
जाने कोप	५	११२
जाने स्वप्न वधौ	३	१३६
जितेन्द्रियत्वं	३	४७
जेतारो लोक	५	३४६
जो तीअ अहर	३	७९
च्युतामिन्दो	५	१११
णअणब्भंत	५	१४८
ण उण वरको	३	८९
णच्चिहिइ	५	३१८
णमह अवट्ठि	३	९६
ण मुअन्ति	५	२५२
ण मुद्धम्मि मए	५	१९०
णवरिअप	५	२०५
णवलइआ पाकारे	५	१७४
णवलआप	५	३०७
ण वि तह	५	३२४
ण वि तह	५	३३२
णासं विअ सा	५	२१७
तं पुलइया	५	३३५
तंबमुहककुआ	५	३३१
तत्तणं विष	५	१३२
तत्तो चिअ णेन्ति	५	२२६
तन्मे मनः	५	१३८
तव मा कथासु	५	१५६
तवालेख्ये	३	१६७
तस्मिञ्जीवति	३	२३
तस्य च प्रवयसो	३	८१
तस्य राज्ञः प्रभा	३	२०

प्रतीक	परि.सं.	श्लो.गा.सं.
तस्याः पातुं	३	६९
तह विरज्जाग	५	३३७
तह कुणइ माल	५	३१०
तां प्रत्यभिव्यक्त	३	२५
तां प्रत्यभिव्यक्त	२	४९
तां रोहिणीं	३	१६५
तावच्चिअ रह	५	१६७
तावमवणेइ	५	२१२
तिमिरनिरुद्ध	५	११०
तिष्ठ द्वारि	५	२०८
ताए सविसेस	५	३४९
तीर्थे तोयव्यति	५	२:८
तेण हिरण्ण	५	२२७
तेनाथ नाथ	५	११६
तो तुह किदे	५	२००
त्वद्वियोगो	५	२९१
त्वदर्पितदृशः	३	५१
त्वदास्येन्दू	३	१७४
त्वन्मुखं पुण्डरी	३	९५
त्वन्मुखं पुण्डरीकं	३	९६
त्वय्यादातुं	३	६६
त्वामालिख्य	५	१८०
थोआरूढमहु	५	३२०
दंतक्खअ	५	२१९
ददौ सरः	५	१९६
दधिक्षीरघृता	५	१०४
दमं दानं दयां	३	१५८
दक्खेविऊ	५	२२१
दर्पणे च परि	३	१७०
दर्शनपथमा	३	१३५
दलति हृदयं	५	२७०
दानं वित्ताद्दतं	३	५५
दिअरस्स सरअ	५	३१६
दिअहे दिअहे	५	३२५
दिग्वासा यदि	३	६१
दिट्ठाइवि जण्ण	३	१२९
दिट्ठा कबिआ	५	३५१
दिट्ठाए जं ण	५	२५१

प्रतीक	परि.सं.	श्लो.गा.सं.
दिट्ठे जं पुल	५	१४७
दिशामलीका	३	६५
दिस्याइ धूर्जटि	३	११७
दीसइ ण चूअ	३	१५६
दूण्णन्ति जे	५	२८५
दुल्लहजणा	५	१७६
दूरं वृक्षालत	५	१७५
देवीस्वीकृत	५	३५१
दृष्टा दृष्टिमधो	५	२७१
दृष्ट्वा विभ्रमि	३	१७६
दृष्टिर्वन्दन	३	१०७
धणुसो गुण	५	१०७
धृतिरस्तमिता	३	१७८
ध्रुवमस्मि शठः	५	१८१
न मर्त्यलोक	३	१८४ अ
न मर्त्यलोक	५	१९४
न मीलयति	३	४१
न विरचिता	३	४३
न स्पृष्टोऽसि	५	२८३
नान्तर्वर्त्तयति	५	१८६
नामिलितम	३	१८५
निर्णेतुं शक्य	३	१७१
निर्मलेन्दु नभो	३	१००
नीलेन्दीवर	३	११५
निवार्यतामालि	३	१५९
निर्विभुज्य	५	१५८
निवृत्तमेव	३	१८४ ब
नीवीबन्धोच्छ्वा	३	४५
पअडिअसणेह	३	१२८
पडिउत्थिआ	५	१७८
पढमघरिणीए	५	१८४
पत्युः शिरश्चन्द्र	५	१६०
पद्मसंमीलनात्	३	१४४
परस्य भूयान्	३	६७
परिवट्टं दिआ	५	१४४
पर्यासपुष्प	५	१९८
पवणवेल्लिअ	५	२१८
पश्चात्पर्यस्य	३	३९
पहवन्ति णिवअ	५	१०८

प्रतीक	परि.सं.	श्लो.गा.सं.
क्रान्तकान्तवदन	३	१४५
क्लाम्यन्ती	५	२९३
क्व युवति	३	६० अ
क्षणमात्रसखी	५	११३
क्षिप्तं पुरो	५	१२०
खणमेत्तंपि ण	५	१३९
गज्जन्ते खे मेहा	३	१५३
गतः कामकथो	३	३२
गहवइसुएण	५	२५८
गामतरुणीओ	५	३०६
गीतशीतांशु	३	५९
गीतान्तरेषु	५	१९७
गुणानुराग	३	४०
गुरुतरकल	५	१५९
गुरोः शासन	५	३४५
गृहीतो यः पूर्वं	३	१३७
गेण्हन्ति पिअ	५	३११
गेल्लु पलोएह	३	१३८
गोनासाय	३	२८
गोत्तक्खलणं	५	१४१
गोरङ्गउ तरुणि	३	१३०
गोलाअड	३	१४१
गोलाविसमो	३	७४
गोलाविसमो	५	२२४
ग्रन्थिमुद्ग्रथयि	५	२३९
घरिणीअ कइअव्वं	५	३३०
चकार काचिद्	५	१५४
चन्दनं विष	५	१३३
चन्दनारण्य	३	२१
चन्दसरिसं	५	१४३
चन्द्रापीडं सा	५	२१६
चन्द्रोऽयमम्बर	३	९७
चिक्कंसया कृत्रिम	३	११३
चित्ते निवेश्य	३	१२२
छणपिट्ठधू	३	३
छणपिट्ठधू	५	२९९
जं जं करेसि	५	१५१
जं जस्स होइ	३	१८०
जं तिअसकुसुम	५	३५०
जं मुच्छिअणं	५	३४३
जइ ण छिवसि	५	१६५
जत्थ ण उज्जा	५	२६१
जइ सो ण	५	२२९
जइ होसि ण	५	३२६
जम्बूनां कुसु	३	७८
जयन्ति जाया	५	२९२
जह जह जरा	५	३२८
जह जह से	५	२१३
जाओ सो वि	५	१६९
जाने कोप	५	११२
जाने स्वप्न वधौ	३	१३६
जितेन्द्रियत्वं	३	४७
जेतारो लोक	५	३४६
जो तीअ अहर	३	७९
च्युतामिन्दो	५	१११
णअणब्भंत	५	१४८
ण उण वरको	३	८९
णच्चिहिइ	५	३१८
णमह अवट्ठि	३	१६
ण मुअन्ति	५	२५२
ण मुद्धम्मि मए	५	१९०
णवरिअप	५	२०५
णवलइआ पाकारे	५	१७४
णवलआप	५	३०७
ण वि तह	५	३२४
ण वि तह	५	३३२
णासं विअ सा	५	२१७
तं पुलइया	५	३३५
तंबमुहककुआ	५	३३१
तत्तणं विष	५	१३२
तत्तो च्चिअ णेन्ति	५	२२६
तन्मे मनः	५	१३८
तव मा कथासु	५	१५६
तवालेख्ये	३	१६७
तस्मिञ्जीवति	३	२३
तस्य च प्रवयसो	३	८१
तस्य राज्ञः प्रभा	३	२०

प्रतीक	परि.सं.	श्लो.गा.सं.
तस्याः पातुं	३	६९
तह विरज्जाग	५	३३७
तह कुणइ माल	५	३१०
तां प्रत्यभिव्यक्त	३	२५
तां प्रत्यभिव्यक्त	२	४९
तां रोहिणीं	३	१६५
तावच्चिअ रह	५	१६७
तावमवणेइ	५	२१२
तिमिरनिरुद्ध	५	११०
तिष्ठ द्वारि	५	२०८
तंाए सविसेस	५	३४९
तीर्थे तोयव्यति	५	२०८
तेण हिरण्ण	५	२२७
तेनाथ नाथ	५	११६
तो तुह किदे	५	२००
त्वद्वियोगो	५	२९१
त्वदर्पितदृशः	३	५१
त्वदास्येन्दू	३	१७४
त्वन्मुखं पुण्डरी	३	९५
त्वन्मुखं पुण्डरीकं	३	९६
त्वय्यादातुं	३	६६
त्वामालिख्य	५	१८०
थोआरूढमहु	५	३२०
दंतक्खअ	५	२१९
ददौ सरः	५	१९६
दधिक्षीरघृता	५	१०४
दमं दानं दयां	३	१५८
दक्खेविऊ	५	२२१
दर्पणे च परि	३	१७०
दर्शनपथमा	३	१३५
दलति हृदयं	५	२७०
दानं वित्ताहृतं	३	५५
दिअरस्स सरअ	५	३१६
दिअहे दिअहे	५	३२५
दिग्वासा यदि	३	६१
दिट्ठाइवि जण्ण	३	१२९
दिट्ठा कविआ	५	३५१
दिट्ठाए जं ण	५	२५१

प्रतीक	परि.सं.	श्लो.गा.सं.
दिट्ठे जं पुल	५	१४७
दिशामलीका	३	६५
दिश्याइ धूर्जटि	३	११७
दीसइ ण चूअ	३	१५६
दूण्णन्ति जे	५	२८५
दुल्लहजणा	५	१७६
दूरं वृक्षालत	५	१७५
देवीस्वीकृत	५	३५१
दृष्टा दृष्टिमधो	५	२७१
दृष्टदा विभ्रमि	३	१७६
दृष्टिर्वन्दन	३	१०७
धणुसो गुण	५	१०७
धृतिरस्तमिता	३	१७८
ध्रुवमस्मि शठः	५	१८१
न मर्त्यलोक	३	१८४ अ
न मर्त्यलोक	५	१९४
न मीलयति	३	४१
न विरचिता	३	४३
न स्पृष्टोऽसि	५	२८३
नान्तर्वर्त्तयति	५	१८६
नामिलितम	३	१८५
निर्णेतुं शक्य	३	१७१
निर्मलेन्दु नभो	३	१००
नीलेन्दीवर	३	११५
निवार्यतामालि	३	१५९
निर्विभुज्य	५	१५८
निवृत्तमेव	३	१८४ ब
नीवीबन्धोच्छ्व	३	४५
पअडिअसणेह	३	१२८
पइडत्थिआ	५	१७८
पढमघरिणीए	५	१८४
पत्युः शिरश्चन्द्र	५	१६०
पद्मसंमीलनात्	३	१४४
परस्य भूयान्	३	६७
परिवट्टं दिआ	५	१४४
पर्याप्तपुष्प	५	१९८
पवणवेल्लिअ	५	२१८
पश्चात्पर्यस्य	३	३९
पहवन्ति णिवअ	५	१०८

प्रतीक	परि.सं.	श्लो.गा.सं.
पाअपडणाणं	५	२५९
पाणउडी अवि	३	८५
पाणिग्गहणे	५	१८७
पाणिपल्लव	५	१५५
पादावष्टम्भ	३	२
पादे मूर्द्धनि	५	२७२
पिअदंसणेण	३	१२७
पिअसम्भरण	५	२०३
पिसुणेन्ति	५	३१७
पिहिते वासागारे	३	१४८
पीणत्तुण दुग्गे	३	४८
पीणत्थणए सुके	५	३०६
पीनश्रोणि	३	३६
पुरा यत्र स्रोतः	३	१३४
पुष्पं प्रवालो	५	१०९
पुहवीअ होइ	५	२६८
पेच्छइ अल	५	१९९
पोढमहिलाणं	३	५७
पोढमहिलाणं	५	२२२
प्रजागरात्	३	२२
प्रफुल्लतापि	३	७७
प्रयच्छतोच्चैः	३	५४
प्रसीद सद्यो	३	१८१
प्रश्च्योतन्मद	३	८०
प्रियमाधवे	५	७९
प्रीत्या स्वस्ति	५	३३३
प्रेयानेव वृषः	३	९२
बध्नन्नङ्गेषु	३	११
भद्रं ते सदृशं	३	८
भिउडीहिं	५	२३८
भिन्ने सद्यः समा	५	२९६
भूयो भूयः	५	१२६
भ्रूभेदिभिः	५	१०६
मंगलवलअं	५	१८९
मच्छण्हप	५	२०४
मधु द्विरेफः	५	१९५
मधु विकच	३	५६
मनः प्रत्यक्चित्ते	३	१५०

प्रतीक	परि.सं.	श्लो.गा.सं.
मन्दमन्दविग	३	१४६
मन्दाकिनी सैक	५	१६१
मम हिअअं विअ	५	२५६
माणदुमपरु	५	२१४
मानमस्या	३	१०२
मानयोग्यां करो	३	२४
मानुषीषु कथं	३	१८२
मा मूमुहत्	५	१३१
माया स्विदेषा	३	१२५
मिथ्या देव भुजेन	३	१०१
मुण्डइ आचुण्ण	३	१६२
मुनिसुताप्रणय	३	१३३
मुहपेच्छओ	५	२७९
मूले पञ्च ततः	३	१०५
मैनाकः किमयं	३	१२०
मोहविरमे	३	१०८
यज्वभिः संभृतं	३	३०
यदासीदज्ञानं	५	११४
यदि भवति	३	७०
याति चन्द्रांशुभिः	३	८८
यदैव पूर्वं	५	२९५
रइअं पि ताणं	५	३०५
रइविग्गहम्मि	३	१९२
रमिऊण पइम्मि	५	२४१
रम्यं द्वेष्टि यथा	५	२०९
राजइ पिअपरि	५	१६३
राज्ये सारं	३	५८
रामोऽयं जगतीह	५	३५७
रुद्धापाङ्गप्र	३	७१
लाओ झूरइ	५	१६६
लीढव्यस्तविया	३	७
लीलाइओ	५	२३४
लुलिआ गहव	५	२९८
लोचनाधर	३	८२
वइविवरणि	३	१६६
वक्त्रं निसर्गं	३	१७
वनान्यमूनि	३	३३
वनेचराणां	३	१८
वयं बाल्ये बालां	३	१६३

प्रतीक	परि.सं.	श्लो.गा.सं.
विअलिअविओ	५	२६७
विरहाणलो	५	२६४
विरहिणिहि	३	११८
विलिम्पत्येत	५	१३६
वसने परि	५	२८८
वसिष्ठधेनो	५	२७३
वाहित्ता पडि	३	५२
विहलइ से	५	३०८
विहायैतन्मा	५	२८४
वेवमाणसिण्ण	५	२३२
व्यपोहितुं लोच	५	१६२
सकअग्गाहतं	५	२८७
सकलङ्केन	३	९३
सग्गं अपारि	३	१७७
सचकितमिव	३	१६८
सच्चं जाणइ	५	२५७
सच्चं विअ कट्ठ	५	३११
सञ्जीवणोसहि	५	२६६
स त्वं मदीयेन	५	१०५
स दक्षिणापाङ्ग	३	१
स बाल आसीद्	३	२७
सभ्रूविलास	५	१५२
सममेव समा	३	३८
समर्थये यत्प्र	३	११२
समर्थये यत	५	२८९
समसोक्खदुक्ख	५	२४९
स मारुतसुत	५	३४८
समुल्लसिअ	५	२३०
सरसिज	५	१२१
सर्वप्राणप्रवण	३	१६४
सव्वस्सिं वि	५	१४९
स हत्वा बालिनं	५	३४७
सहिआहिं पिअ	५	३०९
सहिआहि भग्ग	३	५
सा उप्पडी	३	६२
सा कौमुदी नयन	३	१०६
सा तइ सहत्थ	५	२२८
सा बाला वय	३	४२
सामन्तमौलि	५	३६१
सा महइ तस्स	५	२५५
सामाइ सामलीए	३	५३
सा यूनि तस्मिन	३	५०
सालिवणगोवि	३	१४०
सालोए चिअ	३	१३९
सावज्ञमाग	३	१५२
साहीणेवि	५	२६३
सीतावेश्म	५	२१०
सुमरिमो से	५	२३७
सुरकुसुमेहि	५	२८६
सुहृदिव प्रकट	५	२५०
सो मुद्धमिओ	३	१११
सौधादुद्विजते	५	२०७
स्थाने तपो	५	२८२
स्नानार्द्रमुक्ते	५	१३५
शंभोरुद्भूत	३	४६
शक्त्या वच्चसि	५	३६०
शशाम वृष्टि	३	९८
शशिनमुप	५	२८१
शशिना च निशा	३	७५
शान्तमिदमा	५	१२३
शापान्तो मे	५	१९३
शापान्तो मे	५	२७७
शासनेऽपि	३	१८७
श्लाघ्यानां गुणिनां	५	३५२
हसिअं सइत्थ	३	१०९
हं हो कण्णुल्लो	५	२२३
हृतोष्ठरागै	३	११६
हृदये वससी	५	१८२
हिअअ तिरच्छीय	३	८६
हिअए रोसुग्घुण्णं	३	१४२
हुं हुं दे भणसु	५	२३६
होन्त पहिअस्स	५	२४२
ह्रीभरादवनतं	५	१५७

परिशिष्ट–३

(बिना संख्या के उद्धृत श्लोकों की सूची)

प्रतीक	पृ. सं.	पं. सं.
अद्य स्फुरतु	१३७	१३
अनुकम्पाद्यति	६१७	२
अपाङ्गे दक्षिणां	५	१७
अवनिरुदकं	३१	३२
अव्यवस्थाभि	४९	२३
आश्चर्यकारि	४९	२४
अस्पृष्टा दोष	६२८	४
आश्लिष्टश्लथ	६२८	८
इति वैदर्भमार्ग	६०९	२२
कामं सर्वोऽप्यलं	६३८	१
काव्यशोभा	६०८	५
काश्चित् मार्ग	६०८	२०
कुत्सितत्वेन	६३४	२१
क्षोभस्फुरित	१	५
न च साम्प्रतिकी	६३४	२३
न विद्यते यद्यपि	३१	३५
प्रतीतशब्द	६२८	१४
प्रवासगमने देया	१८४	२८
भूमनिन्दाप्रशं	६१२	१०
मधुरं रसवद्	६३७	३२
माधुर्यमपि	६२८	१०
य एते यज्ज्वानः	३	३४

प्रतीक	पृ. सं.	पं. सं.
यत्र मातङ्ग	४९	२०
यत्रावपातप्लुत	६६८	२९
या वाक्प्रधाना	६६८	२७
या सात्त्विकेना	६६८	३१
या श्लक्ष्णनेपथ्य	६६८	३१
रसानुगुणशब्दार्थ	३	३८
रत्नेश्वरो नाम	१३७	११
रागायतन	१८४	२९
रौद्रादयो रसा	६३८	७
लाटीयावन्त्ययो	६२८	१२
विरुद्धकार्य	४९	२२
विविच्यमान	१	७
स एव चोभया	११५	६
स एव धर्मो धर्मी	६६२	२७
समर्थकत्वं	६३८	९
समस्तात्युत्क	६२८	६
सा हि चतुर्भग	४	१
सिद्धस्य हि	६६१	७
श्रीरामसिंह	१३७	९
शृङ्गार एव	६३८	३
शृङ्गारे विपुल	६३८	५
श्लेषः प्रसादः	६०९	२०